अलङ्कार-धारणा : विकास और विश्लेषण

लेखक
डॉ० शोभाकान्त मिश्र





बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी
पटना-३

विश्वविद्यालय-स्तरीय ग्रंथ-निर्माण-योजना के अंतर्गत भारत सरकार (शिक्षा एवं समाज-कल्याण मंत्रालय) के शत-प्रतिशत अनुदान से बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी द्वारा प्रकाशित

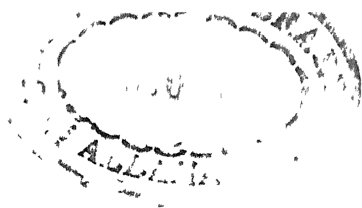
प्रकाशन सं० २७

प्रथम संस्करण, फरवरी, ७२
३०००

मूल्य : रु० २९·०० (उन्तीस रुपए) मात्र

प्रकाशक :
बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना-३

मुद्रक :
हिन्दुस्तानी प्रेस, पटना-४



शिक्षा-संबंधी राष्ट्रीय नीति-संकल्प के अनुपालन के रूप में विश्वविद्यालयों में उच्चतम स्तरों तक भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षा के लिए पाठ्य-सामग्री सुलभ करने के उद्देश्य से भारत-सरकार ने इन भाषाओं में विभिन्न विषयों के मानक ग्रंथों के निर्माण, अनुवाद और प्रकाशन की योजना परिचालित की है। इस योजना के अंतर्गत अंग्रेजी और अन्य भाषाओं के प्रामाणिक ग्रंथों का अनुवाद किया जा रहा है तथा मौलिक ग्रंथ भी लिखाए जा रहे हैं। यह कार्य भारत-सरकार विभिन्न राज्य-सरकारों के माध्यम से तथा अंशतः केंद्रीय अभिकरण द्वारा करा रही है। हिंदी-भाषी राज्यों में इस योजना के परिचालन के लिए भारत-सरकार के शत-प्रतिशत अनुदान से राज्य-सरकार द्वारा स्वायत्त-शासी निकायों की स्थापना हुई है। बिहार में इस योजना का कार्यान्वयन बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी के तत्त्वावधान में हो रहा है।

योजना के अंतर्गत प्रकाश्य ग्रंथों में भारत सरकार द्वारा स्वीकृत मानक पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया जाता है, ताकि भारत की सभी शैक्षणिक संस्थाओं में समान पारिभाषिक शब्दावली के आधार पर शिक्षा का आयोजन किया जा सके।

प्रस्तुत ग्रंथ 'अलंकार-धारणा : विकास और विश्लेषण' डॉ० शोभाकांत मिश्र की मौलिक कृति है, जो भारत-सरकार के शिक्षा एवं समाज-कल्याण मंत्रालय के शत-प्रतिशत अनुदान से बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी द्वारा प्रकाशित की जा रही है। स्नातकोत्तर स्तर के विद्यार्थियों, शोध-छात्रों तथा प्राध्यापकों के लिए यह ग्रंथ उपयोगी सिद्ध होगा।

आशा है, अकादमी द्वारा मानक ग्रंथों के प्रकाशन-संबंधी इस प्रयास का सभी क्षेत्रों में स्वागत किया जायगा।

लक्ष्मीनारायण सुधांशु

अध्यक्ष

बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी

पटना

दिनांक २०-४-७२

समर्पण

पूज्य पिताजी

तथा

स्नेहमयी माँ

को

सादर, सभक्ति

—शोभाकान्त मिश्र

भूमिका

काव्य-सौन्दर्य की अभिवृद्धि करने वाले अलङ्कार का अध्ययन-विश्लेषण भारतीय काव्यशास्त्रीय चिन्तन का प्रधान अङ्ग रहा है। अलङ्कार-प्रस्थान में तो काव्यालङ्कार को काव्य-तत्त्वो में मूर्धन्य माना ही गया, अलङ्कारेतर प्रस्थानो मे भी उसका महत्त्व किसी-न किसी रूप मे स्वीकृत हुआ है। रीति-प्रस्थान के प्रबल प्रतिष्ठाता वामन ने औपम्यमूलक अलङ्कारो के स्वरूप का विवेचन किया। ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन ने अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य अलङ्कारो को ध्वनि-काव्य मे उपादेय माना। वक्रोक्तिवादी कुन्तक ने न केवल कुछ अलङ्कारों के स्वरूप का निरूपण किया वरन् अलङ्कार और अलङ्कार्य के भेदाभेद के प्रश्न का सूक्ष्म विवेचन कर उसका युक्तिसङ्गत समाधान निकाला। रस-सिद्धान्त के प्रवर्तक भरत से लेकर विश्वनाथ आदि रसवादी आचार्यो की रचनाओ मे अलङ्कारो का स्वरूप-विश्लेपण होता रहा है। ध्वनि-ध्वस-प्रस्थान के प्रतिष्ठाता महिम भट्ट ने भी काव्य-वस्तु मे उत्कर्ष या अपकर्ष की प्रतिष्ठा के लिए अलङ्कार की उपादेयता स्वीकार की। अलङ्कारवादी जयदेव आदि ने तो अलङ्कार के अभाव मे काव्यत्व की कल्पना को ही शीतल अनल की कल्पना की तरह असङ्गत मान लिया।

भारतीय साहित्यशास्त्र मे जितना ऊहापोह अलङ्कार के सम्बन्ध मे हुआ है, उतना किसी दूसरे काव्य-तत्त्व के सम्बन्ध मे नही। विभिन्न काव्य-तत्त्वो का विवेचन-विश्लेषण करने वाले आचार्यो ने भी अपने ग्रन्थ के एक-दो प्रकरणो में काव्यालङ्कार के स्वरूप का निरूपण किया है, अनेक आचार्यों ने केवल अलङ्कार पर स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना की है।

अलङ्कार के इस महत्त्व का रहस्य यह है कि वे उक्ति के प्रभाव की वृद्धि मे सहायक होते है। मनुष्य की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह अपनी उक्ति को अधिकाधिक प्रभावोत्पादक बनाकर प्रस्तुत करना चाहता है। इस उद्देश्य से काव्य-भाषा मे ही नही, लोक-भाषा मे भी अनेक अलङ्कारो का

प्रयोग किया जाता है। उन समग्र अलङ्कारो के साङ्गोपाङ्ग निरूपण की उपादेयता असन्दिग्ध है। प्रस्तुत ग्रन्थ मे अलङ्कार-तत्त्व के सर्वाङ्गीण विवेचन का प्रयास किया गया है।

प्रथम अध्याय मे अलङ्कार के सामान्य स्वरूप का निर्धारण कर काव्य मे उसके स्थान के सम्बन्ध मे विभिन्न मतो की परीक्षा की गयी है। एक सम्प्रदाय के आचार्यों ने अलङ्कार को काव्य का अन्तरङ्ग धर्म माना तो दूसरे सम्प्रदाय के आचार्यों ने बहिरङ्ग धर्म। कुछ आचार्यों ने अलङ्कार को काव्य-सौन्दर्य से अभिन्न माना तो दूसरे आचार्यो ने उसे काव्य-सौन्दर्य की वृद्धि मे यदा-कदा सहायता करने वाला अनित्य तत्त्व मान लिया। अलङ्कार को अलङ्कृत भाषा मे लौकिक हार आदि आभूषण के समान कहने से भी कुछ भ्रान्त धारणा उत्पन्न हो गयी। कुछ लोगो ने यह समझ लिया कि जैसे हार आदि आभूषण कभी गले मे डाल लिये जाते है और स्वेच्छा मे गले से निकाल दिये जाते हे उसी तरह उक्ति से अलङ्कार को जोडा या हटाया जा सकता है। किन्तु तथ्य यह है कि उक्ति अपने आप मे पूर्ण, अखण्ड अभिव्यञ्जना होती है। यदि उक्ति अलङ्कृत है तो अलङ्कार उसका अन्तरङ्ग घटक होगा, जिसे निकाल देने पर उस उक्ति का अस्तित्व ही मिट जायगा। इसी प्रकार किसी उक्ति मे नये अलङ्कार को जोड देने से भी उस उक्ति का अपना अस्तित्व मिट जायगा और जो उक्ति-रूप बनेगा वह पहली उक्ति के रूप से सर्वथा भिन्न होगा। इस तथ्य को दृष्टि मे रख कर हमने इस अध्याय मे काव्य मे अलङ्कार के स्थान के सम्बन्ध मे विभिन्न मान्यताओ की परीक्षा कर स्वस्थ निर्णय पर पहुँचने का प्रयास किया है। इसी प्रसङ्ग मे अलङ्कार और अलङ्कार्य के भेदाभेद के प्रश्न पर भी विचार किया गया है। प्रश्न यह है कि यदि अलङ्कार अलङ्कृत करने वाले धर्म है तो वे अलङ्कृत किसे करते हैं? दूसरे शब्दों में, उनसे अलङ्कृत होने वाला अलङ्कार्य क्या है? अलङ्कार और अलङ्कार्य का पारस्परिक सम्बन्ध कैसा होता है? भारतीय साहित्यशास्त्र मे इन प्रश्नो का बडा ही सूक्ष्म, यौक्तिक समाधान प्रस्तुत किया गया है। तत्त्वतः उक्ति अखण्ड होती है। उसमें अलङ्कार-अलङ्कार्य का तात्त्विक भेद नही। पर वैज्ञानिक विश्लेषण के लिए उस अखण्ड की खण्ड-कल्पना की जाती है—अलङ्कार और अलङ्कार्य के बीच कल्पित भेद किया जाता है। अलङ्कार और अलङ्कार्य के भेदाभेद के प्रश्न पर विचार करने के क्रम मे हमने भारतीय मनीषियो के चिन्तन के

साथ क्रोचे आदि पाश्चात्य विचारको की मान्यता का भी मूल्याङ्कन किया है। इस प्रकार अलङ्कार का स्वरूप, अलङ्कार और अलङ्कार्य का भेदाभेद तथा अन्य काव्य-तत्त्वो मे अलङ्कार का सापेक्ष महत्त्व प्रथम अध्याय का विवेच्य है।

द्वितीय अध्याय मे अलङ्कार-धारणा के विकास का अध्ययन किया गया है। काव्यशास्त्र की प्रथम उपलब्ध रचना 'नाट्यशास्त्र' में केवल चार अलङ्कारो का स्वरूप-विवेचन हुआ है। पीछे चलकर अलङ्कारो की सख्या मे वृद्धि होती गयी। सस्कृत-अलङ्कार-शास्त्र मे ही लगभग दो सौ अलङ्कारों के नाम-रूप कल्पित हुए है। हिन्दी-रीति-साहित्य में भी लगभग बीस नूतन अभिधान वाले अलङ्कारो की कल्पना की गयी है। बीच-बीच मे अलङ्कारो की सख्या को परिमित करने का भी प्रयास होता रहा है। इस प्रकार लगभग सवा सौ अलङ्कार आज स्वीकृत है। अलङ्कार-धारणा के विकास को समझने के लिए, चार मूल अलङ्कारो मे इतने अलङ्कारो के विकास के कारणो की परीक्षा आवश्यक है। अनेक आधुनिक विद्वानो ने यह मानकर सन्तोष कर लिया है कि भरत के समय अलङ्कार-धारणा अविकसित थी, पीछे चलकर उसमे क्रमिक विकास होता गया। इसके विपरीत अभिनव गुप्त के गुरु भट्ट तौत ने समग्र अलङ्कार-प्रपञ्च को बीज रूप मे आचार्य भरत की अलङ्कार एवं लक्षण की धारणा में अन्तर्निहित मान कर कहा था कि विभिन्न लक्षणो के योग से अलङ्कारो मे वैचित्र्य आता है। अभिनव गुप्त ने इस मत का समर्थन किया और सभी सादृश्यमूलक अलङ्कारों को उपमा अलङ्कार का प्रपञ्च कहा।

हमने अलङ्कारों के स्रोत पर विचार करते हुए भट्ट तौत तथा अभिनव गुप्त के कथन के औचित्य की परीक्षा की है। इस अध्ययन के क्रम मे कई नये तथ्य सामने आये हैं। काव्य-लक्षणो ने अपना अस्तित्व विसर्जित कर अनेक अलङ्कारो को जन्म दिया है। लक्षण तथा अलङ्कार के योग से कुछ अलङ्कारो के स्वरूप बने हैं, एक लक्षण का अन्य लक्षण के साथ योग होने से भी कुछ नवीन अलङ्कार आविर्भूत हुए हैं। कुछ लक्षणों के नाम-रूप ही किञ्चित् परिवर्तन के साथ अलङ्कार के रूप में स्वीकृत हो गये है। इसके अतिरिक्त गुण आदि की धारणा ने भी नये अलङ्कारों की स्वरूप-कल्पना मे योग दिया है। स्मृति, भ्रान्ति, सन्देह, वितर्क आदि की धारणा दर्शन की ज्ञान-मीमासा के क्षेत्र से आयी और उसे काव्यालङ्कार के रूप में स्वीकार कर लिया गया। दर्शन में विवेचित प्रमाणो को भी प्रमाणालङ्कार के रूप में स्वीकृति मिली। इस प्रकार विभिन्न स्रोतों से काव्यालङ्कार-धारणा का सवर्धन होता रहा है। समय-समय पर

अनेक आचार्यों ने काव्योक्ति के सुन्दर प्रकार को दृष्टि में रखकर नये अलङ्कारों के स्वरूप की उद्भावना भी की है। अतः, अलङ्कार की सत्ता वृद्धि के सम्बन्ध में भट्टनौत तथा अभिनव गुप्त की मान्यता किञ्चित् परिष्कार के साथ ही स्वीकार की जा सकती है। भरत के काल मे अलङ्कारो की सख्या-परिमिति को देखकर अलङ्कार-धारणा को अविकसित मान बैठना भी आलोचक के दृष्टि-सङ्कोच का ही परिचायक होगा। उनकी रस-धारणा के सन्दर्भ में उनकी अलङ्कार-मीमांसा का औचित्य समझा जा सकता है।

तृतीय अध्याय में हिन्दी-रीति-साहित्य में नवोद्भावित अलङ्कारो के स्रोत पर विचार किया गया है। इसमें रीति-आचार्यों की अलङ्कार-विषयक उद्भावना के सम्बन्ध में प्रचलित कई भ्रान्तियों का निराकरण कर निर्भ्रान्त तथ्य की स्थापना का प्रयास किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में सभी स्वीकार्य अलङ्कारों का वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है। संस्कृत तथा हिन्दी के अनेक आचार्यों ने अलङ्कारों के आश्रय के आधार पर शब्दगत, अर्थगत तथा उभयगत अलङ्कार-वर्गों मे उनका विभाजन किया था। अर्थालङ्कारों का मूल-तत्त्वों के आधार पर भी वर्ग-विभाजन करने का प्रयास हुआ था; किन्तु उनके वर्गीकरण की सीमा यह थी कि उन्होंने अपने-अपने अलङ्कारों का ही वर्गीकरण किया था। यह अपर्याप्त नहीं था। उन-उन आचार्यों के द्वारा स्वीकृत तथा वर्गीकृत अलङ्कारों के अतिरिक्त भी कई अलङ्कार स्वीकार्य हैं। अतः, सभी स्वीकार्य अलङ्कारों के वर्गीकरण के लिए व्यापक आधार की आवश्यकता जान पड़ी। वर्गीकरण के जो युक्ति-सङ्गत आधार विभिन्न आचार्यों ने प्रस्तुत किये थे, उन्हें समन्वित रूप में स्वीकार कर हमने अलङ्कारों को वर्गीकृत किया है, साथ ही उन वर्गों में नहीं आ पाने वाले अलङ्कारों के लिए नवीन वर्गों की भी कल्पना की है। हमारी मान्यता है कि अलङ्कार विशेष को वर्ग-विशेष में रखने का दुराग्रह स्वस्थ समीक्षा की दृष्टि नहीं। एक ही अलङ्कार विभिन्न दृष्टियों से विभिन्न वर्गों में आ सकता है। हमने स्वीकृत वर्गों के अतिरिक्त एक 'प्रकीर्ण' वर्ग माना है, जिसके उपवर्गों में कई दृष्टियों से अलग-अलग प्रकृति वाले अलङ्कारों को रखा है।

पञ्चम अध्याय में एक-एक अलङ्कार के स्वरूप-विकास का अध्ययन किया गया है। एक ही अलङ्कार के स्वरूप के सम्बन्ध में अनेक आचार्यों ने अनेक प्रकार की धारणाएँ प्रकट की हैं। हमने प्रत्येक अलङ्कार के सम्बन्ध में संस्कृत

तथा हिन्दी के सभी वरेण्य आचार्यों की मान्यता का समीक्षात्मक अध्ययन किया है।

षष्ठ अध्याय में मिलते-जुलते स्वरूप वाले अलङ्कारों के पारस्परिक भेद का शास्त्रीय विवेचन किया गया है। जब थोड़े-थोड़े भेद के आधार पर नवीन-नवीन अलङ्कारो के स्वरूप की कल्पना की प्रवृत्ति बढी, तब उनके स्वरूप को ठीक-ठीक समझने के लिए, उनके पारस्परिक भेद का विवेचन भी आवश्यक हो गया। आचार्यों ने प्रत्येक अलङ्कार के व्यावर्तक धर्म का निर्देश किसी-न-किसी रूप में किया है। उस सङ्केत-सूत्र का सहारा लेकर हमने अलङ्कारों के पारस्परिक भेद का विवेचन किया है।

सप्तम अध्याय मे भाषा की दृष्टि से अलङ्कार के स्वरूप और कार्य पर विचार किया गया है। आचार्यों ने काव्य के शब्द और अर्थ की प्रभाव-वृद्धि की दृष्टि से ही अलङ्कारो का स्वरूप-निरूपण किया है; पर लोक-व्यवहार की भाषा मे भी अलङ्कारों का कम महत्त्व नही। कही-कही आलङ्कारिक प्रयोग अर्थबोध के अनिवार्य साधक बन जाते हैं। अतः, भाषाशास्त्रीय दृष्टि से अलङ्कार पर स्वतन्त्र अध्याय में विचार करने की आवश्यकता जान पडी।

अन्तिम अध्याय मे मनोभाव के साथ अलङ्कार के सम्बन्ध का विवेचन किया गया है। प्रहर्षण, विषादन-जैसे कुछ अलङ्कार मनोभाव से प्रत्यक्षतः सम्बद्ध हैं; पर अधिकांश अलङ्कार शब्दार्थ से सम्बद्ध रहकर उनके माध्यम से परम्परया मनोभाव को प्रभावित करते है। प्रत्येक उक्ति-भङ्गी मन पर—परम्परया ही सही—अलग-अलग रूप में प्रभाव डालती है। इस दृष्टि से हमने मनोभाव के सन्दर्भ में अलङ्कार के स्वरूप और कार्य पर विचार किया है।

उपसहार में सम्पूर्ण ग्रन्थ के विवेचन का सार प्रस्तुत किया गया है।

जिन विद्वानों की कृतियो से मुझे सहायता मिली है, उनका आभार मानता हूँ। पूज्य गुरु आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा के स्नेहसिक्त प्रोत्साहन तथा सत्परामर्शो से मैं सदा उपकृत होता रहा हूँ। पूज्य गुरु डॉ० शीतांशुशेखर बागची ने मुझे अनेक महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये है। विद्वद्वर डॉ० विद्यानिवास मिश्र से मुझे समय-समय पर बहुमूल्य सुझाव मिलते रहे है। इन गुरुजनो के प्रति मैं कृतज्ञ हूँ। भाषाशास्त्र के मर्मज्ञ डॉ० अनन्त चौधरी तथा काव्यशास्त्र के सुधी समीक्षक डॉ० काशीनाथ मिश्र की प्रेरणा मेरे लिए अविस्मरणीय है। ग्रन्थ की रचना में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में प्रेरणा देने वाले अपने परिवार

के सदस्यों, सम्बन्धियों तथा मित्रों के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन की औपचारिकता नहीं कर मौन भाव से ही उनका उपकार स्वीकार करता हूँ।

बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी के विद्वान अधिकारियों ने वर्तनी के सम्बन्ध में लेखक का आग्रह मान कर विचार की उदारता दिखायी है। लेखक उनके प्रति आभारी है। वर्तनी के सम्बन्ध में प्रस्तुत पुस्तक के लेखक का ध्यान सुविधा की अपेक्षा शुद्धि पर अधिक रहा है। ग्रन्थ के प्रकाशन के लिए हिन्दी ग्रन्थ अकादमी का आभारी हूँ।

हिन्दी विभाग
पटना विश्वविद्यालय
पटना।
१९७२ ई०

—शोभाकान्त मिश्र

विषय-सूची

षष्ठ अध्याय

सप्तम अध्याय

अष्टम अध्याय

अलङ्कार का स्वरूप और काव्य में उसका स्थान

वाणी के अलङ्कार मानव की सहज प्रवृत्ति और रुचि से आविर्भूत है। लोक-जीवन में अनेक प्रकार के अलङ्करणों से, साज-सज्जा से दूसरों की धारणा को प्रभावित करने की प्रवृत्ति जन-सामान्य में पायी जाती है। काव्य-जगत में भी काव्य की उक्तियों को अधिकाधिक चमत्कारपूर्ण, प्रभावोत्पादक बनाने के लिए उन्हें अलङ्कृत किया जाता है। काव्य की उक्तियाँ लोक-व्यवहार की उक्तियों से तो भिन्न होंगी ही। काव्योक्तियों में लोकोत्तर चमत्कार अपेक्षित रहता है। लोकातिगामी चमत्कार की सृष्टि में ही कवि-प्रतिभा की सार्थकता है। लोक-व्यवहार में प्रयुक्त अनलङ्कृत शब्द और अर्थ अलङ्कृत होकर अर्थात् चमत्कारपूर्ण भङ्गी-विशेष में कथित होने पर काव्य पदवी-प्राप्त कर लेते है।[1] कवि-प्रतिभा से समुद्भूत उक्तियों के अलोकसिद्ध सौन्दर्य को कुछ आचार्यों ने व्यापक अर्थ में अलङ्कार कहा है।[2] उनके अनुसार अलङ्कार सौन्दर्य का पर्याय है।

ध्यातव्य है कि अलङ्कार शब्द का प्रयोग दो अर्थों में हुआ है। दोनो ही अर्थ अलङ्कार शब्द की अलग-अलग व्युत्पत्तियों से उपलब्ध है। भाव व्युत्पत्ति से अलङ्कार शब्द का अर्थ (अलङ्कृति अर्थात् अलम्+कृ+क्तिन्=अलङ्कृति तथा अलम्+कृ+घञ्=अलङ्कार) भूषण या शोभा का भाव है।[3] इस अर्थ में अलङ्कार सौन्दर्य से अभिन्न है। इसी अर्थ में वामन ने अलङ्कार को सौन्दर्य का पर्याय कहकर अलङ्कारयुक्त काव्य को ग्राह्य तथा अलङ्कारहीन या असुन्दर

---

१. यानेव शब्दान्वयमालपामो यानेव चार्थान्वयमुल्लिखामः ।
तैरेव विन्यासविशेषभव्यैः संमोहयन्ते कवयो जगन्ति ॥
—नीलकण्ठ दीक्षित, शिवलीलार्णव, १, १३

२. सौन्दर्यमलङ्कारः । —वामन, काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, १, १, २

३. अलङ्कृतिरलंकारः ।—वही, वृत्ति पृ० ५

काव्य को अग्राह्य कहा था ।[१] इस अर्थ मे कवि की समग्र उक्तियो का सौन्दर्य अलङ्कार है। काव्य के वे सभी तत्त्व जो काव्य मे शोभा का आधान करते हैं, अलङ्कार के व्यापक अर्थ मे उसके अङ्ग है। गुण एव अलङ्कार के सद्भाव से तथा दोष के अभाव से काव्य मे सौन्दर्य आता है। अत अपने विशिष्ट अर्थ मे शब्दार्थ के अलङ्कार, गुण आदि उस काव्य-सौन्दर्य के पर्यायभूत अलङ्कार के साधक मात्र है।

अलङ्कार शब्द का दूसरा विशिष्ट अर्थ, जिस अर्थ मे शब्द और अर्थ के अनुप्रास, उपमा आदि अलङ्कार कहलाते है, उस शब्द की करण व्युत्पत्ति से उपलब्ध है। करण व्युत्पत्ति से अलङ्कार शब्द का अर्थ होता है, वह तत्त्व जो काव्य को अलङ्कृत अर्थात् सुन्दर बनाने का साधन हो—(अलङ्क्रियतेऽनेन इति अलङ्कार)।[२] आज अलङ्कार शब्द का यही अर्थ अधिक प्रचलित है। करण व्युपत्ति से काव्य-सौन्दर्य के साधन का अर्थ स्पष्ट हो जाने पर भी काव्य मे अलङ्कार के कार्य तथा स्थान के सम्बन्ध मे आचार्यो मे मतभेद बना रहा। इसका प्रधान कारण काव्य के सम्बन्ध मे उनकी मूल दृष्टि का अन्तर था।

एक शका, जिसका समाधान ढूँढना आवश्यक है, यह है कि यदि अलङ्कार शब्द का अर्थ करण व्युत्पत्ति से काव्य-सौन्दर्य का साधक मान लिया जाय तो गुण आदि काव्य के अन्य शोभाधायक तत्त्वो से कव्यालङ्कार का भेद किस आधार पर किया जायगा ? गुण, अलङ्कार आदि सभी काव्य-तत्त्वो को काव्य-सौन्दर्य का साधन मानकर सब को एक कोटि में रख देना तो शास्त्रीय विश्लेषण की पद्धति से पलायन ही माना जायगा। भावक के लिए काव्यार्थ के भावन मे काव्याङ्गो के अलग-अलग सौन्दर्य का महत्त्व नही। भावन तो सौन्दर्य की समग्रता का ही होता है; पर शास्त्रीय विश्लेषण के लिए काव्य के तत्तत् अङ्गो के कार्य की मीमासा आवश्यक हे। गुण, अलङ्कार आदि के भेद-अभेद के प्रश्न पर भारतीय साहित्यशास्त्र मे जो ऊहापोह हुए हैं उनका समीक्षात्मक अध्ययन हमने अपने ग्रन्थ 'काव्य गुणो का शास्त्रीय विवेचन' के एक स्वतत्र अध्याय मे किया है।[3] कुछ आचार्यो ने गुण एव अलङ्कार को काव्य-सौन्दर्य का समान भाव से साधक मानकर दोनो के विषय-विभाग को

१. काव्य ग्राह्यमलकारात्।—वामन, काव्या० सू० वृ० १, १, १
२. करणव्युत्पत्या पुनरलङ्कारशब्दोऽयमुपमादिषु वर्तते।
—वही, वृत्ति पृ० ५
३. द्रष्टव्य—प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक का ग्रन्थ 'काव्य गुणों का शास्त्रीय विवेचन' अध्याय २

अवैज्ञानिक मान लिया था।[1] दूसरी ओर कुछ आचार्यों ने गुण और अलङ्कार का भेद स्पष्ट करने के लिए गुण को काव्य-सौन्दर्य का हेतु माना तो अलङ्कार को काव्य-सौन्दर्य की वृद्धि करनेवाला धर्म।[2] इस मत के अनुसार अलङ्कार काव्य के शोभाधायक गुण नही, काव्य की स्वाभाविक शोभा की वृद्धि करनेवाले धर्म है। इस प्रकार इस मत के अनुसार अलङ्कार शब्द का —करण व्युत्पत्ति से—अर्थ होगा काव्य का वह तत्त्व जिससे काव्य अलङ्कृत हो अर्थात् जिससे काव्य के 'सौन्दर्य की अभिवृद्धि हो।'

प्रस्तुत सन्दर्भ मे काव्य के सम्बन्ध मे विभिन्न दृष्टिकोण रखनेवाले आचार्यों के द्वारा काव्यालङ्कार के स्वरूप के विषय मे व्यक्त मान्यता का परीक्षण वाञ्छनीय है। भामह तथा उद्भट ने काव्य-शोभा के साधक धर्म को अलङ्कार मानकर गुण, रस आदि को भी अलङ्कार की सीमा मे समेट लिया है। आचार्य दण्डी ने भी काव्य के शोभाकर धर्म को अलङ्कार कहा है। इस प्रकार उनके मत से भी गुण आदि काव्य-तत्त्व काव्य मे सौन्दर्य का आधान करने के कारण अलङ्कार है। इन आचार्यों की अलङ्कार-परिभाषा इतनी सामान्य थी कि उससे गुण आदि से अलङ्कार का विशिष्ट स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाता था। इसलिए वामन को यह स्पष्ट करना पडा कि काव्य-शोभा में वृद्धि करनेवाले धर्म अलङ्कार कहे जाते हे। इस कथन मे भी काव्य मे अलङ्कार के कार्य पर ही प्रकाश डाला गया है।

दूसरे वर्ग के आलङ्कारिको ने कथन के चारुतापूर्ण प्रकार-विशेष को अलङ्कार का लक्षण माना है। वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक ने वक्रोक्ति को—कहने के वैदग्ध्यपूर्ण ढग को—काव्य का अर्थात् शब्द और अर्थ का अलङ्कार कहा है।[3] उनके पूर्ववर्ती भामह ने भी वक्रोक्ति या अतिशयोक्ति को अलङ्कार का प्राणभूत तत्त्व माना था। रुय्यक अभिधान अर्थात् कथन के प्रकार-विशेष को अलङ्कार का स्वरूप मानते है। उनके अनुसार कवि-प्रतिभा से समुद्भूत

---

१. ओज· प्रभृतीनामनुप्रासोपमादीना चोभयेषामपि समवायवृत्त्या स्थितिरिति गड्डरिकाप्रवाहेणैवेषां भेद।—उद्भट की यह मान्यता मम्मट ने उद्धृत की है। द्रष्टव्य, काव्यप्र० ८, पृ० १६१

२. काव्यशोभाया कर्तारो धर्मा गुणा·। तदतिशयहेतवस्त्वलङ्कारा.।
—वामन काव्यालङ्कार सूत्र वृत्ति ३, १, १ तथा ३, १, २

३. उभावेतावलङ्कार्यौ तयो पुनरलङ्कृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते॥
—कुन्तक, वक्रोक्तिजी०, १, १०

कथन का प्रकार-विशेष ही अलङ्कार है।[१] आनन्दवर्द्धन ने यह माना है कि वाग्विकल्प अर्थात् कथन के अनूठे ढग अनन्त है और उनके प्रकार ही अलङ्कार कहलाते है।[२] अभिनवगुप्त तथा पण्डितराज जगन्नाथ आदि ने भी कथन के निराले ढग के प्रकार-विशेष को अलङ्कार माना है। इन आचार्यो की अलङ्कार-धारणा का सार यह है कि कथन का चमत्कारपूर्ण ढग—उक्ति की विच्छित्ति—ही अलङ्कार है। कथन की सुन्दर भङ्गियाँ असख्य है, अत अलङ्कारो की सख्या निश्चित नही की जा सकती।

आचार्य मम्मट ने काव्यालङ्कार के स्वरूप तथा काव्य मे उसके स्थान का निरूपण करते हुए कहा है कि 'काव्य के वे धर्म जो काव्य के शरीरभूत शब्द एव अर्थ को अलङ्कृत कर उसके माध्यम से काव्यात्मभूत रस का भी—यदि काव्य मे रस रहे तो—कदाचित् उपकार करते हो, अलङ्कार कहलाते है। वे अनुप्रास, उपमा आदि (शब्दालङ्कार एव अर्थालङ्कार) मनुष्य के हार आदि आभूषण की तरह काव्य के आभूषण होते है।'[३] स्पष्ट है कि मम्मट ने अलङ्कार को काव्य के शरीरभूत शब्द और अर्थ का ही भूषण माना था, जो प्रकारान्तर से ही रस का यदा-कदा उपकार करता है। कही-कही तो अलङ्कार काव्य की आत्मा रस का न उपकार करते है न अपकार; पर कही-कही वे रस का अपकार भी कर देते है। शृङ्गार आदि कोमल रस के प्रसङ्ग मे कठोर वर्णो का अनुप्रास रस का उपकार करने के बजाय उसका अपकार ही करेगा। विश्वनाथ ने मम्मट के मत का अनुसरण करते हुए अलङ्कार को काव्य का—शब्द और अर्थ का—अस्थिर शोभातिशायी धर्म कहा है।[४] वामन की तरह मम्मट आदि ने भी अलङ्कार को काव्य का शोभाधायक धर्म नही मानकर उसके सौन्दर्य की वृद्धि का ही साधन माना है।

आचार्य मम्मट ने आलङ्कारिक भाषा मे अलङ्कार का स्वरूप-निरूपण किया था। उन्होने काव्य मे अलङ्कार के कार्य एव स्थान के स्पष्ट निर्धारण के लिए

---

१. अभिधाप्रकारविशेषा एवालङ्काराः।—रुय्यक, अल० सर्वस्व पृ० ८

२. अनन्ता हि वाग्विकल्पास्तत्प्रकारा एव चालङ्काराः। आनन्दवर्द्धन-ध्वन्या० ३, ३७ की वृत्ति पृ० ५११

३. उपकुर्वन्ति त सन्त येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः॥ —मम्मट, काव्य प्र० ८,६७

४. शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्म्मा. शोभातिशायिन।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलङ्कारास्तेऽङ्गदादिवत्॥
—विश्वनाथ, साहित्य द० १०, १

जो लौकिक उपमान दिया था, उसके साथ काव्यालङ्कार की पूर्ण सङ्गति बैठाने के प्रयास मे कुछ लोग मम्मट की अलङ्कार-धारणा को ही अस्पष्ट कर बैठते हैं। काव्यालङ्कार के हार आदि आभूषण के समान होने का क्या तात्पर्य है? इसका स्पष्टीकरण आवश्यक है। क्या हार का मनुष्य-शरीर के साथ जैसा अनित्य सम्बन्ध होता है, वैसा ही अनित्य सम्बन्ध काव्य के अलङ्कार का शब्द और अर्थ के साथ मम्मट मानते थे ? गले से हार उतारकर जितनी सरलता से लोग अलग रख देते है; क्या उतनी ही सरलता से काव्य की उक्ति से अलङ्कार को हटाकर दूर किया जा सकता है ? मम्मट-जैसे समर्थ समीक्षक के कथन की इतनी भोडी व्याख्या की जाय तो मम्मट के प्रति अन्याय भी होगा और व्याख्याता की बौद्धिक दरिद्रता का परिचायक भी। अलङ्कार को हार आदि के समान कहने मे मम्मट का तात्पर्य केवल इतना होगा कि जिस प्रकार हार आदि आभूषण प्रथमत मनुष्य के शरीर को ही आभूषित करते हैं, फिर शरीर के माध्यम से कभी-कभी उसकी आत्मा का भी उपकार कर देते है—उसी प्रकार काव्य के अलङ्कार भी प्रथमत काव्य के शब्दार्थ को ही भूषित करते है और उसके माध्यम से काव्य की आत्मा रस का भी यदा-कदा उपकार कर देते है। हार आदि लौकिक आभूषण से काव्य के अलङ्कार का इसी दृष्टि से सादृश्य है। ध्यातव्य है कि सादृश्य के लिए दो वस्तुओ मे कुछ सामान्य तथा कुछ विशिष्ट की अपेक्षा होती है।[1] दोनो मे सर्वात्मना साम्य आवश्यक नही।

अलङ्कार वाच्य का उपस्कार करते हे। शब्दालङ्कार काव्य के शब्द का तथा अर्थालङ्कार काव्य के वाच्यार्थ का उपस्कार करते हे। कथन की भङ्गी के चमत्कार या विच्छित्ति को काव्य का अलङ्कार मानने का यही तात्पर्य है। औपम्यगर्भ अलङ्कार मे प्रस्तुत अर्थ के लिए जो अप्रस्तुत की योजना की जाती है उसमे कवि का एक उद्देश्य प्रस्तुत वस्तु के रूप, गुण, क्रिया का उत्कर्ष-साधन भी होता है। प्रस्तुत के रूप, गुण आदि के उत्कर्ष के लिए कवि ऐसे अप्रस्तुत सामने ला देता है, जिसके उत्कृष्ट रूप, गुण आदि से पाठक परिचित रहता है। उस परिचित अप्रस्तुत की योजना से पाठक के हृदय मे अप्रस्तुत का प्रभाव जगकर प्रस्तुत के प्रभाव को भी बढा देता है। काव्यार्थ-भावन की

१. यत्र किञ्चित् सामान्य कश्चिच्च विशेष: स विषयः सदृशताया.।
—रुय्यक, अलङ्कार सर्वस्व, पृ० २४

तथा—

यत्र किञ्चित् सामान्य कश्चिच्च विशेष. तत्रोपमानोपमेये भवतः।
—पतञ्जलि, महाभाष्य, २, १, ३, पृ० ३९४

प्रक्रिया मे अप्रस्तुत से प्रस्तुत के उत्कर्ष-साधन के स्वरूप पर हम एक उदाहरण लेकर विचार करे। काली आँखो की सुन्दरता से प्रभावित होकर जब कवि उन्हे नीलकमल के समान कहता है या उनपर नीलकमल का अभेदारोपण करता है तब भावक के हृदय मे आँखो के विम्ब के साथ नीलकमल का भी विम्ब उद्भूत होता है। नीलकमल का वह बिम्ब, जिसके सौन्दर्य के प्रभावातिशय से भावक का हृदय परिचित रहता है, सादृश्य के कारण आँखो के सौन्दर्य के प्रभाव को भी उतना ही उत्कृष्ट बना देता है। इस प्रकार अप्रस्तुत के रूप, गुण, क्रिया आदि क्रमश प्रस्तुत के रूप, गुण, क्रिया आदि का उत्कर्ष करते है। प्रस्तुत व्यापार-समष्टि के लिए भी कवि जहाँ अप्रस्तुत व्यापार-समष्टि की योजना करता है, वहाँ अप्रस्तुत योजना की सार्थकता प्रस्तुत व्यापार-समष्टि की प्रभाव-वृद्धि मे ही होती है। जो अप्रस्तुत प्रस्तुत का उत्कर्ष करने मे समर्थ न हो उनकी योजना व्यर्थ तो होती ही है, काव्य का भार बनकर काव्य के सहज सौन्दर्य को भी नष्ट कर देती है। अप्रस्तुत को प्रस्तुत का उत्कर्ष-साधक मानने के कारण ही आचार्यो ने एकमत से अप्रस्तुत मे प्रस्तुत की अपेक्षा अधिक गुण का सद्भाव स्वीकार किया है। अप्रस्तुत की योजना मे कवि का अभिप्राय यही रहता है कि पाठक अप्रस्तुत के गुणाधिक्य से परिचित रहते है। अतः, वे अप्रस्तुत पाठक के हृदय मे प्रस्तुत के रूप, गुण आदि का भी उत्कृष्ट प्रभाव जगाने मे समर्थ होगे। इसीलिए लोक-परिचित अप्रस्तुत की योजना ही वाञ्छनीय मानी गई है। प्रस्तुत के लिए कल्पित अप्रस्तुत के साथ प्रस्तुत का रूप, गुण, क्रिया आदि का भी साम्य हो सकता है और केवल प्रभाव का साम्य भी। प्रभाव-साम्य से अप्रस्तुत का प्रभाव प्रस्तुत के प्रभाव की वृद्धि करता है।

प्रस्तुत के रूप, गुण, क्रिया आदि के उत्कर्ष-साधन या प्रभाववृद्धि के साथ अलङ्कार काव्य के भाव या रस का प्रभाव बढाने मे भी सहायक होते है। रस-सम्प्रदाय के आचार्यो ने तो रस-भाव आदि का उपकार करने मे ही अलङ्कार-योजना की सार्थकता मानी है।[१] यह ठीक है कि सभी अलङ्कार नियत रूप से सदा रस, भाव आदि का उपकार नही करते, वे कही तटस्थ रह जाते है तो

१. रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम् ।
अलङ्कृतीना सर्वासामलङ्कारत्वसाधनम् ॥—तथा
ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे समीक्ष्य विनिवेशित ।
रूपकादिरलङ्कारवर्ग एति यथार्थताम् ॥
—आनन्दवर्द्धन, ध्वन्यालोक, २८ तथा ४०

कहीं रस, भाव आदि के बाधक भी बन जाते है, पर काव्य मे रस, भाव आदि के उपकारक अलङ्कार ही ग्राह्य है, वे ही सच्चे अर्थ मे काव्य के अलङ्कार है। निष्कर्ष यह कि अलङ्कार शब्द, अर्थ के ही आभूषण है। वे प्रत्यक्षत काव्य के वाच्यार्थ का उपस्कार करने है। अलङ्कार की उपादेयता इस बात मे है कि उससे वर्ण्य वस्तु के रूप, गुण आदि का उत्कर्ष होता है तथा रस, भाव आदि के सहज मौन्दर्य की वृद्धि होती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने काव्य में अलङ्कार के इन्ही कार्यो को दृष्टि मे रखकर कहा है—"भावो का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओ के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने मे कभी-कभी सहायक होनेवाली युक्ति अलङ्कार है।" रसवादी शुक्लजी की अलङ्कार-विषयक यह मान्यता मम्मट आदि रसवादी आचार्यो की मान्यता से अभिन्न है।

काव्य में अलङ्कार का स्थान

काव्य मे अलङ्कार के स्थान तथा अन्य काव्य-तत्त्वो के साथ उसके सापेक्ष महत्त्व के सम्बन्ध मे अनेक प्रकार के मत प्रकट किये गये है। काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध मे दृष्टिभेद के कारण अलङ्कार के विषय मे यह मतभेद स्वाभाविक था। काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध मे विभिन्न मत स्थापित करनेवाले छह प्रस्थान भारतीय काव्यशास्त्र मे प्रसिद्ध है। वे है—अलङ्कार-प्रस्थान, रीति-प्रस्थान (रीति को गुणात्मा स्वीकार करने के कारण, गुण को ही रीति का विधायक मानने के कारण इसे गुण-प्रस्थान भी कहा जा सकता है।) वक्रोक्ति-प्रस्थान, रस-प्रस्थान, ध्वनि-प्रस्थान और औचित्य-प्रस्थान। ध्वनि-प्रस्थान के आचार्यों ने वस्तु ध्वनि तथा अलङ्कार ध्वनि की अपेक्षा रस ध्वनि को विशेष महत्त्व दिया है। अत ध्वनि-प्रस्थान और रस-प्रस्थान के काव्य-चिन्तन मे विशेष मौलिक भेद नहीं है। अस्तु ! प्रसङ्गानुरोध से उक्त प्रस्थानो के आचार्यो की काव्य-दृष्टि के परिप्रेक्ष्य मे काव्य मे अलङ्कार के स्थान तथा सापेक्ष महत्त्व के सम्बन्ध में उनकी मान्यता का हम परीक्षण करेगे।

भामह और उद्भट ने काव्य के शब्दार्थ को अलङ्कार्य मानकर उनमे सौन्दर्य का आधान करनेवाले सभी तत्त्वो को अलङ्कार कहा है।[1] इस प्रकार यह तो स्पष्ट है कि भामह, उद्भट आदि अलङ्कार को काव्य-सौन्दर्य के लिए काव्य का अनिवार्य धर्म मानते थे; पर विशिष्ट अर्थ मे प्रयुक्त उपमा आदि का

१. इह हि तावद् भामहोद्भटप्रभृतयश्चिरन्तनालङ्कारकारा प्रतीयमानमर्थं वाच्योपस्कारितयालङ्कारपक्षनिक्षिप्त मन्यन्ते।

—रुय्यक, अलं० सर्वस्व पृ० ४

माधुर्य आदि गुणो के साथ सापेक्ष महत्त्व उमसे स्पष्ट नही हो पाता। भामह ने काव्य के अलङ्कार को नारी के आभूपण की तरह मानकर कहा था कि जैसे रमणी का सुन्दर मुख भी भूपण के अभाव मे मुशोभित नही होता, उसी प्रकार अलङ्कारहीन काव्य सुशोभित नही होता।[१] इस कथन की परीक्षा से जो तथ्य प्राप्त होता है वह यह है कि भामह नारी के मुख को सुशोभित करने के लिए आभूषण को जिस प्रकार अनिवार्य मानने थे, उमी प्रकार काव्य को सुशोभित करने के लिए काव्यालङ्कार को आवश्यक मानते थे। भामह के उक्त कथन का यह अश विशेष रूप से ध्यातव्य है कि 'वनिता का मुन्दर मुख भी अलङ्कार के अभाव मे सुशोभित नही होता।' स्पष्ट है कि भामह भूषण के अभाव मे भी रमणी के मुख मे कान्ति की स्थिति तो मानेगे ही—भले ही वह मुख उन्हे बहुत मनोज्ञ न लगे। नारी के आभूषण उसके मौन्दर्य की सृष्टि नही करते, स्वाभाविक सौन्दर्य को वृद्धि ही कर सकते है। यदि काव्य के अलङ्कार को नारी के आभूपण की तरह माना जाय, तो उसे काव्य-सौन्दर्य की वृद्धि मे महायक-मात्र मानना होगा। तब यह तो रुचिभेद पर निर्भर करेगा कि आभूपणहीन नारी के कान्त मुख की तरह अलङ्कारहीन; किन्तु कान्त काव्य (शब्दार्थ) किसी को मनोज्ञ लगता है या अमनोज्ञ। भामह को कान्त मुख भी अनलङ्कृत होने पर मनोरम नही लगेगा; पर कालिदास-जैसे रसज्ञ महज सुन्दर रूप के लिए किमी विशेष आभूषण की आवश्यकता नही मानेंगे। उनके अनुमार तो कोई भी वस्तु—चाहे वह स्वय सुन्दर हो या असुन्दर—सुन्दर रूप का आभूषण बन जाती है।[२] भामह ने भी स्वीकार किया है कि आश्रय के सौन्दर्य मे असुन्दर वस्तु भी मुन्दर बन जाती है। सुन्दर आँखो मे काला अञ्जन भी सुन्दर लगने लगता है।[३] ध्यातव्य है कि अलङ्कार-वादी आश्रय मे सौन्दर्य अलङ्कार के सद्भाव से ही सम्भव मानेगे। अनलङ्कृत वार्ता मे मौन्दर्य वे नही मानते। भामह ने वक्रोक्ति या अतिशयोक्ति को अलङ्कार का प्राणभूत तत्त्व मानकर उसके लिए विशेष आग्रह दिखाया है।

---

१ न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्।
—भामह, काव्याल० १, १३

२. किमिव हि मधुराणा मण्डनं नाकृतीनाम्।
—कालिदास, अभिज्ञानशाकुन्तलम्

३ किञ्चिदाश्रयसौन्दर्याद्धत्ते शोभामसाध्वपि।
कान्ताविलोचनन्यस्तं मलीमसमिवाञ्जनम्॥
—भामह, काव्याल० १,५५

उक्ति का वैचित्र्य, उक्तिभङ्गी का लोकोत्तर चमत्कार ही अलङ्कार है। इस व्यापक स्वरूप मे ही अलङ्कार भामह के 'काव्यालङ्कार' मे काव्यसौन्दर्य का आवश्यक तत्त्व माना गया है। वक्रोक्ति से अनुप्राणित होने के कारण अलङ्कार काव्यार्थ को भास्वर बनाते है। अनलङ्कृत या प्रकृत उक्ति वार्ता-मात्र होती है, काव्य नही।[1] अलङ्कार को काव्य-सौन्दर्य का आवश्यक उपादान मानने के कारण भामह अलङ्कार-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक माने गये है। रुय्यक के शब्दों मे वे अलङ्कारतन्त्र-प्रजापति है।

आचार्य दण्डी ने अलङ्कार के व्यापक अर्थ मे उसे काव्य-सौन्दर्य का हेतु कहा है।[2] स्पष्टत दण्डी के उस अलङ्कार मे काव्य मे शोभा का आधान करनेवाले गुण आदि धर्म भी सन्निहित है। दण्डी ने विशिष्ट अर्थ मे उपमा आदि अलङ्कार को श्लेष, प्रसाद आदि दश गुणो से पृथक् कर जहाँ दोनो का सापेक्ष महत्त्व निर्धारित करना चाहा है वहाँ अलङ्कार की अपेक्षा गुण पर ही उनका विशेष आग्रह जान पडता है। समाधि गुण को 'काव्यसर्वस्व' कहकर दण्डी ने काव्य में गुण का अपेक्षाकृत विशेष महत्त्व स्वीकार किया है।[3] उन्होने यह भी कहा कि यद्यपि शब्द और अर्थ के सभी अलङ्कार काव्य मे रस का परिपोष करते है, फिर भी यह कार्य विशेष रूप से अग्राम्यता (ग्राम्यत्व दोषरहित माधुर्य आदि) ही करती है।[4] इस कथन से स्पष्ट है कि काव्य में रस के उत्कर्ष मे दण्डी अलङ्कार की अपेक्षा अग्राम्यता तथा गुण आदि को ही अधिक आवश्यक मानते थे। ध्यातव्य है कि दण्डी के इस कथन मे रस का अर्थ सामान्य रूप से काव्य का सौन्दर्य ही है। रस शब्द अपने आस्वाद-रूप पारिभाषिक अर्थ मे प्रयुक्त नही हुआ है। रस ध्वनि आदि को दण्डी ने भामह आदि की तरह अलङ्कार मे ही अन्तर्भुक्त माना है। इसीलिए उन्होने रसवत् अलङ्कार को रसपेशल कहकर उसी प्रसङ्ग मे भट्टलोल्लट के मतानुसार रस के स्वरूप का निरूपण किया है। निष्कर्ष रूप मे दण्डी की मान्यता का सार यह है कि व्यापक अर्थ मे काव्य-सौन्दर्य के हेतुभूत सभी धर्म (गुण, अलङ्कार आदि) अलङ्कार है। गुण आदि के साथ सापेक्ष रूप मे अलङ्कार (शब्दालङ्कार एवं

१ गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिण.।
इत्येवमादि किं काव्य वार्तामेना प्रचक्षते॥—वही, २, ८७
२. काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते।—दण्डी, काव्याद०, २, १
३ तदेतत्काव्यसर्वस्व समाधिर्नाम यो गुण।—वही, १, १००
४ काम सर्वोऽप्यलङ्कारो रसमर्थे निषिञ्चति।
तथाप्यग्राम्यतैवैन भार वहति भूयसा॥—वही, १, ६२

अर्थालङ्कार) के महत्त्व पर विचार करने से अलङ्कार भी काव्य-सौन्दर्य का उत्कर्ष करते है; पर अग्राम्यत्व माधुर्य, समाधि आदि का इस कार्य मे अधिक योग रहता हे। दण्डी अलङ्कार को काव्य का आभ्यन्तर धर्म ही स्वीकार करते है, पर गुण आदि की तुलना मे उसका कम मूल्य मानते हे।

वामन ने अलङ्कार को काव्य-सौन्दर्य का पर्याय मानकर काव्य को अलङ्कार के सद्भाव से ही ग्राह्य कहा था।[१] सौन्दर्यहीन काव्य अग्राह्य है, इस मान्यता मे किसे आपत्ति होगी? यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि वामन ने जिस अलङ्कार के सद्भाव मे काव्य को ग्राह्य और अभाव मे काव्य को अग्राह्य माना था, उसका अर्थ उपमा आदि विशिष्ट अलङ्कारो तक ही सीमित नही था। वह अलङ्कार शब्द सामान्य रूप से काव्य-सौन्दर्य के व्यापक अर्थ मे प्रयुक्त हुआ था। वामन रीति को काव्य की आत्मा मानते थे।[२] अत, यह स्वाभाविक था कि वे रीति के विधायक गुण को काव्य मे विशेष महत्त्व देते। यही कारण है कि उन्होने काव्य-सौन्दर्य का हेतु गुण को ही माना है।[३] अलङ्कार काव्य-सौन्दर्य की वृद्धि करते है।[४] स्पष्ट है कि गुण के अभाव मे अलङ्कार मे काव्यत्व नही आ सकता। अलङ्कार सौन्दर्य की सृष्टि नही कर सकते। अलङ्कार के अभाव मे भी गुण से काव्य मे सौन्दर्य की सृष्टि हो सकती है और काव्य ग्राह्य हो सकता है। यह बात दूसरी है कि अलङ्कार के रहने से गुण द्वारा उद्भूत काव्य-सौन्दर्य जितना उत्कृष्ट होगा उतना उसके अभाव मे नही। अत: वामन की दृष्टि मे उपमा आदि अलङ्कार का काव्य मे इतना ही महत्त्व है कि वे काव्य की स्वाभाविक शोभा की अभिवृद्धि कर काव्य को अधिकाधिक चारुता प्रदान करते है। गुण की तुलना मे अलङ्कार का महत्त्व गौण है, क्योंकि गुण काव्य-सौन्दर्य के लिए, काव्य को ग्राह्य बनाने के लिए और अन्तत काव्य की आत्मा रीति के स्वरूप-विधान के लिए अनिवार्य हे, पर अलङ्कार काव्य-सौन्दर्य के लिए अनिवार्य नही, काव्य-सौन्दर्य की वृद्धि के लिए अपेक्षित होते है। भामह तथा दण्डी की तरह वामन ने भी रस, ध्वनि आदि को अलङ्कार मे अन्तर्भूत माना है। काव्य मे अलङ्कार के सापेक्ष महत्त्व की दृष्टि से वामन और दण्डी का मत प्राय मिलता-जुलता है।

---

१. काव्य ग्राह्यमलङ्कारात्। तथा—सौन्दर्यमलङ्कार:।
—वामन, काव्याल० सू० वृ० १, १, १ तथा १, १, २

२. रीतिरात्मा काव्यस्य।—वही, १, २, ६

३ काव्यशोभाया कर्तारो धर्मा गुणा।—वही, ३, १, १

४ तदतिशयहेतवस्त्वलङ्कारा।—वही, ३, १, २

आचार्य उद्भट अलङ्कार को गुण के समान ही महत्त्व देने के पक्षपाती है। उनकी मान्यता है कि गुण और अलङ्कार दोनो ही काव्य से समवाय-वृत्ति से सम्बद्ध रहते है। अत, गुण को समवाय-वृत्ति से सम्बद्ध काव्य का अन्तरङ्ग और अलङ्कार को सयोग-वृत्ति से सम्बद्ध काव्य का बहिरङ्ग धर्म मानना तर्कहीन गतानुगतिकता है।[१] ध्यातव्य है कि भामह के समय ही काव्यालङ्कार को काव्य का बाह्य तथा आभ्यन्तर धर्म माननेवाले दो मत प्रचलित थे, जिनका निर्देश भामह के काव्यालङ्कार मे किया गया है।[२] अलङ्कारवादी भामह अलङ्कार को काव्य का अन्तरङ्ग धर्म मानते थे, तो रीतिवादी वामन ने गुण को शोभाकारक कहकर अन्तरङ्ग और अलङ्कार को शोभातिशयकारी कहकर बाह्य धर्म मान लिया था। उद्भट का मत है कि अलङ्कार भी काव्यसौन्दर्य के हेतु है। अत वे काव्य के अन्तरङ्ग धर्म ही है। गुण और अलङ्कार का उनके अनुसार भेद केवल इतना है कि गुण सघटनाश्रित है अर्थात् उनका आश्रय रीति है जब कि अलङ्कार शब्दार्थ पर आश्रित रहते है।[३] निष्कर्षत उद्भट के अनुसार अलङ्कार काव्य के शब्द तथा अर्थ को सौन्दर्य प्रदान करनेवाले नित्य और अन्तरङ्ग धर्म है। अलङ्कार के अभाव मे शब्द तथा अर्थ मे सौन्दर्य नही आता।

जयदेव ने काव्य-लक्षण मे अलङ्कार की अनिवार्य सत्ता मानी है।[४] उन्होने तो यहाँ तक कहा है कि अलङ्कारहीन शब्दार्थ का काव्य मानना उष्णतारहित अग्नि की कल्पना करने के समान है।[५] उष्णता मे ही अग्नि का अग्नित्व है, उसी प्रकार अलङ्कृत होने मे ही काव्य का काव्यत्व है। अलङ्कार काव्य का नित्य धर्म है। हिन्दी के अनेक रीति-आचार्यो ने जयदेव के स्वर मे

---

१. द्रष्टव्य .—प्रस्तुत प्रबन्ध का प्रस्तुत अध्याय, पृ० ३ पाद टि० स० १

२. रूपकादिमलङ्कार बाह्यमाचक्षते परे।
सुपा तिडा च व्युत्पत्ति वाचा वाञ्छन्त्यलङ्कृतिम्।
—भामह, काव्याल०, १,१४

३ उद्भटादिभिस्तु गुणालङ्काराणा प्रायश साम्यमेव सूचितम्। विषयमात्रेण भेदप्रतिपादनात्। सघटनाधर्मत्वेन शब्दार्थधर्मत्वेन चेष्टे।
—रुय्यक, अल० सर्वस्व पृ० ७

४. निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषिता।
सालङ्काररसानेकवृत्तिर्वाक्काव्यनामभाक्॥
—जयदेव, चन्द्रालोक, १,७

५. अङ्गीकरोति यः काव्य शब्दार्थावनलङ्कृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती॥ वही, १,८

अपना स्वर मिलाया है।[१] निष्कर्ष यह कि अलङ्कार सम्प्रदाय के आचार्य वाच्य के उपस्कार के लिए अलङ्कार को आवश्यक मानते हे। ध्वनि, रस आदि को भी वाच्योपस्कारक मानकर उन्होने अलङ्कार मे अन्तर्भूत मान लिया हे।

वक्रोक्ति-सम्प्रदाय के प्रतिष्ठाता आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य-सर्वस्व स्वीकार किया हे। यह वक्रोक्ति या उक्ति की लोकोत्तर चमत्कारपूर्ण भङ्गी शब्दार्थ का उपस्कार करती है। अत वक्रोक्ति अलङ्कार है।[२] वक्रोक्ति से तात्पर्य वक्रोक्ति नामक अलङ्कार-विशेष का नही हे। उक्ति-वैचित्र्य या भङ्गी-भणिति को कुन्तक ने वक्रोक्ति कहा हे। भामह ने भी वक्रोक्ति को अलङ्कार का प्राण कहा था।[3] उसी सिद्धान्त-सूत्र को लेकर कुन्तक ने वक्रोक्ति-सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा की। अस्तु, कुन्तक के अनुसार वक्रोक्ति अलङ्कार है और वह काव्य का प्राण है। अलङ्कार या वक्रोक्ति के कारण ही शब्दार्थ काव्य कहलाते है।

काव्यालोचन मे औचित्य-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक आचार्य क्षेमेन्द्र माने जाते है। औचित्य पर—काव्य मे विभिन्न तत्त्वो के उचित विनिवेश पर—आरम्भ मे ही विचार हो रहा था, पर क्षेमेन्द्र ने औचित्य को काव्य का प्राण कहकर समीक्षाशास्त्र मे एक नवीन प्रस्थान स्थापित करने का प्रयास किया। औचित्य का अर्थ है उचित का भाव। जिस वस्तु के जो अनुरूप हो उसके साथ उसकी सघटना उचित मानी जाती है।[४] अत., काव्य मे औचित्य का अर्थ है काव्याङ्गो की अनुरूप घटना का होना। स्पष्ट हे कि औचित्य काव्य का कोई स्वतन्त्र तत्त्व न होकर सभी काव्य-तत्त्वो का प्राण है। इस सिद्धान्त के अनुसार काव्य के अलङ्कार अपने-आप मे काव्य-सौन्दर्य के हेतु नही। उचित विन्यास होने पर ही अलङ्कार सच्चे अर्थ मे अलङ्कार होते है और काव्य की श्रीवृद्धि करते हे।[५] अनुचित

---

१. केशव अनलङ्कृत काव्य को अलङ्कारहीन रमणी की तरह असुन्दर मानते है। —कविप्रिया, पृ० ४७

२. उभावेतावलङ्कार्यौ तयो पुनरलङ्कृति.। वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गी-भणितिरुच्यते। —कुन्तक, वक्रोक्तिजी० १,१०

३. सषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते। यत्नोऽस्या कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना।—भामह, काव्याल०, २, ८५

४. उचित प्राहुराचार्या. सदृश किल यस्य यत्। —क्षेमेन्द्र, औचित्य वि० च०, ७

५. अलङ्कारास्त्वलङ्कारा गुणा एव गुणा सदा। उचितस्थानविन्यासादलङ्कृतिरलङ्कृति.।—क्षेमेन्द्र, औचित्य वि० च० ६, तथा—औचित्येनविनारुचि प्रतनुते नालङ्कृतिर्नो गुणा।—वही, पृ० १८६

विन्याम से अलङ्कार काव्य-शोभा के बाधक ही वन जाते है। सन्यासी आभूषण पहन ले तो उससे उमकी कान्ति नही बढेगी। अनौचित्य के कारण वे आभूषण सन्यामी को हास्य का आलम्बन ही वना देगे। लोक-जीवन मे भी जैसे आभूषण अपने उचित स्थान मे रहकर ही शोभावृद्धि करते हे उसी तरह काव्य के अलङ्कार भी उचित स्थान मे ही शोभाकारी होते है। कटि की मेखला गले मे डाल ली जाय और हार कमर मे पहन लिया जाय, तो सौन्दर्य बढने के बजाय बिगड ही जायगा।[1] क्षेमेन्द्र ने हार, मेखला आदि के साथ काव्यालङ्कार की उपमा देकर उसे काव्य का बहिरङ्ग धर्म ही माना है, पर उचित स्थान मे अलङ्कार की योजना को काव्य-सौन्दर्य मे सहायक मानकर उमकी उपादेयता स्वीकार की है। वस्तुत अलङ्कार ही क्या, सभी काव्य-तत्त्वो की उचित योजना होनी ही चाहिए। औचित्य के अभाव मे सभी काव्याङ्ग असुन्दर और अग्राह्य हो जाते है। यह स्पष्ट है कि क्षेमेन्द्र मे न तो अलङ्कार को सभी काव्य-तत्त्वो मे प्रधान मानकर उसे काव्य-सौन्दर्य का आवश्यक हेतु मानने का आग्रह है, न उसे बहिरङ्ग मानकर उसकी अवमानना का ही आग्रह है। औचित्यपूर्ण अलङ्कार-योजना काव्य को सुन्दर बनाती है। अत वह ग्राह्य है।

ध्वनि-सम्प्रदाय मे काव्य मे अलङ्कार के स्थान-निरूपण का महत्त्वपूर्ण आयास हुआ है। ध्वनि-सम्प्रदाय के आचार्यो की दृष्टि अपेक्षाकृत अधिक उदार, पूर्वाग्रहमुक्त तथा वैज्ञानिक रही है। उन्होने अलङ्कार आदि सम्प्रदाय के आचार्यों की तरह काव्य के किसी एक तत्त्व के प्रति अनावश्यक मोह से सभी तत्त्वो को उसी मे अन्तर्भुक्त मान लेने का अशास्त्रीय आग्रह नही दिखाया है। उन्होने ध्वनि को काव्य की आत्मा मानने पर भी गुण, रीति, अलङ्कार आदि काव्य-तत्त्वो का तटस्थ भाव से काव्य मे स्थान निरूपित किया है। आनन्दवर्द्धन के पूर्व अलङ्कार को बाह्य तथा अन्तरङ्ग काव्य-धर्म मानने-वाले दो मत प्रचलित थे। आनन्दवर्द्धन ने उन मतो मे समन्वय स्थापित करते हुए रसोत्कर्ष मे उपादेयता की दृष्टि से अलङ्कार का मूल्याङ्कन किया है। अलङ्कार के सम्बन्ध मे उनकी सामान्य धारणा है कि रस को प्रकाशित करने-वाले वाच्य-विशेष (चमत्कारपूर्ण कथन) ही रूपक आदि अलङ्कार है।[2] स्पष्टत:

१. कण्ठे मेखलया नितम्बफलके तारेण हारेण वा
पाणौ नूपुरबन्धनेन, चरणे केयूरपाशेन वा ॥
शौर्येण प्रणते रिपौ करुणया नायान्ति के हास्यताम् ।—वही, पृ० १८६,

२. ''तत् (रस) प्रकाशिनो वाच्यविशेषा एव रूपकादयोऽलङ्काराः।
—आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक, २ पृ० १३२

आनन्दवर्द्धन के अनुसार अलङ्कार की सार्थकता रस के प्रकाशन मे ही है। रस की व्यञ्जना वाच्यार्थ से ही होती है। अलङ्कार वाच्य अर्थ तथा वाचक शब्द का उपस्कार कर रस की व्यञ्जना मे सहायक होते है। रस-सिद्ध कवि के भावोद्वेलित हृदय का उद्गार जब अनायास काव्यात्मक रूप मे अभिव्यक्त होने लगता है, तो कितने ही अलङ्कार सहज भाव से उसमे समाविष्ट हो जाते है। कवि को अलङ्कार-योजना के लिए आयास नही करना पडता। अलङ्कार तो जैसे परस्पर होड लगाकर उस अभिव्यक्ति मे स्थान पाने के लिए आ जुटते है।[1] भावाभिव्यक्ति के क्रम मे सहज भाव से समाविष्ट अलङ्कार भाव-व्यञ्जना को सबल बनाते है। अत ऐसे अलङ्कार को बाह्य धर्म मानना उचित नही। रस-व्यञ्जना के साथ सहज भाव से आनेवाले अलङ्कार को आनन्दवर्द्धन ने 'अपृथग्यत्ननिर्वर्त्त्य' अलङ्कार कहा है। ऐसे अलङ्कार ही ध्वनि-काव्य मे ग्राह्य होते हे।[2] जिस कवि के हृदय मे गहन भावानुभूति नहीं होती, वह केवल उक्तिभङ्गी से पाठक को चमत्कृत करने के लिए सायास अलङ्कारो की योजना करता है। उसे अलङ्कार-योजना के लिए भाव-व्यञ्जना से अतिरिक्त श्रम करना पडता है। इसलिए ऐसे अलङ्कार 'पृथग्यत्ननिर्वर्त्य' माने गये है। ऐसी सायास अलङ्कार-योजना आनन्दवर्द्धन के अनुसार अग्राह्य है।

आनन्दवर्द्धन की मान्यता है कि अलङ्कार वाच्योपस्कारक होने के कारण काव्य के शरीर है (शरीरभूत शब्दार्थ से अविभाज्य रूप मे सम्बद्ध है), पर कभी वे शरीरी भी बन सकते है। अलङ्कार वाच्य हो तो शरीर किन्तु व्यङ्ग्य होने पर ध्वनि का अङ्ग होते हुए भी शरीरी का पद प्राप्त कर लेते है।[3] अभिनवगुप्त ने इस कथन का तात्पर्य स्पष्ट करते हुए कहा है कि अलङ्कार कभी-कभी रमणी के कुङ्कुम-लेप की तरह शरीर का सुश्लिष्ट आभूषण बन जाते है। पर, उन्हे शरीर कहना भी कठिन है, उनके आत्मा बनने का तो

---

१. " अलङ्कारान्तराणि हि निरुप्यमाणदुर्घटनान्यपि रससमाहितचेतसः प्रतिभानवत कवेरहम्पूर्विकया परापतन्ति।—वही, २, पृ० १३१

२. रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धश्शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यं सोऽलङ्कारो ध्वनौ मत ॥—आनन्दवर्द्धन, ध्वन्या० कारिका स० ३६, पृ० १२६

३. शरीरीकरणं येषा वाच्यत्वेन व्यवस्थितम्।
तेऽलङ्कारा. परा छाया यान्ति ध्वन्यङ्गता गताः।—वही, कारिका सं० ५१ पृ० २१४।

प्रश्न ही नही उठता। हाँ, व्यङ्ग्य होने पर अलङ्कार वाच्य अलङ्कार की अपेक्षा अधिक सौन्दर्यशाली बन जाते है। उनका वाच्य अलङ्कार की अपेक्षा विशेष महत्त्व वैसा ही है जैसा महत्त्व खेल मे राजा बननेवाला बच्चा दूसरो की तुलना मे थोडी देर के लिए प्राप्त कर लेता है।[1] निष्कर्षत आनन्दवर्द्धन ने अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य अलङ्कार को भावाभिव्यक्ति का सहजात धर्म होने के कारण काव्य का अन्तरङ्ग धर्म स्वीकार किया है।

आचार्य मम्मट ने अपने काव्य-लक्षण मे शब्दार्थ का निर्दोष तथा गुणयुक्त होना तो आवश्यक माना, पर अलङ्कार की काव्य मे अनिवार्य स्थिति नही मानकर यह कहा कि कही-कही अनलङ्कृत शब्दार्थ भी काव्य होते है।[2] इस कथन से इतना तो स्पष्ट है कि वे काव्य मे अलङ्कार को अपेक्षित मानते थे, पर उसे काव्य-सौन्दर्य का नित्य और अनिवार्य धर्म नही मानते थे। उनका आग्रह रस पर था, जिसकी नित्य स्थिति उन्होने काव्य मे गुण की अनिवार्यता पर बल देकर स्वीकार की। रस-धर्म गुण अपने धर्मी रस से पृथक् तो रह ही नही सकता। अत, काव्य मे रस अपने धर्म गुण के साथ अनिवार्यतः रहते हैं। रस के अपकर्षकारी दोष का अभाव तथा उसके उपकारी अलङ्कार का सद्भाव मम्मट को काव्य मे इष्ट है, पर उनकी स्पष्ट मान्यता है कि अलङ्कार के अभाव मे भी भाव-सौन्दर्य से शब्दार्थ काव्य बन सकते है। ध्यातव्य है कि मम्मट ने अपने लक्षण मे सुन्दर काव्य को लक्षित किया है, इसीलिए उन्होने शब्दार्थ का दोषहीन होना आवश्यक माना है। कुछ दोष के रहने पर भी तो शब्दार्थ काव्य माने ही जाते है, भले ही उन्हे सुन्दर काव्य न माना जाय। अत मम्मट के मत का निष्कर्ष यह होगा कि अलङ्कार रहित होने पर भी गुण (उसके धर्मी रस भी) के सद्भाव तथा दोष के अभाव से शब्दार्थ सुन्दर काव्य बन सकते हैं। अलङ्कार भी यदि रस के सहायक बनकर आवे तो काव्य का सौन्दर्य और उत्कृष्ट हो जाता है।

---

१. एतदुक्त भवति—सुकविः विदग्धपुरन्ध्रीवत् भूषण यद्यपि श्लिष्टं योजयति, तथापि शरीरतापत्तिरेवास्य कष्टसपाद्या, कुङ्कुमपीतिकाया इव। आत्मतायास्तु का सम्भावना। एवभूता चेय व्यङ्ग्यता, यदप्रधानभूतापि वाच्यमात्रालङ्कारेभ्य. उत्कर्षमलकाराणा वितरति। बालक्रीडायामपि राजत्वमिवेत्यमुमर्थं मनसि कृत्वाह—त ेति।—अभिनवकृत लोचन, पृ० ११७-१८

२. तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि।
—मम्मट, काव्य प्र० १, कारिका १, पृ० ४।

अलङ्कार के सम्बन्ध मे मम्मट की दृष्टि को और स्पष्ट रूप मे समझने के लिए उनके अलङ्कार-लक्षण पर विचार कर लेना अपेक्षित है। उन्होंने काव्य-पुरुष के सम्पूर्ण व्यक्तित्व की कल्पना कर उसमे अलङ्कार का स्थान निर्धारित करने का प्रयास किया है। शब्द और अर्थ काव्य-पुरुष के शरीर है। रस उसकी आत्मा है और माधुर्य आदि रस के धर्म—काव्य गुण—मानव के शौर्य आदि गुण की तरह उसके गुण है। अलङ्कार काव्य-पुरुष के शरीर को—शब्द और अर्थ को—विभूषित करते है, अत वे मानव-शरीर के हार आदि आभूषण की तरह उसके अलङ्कार है। लोक-जीवन मे जैसे हार आदि आभूषण धारण करने वाले का शरीर अलङ्कृत होकर लोक-धारणा को प्रभावित करता है और इस प्रकार अलङ्कृत व्यक्ति की आत्मा का उपकार होता है, उसी प्रकार काव्य के अलङ्कार से काव्य का शब्दार्थ-रूप शरीर अलङ्कृत होकर उसकी आत्मा रस को उपकृत करता है।[1]

मम्मट ने काव्यालङ्कार के लिए हार आदि लौकिक आभूषणों को उपमान बनाया था। उनके पूर्व भी मानव-शरीर के बाह्य अलङ्कार के साथ काव्य के अलङ्कार की उपमा दी गई थी। लौकिक आभूषण के साथ तुलना करते हुए विश्वनाथ ने अलङ्कार को काव्य का बहिरङ्ग और अनित्य धर्म कहा है।[2] भोज ने बाह्य, आभ्यन्तर और बाह्याभ्यन्तर ; इन तीन वर्गो मे अलङ्कार का विभाजन किया था। इस विभाजन की परीक्षा के क्रम मे हम देख चुके है कि यह विभाजन वैज्ञानिक नही है।

काव्य के अलङ्कार को काव्य-शरीर के साथ सयोग-वृत्ति से सम्बद्ध बाह्य धर्म मानने वाले मत के औचित्य की परीक्षा के लिए हम काव्य की सृजन-प्रक्रिया पर विचार करे। काव्य कवि की अनुभूति की व्यञ्जना है। अनुभूति को व्यक्त करने के क्रम मे कवि अपनी उक्ति को अलङ्कृत बनाकर प्रस्तुत कर सकता है। अत अलङ्कार काव्य के सहजात ही होते है। लौकिक आभूषण मानव शरीर के साथ उत्पन्न नही होते, पर काव्य का शब्दार्थ-शरीर सृजन-प्रक्रिया मे अलङ्कृत होकर ही अवतरित होता है। उक्ति का चमत्कार

---

१. उपकुर्वन्ति त सन्त येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादय ॥
—मम्मट, काव्य प्रकाश, ८, ६७, पृ० १८९

२. शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्म्मा शोभातिशायिन ।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलङ्कारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥
—विश्वनाथ, साहित्य द० १०, १, पृ० ५५७

अलङ्कार है और काव्य की उक्तियाँ—यदि वे अलङ्कृत या चमत्कारपूर्ण हो तो —अपने अलङ्कार या विशेष विच्छित्ति के साथ ही व्यक्त होती है। अत. हार आदि लौकिक आभूषण से काव्यालङ्कार की उपमा सटीक नही बैठती। इस उपमा का तात्पर्य इतना ही समझा जाना चाहिए कि अलङ्कार शरीर के साथ ही प्रत्यक्षत· सम्बद्ध रहते है, आत्मा का उपकार वे शरीर के माध्यम से ही कर सकते है। जो अलङ्कार भावाभिव्यञ्जना के उत्कर्ष मे सहायक हो और भावाभिव्यक्ति के क्रम मे सहज भाव से आ जाते हो—ऐसे अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य अलङ्कार को बहिरङ्ग नही माना जाना चाहिए। अलङ्कार को काव्य का अनित्य धर्म केवल इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि अलङ्कार के अभाव मे भी सुन्दर काव्य की सत्ता रहती है। काव्य मे अलङ्कार की सार्वत्रिक स्थिति अनिवार्य नही। दूसरे, कही-कही अलङ्कार काव्य की आत्मा रस के अनुपकारी भी हो जाते है। ऐसे अलङ्कार—अलङ्कार नही, शोभावर्धक धर्म नहीं। केवल भाव-समृद्धि से, रसपेशलता से अकृत्रिम तथा अलङ्काररहित उक्ति भी सुन्दर काव्य मानी जाती है, पर रस का उपकार करनेवाले अलङ्कार का महत्त्व अनुपेक्षणीय है। रस के उपकार मे ही अलङ्कार की सार्थकता है। रस-ध्वनि-वादी आचार्यो की इस मान्यता को ध्वनि-विरोधी (रसानुमितिवादी) महिम भट्ट ने भी स्वीकार किया है।[1]

५· अलङ्कार के सम्बन्ध मे दो प्रश्न बहुधा उठाये जाते रहे है—(१) अलङ्कार यदि अलङ्कृत करने—शोभा का आधान या स्वाभाविक शोभा की वृद्धि करने—के साधन है, जैसा कि करण-व्युत्पत्ति मे अलङ्कार शब्द का अर्थ माना गया है, तो वे काव्य मे अलङ्कृत किसे करते है ? दूसरे शब्दो मे काव्यालङ्कार का अलङ्कार्य किसे माना जाय ? (२) अलङ्कार और अलङ्कार्य क्या एक दूसरे से सर्वथा स्वतन्त्र सत्ता रखते है ?

भामह, उद्भट आदि आचार्यों ने शब्द और अर्थ को अलङ्कार्य माना है। भामह ने शब्द और अर्थ को काव्य कहकर उन्हे ही अलङ्कार्य स्वीकार किया है। उद्भट ने अलङ्कार को 'वाचाम् अलङ्कार' कह कर वाक् अर्थात् शब्द तथा अर्थ को अलङ्कार्य स्वीकार किया है। रीतिवादी वामन ने व्यापक अर्थ मे तो अलङ्कार को सौन्दर्य का पर्याय कहा है, पर विशिष्ट अर्थ मे उपमा आदि के

---

१. विनोत्कर्षापकर्षाभ्या स्वदन्तेऽर्था न जातुचित्।
तदर्थमेव कवयोऽलकारान्पर्युपासते ॥
—महिमभट्ट, व्यक्तिविवेक, २, १४

लिए अलङ्कार शब्द का प्रयोग माना है। काव्य-सौन्दर्य के सामान्य अर्थ में अलङ्कार ही काव्य है, क्योकि सौन्दर्य से पृथक् काव्य की कल्पना ही नही की जा सकती। इस तरह वह काव्य-सौन्दर्य अलङ्कार भी है और अलङ्कार्य भी। काव्य के सभी सौन्दर्याधायक तत्त्व इस अर्थ मे अलङ्कार हे, पर विशिष्ट अर्थ में वामन ने अलङ्कार को काव्य की स्वाभाविक शोभा की वृद्धि का हेतु कहा है। उनके अनुसार रीति या विशेष प्रकार की पद-सघटना काव्य-सर्वस्व है।[1] वही अलङ्कार्य है। उसके सौन्दर्य के हेतु गुण होते है। रीति मे गुण से उद्भूत सौन्दर्य की अलङ्कार से वृद्धि होती है। रीति या पद-सघटना तत्त्वत शब्दार्थ से भिन्न नही। अत रीतिवादी आचार्यो के अनुसार भी शब्दार्थ ही अलङ्कार्य सिद्ध होते है। वक्रोक्तिवादी कुन्तक ने अलङ्कार और अलङ्कार्य के प्रश्न पर बहुत गहन विचार किया है। उनके अनुसार वक्रोक्ति या चमत्कारपूर्ण कथन-शैली अलङ्कार हे और शब्दार्थ अलङ्कार्य।[2] इसीलिए वे स्वाभाविक उक्ति को अलङ्कार्य मानकर स्वभावोक्ति की अलङ्कारता का खण्डन करते है।[3]

रसवादी समीक्षा के जनक भरत ने अलङ्कार के अलङ्कार्य का स्पष्टत. उल्लेख नही किया था, फिर भी अभिनवगुप्त ने अलङ्कार का काव्य मे स्थान निरूपित करते हुए यह मन्तव्य प्रकट किया है कि भरत काव्य के लक्षण को शरीर-स्थानीय मानते थे। अत उनके लक्षण को ही उनके मतानुसार अलङ्कार्य मानना चाहिए।[4] हमने यह देखा है कि भरत के अनेक लक्षण पीछे चलकर अलङ्कार के रूप मे स्वीकार कर लिये गए है। लक्षण शब्दार्थ के शोभाधायक धर्म थे। लक्षणो से समुद्भूत शब्दार्थ-सौन्दर्य की अभिवृद्धि मे अलङ्कार की सार्थकता मानी गयी थी। अत. तात्त्विक रूप मे लक्षण या लक्षणयुक्त शब्दार्थ को ही भरत अलङ्कार्य मानते होगे।

काव्यशास्त्र मे रस और ध्वनि-प्रस्थान की स्थापना हो जाने पर अलङ्कार और अलङ्कार्य के सम्बन्ध मे मौलिक दृष्टि-भेद आया। रस या ध्वनि को

---

१. रीतिरात्मा काव्यस्य।—वामन, काव्याल० सू० वृ० १, २, ६
२. उभावेतावलकार्यौ तयो पुनरलङ्कृति ।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते ॥—कुन्तक, वक्रोक्ति जी० १,१०
३. द्रष्टव्य वही, १, कारिका १०-१५, पृ० ५१-५६
४. काव्ये तावल्लक्षण शरीर, तस्योपमादयस्त्रयोऽर्थभागे, यथा हि पृथग्भूतेन हारेण रमणी विभूष्यते तथोपमानेन शशिना तत्सादृश्येन वा कविबुद्धिचञ्चलतया परिवर्त्तमानत्वात् पृथक्सिद्धेनैव प्रकृतवर्णनीय-वनितावदनादि सुन्दरीक्रियत इति तदेवालङ्कार ।
—ना० शा०, अभिनव कृत अभिनव भारती टीका, पृ० ३२१

काव्य की आत्मा के रूप मे स्वीकृति मिलने के कारण शरीरभूत शब्दार्थ का महत्त्व गौण पड गया। वाचक शब्द और वाच्य अर्थ का काव्य मे उसी अश तक महत्त्व माना जाने लगा, जिस अश मे वे व्यड्ग्यार्थ या ध्वनि मे सहायक होते है। पीछे अभिधा-मात्र को एक शब्द-शक्ति मानकर वाच्यार्थ के महत्त्व की स्थापना का प्रयास भी काव्यशास्त्रीय चिन्तन को विशेष प्रभावित नही कर पाया। अस्तु, रस-ध्वनि-सम्प्रदाय मे काव्य के आत्मभूत रस या ध्वनि को ही अलङ्कार्य माना गया। प्रमुखत अलङ्कार का सम्बन्ध शव्द और अर्थ से ही रहता है, पर शब्दार्थ-मात्र के उपस्कार मे अलङ्कार की सार्थकता नही। शब्दार्थ का उपस्कार कर उनके माध्यम से काव्य के अङ्गी रस या ध्वनि के उपकार मे ही उसकी सार्थकता है।[1] यदि अङ्गी न हो तो अलङ्कार से अङ्ग का भी उपस्कार नही हो सकता। मृत व्यक्ति के निष्प्राण शव को कितने भी मूल्यवान रत्नाभरण से लाद दिया जाय, उसमे सुन्दरता नही आ सकती।[2] रस-ध्वनिवादी आचार्यो की दृष्टि मे भावहीन काव्य अलङ्कार के चमत्कार से युक्त होने पर भी निष्प्राण होता है, निस्तेज होता है। अत, उनकी दृष्टि मे अलङ्कार्य तत्त्वत रस या ध्वनि ही है। इस प्रकार काव्य के शरीरभूत शब्द और अर्थ को, शरीर के सहजात कान्ति आदि धर्म के समान काव्य के शब्दार्थगत लक्षण को तथा रस या ध्वनि को अलङ्कार्य और अनुप्रास, उपमा आदि को अलङ्कार माननेवाले तीन मत सामने आते हे। लक्षण को अलङ्कार्य माननेवाले उसके आश्रयभूत शब्दार्थ को भी अलङ्कार्य स्वीकार करेंगे ही। अत., काव्य-शरीर और काव्य की आत्मा को अलङ्कार्य माननेवाले दो मत ही मुख्य है, जो समीक्षको की काव्य-विषयक बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग दो दृष्टियो के अलग-अलग परिणाम है।

अलङ्कार और अलङ्कार्य

अब हम अलङ्कार और अलङ्कार्य के भेद-अभेद के प्रश्न पर विचार करें। काव्य कवि की अनुभूति की व्यञ्जना है। कवि अपनी अनुभूति को अनेक प्रकार से प्रभावोत्पादक बनाकर व्यक्त करना चाहता हे। काव्य के अलङ्कार उसकी इसी इच्छा के फल होते है। कवि की वाणी जब अलड्कृत होकर कवि की अनुभूति की व्यञ्जना करने लगती हे, तब वाणी के अलङ्कार

१. विवक्षा तत्परत्वेन ।—आनन्दवर्द्धन, ध्वन्या० २, कारिका स० ४१

२. तथा हि अचेतन शवशरीर कुण्डलाद्युपेतमपि न भाति, अलकार्यस्याभावात्। —अभिनवगुप्त, ध्वन्या० लोचन, पृ० ७५

उस पूर्ण व्यञ्जना के अविशिष्ट साधन बनकर ही आते हैं। किसी कवि की अनुभूति की अभिव्यञ्जना जिस रूप मे हुई है—यदि वह अलङ्कृत है, तो जिस अलङ्कार के साथ हुई है—उससे भिन्न रूप मे ठीक वैसी ही व्यञ्जना सम्भव नही है। एक प्रकार की उक्ति का अर्थ दूसरे प्रकार की उक्ति के अर्थ से अभिन्न हो ही नही सकता। ऐसी स्थिति मे कवि की अलङ्कृत उक्ति का अर्थ अलङ्कार और अलङ्कार्य को अलग-अलग कर व्यक्त किया ही नही जा सकता। अलङ्कार यदि कथन की चमत्कारपूर्ण भङ्गी का प्रकारविशेष है तो कवि की उक्ति से उस विशेष भङ्गिमा को निकालकर उसकी व्यञ्जना को अक्षुण्ण नही रखा जा सकता। अलङ्कार को निकालकर—उक्ति की चमत्कारपूर्ण भङ्गी को अलग कर—जो सीधा कथन बच रहेगा उसे कवि की अनुभूति की अभिव्यञ्जना नही कहा जा सकेगा। अत वह अवशिष्ट अलङ्कारहीन उक्ति काव्य नही होगी—अलङ्कार्य नही होगी। (जहाँ कवि की अनुभूति अनलङ्कृत रूप मे ही व्यक्त हुई हो वहाँ की बात और है। वहाँ वही पूर्ण व्यञ्जना है, वही काव्य है।) एक अलङ्कृत काव्योक्ति का उदाहरण लेकर हम इस तथ्य को स्पष्ट करेंगे। सूर ने विरहिणी गोपियो की पीडा की कल्पना करते हुए माना है कि काली रात उन्हे नागिन के दश की तरह पीडा देती है और जब उस रात्रि के अन्धकार को दूर करती हुई चाँदनी फैल जाती है तब तो उनकी वियोग-व्यथा और तीव्र हो उठती है, जैसे नागिन डँसकर उलट गई हो—

पिया बिनु नागिन काली रात।
कबहुंक जामिनि होत जुन्हैया, डसि उलटो ह्वै जात॥[1]

नागिन जब डँसकर उलट जाती है तो वह दश मे और भी अधिक विष भर देती है। काली नागिन उलटती है तो उसके नीचे का उजला भाग ऊपर आ जाता है। रात्रि के अन्धकार के बाद चाँदनी के छा जाने मे नागिन का यह रूप साम्य भी है।

सूर के उक्त पद मे यदि अलङ्कार और अलङ्कार्य को अलग-अलग कर देखे, तो यह मानेगे कि इसमे मुख्य कथ्य या अलङ्कार्य है—'वियोगिनी गोपियो के लिए रात्रि का अन्धकार तो दुखद है ही, चाँदनी छाने से उनका दुख और भी बढ जाता है। स्पष्ट है कि यह कथन कवि की उक्त दो पक्तियो मे व्यञ्जित अर्थ से सर्वथा भिन्न है। उन पक्तियो मे अलङ्कार और अलङ्कार्य के अलग-अलग अस्तित्व की कल्पना न कर उसे कवि की अनुभूति की एक पूर्ण अभिव्यञ्जना

१. सूरसागर

मानना ही समीचीन है, जिस पूर्णता मे अलङ्कार अविशिष्ट अङ्ग है। इसलिए क्रोचे की यह मान्यता उचित ही है कि काव्य एक सम्पूर्ण अभिव्यञ्जना है और अलङ्कार उस अभिव्यक्ति का सम्पूर्ण से अविभाज्य साधन है।[1]

भारतीय अलङ्कार-शास्त्र के आचार्यो ने अलङ्कार और अलङ्कार्य के इस अविच्छेद्य सम्बन्ध को बहुत पहले ही समझा था। अनेक आचार्यो ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप मे अलङ्कार और अलङ्कार्य के अभेद का निरूपण भी किया है। विच्छित्ति, अभिधान के प्रकारविशेष, उक्तिभङ्गी आदि को अलङ्कार का लक्षण मानने मे अलङ्कार्य (शब्द, अर्थ, रस या ध्वनि) से उसके अविभाज्य सम्बन्ध की धारणा निहित थी। भारतीय चिन्ता-धारा अनेकता मे एकता, भेद मे अभेद का सूत्र ढूँढती रही है। दार्शनिको ने सम्पूर्ण विश्व को विभु की विभूतियो की अभिव्यक्ति माना है। इस जगत्-रूपी काव्य को अभिव्यक्त करने के कारण वह ब्रह्म कवि है।[2] शैव मतावलम्बियो का शिव इस वैचित्र्य-पूर्ण जगत् का निर्माण करता है, अत वह श्रेष्ठ कलाकार है। उसकी कला में उसकी विभूति का ही उन्मेष होता है।[3] इस प्रकार इस विश्व की विविधता मे भी तात्त्विक एकरूपता अन्तर्निहित है। काव्य कवि की आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति होता है। कवि की अखण्ड अनुभूति ही काव्य मे नाना रूपो मे अभिव्यक्त होती है। अत काव्य के विविध अङ्गो मे एक अन्विति का, तात्त्विक अभेद का होना स्वाभाविक है।

भारत के साहित्यशास्त्रीय चिन्तन पर अद्वैतवादी वेदान्त-दर्शन का तथा शैवमत का पुष्कल प्रभाव पडा है। अद्वैतवादियो ने जीव, जगत और ब्रह्म की, सृष्टि और स्रष्टा की, जगत्-काव्य और उसके कवि की तात्त्विक अभिन्नता स्वीकार कर भी उनके बीच व्यावहारिक भेद की कल्पना को तर्कसङ्गत माना है। काव्यशास्त्र के विचारको ने भी काव्य को कवि की अनुभूति की अखण्ड व्यञ्जना मानकर सभी काव्य-तत्त्वो की तात्त्विक अभिन्नता स्वीकार की है; पर विश्लेषण के लिए उनकी व्यावहारिक भिन्नता की कल्पना भी समीचीन मानी है। शब्द को ब्रह्म मानकर उसके विवर्त अर्थ को तो उससे अभिन्न माना ही गया है, रस या काव्यानन्द की अनुभूति के समय काव्य के सभी अङ्गो की

---

१ क्रोचे, एस्थेटिक्स, ६,पृ० ६६

२. कविर्मनीषी परिभू स्वयभू, ईशावास्योपनिषद्, ८

३ निरुपादानसम्भारमभित्तावेव तन्वते।
जगच्चित्र नमस्तस्मै कलाश्लाघाय शूलिने ॥—नारायण भट्ट, स्तव-चिन्तामणि, काव्यप्रकाश मे उद्धृत, पृ० ५४

समन्वित अखण्ड अनुभूति ही स्वीकार की गई है। उस अनुभूति मे विभाव आदि की विशिष्ट अनुभूति का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रह जाता। वाच्य अर्थ तथा उसके उपस्कारक अलङ्कार आदि भी उस काव्यानन्द की समग्र अनुभूति मे मिलकर उसके अविभाज्य अङ्ग बन जाते है। उस अखण्ड काव्यानन्द की अनुभूति-दशा तक पहुँचने मे वाच्यार्थ, अलङ्कार आदि के बोध का क्रम यदि हो भी तो वह इतना अलक्ष्य होता है कि भावक उसे परख नहीं पाता। कमल की सैकडो पँखुडियो को ऊपर-नीचे रखकर एक बार उनमें सूई चुभो देने पर वह सूई सभी पँखुडियो मे छेद तो एक क्रम से ही करती है, पर उस क्रम को कौन परिलक्षित कर पाता है? यही स्थिति वाच्य अर्थ, अलङ्कार आदि के बोध से लेकर काव्य की अखण्ड आनन्दात्मक अनुभूति की दशा तक पहुँचने की है। इस मान्यता मे भेद मे अभेद की धारणा निहित है। काव्य के अङ्ग भावक के हृदय मे अलग-अलग अनुभूति को जगाने, उसे तीव्र करने आदि का कार्य करते है, पर काव्यानन्द की अनुभूति-दशा मे वे सब मिलकर एकाकार हो जाते है। उस दशा मे एक अखण्ड अनुभूति ही बच रहती है, जो स्वत प्रकाश्य और आनन्दात्मक होती है। उस अनुभूति मे काव्याङ्गो की स्थिति अनेक वस्तुओ के मिश्रण से निर्मित पेय मे तत्तद् वस्तुओ की-सी हो जाती है। पेय के सभी तत्त्व अपने-अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को मिटाकर अविभाज्य रूप मे पेय का स्वाद उत्पन्न करने में सहायक होते है। काव्य के अङ्ग भी अपने-अपने स्वतन्त्र अस्तित्व का विलयन कर एक अखण्ड काव्यानुभूति मे अविभाज्य अङ्ग बन कर सहायक होते है। काव्य की इस अखण्ड आनन्दात्मक अनुभूति को दृष्टि मे रखकर ही आनन्दवर्द्धन ने कहा था कि अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य अलङ्कार रसानुभूति मे अन्तरङ्ग अङ्ग बनकर ही सहायक होते है।[१] भामह, दण्डी, वामन आदि आचार्यो ने भी उपमा आदि विशेष अलङ्कारो का गुण आदि से भेद-निरूपण कर पुन सभी काव्य-तत्त्वो को सामान्य रूप से काव्य का अलङ्कार या सौन्दर्य कहकर सब की तात्त्विक अभिन्नता स्वीकार कर ली है। इस मान्यता मे कोई स्वत-विरोध नही। काव्य-सौन्दर्य या काव्यानुभूति की अखण्डता की दृष्टि से सभी काव्य-तत्त्व अभिन्न है; पर काव्याङ्गो के अलग-अलग विवेचन मे सबके स्वतन्त्र अस्तित्व तथा उनके सापेक्ष महत्त्व की कल्पना भी अनुपादेय नही। तर्कशास्त्र का यह मान्य सिद्धान्त है कि

१ तस्मान्न तेषा बहिरङ्गत्व रसाभिव्यक्तौ।
—आनन्दवर्द्धन, ध्वन्या० २ पृ० १३२

तात्त्विक अभेद मे भी विवेचन-विश्लेपण के लिए भेद की कल्पना करनी ही पडती है। अखण्ड को खण्डो मे कल्पित किये बिना—भले ही वह खण्ड-कल्पना अतात्त्विक हो—विपय का निरूपण सम्भव नही। काव्यानन्द या काव्य के सौन्दर्य-बोध को अखण्ड आनन्दात्मक अनुभूति माननेवाले मम्मट, विश्वनाथ आदि ने जो अलङ्कार को हार आदि की तरह काव्य का बहिरङ्ग धर्म कहा था, उसका भी आशय केवल इतना ही होगा कि एक तो अलङ्कार मुख्य रूप से शब्द और वाच्य अर्थ से सम्बद्ध रहकर परम्परया काव्यानन्द मे उपकारक होते है, दूसरे उनके अभाव मे भी काव्यानन्द की अनुभूति सम्भव होती हे। शब्द, वाच्यार्थ आदि की समन्वित अनुभूति को एक अखण्ड काव्यानुभूति तो मम्मट, विश्वनाथ आदि भी मानते ही है, जिसमे काव्याङ्गो की अलग-अलग अनुभूति की चेतना मिट जाती है। उस काव्यानुभूति मे एक ही काव्य-सौन्दर्य की अखण्ड आनन्दात्मक चेतना का अस्तित्व रह जाता है, अङ्ग-सौन्दर्य की खण्ड-चेतना उसमे मिलकर एकाकार हो जाती है। इस प्रकार अलङ्कार्य रस तथा अलङ्कार का पृथक्-पृथक् अस्तित्व अतात्त्विक है। अलङ्कार शब्द या वाच्यार्थ से मिलकर रसानुभूति मे सहायक बन जाते है। यह साहाय्य बाह्य नही आभ्यन्तर ही होता है। अलङ्कार का सौन्दर्य भी उस अखण्ड काव्यानन्द की अनुभूति मे—पूर्ण काव्य-सौन्दर्य मे—घुल-मिल जाता है।

कुन्तक ने अलङ्कार और अलङ्कार्य के भेदाभेद के प्रश्न पर बहुत ही तर्कपूर्ण और प्रामाणिक विचार प्रस्तुत किया है। उन्होने वक्रोक्ति को, जो उनके अनुसार काव्य-सर्वस्व है, अलङ्कार्य नही मानकर अलङ्कार माना है। उनके अनुसार अलङ्कार्य शब्द और अर्थ है।[1] प्रकृत या अनलङ्कृत शब्दार्थ का प्रयोग लोक-व्यवहार मे होता है। अत ऐसे शब्दार्थ को वार्त्ता कहते है। स्वभावोक्ति को अलङ्कार न मानकर अलङ्कार्य मानने मे कुन्तक का यही आशय है कि स्वभावोक्ति अर्थात् प्रकृत शब्दार्थ अलङ्कृत होने पर ही काव्य की कोटि मे आते है। वे वक्रोक्ति से अलङ्कृत होते है, अत अलङ्कार्य है। वक्रोक्ति, प्रकृत शब्दार्थ को अलङ्कृत करती है, अत वह अलङ्कार है। विशेष चमत्कार से—वक्रोक्ति से—युक्त या अलङ्कृत शब्दार्थ को काव्य मानने पर अलङ्कार और अलङ्कार्य का भेद काव्य में नही रह जाता। अलङ्कार-व्यतिरिक्त प्रकृत शब्दार्थ तो काव्य हो ही नही सकता। अत कुन्तक ने स्पष्ट शब्दो मे यह कहा है कि वस्तुत सालङ्कार उक्ति ही काव्य है। उसमें अलङ्कार और अलङ्कार्य की परस्पर स्वतन्त्र सत्ता नही,

१. द्रष्टव्य, प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रस्तुत अध्याय, पृ० १८ पाद टि० स० २

फिर भी काव्य की व्युत्पत्ति के लिए—उसके स्वरूप के विश्लेषण के लिए—अलङ्कार और अलङ्कार्य को अलग-अलग कल्पित कर उनका विवेचन किया जाता है।[1] अलङ्कार-अलङ्कार्य की तात्त्विक अभिन्नता मान लेने पर भी काव्य की व्युत्पत्ति के लिए दोनो की पार्थक्य-कल्पना की आवश्यकता बताने के लिए कुन्तक ने एक दृष्टान्त दिया है कि वैयाकरण वाक्य मे पद, वर्ण आदि की अलग-अलग सत्ता नही मानते, फिर भी व्याकरण-ग्रन्थो मे पद के अन्तर्गत प्रकृति-प्रत्यय का तथा वाक्य के अन्तर्गत पदो का पृथक-पृथक विवेचन किया जाता है।[2] अत, निष्कर्ष रूप मे कुन्तक की स्थापना यह है कि अलङ्कार सहित सम्पूर्ण का ही काव्यत्व है। अलङ्कृत वाक्य ही काव्य होता है, न कि काव्य मे अलङ्कार का योग रहता है। स्पष्ट है कि क्रोचे ने अभिव्यञ्जनावाद मे जो यह सिद्धान्त स्थापित किया है कि कला सहजानुभूति है और सहजानुभूति से अभिन्न होने के कारण अभिव्यञ्जना अखण्ड है, जिसका अलङ्कार, रीति आदि मे विभाजन सम्भव नही, उस सिद्धान्त की स्थापना कुन्तक के द्वारा भारतीय अलङ्कार शास्त्र मे बहुत पहले हो चुकी थी। कुन्तक ने भी काव्य को कवि की अनुभूति की सम्पूर्ण, निरवयव व्यञ्जना माना है। कुन्तक इस विचार को और आगे तक ले गये थे, जहाँ तक क्रोचे नही पहुँच पाये। क्रोचे का कथन है कि अलङ्कार-सिद्धान्त या रीति-सिद्धान्त अभिव्यञ्जना के अनेक वर्गों मे अवैध विभाजन का परिणाम है। वस्तुत. अभिव्यञ्जना अखण्ड है। उसके अलग-अलग अङ्गो की कल्पना नही की जा सकती। क्रोचे का यह मत काव्य के भावक-मात्र को दृष्टि मे रखकर विचार करने से अवश्य ही निर्भ्रान्त है। सहृदय को काव्य का भावन उसकी पूर्णता मे ही होता है। रसवादी आचार्यों ने काव्यानन्द की अनुभूति को वेद्यान्तर के स्पर्श से शून्य, अखण्ड, स्वप्रकाश्य और ब्रह्मानन्द

---

१ अलङ्कृतिरलङ्कार्यमपोद्धृत्य विवेच्यते।
तदुपायतया तत्त्व सालङ्कारस्य काव्यता ॥
—कुन्तक, वक्रोक्ति जी० १, ६

२ तस्मादेवविधो विवेक काव्यव्युत्पत्त्युपायता प्रतिपद्यते। दृश्यते च समुदायान्त पातिनामसत्यभूतानामपि व्युत्पत्ति-निमित्तमपोद्धृत्य विवेचनम्। यथा पदान्तर्भूतयो प्रकृतिप्रत्ययो वाक्यान्तर्भूताना पदानाञ्चेति। —वही, वृत्ति पृ० १६
वर्ण, पद, वाक्य आदि की अभिन्नता के लिए द्रष्टव्य—
पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च।
वाक्यात्पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन ॥
—वैयाकरणभूषणसार, कारिका सं० ६८

की तरह अनिर्वचनीय तक कहा है।[1] कुन्तक ने भी काव्य को निरवयव या सम्पूर्ण अभिव्यक्ति माना है। काव्य-समीक्षक की दृष्टि से क्रोचे का मत अशक्त है। क्रोचे कलानिरूपिणी समीक्षा मे रस, अलङ्कार आदि अङ्गो का विवेचन अनुपादेय मानते है। उनके अनुसार अङ्गो का विश्लेषण वैज्ञानिक समीक्षा मे तो सहायक है, पर कलानिरूपिणी समीक्षा मे उसका कोई मूल्य नही। क्रोचे के इस सिद्धान्त का खण्डन करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है कि 'इस सम्बन्ध मे मेरा वक्तव्य यह है कि वैज्ञानिक या विचारात्मक समीक्षा ही कला-निरूपिणी समीक्षा है। उसी का नाम समीक्षा है'।[2] वस्तुत. तर्क या शास्त्र से भिन्न समीक्षा सम्भव ही नही है। शास्त्र, या तर्क का काव्यार्थ-भावन मे कोई उपयोग नही, पर समीक्षा मे वे उपयोगी ही नही, अनिवार्य है। समीक्षा पूर्णता मे नही होती, पूर्ण की खण्ड-कल्पना कर लेने पर ही होती है। पूर्ण या अखण्ड अनिर्वचनीय होता है। अत समीक्षक के लिए काव्य की सम्पूर्ण अभिव्यञ्जना को भी खण्डो मे कल्पित कर लेना आवश्यक हो जाता है। शुक्ल जी के द्वारा की गई क्रोचे की समीक्षा विचारणीय है।

शुक्ल जी ने क्रोचे की इस मान्यता से, कि काव्य का अर्थ एक और अखण्ड होता है, उसमे अलङ्कार और अलङ्कार्य आदि अङ्गो का विभाजन नही हो सकता, असहमति प्रकट करते हुए कहा कि अलङ्कार और अलङ्कार्य का भेद मिट नही सकता। उनकी मान्यता है कि व्यञ्जना की तरह अलङ्कार मे भी एक प्रस्तुत अर्थ रहता है और दूसरा अप्रस्तुत। इस प्रस्तुत अर्थ को सामने रखे बिना कवि की उक्ति की समीचीनता की परीक्षा नही की जा सकती और न उसकी रमणीयता के स्थल ही सूचित किये जा सकते है।[3] शुक्ल जी की यह मान्यता अशत ही प्रामाणिक मानी जा सकती है। औपम्यगर्भ अलङ्कार मे एक अर्थ प्रस्तुत और दूसरा अप्रस्तुत रहता है। शुक्ल जी इस दृष्टि से दोनो का अनिवार्य भेद मानेगे कि प्रस्तुत अर्थ के उपस्कार की दृष्टि से ही अन्य अप्रस्तुत अर्थ की योजना का औचित्य माना जाता है। अभिव्यञ्जनावादी

१. सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्द-चिन्मय ।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदर ॥
लोकोत्तरचमत्कारप्राण कैश्चित् प्रमातृभि ।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रस ॥
—विश्वनाथ, साहित्य द० ३, २

२ रामचन्द्र शुक्ल, चिन्तामणि, भाग २ पृ० १९१

३. वही

क्रोचे आदि ऐसे स्थल मे भी प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत के मेल से व्यञ्जित एव अखण्ड सुन्दर अर्थ को समग्रता मे ही काव्य मानेगे। कवि की उस व्यञ्जना से अप्रस्तुत और प्रस्तुत को खण्डश कर देने पर कवि की अभिव्यञ्जना का यथार्थ स्वरूप ही मिट जायगा—खण्ड मे विभक्त होकर कोई उक्ति काव्य नही बच रहेगी। शुक्ल जी ने अलङ्कार के सम्बन्ध मे उक्त स्थापना के समय अतिशय-गर्भ, शृङ्खला-गर्भ आदि अलङ्कारो को दृष्टि मे नही रखा है जिनमे प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत, दो अर्थ नही रहते, प्रस्तुत अर्थ का ही विशेष भङ्गी मे कथन होता हे। 'बिनु पग चलइ, सुनइ बिनु काना' इस विभावना मे प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत के भेद का आग्रह अनुचित होगा। ऐसी उक्तियो मे अलङ्कार के सौन्दर्य के साथ प्रतिपाद्य अर्थ काव्य बनता है। भेद करना ही चाहे तो कह ले कि प्रतिपादन की चमत्कारपूर्ण भङ्गी से प्रतिपाद्य अर्थ सुन्दर रूप मे व्यक्त हुआ है। ऐसी स्थिति मे प्रतिपादन की विशेष भङ्गी अर्थात् अलङ्कार को प्रतिपाद्य अर्थ अर्थात् अलङ्कार्य से पृथक् कर काव्यत्व की कल्पना ही नही की जा सकती। यहाँ कुन्तक के 'तत्त्व सालङ्कारस्य काव्यता' के सिद्धान्त तथा क्रोचे के अखण्ड अभिव्यञ्जना के सिद्धान्त के औचित्य मे सन्देह नही किया जा सकता। जहाँ प्रस्तुत और अप्रस्तुत अर्थ रहते भी है वहाँ भी दोनो की समन्वित योजना से व्यक्त एक सुन्दर अर्थ का ही—अप्रस्तुत से उपस्कृत प्रस्तुत के अखण्ड सौन्दर्य का ही—भावन होता है। मुख को कमल के समान कहने पर कमल का सौन्दर्य-बोध हृदय मे उत्पन्न होकर मुख के सौन्दर्य-बोध को उपस्कृत अवश्य करता है, पर वह अपने अस्तित्व का भी विलयन मुख के सौन्दर्य-बोध में ही कर देता है। अगर प्रिया के मुख की कान्ति की अनुभूति के समय कमल की कमनीयता की पृथक् अनुभूति होती रहे तो मुख के सौन्दर्य की अनुभूति बाधित ही हो जायगी। एक समय दो अनुभूतियाँ हृदय मे कैसे रहेगी? अत सत्य यही है कि अलङ्कार प्रतिपाद्य से घुल-मिलकर एक अखण्ड काव्य-बोध मे सहायक होते है। काव्यानुभूति मे वे बहिरङ्ग साहाय्य देने वाले धर्म नही होते; फिर भी काव्यार्थ के विवेचन-विश्लेपण मे, काव्य-समीक्षा मे काव्याङ्गो का अलग-अलग विवेचन किया जाता है। कुन्तक की यही मान्यता थी, जिसका पोषण शुक्ल जी के कथन से भी होता है। समीक्षक काव्यार्थ का भावन कर ही विरत नही हो जाता। भावन तो समीक्षा का प्रथम चरण-मात्र है। समीक्षक भावित अर्थ का विश्लेषण करता है। इसी क्रम मे वह विभिन्न काव्याङ्गो का सापेक्ष मूल्य भी निर्धारित करता है। तभी वह सम्पूर्ण काव्य का

मूल्याङ्कन कर पाता है। क्रोचे के सिद्धान्त मे काव्य-समीक्षा की इस पद्धति के लिए स्थान नही। सम्भव है कि काव्य को सहजानुभूति या अखण्ड अभिव्यञ्जना मान लेने पर क्रोचे को उस अखण्ड की खण्ड-कल्पना असम्भव जान पडी हो, पर भारतीय विचारको के लिए यह कठिन समस्या नही थी। यहाँ तो केवल एक की तात्त्विक सत्ता तथा सम्पूर्ण विश्व को उसका विवर्त—उस एक की अविभाज्य अभिव्यक्ति मानकर भी उनमे व्यावहारिक भेद-निरूपण सम्भव माना गया है। दार्शनिकों की इस प्रशस्त विचार-सरणि पर चलकर साहित्यशास्त्र के आचार्यों ने भी अखण्ड काव्यानुभूति के सहायक अङ्गो की खण्डश कल्पना को व्यावहारिक दृष्टि से उपादेय माना है। इसीमे अभिव्यञ्जनावाद के प्रतिष्ठाता क्रोचे आदि से कुन्तक आदि भारतीय आचार्यो का श्रेय है।

निष्कर्ष यह कि काव्य की अनुभूति तत्त्वत समग्र और अवयव-रहित ही होती है। सभी काव्य-तत्त्व एक अखण्ड काव्य-सौन्दर्य के अन्तरङ्ग सहायक होते है। अलङ्कार भी काव्य-सौन्दर्य का अन्तरङ्ग सहायक ही है। वह काव्यानन्द की अनुभूति मे बाहर से सहायक नही होता। काव्य की समीक्षा के लिए जब वाक्यपदन्याय से उस पूर्ण काव्य-सौन्दर्य के अलग-अलग अङ्गो का विश्लेषण कर अलङ्कार का अन्य अङ्गो से सापेक्ष मूल्याङ्कन होता है, तब रस, गुण आदि की तुलना मे अलङ्कार को गौण महत्त्व दिया जाता है। कारण ये है—

(क) अलङ्कार के अभाव मे भी रस, भाव आदि की समृद्धि से सरल उक्ति काव्य हो जाती है।

(ख) रस, भाव आदि न रहे तो केवल अलङ्कार से उक्ति मे काव्यत्व नही आता।

(ग) अलङ्कार काव्य का अङ्गी नही बन सकता, अङ्ग ही होता है, क्योकि उक्ति को अलङ्कृत-मात्र करना कवि का मुख्य उद्देश्य नही होता। वह किसी विशेष उद्देश्य से ही अलङ्कार की योजना करता है।

(घ) कही-कही अलङ्कार का भार भाव-सौन्दर्य का बाधक भी बन सकता है।

काव्य-समीक्षा की सुविधा के लिए अङ्गो का विभाजन करने पर काव्य के शब्द तथा वाच्य-अर्थ मुख्य रूप मे तथा रस, भाव आदि परम्परया अलङ्कार्य माने जाते है और उन्हे अलङ्कृत करने वाले अनुप्रास, उपमा आदि अलङ्कार। भावोत्कर्ष मे सहायक अलङ्कार का काव्य मे अनुपेक्षणीय महत्त्व है।

अलङ्कार-धारणा का विकास

भारत मे काव्यशास्त्रीय चिन्तन-परम्परा का मूलभूत ग्रन्थ आचार्य भरत का 'नाट्यशास्त्र' है। यद्यपि भरत का मुख्य उद्देश्य दृश्य-काव्य के उपादानो का साङ्गोपाङ्ग निरूपण करना था, तथापि उनके व्यापक विवेचन मे काव्य-शास्त्र के प्रमुख विवेच्य तत्त्वो का भी समावेश हो गया था। ऐसा होना अस्वाभाविक नही था। दृश्य-काव्य का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। वाचिक अभिनय मे श्रव्य- काव्य के सभी अवयव समाविष्ट हो जाते है। यही कारण है कि 'नाट्य शास्त्र' के प्रतिपाद्य गुण, दोष, रस, अलङ्कार आदि काव्यशास्त्र के भी प्रतिपाद्य विषय बन गये। नाट्यशास्त्र से पृथक् काव्यशास्त्रीय विवेचना का स्वरूप भामह के 'काव्यालङ्कार' से स्पष्ट हो जाता है, जिसमे नाटक के अङ्गो को छोड, काव्य के अङ्गों का सुव्यवस्थित विवेचन किया गया है। इस रचना मे काव्य के अलङ्कार की विवेचना का प्रमुख स्थान है। यहा आकर अलङ्कार की सख्या मे भी बहुत वृद्धि हो गई। भरत के चार अलङ्कारो के स्थान पर भामह के 'काव्यालङ्कार' मे परिभाषित एव सूचित अलङ्कारो की सख्या उनचालीस हो गई। धीरे-धीरे यह सख्या बढती गई और अप्पयदीक्षित के 'कुवलयानन्द' मे शताधिक हो गई। हिन्दी-साहित्य के रीतिकालीन आचार्यों ने बहुलाशत. 'कुवलयानन्द' की पद्धति का अनुसरण किया और अलङ्कारो के कुछ नवीन भेदोपभेदो की भी उद्भावना की। प्रस्तुत अध्याय मे हम अलङ्कारो की स्फीति के हेतु एव औचित्य पर विचार करेगे।

भरत ने उपमा, रूपक, दीपक और यमक; इन चार अलङ्कारो का उल्लेख किया है और उन्हे काव्य के अलङ्कार कहा है।[१] उपमा की परिभाषा में भी

१. उपमा दीपक चैव रूपक यमक तथा।
काव्यस्यैते ह्यलङ्काराश्चत्वार: परिकीर्तिता.॥
—भरत, ना० शा० १६, ४०,

इस बात का प्रमाण मिलता है कि भरत उसे केवल नाट्य के क्षेत्र मे सीमित अलङ्कार नही मानते थे, वरन् उसे सामान्य रूप से काव्य-मात्र का (श्रव्य तथा दृश्य दोनो काव्य-भेदो का) अलङ्कार मानते थे। उनके अनुसार काव्यात्मक उक्ति मे जहाँ सादृश्य के आधार पर एक वस्तु की उपमा दूसरी वस्तु से दी जाती है वहाँ उपमा नामक अलङ्कार होता है।[1] सामान्य रूप से अलङ्कार को काव्यालङ्कार कहने पर भी आचार्य भरत ने यमक के दश भेदो को नाटकाश्रित अलङ्कार कहा है।[2] इससे स्पष्ट है कि उन्होने काव्य-बन्ध तथा नाट्यबन्ध मे स्फुट भेद नही किया है। यह सम्भावना भी की गई है कि भरत ने सर्वत्र काव्य शब्द का प्रयोग दृश्य-काव्य के ही सीमित अर्थ मे किया है। प्रस्तुत सन्दर्भ मे यह विचारणीय है कि भरत ने किन लक्ष्य-ग्रन्थो को दृष्टि मे रखकर अलङ्कारो के लक्षण का निरूपण किया होगा। क्या उनकी अलङ्कार-परिभाषाएँ उनसे पूर्ववर्ती कवियो की सभी उक्ति-भङ्गियो को अपने मे समाहित करने मे सक्षम है? यदि यह मान लिया जाय कि उनके अलङ्कार-लक्षण के लक्ष्य केवल नाट्य-ग्रन्थ थे तब तो लक्ष्य के अभाव मे उन लक्षणो की व्याप्ति के परीक्षण का कोई साधन नही होने के कारण उन्हे असदिग्ध रूप से प्रामाणिक मान लेना होगा, किन्तु यह मान लेने का कोई सबल आधार नही है कि भरत ने केवल नाटकोक्तियो के ही अलङ्कारो का लक्षण-निरूपण किया है, काव्योक्तियो के अलङ्कारो का नही। यदि काव्य-भणिति की समग्रता की दृष्टि से भरत के अलङ्कार-लक्षण के औचित्य की परीक्षा की जाय तो प्रश्न यह उठता है कि क्या भरत के पूर्व भारतीय साहित्य मे उक्त चार ही अलङ्कारो का प्रयोग हुआ है? वैदिक सहिताओ, 'महाभारत' तथा आदि कवि की 'रामायण' मे काव्यात्मक उक्तियो का इतना विशाल वैभव है, उनकी भणिति के इतने प्रकार है कि उन्हे अपनी सीमा मे समाविष्ट कर लेने के लिए चार ही अलङ्कार पर्याप्त नही माने जा सकते। यह मान लेने पर भी कि भरत ने केवल रूपक मे प्रयुक्त होने वाले अलङ्कारो का ही स्वरूप-निर्धारण किया है, उन अलङ्कारो की शक्ति के सामने प्रश्न-चिह्न लगा ही रह जाता है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, भरत-पूर्व नाटककारो की कृतियाँ उपलब्ध नही;

---

१. यत्किञ्चित्काव्यबन्धेषु सादृश्येनोपमीयते।
उपमा नाम सा ज्ञेया गुणाकृतिसमाश्रया॥

—भरत, ना० शा० १६, ४१

२. एतद्दशविधं ज्ञेयं यमक नाटकाश्रयम्।—वही, १६, ६२

किन्तु उस प्रौढ नाट्य-शास्त्र तथा उससे पूर्ववर्ती अनेक नाट्याचार्यों के नामोल्लेख से यह अनुमान किया जा सकता है कि भरत के काल तक संस्कृत नाटक-साहित्य का भाण्डार समृद्ध हो चुका था, जो दुर्भाग्य से लुप्त हो गया है। भास के अनेक नाटकों का शताब्दियों तक अप्राप्य रहना भी इस बात का एक प्रमाण है कि प्राचीन भारतीय साहित्य के बहुत से बहुमूल्य ग्रन्थ किसी कारण से विनष्ट हो गये हैं। विदेशियों का आक्रमण और भारतीय सांस्कृतिक-गरिमा के उन्मूलन का उनका प्रयास इस अपूरणीय क्षति का एक मुख्य कारण माना जा सकता है। अस्तु, इस विषयान्तरानुसन्धान का उद्देश्य इस अनुमान की पुष्टि करना है कि 'नाट्यशास्त्र' के निर्माण के समय भरत के सामने विशाल रूपक-साहित्य रहा होगा। यह अनुमान भी किया जा सकता है कि सम्प्रति अनुपलभ्य उन अज्ञात कलाकारों की कला-कृतियों की मुख्य प्रवृत्तियाँ रिक्थ के रूप में भास, कालिदास, भवभूति आदि परवर्ती नाटककारों को प्राप्त हुई होगी। अतः इन उपलब्ध रचनाओं की प्रवृत्तियों के आधार पर पूर्ववर्त्ती लुप्त रचनाओं की प्रवृत्तियों का अनुमान किया जा सकता है। कालिदास और भवभूति के नाटकों में इतनी काव्यात्मकता है तथा उक्तियों में स्वाभाविक रूप से आये हुए अलङ्कारों की इतनी प्रचुरता है कि उन्हें चार अलङ्कारों में परिभाषित कर लेना सम्भव नहीं। काव्य अपने समग्र सौन्दर्य-सभार में नाटकों में वर्त्तमान है। कहीं-कहीं तो मुक्तक-काव्य के भी सुन्दर उदाहरण नाटकों के बीच मिल जाते हैं।[१] 'उत्तर रामचरित' का वह स्थल, जिसमें राम की विरह-दशा का वर्णन हुआ है, नाटक के सन्दर्भ से विच्छिन्न हो जाने पर भी विरह के सुन्दर काव्य के रूप में अपना सौन्दर्य सुरक्षित रखेगा। अतः रामस्वामी शास्त्री शिरोमणि की यह युक्ति कि 'भरत ने रसप्रधान नाटक आदि अभिनेय काव्यों के अलङ्करण के लिए इन चार अलङ्कारों का उल्लेख किया है, श्रव्य काव्यों के लिए नहीं,'[२] भरत के अलङ्कारों की पर्याप्ति सिद्ध करने के लिए अलम् नहीं है। उनकी मान्यता है

१. द्रष्टव्य—कालिदास, अभि० शाकु०—रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्' ' तथा—यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीनाम् आदि)

२. इमे च रसप्रधानस्य नाटकादेरभिनेयकाव्यस्यालङ्करणाय भरतेन निर्दिष्टाः। एतेन च न श्रव्यकाव्येष्वप्येतेषामेव चतुर्णामलङ्कारणां भरताभिसंहित इति परिसंख्यातुं पार्यते।—के० एस० रामस्वामी शास्त्री, उद्भट काव्याल० सार सं० की भूमिका, पृ० १७-१८ (ओरियण्टल इन्स्टीच्यूट बरोदा १९३१)

कि ये चार अलङ्कार रसाविरोधी है, अतएव दृश्य-काव्य के सन्दर्भ मे भरत द्वारा उल्लिखित है।[१]

भरत की अलङ्कार-धारणा की यथेष्टता तथा औचित्य की परीक्षा के लिए उनकी लक्षण-धारणा का अध्ययन अपेक्षित है। 'नाटय-शास्त्र' मे अलङ्कारो के सख्या-सकोच का दायित्व लक्षण-धारणा के विस्तार पर है। भरतोत्तर काल मे लक्षण-धारणा का शनै -शनै लोप हो गया। कुछ लक्षण मूल अलङ्कारो से मिलकर नवीन अलङ्कारो के आविर्भाव के हेतु बने। कुछ लक्षणो के पारस्परिक मिश्रण मे भी नवीन अलङ्कार आविर्भूत हुए। अभिनवगुप्त ने अपने गुरु भट्टतौत के मत का उल्लेख करते हुए कहा है कि वे भरत के परिमित अलङ्कारो मे उनके लक्षण के योग से तथा कुछ लक्षणो के परस्पर मिल जाने से अलङ्कार-प्रपञ्च की सृष्टि मानते थे। कुछ नवीन अलङ्कारो की उत्पत्ति के दृष्टान्त भी दिये गये है। उदाहरणार्थ—उपमा अलङ्कार के साथ गुणानुवाद नामक लक्षण के मिश्रण से प्रशसोपमा अलङ्कार की उत्पत्ति हुई, उसी के साथ (उपमा के साथ) अतिशय-सज्ञक लक्षण के योग से अतिशयोक्ति अलङ्कार का आविर्भाव हुआ, मनोरथ लक्षण तथा उपमा के मिलन मे अप्रस्तुतप्रशसा का जन्म हुआ, मिथ्याध्यवसाय लक्षण और उपमा ने मिलकर अपह्नुति को उत्पन्न किया तथा सिद्धि लक्षण एव उपमा के सयोग से तुल्ययोगिता आविर्भूत हुई। लक्षणो के अन्योन्य योग से अलङ्कार की उत्पत्ति का उदाहरण आक्षेप अलङ्कार है, जिसका उत्पादन प्रतिषेध तथा मनोरथ लक्षणो के योग से हुआ है। उन्होने निष्कर्ष-रूप मे यह माना है कि सभी अलङ्कार उपमा के ही प्रपञ्च है।[२] यह निष्कर्ष निर्भ्रान्त नही है। ऐसे अनेक अलङ्कार है जिनका मूल उपमा मे ढूँढना सम्भव नही। उदाहरणत—स्वभावोक्ति, भाविक, उदात्त, प्रेय, यथासख्य आदि अलङ्कारो को उपमा-मूलक मानने का कोई आधार नही। हाँ, यह ठीक

---

१ 'अत एव रसाविरोधिना कतिपयानामेवालङ्काराणा भरतशास्त्र-निर्देश।'—वही पृ० १८।

२. 'उपाध्यायमत तु—लक्षणबलादलङ्काराणा वैचित्र्यमागच्छति तथा हि गुणानुवादनाम्ना लक्षणेन योगात् प्रशसोपमा, अतिशयनाम्नातिशयोक्ति, मनोरथाख्येनाप्रस्तुतप्रशसा, मिथ्याध्यवसायेनापह्नुति सिद्धया तुल्ययोगितेति, एवमन्यदुत्प्रेक्ष्यम्। लक्षणाना च परस्परवैचित्र्यादप्यनन्तो विचित्रभाव, यथा प्रतिषेधमनोरथयो सम्मेलनादाक्षेप इति। उपमा-प्रपञ्चश्च सर्वोऽलकार इति विद्वद्भिः प्रतिपन्नमेव। —अभिनव-ना-शा० अ० भा० पृ० ३२१

है कि अधिकांश अलङ्कार उपमा से उत्पन्न है। केवल सादृश्य-मूलक अलङ्कारों के सम्बन्ध में यह बात कुछ हद तक ठीक हो सकती है। अत उक्त मान्यता कुछ परिष्कार के साथ ही स्वीकार की जा सकती है। भरत के चार अलङ्कारों तथा उनके छत्तीस लक्षणों को कितने अलङ्कारों के सृजन का श्रेय प्राप्त है इसका अध्ययन अलङ्कार-धारणा के विकास-क्रम को समझने के लिए न केवल वाञ्छनीय है; अपितु आवश्यक भी है।

भरत के अलङ्कारो की सख्या-परिमिति मे ही कई अलङ्कारों के विकास की सम्भावना बीज-रूप मे निहित थी। उदाहरण के लिए-कल्पितोपमा मे, जहाँ उपमान असिद्ध या कल्पित रहते है, उत्प्रेक्षा के आविर्भाव की सम्भावना निहित थी। यमक के दश भेदो मे अनुप्रास के विकास के लिए भी अवकाश था। अत अलङ्कार की सख्या-विस्तृति को दृष्टि मे रखते हुए, अलङ्कार-धारणा मे भरत के महत्त्व का अध्ययन तीन दृष्टियो से अपेक्षित होगा--(१) किन नवीन अलङ्कारो की उत्पत्ति की सम्भावना भरत के मूल चार अलङ्कारों मे निहित थी, (२) उनके अलङ्कारो मे लक्षण के योग से किन-किन अलङ्कारों का जन्म हुआ तथा (३) लक्षणों ने पारस्परिक योग से किन-किन अलङ्कारों का सृजन किया। इस अध्ययन से अलङ्कार-धारणा मे परवर्ती आचार्यों के मौलिक योगदान का भी निर्धारण सम्भव होगा।

भरत के चार अलङ्कारो मे से उपमा, रूपक और दीपक, इन तीन का सम्बन्ध अर्थ से है तथा यमक का शब्द से। यद्यपि भरत ने अलङ्कारों का शब्दगत एवं अर्थगत भेद करने का प्रयास नही किया है तथापि यमक की परिभाषा से उसका शब्दगत होना स्पष्ट है। यमक को शब्दो का अभ्यास या आवृत्ति कहा गया है।[1] इसी आधार पर अभिनवगुप्त ने यह माना है कि भरत ने यमक को शब्दालङ्कार तथा उपमा आदि को अर्थालङ्कार स्वीकार किया था।[2] शब्दावृत्ति के स्वरूप-भेद के आधार पर यमक के निम्नलिखित दश प्रकार माने गये है—(१) पादान्त-यमक, (२) काञ्ची-यमक, (३) समुद्ग-यमक, (४) विक्रान्त-यमक, (५) चक्रवाल-यमक, (६) सन्दष्ट-यमक, (७) पादादि-यमक, (८) आम्रेडित-यमक, (९) चतुर्व्यवसित-यमक तथा

१. शब्दाभ्यासस्तु (शब्दाभ्यास तु) यमक ''।—भरत, ना०शा० १६,५९

२. चिरन्तनैर्हि भरतमुनिप्रभृतिभिर्यमकोपमे शब्दार्थालङ्कारत्वेनेष्टे।

—अभिनव, लोचन पृ० ५

(१०) माला-यमक। काव्यशास्त्रीय चिन्तन के विकास-काल मे अनुप्रास, यमक, श्लेप (शब्द-श्लेष), वक्रोक्ति एव चित्र (शब्द-चित्र) अलङ्कारो का उल्लेख शब्दालङ्कार के प्रसङ्ग मे हुआ है। भामह ने अनुप्रास (दा भेद) एव यमक शब्दालङ्कार स्वीकार किये है। दण्डी ने केवल यमक को स्वीकृति दी है। अनुप्राम का विवेचन उन्होने शब्दमाधुर्य गुण के अङ्ग के रूप मे किया है। उद्भट ने प्राचीनो के द्वारा स्वीकृत यमक अलङ्कार को अस्वीकार कर दिया तथा अनुप्राम के तीन भेदो की कल्पना की। इसके अतिरिक्त उन्होने लाटानुप्र।स के पाँच रूप भी स्वीकार किये है। वामन ने यमक और अनुप्रास का लक्षण-निरूपण किया है। रुद्रट के 'काव्यालङ्कार' मे शब्दालङ्कारो का विस्तृत विवेचन है। उन्होने वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेप और चित्र के अनेक भेदोपभेदो का वर्णन किया है। राजानक रुय्यक ने अनुप्राम, यमक एव चित्र शब्दालङ्कारो को परिभापित किया है। मम्मट, विश्वनाथ, विद्यानाथ, हेमचन्द्र आदि आचार्यो ने भी शब्दालङ्कार के इन स्वरूपो का यत्किञ्चित् भेद से उल्लेख किया है। रीतिकालीन आचार्यो ने भी इन अलङ्कारो को स्वीकार किया है। मतिराम के 'रसराज' मे शब्दालङ्कारो का विवेचन नही है, किन्तु इससे यह सिद्ध नही होता कि वे शब्दालङ्कार को हेय या उपेक्षणीय मानते थे। उनके काव्य मे अनुप्रास, यमक आदि अलङ्कारो की छटा दर्शनीय है। आचार्य देव ने अनुप्रास, यमक और चित्रालङ्कारो का उल्लेख किया है। भिखारीदास ने 'काव्य-निर्णय' मे अनुप्रास, यमक तथा वक्रोक्ति अलङ्कारो के स्वरूप की मीमासा कर चित्र-काव्य के अनेक भेदो का, बन्धो के विविध रूपो का वर्णन किया है।

काव्य-शास्त्र मे वर्णित उक्त सभी शब्दालङ्कारो का सम्बन्ध वर्णो के ग्रथन की विलक्षणता एव उनकी आवृत्ति की विभिन्न प्रक्रियाओ से है। यमक और अनुप्रास मे कोई तात्त्विक भेद नही। यमक मे सम्पूर्ण पद की या वर्ण-समूह की उसी रूप मे अर्थभेद से आवृत्ति होती है, किन्तु अनुप्रास मे कुछ वर्णो की आवृत्ति होती है। भरत ने पदावृत्ति-रूप यमक तथा वर्णावृत्ति-रूप अनुप्रास का पृथक्-पृथक् उल्लेख नही कर एक ही साथ शब्दाभ्यास का उल्लेख किया है और उसे यमक की सज्ञा दी है। स्पष्ट है कि परवर्ती आचार्यो की अनुप्रास-धारणा का मूल भरत की यमक-धारणा मे ही निहित था। चित्रा-लङ्कार-गत तत्तद्बन्धो की कल्पना वर्णगुम्फ तथा वर्णावृत्ति की भिन्न-भिन्न प्रक्रियाओ के आधार पर की गयी है। आचार्य देव ने स्पष्टत अनुप्रास और

यमक को सभी चित्रालङ्कारो का मूल कहा है।[1] इस विवेचन के निष्कर्ष-रूप मे यह कहा जा सकता है कि भरत की यमक-धारणा के आधार पर ही परवर्ती आचार्यो ने अनुप्रास तथा चित्र-बन्धो के विस्तृत प्रपञ्च की कल्पना की है। श्लेष और वक्रोक्ति शब्दालङ्कारो की उद्भावना का श्रेय अवश्य ही परवर्ती आचार्यो को है। शब्द-श्लेप की उद्भावना का श्रेय उद्भट को मिलना चाहिए। यद्यपि उनके पूर्ववर्ती भामह तथा दण्डी ने भी श्लेप का उल्लेख किया था, किन्तु वे श्लेष-धारणा को स्पष्ट नहीं कर पाये थे। सर्वप्रथम उद्भट ने श्लेष-अलङ्कार की धारणा परिष्कृत रूप मे प्रस्तुत की, तथा श्लेप को शब्दा-लङ्कार तथा अर्थालङ्कार वर्गों मे स्फुट-रूप से विभाजित किया। रुद्रट ने प्रथम बार वक्रोक्ति शब्दालङ्कार की कल्पना की और उसके श्लेष-वक्रोक्ति तथा काकु-वक्रोक्ति , ये दो मुख्य रूप स्वीकार किये। श्लेष-वक्रोक्ति का मूलाधार श्लेष शब्दालङ्कार है तथा काकु-वक्रोक्ति का काकु अर्थात् कण्ठ-ध्वनि-भेद।

भरत के बाद भामह की रचना 'काव्यालङ्कार' में अर्थालङ्कार की सख्या दशगुनी से भी अधिक हो गयी। 'काव्यालङ्कार' मे उल्लिखित अर्थालङ्कार है—रूपक (दो प्रकार), दीपक, उपमा, प्रतिवस्तूपमा (उपमा-भेद) आक्षेप (दो प्रकार), अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, यथासख्य, उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति, प्रेय, रसवत्, ऊर्जस्वी, पर्यायोक्त, समाहित, उदात्त (दो प्रकार), श्लिष्ट, अपह्नुति, विशेषोक्ति, विरोध, तुल्य-योगिता, अप्रस्तुत-प्रशसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, उपमा-रूपक, उपमेयोपमा, सहोक्ति, परिवृत्ति, ससदेह, अनन्वय, उत्प्रेक्षावयव, ससृष्टि, भाविक तथा कुछ लोगो के अनुसार आशी। ऊर्जस्वी, प्रेय तथा समाहित का केवल नाम्ना उल्लेख हुआ है। उनके लक्षण नही दिये गये है। उनके दिये हुए उदाहरण के आधार पर उनके स्वरूप का निर्धारण किया जा सकता है। श्लिष्ट अलङ्कार के तीन भेद स्वीकार किये गये है, किन्तु परिभाषा परिष्कृत नही है। इन अलङ्कारो को स्वीकार करते हुए भामह ने हेतु, सूक्ष्म तथा लेश के अलङ्कारत्व का खण्डन किया है। इनमे वक्रोक्ति नही रहती, जो अलङ्कार का मूलाधार है।[2]

---

१. अनुप्रास अरु यमक ये, चित्र काव्य के मूल।
इनहीं के अनुसार सो, सकल चित्र अनुकूल॥
—देव, शब्द-रसायन, अष्टम प्रकाश, पृ० १३८

२. सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्या कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना॥
—भामह, काव्यालं० २, ८५

इनकी अलङ्कारता के खण्डन के इन प्रयास से यह अनुमान किया जा सकता है कि भामह के पूर्व कुछ आचार्य उन्हे अलङ्कार के रूप मे स्वीकार कर चुके थे। भामह ने अपने पूर्ववर्ती आचार्य के मन्तव्य का कही-कही निर्देश किया है। आशी को कुछ लोगो ने अलङ्कार माना हे।[१] इससे यह स्पष्ट है कि भरत और भामह के बीच कई आलङ्कारिक अलङ्कार पर विचार कर चुके थे, जिनकी कृतियाँ अब उपलब्ध नही। 'काव्यालङ्कार' मे अलङ्कार-धारणा के विकास की कई कोटियो का सङ्केत मिलता है। भामह ने काव्यालङ्कारो का उल्लेख चार वर्गो मे किया है। प्रथम वर्ग मे अनुप्रास, यमक, रूपक, दीपक तथा उपमा अलङ्कारो की गणना हुई है।[२] इनमे से प्रथम दो शब्दालङ्कार हैं और शेष तीन अर्थालङ्कार। इनमे भरत के मूल चार अलङ्कार परिगणित है। एक अनुप्रास नवीन है, जिसे यमक का ही रूपान्तर माना जा सकता है। द्वितीय वर्ग मे छह अलङ्कार उल्लिखित है—आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति तथा अतिशयोक्ति।[३] यथासख्य और उत्प्रेक्षा अलङ्कारो की गणना एक साथ की गई है।[४] वर्गानुक्रम मे इनका स्थान तृतीय है। चतुर्थ वर्ग मे स्वभावोक्ति तथा आशी. को छोड शेष चोबीस अलङ्कारो का उल्लेख है। स्वभावोक्ति एव आशी अलग-अलग उल्लिखित है और इनके सम्बन्ध मे यह कहा गया हे कि ये कुछ लोगो के मतानुसार अलङ्कार है।[५] स्पष्ट है कि सभी आलङ्कारिक इनका अलङ्कारत्व स्वीकार नही करते थे। भामह ने इनकी अलङ्कारता का खण्डन नही किया है, किन्तु उनके विवेचन मे इनकी अलङ्कारता के सम्बन्ध मे मतवैभिन्न्य की सम्भावना निहित थी। पीछे चलकर कुन्तक ने स्वभावोक्ति के अलङ्कारत्व का खण्डन कर उसका अलङ्कार्यत्व सिद्ध करने का प्रयास किया है तथा आशी का अलङ्कारत्व अस्वीकार कर दिया है। मम्मट आदि आचार्यो ने भी आशी को अलङ्कार के रूप मे स्वीकृति नही दी है।

यह मानने का कोई आधार नही है कि 'काव्यालङ्कार' मे चार वर्गो में परिगणित अलङ्कार भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय की मान्यता के अनुरूप है। प्रथम वर्ग

---

१. आशीरपि च केषाञ्चिदलङ्कारतया मता।—भामह, काव्याल० ३,५५
२. अनुप्रास सयमको रूपक दीपकोपमे।
इति वाचामलङ्कारा पञ्चैवाऽन्यैरुदाहृता.॥—वही २, ४
३. आक्षेपोऽर्थान्तरन्यासो व्यतिरेको विभावना।
समासातिशयोक्ती च षडलङ्कृतयोऽपरा॥—वही २, ६६
४. यथासख्यमथोत्प्रेक्षामलङ्कारद्वय विदु.।—वही २, ८८
५. वही, २, ९३ तथा ३, ५५।

के सभी अलङ्कारो को स्वीकार कर लेने के उपरान्त ही आचार्यो ने द्वितीय वर्ग के नवीन अलङ्कारों की कल्पना की होगी। तृतीय वर्ग के अलङ्कारो की कल्पना मे प्रथम दो वर्गों के अलङ्कारो की स्वीकृति का सङ्केत है तथा चतुर्थ वर्ग के अलङ्कारो की उद्भावना करनेवाले आचार्यो के द्वारा पूर्ववर्ती अलङ्कारो को स्वीकार किया जाना स्पष्ट है। उदाहरणार्थ—उपमा, रूपक, दीपक आदि अलङ्कारो की सत्ता सभी आचार्यो ने स्वीकार की है, किन्तु प्रथम वर्ग मे उनका उल्लेख हो जाने के कारण अगले किसी भी वर्ग मे उनका उल्लेख नही हुआ है। प्रथम वर्ग को स्वीकार कर लेने के कारण ही उसमे उल्लिखित अलङ्कारो का पुनरुल्लेख उत्तरवर्ती आचार्यो ने आवश्यक नही माना। हेतु, सूक्ष्म, लेश आदि अलङ्कारो का खण्डन भी इस बात का प्रमाण है कि पूर्व-प्रतिपादित अलङ्कारो मे से जिन्हे स्वीकार नही करना था उनका आचार्यो ने खण्डन किया। जिनका खण्डन नही किया गया वे स्वीकृत मान लिये गये। अलङ्कारो के उक्त वर्ग भरत से लेकर भामह के काल तक के दीर्घ अन्तराल मे होनेवाले अलङ्कार-धारणा के विकास-क्रम के सूचक माने जा सकते है। भामह के प्रत्येक अर्थालङ्कार के मूल का अन्वेषण प्रस्तुत प्रसङ्ग मे वाञ्छनीय है।

प्रथम वर्ग के तीन अर्थालङ्कार—उपमा, रूपक तथा दीपक भरत के 'नाट्यशास्त्र' मे विवेचित मूल अलङ्कार है। उपमा का स्वरूप भरत की उपमा के स्वरूप से अभिन्न है।[1] भरत की उपमा के निन्दोपमा, प्रशंसोपमा आदि भेदों का भी भामह ने उल्लेख किया है।[2] भामह की प्रतिवस्तूपमा-धारणा, की भी सम्भावना भरत की उपमा-धारणा मे निहित थी। इसीलिए उन्होंने प्रतिवस्तूपमा को उपमा का ही एक भेद माना है। भामह ने उपमा के 'यथा' 'इव' तथा 'वत्' (क्रिया-साम्यवाचक) आदि वाचक शब्दो का भी उल्लेख किया है। 'यथा' तथा 'इव' के अभाव मे समासाभिहित उपमा होती है।[3] समास होने पर वाचक शब्दो का लोप हो जाता है। ऐसे स्थल मे होने वाली उपमा समासाभिहित कही गई है। इस प्रकार भामह ने प्रकारान्तर से उपमा के पूर्णा तथा लुप्ता भेदो का उल्लेख किया है। उपमा का मालोपमा भेद भी निर्दिष्ट है; किन्तु भेदोपभेद को अनावश्यक विस्तार मानकर भामह ने उस

---

१. तुलनीय--भरत ना० शा० १६, ४१ तथा भामह, काव्यालं० २, ३०

२. "निन्दाप्रशंसाचिख्यासाभेदादत्राभिधीयते।

—भामह, काव्याल० २, ३७

३. विना यथेवशब्दाभ्या समासाभिहिता परा।—वही २, ३२

सन्दर्भ को समाप्त कर दिया है।[१] निष्कर्षत भामह की उपमा-धारणा भरत की उपमा-धारणा से मिलती-जुलती ही है।

रूपक

'काव्यालङ्कार' की रूपक-धारणा 'नाट्यशास्त्र' की रूपक-धारणा से अभिन्न है। भरत की तरह भामह भी गुण-सादृश्य के आधार पर उपमेय पर उपमान के आरोप मे रूपक अलङ्कार मानते है। भरत ने रूपक के दो भेद स्वीकार किये है—(१) तुल्यावयवलक्षण रूपक तथा (२) किञ्चित्सादृश्य-सम्पन्न रूपक। भामह ने इन्हे क्रमशः समस्तवस्तुविषय रूपक तथा एकदेश-विवर्त्तिरूपक कहा है।[२]

दीपक

भामह के दीपक अलङ्कार का स्वरूप भरत के दीपक के ही समान है। अवस्था-भेद से इसके आदि, मध्य तथा अन्त, ये तीन भेद भामह ने स्वीकार किये है।[३] अर्थ के दीपन या प्रकाशन करने के कारण यह अलङ्कार दीपक सज्ञा से अभिहित किया जाता है। यह इसकी अन्वर्था सज्ञा है।

आक्षेप

भामह का आक्षेप अलङ्कार भरत के प्रतिषेध तथा मनोरथ लक्षणो के योग से आविर्भूत है। भरत के अनुसार विपरीत कार्य मे किसी के प्रवृत्त होने पर कार्य-विज्ञ के द्वारा उसका निवारण प्रतिषेध लक्षण है।[४] जहाँ अन्य वस्तु का वर्णन करते हुए कवि श्लिष्ट रूप मे अपने हृदय के भाव को प्रकट करता है वहाँ भरत मनोरथ लक्षण मानते है।[५] आक्षेप अलङ्कार मे, भामह

१. मालोपमादि सर्वोऽपि न ज्यायान् विस्तरो मुधा ॥ भामह २, ३८

२. तुलनीय—भरत, ना० शा० १६, ५६-५७ तथा भामह, काव्यालं० २, २१-२२

३. तुलनीय—भरत, ना० शा० १६, ५३ तथा भामह, काव्याल० २, २५-२६

४. "कार्येषु विपरीतेषु यदि किञ्चित्प्रवर्तते।
निवार्यते च कार्यज्ञै. प्रतिषेध प्रकीर्तित ॥भरत, ना०, शा० १६,२३

५. हृदयस्थस्य भावस्य सुश्लिष्टार्थप्रदर्शनम्।
अन्यापदेशकथनैर्मनोरथ इति स्मृत ॥ वही, १६, २०

के अनुसार कवि अपने अभीप्ट कथन का निपेध-मा करता है। कवि जब अभिप्रेत कथन का आपातत निपेध-सा करता हुआ प्रस्तुत करता है तो कथन की उस भङ्गी मे वैशिष्ट्य आ जाता है।[१] यही आक्षेप अलङ्कार कहा जाता है। इस अलङ्कार मे इप्ट अर्थ के कथन की धारणा मनोरथ लक्षण से तथा निपेध की धारणा प्रतिपेध लक्षण से ली गई है। इस प्रकार उक्त दो लक्षणो से तत्त्व ग्रहण कर आक्षेप अलङ्कार की रूप-रचना हुई है।

अर्थान्तरन्यास

भामह के अर्थान्तरन्यास अलङ्कार का मूल भी भरत के लक्षणो मे ही है। शोभा तथा उदाहरण लक्षणो के मिश्रण से प्रस्तुत अलङ्कार का आविर्भाव हुआ है। अर्थान्तरन्यास मे कथित अर्थ के समर्थन के लिए, उसके अनुगत अन्य अर्थ का उपन्यास होता है।[२] शोभा लक्षण मे सिद्ध अर्थ के द्वारा असिद्ध अर्थ की सिद्धि होती है।[३] एक अर्थ से दूसरे अर्थ का साधन इसमे भी होता है, शर्त्त केवल यह है कि सिद्ध के द्वारा असिद्ध का ही साधन शोभा लक्षण कहा जाता है। अर्थान्तरन्यास मे सिद्ध-असिद्ध का कोई नियम नही। उदाहरण लक्षण की दूसरी परिभाषा मे यह कहा गया है कि जहाँ समान अर्थ से युक्त वाक्य के प्रदर्शन के द्वारा प्रस्तुत अर्थ का साधन होता है वहाँ उदाहरण लक्षण माना जाता है।[४] स्पष्ट है कि शोभा तथा उदाहरण का स्वरूप भामह के अर्थान्तरन्यास से मिलता-जुलता है। भरत के इन लक्षणो के आधार पर ही परवर्ती आचार्य ने अर्थान्तरन्यास अलङ्कार के स्वरूप की कल्पना की होगी।

---

१. प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया।
आक्षेप इति त सन्त शसन्ति द्विविध यथा॥

—भामह, काव्यल०, २,६८

२ उपन्यसनमन्यस्य यदर्थस्योदितादृते।
ज्ञेय सोऽर्थान्तरन्यास. पूर्वार्थानुगतो यथा॥ वही, २,७१

३. सिद्धैरर्थैः सम कृत्वा ह्यसिद्धोऽर्थ प्रसाध्यते।

—भरत, ना० शा० १६, ७

४. यत्र तुल्यार्थयुक्तेन वाक्येनाभिप्रदर्शनात्।
साध्यन्ते निपुणैरर्थास्तदुदाहरण स्मृतम्॥

—ना० शा० अ० भा० पृ० ३०४

व्यतिरेक

भामह के अनुसार व्यतिरेक अलङ्कार मे उपमेय का वैशिष्ट्य-प्रतिपादन होता है ।[१] प्रस्तुत अलङ्कार-धारणा का उद्गम-स्रोत भरत के उपमा अलङ्कार के साथ अतिशय तथा निर्भासिन (निर्भासिन का पाठान्तर माला) लक्षणो की धारणा को माना जा सकता है । अतिशय मे उक्त अर्थ से वैशिष्ट्य का बोध होता है ।[२] अभिनवगुप्त ने निर्भासन लक्षण के पाठान्तर का निर्देश करते हुए कहा है कि उसमे अभीप्सित अर्थ की प्रसिद्धि के लिए अनेक प्रयोजन का वर्णन होता है ।[3] व्यतिरेक अलङ्कार मे अभीष्ट अर्थ अर्थात् उपमेय की प्रसिद्धि काम्य होती है तथा इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए उपमेय का 'विशेषनिदर्शन' होना है । स्पष्ट है कि भामह को 'विशेष-निदर्शन' की धारणा अतिशय लक्षण से तथा उपमेय (के आधिक्य) की धारणा भरत की 'ईप्सितार्थप्रसिद्ध्यर्थ' धारणा से प्राप्त हुई और उन दोनो के योग से व्यतिरेक नामक नवीन अलङ्कार का सृजन हुआ ।

विभावना

विभावना भरत के उत्तरवर्ती आचार्य की नवीन उद्भावना है । भामह के विभावना-लक्षण के अनुसार जहाँ क्रिया का निषेध होने पर भी उसके फल का वर्णन होता है वहाँ विभावना अलङ्कार माना जाता है ।[४] शास्त्रीय दृष्टि से क्रिया और फल मे कारण-कार्य सम्बन्ध है । क्रिया के अभाव मे उसके फल की सम्भावना नही हो सकती, किन्तु काव्य-जगत का सत्य इससे भिन्न है । वहाँ क्रिया का प्रतिषेध कर उसके फल के वर्णन मे विशेष चमत्कार

---

१. उपमानवतोऽर्थस्य यद्विशेषनिदर्शनम् ।
व्यतिरेक तमिच्छन्ति विशेषापादनाद्यथा ।।
—भामह, काव्याल० २, ७५

२. उत्तमार्थाद्विशिष्टो य स चाप्यतिशयः स्मृत ।।
—भरत, ना० शा० १६, १३

३. ईप्सितार्थप्रसिद्ध्यर्थं कीर्त्यन्ते यत्र सूरिभि ।
प्रयोजनान्यनेकानि सा मालेत्यभिसञ्ज्ञिता ।।
—ना० शा० अ० भा० पृ० ३१३

४. क्रियाया प्रतिषेधे या तत्फलस्य विभावना ।
ज्ञेया विभावनैवासौ समाधौ सुलभे सति ।।
—भामह, काव्याल० २, ७७

आ जाता है। अतः इस प्रकार की भङ्गी-भणिति आलङ्कारिक मानी जाती है। भरत ने न तो अपने किसी अलङ्कार-लक्षण में इस प्रकार की उक्ति-भङ्गी का सङ्केत किया है और न किसी लक्षण की परिभाषा में ही। यह नहीं कहा जा सकता कि भरत के पूर्व ऐसी उक्तियों का प्रयोग ही नहीं हुआ था। ऋग्वेद-संहिता के पुरुष आदि सूक्तों में विभावना अलङ्कार का प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ—

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षो सूर्यो अजायत।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत ॥

यह पुरुष सूक्त का मन्त्र 'अकारण में कार्य के जन्म' रूप विभावना का एक उदाहरण है।

समासोक्ति

समासोक्ति अलङ्कार की कल्पना लक्षण के आधार पर ही की गई है। भामह के अनुसार समासोक्ति में एक कल्पित अर्थ से उसके समान विशेषण वाले अन्य अर्थ की व्यञ्जना होती है। कथित तथा अकथित अर्थों में विशेषण-साम्य के कारण ऐसा होता है।[1] कार्य-लक्षण के एक पाठ में, अभिनवगुप्त के अनुसार, अर्थान्तर के कथन से अन्य अर्थ की प्रतीति पर बल दिया गया है। इसे अर्थापत्ति-संज्ञा से अभिहित किया गया है।[2] समासोक्ति अलङ्कार तथा इस लक्षण के स्वरूप में विशेष अन्तर नहीं। अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि उपमा अलङ्कार तथा इस लक्षण के आधार पर ही समासोक्ति अलङ्कार की कल्पना की गई होगी।

अतिशयोक्ति

अभिनवगुप्त ने 'अभिनव-भारती' में अपने आचार्य के मत की ओर निर्देश करते हुए यह कहा है कि भरत के अलङ्कार में अतिशय-नामक

---

१ यत्रोक्ते गम्यतेऽन्योर्थस्तत्समानविशेषण।
सा समासोक्तिरुद्दिष्टा संक्षिप्तार्थतया यथा ॥ —भामह, काव्यालं० २, ७९

२ अन्ये त्वधीयते—अर्थान्तरस्य कथने यत्रान्योऽर्थः प्रतीयते।
वाक्यमाधुर्यसम्पन्ना सार्थापत्तिरिति स्मृता ॥—ना० शा० अ० भा० पृ० ३१९

लक्षण के योग मे अतिशयोक्ति नामक नवीन अलङ्कार की सृष्टि हुई है।[१] भामह ने अतिशयोक्ति मे लोक का अतिक्रमण करनेवाले कथन पर बल दिया है। भरत ने भी अतिशय मे इससे मिलती-जुलती धारणा व्यक्त की थी।[२] अतिशय मे उक्त अर्थ से विशेष के बोध पर बल दिया गया था। स्पष्ट है कि भरत की अतिशय-लक्षण-धारणा तथा उनकी रूपक-अलङ्कार-धारणा को मिलाकर अतिशयोक्ति अलङ्कार की सर्जना हुई।

यथासंख्य

यथासख्य अलङ्कार मे कथन की जिस विशेष भङ्गी पर बल दिया गया है उसे भरत ने अपने 'नाट्यशास्त्र' मे कही परिभाषित नही किया है। इस अलङ्कार मे पहले जिस क्रम मे अर्थो का उपस्थापन होता है, उसी क्रम मे उनका अनुकथन होता है।[3] वर्णित अर्थो का यथाक्रम अनुनिर्देश वस्तुत उक्ति की सुन्दर भङ्गी है, जो भरत के द्वारा अनिर्दिष्ट रह गई थी। अत यथासख्य अलङ्कार की उद्भावना का श्रेय भामह को प्राप्त है।

उत्प्रेक्षा

भामह के अनुसार जहाँ सादृश्य अविवक्षित हो, पर उपमा का थोड़ा पुट हो, वर्ण्य मे वस्तुत न रहनेवाले गुण या क्रिया का योग बताया जाय और जिसमे अतिशय का योग हो उसे उत्प्रेक्षा-अलङ्कार कहते है।[४] भरत ने उत्प्रेक्षा अलङ्कार का उल्लेख नही किया है, किन्तु वे उस उक्ति-भङ्गी से अनभिज्ञ नही थे, जिसमे परवर्ती आचार्यो ने उत्प्रेक्षा अलङ्कार स्वीकार किया है। भरत की व्यापक उपमा-धारणा से पृथक् उत्प्रेक्षा अलङ्कार की कल्पना आवश्यक नही थी। उनकी उपमा के कल्पिता भेद मे ही परवर्ती आचार्यो की उत्प्रेक्षा अन्तर्भुक्त थी। उत्प्रेक्षा मे उपमान कल्पित होता है। भरत ने यही धारणा कल्पितोपमा के सम्बन्ध मे व्यक्त की है। अत उत्प्रेक्षा

---

१. लक्षणबलादलङ्काराणा वैचित्र्यमागच्छति तथा हि— अतिशयनाम्नातिशयोक्ति· · ।—ना० शा० अ० भा०, पृ० ३२१

२. तुलनीय—भामह, काव्याल० २, ८१ तथा भरत, ना० शा० १६, १३

३. भूयसामुपदिष्टानामर्थानामसधर्मणाम् ।
क्रमशो योऽनुनिर्देशो यथासख्य तदुच्यते ॥
—भामह, काव्यालं० २, ८९

४. भामह, काव्यालङ्कार, २, ९१

के आविर्भाव का श्रेय कल्पितोपमा की कल्पना करने वाले भरत को ही मिलना चाहिए।

स्वभावोक्ति

भामह ने स्वभावोक्ति का उल्लेख करते हुए कहा है कि कुछ लोग इसे अलङ्कार मानते है। उन्होंने स्वय इसके अलङ्कारत्व का न खण्डन किया ह न मण्डन। वक्रोक्तिवादी होने के कारण उन्होंने काव्य मे स्वभावोक्ति अलङ्कार को विशेष महत्त्व नही दिया है। स्वभावोक्ति की परिभाषा मे उन्होंने कहा है कि इसमें किसी अर्थ का अवस्थानुरूप वर्णन होता है।[१] वस्तु-स्वभाव के यथारूप वर्णन के कारण ही इसे स्वभावोक्ति कहा जाता है। स्वभावोक्ति का अलङ्कार के रूप मे निर्देश सर्वप्रथम भामह की पुस्तक मे ही हुआ है। भरत ने इस स्वभावोक्ति अलङ्कार से मिलती-जुलती धारणा अर्थव्यक्ति गुण की परिभाषा मे व्यक्त की है। उन्होंने उक्त गुण मे लोक-प्रसिद्ध अर्थ के स्फुट वर्णन पर बल दिया है।[२] सम्भव है कि भरत की इस गुण-धारणा ने ही पीछे चलकर स्वभावोक्ति अलङ्कार की धारणा को जन्म दिया हो।

प्रेय

काव्यालङ्कार मे प्रेय अलङ्कार की परिभाषा नही दी गई है। भामह के द्वारा दिये गए प्रेय के उदाहरण के अधार पर उनकी एतद्विषयक मान्यता का निर्धारण किया जा सकता है। इसके उदाहरण मे कृष्ण के प्रति विदुर का कथन वर्णित है। अपने घर आये हुए कृष्ण से विदुर ने कहा कि हे गोविन्द ! आज आपके आने से मुझे जैसा आनन्द हुआ है ऐसा आनन्द फिर कभी आप के आने से ही हो सकेगा।[३] स्पष्ट है कि किसी के प्रति प्रिय-कथन

---

१. स्वभावोक्तिरलङ्कार इति केचित् प्रचक्षते।
अर्थस्य तदवस्थत्व स्वभावोऽभिहितो यथा ॥
—भामह, काव्याल० २, ९३

२. सुप्रसिद्धाभिधाना तु लोककर्मव्यवस्थिता।
या क्रिया क्रियते काव्ये सार्थव्यक्ति. प्रकीर्त्यते ॥
—भरत, ना० शा०, १६, १०८

३. प्रेयो गृहागत कृष्णमवादीद्विदुरो यथा।
अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते।
कालेनैषा भवेत् प्रीतिस्तवैवागमनात् पुन ॥
—भामह, काव्याल० ३, ५

मे प्रेय अलङ्कार स्वीकार किया गया है। अभिनवगुप्त ने भरत के प्रोत्साहन लक्षण की व्याख्या के क्रम मे यह निर्देश किया है कि इसका पाठान्तर प्रियवचन सज्ञा से उपलब्ध है। प्रियवचन का जो लक्षण 'अभिनव-भारती' मे उद्धृत है उससे प्रेय अलङ्कार तथा प्रियवचन लक्षण का स्वरूप अभिन्न सिद्ध होता है। पूज्य व्यक्तियो की पूजा के लिए हर्ष प्रकाशनार्थ जहाँ प्रसन्न चित्त से वचन प्रयुक्त होते है, वहाँ प्रियोक्ति नामक लक्षण माना गया है।[1] इससे स्पष्ट है कि प्रेय अलङ्कार की धारणा प्रियोक्ति लक्षण-धारणा से भिन्न नही है।

रसवत्

रसवत् अलङ्कार की कल्पना सर्वप्रथम भामह ने की है। इसका आधार भरत की रस-धारणा है। भरत रसवादी आचार्य थे। उन्होने नाट्य-प्रयोग मे रस को प्रधान माना है। रस के अभाव मे नाट्य का कोई भी प्रयोग व्यर्थ है।[2] अत वाचिक अभिनय के अङ्ग गुण, अलङ्कार आदि भरत की दृष्टि मे रस के सहायक मात्र है। दूसरी ओर भामह अलङ्कारवादी थे। इसीलिए उन्होने रस को भी अलङ्कार की सीमा मे ही समाहित कर लिया, रस को अलङ्कार का एक अङ्ग-मात्र बना दिया।

ऊर्जस्वी

भामह ने इस अलङ्कार का लक्षण नही देकर केवल उदाहरण दिया है।[3] ओजस्वी उक्ति मे यह अलङ्कार माना गया है। उक्तिगत इस ऊर्जस्विता का सम्बन्ध हृदय के उत्साह आदि दीप्त भावो से माना जा सकता है। भरत ने भावगत ओजस्विता का वर्णन रस-सन्दर्भ मे स्थायी भावो के विवेचन-क्रम मे किया है। भरत की भाव-विषयक इस मान्यता से प्रस्तुत अलङ्कार अनुप्राणित है।

---

१. यत्प्रसन्नेन मनसा पूज्यान् पूजयितु वच ।
हर्षप्रकाशनार्थं तु सा प्रियोक्तिरुदाहृता ॥
—ना० शा० अ० भा० पृ० ३०३

२. नहि रसादृते कश्चिदर्थ प्रवर्तते ।
—भरत, ना० शा० ६, पृ० २७२

३ द्रष्टव्य—भामह, काव्याल० ३, ७

पर्यायोक्त

जहाँ कवि अपना विवक्षित अर्थ भङ्ग्यन्तर से (घुमा-फिराकर दूसरे प्रकार से) प्रस्तुत करता है, वहाँ भामह के अनुसार पर्यायोक्त अलङ्कार होता है।[१] दूसरे शब्दों में, जहाँ काव्य का साक्षात् कथन न होकर अन्य प्रकार से उसका अभिधान होता है वहाँ पर्यायोक्त अलङ्कार माना जाता है। यह भामह का नवीन अलङ्कार है। अन्य प्रकार से कथन पर भरत ने गुणानुवाद लक्षण मे विचार किया था। गुणानुवाद के एक पाठ मे गौणी वृत्ति की चर्चा की गई है।[२] सम्भव है, भामह को पर्यायोक्त के स्वरूप की कल्पना की प्रेरणा उससे मिली हो।

समाहित

भामह ने समाहित अलङ्कार का लक्षण नही दिया है। उसके उदाहरण के आधार पर भामह की तद्विषयक धारणा यह जान पडती है कि जहाँ किसी कार्य का आरम्भ करने पर उसकी सिद्धि के लिए अनायास कुछ साधन प्राप्त हो जायँ वहाँ समाहित-नामक अलङ्कार होता है। उदाहरण मे परशुराम को प्रसन्न करने के लिए जाती हुई क्षत्राणियों के सामने नारद का दिखाई पड जाना,[३] उस कार्य की सिद्धि मे सहायक के अनायास मिल जाने का द्योतक है। समाहित का स्वरूप भामह की स्वतन्त्र उद्भावना है।

उदात्त

उदात्त अलङ्कार के उदाहरण से यह स्पष्ट है कि भामह इसमे व्यक्ति का आशयोत्कर्ष-वर्णन अपेक्षित मानते है। इस अलङ्कार के सम्बन्ध मे अन्य मत का निर्देश करते हुए भामह ने जो उदाहरण दिया है उसमे विभूति का उत्कर्ष वर्णित है।[४] इस प्रकार भामह के मतानुसार व्यक्तित्व की उच्चाशयता तथा ऐश्वर्य के वर्णन मे उदात्त अलङ्कार होता है। भरत के उदार-गुण-लक्षण के प्राप्त पाठान्तर मे उदात्त शब्द का उल्लेख है। उदात्त को भरत ने उदार का पर्याय

---

१. पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।—भामह, काव्याल० ३, ८

२. गुणानुवादः स ज्ञेयो यत्राभेदोपचारतः।
गौणीं वृत्तिमुपाश्रित्य वस्तुनो रूपमुच्यते॥
—भरत, ना० शा० पृ० ३०५, पादटिप्पणी

३. द्रष्टव्य—भामह, काव्याल० ३, १०

४. द्रष्टव्य—भामह, काव्याल० ३, ११-१३

माना है। उदार गुण के कई तत्त्वो मे से एक तत्त्व 'दिव्य-भाव-परीत' है, जिसकी व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त ने 'मानुषोचित व्यापार का भी दिव्यतया वर्णन' उदार का अङ्ग बताया है। यह धारणा आशयोत्कर्ष-वर्णन की धारणा से मिलती-जुलती है। इसके अतिरिक्त गुण-कीर्तन लक्षण तथा अतिशय लक्षण (पाठान्तर) मे आशयोत्कर्ष-वर्णन पर बल दिया गया है। गुणकीर्तन लक्षण मे दोष को छिपाकर केवल गुणो का वर्णन वाञ्छनीय माना गया है। अतिशय लक्षण के एक पाठ मे यह कहा गया है कि इसमे जन-सामान्य मे सम्भव बहुत-से गुणो का वर्णन कर विशेष का कथन होता है।[2] स्पष्टत इन दोनो लक्षणो मे व्यक्तित्व के उदात्त गुणो का वर्णन अपेक्षित माना गया है। भामह ने उदात्त अलङ्कार के सम्बन्ध मे यही धारणा व्यक्त की है। भामह के अनुसार कुछ लोग वैभव के उत्कर्ष-वर्णन मे भी उदात्त अलङ्कार स्वीकार करते है। हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासन मे भरत की उदात्तगुण-विषयक मान्यता उद्धृत करते हुए लिखा है कि अनेक सूक्ष्म विशेषणो से युक्त कथन मे भरत उदार गुण मानते है।[3] सम्भव है कि हेमचन्द्र ने 'नाट्य-शास्त्र' के एक पाठ मे प्राप्त उस उदात्तगुण-लक्षण को इस रूप मे प्रस्तुत किया हो, जिसमे यह कहा गया है कि जहाँ अनेक अर्थवाले विशेषणो से युक्त, सौष्ठव-पूर्ण तथा विचित्र अर्थमय कथन हो वहाँ उदात्त गुण होता है।[3] 'नाट्य-शास्त्र' मे प्रत्येक गुण-लक्षण के एकाधिक पाठ उपलब्ध होने से इस सम्भावना का भी परिहार नही किया जा सकता कि हेमचन्द्र के सामने उदात्त-गुण की परिभाषा का कोई सम्प्रति अनुपलब्ध पाठान्तर रहा हो, जिसमे उक्त धारणा व्यक्त की गई हो। अस्तु, हेमचन्द्र के कथन को प्रामाणिक मान लेने पर भूत्युत्कर्ष-वर्णनगत उदात्त तथा आशयोत्कर्ष-वर्णनगत उदात्त, इन दोनो अलङ्कार-भेदो का मूल भरत के उदात्त-गुण-लक्षण मे माना जा सकता है।

---

१. "कीर्त्यमानैर्गुणैर्यत्र विविधार्थसमुद्भवै ।
दोषा न परिकथ्यन्ते तज्ज्ञेय गुणकीर्तनम् ॥"
—भरत, ना० शा० १६, ६

२. बहून् गुणान् कीतयित्वा सामान्यजनसभवान् ।
विशेष: कीर्त्यते यत्र ज्ञेय. सोऽतिशयो बुधै ॥
—ना० शा० अ० पृ० ३०६

३. बहुभि: सूक्ष्मैश्च विशेषै समेतमुदारमिति भरत. ।
—हेम० काव्यानु० पृ० २३८

इस प्रकार आशयोत्कर्ष-वर्णन की कल्पना उक्त दो लक्षणों एव उदात्त गुण की धारणा के आधार पर तथा भूत्युत्कर्ष-वर्णन की कल्पना उदात्त गुण-धारणा के आधार पर मानी जा सकती है।

उदात्त का सम्बन्ध वर्णन की भङ्गी से न होकर स्वय वर्ण्य मे है। भामह ने जिस वक्रोक्ति को अलङ्कार का प्राण माना है उसका आशय या समृद्धि के वर्णन मे सार्वत्रिक सद्भाव भी आवश्यक नही है। ऐसी स्थिति मे उदात्त का अलङ्कारत्व विवाद-मुक्त नही माना जा सकता। वक्रोक्तिवादी कुन्तक ने उदात्त के, आशयोत्कर्ष-वर्णन एव भूत्युत्कर्ष-वर्णन, दोनो भेदो को अलङ्कार्य स्वीकार कर उसके अलङ्कारत्व का खण्डन किया है।[१] सम्भव है कि भामह ने भी इसे अलङ्कार के रूप मे विशेष महत्त्व नही देने के कारण ही इसका लक्षण नही दिया हो और केवल उदाहरण का उल्लेख कर ही छुटकारा पा लिया हो।

श्लिष्ट

भामह का श्लिष्ट अलङ्कार भरत के रूपक अलङ्कार से मिलता-जुलता है। उन्होने गुण, क्रिया एव सज्ञा से उपमान के साथ उपमेय के अभेद-साधन मे श्लिष्ट अलङ्कार माना है। इस अश मे श्लिष्ट रूपक से अभिन्न है। भामह ने स्वय इन दोनो का अशत अभेद स्वीकार करते हुए रूपक मे श्लिष्ट का पार्थक्य-प्रतिपादन करने के लिए इसमे उपमान तथा उपमेय का युगपत् प्रतिपादन आवश्यक माना है।[२] रूपक मे भी उपमान के साथ उपमेय का अभेद-साधन होता है, किन्तु उसमे उपमान तथा उपमेय का पृथक्-पृथक् उल्लेख होता है। भरत ने अपने अक्षरसहति लक्षण मे श्लिष्ट एव सक्षिप्त वर्णों का प्रयोग काम्य माना है। उन्होने श्लेष नामक गुण का भी उल्लेख किया है, जिसमे अभीष्ट अर्थ से परस्पर सम्बद्ध पदो की श्लिष्टता रहा करती है। भरत की श्लिष्टता-सम्बन्धी धारणा भामह की श्लिष्ट-धारणा से भिन्न है। उन्होने श्लिष्टता मे पदो का सुग्रथित विन्यास वाञ्छनीय माना है। भामह श्लिष्ट मे प्रस्तुत एव अप्रस्तुत का युगपत् उल्लेख अपेक्षित मानते है। यह भामह की स्वतन्त्र कल्पना है।

---

१. 'एवमुदात्तस्योभयप्रकारस्याप्यलङ्कार्यत्वैव युक्तिमती,
न पुनरलङ्करणत्वम्।'—कुन्तक, वक्रोक्तिजी०, पृ० ३७८

२. लक्षणं रूपकेऽपीदं लक्ष्यते काममत्र तु।
इष्टः प्रयोगो युगपदुपमानोपमेययो ॥
—भामह, काव्यालं० ३, १५

अपह्नुति

अपह्नुति अलङ्कार मे उपमेय का अपह्नव तथा उपमान का अभिधान होता है। इस अलङ्कार के मूल मे उपमा है। प्रस्तुत का निषेध तथा अप्रस्तुत का कथन होने से इसे 'किञ्चिदन्तर्गतोपमा' कहा गया है। अभिनवगुप्त ने निर्देश किया है कि भरत की उपमा के साथ उनके मिथ्याध्यवसाय-नामक लक्षण के योग से अपह्नुति अलङ्कार का स्वरूप निष्पन्न हुआ है।[१] मिथ्याध्यवसाय लक्षण के एक पाठ मे यह कहा गया है कि इसमे अर्थ का अन्यथात्व-प्रतिपादन होता है।[२] किसी वस्तु के स्वरूप का निषेध कर उसका अन्यथा-भाव प्रतिपादित करना मिथ्याध्यवसाय है। यह अन्यथाभाव सादृश्य के कारण होता है। अपह्नुति अलङ्कार मे वर्ण्य वस्तु के स्वरूप का अपह्नव तथा अवर्ण्य (उपमान) के रूप मे उसका (अन्यथात्व) प्रतिपादन होता है। स्पष्ट है कि उपमा तथा मिथ्याध्यवसाय के योग से अपह्नुति का रूप-निर्माण हुआ है।

विशेषोक्ति

भामह के अनुसार जहाँ किसी वस्तु के एक गुण की हानि होने पर विशेषता के अभिधान के लिए गुणान्तर का सद्भाव दिखाया जाता हो वहाँ विशेषोक्ति अलङ्कार होता है।[३] प्रस्तुत अलङ्कार का स्वरूप भामह की स्वतन्त्र उद्भावना है।

विरोध

प्रस्तुत अलङ्कार में वर्णन के वैशिष्ट्य के लिए गुण या क्रिया के विरोधी अन्य क्रिया का कथन होता है।[४] यह विरोध स्थिति के अनुरोध से उपपन्न

---

१. 'उपाध्यायमत तु—लक्षणबलादलङ्काराणा वैचित्र्यमागच्छति तथा हि—' मिथ्याध्यवसायेनापह्नुति··· ' ।'
—अभिनव, ना० शा० अ० भा० पृ० ३२१

२. विचारस्यान्यथाभावस्तथा दृष्टापदृष्टयो ।
सन्देहात् कल्प्यते यत्र मविक्षेपो विपर्यय ॥
—ना० शा० अ० भा० पृ० ३०८

३ एकदेशस्यविगमे या गुणान्तरसस्थिति· ।
विशेषप्रथनायासौ विशेषोक्तिर्मता यथा ॥—भामह, काव्यालं०, ३, २३

४. गुणस्य वा क्रियाया वा विरुद्धान्यक्रियाभिधा ।
या विशेषाभिधानाय विरोधं त विदुर्बुधाः ॥—वही, ३, २५

होकर उक्ति मे चमत्कार लाता है। चन्द्रमा की शीतल किरणा का तापदायक होना विशेष स्थिति मे असिद्ध नही है। अत विरोध अलङ्कार मे विरुद्ध क्रिया का कथन आपातत ही विरोधी लगता है। परिस्थिति के अनुरोध मे विरोध का शमन हो जाने से विरोध तात्त्विक नही रह जाता। भरत ने प्राप्त दोषा के शमन मे उपपत्ति लक्षण स्वीकार किया है।[1] विरोधालङ्कार मे भी विरुद्ध-क्रिया-कथन से प्राप्त विरुद्धत्व दोष का शमन हो जाने पर ही भावक के चित्त मे चमत्कार की सृष्टि होती है। स्पष्ट है कि भरत की उक्त लक्षण-धारणा का तत्त्व लेकर ही भामह ने प्रस्तुत अलङ्कार का सृजन किया है।

तुल्ययोगिता

प्रस्तुत अलङ्कार मे भामह के अनुसार न्यून वस्तु की विशिष्ट वस्तु के साथ गुण की समता की विवक्षा से दोनो मे समान कार्यकारित्व वर्णित होता है।[2] उदाहरण मे किसी राजा का शेषनाग तथा हिमालय के साथ गुण-साम्य-प्रतिपादन के लिए तीनो को महान, गुरु तथा स्थिर कहा गया है। तीनो मे मर्यादा-बद्ध पृथ्वी के धारण की तुल्य क्रिया का उल्लेख हुआ है।[3] अभिनवगुप्त के मतानुसार अलङ्कार के साथ सिद्धि लक्षण का योग होने से तुल्ययोगिता अलङ्कार की सृष्टि हुई है।[4] इस लक्षण मे बहुत-सी प्रसिद्ध वस्तुओ के बीच अप्रसिद्ध वस्तुओ को, अर्थात् बहुत से उपमानो के बीच वर्ण्य वस्तुओ को रखकर उनमे साधारणता की सिद्धि होती है। तुल्योगिता अलङ्कार में भी न्यून का अर्थात् उपमेय का तुल्य-क्रिया-कथन से विशिष्ट वस्तु के साथ गुण का साम्य प्रतिपादित होता है। अत तुल्ययोगिता अलङ्कार तथा सिद्धि लक्षण मे कोई तात्त्विक भेद नही। तुल्यकार्यक्रियायोग का तत्त्व दीपक अलङ्कार से लिया गया है। उपमेय तथा

---

१. प्राप्ताना यत्र दोषाणा क्रियते शमन पुन ।
सा ज्ञेया ह्युपपत्तिस्तु लक्षण नाटकाश्रयम् ॥
—भरत, ना० शा०, १६, ३५

२. न्यूनस्यापि विशिष्टेन गुणसाम्यविवक्षया ।
तुल्यकार्यक्रियायोगादित्युक्ता तुल्ययोगिता ॥—भामह, काव्याल० ३, २७

३. द्रष्टव्य—वही, ३, २८

४. लक्षणयोगादलकाराणा वैशिष्ट्यमागच्छति तथा हि— ···सिद्धया तुल्ययोगितेति·····।—अभिनव, ना० शा० अ० भा० पृ० ३२१

उपमान का सादृश्य इस अलङ्कार का मूल है। भामह की तुल्ययोगिता मे भरत के गुणानुवाद लक्षण तथा प्रशसोपमा का भी तत्त्व मिला है। गुणानुवाद मे परिमित की उत्कृष्ट के साथ उपमा होती है।[१] 'प्रशसोपमा मे भी उपमान प्रशस्त होता है, उपमेय हीन। भामह ने तुल्ययोगिता का उद्देश्य न्यून का विशिष्ट के साथ साधारण्य-साधन स्वीकार किया है। भामह इस अलङ्कार के स्वरूप-निर्धारण मे सिद्धि तथा गुणानुवाद लक्षण के साथ-साथ दीपक तथा प्रशंसोपमा के स्वरूप से भी प्रभावित जान पडते है।

अप्रस्तुतप्रशंसा

जहाँ वर्ण्य वस्तु को छोड केवल अप्रस्तुत का वर्णन होता है वहाँ अप्रस्तुत-प्रश्सा अलङ्कार माना गया है।[२] अप्रस्तुत के वर्णन से ही सादृश्य के कारण प्रस्तुत की प्रतीति हो जाती है। इस अलङ्कार को लक्ष्य कर अभिनव ने कहा है कि भरत के अलङ्कार के साथ मनोरथ लक्षण के योग से इसकी उत्पत्ति हुई है।[3] मनोरथ लक्षण मे भरत के अनुसार, कवि अन्य वस्तु के वर्णन के द्वारा अपना हृदयस्थ भाव सुश्लिष्ट रूप मे प्रस्तुत कर देता है।[४] इस प्रकार दोनो की प्रकृति अभिन्न है। भरत के प्रोत्साहन लक्षण की परिभाषा मे भी अप्रस्तुतप्रशसा अलङ्कार के तत्त्व प्राप्त होते है। उसमे भी उपमान का आश्रय लेकर वस्तु-वर्णन होता है। अभिनव ने प्रोत्साहन लक्षण के उदाहरण की व्याख्या के क्रम मे कहा है कि 'अप्रस्तुतप्रशसा मे प्रोत्साहन से ही वैचित्र्य का आधान होता है।'[५] अत यह मानना युक्तिसङ्गत होगा कि अप्रस्तुतप्रश्सा अलङ्कार के स्वरूप-सघटन मे मनोरथ एव प्रोत्साहन लक्षणो का योग है।

---

१. गुणानुवादो हीनानामुत्तमैरुपमाकृत. ।—भरत, ना० शा० १६, १३

२ अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुति ।
अप्रस्तुतप्रशसेति सा चैव कथ्यते यथा ॥—भामह, काव्याल ३, २९

३ '··· मनोरथाख्येनाप्रस्तुतप्रशसा ।—अभिनव ना० शा० अ० भा० पृ० ३२१

४. हृदयस्थस्य भावस्य सुश्लिष्टार्थप्रदर्शनम् ।
अन्यापदेशकथनैर्मनोरथ इति स्मृत ॥—भरत, ना० शा०, १६, २०

५ 'अप्रस्तुतप्रशसाप्यत्र तद्वैचित्र्य प्रोत्साहनस्वलक्षणकृतमेव,··· ।
—अभिनव, ना० शा० अ० भा० पृ० ३०३

व्याजस्तुति

व्याजस्तुति मे भामह के अनुसार निन्दामुखेन स्तुति की जाती है। आपातत: की जानेवाली निन्दा से परिणामत प्रशंसा की व्यञ्जना इसमे होती है। इस अलङ्कार की परिभाषा मे भामह ने कहा है कि जहाँ कवि किसी अप्रस्तुत के गुणाधिक्य का वर्णन कर उसके साथ प्रस्तुत की समता दिखाने के क्रम में आपातत उस प्रस्तुत की निन्दा करता है, वहाँ व्याजस्तुति अलङ्कार होता है।[१] निन्दा के व्याज से स्तुति होने के कारण प्रस्तुत अलङ्कार की संज्ञा अन्वर्था है। 'नाट्यशास्त्र' के कपट लक्षण के प्राप्त दूसरे पाठ मे दोष-कीर्त्तन के व्याज से गुण के प्रकटीकरण को गर्हण लक्षण कहा गया है।[२] यह धारणा व्याजस्तुति की धारणा से बहुत मिलती-जुलती है। प्रिय लक्षण में आरम्भ मे क्रोध-जनन तथा परिणाम मे हर्ष-वर्धन पर बल दिया गया है।[३] इस लक्षण का प्रभाव उक्त अलङ्कार के प्रभाव मे अभिन्न है। आपातत. की जानेवाली निन्दा आरम्भ मे क्रोध-जनन का हेतु होती है, परिणाम मे स्तुति की व्यञ्जना होने से हर्ष का सवर्धन होता है। इस प्रकार कपट तथा प्रिय लक्षणो की धारणा के आधार पर व्याजस्तुति अलङ्कार के स्वरूप का निर्माण किया गया है।

निदर्शना

भामह की मान्यता है कि जहाँ यथा, इव, वत आदि उपमावाचक शब्दों के अभाव मे भी क्रिया के द्वारा ही उस विशिष्ट अर्थ का बोध हो जाता है, वहाँ निदर्शना अलङ्कार होता है।[४] सादृश्य इस अलङ्कार का मूल है। इसमे

---

१ दूराधिकगुणस्तोत्रव्यपदेशेन तुल्यताम्।
किञ्चिद्विधित्सोर्या निन्दा व्याजस्तुतिरसौ यथा।
—भामह, काव्यालं० ३, ३१

२. यत्र सकीर्तयन्दोष गुणमर्थेन योजयेत्।
गुणातिपाताद्दोष वा गर्हण नाम तद्भवेत्॥—भरत, ना० शा०
अ० भा० पृ० ३१५

३. आदौ यत्क्रोधजननमन्ते हर्षप्रवर्धनम्।
तत्प्रिय वचन ज्ञेयमाशीर्वादसमन्वितम्॥— भरत, ना० शा० १६, २६

४. क्रिययैव विशिष्टस्य तदर्थस्योपदर्शनात्।
ज्ञेया निदर्शना नाम यथेववतिभिर्विना॥
—भामह, काव्याल०, ३, ३३

सादृश्य व्यङ्ग्य होता है, वाच्य नही। इस अलङ्कार का नाम भरत के दृष्टान्त लक्षण मे प्रयुक्त निदर्शन शब्द के आधार पर कल्पित है। इस अलङ्कार की स्वरूप-कल्पना मे उदाहरण लक्षण से भी तत्त्व लिया गया है, जिसमे समान अर्थ वाले वाक्य से अभीष्ट अर्थ की सिद्धि करायी जाती है। दृष्टान्त तथा उदाहरण लक्षणो के साथ किञ्चित्-सदृशी उपमा के योग से निदर्शना का स्वरूप-विन्यास हुआ है।[१]

उपमारूपक

भामह ने उपमारूपक नामक एक स्वतन्त्र अलङ्कार की कल्पना की है। यह अलङ्कार नवीन नही है। इसके अभिधान से ही स्पष्ट है कि इसमें उपमा तथा रूपक, इन दो प्राचीन अलङ्कारो का सम्मिश्रण है। इस प्रकार दो या दो से अधिक अलङ्कारो को मिलाकर नवीन अलङ्कार की कल्पना करने से अलङ्कारो के असख्य भेद हो जायँगे। इसके लक्षण मे इसका स्वरूप रूपक तथा उपमा से अभिन्न बताया गया है। रूपक मे भामह के अनुसार गुण की समता के आधार पर उपमान के साथ उपमेय का तत्त्व-साधन होता है। उपमारूपक मे भी उन्होने यही बात कही है। इसमे उपमान के साथ उपमेय का तद्भाव-साधन कहा गया है। तत्त्व-साधन तथा तद्भाव-साधन मे कोई भेद नही है। दोनों का अभिप्राय उपमेय पर उपमान के आरोप से है। अत उपमा तथा रूपक से स्वतन्त्र उपमा-रूपक की सत्ता स्वीकार करने का कोई सबल कारण नही जान पडता।

उपमेयोपमा

जहाँ क्रम से किसी वस्तु को उपमान तथा उपमेय बनाया जाता है, वहाँ उपमेयोपमा अलङ्कार होता है। एक वाक्य का उपमान दूसरे वाक्य मे उपमेय तथा उस वाक्य का उपमेय दूसरे मे उपमान बना दिया जाता है। क्रम से उपमेय के उपमान तथा उपमान के उपमेय बनने से इसे उपमेयोपमा कहा जाता है। इसे पृथक् अलङ्कार न मान कर उपमा का भेद मानना ही अधिक युक्तिसङ्गत होता। भरत ने उपमा के इन भेद का उल्लेख नहीं किया है, किन्तु उनके 'नाट्यशास्त्र' के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है

१ तुलनीय, भरत नाट्शास्त्र १६, २५; १६, ९ (अनुबन्ध); १६, ५१ तथा भामह, काव्यालङ्कार, ३, ३३

कि वे उपमा के असख्य भेदोपभेदो से परिचित थे। उन्होने सम्भवत ग्रन्थ-विस्तार के भय से ही उन भेदोपभेदो का विस्तृत विवेचन नही किया है। उन्होने स्वय काव्य मे तथा लोक मे प्रयुक्त होने वाले उपमा के बहुल भेदो का निर्देश करते हुए यह स्वीकार किया हे कि उनके 'नाट्यशास्त्र' मे सक्षेप मे ही उपमा के अङ्गो का वर्णन किया गया है। इसके अन्य भेद भी लोक-व्यवहार तथा काव्य की उक्तियो मे पाये जा सकते है।[१] भरत के इस कथन मे उपमेयोपमा की कल्पना की सम्भावना भी पायी जा सकती हे। उपमा मे उपमेय तथा उपमान की कल्पना तो है ही। उन्ही दोनो के पारस्परिक स्थान-परिवर्त्तन के आधार पर उपमेयोपमा की कल्पना कर ली गई है।

सहोक्ति

एक ही समय दो वस्तुओ से सम्बद्ध क्रिया का एक ही पद मे कथन होने मे सहोक्ति अलङ्कार माना गया है।[२] यह भामह का स्वतन्त्र अलङ्कार हे। इसकी कल्पना की प्रेरणा भरत के दीपक अलङ्कार से मिली होगी। दीपक मे अनेक पदो या वाक्यो मे कहे गये साकांक्ष अर्थों का एक ही वाक्य मे गुण, क्रिया, जाति आदि का दीपन होता है, अर्थात् सभी पदो या वाक्यो का एक ही गुण, क्रिया आदि से सम्बन्ध दिखाया जाता है। इस प्रकार एक साथ कई अर्थों के सम्बद्ध-वर्णन की धारणा का सूत्रपात भरत के दीपक अलङ्कार की परिभाषा मे ही हुआ था, जिसका किञ्चित् परिवर्तित स्वरूप भामह के सहोक्ति अलङ्कार मे उपलब्ध है।

परिवृत्ति

परिवृत्ति अलङ्कार मे हीन वस्तु देकर उत्तम वस्तु का ग्रहण वर्णित होता है तथा अप्रस्तुत वाक्य के न्यास से इसमे अर्थान्तरन्यास का भी योग रहता है।[3] अर्थान्तरन्यास अलङ्कार की धारणा के उद्भव और विकास पर विचार

---

१ उपमाया बुधैरेते ज्ञेया भेदा समासन ।
ये शेषा लक्षणैर्नोक्तास्ते ग्राह्या लोककाव्यत ॥
—भरत, ना० शा०, १६, ५२

२. तुल्यकाले क्रिये यत्र वस्तुद्वयसमाश्रये ।
पदेनैकेन कथ्येते सहोक्ति सा मता यथा ॥
—भामह, काव्याल०, ३, ३९

३. विशिष्टस्य यदादानमन्यापोहेन वस्तुनः ।
अर्थान्तरन्यासवती परिवृत्तिरसौ यथा ॥—वही, ३, ४१

किया जा चुका है। अत प्रस्तुत प्रसङ्ग मे उसका चर्वितचर्वण अनावश्यक होगा। परिवृत्ति-परिभाषा के पूर्वार्द्ध मे निर्दिष्ट तत्त्वो पर ही विचार अपेक्षित है। हीन वस्तु देकर उत्तम वस्तु लेने की भामह की कल्पना मौलिक है। भरत ने हीन वस्तु की उत्तम वस्तु के साथ उपमा की कल्पना गुणानुवाद लक्षण तथा प्रशसोपमा अलङ्कार मे अवश्य की थी, किन्तु इनके आदान-प्रदान की कल्पना उन्होने नही की थी। सम्भव है कि न्यून तथा महत् के उपमेयो-पमान-भाव के आधार पर उनके दानादान-भाव की कल्पना परिवृत्ति अलङ्कार की सज्ञा से कर ली गयी हो।

सन्देह

जहाँ उपमेय का उपमान के साथ अभेद तथा भेद प्रतिपादन निश्चयात्मक रूप से नही किया जाकर सशयात्मक रूप से भेदाभेद का कथन हो, उस ससन्देह कथन मे भामह सन्देह अलङ्कार मानते है।[१] प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत के बीच भेदाभेद-निर्णय मे यह अनिश्चय की दशा दोनो के अतिशय साम्य के कारण होती है। भरत ने सशय लक्षण की परिभाषा मे कहा है कि जहाँ विचार के अनेक विकल्पो के होने पर तत्त्व-निर्णय किये बिना अनिश्चयात्मक स्थिति मे ही वाक्य को समाप्त कर दिया जाता हो, वहाँ सशय नामक लक्षण माना जाता है।[२] भरत के इस लक्षण के साथ उपमा अलङ्कार के तत्त्व को मिला कर सन्देह अलङ्कार की सृष्टि हुई है। उपमेय तथा उपमान मे साम्य के कारण उनके भेदाभेद के सन्देह मे, उपमेय तथा उपमान का सादृश्य उपमा अलङ्कार से तथा विचार का अनेकत्व सशय लक्षण से गृहीत है।

अनन्वय

जहाँ किसी वस्तु का उसी के साथ उपमानोपमेयत्व हो वहाँ अनन्वय अलङ्कार माना गया है।[3] इसमे वर्ण्य के समान दूसरा नही है, यह बताने के लिए उसी

१. उपमानेन तत्त्व च भेद च वदतः पुन।
ससन्देह वच स्तुत्यै ससन्देह विदुर्यथा॥—वही, ३, ४३

२. अपरिज्ञाततत्त्वार्थ यत्र वाक्य समाप्यते।
सोऽनेकत्वाद्विचाराणा सशय परिकीर्त्तित.॥
—भरत, ना० शा०, १६, २७

३. यत्र तेनैव तस्य स्यादुपमानोपमेयता।
असादृश्यविवक्षातस्तमित्याहुरनन्वयम्॥—भामह, काव्यालं०, ३,४५

का उपमेयत्व तथा उपमानत्व दोनो कहा जाता है। इसमे उपमेय स्वय अपना उपमान बन जाता है, उपमेय से भिन्न उपमान की कल्पना नही की जाती। यह अलङ्कार उपमा से तत्त्वत भिन्न नही है। दोनो मे भेद केवल इतना है कि उपमा मे उपमेय का उससे पृथक् सत्ता रखने वाले उपमान के साथ साधर्म्य-प्रतिपादन होता है तथा अनन्वय मे उपमेय का उसी के साथ साधर्म्य वर्णित होता है। तात्विक भेद नही होने के कारण ही सम्भवत भरत ने उपमा मे अलग अनन्वय का उल्लेख नही किया है। 'नाट्यशास्त्र' मे वर्णित उपमा के सदृशी भेद से अनन्वय का स्वरूप अभिन्न है। अभिनव ने सदृशी उपमा का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा है कि इसमे उपमेय को ही उसका उपमान कल्पित किया जाता है।[1]

उत्प्रेक्षावयव

श्लेष, रूपक तथा उत्प्रेक्षा अलङ्कारो के योग से भामह ने इस नवीन अलङ्कार की कल्पना कर ली है। उनके अनुसार उत्प्रेक्षावयव अलङ्कार मे श्लिष्ट अर्थ का योग, कुछ उत्प्रेक्षा का मिश्रण तथा रूपक अर्थ का समन्वय रहता है।[2] एकत्र एकाधिक अलङ्कारो का सद्भाव सम्भव है। वे या तो परस्पर अङ्गाङ्गि-भाव से रह सकते है या एक दूसरे मे निरपेक्ष रूप से रह सकते है। अतः अनेक अलङ्कारो को मिला कर एक नवीन अलङ्कार की कल्पना युक्तिसङ्गत नही। इसीलिए परवर्ती आचार्यों ने इस अलङ्कार की सत्ता स्वीकार नही की है। यदि एकाधिक अलङ्कार के सद्भाव में किसी नवीन अलङ्कार की कल्पना आवश्यक होती तो नानालङ्कार की ससृष्टि की कल्पना ही व्यर्थ हो जाती। भामह ने भी अनेक अलङ्कारो की संसृष्टि स्वीकार की है। अत उत्प्रेक्षावयव की कल्पना अनावश्यक है।

संसृष्टि

सुन्दर रत्नो से रचित माला की तरह अनेक अलङ्कारो के सग्रथन से निर्मित ससृष्टि को भामह ने उत्तम अलङ्कार कहा है।[3] यह स्वतन्त्र अलङ्कार

१. यत्रोपमेयस्य एवोपमानता सेय सदृशी ।
—नाट्यशास्त्र अभिनव भारती पृ० ३२४।

२. श्लिष्टस्यार्थेन सयुक्त किञ्चिदुत्प्रेक्षयान्वित ।
रूपकार्थेन च पुनरुत्प्रेक्षावयवो यथा ।।—वही ३, ४७

३. वरा विभूषा ससृष्टिर्बह्वलङ्कारयोगतः ।
रचिता रत्नमालेव सा चैवमुदिता यथा ।।—वही, ३, ४९

नही है, विभिन्न अलङ्कारो के योग से उत्पन्न छटा का द्योतक है। भरत ने भूषण लक्षण मे अनेक अलङ्कारो तथा अनेक गुणो के एकत्र निवेश की कल्पना की है।[1] उसी धारणा से ससृष्टि अलङ्कार की कल्पना उत्प्रेरित जान पड़ती है।

भाविक

भामह ने भाविक को प्रबन्धगत गुण कहा है, किन्तु अलङ्कारो मे भाविक की गणना किये जाने से यह स्पष्ट है कि उन्होंने गुण शब्द का प्रयोग अलङ्कार के पर्याय के रूप मे किया है। यह अलङ्कार वाक्यगत नही, प्रबन्धगत है। जिस प्रबन्ध मे अतीत या भावी अर्थ का इस प्रकार वर्णन होता है कि वे प्रत्यक्ष—से हो उठते है, उसमे भाविक अलङ्कार माना गया है।[2] अर्थ-वर्णन की स्फुटता इसमे अपेक्षित है। भाविक को अलङ्कार मानना निभ्रान्ति नही है। अर्थ-वर्णन मे कवि का यह कौशल कि वह भूत या भावी अर्थ को पाठक की कल्पना-दृष्टि के सामने प्रत्यक्ष कर दे, कविकर्म की सफलता के लिए आवश्यक शर्त है। भामह ने भाविक मे विचित्र, उदात्त तथा अद्भुत अर्थो का स्पष्ट शब्दो मे वर्णन वाञ्छनीय माना है। भरत ने उदारता गुण मे अद्भुत, विचित्र तथा अनेक भाव सयुक्त अर्थ के वर्णन पर बल दिया है तथा अर्थव्यक्ति मे स्पष्ट शब्दो मे अर्थ का स्फुट वर्णन वाञ्छनीय माना है। इन्ही गुणो की धारणा के साथ अप्रत्यक्ष अर्थ-वर्णन की धारणा को मिला कर भामह ने भाविक अलङ्कार की कल्पना कर ली है। इसके अलङ्कारत्व के सम्बन्ध मे परवर्ती आचार्यो मे मतैक्य नही है।

आशी:

आशी. की ओर निर्देश करते हुए भामह ने कहा है कि कुछ लोग इसे भी अलङ्कार मानते है।[3]

---

१. अलङ्कारैर्गुणैश्चैव बहुभिर्यदलङ्कृतम्।
भूषणैरिव विन्यस्तैस्तद्भूषणमिति स्मृतम्॥—भरत, ना० शा०, १६,५

२. भाविकत्वमिति प्राहु प्रबन्धविषय गुणम्।
प्रत्यक्षा इव दृश्यन्ते यत्रार्था भूतभाविन॥
—भामह, काव्याल० ३, ५३

३. आशीरपि च केषाञ्चिदलङ्कारतया मता।
—वही, , ३, ५५

भामह की अलङ्कार-धारणा के इस विवेचन तथा भरत की अलङ्कार, लक्षण तथा गुण विपयक मान्यता के सन्दर्भ मे उसके अध्ययन मे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हे कि भरत के बाद भामह मे जिन पैंतीस नवीन अलङ्कारो की गणना हुई हे, उनमे से अधिकाश की उत्पत्ति भरत के मूल अलङ्कारों, लक्षणो तथा गुणो से हुई है। कुछ अलङ्कार भरत के किसी विशेष अलङ्कार के भेद-मात्र है। उनके दो अलङ्कारो को मिला कर भी भामह ने नवीन अलङ्कार की कल्पना कर ली है। कुछ अलङ्कार उनके विशेष लक्षणो से अभिन्न है तथा कुछ अलङ्कारो की उत्पत्ति एकाधिक लक्षणा के मिश्रण से हुई है। भरत के कुछ अलङ्कार तथा लक्षण के परस्पर योग से भी भामह के नवीन अलङ्कारो का आविर्भाव हुआ है। नाट्यशास्त्र के कुछ गुणो का भी नवीन अलङ्कारो की सृष्टि मे योगदान है। कही एकाधिक गुणो के परस्पर मेल से तथा कही गुण का लक्षण के साथ योग से नवीन अलङ्कारो का निर्माण हुआ है। इसके अतिरिक्त भामह के कुछ अलङ्कार भरत के रस, भाव आदि से सम्बद्ध है। कुछ अलङ्कार अवश्य मौलिक हैं, जिनके स्वरूप की कल्पना भरत ने अलङ्कार, लक्षण तथा गुण के सन्दर्भ मे नही की थी।

इस प्रकार उद्भव की दृष्टि से भामह के अलङ्कारो का निम्नलिखित दश वर्गों मे विभाजन किया जा सकता है—

१. मूल अलङ्कार के रूपान्तर:—भामह के अनुप्रास, अनन्वय, उपमेयोपमा तथा उत्प्रेक्षा भरत के मूल अलङ्कारो के आधार पर ही कल्पित हे। अनुप्रास भरत के यमक का भेद-मात्र हे। उत्प्रेक्षा कल्पितोपमा के आधार पर कल्पित है तथा अनन्वय एव उपमेयोपमा उपमा के ही रूप-भेद हैं।

२. एकाधिक अलङ्कारो के योग से उत्पन्न:—इस वर्ग मे भामह के दो अलङ्कार आते है—उपमारूपक तथा उत्प्रेक्षावयव। उपमारूपक अलङ्कार मे उपमा तथा रूपक अलङ्कारो का समन्वित रूप है। उत्प्रेक्षावयव मे उत्प्रेक्षा, रूपक तथा श्लिष्ट अलङ्कारो का समवाय है। इनमे से रूपक-धारणा भरत की है, उत्प्रेक्षा उन्ही की कल्पितोपमा के आधार पर कल्पित है तथा श्लिष्ट भामह की अशत मौलिक धारणा है।

३. भरत के लक्षण से समुद्भूत.—भामह के प्रेय तथा विरोध अलङ्कारो का मूल क्रमश. प्रोत्साहन लक्षण के पाठभेद प्रियोक्ति तथा उपपत्ति लक्षणो में है।

१० मौलिक अलङ्कार.—भामह के मौलिक अलङ्कारो के दो वर्ग माने जा सकते है—(क) पूर्ण मौलिक तथा (ख) अशत मौलिक। विभावना, विशेषोक्ति एव यथासख्य अलङ्कार पूर्णत मौलिक है। श्लिष्ट आशिक रूप से रूपक-धारणा से प्रभावित है तथा अशत मौलिक। महोक्ति पर दीपक का किञ्चित् प्रभाव है, साथ ही कुछ मौलिकता भी है। परिवृत्ति मे गुणानुवाद लक्षण तथा प्रशसोपमा से कुछ साम्य होने पर भी आशिक मौलिकता है। भाविक अलङ्कार भी अशत मौलिक है। पर्यायोक्ति तथा समाहित भी भामह की मौलिक उद्भावना है।

भामह ने हेतु, सूक्ष्म तथा लेश के अलङ्कारत्व का खण्डन किया है, चूंकि उनमे वक्रोक्ति का सद्भाव नही। इससे सिद्ध है कि भामह के पूर्व कुछ आचार्यों ने उक्त अलङ्कारो की सत्ता स्वीकार की थी, अन्यथा भामह अप्राप्त के निषेध मे व्यर्थ श्रम नही करते।

उदात्त, प्रेय, ऊर्जस्वी आदि अलङ्कारो के लक्षण नही दिये गये है। यह अनुमान किया जा सकता है कि परिभाषित अलङ्कारो की अपेक्षा उन अलङ्कारो को भामह ने गौण महत्त्व दिया है।



आचार्य दण्डी

भामह के बाद दण्डी के 'काव्यादर्श' मे काव्यालङ्कारो का विशद विवेचन प्राप्त होता है। भामह के उनचालीस अलङ्कारो के स्थान पर दण्डी ने छत्तीस अलङ्कार स्वीकार किये है; किन्तु विशेष अलङ्कारो के भेदोपभेदो की कल्पना मे दण्डी काव्यशास्त्र के सभी आचार्यों से आगे है। 'काव्यादर्श' मे अलङ्कारो की सख्या-परिमिति का कारण कदाचित् उनके अङ्गो, उपाङ्गो की अपरिमिति ही है। उन्होने भामह के कुछ अलङ्कारो की स्वतन्त्र सत्ता अमान्य बतायी और उन्हे अन्य अलङ्कारो के अङ्ग के रूप मे स्वीकार कर लिया। उदाहरणार्थः—भामह ने प्रतिवस्तूपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, ससन्देह, उपमारूपक तथा उत्प्रेक्षावयव को स्वतन्त्र अलङ्कार की पदवी प्रदान की थी; किन्तु दण्डी ने उन्हे उपमा, रूपक तथा उत्प्रेक्षा के अङ्ग के रूप मे स्वीकार किया। प्रतिवस्तूपमा उपमा का एक भेद माना गया। अनन्वय असाधारणोपमा की संज्ञा देकर उपमा-भेद स्वीकार किया गया। उपमेयोपमा

अन्योन्योपमा के नाम से अभिहित हुआ और उपमा का एक प्रकार स्वीकृत हुआ। ससन्देह का अभिधान सशयोपमा किया गया तथा उपमा के ही भेदो मे उसे समाविष्ट कर लिया गया। उपमारूपक रूपक अलङ्कार मे अन्तर्भूत होकर उसका एक प्रकार बन गया तथा उत्प्रेक्षावयव अपनी स्वतन्त्र सत्ता खोकर उत्प्रेक्षा का भेद-मात्र मान लिया गया।[1]

दण्डी ने हेतु, सूक्ष्म तथा लेश अलङ्कारो का भी अस्तित्व स्वीकार किया है। भामह ने इनके अलङ्कारत्व का खण्डन किया था। आशी को भी दण्डी ने अलङ्कार के रूप से मान्यता दी है। भामह ने इसके अलङ्कारत्व के सम्बन्ध मे कुछ लोगो के मत का निर्देशमात्र किया था। भामह के अनुप्रास एव यमक शब्दालङ्कारो मे से केवल यमक का ही विवेचन 'काव्यादर्श' के अलङ्कार-प्रसङ्ग मे हुआ है। अनुप्रास का विवेचन दण्डी ने माधुर्यगुण के स्वरूप-निरूपण के सन्दर्भ मे किया है। इससे स्पष्ट है कि दण्डी ने अपने पूर्ववर्ती आचार्य भामह की विचार-सरणि का अन्धानुसरण नही किया है। उनमे चिन्तन की मौलिकता है। उनके अधिकाश अलङ्कारो का स्वरूप भामह के अलङ्कारो से अभिन्न होने पर भी, उनके भेदोपभेद की उद्भावना स्वतन्त्र रूप मे की गयी है। कुछ अलङ्कारो का स्वरूप भी सर्वथा नवीन है। उन नवीन अलङ्कारो मे से कुछ का मूल भरत की लक्षण-धारणा तथा गुण-धारणा मे ढूँढा जा सकता है। भरत तथा भामह की काव्य-तत्त्व-विवेचना के प्रकाश मे दण्डी की अलङ्कार-विषयक मान्यता का परीक्षण वाञ्छनीय है।

यमक

'काव्यादर्श' मे यमक का सामान्य लक्षण 'काव्यालङ्कार' के यमक-लक्षण से किञ्चित् भिन्न है। दण्डी की यमक-धारणा भरत की धारणा के समान है। भामह ने श्रुतिसम भिन्नार्थक शब्दो की आवृत्ति को यमक माना था।[2] दण्डी ने भरत

---

१. अनन्वयससन्देहावुपमास्वेव दर्शितौ।
उपमारूपकञ्चापि रूपकेष्वेव दर्शितम्॥
उत्प्रेक्षाभेद एवासावुत्प्रेक्षावयवोऽपि च।
—दण्डी, काव्यादर्श २, ३५८-५९ और द्रष्टव्य, प्रतिवस्तूपमा का लक्षण २, ४६

२. तुल्यश्रुतीना भिन्नानामभिधेयै. परस्परम्।
वर्णाना यः पुनर्वादो यमक तन्निगद्यते॥—भामह, काव्याल० २, १७

की तरह वर्णावृत्ति तथा पदावृत्ति, दोनो को यमक माना है।[१] दण्डी भामह से इस अश मे प्रभावित है कि वे प्रहेलिका को यमक का ही भेद मानते है। भामह ने रामशर्मा का मत उद्धृत करते हुए कहा है कि गम्भीर धात्वर्थ वाले यमक को ही प्रहेलिका कहा गया है।[२] दण्डी ने इस मान्यता को स्वीकार कर पूर्ववर्ती आचार्यो के द्वारा निर्दिष्ट प्रहेलिका के सोलह भेदो का लक्षण-निरूपण किया है। चौदह प्रकार की दुष्टप्रहेलिकाओं का भी सङ्केत 'काव्यादर्श' मे प्राप्य है। गोमूत्रिका, अर्धभ्रम तथा सर्वतोभद्र जैसे—विभिन्न प्रकार के चित्रो मे निबद्ध होने वाले काव्य (चित्र-काव्य) को दण्डी ने यमक अलङ्कार के ही व्यापक परिवेश मे समाविष्ट माना है। स्पष्ट है कि नाना प्रकार के बन्धो मे काव्य के निबन्धन की कल्पना का आरम्भ वर्णो के विभिन्न प्रकार के मोड के आधार पर ही हुआ था। पीछे चल कर चित्रो मे वर्णविन्यास का अध्ययन शब्दालङ्कार से स्वतन्त्र विषय बन गया। नवीन-नवीन बन्धो की उद्भावना होने लगी और सस्कृत आचार्यों से लेकर हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यो तक बन्धो की सख्या एक सौ अस्सी तक पहुँच गई। शब्द-चित्र के साथ अर्थ-चित्र की भी सत्ता स्वीकृत हुई। भामह ने यमक मे केवल शब्दावृत्ति को ही वाञ्छनीय नही माना था, उसमे अर्थ की भिन्नता पर भी बल दिया था। यही अर्थ-चित्र की कल्पना का आधार बना। विभिन्न बन्धो मे चित्र-काव्य की कल्पना का सूत्रपात सर्वप्रथम उक्त बन्धो की कल्पना करने वाले दण्डी ने ही किया, यद्यपि आदि आचार्य भरत की यमक-धारणा मे ही उसका बीज निहित था। परवर्ती आचार्यों ने बन्ध-बद्ध काव्य को शब्दालङ्कार से पृथक् सिद्ध करने का प्रयास किया है। रीतिकालीन आचार्य मुरारिदान ने 'जसवन्त भूषण' मे यह विचार व्यक्त किया है कि "प्राचीन कमलाकार, धनुषाकार इत्यादि रूप से काव्य लिखे जावे, उनको चित्र-काव्य कह कर शब्दालङ्कार के प्रभेद मानते है, सो भूल है, क्योंकि शब्द मे रह कर काव्य को शोभा करे वह शब्दालङ्कार है। सो उक्त काव्यो की लेख क्रिया काव्य को कुछ भी शोभा नही करती। यह तो अष्टावधानादि साधनवत् कवि की क्रिया-चातुरी मात्र है। ऐसे ही एकाक्षर काव्य को जानना चाहिए।"[३]

१. तुलनीय—भरत ना० शा० १६,५६ तथा दण्डी, काव्याद०, ३, १

२. नानाधात्वर्थगम्भीरा यमकव्यपदेशिनी।
प्रहेलिका साह्युदिता रामशर्माच्युतोत्तरे ॥
—भामह, काव्याल० २, १९

३. द्रष्टव्य—मुरारिदान, जसवन्त-भूषण, प्रस्तावना, पृ० ७९

मुरारिदान ने शब्द के अलङ्कार तथा चित्र-काव्य मे जो भेदक तत्त्व स्वीकार किया है वह सर्वमान्य नही हो सकता । उनकी मान्यता है कि शब्दालङ्कार शब्द मे रह कर काव्य मे सौन्दर्य का आधान करता है । वे सम्भवतः चित्रालङ्कार मे शब्दनिष्ठ काव्य शोभाकर धर्म नही मानते । किन्तु विचार करने से यह सिद्ध है कि चित्र-बन्धो मे भी शब्द-प्रयोग का चमत्कार ही प्रधान है । विशेष बन्ध मे वर्णो की विशेष प्रकार मे आवृत्ति अपेक्षित होती है । अत , मेरी मान्यता है कि चित्र-बन्ध शब्दगत यमक अलङ्कार से तत्त्वत भिन्न नही है । यह बात अवश्य है कि किसी चित्र-बन्ध मे वर्णो का विन्यास करने मे कवि को अधिक बौद्धिक व्यायाम करना पडता है, जिसके फलस्वरूप उसमे वह सौन्दर्य नही रह जाता, जो यमक या अनुप्रास के सरल भेदो के शब्द-प्रयोग मे रहता है । यमक के ये सरल रूप, भावानुरूप वर्ण-रचना के होने पर, रस के भी सहायक सिद्ध होते है, किन्तु चित्रो के नियमो से आबद्ध वर्णो के सायास विचित्र गुम्फन से रस-बोध बाधित हो जाता है, उस कौशल से बुद्धि भले चमत्कृत हो जाय । इसीलिए रस-ध्वनि के काव्य की आत्मा के रूप मे प्रतिष्ठित हो जाने पर चित्र को अधम-काव्य माना गया, किन्तु शब्दावृत्ति-रूप यमक एव वर्णावृत्ति-रूप अनुप्रास को काव्य-शोभा के अतिशय कारक के रूप मे सम्मान मिलना रहा । प्रहेलिका के सम्बन्ध मे यह कथन कि 'प्रहेलिका रस-विरोधी होने के कारण अलङ्कार नही है' प्रसिद्ध ही है—'रसस्य परिपन्थित्वात् नालङ्कार प्रहेलिका' । निष्कर्ष यह है कि चित्रबन्ध मूलत यमक के ही भेद है, किन्तु उसमे अधिक दुरूह एव नीरस बन गये है ।

आचार्य दण्डी ने यमक के असख्य भेद स्वीकार किये है और यह कहा है कि विस्तार के भय मे उनमे से कुछ दुष्कर यमक-प्रकार का ही विवेचन किया जाता है । किन्तु, उन प्रमुख भेदो का वर्णन ही इतना विस्तृत है कि उसकी साङ्गोपाङ्ग मीमासा प्रस्तुत प्रबन्ध का लेखक अनावश्यक मानता है । इन सभी भेदो मे स्वर-व्यञ्जन-सघात की आवृत्ति की विभिन्न प्रक्रिया का अध्ययन किया गया है । यहाँ उन भेदो का सक्षिप्त परिचय ही पर्याप्त होगा । वर्ण-सहति के अभ्यास का व्यवहित, अव्यवहित तथा व्यवहिताव्यवहित होने की दृष्टि से यमक के मुख्य तीन भेद माने गये है । पुन स्थान की दृष्टि से पाद के आदिगत, मध्यगत तथा अन्तगत—ये तीन भेद किये गये है । इन तीन भेदो के एक पादगत, द्विपादगत, त्रिपादगत तथा चतुष्पादगत भेद से निम्नलिखित बारह प्रकार हो जाते है :—(१) एकपाद के आदिगत,

(२) एक पाद के मध्यगत, (३) एकपाद के अन्तगत, (४) दो पादो के आदिगत, (५) दो पदो के मध्यगन, (६) दोपादो के अन्नगत, (७) तीन पादो के आदिगत, (८) तीनपादो के मध्यगत, (९) तीन पादो के अन्तगत, (१०) चार पदो के आदिगत, (११) चार पदो के मध्यगत तथा (१२) चार पादो के अन्तगत। ये बारह प्रकार अमिश्र यमक के है। मिश्र यमक के ग्यारह प्रकार माने जा सकते है। वर्णसमुदाय के अभ्यास मे स्थानो के मिश्रण की दृष्टि मे मुख्य पाँच भेद माने गये हे :—(क) आदि मध्यान्त, (ख) मध्यान्त, (ग) मध्यादि, (घ) आद्यन्त तथा (ङ) सब। इनमें मे आदिमध्यान्त का प्रथम तथा द्वितीय पाद मे, प्रथम तथा तृतीय मे एव प्रथम तथा चतुर्थ मे मिश्र आवृत्ति की दृष्टि से तीन भेद, मध्यान्त के—द्वितीय-तृतीय, द्वितीय-चतुर्थ तथा तृतीय-चतुर्थ पादगत भेद मे तीन प्रकार, मध्यादि का—प्रथम-द्वितीय-तृतीय—यह एक प्रकार, आद्यन्त का—प्रथम-द्वितीय-चतुर्थ, प्रथम-तृतीय-चतुर्थ तथा द्वितीय-तृतीय चतुर्थ, ये तीन प्रकार तथा सब का—प्रथम-द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ, यह एक ही भेद है। इस प्रकार सब मिल कर मिश्र यमक के उक्त ग्यारह प्रकार हो जाते है।[1] यह यमक के कुछ प्रमुख भेदो का दिग्दर्शन-मात्र है। दण्डी ने यह स्वीकार किया हे कि पादादि, पादमध्य तथा पादान्त यमक के व्यपेत, अव्यपेत तथा व्यपेताव्यपेत प्रकार की दृष्टि से तथा उनके मिश्र एव अमिश्र रूपो की दृष्टि से यमक के बहुल भेदो की कल्पना की जा सकती है।[2]

इस विवेचन के उपरान्त 'काव्यादर्श' मे सन्दष्ट एव समुद्ग यमको के लक्षण-उदाहरण दिये गये है। इनके लक्षण 'नाट्यशास्त्र' मे भी दिये गये है। भामह ने भी यमक के इन भेदों का उल्लेख किया है। दण्डी की एतद्विपयक धारणा पूर्वाचार्यो की धारणा के समान ही हे।

दण्डी ने यमक के एक श्लोकाभ्यास-भेद की कल्पना की है। इसमे सम्पूर्ण पद की अर्थभेद से आवृत्ति हो जाती है। दोनो श्लोको मे स्वर-व्यञ्जन सङ्घात का क्रम समान ही रहता है। अन्वय के लिए पदों का विच्छेद अलग-अलग ढङ्ग से कर लिया जाता है।

---

१. द्रष्टव्य—दण्डी, काव्याद० ३, १—३८

१. अत्यन्तबहवस्तेषा भेदा. सम्भेदयोनय. ।—दण्डी, काव्यद०, ३, ३

दण्डी का महायमक भरत के चतुर्व्यवसित यमक से अभिन्न है, जिसमें चारो पादो का स्वरूप समान रहता है ; अर्थात् एक ही पाद की चार बार आवृत्ति से एक द्विपक्तिबद्ध छन्द बन जाता है ।

'काव्यादर्श' का प्रतिलोम यमक दण्डी की मौलिक उद्भावना है । इसमे एक पाद मे विन्यस्त वर्णो को ठीक उलटे क्रम से दूसरे पाद मे सजाया जाता है ।

स्पष्ट है कि दण्डी की यमक-सम्बन्धी धारणा भरत तथा भामह की तद्विषयक धारणा से मूलतः अभिन्न है , फिर भी उसके नवीन भेदोपभेदो की उद्भावना की दृष्टि से दण्डी का महत्त्व असन्दिग्ध है ।

स्वभावोक्ति

दण्डी के स्वभावोक्ति अलङ्कार का स्वरूप भामह के काव्यालङ्कार मे निरूपित स्वभावोक्ति के स्वरूप से अभिन्न है । भामह की तरह दण्डी भी किसी वस्तु की विभिन्न अवस्थाओ—अवयव सस्थान, आकृति आदि—के स्फुट वर्णन मे स्वभावोक्ति अलङ्कार मानते है । इसका दूसरा व्यपदेश जाति भी है । प्रस्तुत अलङ्कार के स्वरूप-निर्धारण मे भामह से सहमत होने पर भी दण्डी ने काव्य मे इसके स्थान-निर्धारण मे सर्वथा मौलिक विचार व्यक्त किये है । उन्होने इसे 'आद्या अलङ्कृति' अर्थात् मुख्य अलङ्कार कहा है ।[1] वस्तुत काव्य में वस्तु-स्वभाव-वर्णन की स्फुटता का बहुत अधिक महत्त्व है । भामह ने सम्भवतः वक्रोक्ति के अभाव के कारण ही इसका अवमूल्यन करते हुए यह कह दिया था कि कुछ लोग स्वभावोक्ति को भी अलङ्कार मानते है । वक्रोक्तिवादी कुन्तक ने स्वभावोक्ति के अलङ्कारत्व का खण्डन कर उसका अलङ्कार्यत्व ही स्वीकार किया है ।[2] उसके अलङ्कारत्व या अलङ्कार्यत्व के सम्बन्ध मे हम उपयुक्त प्रसङ्ग मे विस्तार से विचार करेंगे । हमारी मान्यता है कि अलङ्कार या अलङ्कार्य किसी भी रूप मे स्वभावोक्ति के महत्त्व की उपेक्षा काव्य मे नहीं की जा सकती ।

---

१. नानावस्थं पदार्थाना रूप साक्षाद् विवृण्वती ।
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालङ्कृतिर्यथा ॥
—वही, २, ८, तुलनीय—भामह, काव्यालं० २, ९३

२. अलङ्कारकृता येषा स्वभावोक्तिरलङ्कृतिः ।
अलङ्कार्यतया तेषां किमन्यदवतिष्ठते ॥
—कुन्तक, वक्रोक्तिजी० १, ११

उपमा

'काव्यादर्श' मे उपमा का जो सामान्य लक्षण दिया गया है, वह भरत और भामह के उपमा-लक्षण से मिलता-जुलता है। दण्डी के अनुसार काव्य मे जहाँ उपमान और उपमेय मे गुण, क्रिया आदि धर्म के द्वारा स्फुट साधर्म्य का बोध होता है वहाँ उपमा अलङ्कार होता है।[१] दोनो मे साम्य की प्रतीति ही उपमा है। इस प्रकार पूर्वाचार्यों की तरह दण्डी भी काव्यगत चमत्कारपूर्ण सादृश्य मे उपमा अलङ्कार का सद्भाव स्वीकार करते है। उन्होने उपमा के निम्नलिखित भेदो का सोदाहरण उल्लेख किया है :—धर्मोपमा, वस्तूपमा, विपर्यासोपमा, अन्योन्योपमा, नियमोपमा, अनियमोपमा, समुच्चयोपमा, अतिशयोपमा, उत्प्रेक्षितोपमा, अद्भुतोपमा, मोहोपमा, सशयोपमा, निर्णयोपमा, श्लेषोपमा, समानोपमा, निन्दोपमा, प्रशसोपमा, आचिख्यासोपमा, विरोधोपमा, प्रतिषेधोपमा, चटूपमा, तत्त्वाख्यानोपमा, असाधारणोपमा, अभूतोपमा, असम्भावितोपमा, बहूपमा, विक्रियोपमा, मालोपमा, वाक्यार्थोपमा (एकेव शब्द-निबन्धना तथा अनेकेव शब्द-निबन्धना, दो प्रकार), प्रतिवस्तूपमा, तुल्ययोगोपमा तथा हेतूपमा।[२]

इनमे से निन्दोपमा तथा प्रशसोपमा भरत के एतत्सज्ञक उपमा-भेदो से अभिन्न है। अद्भुतोपमा, अभूतोपमा, असम्भावितोपमा तथा विक्रियोपमा की कल्पना का आधार भरत की उपमा का कल्पिता भेद है, जिसमे उपमान कल्पित या असिद्ध होता है। दण्डी के उक्त चार उपमा-प्रकारो मे उपमान कल्पित ही हुआ करते है। उदाहरणार्थ—दण्डी के अनुसार इस कथन मे—"ऐ सुन्दरी! यदि कमल आघूर्णित नेत्र से युक्त हो जाय तो वह तुम्हारी मुख-छवि की समता कर सकता है"—अद्भुतोपमा अलङ्कार होगा। यह कथन—"तुम्हारा मुख ससार के सभी कमलो के एकत्रीभूत प्रभा-सार के समान सुशोभित है"—उनके अनुसार अभूतोपमा का उदाहरण है। निम्नलिखित उक्ति मे—"इस मुख से कठोर वाणी, विधुमण्डल से विष तथा चन्दन से आग निकलने के समान है"—दण्डी असम्भव कथन के कारण असम्भावितोपमा मानते है। "ऐ तन्वङ्गी! तुम्हारा मुख चन्द्रमण्डल से उत्कीर्ण तथा कमल-मध्य

---

१. यथाकथञ्चित् सादृश्य यत्रोद्भूत प्रतीयते।
उपमा नाम सा .... ॥—दण्डी, काव्याद० २,१४

२. द्रष्टव्य—वही, २, १५-५०

से उद्धृत के समान है", इस कथन को दण्डी विक्रियोपमा का उदाहरण मानते है। उक्त उदाहरणो पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि उनमे उपमान असिद्ध या एकान्त-कल्पित है। उपमानभूत कमल मे आघूर्णित नयन की कल्पना, कमल की प्रभा के सार-समुच्चय से मुख का निर्मित होना, विधुमण्डल से विष तथा चन्दन से अग्नि का नि सृत होना, मुख का चन्द्रमण्डल से उत्कीर्ण तथा पद्मगर्भ से उद्धृत होना; ये सब असिद्ध कथन है। इस प्रकार उपरि-विवेचित चार अलङ्कार भरत की कल्पितोपमा-धारणा के आधार पर कल्पित है। अद्भुतोपमा से मिलती-जुलती धारणा भामह ने अतिशयोक्ति के एक उदाहरण मे व्यक्त की है।[1]

भामह के 'कव्यालङ्कार' मे निर्दिष्ट आचिख्यासोपमा तथा मालोपमा नामक उपमा-भेदों का भी उल्लेख दण्डी के उपमा-प्रकारो मे है। उनके स्वरूप के सम्बन्ध मे दण्डी की धारणा भामह की धारणा से अभिन्न है।

यह कहा जा चुका है कि दण्डी ने भामह के प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार का भी उल्लेख उपमा-भेद के रूप मे किया है। उनके स्वतन्त्र अलङ्कार अनन्वय तथा ससन्देह को दण्डी ने उपमा के ही भेदो मे अन्तर्भुक्त मान लिया है।[2] उक्त उपमाभेदो के अतिरिक्त जो नवीन भेद 'काव्यादर्श' मे परिगणित है, उनके उद्भव का परीक्षण प्रसङ्गानुकूल यहाँ अपेक्षित है।

धर्मोपमा तथा वस्तूपमा —उपमा के चार अङ्ग है—उपमेय, उपमान, साधारण धर्म तथा वाचक शब्द। साधारण धर्म कही उक्त हो सकता है कही अनुक्त। अनुक्त होने पर धर्म प्रतीयमान होना है। इसमे धर्मी वाच्य होता है, धर्म प्रतीयमान। इस प्रकार धर्म के वाच्य होने पर धर्मोपमा तथा उसके अनुपात्त या प्रतीयमान होने पर वस्तूपमा, ये दो उपमा-भेद हो जाते है।[3] भरत के किञ्चित्-सदृशी उपमा-भेद मे वस्तूपमा-धारणा का बीज निहित था। किञ्चित्-सदृशी उपमा के उदाहरण के व्याख्यान के क्रम मे अभिनव गुप्त ने यह मान्यता व्यक्त की है कि इसमे सादृश्य का बोधक पद स्फुटतया उक्त नही होता,

१. अपा यदि त्वक् शिथिला च्युता स्यात् फणिनामिव।
तदा शुक्लाशुकानि स्युरङ्गेष्वम्भसि योषिताम्॥
—भामह, काव्याल० २, ८३

२. अनन्वय-ससन्देहावुपमास्वेव दर्शितौ।—दण्डी, काव्याद० २, ३५८

३ "इति धर्मोपमा साक्षात् तुल्यधर्मप्रदर्शनात्। तथा—
....इय प्रतीयमानैकधर्मा वस्तूपमैव सा॥—वही २, १५-१६

समस्त पद से ही सादृश्य की प्रतीति हो जाती है ।[1] इस प्रकार वाचकलुप्ता, धर्मलुप्ता आदि उपमा का समावेश भरत के उक्त उपमा-भेद में ही था, जिसके आधार पर नाम-भेद से दण्डी ने वस्तूपमा की कल्पना कर ली। धर्मोपमा की धारणा तो भरत तथा भामह के सामान्य उपमा-लक्षण मे ही व्यक्त थी ।

विपर्यासोपमा—'काव्यादर्श' मे उल्लिखित विपर्यासोपमा उपमा का एक नवीन भेद है। इसमे प्रसिद्ध उपमान तथा उपमेय मे विपर्यय की कल्पना कर ली जाती है । मुख, नेत्र आदि प्रसिद्ध उपमेय उपमान के रूप मे कल्पित हो जाते है तथा उनके प्रसिद्ध उपमान चन्द्रमा, नीलकमल आदि उपमेय मान लिये जाते है । इस प्रसिद्धि के विपर्यय का आधार कवि-कल्पना है। वामन ने इसे ही कल्पितोपमा कहा है ।[2] अत यह माना जा सकता है कि भरत की कल्पितोपमा मे ही इस उपमा-भेद की कल्पना की सम्भावना निहित थी ।

अन्योन्योपमा:—दण्डी की अन्योन्योपमा भामह की उपमेयोपमा से अभिन्न है। भामह ने उपमेयोपमा को स्वतन्त्र अलङ्कार माना था, किन्तु दण्डी ने उसे नाम-भेद से उपमा अलङ्कार का ही भेद स्वीकार किया है। वस्तुत. इसे पृथक् अलङ्कार मानने की आवश्यकता नही थी। यह उपमा से तत्त्वतः अभिन्न है ।

नियमोपमा:—एक उपमेय के अनेक उपमानो की सत्ता होने पर कुछ के उपमानत्व का निषेध कर किसी विशेष वस्तु के उपमानत्व का नियमन ही नियमोपमा है । बहुत उपमानो के सद्भाव मे उपमेय का उत्कर्ष कम हो जाता है । जिसके समान बहुत हो उसका क्या वैशिष्ट्य ? अतः उनमें से कुछ के उपमानत्व का निषेध करने से उपमेय का उत्कर्ष-साधन होता है । यह दण्डी की मौलिक कल्पना है ।

अनियमोपमा—यह नियमोपमा का विपरीत-धर्मा है। इसमे उपमेय के लिए विशेष उपमान के नियम का अभाव स्वीकार किया गया है। इसकी कल्पना नियमोपमा की अभावात्मक सत्ता के साथ भरत के 'एकस्यानेकेन' उपमा-भेद के योग के आधार पर हुई है। 'एकस्यानेकेन' उपमा में भरत ने एक उपमेय का अनेक उपमानो के साथ साधर्म्य-निरूपण वाञ्छनीय माना है ।

---

१. यत्र सादृश्यगमक स्फुट पद नास्ति न च सर्वात्मना रूपक इव वस्तु-द्वयमीलन तेन समासव्यङ्ग्या किञ्चित्सदृशीत्युक्ता ।
—अभिनव, ना० शा० अ० भा० पृ० ३२४

२. द्रष्टव्य—वामन, काव्याल० सू० पृ० १८८

दण्डी के प्रस्तुत उपमाभेद मे भी उपमान का अनियम होने से एक उपमेय के अनेक उपमान हुआ करते है।

समुच्चयोपमा.—यह दण्डी के द्वारा कल्पित उपमा का नवीन भेद है। इसमे उपमेय की उपमान के साथ अनेक धर्मो से समता दिखायी जाती है।[1] इसके तीन भेद हो सकते है—क्रिया-समुच्चय से प्रतिपादित साम्य के आधार पर क्रियागत समुच्चयोपमा, गुण-समुच्चय के आधार पर गुण-समुच्चयोपमा तथा गुण-क्रिया-समुच्चय से साम्य-प्रतिपादन मे गुण-क्रिया-समुच्चयोपमा। भरत ने प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत की सख्या के आधार पर उपमा के चार भेद स्वीकार किये थे, किन्तु उन्होने एक प्रस्तुत के एक ही अप्रस्तुत के साथ अनेक धर्मो के द्वारा सम्बन्ध-निरूपण पर पृथक् विचार नही किया था। सम्भव है कि दण्डी ने प्रस्तुत-अप्रस्तुत की सख्या के आधार पर निरूपित भरत के उपमा-भेदो से ही प्रेरणा पाकर उपमेय तथा उपमान के बीच अनेक गुणो, अनेक क्रियाओ एव अनेक गुणक्रियाओ का साम्य प्रतिपादित करनेवाले समुच्चयोपमा नामक उपमा-भेद की कल्पना कर ली हो।

अतिशयोपमा.—अतिशय चमत्कारी उपमा की कल्पना को अतिशयोपमा कहा गया है। मुख और चन्द्रमा मे केवल आश्रय का भेद है, गुण, क्रिया आदि का कोई भेद नही। इस विवक्षा मे यह कथन "तुम्हारा मुख तुम मे ही दिखाई पडता है, चन्द्रमा आकाश मे दीखता है, यही दोनो का भेद है, अन्य नही,"[2] अतिशयोपमा का उदाहरण माना गया है। उपमा अलङ्कार के साथ भरत के अतिशय लक्षण के योग से प्रस्तुत उपमा-भेद की उत्पत्ति हुई है।

उत्प्रेक्षितोपमा —उत्प्रेक्षा तथा उपमा के तत्त्वो को मिलाकर इस नवीन उपमा-भेद की कल्पना की गई है। उपमान मे वस्तुत नही रहनेवाले धर्म की सम्भावना कर अर्थात् उस धर्म का अतात्त्विक रूप से आरोप कर जहाँ उपमा दी जाती है वहाँ दण्डी उत्प्रेक्षितोपमा नामक उपमा-भेद मानते है। भामह ने इस उपमा-भेद की पृथक् कल्पना नही की थी। उनकी उत्प्रेक्षा-धारणा तथा उपमा-धारणा मे ही इस उपमा-भेद का बीज निहित था। दण्डी के परवर्ती आचार्यों ने इसे सम्बन्धातिशयोक्ति नामक अतिशयोक्ति-भेद माना है।[3]

---

१. द्रष्टव्य—दण्डी, काव्याद० २, २१

२. त्वय्येव त्वन्मुख दृष्ट दृश्यते दिवि चन्द्रमा।
इयत्येव भिदा नान्येत्यसावतिशयोपमा॥—वही, २, २२

३. तुलनीय—दण्डी, काव्याद० २, २३ तथा अप्पय दी०, कुवलया० ३९

मोहोपमा:—भ्रमात्मक ज्ञान पर अवलम्बित उपमा को मोहोपमा कहा गया है। किसी वस्तु मे उससे भिन्न वस्तु का ज्ञान मोह कहा जाता है। अत. मोह भ्रान्त ज्ञान है। अत्यन्त सादृश्य के कारण उपमेय मे उससे भिन्न उपमान का भ्रम इसके उदाहरण मे दिखाया गया है। भ्रमात्मक ज्ञान की धारणा नवीन नही है। उपनिषदो एव दर्शन-ग्रन्थो मे ज्ञान-मीमासा के क्रम मे मनीषियो ने तत्त्व-ज्ञान के साथ सशयात्मक एव भ्रमात्मक ज्ञान पर भी विचार किया है। काव्यात्मक सौन्दर्य की सृष्टि करने वाले सशय को दण्डी के पूर्व भामह ने ही स्वतन्त्र काव्यालङ्कार होने का गौरव प्रदान कर दिया था, किन्तु भ्रम को वह गौरव दण्डी के 'काव्यादर्श' तक भी प्राप्त नही हो सका। उन्होने प्रस्तुत उपमा-भेद मे काव्यालङ्कार मे भ्रमात्मक ज्ञान की सत्ता अवश्य स्वीकार की है। भरत के मिथ्याध्यवसाय लक्षण के प्राप्त एक पाठ मे सन्देह मे विचार के अन्यथाभाव-कल्पन पर बल दिया गया है।[1] अभिनव ने उसकी टीका मे सन्देह से भ्रम का अभिप्राय स्वीकार किया है।[2] स्पष्ट है कि भ्रम-मूलक ज्ञान पर अवलम्बित अलङ्कार-धारणा का मूल 'नाट्यशास्त्र' की उक्त लक्षण-धारणा मे ही था। उससे उपमा-धारणा को मिला कर उपमा-भेद मोहोपमा की कल्पना कर ली गई। परवर्ती आचार्यो ने इसे भ्रान्तिमान व्यपदेश मे पृथक् अलङ्कार स्वीकार किया है।

निर्णयोपमा:—इस उपमा-भेद मे सादृश्य के कारण प्रस्तुत वस्तु में अप्रस्तुत वस्तु के द्वैकोटिक सशयात्मक ज्ञान के होने पर निष्कर्ष-रूप मे सत्य का निर्णयात्मक आख्यान होता है। इसका मूल सशयात्मक ज्ञान है जिसमे अन्तत तथ्य का निश्चय हो जाता है। परवर्ती आचार्यो ने इसे सन्देह का ही निश्चयान्त भेद मान लिया है। इसकी स्वरूप-सघटना भामह की ससन्देह अलङ्कार-धारणा तथा भरत की आख्यान-लक्षण-धारणा के मिश्रण मे हुई है।[3] निर्णय का तत्त्व आख्यान-लक्षण से तथा सन्देह का तत्त्व ससन्देह से गृहीत है।

---

१ द्रष्टव्य—भरत, ना० शा० १६, १६

२. 'सन्देहोऽत्र भ्रम, अथवा अन्यथाभावो विपर्यय'।'
—अभिनव, ना० शा० अ० भा० पृ० ३०८

३. आख्यान लक्षण मे तत्व-निर्णय पर बल दिया गया है,
द्रष्टव्य—भरत, ना० शा० १६, २१

श्लेषोपमा—भामह के श्लिष्ट अलङ्कार के आधार पर प्रस्तुत उपमा-भेद की कल्पना की गई है। इसमे उपमेय तथा उपमान का युगपत् अभिधान होता है। भामह ने भी श्लिष्ट मे ठीक ऐसी ही धारणा व्यक्त की है।[१]

समानोपमा.—प्रस्तुत उपमा-भेद का आधार शब्दगत समता है। समान शब्द से अभिहित होने मात्र से प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत मे सादृश्य मान लिया गया है। इसके स्वरूप-निर्धारण मे विषय एव विषयी के बीच धर्म-साम्य पर किञ्चित् मात्र भी ध्यान नही रखा गया है। दण्डी के द्वारा प्रदत्त उदाहरण द्रष्टव्य है—"यह साल-वृक्ष के वन से सुशोभित उद्यानमाला केशो से युक्त मुख वाली सुन्दर युवती के समान सुशोभित है।"[२] अर्थ पर ध्यान देने से यह उपमा हास्यास्पद जान पडती है। कहाँ विशाल साल वृक्षो से युक्त सघन उद्यान और कहाँ एक सुन्दरी बाला! दोनो मे कुछ भी धर्म-साम्य नही। दोनो मे उपमानोपमेय भाव की कल्पना का एकमात्र आधार है दोनो के लिए समान विशेषण का प्रयोग। उद्यानमाला 'सालकाननशोभिनी' (साल के कानन से सुशोभित) है तथा बाला भी 'सालकाननशोभिनी' (स+अलक+आनन+शोभिनी अर्थात् अलक युक्त आनन से सुशोभित) है। दण्डी के पूर्ववर्ती आचार्यो ने इस प्रकार की उपमा की कल्पना नही की थी। वस्तुत इसे उपमा का भेद मानना युक्तिसङ्गत भी नही है। उपमा मे दो वस्तुओ मे धर्म का साम्य अवश्य होना चाहिए। अन्यथा उपमा से प्रस्तुत की प्रभाव-वृद्धि नही हो सकती और इस प्रकार उस अलङ्कार का उद्देश्य ही विफल हो जाता है। दण्डी ने ऐसे धर्म-निरपेक्ष केवल शब्दगत सारूप्य मे भी उपमा की सत्ता मानने के कारण ही उपमा के सामान्य लक्षण मे 'यथाकथञ्चित् सादृश्य-प्रतीति' मे उपमा का सद्भाव स्वीकार किया है। काव्य मे केवल शब्द-चमत्कार को श्रेयस्कर नही मानकर उसमे भाव की प्रधानता स्वीकार करने वाला आलोचक समानोपमा को अर्थालङ्कार नहीं मानेगा। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की यह उचित मान्यता है कि "यह दूसरे प्रकार की (आलङ्कारिक) रूप-योजना या व्यापार-योजना किसी और (प्रस्तुत) रूप के प्रभाव को बढाने के लिए ही होती है, अतः इसमे लाये हुए रूप या व्यापार ऐसे ही होने चाहिएँ जो प्रभाव में उन प्रस्तुत रूपो या व्यापार के

१ तुलनीय—भामह, काव्याल० ३, १४ तथा दण्डी, काव्याद० २, २८

२ 'बालेवोद्यानमालेय सालकाननशोभिनी।'—दण्डी, काव्याद०, २, २६

समान हो।"[१] इस दृष्टि से विचार करने पर समानोपमा मे प्रस्तुत के प्रभाव की अभिवृद्धि की क्षमता नही होने के कारण उसका उपमा-प्रकार मे परिगणन स्वीकार्य नही। इसीलिए परवर्ती आचार्यो ने इसकी सत्ता अस्वीकार कर दी है। उक्त उदाहरण मे श्लेष अलङ्कार मानना ही उचित जान पड़ता है।

विरोधोपमा – विरोधोपमा मे विरोध का पर्यवसान सादृश्य मे हो जाता है। दण्डी ने विरोध नामक पृथक् अलङ्कार भी स्वीकार किया है, जिसमे आपाततः वर्णित विरोध अविरोध मे पर्यवसित हो जाता है। विरोधोपमा मे विरोध अलङ्कार का भी तत्त्व है और उपमा का भी। विरोध का उल्लेख भामह ने भी किया है। स्पष्ट है कि पूर्ववर्ती आचार्य भामह की विरोधालङ्कार-धारणा से उपमा-धारणा को मिला कर दण्डी ने उपमा के इस नवीन भेद का सृजन कर लिया।

प्रतिषेधोपमा—वैशिष्ट्य-प्रतिपादन के लिए उपमेय मे उपमान के सादृश्य का निषेध प्रतिषेधोपमा मे वाञ्छनीय माना गया है। इसकी कल्पना भामह के व्यतिरेक के आधार पर की गयी है। उपमान के सादृश्य-प्रतिषेध का उद्देश्य उससे उपमेय का उत्कर्ष-प्रतिपादन है। भामह ने उपमान से उपमेय के प्रकर्ष-साधन मे व्यतिरेक अलङ्कार स्वीकार किया था।[२] दण्डी की प्रतिषेधोपमा-धारणा उससे मिलती-जुलती है। इसलिए परवर्ती आचार्यो ने इसे उपमा-भेद नही मान कर व्यतिरेक मे ही समाविष्ट कर लिया।

चटूपमा—उपमेय के लिए प्रिय वचन के प्रयोग के कारण इसे चटूपमा कहा गया है। इसके मूल में विशेषोक्ति अलङ्कार रहता है। उपमेय से उपमान मे उत्कर्ष-हेतु के होने पर भी उत्कर्ष का प्रतिपादन इसमे नही होता। इससे स्पष्ट है कि भामह के प्रेय तथा विशेषोक्ति अलङ्कारो से तत्त्व-ग्रहण कर प्रस्तुत उपमा-भेद का स्वरूप-विन्यास हुआ है।[3]

तत्त्वाख्यानोपमा—तत्त्वाख्यानोपमा का स्वभाव निर्णयोपमा के समान है। अन्तर इतना है कि निर्णयोपमा मे सशयात्मक ज्ञान की स्थिति मे तत्त्व

---

१. रा० च० शुक्ल, त्रिवेणी, पृ० ९३

२. उपमानवतोऽर्थस्य यद्विशेषनिदर्शनम्।
व्यतिरेक तमिच्छन्ति विशेषापादनाद्यथा॥
—भामह, काव्याल० २, ७५

३. द्रष्टव्य—दण्डी, काव्याद० २, ३५,—भामह, काव्याल० ३ ५ तथा ३, २३ से तुलना करें।

का आख्यान होता है, पर तत्त्वाख्यानोपमा मे भ्रमात्मक ज्ञान की स्थिति मे भ्रम-निवारणार्थ तथ्य का आख्यान होता है। प्रस्तुत उपमा-प्रकार के स्वरूप-निर्धारण के लिए भरत के मिथ्याध्यवसाय लक्षण से भ्रम का तत्त्व तथा आख्यान लक्षण से तथ्य-कथन का तत्त्व लिया गया है।

बहूपमा —इसमे एक उपमेय के लिए बहुत-से उपमानो का कथन होने के कारण इसे बहूपमा कहा गया है। भरत के उपमान-सख्या पर आधृत उपमा-भेद 'एकस्यानेकेन' से यह अभिन्न है। मालोपमा मे भी एक प्रस्तुत के अनेक अप्रस्तुत वर्णित होते है, किन्तु दण्डी ने इन दोनो मे किञ्चित् भेद माना है। माला मे गुम्फित पुष्प, जैसे एक-दूसरे से सम्बद्ध रहते है, उसी प्रकार मालोपमा मे एक उपमान अपर उपमान से सम्बद्ध रह कर चमत्कार उत्पन्न करता है। बहूपमा मे एक उपमेय के अनेक उपमान परस्पर निरपेक्ष भाव से रहते है। इन दोनो का भेदक तत्त्व धीरे-धीरे लुप्त हो गया और परवर्ती आचार्यो ने उक्त दोनो स्थितियो मे मालोपमा ही स्वीकार कर ली। बहूपमा अपनी पृथक् सत्ता खोकर मालोपमा मे ही विलीन हो गयी।

वाक्यार्थोपमाः—इसमे सम्पूर्ण वाक्य के अर्थ का अन्य वाक्य के अर्थ के साथ सादृश्य दिखाया जाता है। इसकी कल्पना भरत के उदाहरण लक्षण तथा उपमा अलङ्कार के प्रमुख तत्त्वो के योग पर अवलम्बित है। उदाहरण लक्षण के प्राप्त पाठान्तर मे तुल्य अर्थ वाले वाक्य के प्रदर्शन से उद्देश्य की सिद्धि पर बल दिया गया है।[1] तुल्यार्थ-युक्त वाक्य की कल्पना वाक्यार्थोपमा मे भी है। उदाहरण लक्षण मे उपमानोपमेय की धारणा के मिश्रण से प्रस्तुत उपमा-भेद का आविर्भाव हुआ है।

तुल्ययोगोपमा·—समान जातीय क्रिया से प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत का साम्य-वर्णन तुल्ययोगोपमा है। दण्डी के अनुसार इसमे न्यून गुण वाली वस्तु को अधिक गुण वाली वस्तु के सदृश बना कर एक-जातीय क्रिया से इसका वर्णन किया जाता है।[2] यह धारणा भामह की तुल्ययोगिता-धारणा से अभिन्न है।

---

१ यत्र तुल्यार्थयुक्तेन वाक्येनाभिप्रदर्शनात्।
साध्यन्ते निपुणैरर्थास्तदुदाहरणं स्मृतम्॥
—अभिनव, ना० शा० अ० भा०, पृ० ३०४

२. अधिकेन समीकृत्य हीनमेकक्रियाविधौ।
यत् ब्रुवन्ति स्मृता सेयं तुल्ययोगोपमा यथा॥
—दण्डी, काव्याद० २,४८

भामह की तुल्ययोगिता को उक्त सज्ञा मे उपमा-भेद मान कर दण्डी ने तुल्ययोगिता का स्वरूप किञ्चित् भिन्न रूप से निर्धारित किया है।

हेतूपमा:—इसमे एक उपमेय के अनेक उपमान उल्लिखित होते है और उनके साथ उपमेय के सादृश्य का हेतु वर्णित होता है। भरत ने हेतु नामक लक्षण का उल्लेख किया है।[1] उसके साथ एक उपमेय के लिए अनेक उपमान वाली उनकी धारणा को मिला कर हेतूपमा की कल्पना कर ली गयी है।

निष्कर्ष यह है कि दण्डी ने उपमा के जितने भेदोपभेद स्वीकार किये हैं वे सभी परम्परा से विच्छिन्न, नितान्त मौलिक सृष्टि नही है। पूर्ववर्ती आचार्यो के तत्तदलङ्कारो की धारणा तथा भरत की कुछ लक्षण-धारणा के आधार पर उनमे से अधिकाश के स्वरूप की रचना की गयी है। उद्गम-स्रोत की दृष्टि से दण्डी के उपमा-प्रकारो को निम्नलिखित वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है —

(क) नाट्यशास्त्र मे गृहीत उपमा-भेद—प्रशसोपमा तथा निन्दोपमा नामक उपमा-भेद इस वर्ग मे आते है, जो उन्ही नामो मे स्वीकृत है। भरत की सदृशी उपमा नाम-भेद से गृहीत है। दण्डी ने उसे असाधारणोपमा कहा है।

(ख) भरत के उपमा-भेद के आधार पर किञ्चित् भेद के साथ कल्पित उपमा-भेद.—इस वर्ग के अद्भुतोपमा, अभूतोपमा, असम्भावितोपमा, विक्रियोपमा, उत्प्रेक्षितोपमा आदि उपमा-भेद भरत की कल्पितोपमा के आधार पर तथा मालोपमा, बहूपमा आदि उपमान-सख्या की दृष्टि से किये गये 'एकस्यानेकेन' भेद के आधार पर कल्पित है।

(ग) भामह के स्वतन्त्र अलङ्कार उपमा-भेद मे अन्तर्भुक्त—भामह के ससन्देह, उपमेयोपमा, श्लेष, तुल्ययोगिता आदि स्वतन्त्र अलङ्कारो को क्रमश: सशयोपमा, अन्योन्योपमा, श्लेषोपमा, तुल्ययोगोपमा आदि सज्ञा से उपमा-भेद मे ही परिगणित कर लिया गया है।

(घ) भामह के काव्यालङ्कार मे निर्दिष्ट उपमा-भेद स्वीकृत·—मालोपमा, आचिख्यासोपमा आदि उपमा-भेदों का नामोल्लेख भामह ने भी किया था। वे उपमा-भेद 'काव्यादर्श' मे सोदाहरण प्रतिपादित है।

---

१. द्रष्टव्य—भरत, ना० शा० १६, १४ का पाठान्तर, अभिनवभारती, पृ० ३०७

(ङ) भरत की लक्षण-धारणा तथा अलङ्कार-धारणा के योग से निर्मित.—मोहोपमा, हेतूपमा, चटूपमा आदि मे विभिन्न लक्षणो का तत्त्व मिश्रित है।

(च) नियमोपमा दण्डी की मौलिक कल्पना है।

रूपक

दण्डी के रूपक का सामान्य स्वरूप भामह के रूपक के स्वरूप के समान है, किन्तु भरत एव भामह के दो रूपक-प्रकारो के स्थान पर दण्डी ने बहुल भेदो की कल्पना कर ली है। उन भेदो के स्रोत का अन्वेषण वाञ्छनीय है।

'काव्यादर्श' मे रूपक के निम्नलिखित भेद उल्लिखित है.—समस्तरूपक, असमस्तरूपक, समस्तव्यस्तरूपक, सकलरूपक, अवयवरूपक, अवयविरूपक, (एकाङ्गरूपक, द्व्यङ्ग, त्र्यङ्ग आदि तथा युक्त, अयुक्त अवयवरूपक के उपभेद), विषमरूपक, सविशेषणरूपक, विरुद्धरूपक, हेतुरूपक, श्लिष्टरूपक, उपमारूपक, व्यतिरेकरूपक, आक्षेपरूपक, समाधानरूपक, रूपकरूपक तथा तत्त्वापह्नवरूपक। रूपक के इन भेदोपभेदो का निरूपण कर दण्डी ने यह मान्यता व्यक्त की है कि ये कुछ मुख्य भेद वर्णित है, रूपक के और भी अनेक भेद हो सकते है।[1]

समस्त, व्यस्त तथा समस्तव्यस्तरूपक:—दण्डी के द्वारा कल्पित रूपक के ये नवीन भेद है। जहाँ रूपक मे आरोप के विषय एव विषयी के वाचक पदो का समास हो जाने पर विभक्ति का लोप हो जाता है वहाँ समस्त रूपक होता है। पृथक्-पृथक् विभक्ति का सद्भाव रहने पर व्यस्तरूपक माना जाता है। इन दोनो के मेल से तीसरा भेद समस्तव्यस्तरूपक बनता है।[2] इसमे समस्त पद भी रहते है, और पृथक् विभक्तियुक्त व्यस्त पद भी। रूपक के उक्त भेदो की कल्पना व्याकरण के नियमानुसार होने वाले पदो के समास के आधार पर की गयी है।

सकलरूपक तथा अवयवरूपक—दण्डी के ये रूपक-भेद भामह के क्रमश समस्तवस्तुविषय तथा एकदेशविवर्त्तिरूपक से अभिन्न है। एक-अङ्ग, द्व्यङ्ग, त्र्यङ्ग आदि अवयवरूपक के ही उपभेद है, जिनकी उत्पत्ति का बीज भामह के एकदेशविवर्त्तिरूपक की सामान्य धारणा मे ही निहित था। युक्त तथा अयुक्त भेद का आधार वस्तुओ के सम्बन्ध की योग्यता तथा अयोग्यता है।

---

१. द्रष्टव्य—दण्डी, काव्याद० २, ६६-९६

२ द्रष्टव्य—दण्डी, काव्याद० २, ६६—६८

अवयविरूपक:—यह दण्डी का नवीन रूपक-प्रकार है। उसमे केवल अवयवी पर आरोप होता है, अवयव पर नही। अत परवर्ती आचार्यो ने इसे निरङ्गरूपक कहा है।

विषमरूपक.—जहाँ अङ्गी पर आरोप हो तथा कुछ अङ्गो पर आरोप का सद्भाव एव अन्य अङ्गो पर उसका अभाव हो वहा 'विषम' नामक रूपक-भेद माना गया है।[1] यह रूपक-भेद दण्डी की नवीन कल्पना है।

सविशेषणरूपक:—यह दण्डी की स्वतन्त्र उद्भावना है। विशेषण-युक्त अप्रस्तुत का प्रस्तुत पर अभेदारोप सविशेषणरूपक माना गया है। हेमचन्द्र के अनुसार भरत ने उदारता-गुण की परिभाषा मे अनेकार्थ विशेषण वाले पदो के प्रयोग पर बल दिया है। सम्भवत दण्डी ने विशेषण-प्रयोग की धारणा उक्त गुण-लक्षण से ली और रूपक-अलङ्कार की अभेदारोप-धारणा के साथ उसे मिला कर रूपक के उक्त भेद की कल्पना कर ली।

विरुद्धरूपक—भामह की विरोधालङ्कार-धारणा से रूपक-धारणा को मिला कर प्रस्तुत रूपक-प्रकार की कल्पना कर ली गयी है।

हेतुरूपक:—दण्डी की हेतूपमा के स्रोत का अन्वेषण करते हुए हम हेतु लक्षण से हेतु-धारणा का आविर्भाव सिद्ध कर चुके है। उसी हेतु से रूपक-धारणा का सयोग कर दण्डी ने 'हेतुरूपक' नामक रूपक-भेद की सृष्टि की है।

श्लिष्टरूपक:—इसमें भामह के श्लिष्ट अलङ्कार तथा रूपक के तत्त्वो का मिश्रण है।

उपमारूपक:—भामह के उपमारूपक अलङ्कार से प्रस्तुत उपमाभेद अभिन्न है। भामह ने उपमारूपक को स्वतन्त्र अलङ्कार माना था, किन्तु दण्डी ने उसे रूपक का ही एक प्रकार स्वीकार किया है। यह रूपक उपमा से अनुप्राणित होता है। इसे स्वतन्त्र अलङ्कार मानने की अपेक्षा रूपक का अङ्ग मानना ही अधिक युक्ति-सङ्गत जान पडता है।

व्यतिरेकरूपक:—यह व्यतिरेकमूलक रूपक है। इसके स्वरूप का निर्माण व्यतिरेक तथा रूपक के तत्त्वों के योग से हुआ है।

आक्षेपरूपक.—रूपक के प्रस्तुत भेद के सृजन मे भामह के आक्षेप तथा रूपक अलङ्कारो के विधायक तत्त्वो ने योग दिया है। यह आक्षेपपूर्वक रूपक है।

---

१. रूपणादङ्गिनोऽङ्गाना रूपणारूपणाश्रयात्।
रूपक विषम नाम ललित जायते यथा ॥—दण्डी, काव्याद० २, ७६

समाधानरूपक:—दण्डी का यह नवीन रूपक-भेद है। इसके स्वरूप-सङ्घटन मे भरत के उपपत्ति लक्षण से तत्त्व ग्रहण किया गया है। इसमे किसी आरोप्यमान के विरुद्ध कार्य का वर्णन करते हुए उसके हेतु का उल्लेख कर सम्भावित शङ्का का वक्ता स्वय समाधान कर देता है।[1] उपपत्ति लक्षण की परिभाषा मे भरत ने कहा है कि इसमे प्राप्त दोष का पुन. शमन किया जाता है।[2] इस लक्षण-धारणा से रूपक-धारणा को मिला कर उक्त रूपक-भेद की कल्पना की गयी है।

रूपकरूपक.—एक रूपक के आधार पर पुन रूपक की कल्पना रूपक-रूपक है। इसमे प्रस्तुत पर अप्रस्तुत का आरोप कर एक रूपक सम्पन्न होता है। पुन' उस सम्पूर्ण पदार्थ पर अन्य वस्तु का आरोप होता है। यह रूपक-मूलक रूपक है।

तत्त्वापह्नवरूपक.—तत्त्वापह्नव रूपक की कल्पना का आधार अपह्नुति अलङ्कार एव रूपक की समन्वित धारणा है। परवर्ती आचार्यों ने इसे अपह्नुति मे ही अन्तर्भूत मान लिया है।

स्पष्ट है कि दण्डी की रूपक-धारणा पूर्ववर्ती आचार्यो की तद्विषयक धारणा से तत्त्वत अभिन्न है। उपमा, रूपक, व्यतिरेक, अपह्नुति आदि अलङ्कारो से अनुप्राणित रूपक को उपमारूपक, रूपकरूपक, व्यतिरेकरूपक, तत्त्वापह्नवरूपक आदि व्यपदेश से रूपक के विभिन्न भेद मान लिया गया है। इन भेदो की पृथक् कल्पना आवश्यक नही जान पडती। एक अलङ्कार से अनुप्राणित दूसरे अलङ्कार एकत्र रह सकते है। सकलरूपक एव अवयवरूपक पूर्ववर्ती आचार्य भामह के क्रमशः समस्तवस्तुविषय एव एकदेशविवर्ति रूपक-भेदो से अभिन्न है। अवयवीरूपक, विषमरूपक आदि की कल्पना मे कुछ मौलिकता अवश्य है। समाधानरूपक का स्वरूप उपपत्ति लक्षण के आधार पर कल्पित है। दण्डी ने रूपक के और भी भेदोपभेदो की सम्भावना स्वीकार की है।

---

१. द्रष्टव्य—दण्डी, काव्याद०, २, ९२

२. प्राप्ताना यत्र दोषाणा क्रियते शमन पुन'।
सा ज्ञेया ह्युपपत्तिस्तु लक्षण नाटकाश्रयम्॥
—भरत, ना० शा० १६, ३५

दीपक

दण्डी की सामान्य दीपक-धारणा भरत की तद्विषयक धारणा के ही समान है।[१] जाति, गुण, क्रिया या द्रव्य का वाचक शब्द एकत्र रह कर अनेक वाक्यों में अन्वित हो, अर्थ का दीपन करता है। अतः दीपक अन्वर्थ अभिधान है। आदि, मध्य तथा अन्त के दीपन के आधार पर भामह ने इसके तीन भेद स्वीकार किये थे। दण्डी के द्वारा भामह के उक्त तीन दीपक-भेद स्वीकृत हैं। इन भेदों के अतिरिक्त दीपक के निम्नाङ्कित अपर भेद भी 'काव्यादर्श' में विवेचित है—मालादीपक, विरुद्धार्थदीपक, एकार्थदीपक तथा श्लिष्टार्थदीपक।

मालादीपक में दीपकों की माला की कल्पना है। उपमा तथा रूपक के माला-भेद की चर्चा हो चुकी है। उसी माला-धारणा को दीपक-धारणा से मिला कर मालादीपक की कल्पना कर ली गयी है।

विरुद्धार्थदीपक में विरुद्धार्थक क्रिया आदि का उल्लेख होता है। स्पष्टतः इस दीपक-भेद की कल्पना में दीपक के साथ भामह के विरोध अलङ्कार के स्वरूप को ध्यान में रखा गया है।

एकार्थदीपक में अनेक शब्दों का उपादान होने पर भी वे सब एक ही क्रिया का दीपन करते हैं, अर्थात् कर्तृपद के साथ अनेक शब्द अर्थतः अभिन्न क्रियापद का अन्वय कराते हैं। समान अर्थ के लिए अनेक शब्दों के प्रयोग की धारणा भरत के पदोच्चय लक्षण में ली गयी है, जिसमें धर्म का अभिधान एकतात्पर्यनिष्ठ बहुत-से शब्दों के द्वारा होता है।[२] उक्त लक्षण के तत्त्व का दीपक में सयोग होने से एकार्थदीपक नामक दीपक-भेद का आविर्भाव हुआ है।

श्लिष्टार्थदीपक श्लेषमूलक दीपक है। इसकी सज्ञा से ही स्पष्ट है कि दीपक के इस प्रकार की कल्पना में भामह के श्लेष अलङ्कार से तत्त्व ग्रहण किया गया है।

निष्कर्षतः, दण्डी दीपक अलङ्कार के स्वरूप एवं प्रकार-निर्धारण में अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की अलङ्कार, लक्षण आदि धारणा से प्रभूत मात्रा में प्रभावित हैं। विभिन्न अलङ्कारों तथा लक्षणों के योग से दीपक के और भी नवीन भेदोपभेदों की कल्पना की जा सकती है। दीपक-चक्र के विवेचन के उपरान्त दण्डी ने इस सम्भावना का निर्देश किया है।

---

१. तुलनीय—भरत, ना० शा० १६, ५३ तथा दण्डी, काव्याद० २, ९७

२. द्रष्टव्य—भरत ना० शा० १६, १८

आवृत्ति

आचार्य दण्डी ने आवृत्ति को स्वतन्त्र अलङ्कार के रूप मे मान्यता दी है। यह उनकी नवीन उद्भावना है। भरत तथा भामह ने आवृत्ति अलङ्कार का उल्लेख नही किया है। दण्डी की आवृत्ति-परिभाषा पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि वह स्वतन्त्र अलङ्कार नही है, दीपक का ही एक भेद है। इसमे दीपक की ही आवृत्ति पर विचार किया गया है।[१] दोनो मे थोडा-सा भेद यह है कि दीपक मे वाक्यान्तर मे पद का उपादान नही होने पर भी दूसरे वाक्य मे प्रयुक्त पद का उसके साथ अन्वय हो जाता है, पर आवृत्ति मे एक वाक्य मे प्रयुक्त पद का या उसके समानार्थक पद का दूसरे वाक्य मे पुन उपादान होता है। अत, इसे आवृत्ति दीपक नामक दीपक-भेद मानना ही उचित होता। दीपक का सद्भाव रहने पर अर्थ, पद तथा उभय (अर्थ और पद) की आवृत्ति के आधार पर आवृत्ति के तीन प्रकार माने गये है। भामह ने शब्दालङ्कार यमक मे अर्थभेद से समान शब्द की आवृत्ति पर बल दिया था। दण्डी के प्रस्तुत अर्थालङ्कार मे शब्द-भेद से अथवा समान शब्द से अर्थ की आवृत्ति वाञ्छनीय मानी गयी है। सम्भव है कि उक्त शब्दालङ्कार की शब्दावृत्ति-धारणा के आधार पर प्रस्तुत अर्थालङ्कार मे अर्थावृत्ति की धारणा व्यक्त की गयी हो।

आक्षेप

दण्डी की सामान्य आक्षेप-धारणा भामह की धारणा से अभिन्न है;[२] किन्तु 'काव्यादर्श' मे उसके अनेक भेदो की कल्पना कर ली गयी है। उनके उद्गम-स्रोत का अन्वेषण अपेक्षित है। दण्डी की मान्यता है कि आक्षेप्य या प्रतिषेध्य वस्तु की अनन्तता के कारण आक्षेप के असख्य भेद हो सकते है। उन्होने कुछ प्रमुख भेदो का सोदाहरण विवेचन किया है। वे भेद है—अतीताक्षेप या वृत्ताक्षेप, वर्त्तमानाक्षेप, भविष्यदाक्षेप (ये तीन प्रकार काल-विभाग के अनुसार), धर्माक्षेप, धर्म्याक्षेप, कारणाक्षेप, कार्याक्षेप, अनुज्ञाक्षेप, प्रभुत्वाक्षेप, अनादराक्षेप, आशीर्वचनाक्षेप, परुषाक्षेप, साचिव्याक्षेप, यत्नाक्षेप,

---

१. अर्थावृत्ति: पदावृत्तिरुभयावृत्तिरेव च।
दीपकस्थान एवेष्टमलङ्कारत्रय यथा ॥—दण्डी, काव्याद० २, ११६

२. तुलनीय—भामह, काव्याल० २, ६८ तथा दण्डी, काव्याद० २, १२०

परवशाक्षेप, उपायाक्षेप, रोपाक्षेप, मूर्च्छाक्षेप, अनुक्रोशाक्षेप, श्लिष्टाक्षेप, अनुशयाक्षेप, सशयाक्षेप, अर्थान्तराक्षेप तथा हेत्वाक्षेप ।[1] भामह ने विषय के वक्ष्यमाण तथा उक्त होने के आधार पर आक्षेप के दो भेदो का ही उल्लेख किया है। दण्डी की सूक्ष्म-भेदोपभेदकारिणी रुचि ने आक्षेप के उक्त भेद कर दिये। वस्तुत उक्त सभी प्रकारो तथा अन्य सम्भावित प्रकारो की कल्पना के लिए पर्याप्त अवकाश भामह के व्यापक आक्षेप-लक्षण मे ही था। दण्डी के श्लिष्ट, सशय तथा अर्थान्तर आक्षेप-भेद क्रमश. भामह के श्लिष्ट, ससन्देह तथा अर्थान्तरन्यास अलङ्कारो से अनुप्राणित है। कालकृत विभाजन का आधार भामह का वक्ष्यमाण विषय तथा उक्त विषय आक्षेप-भेद है। दण्डी के अन्य आक्षेप-भेद प्रतिषेध-कर्त्ता की विभिन्न दशाओं पर आधृत है। रोष, परुष, अनुक्रोश आदि का मानसिक दशा मे तथा यत्न, मूर्च्छा, उपाय आदि का शारीरिक एव मानसिक दोनो दशाओ मे सम्बन्ध है। धर्म, धर्मी, कार्य, कारण आदि आक्षेप-भेदो का आधार उन-उन पदार्थों का प्रतिषेध है। स्पष्ट है कि आक्षेप्य विषय की विविधता, वक्ता की मनोदशा, काल-विभाग तथा उक्ति मे अन्य अलङ्कार-तत्त्वो के योग के आधार पर दण्डी ने भामह की मूल आक्षेप-धारणा के उक्त भेदो की कल्पना कर ली है।

अर्थान्तरन्यास

भामह की ही तरह दण्डी भी प्रस्तुत वाक्यार्थ का अप्रस्तुत वाक्यार्थ से समर्थन अर्थान्तरन्यास का लक्षण मानते है।[2] भामह ने प्रस्तुत अलङ्कार की केवल सामान्य परिभाषा दी है, किन्तु दण्डी ने उसके आठ विशेष भेदो का भी सोदाहरण उल्लेख किया है। वे भेद निम्नलिखित है—(१) विश्वव्यापी, (२) विशेषस्थ, (३) श्लेषाविद्ध, (४) विरोधवान्, (५) अयुक्तकारी, (६) युक्तात्मा, (७) युक्तायुक्त तथा (८) विपर्यय ।[3] इनके उदाहरणो मे विशेष कथन का सामान्य से समर्थन दिखाया गया है। सामान्य का विशेष से भी समर्थन अर्थान्तरन्यास मे हो सकता है और उसके भी अनेक भेद हो सकते है। दण्डी ने इस सम्भावना

१. द्रष्टव्य—दण्डी, काव्याद० २, १२०-६८

२. तुलनीय—भामह, काव्याल० २, ७१ तथा दण्डी, काव्याद० २, १६९

३. विश्वव्यापी विशेषस्थ. श्लेषाविद्ध विरोधवान् ।
अयुक्तकारी युक्तात्मा युक्तायुक्तो विपर्यय. ॥
—दण्डी, काव्याद० २, १७०

का निषेध नही किया है। उन्होने यह मान्यता प्रकट की है कि इसी प्रकार अर्थान्तरन्यास के अन्य भेदो की कल्पना की जा सकती है।[1] विशेष का समर्थन करने वाले सामान्य कथन के विश्वजनीन या विशेषगत होने के आधार पर अर्थान्तरन्यास के विश्वव्यापी तथा विशेषस्थ दो भेद माने गये है। श्लेष तथा विरोधमूलक अर्थान्तिर के न्यास के सद्भाव मे श्लेषाविद्ध तथा विरोधवान् अर्थान्तरन्यास-प्रकार स्वीकृत है। वर्णित अर्थ की अयुक्तकारिता, युक्तता, तथा युक्तायुक्तता के आधार पर क्रमश. अयुक्तकारी, युक्तात्मा तथा युक्तायुक्त;—ये तीन अर्थान्तिरन्यासभेद कल्पित है। विपर्यय-भेद की कल्पना का आधार विपरीत अर्थ का वर्णन है। इस प्रकार दण्डी के इस भेदीकरण मे शिलष्ट तथा विरोध अलङ्कारो के तत्त्वो ने योग दिया है। अर्थ-वर्णन की सर्व-सम्मत विभिन्न प्रक्रियाओ का अवलम्ब लेकर भी अर्थान्तिरन्यास के अनेक भेद किये गये है। पदार्थ के मुख्य दो विभाग स्वीकृत है—विश्वव्यापी तथा विशेष-निष्ठ। इन दो प्रकार के पदार्थो की योजना मे अर्थान्तिरन्यास के विश्वव्यापी एव विशेषस्थ भेद माने गये है। अयुक्तकारी, युक्तात्मा, युक्तायुक्त तथा विपर्यय भेद उक्ति की विशेष भङ्गी से सम्बद्ध है। वस्तु-स्वभाव के विरुद्ध कार्य का वर्णन अयुक्तकारी अर्थान्तिरन्यास मे होता है, और उसका समर्थन तद्धर्मा अन्य उक्ति से होता है। दूसरे शब्दो मे, किसी वस्तु के अयुक्त कार्य को भी विशेष स्थिति मे उपपन्न सिद्ध किया जाता है। युक्तात्मा अयुक्तकारी का विपरीत-धर्मा है। उसके स्वरूप की कल्पना अयुक्तकारी के स्वभाव के विपर्यय के आधार पर की गयी है। उक्तायुक्त मे उक्त दोनो भेदा की प्रकृति का समवाय है। विपर्यय-भेद अयुक्तकारी से मिलता-जुलता है। अन्तर केवल इतना है कि इसमे वस्तु-स्वभाव का वैपरीत्य वर्णित होता है, किन्तु अयुक्तकारी मे वस्तु के कार्य मे उसके स्वभाव से अनुकूलता का अभाव-मात्र रहता है। इस प्रकार धर्म के वैपरीत्य के आधार पर उक्त भेद की कल्पना की गयी है। निष्कर्ष यह कि दण्डी अर्थान्तिरन्यास के सामान्य स्वरूप के सम्बन्ध मे भामह से सहमत है, पर उसके अनेक भेदो की कल्पना का श्रेय दण्डी को है।

व्यतिरेक

दण्डी की व्यतिरेक-परिभाषा भामह की परिभाषा से किञ्चित् भिन्न होने पर भी तत्त्वत उससे मिलती-जुलती ही है। भामह ने इसमे उपमान से उपमेय का

१. इत्येवमादयो भेदाः प्रयोगेष्वस्य लक्षिता.।—दण्डी, काव्याद० २, १७१

आधिक्य-वर्णन स्पष्टत स्वीकार किया था,[१] दण्डी ने वह तत्त्व प्रकारान्तर से प्रतिपादित किया है। उनका कहना है कि जहाँ प्रस्तुत एव अप्रस्तुत मे वाचक शब्द के द्वारा सादृश्य का अभिधान होता हो अथवा वाचक शब्द के अभाव मे सादृश्य की प्रतीति होती हो वहाँ वैशिष्ट्य-प्रतिपादनार्थ दोनो मे भेद-कथन अर्थात् वैधर्म्य का प्रतिपादन किया जाना व्यतिरेक अलङ्कार है।[२] दण्डी के व्यतिरेक-उदाहरण के परीक्षण मे यह स्पष्ट हो जाता है कि उपमान तथा उपमेय मे कही वैधर्म्य-मात्र का कथन होता है तथा कही भेद-कथन से उपमेय का उपमान से आधिक्य सिद्ध होता है। 'काव्यादर्श' के टीकाकार पण्डित नृसिंहदेव शास्त्री ने दण्डी के व्यतिरेक-लक्षण का साराश उपमान से उपमेय का आधिक्य-वर्णन माना है।[३] अप्रस्तुत से प्रस्तुत के आधिक्य-वर्णन की धारणा भामह की धारणा से अभिन्न है।

भामह ने व्यतिरेक के भेदोपभेद नही किये है। दण्डी ने उसके अनेक भेदो का विवेचन किया है। उनकी सामान्य व्यतिरेक-परिभाषा मे ही उसके दो भेदो का निर्देश है—एक मे वाचक शब्द के उक्त होने से सादृश्य वाच्य होता है, दूसरे मे सादृश्य प्रतीयमान होता है। इस प्रकार शब्दोपात्त तथा प्रतीयमानसादृश्य; ये व्यतिरेक के दो मुख्य भेद स्वीकार किये गये है। 'काव्यादर्श' में निम्नलिखित नौ व्यतिरेक-भेदो का उल्लेख हुआ है-- एकव्यतिरेक, उभयव्यतिरेक, सश्लेषव्यतिरेक, साक्षेपव्यतिरेक, सहेतुक-व्यतिरेक, प्रतीयमानसादृश्यव्यतिरेक, शाब्दसादृश्यसदृशव्यतिरेक, प्रतीय-मानसादृश्यसदृशव्यतिरेक तथा सजातिव्यतिरेक।[४] श्लेषव्यतिरेक तथा आक्षेपव्यतिरेक क्रमश श्लेष अलङ्कार से अनुप्राणित है। सहेतुकव्यतिरेक मे हेतु का कथन होता है। हेतूपमा के स्रोत की परीक्षा के क्रम मे हेतु तत्त्व की कल्पना के आधार पर विचार किया जा चुका है। शब्दोपात्त धर्म की सख्या की दृष्टि से एकव्यतिरेक तथा उभयव्यतिरेक भेद किये गये है। प्रतीयमानसादृश्यव्यतिरेक, शाब्दसादृश्यसदृशव्यतिरेक तथा प्रतीयमान

---

१. द्रष्टव्य—भामह, काव्यालं० २, ७५

२. शब्दोपात्ते प्रतीते वा सादृश्ये वस्तुनोर्द्वयो ।
तत्र यद्भेदकथन व्यतिरेक स कथ्यते ॥—दण्डी, काव्याद० २,१८०

३. 'उपमानादुपमेयस्याधिक्यवर्णनं व्यतिरेक' इति व्यतिरेकस्वरूपसार ।
—काव्याद० कुसुम प्र० टीका, पृ० १५८

४. द्रष्टव्य—दण्डी, काव्याद० २,१८१-९८

सादृश्यसदृशव्यतिरेक भेदो का मूल अर्थ का वाच्य तथा प्रतीयमान वर्गो मे विभाजन है। प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत के धर्मों की सजातीयता के आधार पर सजातिव्यतिरेक भेद की कल्पना की गई है। स्पष्ट है कि 'काव्यादर्श' के व्यतिरेक-भेदो के नवीन होने पर भी भेदीकरण के आधार सर्वथा नवीन नही है।

विभावना

दण्डी ने 'काव्यादर्श' मे विभावना अलङ्कार के सम्बन्ध मे प्रकारान्तर से भामह से मिलती-जुलती धारणा ही व्यक्त की है। दण्डी के अनुसार किसी कार्य के लोक-प्रसिद्ध कारण को छोड़ अन्य कारण का उल्लेख किया जाना अथवा उसका किसी कारण के बिना स्वाभाविक रूप मे होने का वर्णन किया जाना विभावना है।[1] यह धारणा भामह की क्रिया के प्रतिषेध मे भी फल के सद्भावविषयक धारणा से किञ्चिन्मात्र ही भिन्न है।

समासोक्ति

दण्डी ने समासोक्ति-लक्षण मे शब्द-भेद से भामह की अप्रस्तुत-प्रशसा-सम्बन्धी मान्यता को ही प्रस्तुत किया है। दण्डी के अनुसार इसमे अप्रस्तुत के कथन से प्रस्तुत अर्थ की व्यञ्जना होती है।[2] टीकाकार नृसिहदेव के अनुसार जहाँ प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत मे से अप्रस्तुत के वर्णन से प्रस्तुत का व्यञ्जना से बोध हो जाता है वहाँ दण्डी के मतानुसार समासोक्ति अलङ्कार होता है।[3] परवर्ती आचार्य मम्मट आदि ने अप्रस्तुत वर्णन से प्रस्तुतार्थ की व्यञ्जना मे अप्रस्तुतप्रशसा अलङ्कार माना है। भामह ने भी अप्रस्तुतप्रशसा अलङ्कार की परिभाषा मे ऐसी ही धारणा व्यक्त की है। इस प्रकार भामह के अप्रस्तुत-प्रशसा अलङ्कार का स्वरूप लेकर दण्डी ने उसे समासोक्ति नाम से अभिहित किया और अप्रस्तुतप्रशसा के स्वतन्त्र लक्षण की

---

१. प्रसिद्धहेतुव्यावृत्या यत् किञ्चित् कारणान्तरम्।
यत्र स्वाभाविकत्व वा विभाव्य सा विभावना॥
—दण्डी, काव्यादर्श २,१९९

२. वस्तु किञ्चिदभिप्रेत्य तत्तुल्यस्यान्यवस्तुन।
उक्ति सक्षेपरूपत्वात् सा समासोक्तिरिष्यते॥—वही० २,२०५

३. यत्र प्रस्तुताप्रस्तुतयोर्द्वयोर्मध्ये एकस्य अप्रस्तुतस्य प्रयोगेण अपरस्य प्रस्तुतस्य व्यञ्जनया बोध तत् समासोक्तिरिति दण्डिलक्षणसरलसार।
—काव्याद०, कुसुम प्र० टीका, पृ० १६९

कल्पना कर ली। अप्रस्तुत अर्थ के वर्णन से प्रस्तुत अर्थ की व्यञ्जना का आधार उक्त तथा अनुक्त अर्थों के लिए समान विशेषण का प्रयोग है। विशेषण-प्रयोग के वैचित्र्य की दृष्टि से दण्डी ने समासोक्ति के चार भेद स्वीकार किये है—(क) कार्यलिङ्गविशेषण-घटिता समासोक्ति, (ख) श्लिष्टविशेषणा-समासोक्ति, (ग) श्लिष्टाश्लिष्टविशेषणा-समासोक्ति तथा (घ) अपूर्व-समासोक्ति।[१] प्रथम मे समान कार्य-वर्णन से प्रस्तुतार्थ की व्यञ्जना होती है। भामह की सामान्य अप्रस्तुत-प्रशसा-परिभाषा मे भी इस भेद की कल्पना के लिए अवकाश था। द्वितीय तथा तृतीय भेदो की कल्पना मे भामह की श्लिष्ट-धारणा का अवलम्ब लिया गया है। अन्तिम मे पूर्वधर्म का उपादान न कर विपरीत-धर्म का वर्णन किया जाता है। वैपरीत्य-धारणा के आधार पर इस भेद की कल्पना की गयी है।

अतिशयोक्ति

दण्डी की सामान्य अतिशयोक्ति-धारणा भामह की तद्विषयक धारणा से अभिन्न है।[२] 'काव्यादर्श' मे उसके निम्नलिखित भेद सोदाहरण विवेचित है—सशयातिशयोक्ति, निर्णयातिशयोक्ति तथा आश्रयाधिक्यातिशयोक्ति।[३] प्रथम दो भेदो मे सशय एव निर्णय मूलाधार है। सशयोपमा तथा निर्णयोपमा के स्रोत के विवेचन-क्रम मे हम सशय एव निर्णय की धारणा के उद्भव पर विचार कर चुके है। आश्रयाधिक्य-वर्णन दण्डी की अपनी कल्पना है। वस्तुत. इस भेद की पृथक् कल्पना आवश्यक नही। आश्रय की विशालता के वर्णन से आश्रित के आधिक्य की व्यञ्जना इसमे होती है। अतिशयोक्ति के सामान्य लक्षण मे ही वस्तु के लोकसीमातिवर्ती आधिक्य-वर्णन पर बल दिया गया है। अत· इस नवीन भेद की कल्पना का आधार भेदीकरण का आग्रह-मात्र है।

उत्प्रेक्षा

भामह की उत्प्रेक्षा-धारणा को ही दण्डी ने अधिक स्पष्ट शब्दों में प्रस्तुत किया है।[४] उपमा और उत्प्रेक्षा के भेद-निरूपण तथा उत्प्रेक्षा-व्यञ्जक शब्दो के परिगणन के लिए दण्डी श्रेय के भागी है।

---

१. द्रष्टव्य—दण्डी, काव्याद० २,२०८-१३

२. तुलनीय—दण्डी, काव्याद० २,२१४ तथा भामह, काव्यालं० २,८१

३. द्रष्टव्य—दण्डी, काव्याद०, २,२१७-१६

४. तुलनीय—दण्डी, काव्याद० २,२२१ तथा भामह, काव्यालं० २,६१

हेतु, सूक्ष्म और लेश

हम देख चुके है कि भामह ने हेतु, सूक्ष्म और लेश के अलङ्कारत्व का खण्डन किया है।[1] किन्तु, दण्डी ने उन्हे न केवल अलङ्कार के रूप मे स्वीकृति दी वरन् वाणी के उत्तम भूषण के रूप मे गौरव प्रदान किया।[2] इन अलङ्कारों के स्वरूप की परीक्षा से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इन्हे उत्तम अलङ्कार कहने मे दण्डी का उद्देश्य इनके विषय मे अपने पूर्ववर्ती आचार्य भामह के उपेक्षात्मक विचार का सबल विरोध-मात्र करना था। इन अलङ्कारो की उत्तमता का कारण निर्दिष्ट नही। अस्तु, प्रस्तुत प्रसङ्ग मे उनके उद्गम-स्रोत का अन्वेषण वाञ्छनीय है। भामह ने हेतु, सूक्ष्म और लेश का नाम्नैव उल्लेख किया है। दण्डी ने उनके स्वरूप का सोदाहरण विवेचन किया है। किसी कार्य के साथ उसके हेतु का कथन हेतु अलङ्कार है। हेतु दो प्रकार के होते है—कारक तथा ज्ञापक। वे कारक एव ज्ञापक हेतु अनेक प्रकार के होते है। हेतु की विविधता के अनुरूप हेतु अलङ्कार के भी विविध भेद माने गये है। भरत ने 'नाटयशास्त्र' मे हेतु लक्षण का उल्लेख किया है, जिसमें वक्ता किसी वस्तु के सम्बन्ध मे अनेक कथन का निरादर कर उस विषय में अपनी मान्यता प्रकट करता है और अपनी मान्यता की स्थापना के लिए हेतु का निर्देश करता है।[3] सकारण कथन होने के कारण इसे सहेतु कहा गया है। हेतु अलङ्कार मे हेतुमान के साथ हेतु के उल्लेख की धारणा का प्रादुर्भाव उक्त लक्षण के स्वरूप के आधार पर ही हुआ है। दर्शन-शास्त्र की विभिन्न शाखाओं मे कार्य तथा कारण के स्वरूप का सूक्ष्म विवेचन हुआ है। कारण के विविध प्रकार के आधार पर दण्डी ने हेतु अलङ्कार के तत्तद्भेदो की कल्पना कर ली है।

हृद्गतभाव के बोधक इङ्गितो से तथा विशेष प्रकार की मुखाकृति से अर्थ का लक्षित होना सूक्ष्म अलङ्कार माना गया है।[4] इस अलङ्कार का

---

१ हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालङ्कारतया मत ।
—भामह, काव्याल० २,८६ तुलनीय—

२ हेतुश्च सूक्ष्मलेशौ च वाचामुत्तमभूषणम् ।—दण्डी, काव्याद० २,२३५

३. बहूना भाषमाणाना त्वेकस्यार्थविनिर्णयम् ।
सिद्धोपमानवचन हेतुरित्यभिसङ्ज्ञित. ॥
—भरत, ना० शा० १६, १४

४ इङ्गिताकारलक्ष्योऽर्थ. सौक्ष्म्यात् सूक्ष्म इति स्मृत ।
—दण्डी, काव्या०, २, २६०

स्वरूप भरत के प्राप्ति तथा परिदेवन के पाठ-भेद सिद्धि लक्षणों के स्वरूप के आधार पर कल्पित है। भरत के अनुसार जहाँ अवयव को देख कर भाव का अनुमान हो जाय, वहा प्राप्ति लक्षण होता है।[1] अभिनव गुप्त ने भरत की प्राप्ति-परिभाषा में प्रयुक्त भाव का अर्थ सद्भाव या सत्ता मान कर उसके उदाहरण में अभिज्ञान शाकुन्तलम् का वह प्रसिद्ध श्लोक उद्धृत किया है जिसमें दुष्यन्त शकुन्तला के पद-चिह्न को देख कर उसके सद्भाव का अनुमान करता है।[2] किन्तु, भरत के उक्त लक्षण की परिभाषा का व्याख्यान इस प्रकार भी किया जा सकता है कि वे प्राप्ति में अवयव को देख हृद्गत भाव का अनुमान कर लिया जाना अपेक्षित मानते थे। सम्भव है कि दण्डी ने प्राप्ति-लक्षण की परिभाषा का यही अर्थ समझा हो और उसे सूक्ष्म व्यपदेश में अलङ्कारों के मध्य परिगणित कर लिया हो। परिदेवन लक्षण के प्राप्त पाठान्तर में वचन के अभाव में प्रस्ताव से ही समग्र अर्थ का बोध वाञ्छनीय माना गया है।[3] इङ्गित में भावबोध की सूक्ष्म धारणा उससे मिलती-जुलती है।

किसी गोप्य विषय के किसी कारणवश कुछ प्रकट हो जाने पर किसी व्याज से उसका गोपन लेश अलङ्कार माना गया है।[4] स्पष्टतः इसमें दो तत्त्व है—किञ्चित् प्रकट वस्तु-रूप का निगूहन तथा उस निगूहन के लिए बहाना बनाना। वस्तु-स्वरूप के छिपाने का तत्त्व मिथ्याध्यवसाय लक्षण में तथा बहाना बनाने का तत्त्व कपट लक्षण में गृहीत है। मिथ्याध्यवसाय में विचार के अन्यथात्व-साधन पर बल दिया गया है तथा कपट में छलयुक्ति पर।[5] दण्डी के अनुसार लेश अलङ्कार में प्रकट वस्तुरूप की अन्यथात्व-सिद्धि

१. दृष्ट्वैवावयव किञ्चिद्भावो यत्रानुमीयते।
प्राप्ति तामभिजानीयाल्लक्षण नाटकाश्रयम्॥
—भरत, ना० शा०, १६, ३२

२. यथा—अभ्युन्नता पुरस्तादवगाढा जघनगौरवात्' इत्यादि—शाकु० ३, ५। अत्र पदपङ्क्तिलक्षणमंश दृष्ट्वानयात्र भवितव्यमिति शकुन्तलाया: सद्भावोऽनुमीयत इति।—अभिनव, ना० शा० अ० भा० पृ० ३१६

३. प्रस्तावेनैव शेषोऽर्थः कृत्स्नो यत्र प्रतीयते।
वचनेन विना जातु सिद्धि सा परिकीर्तिता॥—वही, पृ० ३२१

४. लेशो लेशेन निर्भिन्नवस्तुरूपनिगूहनम्।—दण्डी, काव्याद० २, २६५

५. द्रष्टव्य—अभिनव, ना० शा० अ० भा० पृ० ३०८ तथा
भरत, ना० शा० १६, ३०

का प्रयास होता है और उसके लिए छल-युक्ति का सहारा लिया जाता है। स्पष्ट है कि उक्त दोनो लक्षणो के प्रमुख तत्त्वो से लेश अलङ्कार का रूप-विधान हुआ है।

दण्डी ने लेश अलङ्कार के सम्बन्ध मे अन्य लोगो की धारणा का निर्देश करते हुए कहा है कि कुछ लोग व्याज से की जाने वाली निन्दा अथवा स्तुति मे लेश अलङ्कार मानते है।[1] स्तुति के व्याज से निन्दा तथा निन्दा के व्याज से स्तुति को लेश का लक्षण मानने वाले आचार्यो ने इसे व्याजस्तुति से अभिन्न मान लिया है। दण्डी इस मत से सहमत नही। वे निन्दामुखेन की जाने वाली स्तुति को व्याजस्तुति नामक पृथक् अलङ्कार मानते है।[2] नृसिहदेव के अनुसार निन्दापर्यवसायिनी स्तुति मे भी व्याजस्तुति मानने का अवकाश दण्डी के उक्त लक्षण मे ही है।[3] व्याज से की जाने वाली निन्दा तथा स्तुति की धारणा भामह की व्याजस्तुति अलङ्कार-धारणा से गृहीत है।

यथासंख्य

दण्डी का यथासंख्य अलङ्कार भामह के एतत्सज्ञक अलङ्कार से अभिन्न है।

प्रेय, रसवत् तथा ऊर्जस्वी

भामह ने प्रेय, रसवत् तथा ऊर्जस्वी के लक्षण नही दिये है। दण्डी ने इन्हे लक्षण-बद्ध किया है।[4] इन अलङ्कारो के सम्बन्ध मे दण्डी की धारणा भामह की धारणा से अभिन्न है। दण्डी ने प्रेय का उदाहरण भी भामह के 'काव्यालङ्कार' से ही लिया है।[5]

---

१ लेशमेके विदुर्निन्दा स्तुति वा लेशत' कृताम्।
—दण्डी, काव्याद०, २, २६८

२. यदि निन्दन्निव स्तौति व्याजस्तुतिरसौ स्मृता।—वही, २, ३४३

३. अत्र (लक्षणवाक्ये) 'निन्दन्निव स्तौतीति कथनात् प्रत्ययादिव्यत्ययेन स्तुवन्निन्दतीति इत्यप्यर्थो बोध्य' तेन स्तुतिच्छलेन निन्दोक्तिरपि व्याजस्तुति.।—काव्याद०, कुसुम प्र० टीका, पृ० २५९

४ प्रेय प्रियतराख्यान रसवद्रसपेशलम्।
ऊर्जस्वि रूढाहङ्कार युक्तोत्कर्षञ्च तत्त्रयम्॥
—दण्डी, काव्याद०, २, २७५

५. तुलनीय—दण्डी, काव्याद०, २, २७६ तथा भामह, काव्यालं०, ३, ५

पर्यायोक्त

दण्डी की पर्यायोक्त-धारणा भामह की तद्विषयक धारणा से अभिन्न है।

समाहित

भामह ने समाहित की परिभाषा नहीं दी है। उन्होंने उसका उदाहरण देकर उसके सम्बन्ध में जैसी मान्यता व्यक्त की थी, दण्डी ने वैसी ही मान्यता समाहित की परिभाषा में व्यक्त की है। अतः समाहित के सम्बन्ध में दोनों की धारणा अभिन्न है।

उदात्त

भामह के द्वारा अंशतः अपरिभाषित उदात्त को दण्डी ने परिभाषित किया है। उनकी उदात्त-धारणा भामह की धारणा से भिन्न नहीं है। भामह ने उदात्त के एक उदाहरण में राम की उच्चाशयता का दिग्दर्शन कराया है। इसे दण्डी ने आशय-महत्त्व-वर्णन-परक उदात्त कहा है। भामह ने नाना-रत्नादियुक्त वर्णन को उदात्त का अपर रूप माना था, जिसे दण्डी ने विभूति-महत्त्व-वर्णनमूलक उदात्त कहा है। इस प्रकार प्रस्तुत अलङ्कार के सम्बन्ध में दण्डी की धारणा पूर्ववर्ती आचार्य भामह की धारणा से मूलतः अभिन्न है।

अपह्नुति

दण्डी के अपह्नुति अलङ्कार का सामान्य स्वरूप भामह की अपह्नुति के स्वरूप के समान है। दण्डी ने भामह की तरह ही यह माना है कि वर्णनीय वस्तु के धर्म का गोपन कर अप्रस्तुत के धर्म का प्रदर्शन अपह्नुति है। विषय तथा स्वरूप (स्वतःसिद्ध धर्म) के अपह्नव के आधार पर 'काव्यादर्श' में अपह्नुति के विषयापह्नुति तथा स्वरूपापह्नुति—ये दो और भेद माने गये हैं। इन भेदों की कल्पना के लिए भामह के अपह्नुति-लक्षण में ही पर्याप्त अवकाश था।

श्लिष्ट

दण्डी के श्लिष्ट अलङ्कार का सामान्य लक्षण भामह के श्लिष्ट-लक्षण से मिलता-जुलता है। दण्डी ने उसके मुख्य दो भेद स्वीकार किये हैं—अभिन्न-पदश्लेष अर्थात् अभङ्गश्लेष तथा भिन्नपद अर्थात् सभङ्गश्लेष। श्लेष के अन्य

भी अनेक भेद किये गये है। उपमा, रूपक, आक्षेप, व्यतिरेक आदि अलङ्कारो के अङ्ग के रूप मे तत्तदलङ्कारो के स्वरूप-विवेचन-क्रम मे श्लेष के स्वरूप पर विचार किया जा चुका है। श्लेष के अन्य भेद निम्नलिखित है—

अभिन्न-त्रिय श्लेष, अविरुद्धत्रिय श्लेष, विरुद्धक्रिय श्लेष, नियामक श्लेष, नियमाक्षेपरूपोक्तिश्लेष, अविरोधिश्लेष तथा विरोधिश्लेष।[१] इन भेदो के लक्षण न देकर उदाहरणो से ही इनके स्वरूप के विषय मे दण्डी ने अपना अभिमत प्रकट किया है।

अभिन्नक्रिय श्लेष के उदाहरण मे एक क्रिया से दो वाक्यों का दीपन दिखाया गया है। यह धारणा भामह की दीपक अलङ्कार-धारणा पर आधृत है। टीकाकार नृसिहदेव ने उक्त उदाहरण के आधार पर अभिन्नक्रिय श्लेष को दण्डी की तुल्ययोगिता का अङ्गभूत श्लेष माना है। उन्होने इसे अन्य लोगो के मतानुसार दीपक का अङ्गभूत भी कहा है।[२] अविरुद्धक्रिय तथा विरुद्धक्रिय श्लेष-भेदो को भी नसिह देव ने तुल्ययोगिता का ही अङ्ग माना है।[३] नियामक-श्लेष मे जो नियम का तत्त्व है, वह दण्डी की मौलिक कल्पना है। नियमाक्षेप-रूपोक्तिश्लेष की कल्पना मे आक्षेप तथा दीपक अलङ्कारो के तत्त्वों का सहारा लिया गया है तथा नियम का तत्त्व भी मिला दिया गया है। अविरोधी तथा विरोधी श्लेष-प्रकारो की कल्पना विरोध की अभावात्मक एव भावात्मक सत्ता के आधार पर की गई है। नृसिह देव की यह उचित मान्यता है कि विरोधी श्लेप विरोध अलङ्कार का अङ्गभूत है।[४]

विशेषोक्ति

दण्डी की सामान्य विशेषोक्ति-धारणा भामह की धारणा से अभिन्न है। दण्डी ने उसके अनेक भेदो की कल्पना की है। वे भेद निम्नलिखित है—
गुणविशेषोक्ति, जातिविशेषोक्ति, क्रियाविशेपोक्ति, द्रव्यविशेषोक्ति तथा हेतु-

---

१. द्रष्टव्य—दण्डी, काव्याद० २, ३१४-१५

२. 'किञ्चात्र वक्ष्यमाणलक्षणस्तुल्ययोगितालङ्कारोऽपीति तन्निर्वाहकत्वात्तस्याङ्गभूतोऽय श्लेष। परे तु—एकयैव कर्षणक्रियया वाक्यद्वयदीपनाद् दीपकस्यायमङ्गभूत इत्याहु।'
—काव्याद०, कुसुम प्र० टीका पृ० २४३

३. द्रष्टव्य—वही, पृ० २४३-४४

४. ···विरोधसार्थोऽय श्लेषो विरोधाभासस्याङ्गम्।—वही, पृ० २४६

विशेषोक्ति।[१] भामह के विशेषोक्ति-लक्षण मे ही गुण, जाति, क्रिया तथा द्रव्यमूलक विशेषोक्ति-भेदो की सम्भावना निहित थी। भामह की 'गुणान्तर-सस्थिति' मे गुण से जाति, क्रिया आदि भी उपलक्षित थी। अत दण्डी के विशेषोक्ति अलङ्कार के प्रथम चार भेदो का मूल भामह की विशेषोक्ति परिभाषा मे ही माना जा सकता है। हेतुविशेषोक्ति मे हेतुगर्भ विशेषण का प्रयोग होता है। इसमे विशेषोक्ति के साथ हेतु के तत्त्वो का मिश्रण है। हेतु-धारणा के स्रोत पर विचार किया जा चुका है।

तुल्ययोगिता

भामह की तुल्ययोगिता से दण्डी की तुल्ययोगिता तत्त्वत. भिन्न नही है। दोनो ने प्रस्तुत अलङ्कार मे उपमान तथा उपमेय मे तुल्यकार्यक्रिया के प्रयोग पर बल दिया है। भामह ने न्यून की विशिष्ट के साथ गुण-साम्य-विवक्षा मे ही तुल्ययोगिता अलङ्कार माना था। दण्डी ने इस धारणा को स्वीकार कर उसमे अपनी ओर से भी कुछ जोडा है। निन्दा मे तुल्ययोगिता की धारणा नवीन है। इसमे निन्दा का तत्त्व भरत की उपमा के निन्दा भेद से गृहीत है। भरत के दीपक अलङ्कार मे सिद्धि लक्षण तथा निन्दोपमा के तत्त्वो के योग से तुल्ययोगिता के निन्दा-भेद की सृष्टि हुई है। इस प्रकार दण्डी की तुल्ययोगिता के दो भेदो मे से स्तुति मे तुल्ययोगिता भेद भामह की धारणा से अभिन्न है तथा निन्दा मे तुल्ययोगिता भेद भरत की अलङ्कार एव लक्षण-धारणा के आधार पर कल्पित है।

विरोध

दण्डी की सामान्य विरोधालङ्कार-धारणा भामह की विरोध-धारणा के समान है। दण्डी ने उसके निम्नलिखित भेदो का सोदाहरण उल्लेख किया है—क्रियाविरोध, गुणविरोध (वस्तुगत गुण-विरोध तथा अवयवगत गुण-विरोध), विषमविरोध (गुण तथा क्रिया का विरोध), असङ्गतिविरोध अथवा अभावात्मक क्रियाविरोध तथा श्लेषमूल-विरोध।[२] ये भेद भामह की विरोध-धारणा के आधार पर ही कल्पित है। भामह ने गुण या क्रिया का विरुद्ध क्रिया से अभिधान विरोध का लक्षण माना है। दण्डी के गुण-विरोध

१. द्रष्टव्य—दण्डी, काव्याद०, २, ३२३-२६

२. द्रष्टव्य—दण्डी, काव्याद०, २, ३३३-३६

तथा क्रिया-विरोध भामह के उक्त विरोध-लक्षण मे ही अन्तर्भूत है। विषम-विरोध मे गुण एव क्रिया का विरोध प्रदर्शित होता है। यह धारणा भी भामह के गुण-विरोध एव क्रिया-विरोध के मिश्रित स्वरूप पर अवलम्बित है। क्रिया आदि की अभावात्मक सत्ता के आधार पर असङ्गति-विरोध की कल्पना की गयी है। 'काव्यादर्श' मे असङ्गति-विरोध का जो उदाहरण दिया गया है उसमे क्रिया के अभाव से असङ्गति दिखायी गयी है। विरोध के साथ श्लेष अलङ्कार की धारणा को मिला कर श्लेष-विरोध के स्वरूप का निर्माण किया गया है।

अप्रस्तुतप्रशंसा

भामह की अप्रस्तुतप्रशसा-धारणा से दण्डी की अप्रस्तुतप्रशसा-धारणा अभिन्न है।

व्याजस्तुति

भामह की तरह दण्डी भी निन्दा के व्याज से की जाने वाली स्तुति को व्याजस्तुति का लक्षण मानते है। इसमे आपातत किसी की निन्दा की जाती है, किन्तु वह निन्दा परिणामतः स्तुति मे पर्यवसित हो जाती है। शब्दश्लेष मूलक तथा अर्थश्लेषमूलक व्याजस्तुति भेदो के भी उदाहरण दिये गये है। स्पष्टत इन भेदो मे श्लेष अलङ्कार के तत्त्व व्याजस्तुति के साथ मिश्रित है। अन्य अलङ्कारो के योग मे व्याजस्तुति के अनेक अन्य भेद भी हो सकते है।[१]

निदर्शन

दण्डी की निदर्शन-परिभाषा भामह की परिभाषा मे मिलती-जुलती है। सत् एव असत् अर्थात् उत्कृष्ट एव अनुत्कृष्ट फल के निदर्शन की दृष्टि से दण्डी ने निदर्शन के सत्फलनिदर्शन तथा असत्फलनिदर्शन—दो भेद स्वीकार किये है।[२] भामह ने 'काव्यालङ्कार' मे निदर्शन का जो उदाहरण दिया है, वह असदर्थनिदर्शन का उदाहरण है। दण्डी ने सत्फल-निदर्शन का भी उदाहरण

१ इति श्लेषानुविद्धानामन्येषाञ्चोपलक्ष्यताम् ।
व्याजस्तुतिप्रकाराणामपर्यन्तस्तु विस्तर ॥—वही, २, ३४७

२ अर्थान्तरप्रवृत्तेन किञ्चित् तत्सदृश फलम् ।
सदसद्वा निदर्श्येत यदि तत्स्यान्निदर्शनम् ॥—वही, २, ३४८

दिया है। स्पष्ट है कि दण्डी की निदर्शन-धारणा तत्त्वत: भामह की तद्विषयक धारणा से अभिन्न है।

सहोक्ति

दण्डी ने भामह की सहोक्ति-परिभाषा को ही शब्द-भेद मे स्वीकार किया है। गुण, क्रिया, द्रव्य आदि का सहभाव मे कथन होने के कारण, गुणसहोक्ति, क्रियासहोक्ति, द्रव्यसहोक्ति आदि सहोक्ति अलङ्कार के भेद माने जा सकते है।

परिवृत्ति

भामह के परिवृत्ति-लक्षण से दण्डी का परिवृत्तिलक्षण किञ्चित् भिन्न है। उसका स्वरूप अपेक्षाकृत अधिक व्यापक है। भामह ने न्यून वस्तु के बदले विशिष्ट वस्तु का आदान परिवृत्ति का लक्षण माना था, किन्तु दण्डी ने वस्तु के किसी प्रकार के विनिमय मे परिवृत्ति का सद्भाव स्वीकार किया है।[1] विनिमय के तीन प्रकार सम्भव है—(क) न्यून से अधिक का विनिमय, (ख) अधिक से न्यून का विनिमय तथा (ग) समान का समान से विनिमय। इस प्रकार दण्डी के मतानुसार परिवृत्ति के उक्त तीन भेद माने जा सकते है। इनमे से केवल प्रथम भेद को भामह के मतानुयायी परिवृत्ति मानेगे। दण्डी ने न्यून से अधिक के विनिमय का ही उदाहरण दिया है। शेष दो भेदो के उदाहरण उन्होने विस्तार के भय से नही दिये है। एक ही भेद का सोदाहरण-विवेचन भामह के प्रभाव की सूचना देता है। अन्य-भेदो मे भी विनिमय का भाव भामह से ही लिया गया है।

आशीः

आशी दण्डी का नवीन अलङ्कार है। भामह के 'काव्यालङ्कार' मे इसका उल्लेख-मात्र हुआ है; उसका लक्षण नही दिया गया है। भामह ने स्वय उसका अलङ्कारत्व स्वीकार नही किया है। दण्डी के अनुसार प्रिय वस्तु की प्राप्ति की इच्छा अथवा प्रिय वस्तु की शुभाशसा आशी अलङ्कार है।[2] प्रस्तुत अलङ्कार को कुछ लोगो ने प्रेय अलङ्कार का ही विशिष्ट रूप माना है।

---

१. तुलनीय—दण्डी, काव्याद० २,३५१ तथा भामह, काव्याल० ३,४१

२. दण्डी, काव्याद० २,३५७

सङ्कीर्ण

भामह की ससृष्टि को दण्डी ने सङ्कीर्ण सज्ञा से अभिहित किया है। इसका सामान्य स्वरूप भामह के ससृष्टि अलङ्कार के स्वरूप से अभिन्न है। नाना अलङ्कारो के योग के स्वरूप को दण्डी ने अधिक स्पष्ट रूप मे प्रस्तुत किया है। वे अलङ्कार या तो परस्पर अङ्गाङ्गिभाव से रह सकते है या परस्पर निरपेक्ष रूप से। इस प्रकार सङ्कीर्ण के दो भेद माने गये है। भामह अनेक अलङ्कारो के एकत्र सद्भाव की इन स्थितियो से अपरिचित नही थे। स्पष्ट है कि भामह की ससृष्टि-धारणा को ही दण्डी ने नामभेद से स्वीकार किया है।

भाविक

दण्डी ने भामह की तरह भाविक को प्रबन्धगत गुण या प्रबन्धगत अलङ्कार कहा है, किन्तु उसके स्वरूप की कल्पना किञ्चित् भिन्न रूप से की है। इसका सम्बन्ध सम्पूर्ण प्रबन्ध मे व्यक्त कवि के भाव से है। प्रबन्ध मे आधिकारिक एव प्रासङ्गिक कथावस्तुओ का परस्पर उपकारकारी होना, व्यर्थ विशेषणो का प्रयोग नही किया जाना, प्रकृत रस, भाव आदि के उपयुक्त विशेषणो का प्रयोग किया जाना और पद-विन्यास के सामर्थ्य से गूढ अर्थ का भी स्फुट रूप मे वर्णन किया जाना—ये सब मिल कर भाविक अलङ्कार की स्वरूप-सिद्धि करते है।[1] भामह ने भी कथा की स्वभिनीतता तथा शब्द की अनाकुलता को भाविक का हेतु माना है।[2] स्पष्ट है कि प्रबन्ध काव्य की सफलता के लिए अपेक्षित सभी तत्त्वो को भाविक का अङ्ग मान लिया गया है। आधिकारिक एव अवान्तर कथावस्तुओ मे परस्परोपकारित्व के अभाव मे प्रबन्ध का प्रभाव विखर जाता है। नाटक के वस्तु-सघटन मे भी इस तत्त्व पर विचार किया गया है। व्यर्थ विशेषणो का प्रयोग दोष है। दण्डी ने उसका अभाव भाविक मे आवश्यक माना है। भाव के पोषक विशेषणो के प्रयोग की धारणा भरत की उदारता गुण-धारणा से तथा गम्भीर अर्थ के स्फुटतया वर्णन की धारणा उनकी 'विचार-गहन किन्तु स्वभाव स्फुट' श्लेष गुण की धारणा से ली गई है। स्पष्ट है कि पूर्ववर्ती आचार्यों के गुण-लक्षण तथा प्रबन्ध-काव्य-लक्षण से तत्त्व ग्रहण कर दण्डी ने भाविक की रूप-रचना की है।

---

१. दण्डी, काव्याद०, २,३६४-६६

२. भामह, काव्याल० ३, ५४

निष्कर्षत दण्डी के अधिकाश अलङ्कारो का स्वरूप भामह के अलङ्कार के स्वरूप के समान ही है। उनके भेदोपभेद भी बहुलाशत भामह की धारणा के अनुरूप है। दण्डी ने जिन नवीन अलङ्कारो तथा उनके भेदोपभेदो की उद्भावना की है, उनमे से अधिकाश का मूल भामह की अलङ्कार-धारणा मे तथा भरत की लक्षण, गुण, अलङ्कार आदि की धारणा मे है। कुछ प्राचीन अलङ्कारो के सामान्य स्वरूप के सम्बन्ध मे पूर्ववर्ती आचार्यो की मान्यता को ही दण्डी ने स्वीकार किया है, किन्तु उनके नवीन भेदोपभेदो की कल्पना कर ली है। इस भेद-कल्पना मे कही-कही पूर्ववर्ती आचार्यो के अलङ्कार, लक्षण आदि के तत्त्वो का अवलम्ब लिया गया है। अत उद्गम-स्रोत की दृष्टि से दण्डी के काव्यालङ्कारो के निम्नलिखित वर्ग माने जा सकते है—

(क) पूर्वाचार्यों के अलङ्कारो से अभिन्न—इस वर्ग मे यथासख्य, प्रेय, रसवत्, ऊर्जस्वी, पर्यायोक्त, निदर्शन, सहोक्ति आदि अलङ्कार आते है।

(ख) भामह की अलङ्कार-धारणा के आधार पर कल्पित नवीन अलङ्कार—आवृत्ति दण्डी का नवीन अलङ्कार है। यह भामह की दीपक-धारणा के आधार पर कल्पित है।

(ग) भरत के अलङ्कारेतर तत्त्वो के आधार पर कल्पित—हेतु, सूक्ष्म एव लेश भरत के विभिन्न लक्षणो से जीवन-रस ग्रहण कर उत्पन्न है। भाविक के स्वरूप-निर्माण मे अनेक गुणो, तथा दोषाभाव आदि की धारणा ने योग दिया है।

(घ) पूर्ववर्ती आचार्य के द्वारा अस्वीकृत, किन्तु दण्डी के द्वारा स्वीकृत—हेतु, सूक्ष्म तथा लेश के अलङ्कारत्व का भामह ने खण्डन किया था, किन्तु दण्डी ने उन्हे वाणी के उत्तम अलङ्कार के रूप मे स्वीकार किया है। आशी का अलङ्कारत्व भी भामह को अभिमत नही जान पडता; पर दण्डी ने उसका अलङ्कारत्व स्वीकार कर आशीष या शुभाशसा के ही आधार पर उसके स्वरूप की कल्पना की है।

(ङ) अलङ्कार का सामान्य स्वरूप पूर्ववर्ती आचार्यों की धारणा के अनुरूप, किन्तु भेद नवीन—उपमा, रूपक, दीपक, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, अपह्नुति, श्लिष्ट आदि अलङ्कारो के सामान्य स्वरूप के निर्धारण मे दण्डी भामह से सहमत है; किन्तु इन अलङ्कारो के अनेक भेदो की कल्पना उन्होंने कर ली है। उन भेदो के स्रोत के अन्वेषण-क्रम मे हम देख चुके है कि कुछ अलङ्कारो के भेद अन्य अलङ्कारों के तत्त्वो के योग से निर्मित है, कुछ भेदो की

कल्पना का आधार भरत की लक्षण-धारणा आदि है। कुछ भेद पूर्ववर्ती आचार्यो के अलङ्कार-भेदो के आधार पर भी कल्पित है। उदाहरणार्थ—सशयोपमा, श्लेषोपमा, तुल्ययोगोपमा आदि उपमा-भेद; श्लिष्टरूपक, उपमा रूपक, रूपक-रूपक आदि रूपक-भेद तथा श्लिष्टाक्षेप, सशयाक्षेप, अर्थान्तराक्षेप आदि आक्षेप-भेद मूल अलङ्कार मे तत्तदलङ्कारो के तत्त्वो के योग से कल्पित है। कुछ अलङ्कार-भेदो के स्वरूप की नूतन उद्भावना का श्रेय दण्डी को अवश्य मिलना चाहिए। यमक के श्लोकाभ्यास, उपमा के नियम, रूपक के विषम, श्लेष के नियामक आदि भेद की कल्पना मे दण्डी की मौलिकता स्पष्ट है।

(च) भामह के स्वतन्त्र अलङ्कार अन्य अलङ्कार मे या उसके भेद मे अन्तर्भुक्त—भामह का अनुप्रास अपनी स्वतन्त्र सत्ता खोकर यमक मे ही विलीन हो गया है। ससन्देह उपमा के एक भेद के रूप मे तथा उपमा-रूपक रूपक के भेद के रूप मे स्वीकार कर लिया गया है।

(छ) पूर्ववर्ती आचार्यो के अलङ्कार-लक्षण किञ्चित् भेद से स्वीकृत—भाविक, परिवृत्ति, तुल्ययोगिता आदि अलङ्कार इस वर्ग मे रखे जा सकते है। हम देख चुके है कि परिवृत्ति, तुल्ययोगिता आदि की कल्पना मे भामह के मत को अशत स्वीकार करने पर भी दण्डी ने उन अलङ्कारो के स्वरूप मे अपनी ओर से भी कुछ जोडा है। भाविक का स्वरूप भी भामह के भाविक से थोडा भिन्न है। इसकी कल्पना मे भरत की गुण-धारणा का प्रभाव स्पष्ट है।

दण्डी ने स्वय इस तथ्य को स्वीकार किया है कि अलङ्कार की विविधता की कल्पना का बीज पूर्ववर्ती आचार्यो की कृतियो मे ही निहित है।[१] स्पष्ट है कि भरत के 'नाट्यशास्त्र' मे उल्लिखित अलङ्कार, लक्षण आदि का जो स्वरूप भामह के 'काव्यालङ्कार' मे विभिन्न अलङ्कार-प्रपञ्च के रूप मे विकसित हुआ था, उसी को दण्डी के 'काव्यादर्श' मे थोडा और विकास प्राप्त हुआ।



---

१. किन्तु बीज विकल्पाना पूर्वाचार्यैं प्रदर्शितम्।
तदेव परिसस्कर्तु मयमस्मत्परिश्रम ॥—दण्डी, काव्यादर्श, २,२

आचार्य उद्भट

अलङ्कार-शास्त्र के इतिहास मे आचार्य उद्भट का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनका 'भामह विवरण' उपलब्ध नही, किन्तु अन्य ग्रन्थो मे पाये जाने वाले निर्देश के आधार पर यह माना जा सकता है कि वह भामह के अलङ्कार-सिद्धान्त का विवरण-मात्र नही था, उसमे भामह की मान्यताओ का तटस्थ-विवेचन तथा नवीन सिद्धान्तो का युक्तिपूर्ण स्थापन भी हुआ था।[1] भारतीय-अलङ्कार-शास्त्र मे उद्भट के मतानुयायियो की सुदीर्घ परम्परा रही है। आनन्दवर्द्धन, मम्मट आदि के ग्रन्थो मे उद्भट के समर्थको के विचारो का 'इत्यौद्भटायन' आदि वाक्य-खण्ड के द्वारा उल्लेख उद्भट की महत्ता का प्रमापक है। उद्भट ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यो के कुछ अलङ्कारो के स्वरूप को अधिक परिष्कृत रूप मे प्रस्तुत किया है। उन्होने भामह तथा दण्डी के कुछ अलङ्कारो की सत्ता अस्वीकार कर दी, कुछ अलङ्कारो के नवीन भेदोपभेदो की कल्पना की तथा कुछ अलङ्कारो को नाम्ना स्वीकार कर उनके नूतन लक्षण की उद्भावना की। इतना ही नही, उन्होने भामह तथा दण्डी के द्वारा अनिर्दिष्टपूर्व स्वतन्त्र अलङ्कारो का भी उल्लेख किया है। उनके पूर्ववर्ती विचारको मे से भामह के अलङ्कार-सिद्धान्त ने उन्हे सर्वाधिक प्रभावित किया है। उन्होने भामह की कुछ अलङ्कार-परिभाषाओ को यथारूप स्वीकार कर लिया है। उनके 'काव्यालङ्कारसारसङ्ग्रह' मे विवेचित अलङ्कारो का क्रम भी भामह के 'काव्यालङ्कार' के अलङ्कार-क्रम से बहुलांशतः मिलता-जुलता है। प्रस्तुत सन्दर्भ मे उद्भट के द्वारा कल्पित नवीन अलङ्कारो, प्राचीन अलङ्कारो के नवीन भेदोपभेदो तथा प्राचीन अलङ्कारो की नूतन परिभाषाओं के स्रोत का अन्वेषण अभीष्ट है।

उद्भट ने अपने 'काव्यालङ्कारसारसङ्ग्रह' में निम्नलिखित इकतालीस अलङ्कारो का सविस्तर विवेचन किया है—(१) पुनरुक्तवदाभास, (२) छेकानुप्रास, (३) अनुप्रास, (४) लाटानुप्रास, (५) रूपक, (६) दीपक, (७) उपमा, (८) प्रतिवस्तूपमा, (९) आक्षेप, (१०) अर्थान्तरन्यास, (११) व्यतिरेक, (१२) विभावना, (१३) समासोक्ति, (१४) अतिशयोक्ति, (१५) यथासख्य, (१६) उत्प्रेक्षा, (१७) स्वभावोक्ति, (१८) प्रेय, (१९) रसवत्, (२०) ऊर्जस्वी,

---

१. द्रष्टव्य, काव्यालङ्कारसारसग्रह, के० एस० रामस्वामी कृत प्रस्तावना पृ० २१

के द्वारा काव्यालङ्कार के रूप मे स्वीकृत था, किन्तु उद्भट ने उसका नामोल्लेख भी नही किया है। भामह के उत्प्रेक्षावयव तथा उपमारूपक अलङ्कारो की पृथक् सत्ता का निषेध दण्डी ने ही कर दिया था। उद्भट दण्डी की इस मान्यता से सहमत जान पड़ते है। वस्तुत उत्प्रेक्षावयव को उत्प्रेक्षा का तथा उपमारूपक को रूपक का भेद मानना ही समीचीन है। आचार्य दण्डी के द्वारा कल्पित आवृत्ति अलङ्कार को भी 'काव्यालङ्कार सार सङ्ग्रह' मे स्वीकृति नही मिली है। दण्डी की आवृत्ति-धारणा के परीक्षण-क्रम मे हमने यह सिद्ध किया है कि दीपक अलङ्कार से पृथक् आवृत्ति की सत्ता की मान्यता तर्कपुष्ट नही है। हेतु, सूक्ष्म तथा लेश के अलङ्कारत्व का भामह ने खण्डन किया था। दण्डी ने उन्हे न केवल अलङ्कार के रूप मे स्वीकृति दी, अपितु उन्हे वाणी के उत्तम आभूषण कहा। उद्भट ने हेतु, सूक्ष्म तथा लेश का विवेचन नही किया है। उद्भट के द्वारा यमक अलङ्कार का उल्लेख नही किये जाने का कारण अनुप्रास के साथ उसके स्वरूप का अतिशय साम्य ही जान पडता है। भामह ने अनुप्रास और यमक दोनो का पृथक्-पृथक् उल्लेख किया था, किन्तु दण्डी ने अलङ्कार के सन्दर्भ मे केवल यमक के स्वरूप का विवेचन किया। उद्भट ने अनुप्रास अलङ्कार के स्वरूप का निरूपण किया है। सम्भव है कि अनुप्रास से पृथक् यमक का स्वरूप-विश्लेषण उन्होने आवश्यक नही समझा हो।

'काव्यालङ्कारसारसङ्ग्रह' मे विवेचित काव्यालङ्कारो के पूर्वाचार्यो के अलङ्कारो से भेदाभेद की दृष्टि से निम्नलिखित वर्ग माने जा सकते है—

(क) सर्वथा नवीन अलङ्कार—इस वर्ग मे पुनरुक्तवदाभास, काव्यलिङ्ग तथा दृष्टान्त अलङ्कार आते है।

(ख) पूर्ववर्ती आलङ्कारिको के अन्य नामधेय अलङ्कारो के आधार पर कल्पित नवीन अलङ्कार—सङ्कर और छेकानुप्रास इस वर्ग के अलङ्कार है। इन दो अलङ्कारो का नामोल्लेख सर्वप्रथम उद्भट की रचना मे ही हुआ है; किन्तु इनका स्वरूप अज्ञात-पूर्व नही था। सङ्कर के स्वरूप का सङ्केत दण्डी के सङ्कीर्ण अलङ्कार के अङ्गाङ्गिभाव भेद मे स्पष्ट है। उद्भट के छेकानुप्रास-नामक नवीन अलङ्कार की उद्भावना का आधार भी पूर्ववर्ती आचार्यों की अनुप्रास-धारणा ही है।

(ग) उद्भट के द्वारा लक्षित-लक्षण पूर्वाचार्यो के अपरिभाषित अलङ्कार—लाटानुप्रास अलङ्कार इस वर्ग मे माना जा सकता है। भामह ने लाटीय

का नामोल्लेख कर उसके उदाहरण से उसके स्वरूप के सम्बन्ध मे अपनी धारणा व्यक्त की थी। उन्होने उसका लक्षण नही दिया था। दण्डी ने उक्त अलङ्कार का उल्लेख भी नही किया। उद्भट ने उसका लक्षण देकर उसके पाँच भेदो का स्पष्ट विवेचन किया है।

(घ) पूर्ववर्ती अलङ्कारो से नामत अभिन्न, किन्तु स्वरूपत भिन्न अलङ्कार—इस वर्ग मे प्रेय, रसवत्, ऊर्जस्वी, समाहित, तुल्ययोगिता, विशेषोक्ति व्याजस्तुति, निदर्शना, परिवृत्ति तथा स्वभावोक्ति अलङ्कार आते है। इन अलङ्कारो का पुन दो उपवर्गो मे विभाजन सम्भव है—(अ) समान अभिधान वाले प्राचीन अलङ्कारो से सर्वथा भिन्न स्वरूप वाले अलङ्कार तथा (आ) उनसे किञ्चित् भिन्न स्वरूप वाले अलङ्कार। प्रेय, ऊर्जस्वी, समाहित तथा तुल्ययोगिता प्रथम उपवर्ग मे और शेष द्वितीय उपवर्ग मे माने जायँगे।

(ङ) प्राचीन अलङ्कारो के समान सामान्य स्वरूप के होने पर भी नवीन भेदोपभेदो से युक्त अलङ्कार—अर्थान्तरन्यास, उत्प्रेक्षा, ससन्देह, अतिशयोक्ति, उपमा तथा व्यतिरेक इस वर्ग मे परिगणित किये जा सकते है। इन अलङ्कारो के सामान्य लक्षण, भामह तथा दण्डी की धारणा के अनुरूप ही दिये गये है, किन्तु उनके कुछ नवीन भेदोपभेदो की कल्पना कर ली गयी है।

(च) पूर्ववर्ती आचार्यो की अलङ्कार-परिभाषा के आधार पर परिभाषित, किन्तु अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट स्वरूप वाले अलङ्कार—पर्यायोक्त, उदात्त, श्लिष्ट, रूपक तथा दीपक अलङ्कारो को इस वर्ग मे मानना उचित होगा। दीपक के तीन भेद भामह की धारणा के अनुरूप ही कल्पित है; पर दीपक के सामान्य स्वरूप को अधिक स्पष्ट करने का प्रयास उद्भट ने किया है। बनहट्टी ने उद्भट के रूपक-लक्षण को भामह के रूपक-लक्षण से सर्वथा स्वतन्त्र माना है।[१] मुझे यह मत युक्तिसङ्गत नही जान पडता। एक वस्तु पर अन्य वस्तु के आरोप का तत्त्व दोनो आचार्यो के रूपक-लक्षण मे समान रूप से है। हाँ, रूपक के स्वरूप के स्पष्टीकरण के लिए उद्भट श्रेय के भागी अवश्य है।

---

१ His (Udbhata's) definitions of the alankara and the varieties must have been, however, of his own invention for he is not indebted to Bhamaha in that respect.—काव्यालङ्कार-सार-सग्रह पर बनहट्टी का Notes पृ० २५

(छ) शब्द-भेद से पूर्ववर्ती आचार्यो की अलङ्कार-परिभापा के आधार पर परिभापित अलङ्कार—इस अलङ्कार-वर्ग मे समासोक्ति, उपमेयोपमा, ससृष्टि तथा प्रतिवस्तूपमा अलङ्कारो की गणना की जा सकती है।

(ज) पूर्ववर्ती आचार्यो के अलङ्कारो से अभिन्न अलङ्कार—उद्भट के अनेक अलङ्कार भामह के अलङ्कार से अभिन्न है। उन्होने भामह की कुछ अलङ्कार-परिभापाओ को ही अपनी पुस्तक मे उद्धृत कर दिया है। इस वर्ग मे उद्भट के निम्नलिखित अलङ्कार आते है—आक्षेप, विभावना, अतिशयोक्ति, यथासख्य, अपह्नुति, विरोध, अप्रस्तुतप्रशमा, सहोक्ति, अनन्वय, तथा भाविक। भाविक अलङ्कार के सम्बन्ध मे उद्भट की मान्यता मे थोडी नवीनता यह है कि जहाँ भामह ने उसे प्रबन्धगत अलङ्कार (गुण) माना था वहाँ उद्भट ने उसे वाक्य का अलङ्कार स्वीकार किया। भाविक अलङ्कार का लक्षण भामह के लक्षण से अभिन्न है।[१]

पुनरुक्तवदाभास

प्रस्तुत अलङ्कार मे अनेक पद समान अर्थ के बोधक-से जान पडते है।[२] उनके अर्थ वस्तुत भिन्न-भिन्न हुआ करते है, किन्तु आपातत: वे समानार्थक प्रतीत होते है। पदो की समानार्थकता के प्रतिभास के अनन्तर उनकी भिन्नार्थकता के तत्त्व-बोध मे उक्ति का चमत्कार निहित रहता है। इस अलङ्कार की कल्पना उद्भट के पूर्व नही हुई थी। इसकी उद्भावना का श्रेय उद्भट को है।

दृष्टान्त

अलङ्कार के क्षेत्र मे दृष्टान्त की अवतारणा सर्वप्रथम उद्भट के 'काव्यालङ्कारसारसग्रह' मे ही हुई है, किन्तु इसका अस्तित्व अज्ञात-पूर्व नही है। भरत ने दृष्टान्त नामक लक्षण का स्वरूप-विवेचन किया है। प्रस्तुत अलङ्कार का स्वरूप भरत के दृष्टान्त लक्षण के स्वरूप से मिलता-जुलता है। आचार्य भरत ने उक्त लक्षण मे वर्ण्य अर्थ के निदर्शन के रूप मे कल्पित अन्य

---

१. तुलनीय—उद्भट, काव्यालङ्कारसारसंग्रह, ६, १२ तथा
भामह, काव्यालङ्कार, ३, ५३-५४

२. पुनरुक्तवदाभासमभिन्नवस्त्विवोद्भासिभिन्नरूपपदम्।
—उद्भट, काव्यालङ्कारसारसग्रह, १, ३

अर्थ के साथ उसका (वर्ण्य का) साम्य-प्रदर्शन वाञ्छनीय माना है।[1] उद्भट के दृष्टान्त अलङ्कार मे वर्ण्य अर्थ के प्रतिबिम्ब के रूप मे अन्य अर्थ के वर्णन पर बल दिया गया है।[2] दोनो आचार्यों की दृष्टान्त-कल्पना का उद्देश्य समान है। प्राकरणिक अर्थ से मिलते-जुलते अन्य अर्थ के वर्णन से उस (प्राकरणिक) अर्थ की प्रभाव-वृद्धि दोनो को अभिप्रेत है। स्पष्ट है कि उद्भट की दृष्टान्त-अलङ्कार-धारणा भरत की दृष्टान्त-लक्षण-धारणा से भूरिशः प्रभावित है।

काव्यलिङ्ग

प्रस्तुत अलङ्कार की परिभाषा मे कहा गया है कि जहाँ एक सुना हुआ अर्थ अन्य अर्थ की स्मृति या किसी वस्तु की अनुभूति का हेतु बनता हो वहाँ काव्यलिङ्ग अलङ्कार होता है।[3] इसे काव्यहेतु सज्ञा से भी अभिहित किया गया है। उद्भट के काव्यलिङ्ग का स्वरूप भरत के हेतु लक्षण के स्वरूप से मिलता-जुलता है।[4] दण्डी ने हेतु को अलङ्कार माना था। उद्भट ने हेतु का उल्लेख नही कर काव्यलिङ्ग की कल्पना की। मम्मट आदि परवर्ती आचार्यों ने भी हेतु की जगह काव्यलिङ्ग को ही स्वीकार किया है।

छेकानुप्रास

उद्भट ने ही सर्वप्रथम छेकानुप्रास अलङ्कार का उल्लेख किया है। उन्होने इसे अनुप्रास अलङ्कार के प्रकार के रूप मे परिगणित नही कर स्वतन्त्र अलङ्कार स्वीकार किया है। उनके अनुसार एक-से स्वर-व्यञ्जन-समुदाय का एकत्र दो बार उच्चारण छेकानुप्रास है।[5] भामह ने अनुप्रास अलङ्कार

---

१ विद्वान् पूर्वोपलब्धौ यत्समत्वमुपपादयेत्।
निदर्शनकृतस्तज्ज्ञैः स दृष्टान्त इति स्मृत ॥
—भरत, ना० शा० १६, २५

२. इष्टस्यार्थस्य विस्पष्टप्रतिबिम्बनिदर्शनम्।
यथेवादिपदैः शून्य बुधैर्दृष्टान्त उच्यते ॥
—उद्भट, काव्यालङ्कारसारसग्रह, ६, १६

३. श्रुतमेक यदन्यत्र स्मृतेरनुभवस्य वा।
हेतुता प्रतिपद्येत काव्यलिङ्ग तदुच्यते ॥—वही, ६, ७

४. तुलनीय, भरत, नाटयशास्त्र, १६, १४

५. छेकानुप्रासस्तु द्वयोर्द्वयो सुसदृशोक्तिकृतौ।
—उद्भट, काव्याल० सार सं० १, ३

मे समान-स्वरूप वाले वर्णो का विन्यास वाञ्छनीय माना था।[१] उद्भट के छेकानुप्रास की सम्भावना भामह की उक्त कल्पना मे निहित थी। भरत के यमक के साथ भामह के अनुप्रास के सम्बन्ध का विवेचन किया जा चुका है।[२] यह मानना असङ्गत नही होगा कि उद्भट से पूर्ववर्ती आचार्य छेकानुप्रास की वर्णयोजना-भङ्गी से सर्वथा अपरिचित नही थे।

सङ्कर

प्रस्तुत अलङ्कार का नामोल्लेख 'काव्यालङ्कारसारसंग्रह' की रचना के पूर्व नही पाया जाता, किन्तु अभिधान नवीन होने पर भी इसका स्वरूप अज्ञात-पूर्व नही था। उद्भट के पूर्व दण्डी ने अलङ्कारो के सङ्कीर्णत्व की चर्चा करते हुए उसके एक भेद मे अनेक अलङ्कारो का अङ्गाङ्गिभाव मे सद्भाव स्वीकार किया था।[3] उद्भट का अनुग्राह्यानुग्राहक भाव सङ्कर दण्डी के उक्त ससृष्टि-भेद से अभिन्न है। स्पष्ट है कि पूर्वाचार्यों की अलङ्कार-ससृष्टि के आधार पर सङ्कर अलङ्कार की कल्पना हुई है। मेरी मान्यता है कि ससृष्टि तथा सङ्कर को स्वतन्त्र अलङ्कार नही मान कर अनेक अलङ्कारो के एकत्र सन्निवेश की विभिन्न अवस्थाएँ मानना अधिक युक्ति-सङ्गत है। आचार्य भरत ने विभूषण लक्षण मे अनेक अलङ्कारो तथा गुणो के सामानाधिकरण्य की कल्पना की है।[४] सङ्कर मे अनेक अलङ्कार समान अधिकरण मे रहते है। अत सङ्कर एव ससृष्टि की कल्पना का आधार भरत की विभूषण-धारणा को माना जा सकता है।

सङ्कर के अनुग्राह्यानुग्राहक भेद—जो दण्डी के अङ्गाङ्गिभाव सङ्कीर्ण से अभिन्न है—के अतिरिक्त तीन अन्य भेदो की भी कल्पना उद्भट ने की है। वे है—सन्देहसङ्कर, शब्दार्थवर्त्यलङ्कार तथा एकशब्दाभिधान सङ्कर।[५] सङ्कर के ये सभी भेद एक अधिकरण मे अनेक अलङ्कारो के सद्भाव की मान्यता पर आधृत

---

१ सरूपवर्णविन्यासमनुप्रास प्रचक्षते।—भामह, काव्याल० २, ५

२ द्रष्टव्य—प्रस्तुत ग्रन्थ पृ० ३३

३. द्रष्टव्य-दण्डी, काव्याद० २, ३६०

४. अलङ्कारैर्गुणैश्चैव बहुभिर्यदलङ्कृतम्।
भूषणैरिव विन्यस्तैस्तद्भूषणमिति स्मृतम्॥
—भरत, ना० शा० १६, ५

५. द्रष्टव्य—उद्भट, काव्याल० सार सं० ५, ११-१३

है। सन्देह-सङ्कर वहाँ माना जाता है जहाँ एकाधिक अलङ्कार की एकत्र सत्ता जान पड़ती है; किन्तु एककालावच्छेदेन उनकी एकत्र स्थिति सम्भव नही होती, फिर भी उन प्रतिभासित होने वाले अनेक अलङ्कारो मे से किसी एक को स्वीकार करने तथा दूसरे को अस्वीकार करने का कोई सबल आधार नहीं मिल पाता।[१] शब्दार्थवर्त्यलङ्कार मे शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार परस्पर निरपेक्ष होकर एक वाक्य या एक श्लोक मे रहा करते है।[२] अलङ्कारो के परस्पर अपेक्षा-रहित सद्भाव की कल्पना दण्डी ने ससृष्टि के एक भेद मे की थी। उद्भट ने अनेक शब्दालङ्कारो तथा अनेक अर्थालङ्कारो के एक अधिकरण मे परस्पर स्वतन्त्र सद्भाव को संसृष्टि माना है;[३] किन्तु शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार के एकत्र अन्योन्यनिरपेक्ष सद्भाव मे सङ्कर के प्रस्तुत भेद की कल्पना कर ली है। ससृष्टि से पृथक् सङ्कर के इस भेद की कल्पना आवश्यक नही थी। परस्पर निरपेक्ष-भाव से एकत्र अनेक शब्दालङ्कार रहे या अनेक अर्थालङ्कार अथवा कुछ शब्दालङ्कार और कुछ अर्थालङ्कार, अलङ्कार के स्वभाव मे कोई अन्तर नही पडता। परवर्ती रुय्यक आदि आलङ्कारिको की रचना मे सङ्कर का उक्त भेद ससृष्टि मे ही अन्तर्भुक्त हो गया है।[४] अलङ्कारो की ससृष्टि (समान अधिकरण मे परस्पर-निरपेक्ष सद्भाव) तीन रूपो में सम्भव है—(क) अनेक शब्दालङ्कारो की ससृष्टि, (ख) अनेक अर्थालङ्कारो की ससृष्टि तथा (ग) शब्दालङ्कार एव अर्थालङ्कार की ससृष्टि।

एकशब्दाभिधान सङ्कर-भेद की कल्पना कर उद्भट ने यह मान्यता व्यक्त की है कि जहाँ एक शब्द या एक वाक्याश मे अनेक अलङ्कारो का सद्भाव हो वहाँ सङ्कर का उक्त भेद माना जाता है।[५] वाक्यगत सङ्कर के आधार पर ही इस वाक्याशगत सङ्कर की कल्पना की गयी है। स्पष्ट है कि भामह तथा

---

१. अनेकालक्रियोल्लेखे सम तद्वृत्यसभवे।
एकस्य च ग्रहे न्यायदोषाभावे च सकर.॥
—उद्भट, काव्यालङ्कार सार सग्रह, ५, ११

२. शब्दार्थवर्त्यलकारा वाक्य एकत्र भासिन·।
सकरो वा· · ·· —वही, ५, १२

३. अलङ्कृतीना बह्वीना द्वयोर्वापि समाश्रयः।
एकत्र निरपेक्षाणा मिथ. ससृष्टिरुच्यते॥—वही, ६, ५

४. तिलतण्डुलन्यायेन मिश्रत्वे ससृष्टि·।—रुय्यक, अलङ्कार सर्वस्व, ८४

५. एकवाक्याशप्रवेशाद्वाभिधीयते।—उद्भट, काव्याल० सार स० ५, १२

दण्डी की अलङ्कार-ससृष्टि-धारणा के आधार पर उद्भट ने चार प्रकार के सङ्कर की कल्पना कर ली है। भामह ने अनेक अलङ्कारो की ससृष्टि का सङ्केत दिया था। दण्डी ने अलङ्कारो के परस्पर सापेक्ष तथा निरपेक्ष-सद्भाव की कल्पना कर सङ्कर तथा ससृष्टि अलङ्कारो के स्वतन्त्र अस्तित्व की कल्पना का मार्ग प्रशस्त कर दिया था। उद्भट ने सङ्कर के चार भेदो की कल्पना कर ली। उद्भट के उक्त चार सङ्कर-भेदो से लक्षित होने वाले लक्ष्य तक भामह तथा दण्डी के ससृष्टि-लक्षण की व्याप्ति असन्दिग्ध है। दण्डी के सङ्कीर्ण-लक्षण के आधार पर सङ्कर तथा ससृष्टि अलङ्कारो के पृथक्-पृथक् स्वरूप के विवेचन मे उद्भट का श्रेय है।

लाटानुप्रास

उद्भट के पूर्ववर्ती आचार्य भामह ने अनुप्रास अलङ्कार का विवेचन करते हुए उसके लाटीय भेद के अस्तित्व का सङ्केत दिया था।[१] उन्होने उक्त अनुप्रास-भेद का लक्षण नही दिया है। एक उदाहरण देकर उसके स्वरूप का परिचय दिया गया है। उदाहरण मे 'दृष्टि-दृष्टि' तथा 'चन्द्र-चन्द्र' का उल्लेख कर स्वर-व्यञ्जन-समुदाय की आवृत्ति मे लाटीय अनुप्रास माना गया है।[२] लाट प्रदेश के कवियो का प्रिय होने के कारण ही सम्भवत उसे लाटीय कहा गया है। उद्भट की लाटानुप्रास-अलङ्कार-धारणा भामह की उक्त धारणा से भिन्न नही। उन्होने (उद्भट ने) लाटानुप्रास के लक्षण मे कहा है कि जहाँ समान शब्द या पद की आवृत्ति होती हो, उन पदो के स्वरूप एव अभिधेय अर्थ के अभिन्न होने पर भी उनका तात्पर्यार्थ भिन्न हो, वहाँ लाटानुप्रास अलङ्कार होता है।[३] भामह के लाटीय अनुप्रास के उक्त उदाहरण मे यह स्पष्ट है कि दृष्टि और चन्द्र शब्दो की आवृत्ति हुई है। दोनो दृष्टि पदो एव चन्द्रपदो का वाच्य अर्थ अभिन्न, किन्तु तात्पर्यार्थ भिन्न है। निष्कर्षत: लाटीय अनुप्रास-विषयक भामह की मान्यता को ही उद्भट ने लक्षण-बद्ध किया है। यह उद्भट की मौलिक उद्भावना नही। भामह की धारणा को परिभाषित कर उद्भट

---

१. लाटीयमप्यनुप्रासमिहेच्छन्त्यपरे यथा ।—भामह, काव्याल० २, ८

२. दृष्टिं दृष्टिसुखां धेहि चन्द्रश्चन्द्रमुखोदित ।—वही, २, ८

३. स्वरूपार्थाविशेषेऽपि पुनरुक्तिः फलान्तरात् ।
शब्दानां वा पदानां वा लाटानुप्रास इष्यते ॥
—उद्भट, काव्यालं० सार स० १, ८

ने शब्द या पद की आवृत्ति की विभिन्न अवस्थाओ के आधार पर लाटानुप्रास के पाँच भेदो की कल्पना की है।

प्रेय

प्रेय अलङ्कार का नाम नवीन नही है किन्तु 'काव्यालङ्कारसारसग्रह' मे विवेचित उसका स्वरूप नवीन है। उद्भट के पूर्ववर्ती आचार्य प्रिय कथन मे प्रेय अलङ्कार मानते थे।[१] उद्भट ने उसका सम्बन्ध स्थायी भाव, व्यभिचारी भाव, सात्त्विक भाव तथा अनुभाव आदि से जोड दिया। इस प्रकार उनके अनुसार जिस काव्य मे अनुभावो के माध्यम से रति आदि भावो की सूचना मिलती हो उसमे प्रेय का सद्भाव माना जायगा।[२] अनुभाव से रति आदि भावो के सूचन की धारणा नवीन नही। आचार्य भरत ने 'नाट्यशास्त्र' मे रस-बोध की प्रक्रिया का वर्णन करते हुए अनुभाव, स्थायी भाव, व्यभिचारी-भाव आदि का सविस्तर विवेचन किया है। अनुभाव हृद्गत रति आदि भाव के सूचक स्वीकार किये गये है। विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारी भाव से पुष्ट होने पर स्थायी भाव रस के रूप मे परिणत होते है।[३] जहाँ कुछ कारणो से रस मे भाव की परिणति सम्भव नही होती उसे रसमय काव्य नही कह कर भाव-प्रधान काव्य ही कहते है। उदाहरणार्थ—श्रेष्ठ व्यक्तियो की रति के वर्णन के समय आश्रय एव आलम्बन के प्रति भावक के चित्त का पूज्य-भाव उसके रसात्मक परिणाम मे बाधक हो जाता है। फलत पूज्य व्यक्ति के प्रति अन्तर का रति-भाव (भक्ति-भाव) रस-दशा तक नही पहुँच कर भाव-दशा मे ही रह जाता है। उद्भट ने ऐसे भाव-युक्त काव्य को ही प्रेयस्वत् माना है। पुष्ट रति आदि की रस-दशा पर उद्भट ने रसवत् अलङ्कार मे विचार किया है। रसवत् से प्रेयस्वत् का भेद स्पष्ट करने के लिए विवृतिकार ने रति शब्द से देवता, गुरु तथा राजा आदि पूज्य व्यक्तियो

---

१. द्रष्टव्य—भामह, काव्याल० ३, ५ तथा दण्डी, काव्याद० २, २७५।

२. रत्यादिकाना भावानामनुभावादिसूचनै.।
यत्काव्य बध्यते सद्भिस्तत्प्रेयस्वदुदाहृतम्।
—उद्भट, काव्यालं० सार स० ४, २

३. विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।
—भरत, ना० शा०, ६, पृ० २७२

की रति का ही अर्थ ग्रहण किया है।[१] स्पष्ट है कि उद्भट ने भामह तथा दण्डी से प्रेय का अभिधान लेकर भरत की भाव-धारणा के आधार पर उसके स्वरूप की कल्पना कर ली।

रसवत्

उद्भट की रसवत्-अलङ्कार-धारणा दण्डी की रसवत्-धारणा से अभिन्न है। दण्डी की तरह वे भी रसमय काव्य मे रसवत् अलङ्कार मानते है।[२]

ऊर्जस्वी

प्रस्तुत अलङ्कार को उद्भट ने रसाभास और भावाभास मे सम्बद्ध कर दिया है। कहने की आवश्यकता नही कि रसाभास तथा भावाभास की कल्पना भरत से ही ली गई है। हाँ, उसे अलङ्कार मानना तथा उसके आधार पर पूर्ववर्ती आचार्यों के भिन्न स्वभाव वाले ऊर्जस्वी के स्वरूप की कल्पना कर लेना उद्भट की नवीनता है। उद्भट के ऊर्जस्वी की स्वरूप-कल्पना नवीन तो नही ही मानी जा सकती, उसका औचित्य भी असंदिग्ध नही।

समाहित

समाहित का सम्बन्ध उद्भट ने रस, भाव, रसाभास या भावाभास की शान्ति से माना है। भरत के 'नाट्यशास्त्र' मे रस-भाव आदि की शान्ति पर विचार किया गया है; किन्तु अलङ्कार से भिन्न प्रसङ्ग मे। उद्भट ने उसे अलङ्कार बना दिया है।

इस प्रकार उद्भट के प्रेय, रसवत्, ऊर्जस्वी तथा समाहित अलङ्कार क्रमश. भाव, रस, रसाभास या भावाभास तथा रस-भाव आदि की शान्ति से सम्बद्ध है। उनके अभिधान या स्वरूप नवीन नही। भरत रस, भाव उनके आभास तथा उनकी शान्ति आदि से पूर्णतः परिचित थे, किन्तु वे उन्हे अलङ्कार नही मानते थे, अलङ्कार से अधिक महत्त्वपूर्ण काव्य का अन्तरङ्ग तत्त्व मानते थे। उद्भट के उक्त चार अलङ्कारों के स्वरूप-विवेचन से स्पष्ट

१. रतिरिह देवगुरुनृपादिविषया गृह्यते। कान्ताविषयायास्तु रतेः सूचने रसवदलङ्कारो वक्ष्यते।—काव्यालं० सार स०, विवृति, पृ० ३२

२. द्रष्टव्य—काव्यालं० सार स०, ४, ४-५ तथा
दण्डी, काव्यादर्श २, २७५

है कि न केवल 'नाट्यशास्त्र' के लक्षण, गुण तथा अलङ्कार ने उत्तरकाल मे अलङ्कार की सख्या-वृद्धि मे योग दिया वरन् उसकी रस-भाव आदि की धारणा के आधार पर भी अनेक अलङ्कारो की सृष्टि हुई।

तुल्ययोगिता

उद्भट ने भामह तथा दण्डी के तुल्ययोगिता-लक्षण को अस्वीकार कर उसके नवीन स्वरूप की कल्पना की है। उनके अनुसार दो अप्रस्तुत पदार्थो अथवा दो प्रस्तुत पदार्थो मे जहॉ समता का वर्णन होता है वहॉ तुल्ययोगिता-नामक अलङ्कार होता है।[१] इसमे वर्णित वस्तुओ मे परस्पर उपमानोपमेय भाव-सम्बन्ध नही रहा करता। भरत ने सिद्धि-लक्षण मे अनेक प्रसिद्ध वस्तुओ के बीच साधारण्य की सिद्धि के लिए किसी अप्रसिद्ध वस्तु का वर्णन वाञ्छनीय माना है। इस लक्षण मे वर्णित वस्तुओ मे उपमानोपमेय-भाव नही रहता, केवल उनकी समता की सिद्धि होती है।[२] तुल्ययोगिता अलङ्कार की कल्पना का मूल-स्रोत उक्त लक्षण को माना जा सकता है। अभिनवगुप्त ने सिद्धि से ही तुल्ययोगिता का उद्भव स्वीकार किया है।

विशेषोक्ति

फलोत्पत्ति के हेतु के रहने पर भी फल की अनुत्पत्ति के वर्णन से जहॉ उक्ति मे वैशिष्टय आता है, ऐसे स्थल मे उद्भट ने विशेषोक्ति अलङ्कार का सद्भाव माना है।[३] कारण के उक्त तथा अनुक्त होने के आधार पर उसके दो भेद स्वीकार किये गये है। विशेषोक्ति का यह लक्षण भामह तथा दण्डी के लक्षण से भिन्न तथा अधिक परिष्कृत है। भामह ने विशेषोक्ति का जो उदाहरण दिया है उसमे शम्भु के द्वारा कामदेव के शरीर के विनष्ट किये जाने से उसके बलापहरण के अविकल हेतु के होने पर भी बलापहरण-रूप कार्य

---

१. द्रष्टव्य—उद्भट, काव्याल० सार स०, ५, ११

२. बहूना च प्रधानाना मध्ये यन्नाम कीर्त्यते।
एकार्थसाधनकृत सा सिद्धिरिति कीर्तिता॥
—भरत, ना० शा०, १६, १७

३. द्रष्टव्य—उद्भट, काव्याल० सार० स०, ५, ५-६

की अनुत्पत्ति दिखाई गई है।[1] भरत ने यद्यपि हेतु के सद्भाव में कार्य के अभाव की उक्ति के चमत्कार पर विचार नहीं किया है, तथापि इसका सङ्केत उनकी क्षमा लक्षण-परिभाषा में उपलब्ध है। क्रोध के हेतु के होने पर भी अक्रोध की दशा में उन्होंने क्षमा नामक लक्षण स्वीकार किया है।[2] भरत के उक्त लक्षण तथा भामह के विशेषोक्ति अलङ्कार के उदाहरण में उद्भट को विशेषोक्ति के उक्त स्वरूप की कल्पना की प्रेरणा मिली होगी।

व्याजस्तुति

जिस उक्ति में आपाततः किसी की निन्दा-सी जान पड़े किन्तु वस्तुतः उसमें उसकी स्तुति निहित हो वहाँ उद्भट ने व्याजस्तुति अलङ्कार माना है।[3] इसमें प्रातिभासिक निन्दा शाब्द तथा वास्तविक स्तुति आर्थ होती है। प्रस्तुत अलङ्कार के सदृश स्वरूप की कल्पना नाट्याचार्य भरत ने कार्य-लक्षण के स्वरूप-विवेचन के क्रम में की थी। उन्होंने कार्य के दो भेदों की कल्पना की। एक में दोष का शब्दतः कथन कर उसमें अर्थतः गुण की योजना की जाती है और दूसरे में इसके विपरीत गुण-कथन में दोष की व्यञ्जना होती है।[4] कार्य के प्रथम भेद से उद्भट की व्याजस्तुति की प्रकृति अभिन्न है।

---

१. स एकस्त्रीणि जयति जगन्ति कुसुमायुध.।
हरतापि तनु यस्य शम्भुना न हृत बलम् ॥
—भामह, काव्याल० ३,२४

२. अक्रोध. क्रोधजननैर्वाक्यैर्य सा क्षमा भवेत् ॥
—भरत, ना० शा०, १६,३१

३. शब्दशक्तिस्वभावेन यत्र निन्दैव गम्यते।
वस्तुतस्तु स्तुतिश्चेष्टा व्याजस्तुतिरसौ मता ॥
—उद्भट, काव्यल० सार स०, ५, १६

४. यत्र सकीर्तयन् दोष गुणमर्थेन योजयेत्।
(यत्र-सकीर्तयन् दोष, यत्र सकीर्त्य दोषास्तु तथा यत्रापसारयन्दोष पाठभेद उपलब्ध है।)
गुणाभिवाद दोषाद्वा कार्यं तल्लक्षणं विदुः ॥
—भरत ना० शा० १६,३७

निदर्शना

जहाँ दो वस्तुओ का पारस्परिक सम्बन्ध उपपन्न नही होने पर उनमे उपमानोपमेय भाव की कल्पना से उपपत्ति सिद्ध हो वहा निदर्शना या विदर्शना नामक अलङ्कार उद्भट ने माना है। इसके दो भेद सम्भव है—(क) जहाँ वस्तुओ का मुख्य सम्बन्ध असम्भव हो तथा (ख) जहाँ वह सम्बन्ध सम्भव हो।[१] स्पष्टत उद्भट ने भामह, आदि पूर्ववर्ती आचार्यो की निदर्शना-धारणा को अस्वीकार कर उसकी नवीन परिभाषा की कल्पना की है। उद्भट की रचना मे निदर्शना के स्थान पर कहा-कही विदर्शना पाठ भी पाया जाता है। प्रतिहारेन्दुराज ने, 'काव्यालङ्कारसारसग्रह' के विवरण मे विदर्शना पाठ मान कर उसकी अन्वर्था सज्ञा सिद्ध करने के लिए यह मान्यता व्यक्त की है कि चूँकि इसमे उपमानोपमेय भाव-रूप विशिष्ट अर्थ के दर्शन होते है, इसलिए इसे विदर्शना कहा गया है।[२] तिलक की विवृति मे निदर्शना पाठ ही स्वीकृत है।[3] मेरी सम्मति मे प्रस्तुत अलङ्कार के व्यपदेश को भामह आदि के द्वारा अनिर्दिष्ट तथा उद्भट के द्वारा उद्भावित मानना युक्तिसगत नही। भामह की निदर्शना सज्ञा ही कुछ परिवर्तन से विदर्शना के रूप मे भी व्यवहृत हो गयी होगी। अत प्रस्तुत अलङ्कार का स्वरूप-मात्र नवीन है, अभिधान प्राचीन। निदर्शना की रूपरचना मे भरत के युक्ति-लक्षण तथा उपमा अलङ्कार के विधायक तत्त्वो का योगदान है। भरत ने युक्ति लक्षण की परिभाषा मे कहा है कि इसमे उत्कृष्ट वस्तु के साथ परस्पर अनुकूलता से उपलक्षित समवाय से अन्य वस्तु का सम्बन्ध सिद्ध किया जाता है।[४] निदर्शना अलङ्कार मे वस्तुओ का सम्बन्ध उनमे उपमानोपमेय भाव की कल्पना से सिद्ध किया जाता है।

---

१. अभवन्वस्तुसम्बन्धो भवन्वा यत्र कल्पयेत्।
उपमानोपमेयत्व कथ्यते सा निदर्शना॥
—उद्भट, काव्याल० सा० स० ५, १८

२ द्रष्टव्य—उद्भट, काव्यालङ्कारसारसग्रह।
—५,१८ पर प्रतिहारेन्दु का विवरण।

३. द्रष्टव्य—काव्यालं० सार सं०, विवृति, पृ० ४५।

४ साध्यते योऽर्थसबन्धो महद्भिः समवायत।
परस्परानुकूल्येन सा युक्तिः परिकीर्तिता॥
—भरत, ना० शा०, १६, ३६

इस प्रकार निदर्शना के स्वरूप-विधान में वस्तुओं के सम्बन्ध-साम्य का तत्त्व युक्ति लक्षण से तथा उपमानोपमेय-भाव का तत्त्व उपमा अलङ्कार से लिया गया है।

परिवृत्ति

उद्भट के परिवृत्ति अलङ्कार का स्वरूप दण्डी की परिवृत्ति के स्वरूप से मिलता-जुलता ही है। जहाँ समान वस्तुओं का पारस्परिक परिवर्त्तन वर्णित हो, न्यून वस्तु से अधिक वस्तु का परिवर्त्तन वर्णित हो अथवा उत्तम वस्तु से हीन वस्तु के परिवर्त्तन का उल्लेख हो वहाँ उद्भट के अनुसार परिवृत्ति अलङ्कार होता है।[१]

स्वभावोक्ति

क्रिया-लग्न मृग-शिशु आदि की चेष्टा के वर्णन में उद्भट ने स्वभावोक्ति अलङ्कार का सद्भाव स्वीकार किया है।[२] स्वभावोक्ति के लिए केवल वस्तु-स्वभाव का कथन पर्याप्त नहीं है। उद्भट की स्वभावोक्ति अलङ्कार-धारणा आचार्य भरत की अर्थव्यक्ति-गुण-धारणा से मिलती-जुलती है। भरत ने प्रसिद्ध अर्थ वाली धातु से लोक की स्वाभाविक क्रिया का वर्णन अर्थव्यक्ति में वाञ्छनीय माना है।[३] उत्तर काल में भी स्वभावोक्ति अलङ्कार और अर्थव्यक्ति गुण की पृथक्-पृथक् सत्ता की कल्पना होती रही है, किन्तु उनका स्वरूप इतना मिलता-जुलता है कि दोनों के बीच बहुत सूक्ष्म विभाजक रेखा ही खींची जा सकती है। इस विषय पर हमने अपने ग्रन्थ 'काव्य-गुणों का शास्त्रीय विवेचन' में विचार किया है।[४] दोनों के स्वरूप-गत साम्य को दृष्टि में रखते हुए

---

१. समन्यूनविशिष्टैस्तु कस्यचित् परिवर्तनम्।
अर्थानर्थस्वभाव यत् परिवृत्तिरभाणि सा॥
—उद्भट, काव्याल० सार स०, ५,३१

२. क्रियाया सम्प्रवृत्तस्य हेवाकाना निबन्धनम्।
कस्यचिन्मृगडिम्भादेः स्वभावोक्तिरुदाहृता॥—वही, ३, ८

३. सुप्रसिद्धाभिधाना तु लोककर्मव्यवस्थिता।
या क्रिया क्रियते काव्ये सार्थव्यक्ति प्रकीर्त्यते॥
—भरत, ना० शा० १६, १०६

४ द्रष्टव्य—लेखक की पुस्तक 'काव्य-गुणों का शास्त्रीय विवेचन' अध्याय २

स्वभावोक्ति अलङ्कार-धारणा का उत्स पूर्वाचार्य की स्वभावोक्ति-धारणा को माना जा सकता है। भरत को अर्थव्यक्ति गुण से पृथक् स्वभावोक्ति अलङ्कार की कल्पना आवश्यक नही जान पडी होगी।

निष्कर्षत पूर्ववर्ती आचार्यो के जिन अलङ्कारो के अभिधान स्वीकार कर उनके नवीन स्वरूप का विधान उद्भट ने किया है उनमे से अधिकाश का उद्गम-स्रोत भरत की लक्षण, गुण एव अलङ्कार-धारणा मे पाया जा सकता है।

अर्थान्तरन्यास

उद्भट के अर्थान्तरन्यास का सामान्य स्वरूप भामह तथा दण्डी के अर्थान्तरन्यास से अभिन्न है[१], किन्तु जहाँ भामह और दण्डी ने उसके एक ही रूप का विवेचन किया था वहाँ उद्भट ने उसके चार भेदो की कल्पना कर ली। ये भेद समर्थ्य एव समर्थक वाक्य के पौर्वापर्य तथा समर्थक 'हि' शब्द के उक्त तथा अनुक्त होने के आधार पर कल्पित है। इस भेद-कल्पना से अर्थान्तर-न्यास के सम्बन्ध मे मूल-धारणा मे कोई अन्तर नही पडता।

उत्प्रेक्षा

उद्भट का सामान्य उत्प्रेक्षा-लक्षण भामह के लक्षण से अभिन्न है। उद्भट ने भामह के लक्षण-श्लोक को ही अशत उद्धृत कर दिया है।[२] उन्होने भाव तथा अभाव की सम्भावना के आधार पर उत्प्रेक्षा के दो भेद माने है।

ससन्देह

ससन्देह अलङ्कार का सामान्य लक्षण उद्भट ने भामह के 'काव्यालङ्कार' से ही लिया है।[३] उन्होने उसके एक नवीन भेद की कल्पना की है। इस नवीन भेद को कारिका मे सन्देह कहा गया है (ससन्देह नही)। विवृतिकार

१. द्रष्टव्य—उद्भट, काव्याल० सार स० २, ६, भामह, काव्याल० २, ७१-७३ तथा दण्डी, काव्याद० २, १६९

२. द्रष्टव्य—उद्भट, काव्याल० सार स० ३, ४-५ तथा भामह, काव्याल० २, ९१

३. द्रष्टव्य—उद्भट, काव्याल० सार स०, ६, २ तथा भामह, काव्याल० ३, ४३

ने ससन्देह और सन्देह मे अभेद माना है।[१] उद्भट के अनुसार जिस रचना मे तात्त्विक सन्देह के अभाव-स्थल मे भी, अन्य किसी अलङ्कार के सौन्दर्य की सृष्टि के लिए, प्रत्यक्ष रूप मे सन्देह का वर्णन होता है वहाँ ससन्देह का यह भेद माना जाता है।[२] इसमे किसी वस्तु के सम्बन्ध मे कवि के मन मे कोई सन्देह नही रहता। वह किसी वस्तु के सम्बन्ध मे अन्य लोगो के सन्देह की सम्भावना कर लिया करता है। ससन्देह के प्रथम भेद मे कवि किसी वस्तु से अन्य वस्तु के सादृश्यातिशय के कारण अपने मन मे होने वाले सन्देह का वर्णन करता है। वस्तुत ससन्देह के उक्त दोनो रूपो मे वर्णन की भङ्गिमा का ही भेद है। कवि की स्थिति की दृष्टि मे विचार करने पर दोनो मे कोई तात्त्विक भेद नही जान पडता। वस्तु-वर्णन के समय वस्तु के सम्बन्ध मे कवि के मन की सशयात्मक दशा नही रहा करती। दो वस्तुओ के सादृश्याधिक्य की व्यञ्जना के लिए सन्देह की कल्पना कर ली जाती है। स्पष्ट है कि उक्त दोनो ससन्देह-भेदो मे सन्देह कवि-कल्पना-प्रसून ही होता है।

अतिशयोक्ति

उद्भट ने भामह की अतिशयोक्ति-परिभाषा को अक्षरश स्वीकार कर लिया है।[३] उन्होने उसके चार भेदो का उल्लेख किया है। भामह तथा दण्डी ने अतिशयोक्ति के एक ही रूप का विवेचन किया था। उद्भट की अतिशयोक्ति के चार प्रकार निम्नलिखित है—

(क) भेद मे अभेदकथन, (ख) अभेद मे नानात्व कल्पना, (ग) सम्भाव्यमानार्थनिबन्धन अर्थात् कल्पित वस्तु का वर्णन तथा (घ) कार्य की शीघ्रता के सूचन के लिए कारण के पूर्व ही कार्य का वर्णन।[४] अतिशयोक्ति का सामान्य

---

१. अस्य चालङ्कारस्य ससन्देहसन्देहशब्दाभ्या द्वाभ्यामप्यभिधानमित्युपदेशलक्षणयोर्न विरोध ।—काव्याल०, सार स०, विवृति, पृ० ५०

२. असन्देहेऽपि सन्देहरूप सन्देहनाम तत् ।
—उद्भट, काव्याल० सार स०, ६, ५

३. द्रष्टव्य—उद्भट, काव्याल० सार स०, २, २३ तथा भामह, काव्याल० २, ८१

४. भेदे नान्यत्वमन्यत्र, नानात्व यत्र बध्यते ।
तथा सम्भाव्यमानार्थनिबन्धेऽतिशयोक्तिगी ॥
कार्यकारणयोर्यत्र पौर्वापर्यविपर्ययात् ।
आशुभाव समालम्ब्य बध्यते सोऽपि पूर्ववत् ॥
—उद्भट, काव्याल० सार स०, २, २४-२५

लक्षण भामह से लेने पर भी उसके उक्त चार भेदो के स्पष्ट विवेचन के लिए उद्भट श्रेय के अधिकारी है।

उपमा

उपमा अलङ्कार के सामान्य स्वरूप की कल्पना मे उद्भट पूर्ववर्ती आचार्यों से सहमत है।[1] भामह ने जहाँ उपमान और उपमेय का साम्य उपमा का लक्षण माना था, वहाँ उद्भट ने साधर्म्य शब्द का प्रयोग किया। साधर्म्य का अर्थ साम्य से भिन्न नही। भरत ने इसके स्थान पर सादृश्य शब्द का प्रयोग किया था। भामह के उपमा-लक्षण मे प्रयुक्त 'देशकालक्रियादि-भिर्विरुद्धेन' के आधार पर ही उद्भट ने अपनी उपमा-परिभाषा में "मियोविभिन्नकालादिशब्दयो:' का प्रयोग किया है। उद्भट ने साधर्म्य के साथ 'चेतोहारी' विशेषण का प्रयोग किया है। भामह आदि पूर्ववर्ती आचार्यो ने उक्त विशेषण का प्रयोग नही किया था। उसका प्रयोग आवश्यक भी नही था। काव्यालङ्कार के मूल मे ही चित्ताकर्षक होने की धारणा निहित है। जिस सादृश्य मे मनोज्ञता नही होगी उसे कोई अलङ्कार ही नही मानेगा। स्पष्ट है कि उपमा के सामान्य स्वरूप के सम्बन्ध मे पूर्ववर्ती आचार्यो की धारणा को ही उद्भट ने शब्द-भेद से उपस्थित किया है।

उपमा अलङ्कार के अनेक भेदो की कल्पना उद्भट ने की है। उपमा के प्रकार-प्रतिपादक कारिका की व्याख्या दो प्रकार से की गई है। इन्दुराज ने उसकी व्याख्या कर उपमा के सत्रह भेद निर्णीत किये, किन्तु विवृतिकार तिलक ने उसी कारिका के आधार पर इक्कीस उपमा-भेद स्वीकार किये है।[2] उपमा के अनेक भेदो की कल्पना आरम्भ से ही होती रही है। आदि आचार्य भरत ने उपमान तथा उपमेय के सख्या-भेद के आधार पर उपमा के चार भेदो तथा शरीरगत भेद के आधार पर उसके पाँच मुख्य भेदो का उल्लेख कर लोक और काव्य मे प्रयुक्त होने वाले उसके अन्य भेदो की ओर भी इङ्गित किया था। भामह ने उसके तीन प्रमुख भेदो का विवेचन कर उसके अन्य भेदो की भी सम्भावना स्वीकार की। दण्डी ने उसके बहुत-से भेदो का स्वरूप-विवेचन किया। उद्भट ने उसके सत्रह अथवा इक्कीस भेद मान लिये।

---

१ द्रष्टव्य—उद्भट, काव्याल० सार स०, १, ३२, भरत, ना० शा०, १६, ४१

२. द्रष्टव्य—काव्याल० सार स० की विवृति पृ० १५ तथा विवरण।

उनके उपमालङ्कार-भेदीकरण का आधार उपमा के चार तत्त्वों का उक्त तथा अनुक्त होना है। जहाँ उपमेय, उपमान, साधर्म्य तथा वाचक शब्द—ये चारों तत्त्व उक्त हों वहाँ पूर्णा और जहाँ उनमें से कोई तत्त्व लुप्त हो वहाँ लुप्ता उपमा मानी गयी है। पूर्णा के पाँच तथा लुप्ता के बारह भेद उन्द्रराज के अनुसार होते हैं। वे हैं—

(क) पूर्णा उपमा—वाक्यावमेया (श्रौती तथा आर्थी भेद से दो प्रकार), समासावमेया तथा तद्धितावसेया (श्रौती एवं आर्थी भेद से दो प्रकार)। इस प्रकार पूर्णोपमा के मुख्य तीन भेद हैं, जो श्रौती तथा आर्थी उपभेद से पाँच प्रकार के बन जाते हैं।

(ख) लुप्तोपमा—(१) वाक्यावमेया, (२) समासावमेया (चार प्रकार), (३) सुब्धातुप्रत्ययावसेया (चार प्रकार), (४) कृदवमेया (दो प्रकार) तथा (५) तद्धितावमेया।

उद्भट ने उपमा के वर्गीकरण का एक नया आधार दिया। उपमा के चार अङ्गों से सभी आचार्य परिचित थे। उनके अभाव-सद्भाव के आधार पर उपमा के उक्त भेदों की कल्पना का श्रेय उद्भट को ही मिलना चाहिए।

व्यतिरेक

उद्भट ने भामह की व्यतिरेक-धारणा को मूलतः स्वीकार कर उपमेय के उपमान से आधिक्य-कथन में व्यतिरेक अलङ्कार माना है।[1] आधिक्य के हेतु के उक्त तथा अनुक्त होने के आधार पर उद्भट ने व्यतिरेक के दो मुख्य भेद स्वीकार किये हैं। उपमेय के उत्कर्ष-हेतु के तथा उपमान के अपकर्ष-हेतु के उक्त एवं अनुक्त होने के आधार पर उसके चार भेद हो जाते हैं। उन्होंने वैधर्म्य दृष्टान्त के आधार पर भी एक प्रकार के व्यतिरेक की कल्पना की है।[2] दृष्टान्त की धारणा भरत के लक्षण-विवेचन में भी पायी जाती है।[3] साधर्म्य, वैधर्म्य आदि की धारणा भी नवीन नहीं। दर्शन की प्राचीन चिन्तन-

---

१. विशेषापादनं यत् स्यादुपमानोपमेययोः।
निमित्तादृष्टिदृष्टिभ्यां व्यतिरेको द्विधा तु सः॥
—उद्भट, काव्यालं० सार सं०, २, १२

२. यो वैधर्म्येण दृष्टान्तो यथेवादिपदान्वितः।
व्यतिरेकोऽत्र सोऽप्यीष्टो विशेषापादनान्वयात्॥—वही, २, १५

३. द्रष्टव्य—भरत, ना० शा०, १६, २५

प्रणाली मे वैधर्म्य की धारणा वर्त्तमान थी । व्यतिरेक के इस भेद की कल्पना का मूल उक्त दृष्टान्त तथा वैधर्म्य की धारणा मे पाया जा सकता है । उद्भट का एक अन्य व्यतिरेक-भेद श्लिष्टोक्तियोग्यशब्दयुक्त व्यतिरेक सज्ञा से अभिहित किया जा सकता है ।[१] श्लिष्टोक्ति की धारणा भामह आदि प्राचीन आचार्यो की श्लिष्ट-अलङ्कार-धारणा से ली गयी है । इस प्रकार श्लिष्ट कथन की धारणा के साथ व्यतिरेक की धारणा को मिला कर इन नवीन व्यतिरेक-प्रकार की कल्पना कर ली गयी है ।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि कुछ अलङ्कारो के सामान्य स्वरूप के सम्बन्ध मे पूर्ववर्ती आचार्यो के सिद्धान्त से सहमत होने पर भी उद्भट ने उनके कुछ नवीन भेदो की कल्पना कर ली है । फिर भी यह मान लेने का सबल आधार है कि पूर्ववर्ती आचार्य उद्भट के द्वारा उद्भावित उन अलङ्कार-भेदो की सम्भावना से सर्वथा अपरिचित नही थे । पूर्वाचार्यों के अलङ्कार-विशेष के सामान्य लक्षण मे निहित प्रकार-कल्पना के बीज का ही पल्लवन उद्भट की रचना मे हुआ है ।

पर्यायोक्त

पर्यायोक्त अलङ्कार के स्वरूप की कल्पना मे उद्भट भामह से सहमत है; किन्तु उन्होने भामह-प्रदत्त पर्यायोक्त-परिभाषा को और अधिक स्पष्ट करने का प्रयास किया हे । 'काव्यालङ्कारसारसग्रह' के पर्यायोक्त-लक्षण-श्लोक की प्रथम पक्ति भामह के 'काव्यालङ्कार' से ही ली गयी है । उसी अर्थ के स्पष्टीकरण के लिए उद्भट ने श्लोक की द्वितीय पक्ति की रचना की है ।[२] प्राचीन अलङ्कार-लक्षण को स्पष्ट रूप मे उपस्थित करने-मात्र का श्रेय उद्भट को है ।

उदात्त

भामह ने उदात्त के जिन दो रूपो का निर्देश किया था उन्हे दण्डी ने अपने 'काव्यादर्श' मे परिभाषित किया । दोनो आचार्यो की मान्यता थी कि

---

१. श्लिष्टोक्तियोग्यशब्दस्य पृथक् पृथगुदाहृतौ ।
विशेषापादन यत् स्यात् व्यतिरेक स च स्मृत ॥
—उद्भट, काव्याल० सार स०, २, १७

२. द्रष्टव्य—उद्भट, काव्याल० सार स०, ४, ११ तथा भामह, काव्यालं०, ३, ८ ।

व्यक्ति की उच्चाशयता तथा समृद्धि के वर्णन मे उदात्त अलङ्कार होता है। उद्भट ने उदात्त-विषयक उक्त मत को स्वीकार किया है। उन्होने रसवदलङ्कार से उदात्त के भेद-निरूपण के लिए उदात्त की परिभाषा मे अपनी ओर से यह जोडा है कि वस्तु वैभव या चारित्रिक औदात्य का चित्रण उदात्त मे गौण रूप मे होना चाहिए।[1] उदात्त-चेता व्यक्ति के चरित्र का अङ्कन जहाँ कवि का मुख्य उद्देश्य होगा वहाँ उदात्त अलङ्कार नही होकर रसवदलङ्कार ही माना जायगा। अत. समृद्धि-वर्णन तथा महात्मचरित-चित्रण के साथ 'उपलक्षणतायाति' जोड कर उद्भट ने पूर्ववर्ती आचार्यो की उदात्त-धारणा को ही अधिक स्पष्ट किया है।

श्लिष्ट

उद्भट ने पूर्ववर्ती आचार्यो की श्लिप्ट अलङ्कार-विपयक मान्यता को परिष्कृत कर उपस्थित किया है। दण्डी ने अभिन्नपद तथा भिन्नपद , ये दो भेद श्लेप के माने थे। उद्भट ने शब्दश्लिप्ट तथा अर्थश्लिप्ट भेद से उसके दो प्रकार-स्वीकार किये। अन्य अलङ्कारो के साथ रहने पर श्लेष के सार्वत्रिक प्राधान्य का निर्णय भी सर्वप्रथम उद्भट ने ही किया।[2] श्लेष-लक्षण के परिप्कार के लिए उद्भट श्रेय के भागी है।

रूपक

यद्यपि उद्भट ने भरत, भामह, दण्डी आदि आचार्यों की रूपक-परिभाषा मे प्रयुक्त शब्दावली का प्रयोग अपनी रूपक-परिभाषा मे नही किया है, तथापि उनकी रूपक-धारणा को प्राचीन आचार्यो की तद्विषयक धारणा से सर्वथा स्वतन्त्र नही माना जा सकता। उन्होने रूपक के लक्षण मे कहा है कि इसमे एक पद से पदान्तर का सम्बन्ध होता है; किन्तु अभिधा से इस सम्बन्ध के अनुपपन्न होने के कारण लक्षणा वृत्ति से दोनो का सम्बन्ध सिद्ध किया जाता है।[3] 'काव्यालङ्कारसारसग्रह' मे जो उदाहरण दिये गये है उन्हें पूर्ववर्ती आचार्यों

---

१. उदात्तमृद्धिमद्वस्तु चरित च महात्मनाम्।
उपलक्षणता प्राप्त नेतिवृत्तत्वमागतम्॥
—उद्भट, काव्याल० सार स० ४, १७

२. द्रष्टव्य—वही, ४, २३-२४।

३. श्रुत्या सबन्धविरहाद्यत्पदेन पदान्तरम्।
गुणवृत्ति प्रधानेन युज्यते रूपक तु तत्॥—वही, १,२१

के रूपक-लक्षण के भी लक्ष्य माना जा सकता है।[१] एक वस्तु पर अन्य का आरोप रूपक की मूल धारणा है। उद्भट भी पदो के योग को लक्षणा वृत्ति से सिद्ध करने के क्रम मे आरोप का तत्त्व स्वीकार करते है। अत बनहट्टी की यह उक्ति युक्ति सङ्गत नही जान पडती कि उनका (उद्भट का) रूपक अलङ्कार-लक्षण तथा रूपक-भेद स्वतन्त्र उद्भावना है और उन पर भामह का कोई प्रभाव नही।[२] उद्भट ने भामह के समस्तवस्तुविषय तथा एकदेशविवर्ति रूपक भेदो को भी स्वीकार किया है। समस्तवस्तुविषय के साथ दण्डी की मालारूपक-धारणा को मिला कर समस्तवस्तुविषय मालारूपक नामक एक रूपक-भेद की कल्पना उद्भट ने कर ली है। उन्होने एकदेशवृत्ति नामक नवीन रूपक-प्रकार की कल्पना की है।[३] दण्डी ने रूपक के अनेक भेदो का सोदाहरण विवेचन कर उसके असख्य भेदो की सम्भावना की ओर इङ्गित किया था।[४] स्पष्ट है कि उद्भट के द्वारा कल्पित रूपक-भेद की सम्भावना से वे अनभिज्ञ नही थे। रूपक अत्यन्त प्राचीन अलङ्कार है। भरत से लेकर नवीन आलङ्कारिको तक की रचना मे रूपक को अलङ्कार के रूप मे निर्विवाद रूप से स्वीकृति मिलती रही है। उसका स्वरूप भी आदिकाल से ही, प्राय. अपरिवर्तित ही रहा है। रूपक-परिभाषा मे स्पष्टता-मात्र का श्रेय उद्भट को दिया जा सकता है।

दीपक

रूपक की तरह दीपक भी प्राचीन अलङ्कार है। इसका स्वरूप 'नाट्य-शास्त्र' मे भी विवेचित है। भामह ने दीपक के तीन भेदो का उल्लेख किया था। उद्भट ने भी उसके तीन भेद स्वीकार किये है। उद्भट ने दीपक के सामान्य स्वरूप के सम्बन्ध मे पूर्ववर्ती आचार्यो की मान्यता को ही स्वीकार किया है। उनके अनुसार जहाँ प्रस्तुत और अप्रस्तुत के धर्म का—जिसमे दोनों के बीच साम्य का भाव अन्तर्हित रहता है—आदि, मध्य या अन्त मे कथन होता है, वहाँ दीपक अलङ्कार होता है।[५] 'अन्तर्गतोपमाधर्मा' का उल्लेख कर उद्भट

१ द्रष्टव्य—उद्भट, काव्याल० सार सं०१, २३-२४।

२ द्रष्टव्य—काव्यालकारसारसग्रह पर बनहट्टी की टिप्पणी, पृ० २५

३ द्रष्टव्य—उद्भट, काव्याल० सार स० १, २५।

४. द्रष्टव्य—दण्डी, काव्यादर्श, २, ६६

५. आदिमध्यान्तविषया प्राधान्येतरयोगिन.।
अन्तर्गतोपमा धर्मा यत्र तद्दीपक विदु ॥—उद्भट, काव्याल० सार स० १, २८, तुलनीय भामह, काव्याल०, २, २५

ने दीपक की परिभाषा को अधिक स्पप्ट कर दिया है। दीपक मे प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत का साधर्म्य व्यङ्ग्य होता है।

पर्यायोक्त, उदात्त, श्लिप्ट, रूपक तथा दीपक अलङ्कारो के इस विवेचन मे स्पप्ट है कि उद्भट ने पूर्ववर्ती आचार्यो के मतानुसार ही उनके स्वरूप का विवेचन किया है, किन्तु उनके स्वरूप को अधिक स्पप्ट करने का श्रेय उन्हे (उद्भट को) प्राप्त है।

समासोक्ति

उद्भट की समासोक्ति-विषयक मान्यता भामह की तद्विपयक धारणा से अभिन्न है।[1] उनकी रचना मे भामह की समासोक्ति-परिभापा का ही शब्द-भेद से उपस्थापन हुआ है।

उपमेयोपमा

उद्भट ने शब्दान्तर से भामह के उपमेयोपमा-लक्षण को ही उपस्थित किया है।[2]

संसृष्टि

दण्डी के सङ्कीर्ण के दो भेदो मे से 'सर्वेपा समकक्षता' की धारणा को लेकर उद्भट ने ससृष्टि अलङ्कार की परिभापा की कल्पना की है।[3]

प्रतिवस्तूपमा

प्रकारान्तर से भामह की प्रतिवस्तूपमा-धारणा को ही उद्भट ने प्रस्तुत किया है[4] और उपमा से पृथक् अलङ्कार के रूप मे उसका उल्लेख किया है। इससे स्पप्ट है कि समासोक्ति, उपमेयोपमा, ससृष्टि तथा प्रतिवस्तूपमा के

१. द्रष्टव्य—उद्भट, काव्याल० सार स०, २, २१ तथा भामह, काव्याल० २, ७९

२. द्रष्टव्य—उद्भट, काव्याल० सार स०, ५, २७ तथा भामह, काव्यालं०, ३, ३७

३. द्रष्टव्य—दण्डी, काव्याद०, २, ३६० तथा उद्भट, काव्यालं० सार स० ६, ९

४. द्रष्टव्य—उद्भट, काव्यालं० सार सं० १, ५१ तथा भामह, काव्याल० २, ३४

स्वरूप मे कोई नवीनता उद्‌भट ने नही लायी। उन्होने उक्त अलङ्कारो के सम्बन्ध मे प्राचीन आचार्यो की मान्यता को ही स्वीकार किया है।

उपरि विवेचित अलङ्कारो को छोड उद्‌भट के शेष अलङ्कारो के लक्षण भामह के 'काव्यालङ्कार' से अक्षरश. उद्‌धृत है।

पूर्ववर्ती आचार्यो की अलङ्कार-धारणा के साथ उद्‌भट की अलङ्कार-विषयक मान्यता के इस तुलनात्मक अध्ययन से हम निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचते है—

(क) उद्‌भट के 'काव्यालङ्कारसारसग्रह' मे जितने अलङ्कारो के स्वरूप का विवेचन हुआ उनमे से अधिकाश का मूलाधार भरत, भामह तथा दण्डी की धारणा मे ही है। भरत काव्य-लक्षण की स्वरूप-मीमासा के क्रम मे उद्‌भट के अनेक अलङ्कारो के स्वरूप से मिलते-जुलते स्वरूप वाली उक्तियो पर पहले ही विचार कर चुके थे। उद्‌भट के दृष्टान्त अलङ्कार का प्राक्-रूप भरत का दृष्टान्त लक्षण इस कथन का प्रमाण है। भामह के अधिकाश अलङ्कारो के स्वरूप को तो उद्‌भट ने यथावत् स्वीकार कर लिया है।

(ख) भरत ने रस, भाव आदि के विवेचन-क्रम मे काव्य के जिन तत्त्वों का निरूपण किया था, उनके आधार पर भी उद्‌भट ने कुछ अलङ्कारो के स्वरूप की कल्पना की है। इस प्रकार रस, भाव आदि के आधार रसवत्, प्रेय आदि अलङ्कारो की कल्पना उन्होने कर ली।

(ग) उद्‌भट ने प्राचीन आचार्यों के अलङ्कारो के नवीन भेदोपभेदों का विवरण दिया है, जिनकी सम्भावना प्राय· प्राचीनो के तत्तदलङ्कार के सामान्य लक्षणो मे ही निहित थी।

(घ) पूर्ववर्ती आचार्यो के कुछ अलङ्कारो के स्वरूप को उद्‌भट ने अधिक स्पष्ट रूप मे 'काव्यालङ्कारसारसग्रह' मे प्रस्तुत किया है। अत , कुछ अलङ्कारों की परिभाषा के परिष्कार का श्रेय उद्‌भट को अवश्य मिलना चाहिए।

(ङ) उद्‌भट के अलङ्कार-विवेचन की तुलना मे भरत की परिमित अलङ्कार-सख्या पर दृष्टिपात करने से आपातत. भरत का अलङ्कार-विवेचन अपरिपक्व जान पडेगा; किन्तु तथ्य यह है कि उन्होने अनेक उक्ति-भङ्गियो को काव्य-लक्षणो के क्षेत्र मे परिभाषित किया था, जिनपर पीछे चलकर अलङ्कार के सन्दर्भ मे विचार होने लगा। भरत के लक्षण, गुण, अलङ्कार, रस, भाव आदि के सिद्धान्तो का सहारा लेकर उद्‌भट ने अनेक अलङ्कारो के स्वरूप की कल्पना की है।

(च) पूर्ववर्ती आचार्यों की अलङ्कार-धारणा से उद्भट की धारणा का श्रेय सिद्ध करने के लिए विवृतिकार राजानक तिलक ने जो यह मान्यता प्रकट की है कि विभिन्न वर्गो मे अलङ्कारो को उपस्थित कर उद्भट ने पूर्ववर्ती आलङ्कारिको की सकुचित दृष्टि प्रमाणित की है[1], वह पक्षपातशून्य नहीं है। भामह और उद्भट के अलङ्कार-वर्गों के तुलनात्मक अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वर्गो मे अलङ्कारो के उपस्थापन मे उद्भट ने भामह की पद्धति का ही अनुगमन किया है।

(छ) पुनरुक्तवदाभास-जैसे नवीन अलङ्कार की उद्भावना का श्रेय उद्भट को है।



आचार्य वामन

उद्भट के समसामयिक आचार्य वामन ने 'काव्यालङ्कारसूत्र' मे इकत्तीस काव्यालङ्कारों के स्वरूप का विवेचन किया है। अलङ्कार के सम्बन्ध मे उनकी मान्यता भामह, दण्डी, उद्भट आदि आचार्यो मे कुछ भिन्न है। इसका कारण यह है कि रीति-सम्प्रदाय के प्रतिनिधि आचार्य होने के कारण अलङ्कार के प्रति उनका थोडा उपेक्षा-भाव स्वाभाविक था। वे काव्य मे रीति के विधायक गुण की तुलना मे अलङ्कार को हेय मानते थे। उन्होने अर्थालङ्कारो मे केवल उन्ही अलङ्कारो की सत्ता स्वीकार की है, जिनके मूल मे सादृश्य हो। वे सभी अलङ्कारो को उपमा-प्रपञ्च सिद्ध करना चाहते है।[2] अत:, उन्होने पूर्ववर्ती आचार्यों के उन अलङ्कारो का सद्भाव स्वीकार नही किया, जिनका आधार सादृश्य नही था। फलत. भामह, दण्डी तथा उद्भट के पर्यायोक्त, प्रेय, रसवत, ऊर्जस्वी, उदात्त, भाविक तथा सूक्ष्म आदि की गणना वामन के काव्यालङ्कार की पक्ति मे नही हो पायी। समग्र अलङ्कार-चक्र को उपमा-प्रपञ्च मानने के आग्रह का दूसरा परिणाम यह हुआ कि

---

१. वर्गैर्वर्गैरलङ्कारोपादानं चिरन्तनालङ्कारकृतामल्पदर्शिता प्रकटयितुम्।
—काव्याल० सार सं०, विवृति, पृ० १

२. प्रतिवस्तुप्रभृतिरुपमाप्रपञ्च:।—वामन, काव्याल० सू० ४, ३, १
तथा— शब्दवैचित्र्यगर्भेयमुपमैव प्रपञ्चिता।
—वही, वृत्ति पृ० २८०, हिन्दी काव्याल० सू०

पूर्वाचार्यो के भिन्न स्वरूप वाले कुछ अलङ्कारो मे उपमानोपमेय भाव की कल्पना कर उनके किञ्चित् नवीन स्वरूप की कल्पना कर ली गयी। प्रस्तुत सन्दर्भ मे वामन के नवीन अलङ्कार-लक्षण के स्रोत का अन्वेषण अभिप्रेत है। वामन के इकत्तीस अलङ्कार निम्नलिखित है—

(१) यमक, (२) अनुप्रास, (३) उपमा, (४) प्रतिवस्तूपमा, (५) समासोक्ति, (६) अप्रस्तुतप्रशसा, (७) अपह्नुति, (८) रूपक, (९) श्लेष, (१०) वक्रोक्ति, (११) उत्प्रेक्षा, (१२) अतिशयोक्ति, (१३) सन्देह, (१४) विरोध, (१५) विभावना, (१६) अनन्वय, (१७) उपमेयोपमा, (१८) परिवृत्ति, (१९) क्रम, (२०) दीपक, (२१) निदर्शन, (२२) अर्थान्तरन्यास, (२३) व्यतिरेक, (२४) विशेषोक्ति, (२५) व्याजस्तुति, (२६) व्याजोक्ति, (२७) तुल्ययोगिता, (२८) आक्षेप, (२९) सहोक्ति, (३०) समाहित और (३१) ससृष्टि। इनमे से आरम्भिक दो (यमक तथा अनुप्रास) शब्दालङ्कार है तथा शेष अर्थालङ्कार। वामन के अलङ्कारो की नामावली मे वक्रोक्ति, व्याजोक्ति तथा 'क्रम' नाम नवीन है। क्रम प्राचीन आलङ्कारिको के यथासख्य अलङ्कार का ही नवीन अभिधान है। शेष दो अलङ्कार (वक्रोक्ति और व्याजोक्ति) तथा उनके व्यपदेश नवीन है। आदि आचार्य भरत से लेकर वामन के समकालीन उद्भट तक की रचनाओ मे जिन अलङ्कारो का उल्लेख हो चुका था उनमे से कई अलङ्कारो का नामोल्लेख वामन के काव्यालङ्कार मे नही हुआ है। वे है—आशीः, आवृत्ति, प्रेय, पर्यायोक्त, रसवत्, ऊर्जस्वी, उदात्त, भाविक, हेतु, सूक्ष्म, लेश, सङ्कर, स्वभावोक्ति, लाटानुप्रास, पुनरुक्तवदाभास, दृष्टान्त, छेकानुप्रास, काव्यलिङ्ग, उपमारूपक तथा उत्प्रेक्षावयव। वामन ने उपमारूपक तथा उत्प्रेक्षावयव को स्वतन्त्र अलङ्कार के रूप मे स्वीकृति नही दी, किन्तु उन्हे ससृष्टि के दो भेदो के रूप मे स्वीकार कर लिया। हम इस तथ्य पर विचार कर चुके है कि उपमा तथा रूपक से पृथक् उपमारूपक की और उपमा तथा उत्प्रेक्षा से अलग उत्प्रेक्षावयव की सत्ता स्वीकार करने मे कोई युक्ति नही है। छेकानुप्रास तथा लाटानुप्रास अलङ्कारो की अनुप्रास से स्वतन्त्र सत्ता की कल्पना वामन को उचित नही जान पडी होगी। दृष्टान्त का सर्वप्रथम उल्लेख उद्भट ने किया है। वामन के समय तक उसे बहुत लोकप्रियता नही मिल पायी हो, यह सम्भव है। स्वभावोक्ति का अलङ्कारत्व वक्रोक्तिवादी आचार्य स्वीकार नही करते थे। हेतु, सूक्ष्म तथा लेश के अलङ्कारत्व का भामह ने खण्डन किया था। दण्डी ने उन्हे वाणी का

उत्तम अलङ्करण कहा था। उद्भट ने उन्हे अलङ्कार स्वीकार नही किया। उन विवादग्रस्त अलङ्कारो का उल्लेख वामन ने भी नही किया है। अन्य अलङ्कारो की अस्वीकृति का कारण उनमे उपमामूलकता का अभाव जान पडता है।

सेठ कन्हैया लाल पोद्दार की यह मान्यता उचित नही है कि वामन ने 'काव्यालङ्कार सूत्र' मे केवल तैंतीस अलङ्कार निरूपण किये है'।[1] पोद्दारजी ने सम्भवत उत्प्रेक्षावयव और उपमारूपक को वामन के स्वतन्त्र अलङ्कार के रूप मे परिगणित कर लिया है, जो वस्तुत. समृष्टि के भेद-मात्र है। काव्यालङ्कार-सूत्र के व्याख्याता आचार्य विश्वेश्वर की यह मान्यता भी निर्भ्रान्त नही कि 'वामन ने तीस अर्थालङ्कार और दो शब्दालङ्कार मिलाकर कुल बत्तीस अलङ्कारो का निरूपण किया है।[2] विश्वेश्वर ने वामन के समाहित की गणना नही की और ससृष्टि के दो भेदो को स्वतन्त्र अलङ्कार मान लिया। वामन ने इकत्तीस अलङ्कारो का निरूपण किया है। नीचे हम वामन के अलङ्कारो के स्वरूप का पूर्ववर्ती आचार्यों के अलङ्कारो से सम्बन्ध की दृष्टि से विवेचन करेगे तथा उनके नवीन अलङ्कारो के उद्गम-स्रोत का अन्वेषण करेगे।

वक्रोक्ति

वामन ने सर्वप्रथम वक्रोक्ति नामक अलङ्कार का उल्लेख किया है। यों, वक्रोक्ति शब्द नवीन नही है। भामह ने वक्रोक्ति को अलङ्कारो का प्राण कहा था।[3] उनकी वक्रोक्ति का अर्थ अतिशयोक्ति से मिलता-जुलता था। वामन ने वक्रोक्ति को अलङ्कार-विशेष के रूप मे स्वीकार किया और उसके सम्बन्ध मे विलक्षण धारणा प्रकट की। उन्होने सादृश्यमूला लक्षणा को वक्रोक्ति अलङ्कार कहा है।[4] लक्षणा के पाँच भेदो (अभिधेय सम्बन्धमूला, सादृश्य-मूला, समवाय, वैपरीत्य तथा क्रियायोगा लक्षणा) मे, 'सादृश्य लक्षणा' एक भेद

---

१ द्र० कन्हैयालाल पोद्दार, काव्यकल्पद्रुम, भाग २, प्राक्कथन, पृ० १८।

२. द्र०—हिन्दी काव्याल० सू० पृ० २३१।

३. सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्या कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना॥
—भामह, काव्याल०, २, ८५

४. सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः।—वामन, काव्याल० सू० ४, ३, ८

है। इस शब्द-शक्ति-भेद को एक अलङ्कार मान लेना युक्तिसङ्गत नही जान पडता। शब्द-शक्तियो पर अलङ्कार की सत्ता निर्भर अवश्य रहती है; किन्तु दोनों को अभिन्न नही माना जा सकता। अत, वामन की वक्रोक्ति का अलङ्कारत्व परवर्ती काल मे स्वीकृत नही हुआ।

व्याजोक्ति

व्याजोक्ति भी वामन का नवीन अलङ्कार है। इसे मायोक्ति भी कहा गया है। इसमे बहाने से कही हुई बात को सत्य के रूप मे प्रदर्शित किया जाता है।[1] सत्य को छिपाने के लिए कोई झूठा बहाना बना देने मे ही प्रस्तुत अलङ्कार की सार्थकता है। अलङ्कार के क्षेत्र मे ऐसी उक्ति-भङ्गी की कल्पना नवीन है।

यमक

यमक अलङ्कार के स्वरूप के सम्बन्ध मे वामन ने पूर्ववर्ती भामह आदि आचार्यो से मिलती-जुलती धारणा ही व्यक्त की है। उन्होने यमक के स्थान-नियम पर विशेष बल दिया है और उसके आधार पर उक्त अलङ्कार के अनेक भेदो का विवेचन किया है। भामह भी स्थान-भेद के आधार पर यमक के अनेक भेदो की सम्भावना से अपरिचित नही थे, किन्तु उन्होने सब भेदो का सोदाहरण विवेचन आवश्यक नही समझा। इस सम्बन्ध मे काव्यालङ्कार सूत्र के भाष्यकार आचार्य विश्वेश्वर का यह कथन उचित ही जान पडता है कि "अन्य भामह आदि आचार्यो ने इस स्थान-नियम को स्वय समझ लेने योग्य मान कर न उसका उल्लेख अपने लक्षण मे ही किया है और न उसका अधिक विस्तार ही किया है।"[2]

अनुप्रास

वामन के अनुप्रास का स्वरूप भी सर्वथा नवीन नही है। पूर्ववर्ती भामह आदि के अनुप्रास की प्रकृति से वामन के अनुप्रास की प्रकृति मिलती-जुलती ही है। वामन ने यमक का स्वरूप-विवेचन करने के उपरान्त कहा है कि यमक मे कथित पद या वर्ण की आवृत्ति के प्रकार को छोड शेष आवृत्ति-रूपो मे

---

१. व्याजस्य सत्यसारूप्य व्याजोक्ति.।—वामन, काव्याल० सू० ४, ३, २५

२. द्रष्टव्य—हिन्दी काव्यालकार सूत्र, व्याख्या, पृ० १६२।

अनुप्रास अलङ्कार होता है।[१] इसका अर्थ यह हुआ कि अनियत स्थान तथा एकार्थ अथवा अनेकार्थ पदों की आवृत्ति में वामन अनुप्रास अलङ्कार मानेंगे, क्योंकि यमक में वे स्थान का नियत होना तथा आवृत्त पदों का भिन्नार्थक होना आवश्यक मानते हैं।

उपमा

उपमा के सामान्य स्वरूप की कल्पना में वामन पूर्ववर्ती आचार्यों से सहमत हैं। वे अन्य आचार्यों की तरह उपमान के साथ उपमेय के गुण का साम्य-प्रतिपादन उपमा का सामान्य लक्षण मानते हैं।[२] वामन ने उपमा के भेदों का निरूपण तीन दृष्टियों से किया है। आचार्य भरत के उपमा-प्रकार-प्रतिपादन की पद्धति पर उन्होंने उसके लौकिकी तथा कल्पिता, ये दो रूप स्वीकार किये हैं।[3] लोक प्रसिद्ध उपमेय-उपमान की योजना में लौकिकी उपमा तथा कविकल्पित उपमेयोपमा के वर्णन में कल्पिता उपमा मानी गयी है। कल्पिता में गुणबाहुल्य की कल्पना भी उन्होंने कर ली है। उपमा के पदगत तथा वाक्यगत होने की दृष्टि से उसके पुनः दो भेद किये गये हैं—(क) पदार्थ-वृत्ति उपमा तथा (ख) वाक्यार्थवृत्ति उपमा।[४] यह विभाजन नवीन है, पर इसकी सम्भावना उपमा के सामान्य-लक्षण में ही निहित थी। पदार्थ-वृत्ति तथा वाक्यार्थवृत्ति की दृष्टि से यदि विभाजन किया जाय तो अनेक अलङ्कारों के उक्त दो रूप सम्भव होंगे। उपमान, उपमेय, वाचक शब्द तथा साधारण धर्म में से एक या अनेक के वाक्य में अभाव-सद्भाव की दृष्टि से उपमा के लुप्ता तथा पूर्णा ये दो भेद भी वामन के द्वारा स्वीकृत हैं।[५] उद्भट के उपमा-विवेचन की परीक्षा के क्रम में यह देखा जा चुका है कि उन्होंने पूर्णा तथा लुप्ता की दृष्टि से उपमा के अनेक भेदोपभेद किये हैं। वामन के 'काव्यालङ्कार-

---

१. शेषः सरूपोऽनुप्रासः।—वामन, काव्यालं० सू० ४,१,८

२. उपमानोपमेयस्य गुणलेशतः साम्यमुपमा।—वही, ४,२,१
   तुलनीय—भामह, काव्याल० २,३० तथा दण्डी, काव्याद० २,१४

३. ··· कविभिः कल्पितत्वात् कल्पिता। पूर्वा तु लौकिकी।
   —वामन, काव्यालं० सू० ४,२,२ की वृत्ति

४. तद्द्वैविध्यं पदवाक्यार्थवृत्तिभेदात्।—वही, ४, २, ३

५. सा पूर्णा लुप्ता च। गुणद्योतकोपमानोपमेयशब्दानां सामग्र्ये पूर्णा। लोपे लुप्ता। —वही ४,२,४-६

सूत्र' मे पूर्ववर्ती आचार्यों की प्रशसोपमा, निन्दोपमा तथा तत्त्वाख्यानोपमा भी उल्लिखित है।[1] वामन ने प्रशमा, निन्दा तथा तत्त्वाख्यान को उपमा का भेद नही मान कर उसका प्रयोजन माना है। स्पष्ट है कि पूर्ववर्ती आचार्यो की उपमा-धारणा मे वामन की धारणा मूलत· अभिन्न है।

प्रतिवस्तूपमा

वामन के प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार का स्वरूप भामह के एतत्सज्ञक अलङ्कार के स्वरूप से अभिन्न है।[2]

समासोक्ति तथा अप्रस्तुतप्रशंसा

दण्डी की समासोक्ति-धारणा को स्वीकार कर वामन ने अप्रस्तुत-वर्णन से प्रस्तुत के बोध होने मे समासोक्ति अलङ्कार माना है।[3] यह धारणा भामह की समासोक्ति-धारणा के विपरीत है। भामह प्रस्तुत के कथन मे अप्रस्तुत की व्यञ्जना होने पर समासोक्ति अलङ्कार मानेगे।[4] अप्रस्तुत की उक्ति से प्रस्तुत के बोध मे अप्रस्तुतप्रशसा अलङ्कार का सद्भाव भामह का अभिमत होगा।[5] वामन ने अप्रस्तुतप्रशसा अलङ्कार के स्वरूप-निरूपण मे भामह के मत को स्वीकार कर लिया।[6] फल यह हुआ कि उनके समासोक्ति तथा अप्रस्तुतप्रशसा अलङ्कारो मे भेद नही रह गया। दोनो के बीच कुछ भेद की कल्पना के लिए वामन ने यह मान लिया कि समासोक्ति मे प्रस्तुत सर्वथा अनुक्त रहता है तथा अप्रस्तुतप्रशसा मे किञ्चित् उक्त। इस प्रकार उनके मतानुसार जहाँ उपमेय के कथन का एकान्त अभाव होने पर भी समान वस्तु के न्यास से उसका बोध होगा वहाँ समासोक्ति तथा जहाँ उपमेय के किञ्चित् उक्त होने पर समान वस्तु के न्यास से उसका बोध होगा वहाँ अप्रस्तुतप्रशसा

१ स्तुतिनिन्दातत्त्वाख्यानेषु।—वामन, काव्याल० सू० ४,२,७
तुलनीय—भामह, काव्यल० २,३७ तथा दण्डी, काव्याद०, २,३६

२ द्रष्टव्य—वामन, काव्याल० सू० ४, ३, २ तथा
भामह, काव्याल० २, ३४

३ द्रष्टव्य—दण्डी, काव्याद० २, २०५ तथा
वामन, काव्याल० सू० ४, ३, ३

४. द्रष्टव्य—भामह, काव्याल० २, ७९

५ वही, ३, २९

६. द्रष्टव्य—वामन, काव्याल० सू० ४, ३, ४

की सत्ता मानी जायगी। उक्त दो अलङ्कारों में भेद सिद्ध करने का यह प्रयास उलझन से बचने के लिए किया गया-सा जान पड़ता है। एक अलङ्कार के स्वरूप-निरूपण में भामह के तथा दूसरे अलङ्कार के लक्षण-निर्धारण में दण्डी के मत को स्वीकार करने के कारण वामन इस उलझन में पड़ गये। प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार से समासोक्ति तथा अप्रस्तुतप्रशंसा के साम्य-वैषम्य-निरूपण के आग्रह के कारण भी वामन इस कठिनाई में पड़े होंगे। वे प्रतिवस्तूपमा, समासोक्ति और अप्रस्तुतप्रशंसा में केवल इतना भेद मानते हैं कि प्रतिवस्तूपमा में उपमेय उक्त, समासोक्ति में अनुक्त तथा अप्रस्तुतप्रशंसा में किञ्चित् उक्त होता है। समान वस्तु का (उपमान का) न्यास तीनों में समान रूप से होता है।

अपह्नुति

वामन की अपह्नुति भामह आदि पूर्ववर्ती आचार्यों की अपह्नुति से अभिन्न है।[१]

रूपक

रूपक के स्वरूप के सम्बन्ध में वामन ने भामह आदि आचार्यों की मान्यता को ही स्वीकार किया है। भामह की तरह वे भी प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत में गुण के साम्य के कारण प्रस्तुत में अप्रस्तुत के अभेद का आरोप रूपक अलङ्कार का लक्षण मानते हैं।[२]

श्लेष

श्लेष की परिभाषा में वामन ने पूर्ववर्ती आचार्यों के श्लेष एवं रूपक के तत्त्वों को मिला दिया है। वामन के पूर्व श्लेष में अनेकार्थ के वाचक एक-रूप शब्द का प्रयोग-मात्र अपेक्षित माना गया था। पूर्ववर्ती आचार्यों ने न तो उसमें उपमानोपमेय-भाव की कल्पना की थी, और न उपमेय पर उपमान के तत्त्वारोप की ही। वामन सभी अलङ्कारों को उपमा-प्रपञ्च सिद्ध करना चाहते हैं। अतः उनके लिए श्लेष में भी उपमानोपमेय के सद्भाव की कल्पना

---

१. द्रष्टव्य—वामन, काव्यालं० सू० ४, ३, ५ तथा
भामह, काव्यालं० ३, २१

२. द्रष्टव्य—काव्याल० सू० ४, ३, ६ तथा भामह, काव्यालं० २, २१

आवश्यक थी। रूपक के सन्दर्भ मे श्लेष का विवेचन करते हुए उन्होंने इसमे भी पस्तुत-अप्रस्तुत के अभेदारोप का तत्त्व मिला दिया।[1] उद्भट ने यह सङ्केत किया था कि श्लिष्ट अलङ्कार मे उपमा आदि किसी अन्य अलङ्कार की छाया देखी जा सकती है।[2] वस्तुत. श्लेष से अनुप्राणित अन्य अलङ्कारो के भूरिश उदाहरण काव्य मे प्राप्त होते है। किन्तु, वामन के श्लेष का स्वरूप भामह आदि पूर्ववर्ती तथा उद्भट-जैसे समसामयिक आचार्यो के श्लेष से भिन्न है। उसमे श्लेष के साथ रूपक का तत्त्व मिश्रित है।

उत्प्रेक्षा

वामन की उत्प्रेक्षा-धारणा पूर्ववर्ती आचार्यों की धारणा से अभिन्न है।[3]

अतिशयोक्ति

अतिशयोक्ति अलङ्कार-विषयक वामन की मान्यता भी भामह आदि आचार्यों की तद्विषयक-धारणा से भिन्न नही।[4]

सन्देह

'काव्यालङ्कार-सूत्र' मे सन्देह अलङ्कार की धारणा प्राचीन आचार्यों की ससन्देह-धारणा के समान ही है। भामह और उद्भट ने जहाँ इस अलङ्कार को ससन्देह कहा था वहाँ वामन ने उसे सन्देह सज्ञा से अभिहित किया। ससन्देह और सन्देह के अर्थ मे तत्त्व-गत कोई भिन्नता नही और न भामह आदि के ससन्देह तथा वामन के सन्देह अलङ्कार मे कोई स्वरूपगत भेद है।[5]

---

१. स धर्मेषु तन्त्रप्रयोगे श्लेष.।—वामन, काव्याल० सू० ४, ३, ७ तथा उपमानोपमेयस्य धर्मेषु गुणक्रिया शब्दरूपेषु स तत्त्वारोप।

—वही, वृत्ति, पृ० २३२, हिन्दी, काव्याल० सू०

२. द्रष्टव्य—उद्भट, काव्याल० सार सं० ४, २३-२४

३. द्रष्टव्य—वामन, काव्यालं० सू० ४, ३, ९ तथा
भामह, काव्याल० २, ९१

४. द्रष्टव्य—काव्याल० सू० ४, ३, १० तथा भामह, काव्याल० २, ८१

५. द्रष्टव्य—काव्याल० सू० ४, ३, ११ तथा भामह, काव्याल० ३, ४३

विरोध

वामन ने पूर्ववर्ती आचार्यो के विरोध अलङ्कार के लक्षण को अस्वीकार कर उसके नवीन स्वरूप की कल्पना की है। उनके मतानुसार जहा तात्त्विक विरोध के न होने पर भी आपातत विरोध प्रतीत होता है, वहा विरोध का आभास-मात्र होने से विरोधाभास अलङ्कार माना जाता है।[१] प्रातिभासिक विरोध के परिहार से उत्पन्न चमत्कार मे अलङ्कारत्व स्पष्ट है। नाट्याचार्य भरत ने प्राप्त दोप के शमन से उत्पन्न चमत्कार मे उपपत्ति नामक लक्षण स्वीकार किया था।[२] उसी के आधार पर प्रातिभासिक विरोध दोष की प्राप्ति तथा परिणामत उक्त दोप के शमन से सजात चमत्कार मे वामन ने विरोधाभास अलङ्कार का सद्भाव स्वीकार किया है।

विभावना

विभावना अलङ्कार के सम्बन्ध मे वामन ने भामह से समता-सूचनी धारणा ही व्यक्त की है।[३]

अनन्वय

वामन तथा भामह के अनन्वय अलङ्कार की प्रकृति अभिन्न है।[४]

उपमेयोपमा

उपमेयोपमा के स्वरूप-निर्धारण मे भी वामन भामह से सहमत है।[५]

परिवृत्ति

वामन ने भामह के परिवृत्ति-लक्षण को अशत ही स्वीकार किया है। भामह की परिवृत्ति-परिभाषा से 'अर्थान्तरन्यासवती', इस अश को हटा कर

---

१. विरुद्धाभासत्व विरोध.।—वामन, काव्यालं० सू०, ४, ३, १२

२. प्राप्ताना यत्र दोषाणा क्रियते शमन पुन:।
सा ज्ञेया ह्युपपत्तिस्तु लक्षण नाटकाश्रयम् ॥
—भरत, ना० शा०, १६, ३५

३. द्रष्टव्य—वामन, काव्यालं० सू०, ४, ३, १३ तथा भामह, काव्याल० २, ७७

४. द्रष्टव्य—काव्याल० सू०, ४, ३, १४ तथा काव्याल०, ३, ४५

५. द्रष्टव्य—वही, ४, ३, १५

वामन ने उसमे अर्थान्तरन्यास अलङ्कार के तत्त्व को अस्वीकार कर दिया है। वे परिवृत्ति मे सदृश या असदृश वस्तुओं का परिवर्त्तन वाञ्छनीय मानते है।[१]

क्रम या यथासंख्य

क्रम अलङ्कार के सम्बन्ध मे वामन की धारणा पूर्ववर्ती आचार्यो की धारणा से किञ्चित् भिन्न है। इस भेद का कारण उसमे उपमा के तत्त्व का समावेश है। क्रम को भी उपमा-प्रपञ्च के भीतर सिद्ध करने के लिए वामन ने प्रस्तुत एव अप्रस्तुत वस्तुओ का क्रम से सम्बन्ध-प्रदर्शित करने मे ही क्रम अलङ्कार स्वीकार किया है।[२] पूर्ववर्ती आचार्यो ने क्रम या यथासख्य अलङ्कार की परिभाषा मे उपमान, उपमेय का उल्लेख नही किया था। उनके मतानुसार पूर्वकथित अर्थ का पश्चात् कथित पदार्थ से क्रमिक अन्वय-मात्र यथासख्य या क्रम अलङ्कार के विधान के लिए पर्याप्त है। भामह तथा उनके मतानुयायी उद्भट ने तो यथासख्य-परिभाषा मे 'असधर्मणाम्' विशेषण का प्रयोग कर यह स्पष्ट कर दिया था कि यथासख्य मे उपमान-उपमेय का क्रम होना अपेक्षित नही है।[3] स्पष्ट है कि वामन ने वस्तुवर्णन के क्रम की धारणा पूर्ववर्ती आचार्यो से लेकर उसमे उपमान-उपमेय की धारणा को मिला कर क्रम के इस नवीन स्वरूप की कल्पना कर ली है।

दीपक

भामह के मतानुसार ही वामन ने आदिदीपक, मध्यदीपक तथा अन्तदीपक; इन तीन दीपक-भेदो का वर्णन किया है। वामन के दीपक अलङ्कार का सामान्य लक्षण उद्भट के दीपक-लक्षण से अभिन्न है।[४]

---

१. द्रष्टव्य—काव्यालं० सू० ४, ३, १६ तथा उद्भट, काव्याल० सार स०, ५, ३१

२. उपमेयोपमानानां क्रमसम्बन्ध. क्रम ।
—वामन, काव्याल० सू० ४, ३, १७

३. द्रष्टव्य—भामह, काव्याल०, २, ८९ तथा उद्भट, काव्यालं० सार स० ३, २,

४ द्रष्टव्य—वामन, काव्याल० सू० ४, ३, १८-१९ तथा उद्भट, काव्याल० सार स० १, २८

निदर्शना

वामन की निदर्शना-अलङ्कार-धारणा भामह की धारणा से अभिन्न है।[१]

अर्थान्तरन्यास

वामन के अर्थान्तरन्यास अलङ्कार का स्वरूप भी भामह के अर्थान्तरन्यास से मिलता-जुलता ही है।[२]

व्यतिरेक

भामह के व्यतिरेक-सम्बन्धी मत का अनुसरण करते हुए वामन ने भी उपमान से उपमेय के आधिक्य-वर्णन में व्यतिरेक-अलङ्कार माना है।[३]

विशेषोक्ति

वामन की विशेषोक्ति-धारणा प्राचीन आचार्यों की धारणा से किञ्चित् भिन्न है। यह भेद उसमें उपमा के स्वरूप के मिश्रण के कारण आया है। भामह तथा वामन की विशेषोक्ति-परिभाषा में इस अंश में साम्य है कि दोनों ने उसमें एक गुण की हानि की कल्पना की है, किन्तु दोनों की मान्यता में वैषम्य यह है कि जहाँ भामह एक गुण की हानि के स्थल में उसमें अन्य गुण के सद्भाव की कल्पना पर बल देते हैं, वहाँ वामन उसे उपमा-प्रपञ्च सिद्ध करने के लिए उस स्थल में साम्य की पुष्टि वाञ्छनीय मानते हैं।[४] इससे स्पष्ट हो जाता है कि भामह की विशेषोक्ति-धारणा में ही सादृश्य की कल्पना को मिला कर वामन ने विशेषोक्ति के इस नवीन रूप का सृजन किया है।

---

१. द्रष्टव्य—वामन, काव्याल० सू० ४, ३, २० तथा भामह, काव्याल० ३, ३३

२. द्रष्टव्य—वामन, काव्यालं० सू० ४, ३, २१ तथा भामह, काव्याल० २, ७१-७३

३. द्रष्टव्य—वामन, काव्याल० सू० ४, ३, २२ तथा भामह, काव्याल० २, ७५

४. द्रष्टव्य—भामह, काव्याल० ३, २३ तथा वामन, काव्यालं० सू०, ४, ३, २३

व्याजस्तुति

भामह की तरह वामन भी निन्दा के व्याज से की जाने वाली स्तुति अर्थात् स्तुतिपर्यवसायिनी निन्दा की उक्ति मे व्याजस्तुति अलङ्कार मानते है।[१]

तुल्ययोगिता

तुल्ययोगिता अलङ्कार के स्वरूप के विषय मे भी वामन भामह की मान्यता से सहमत है।[२]

आक्षेप

वामन ने आक्षेप अलङ्कार के किञ्चित् नवीन स्वरूप की कल्पना की है। भामह की तरह वे भी प्रतिषेध की उक्ति को आक्षेप का विधायक तत्त्व अवश्य मानते है, किन्तु अलङ्कारो मे सर्वत्र उपमानोपमेय के सद्भाव का आग्रह रखने के कारण वे केवल उपमान के आक्षेप मे उक्त अलङ्कार की सत्ता स्वीकार करते है।[3] आक्षेप शब्द के दूसरे अर्थ के आधार पर आक्षेप अलङ्कार का दूसरा लक्षण यह माना गया है कि उपमेय-मात्र के कथन से उपमान की आक्षेप से प्रतिपत्ति होने मे भी आक्षेप अलङ्कार होता है। आक्षेप का यह स्वरूप भामह आदि के ममासोक्ति अलङ्कार के स्वरूप से मिलता-जुलता है, जिसमे उपमेय उक्त होता है और उपमान गम्य।[४]

सहोक्ति

वामन का सहोक्ति अलङ्कार भामह आदि आचार्यों के तत्सञ्ज्ञक अलङ्कार से अभिन्न स्वभाव का है।[५]

---

१. द्रष्टव्य—भामह, काव्याल० ३, ३१ तथा वामन, काव्याल० सू०, ४, ३, २४

२. द्रष्टव्य—वामन, काव्याल० सू० ४, ३, २६ तथा भामह, काव्यालं० ३, २७

३. उपमानाक्षेपश्चाक्षेप।—वामन, काव्यालं० सू० ४, ३, २७

४. द्रष्टव्य—काव्यालं० सू० ४, ३, २७ की वृत्ति तथा भामह, काव्यालं० २, ७९

५. द्रष्टव्य—वामन, काव्याल० सू० ४,३,२८ तथा भामह, काव्याल० ३,३९।

समाहित

वामन ने समाहित अलङ्कार के सम्बन्ध मे सर्वथा नवीन मान्यता प्रकट की है। भामह और दण्डी ने आरब्ध कार्य मे अनायास साधक की प्राप्ति मे समाधि अलङ्कार माना था।[१] उद्भट ने उसका सम्बन्ध रस, भाव आदि की शान्ति से जोड दिया।[२] उक्त मतो मे आपम्य के तत्त्व का अभाव था। अत वामन ने किसी मत को स्वीकार नही किया। उन्होंने यह मन्तव्य व्यक्त किया है कि जहाँ किसी वस्तु का सादृश्य उपमेय मे दिखाना अभिप्रेत हो वहाँ यदि उपमेय की तद्रूपता प्राप्ति (उपमेय का उपमान के रूप को प्राप्त कर लेना) का वर्णन किया जाय तो समाहित अलङ्कार माना जाता है।[३] इस अलङ्कार के स्वरूप-निर्धारण मे वामन ने मनोवैज्ञानिक तथ्य का प्रतिपादन किया है। मन मे जिस वस्तु का ध्यान हो उसके समान वस्तु को देख कर ध्यात वस्तु का अनुभव तीव्र हो जाता है और कभी-कभी ऐसा प्रतीत होने लगता है कि मनोगत वस्तु ही प्रत्यक्ष हो गयी हो। वामन ने उक्त अलङ्कार का जो उदाहरण दिया है उसमे उर्वशी के ध्यान में डूबे हुए पुरूरवा के लिए लता ही उर्वशी बन जाती है।[४] यह भ्रमात्मक ज्ञान से भिन्न है, क्योंकि पुरूरवा को लता के पल्लव आदि का ज्ञान है। लता का मेघ की जलधारा से धौत पल्लव उसके सामने उर्वशी के अश्रु-प्रक्षालित अधर के रूप मे प्रकट हो रहा है। स्मृति की तीव्र दशा मे पूर्वानुभूत पदार्थ अपने सदृश अन्य अधिकरण मे मूर्त हो गया है। इसमे प्रस्तुत पर अप्रस्तुत के आरोप (अर्थात् रूपक) का तत्त्व भी अवश्य है; किन्तु इस भेद के साथ कि रूपक मे प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत के भेद से वक्ता परिचित रहता है और दोनो मे सादृश्यातिशय-निरूपण के लिए प्रस्तुत पर अप्रस्तुत का आरोप करता है। समाहित मे प्रस्तुत ही अप्रस्तुत के रूप मे बदल जाता है। वक्ता को दोनों मे अभेद की प्रतीति होने लगती है। भरत ने सारूप्य नामक लक्षण के इससे मिलते-जुलते स्वरूप की कल्पना की थी। सारूप्य मे यह कहा गया है कि समान रूप वाली वस्तु को देख कर उसी के सदृश अन्य वस्तु का ज्ञान हो

---

१. द्रष्टव्य—प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० ४४, पाद टिप्पणी स० ३

२. द्रष्टव्य—उद्भट, काव्यालं० सार स०, ४, १४

३. यत्सादृश्यं तत्सम्पत्ति. समाहितम्।—वामन, काव्यालं० सू० ४,३,२९

४. तन्वी मेघजलार्द्रपल्लवतया द्रष्टव्य, वही, ४, ३ पृ० २७५

जाने मे सारूप्य लक्षण माना जाता है।[1] अभिनव ने इसकी व्याख्या करते हुए राम की यज्ञशाला मे हेममयी सीता-प्रतिमा को देख अपनी माँ समझ कर लव का उसे प्रणाम करने का वर्णन उदाहृत किया है।[2] वामन के समाहित अलङ्कार का भरत के सारूप्य लक्षण से केवल इतना भेद माना जा सकता है कि भरत ने सारूप्य के रूप-विधान के लिए केवल दो वस्तुओ मे रूपगत साम्य ही अपेक्षित माना है; किन्तु वामन उन वस्तुओ मे उपमानोपमेय भाव की कल्पना भी आवश्यक मानेगे। अत, यह माना जा सकता है कि भरत के सारूप्य लक्षण मे उपमा के तत्त्व उपमानोपमेय भाव सम्बन्ध को मिला कर वामन के समाहित अलङ्कार का स्वरूप निर्मित हुआ है।

संसृष्टि

उक्त शब्दार्थालङ्कारो के स्वरूप-विवेचन के उपरान्त वामन ने समान अधिकरण मे एकाधिक अलङ्कार के सद्भाव की दृष्टि से अलङ्कारो की ससृष्टि का वर्णन किया है। अलङ्कारो का मिश्रण ससृष्टि कहा जाता है। वामन की मान्यता है कि अलङ्कार का अलङ्कारयोनित्व अर्थात् एक अलङ्कार से अलङ्कारान्तर का कार्यकारण भाव सम्बन्ध होना ससृष्टि है।[3] वामन ने ससृष्टि के दो भेद स्वीकार किये है—(क) उपमारूपक तथा (ख) उत्प्रेक्षावयव। उपमारूपक मे उपमा अलङ्कार रूपक का हेतु होता है, किन्तु उत्प्रेक्षावयव की स्थिति कुछ भिन्न है। उसमे रूपक आदि कई अलङ्कार उत्प्रेक्षा के हेतु हो सकते है। भामह की अलङ्कार-धारणा के विवेचन-क्रम मे उपमारूपक तथा उत्प्रेक्षावयव के स्रोत पर विचार किया जा चुका है। भामह ने उन दोनों अलङ्कारो की ससृष्टि मे स्वतन्त्र सत्ता मानी थी, वामन ने उन्हे संसृष्टि के प्रकार मान लिया। अलकारो के इस अङ्गाङ्गिभावावस्थान को भामह, दण्डी आदि ने भी ससृष्टि ही कहा था। उद्भट ने इस रूप को सङ्कर तथा

---

१. दृष्टश्रुतानुभूतार्थकथनादि समुद्भवम्।
साददृश्य क्षोभजनन सारूप्यमिति सज्ञितम्॥—भरत, ना० शा०, १६ अनुबन्ध, श्लोक स० ३५ पृ० ३६१

२. द्रष्टव्य—वही, अभिनव भारती, पृ० ३६१

३. अलङ्कारस्य अलङ्कारयोनित्व ससृष्टि।
—वामन, काव्याल० सू० ४, ३, ३०

अलङ्कारो के परस्पर-निरपेक्ष सद्भाव के स्थल मे ससृष्टि अलङ्कार माना था। वामन ने भामह के मत को ही स्वीकार किया है।

वामन की अलङ्कार-धारणा के इस परीक्षण मे स्पष्ट है कि उन पर भामह की अलङ्कार-विषयक मान्यता का भूरिश प्रभाव पडा है। उनके अधिकाश अलङ्कारो का स्वरूप भामह के अलङ्कारो के स्वरूप से अभिन्न है। तुल्ययोगिता व्याजस्तुति, व्यतिरेक, निदर्शना, अनन्वय, विभावना आदि अलङ्कार इस निष्कर्ष के प्रमाण है।

वामन के जिन अलङ्कारो की प्रकृति प्राचीन आचार्यो के अलङ्कारो से कुछ भिन्न है उनमे से अधिकाश का भेदक तत्त्व औपम्य है। प्रत्येक अलङ्कार को उपमा-प्रपञ्च सिद्ध करने के लिए भामह ने उसमे उपमानोपमेय भाव का समावेश करना चाहा है। अत भामह आदि आचार्यो के अनेक अलङ्कार-लक्षण को उन्होने कुछ सशोधन के साथ स्वीकार किया है। भामह ने जिन अलङ्कारो की रूप-रचना मे सादृश्य के तत्त्व पर विचार नही किया था, उनके स्वरूप-विधान मे वामन ने साम्य की कल्पना जोड दी है। फलत उनके अलङ्कारों का स्वभाव प्राचीनो के अलङ्कार से किञ्चित् भिन्न हो गया है। क्रम या यथासख्य, श्लेष, विशेषोक्ति, परिवृत्ति, आक्षेप आदि अलङ्कारो का स्वरूप इसका निदर्शन है।

कुछ अलङ्कारो के स्वरूप-विन्यास मे वामन पर भरत की लक्षण-धारणा का भी प्रभाव पडा है। विरोधाभास, समाहित आदि के स्वरूप की परीक्षा के क्रम मे उन पर भरत के तत्तल्लक्षणो की प्रकृति का प्रभाव देखा जा चुका है।

वामन ने वक्रोक्ति तथा व्याजोक्ति—इन दो नवीन अलङ्कारो की उद्भावना की है; किन्तु वक्रोक्ति का अलङ्कारत्व असन्दिग्ध नही। वह लक्षणा नामक शब्दशक्ति का एक भेद है। वामन की व्याजोक्ति-धारणा मौलिक है।

◉

अर्थालङ्कार निम्नाङ्कित चार वर्गों मे प्रस्तुत किये गये है—

(क) वास्तव वर्ग—(१) सहोक्ति, (२) समुच्चय, (३) जाति या स्वभावोक्ति, (४) यथासंख्य, (५) भाव, (६) पर्याय, (७) विषम, (८) अनुमान (९) दीपक, (१०) परिकर, (११) परिवृत्ति, (१२) परिसंख्या (१३) हेतु, (१४) कारणमाला, (१५) व्यतिरेक (१६) अन्योन्य, (१७) उत्तर, (१८) सार, (१९) सूक्ष्म (२०) लेश, (२१) अवसर, (२२) मीलित और (२३) एकावली।

(ख) औपम्य वर्ग—(१) उपमा, (२) उत्प्रेक्षा, (३) रूपक, (४) अपह्नुति, (५) संशय या सन्देह, (६) समासोक्ति, (७) मत, (८) उत्तर, (९) अन्योक्ति या अप्रस्तुतप्रशंसा, (१०) प्रतीप, (११) अर्थान्तरन्यास, (१२) उभयन्यास, (१३) भ्रान्तिमान्, (१४) आक्षेप, (१५) प्रत्यनीक, (१६) दृष्टान्त, (१७) पूर्व, (१८) सहोक्ति, (१९) समुच्चय, (२०) साम्य तथा (२१) स्मरण।

(ग) अतिशय वर्ग—(१) पूर्व, (२) विशेष, (३) उत्प्रेक्षा, (४) विभावना, (५) तद्गुण, (६) अधिक, (७) विरोध, (८) विषम, (९) असङ्गति, (१०) पिहित, (११) व्याघात और (१२) अहेतु।

(घ) (अर्थ) श्लेष वर्ग—(१) श्लेष। श्लेष-विवेचन के अनन्तर सङ्कर का उल्लेख हुआ है।

सहोक्ति, समुच्चय तथा उत्तर अलङ्कार वास्तव एवं औपम्य-दोनो वर्गों मे पठित है। विषम तथा हेतु अलङ्कारो का उल्लेख वास्तव एव अतिशय, इन दो वर्गों मे हुआ है। उत्प्रेक्षा और पूर्व अलङ्कार औपम्य तथा अतिशय वर्गों मे परिगणित है।

पूर्ववर्ती आचार्यो के अलङ्कार-विमर्श मे कुछ नये अलङ्कारो को जोड देने मे ही रुद्रट की काव्यालङ्कार-मीमांसा का वैशिष्टय नही है। रुद्रट ने जहाँ एक ओर अनेक नवीन अलङ्कारो की उद्भावना की वहां दूसरी ओर पूर्ववर्ती आचार्यों के द्वारा विवेचित विंशत्यधिक अलङ्कारो का नाम्ना भी उल्लेख नही किया। रुद्रट के द्वारा कल्पित नवीन अर्थालङ्कारो के नाम वर्ग-क्रम से निम्नलिखित है :—

(क) वास्तव वर्ग—समुच्चय, भाव, पर्याय, विषम, अनुमान, परिकर, परिसख्या, कारणमाला, अन्योन्य, उत्तर, सार, अवसर, मीलित तथा एकावली।

(ख) औपम्य वर्ग—मत, उत्तर, प्रतीप, उभयन्यास, भ्रान्तिमान् प्रत्यनीक, पूर्व, समुच्चय, साम्य तथा स्मरण।

(ग) अतिशय वर्ग—पूर्व, विशेष, तद्गुण, अधिक, विषम, असङ्गति, पिहित, व्याघात और अहेतु।

तीनो वर्गो के उक्त तैंतीस अलङ्कारो के व्यपदेश सर्वथा नवीन है। रुद्रट ने शब्दालङ्कारो मे वक्रोक्ति तथा चित्र—इन दो नवीन अलङ्कारो का उल्लेख किया है। वक्रोक्ति नामक अलङ्कार वामन के 'काव्यालङ्कार सूत्र' मे भी उल्लिखित है, किन्तु वहाँ वक्रोक्ति की कल्पना अर्थालङ्कार के रूप मे की गयी है। शब्दालङ्कार के रूप मे वक्रोक्ति की कल्पना सर्वप्रथम रुद्रट ने ही की। श्लेष को शब्दालङ्कार एव अर्थालङ्कार दोनों मान कर एक ही नाम के दो अलङ्कारो की कल्पना की गयी है।

आचार्य भरत से लेकर रुद्रट के पूर्ववर्ती उद्भट तथा वामन तक की रचनाओ मे किञ्चित् मतवैभिन्न्य के साथ जिन एकावन शब्दार्थगत अलङ्कारो के स्वरूप का विवेचन हो चुका था उनमे से निम्नलिखित अलङ्कारो का उल्लेख रुद्रट के काव्यालङ्कार मे नही हुआ है —

शब्दालङ्कार :—छेकानुप्रास तथा लाटानुप्रास।

अर्थालङ्कार :—अनन्वय, अतिशयोक्ति, आवृत्ति, आशी, उत्प्रेक्षावयव, उदात्त, उपमारूपक, उपमेयोपमा, ऊर्जस्वी, काव्यलिङ्ग, तुल्ययोगिता, निदर्शना, पर्यायोक्त, पुनरुक्तवदाभास, प्रतिवस्तूपमा, प्रेय, भाविक, रसवत्, विशेषोक्ति, व्याजस्तुति, ससृष्टि, समाहित, व्याजोक्ति तथा अर्थगत वक्रोक्ति।

छेकानुप्रास तथा लाटानुप्रास की अनुप्रास से पृथक् सत्ता अनावश्यक समझ कर रुद्रट ने उनकी गणना नही की होगी। 'काव्यालङ्कार' मे अतिशय मूलक अलङ्कारो के एक वर्ग की ही कल्पना कर ली गयी है, पर अतिशयोक्ति का विशेष अलङ्कार के रूप मे पृथक् निर्देश नही किया गया है। उत्प्रेक्षावयव तथा उपमारूपक की पृथक् सत्ता स्वीकार करने का सबल आधार नही था। अत उन्हे अस्वीकार कर दिया गया है। रुद्रट को रसवत् अलङ्कार की कल्पना कर उसमे रस जैसे काव्य के महत्त्वपूर्ण तत्त्व को सीमित कर देना युक्तिसङ्गत नही जान पड़ा होगा। भामह, दण्डी, उद्भट आदि काव्य मे रस का उचित मूल्याङ्कन नही कर पाये थे। इसीलिए उन्होने रसमय वाणी को रसवदलङ्कार युक्त माना था। रुद्रट की स्थिति उनसे भिन्न है। अलङ्कार सम्प्रदाय के उन्नायक होने पर भी रुद्रट ने रस को उपेक्षणीय नही माना

था। 'काव्यालङ्कार' के दो अध्यायो मे रस का विस्तृत विवेचन इसका प्रमाण है। फलत. रुद्रट ने रसवदादि अलङ्कार की सत्ता अस्वीकार कर दी। उपमेयोपमा, अनन्वय, प्रतिवस्तूपमा आदि को उन्होंने उपमा मे ही अन्तर्भुक्त मान लिया होगा। उन्होने सङ्कीर्ण अलङ्कारो का विवेचन सङ्कर नाम से किया है और उससे स्वतन्त्र समृष्टि की सत्ता नही मानी है। वस्तुत सङ्कर और ससृष्टि अलङ्कार के स्वतन्त्र भेद नही है। वे विभिन्न अलङ्कारो के एकत्र निवेश की दो अलग-अलग प्रक्रियाओ के बोधक-मात्र है। इसीलिए उद्भट के पूर्ववर्ती भामह तथा दण्डी ने समृष्टि मे पृथक् सङ्कर की कल्पना नही की थी। दण्डी की समृष्टि के दो भेदो के आधार पर उद्भट ने समृष्टि तथा सङ्कर; इन दो अलङ्कारो की स्वतन्त्र सत्ता की कल्पना कर ली। उनके परवर्ती आचार्य रुद्रट ने सङ्कर की सत्ता स्वीकार कर ससृष्टि का सद्भाव अस्वीकार कर दिया। अस्तु, हमारा प्रकृत विषय रुद्रट के नवीन अलङ्कारो, प्राचीन अलङ्कारो के नवीन रूपो तथा उनके नवीन भेदो के मूल का अनुसन्धान है।

वक्रोक्ति

शब्दालङ्कार के क्षेत्र मे वक्रोक्ति की अवतारणा सर्वप्रथम रुद्रट के 'काव्यालङ्कार' मे हुई है। वक्रोक्ति शब्द साहित्य-शास्त्र मे चिर-परिचित था। भामह ने उसका उल्लेख अतिशय-पूर्ण कथन के लिए किया था। वामन ने उसे लाक्षणिक प्रयोग के प्रकार-विशेष का पर्याय बना कर अर्थालङ्कार के बीच परिगणित किया था। रुद्रट ने उसके भिन्न स्वरूप की कल्पना कर उसे शब्दगत अलङ्कार माना है। उन्होंने वक्रोक्ति के सम्बन्ध मे यह धारणा प्रकट की है कि वक्ता जिस अभिप्राय से कुछ कहता हो उसकी बात का उससे भिन्न तात्पर्य निकाल कर जहाँ उत्तर देने वाला कुछ वक्रता के साथ उत्तर देता है वहाँ, वक्रोक्ति नामक अलङ्कार होता है।[1] किसी के कथन का उसके अभीष्ट अर्थ से भिन्न अर्थ दो प्रकार मे निकाला जा सकता है—(क) श्लेष के सहारे किसी पद के दो अर्थ निकाल कर तथा (ख) काकु अर्थात् कण्ठ-ध्वनि के भेद से। इस प्रकार वक्रोक्ति के दो भेद हो जाते है। वक्रोक्ति का स्वरूप रुद्रट की नवीन उद्भावना है।

१. वक्त्रा तदन्यथोक्तं व्याचष्टे चान्यथा तदुत्तरदः।
वचनं यत्पदभङ्गैर्ज्ञेया सा श्लेषवक्रोक्तिः॥—रुद्रट, काव्यालं०, २, १४,

चित्र

रुद्रट ने चित्र-नामक स्वतन्त्र शब्दालङ्कार की कल्पना की है। इसमे चक्र, मुरज आदि चित्रो मे वर्णों का विन्यास होता है। इस अलङ्कार का अभिधान-मात्र नवीन है। दण्डी ने यमक के विवेचन-क्रम मे मुरज-बन्ध आदि के रूप मे शब्दयोजना की प्रक्रिया पर भी विचार किया था। रुद्रट ने चित्र को स्वतन्त्र अलङ्कार मान कर उसके चक्र, खड्ग, मुसल, बाण आदि बन्ध-भेदो की भी कल्पना कर ली है। चित्र अलङ्कार-विषयक मूल धारणा दण्डी से ही ली गयी है।[१]

समुच्चय

वास्तव अलङ्कार-वर्ग के समुच्चय के लक्षण मे रुद्रट ने यह मान्यता प्रकट की है कि जहाँ एक आधार मे अनेक वस्तुओ का सद्भाव वर्णित हो वहाँ समुच्चय अलङ्कार होता है। एक अधिकरण मे दो सुन्दर दो असुन्दर तथा एक सुन्दर और एक असुन्दर वस्तु के सद्भाव के आधार पर उसके तीन भेद स्वीकार किये गये है।[२] रुद्रट के पूर्ववर्ती किसी आचार्य ने एक आधार मे अनेक आधेय की युगपत् स्थिति के वर्णन मे अलङ्कारत्व की कल्पना नही की थी। यह रुद्रट की मौलिक उद्भावना है।

भाव

रुद्रट के भाव अलङ्कार का सम्बन्ध हृद्गत भाव की व्यञ्जना से है। हृदय के भाव की प्रतिक्रिया चेहरे पर भी स्पष्ट हो जाया करती है। विभिन्न भावो के बाह्य विकार स्पष्ट ही दिखाई पड जाते है। वे विकार भाव के कार्य होते है। उस कार्य को देख कर कारण का अनुमान भावक को हो जाता है। चेष्टा से भाव के अभिव्यञ्जन का यही रहस्य है। रुद्रट की मान्यता है कि जहाँ किसी अधिकरण मे अनैकान्तिक हेतु से उत्पन्न होने वाला विकार भावक को अपने आधारभूत पात्र के हृद्गत भाव का बोध करा देता है तथा वही विकार अपने तथा अपने हेतु के बीच कार्यकारण-भाव की भी व्यञ्जना

१. द्रष्टव्य, रुद्रट, काव्याल० ५, १—४ तथा दण्डी काव्यद० ३, ७८—८२

२. यत्रैकत्रानेक वस्तु पर स्यात्सुखावहाद्येव।
ज्ञेयः समुच्चयोऽसौ त्रेधान्य सदसतोर्योग ।—रुद्रट, काव्याल० ७, १९

करता है, वहाँ भाव नामक अलङ्कार होता है।[1] अनेक कारणो से एक-से विकार का होना सम्भव है, किन्तु भाव मे विकार के यथार्थ कारण का बोध भी प्रमाता को हो जाता है। विकार को देख कर भाव के अवगम की धारणा नवीन नहीं है। भरत ने प्राप्ति नाट्यलक्षण मे उससे मिलती-जुलती धारणा ही व्यक्त की है। उन्होने किसी अवयव को देखने ही भाव का अनुमान गम्य हो जाने मे प्राप्ति लक्षण माना था।[2] रुद्रट ने उसी लक्षण के आधार पर भाव अलङ्कार के इस स्वरूप की कल्पना कर ली। रुद्रट ने भाव के दूसरे प्रकार की कल्पना कर यह माना है कि वाच्य की उक्ति से वक्ता के अभिप्राय-रूप वाच्य-भिन्न अर्थ के बोध होने मे भी भाव अलङ्कार होता है।[3] वाच्य-अर्थ से अर्थान्तर के गम्य होने की धारणा से भी भरत आदि प्राचीन आचार्य परिचित थे। शब्द की मुख्य वृत्ति (अभिधा) के अतिरिक्त अन्य शब्दशक्तियो से भी भारतीय मनीषा रुद्रट के बहुत पूर्व से ही परिचित थी। भामह ने शब्द की मुख्य वृत्ति के अतिरिक्त अन्य शक्तियो के सम्बन्ध मे बौद्ध आदि के मत का उल्लेख किया है। अत भाव के इस दूसरे स्वरूप की कल्पना भी सर्वथा नवीन नही है। उसे अलङ्कार के रूप मे स्वीकार करने-मात्र मे रुद्रट के विचार की नवीनता है। भाव के प्रथम रूप के उदाहरण को मम्मट आदि आचार्यो ने गुणीभूत व्यङ्ग्य तथा द्वितीय रूप के उदाहरण को ध्वनि का उदाहरण माना है। ध्वनि तथा गुणीभूत व्यङ्ग्य मे अन्तर्भूत होने के कारण उसका अलङ्कारत्व स्वीकृत नही हुआ।

पर्याय

प्राचीन आचार्यो के पर्यायोक्त को ही रुद्रट ने पर्याय सज्ञा से अभिहित किया है। वे भामह आदि की तरह भङ्ग्यन्तर से अभिधान मे पर्याय अलङ्कार

---

१ यस्य विकार प्रभवन्नप्रतिबद्धेन हेतुना येन।
गमयति तदभिप्राय तत्प्रतिबन्ध च भावोऽसौ॥
—रुद्रट, काव्याल० ७, ३८

२. दृष्ट्वैवावयव किञ्चिद्भावो यत्रानुमीयते।
प्राप्ति तामभिजानीयाल्लक्षण नाटकाश्रयम्॥
—भरत, ना० शा०, १६, ३७

३. अभिधेयमभिदधानं तदेव तदसदृशसकलगुणदोषम्।
अर्थान्तरमवगमयति यद्वाक्यं सोऽपरो भाव॥
—रुद्रट, काव्यालं०, ७, ४०

मानने है।[1] पर्याय के दूसरे प्रकार का स्वरूप सर्वथा नवीन है। पर्याय शब्द का परिपाटी अर्थ मान कर उसके इस रूप की कल्पना की गयी है। इसमे क्रम मे एक वस्तु का अनेक अधिकरणो मे अथवा अनेक वस्तुओ का एक अधिकरण मे सद्भाव वर्णित होता है।[2]

विषम

जहाँ दो वस्तुओ मे वस्तुत सम्बन्ध का अभाव रहने पर भी, उनमे अन्य व्यक्तियो के द्वारा सम्बन्ध-कल्पना की सम्भावना कर वक्ता उस सम्बन्ध को विघटित करता है, वहाँ रुद्रट के मतानुसार विषम अलङ्कार होता है। सम्बन्ध के अप्राप्त रहने पर उसका विघटन युक्तिसङ्गत नही। निषेध प्राप्त का ही होता है। इसलिए तात्त्विक असम्बन्ध मे अन्य लोगो के द्वारा सम्बन्ध समझ लिये जाने की आशङ्का कर उस सम्बन्ध का खण्डन किया जाता है। विषम का दूसरा रूप वहाँ देखा जाता है जहाँ दो वस्तुओ के बीच सम्बन्ध रहने पर उसका (सम्बन्ध का) अनौचित्य दिखाया जाता है। तीसरे प्रकार का विषम वहाँ होता है जहाँ असम्भाव्य वस्तु की सत्ता वर्णित होती है। इनके अतिरिक्त कर्त्ता और कार्य के सम्बन्ध की दृष्टि से निम्नलिखित चार प्रकार के विषम की कल्पना की गई है—

(क) जहा कर्त्ता स्वल्प कार्य भी नही कर सके, (ख) जहाँ वह गुरु-कार्य भी कर ले, (ग) अशक्त कर्त्ता भी जहाँ कार्य कर ले और (घ) सशक्त भी जहाँ किसी कार्य को नही कर सके। विषम के उक्त सात रूपो के अतिरिक्त एक रूप वह है, जिसमे कर्त्ता को आरब्ध कार्य मे केवल अभीष्ट फल की अनुपलब्धि ही नही होती वरन् और भी अनर्थ की प्राप्ति हो जाती है।[3] इस प्रकार विषम शब्द के विभिन्न अर्थो के आधार पर उसके उक्त आठ प्रकार की कल्पना की गयी है। विषम के दूसरे तथा तीसरे स्वरूप का निर्धारण विषम शब्द का अनुचित अर्थ मान कर किया गया है। उसके अनौचित्य तथा अशक्यकर्तृत्व अर्थ के आधार पर चौथे, पाँचवे, छठे तथा

---

१ द्रष्टव्य—रुद्रट, काव्यालङ्कार, ७,४२ तथा भामह, काव्यालङ्कार ३,८

२. यत्रैकमनेकस्मिन्ननेकमेकत्र वा क्रमेण स्यात्।
वस्तु सुखादिप्रकृति क्रियते वाच्य. स पर्याय:॥

—रुद्रट, काव्यालङ्कार ७,४४

३. द्रष्टव्य—वही, ७,४७-५१।

सातवे विषम-प्रकारो की कल्पना की गयी है। अन्तिम प्रकार-निरूपण मे विषम शब्द का अर्थ दारुण माना गया है। विषम अलङ्कार रुद्रट की मौलिक उद्भावना है।

अनुमान

अनुमान के साध्य तथा साधक या हेतु, इन दो तत्वो मे से साध्य का उपन्यास कर पुन उसके साधक हेतु का उपन्यसन अथवा पहले हेतु का उपन्यास कर साध्य का उपन्यसन, ये अनुमान के दो रूप है। जहाँ बलवान कारण को देख वस्तुत अनुत्पन्न कार्य को भी उत्पन्न अथवा भावी कहा जाय वहाँ भी अनुमान अलङ्कार होता है।[1] काव्य मे प्रयुक्त होने वाले मनोरम अनुमान को काव्यालङ्कार के रूप मे सर्वप्रथम रुद्रट ने ही स्वीकार किया है। हेतु से साध्य-साधन रूप अनुमान की धारणा दर्शन के क्षेत्र मे प्राचीन काल मे प्रचलित थी। न्याय-दर्शन मे अनुमान की प्रक्रिया का प्रौढ विवेचन सर्वविदित है। आचार्य भरत ने भी प्राप्ति-लक्षण मे भाव के अनुमान का उल्लेख किया है।[2] विचार-लक्षण की परिभाषा के प्राप्त पाठ मे भरत ने परोक्ष अर्थ के साधक वाक्य के प्रयोग पर बल देकर काव्य मे अनुमान की प्रक्रिया को ही स्वीकृति दी थी।[3] स्पष्ट है कि रुद्रट के अनुमान अलङ्कार के स्वरूप मे प्राचीन आचार्य अपरिचित नही थे। काव्यालङ्कार के क्षेत्र मे उसकी अवतारणा-मात्र मे रुद्रट की मौलिकता है।

परिकर

साभिप्राय विशेषण से द्रव्य, गुण, क्रिया तथा जाति-रूप वस्तु को विशिष्ट करने मे परिकर अलङ्कार माना गया है।[4] महाकवियो की रचना मे प्रयुक्त विशेषण बहुधा साभिप्राय ही हुआ करते है। भरत ने उदार-गुण के लक्षण के

१ रुद्रट, काव्याल० ७,५६-५९।

२ द्रष्टव्य—भरत, ना० शा० १६, ३२।

३ पूर्वाशयसमानार्थैरप्रत्यक्षार्थसाधनै·।
अनेकोपाधिसयुक्तो विचार परिकीर्तित·॥
—वही, १६ अनुबन्ध श्लोक स० २५ पृ० ३५७

४. साभिप्रायै· सम्यग्विशेषणैर्वस्तु यद्विशिष्येत।
द्रव्यादिभेदभिन्न चतुर्विधः परिकरः स इति॥
।—रुद्रट, काव्यालङ्कार, ७,७२

एक पाठ मे अनेक सूक्ष्म विशेषणो के प्रयोग के स्थल मे उदात्त गुण की सत्ता मानी है। हेमचन्द्र ने भरत की उदात्त विषयक मान्यता की व्याख्या करते हुए लिखा है कि जहाँ अनेक सूक्ष्म विशेषणो से युक्त वाक्य प्रयुक्त हो वहाँ भरत उदात्त गुण मानते थे।[१] इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि रुद्रट के परिकर अलङ्कार के साभिप्राय विशेषण-युक्त वाक्य की प्रकृति भरत के अनेक सूक्ष्म विशेषण सहित उदात्त गुण-युक्त वाक्य की प्रकृति से बहुत मिलती-जुलती है। भरत ने अक्षरसघात लक्षण मे भी साभिप्राय शब्द-प्रयोग पर बल दिया है।[२] भरत के 'नाट्यशास्त्र' मे उदात्त गुण तथा अक्षरसङ्घात लक्षण के स्वरूप का निरूपण हो जाने पर परिकर अलङ्कार के स्वतन्त्र स्वरूप की कल्पना भरत के लिए आवश्यक नही थी।

परिसख्या

जहाँ गुण, क्रिया, जाति रूप वस्तुओ के अनेक आधार मे रहने पर भी किसी एक नियत आधार मे ही उनका सद्भाव कहा जाय, जिससे अन्यत्र उनका अभाव प्रतीत हो, वहाँ रुद्रट के अनुसार परिसख्या अलङ्कार होता है। अनेक अधिकरणगत वस्तुओ के एक नियत अधिकरण मे निवास का निर्णय वक्ता कही अन्य व्यक्तियो के द्वारा पूछे जाने पर करता है, कही वह अपृष्टपूर्व ही ऐसा करता है। इन दो स्थितियो के आधार पर परिसख्या के दो रूप स्वीकृत है।[3] परिसख्या के स्वरूप पर दर्शन-शास्त्र मे सूक्ष्म विचार मिलता है। काव्यालङ्कार के क्षेत्र मे परिसख्या की अवतारणा दर्शन से हुई है।

कारणमाला

कारणमाला अन्वर्था सज्ञा है। इसमे प्रत्येक पूर्वस्थित पदार्थ अपने उत्तर-वर्ती पदार्थ का कारण बनता जाता है। इस प्रकार उत्तरवर्ती कार्य के प्रति

---

१ बहुभिः सूक्ष्मैश्च विशेषै समेतमुदारमिति भरतः।
—हेम०, काव्यानु०, व्याख्या, पृष्ठ २३८

२ द्रष्टव्य—भरत, ना० शा० १६,६ तथा उस पर अभिनवगुप्त की टीका, पृ० ३००

३ पृष्टमपृष्टं वा सद्गुणादि यत्कथ्यते क्वचित्तुल्यम्।
अन्यत्र तु तदभाव प्रतीयते सेति परिसख्या ॥—रुद्रट, काव्यालं० ७,७९

पूर्ववर्ती कारणों की शृङ्खला-सी बन जाती है।[१] दो पदार्थों के बीच कार्य-कारण-भाव की धारणा भरत ने हेतु लक्षण में व्यक्त की है।[२] कारण-कार्य-भाव की धारणा अत्यन्त प्राचीन है। दर्शन में कार्य-कारण-सम्बन्ध विचार का प्रधान विषय रहा है। भरत आदि आचार्य माला की धारणा से भी परिचित थे। नाट्यशास्त्र के प्राप्त एक पाठ में माला नामक लक्षण पर विचार किया गया है, जिसमें अभीष्ट अर्थ की सिद्धि के लिए अनेक प्रयोजन कथित होते हैं।[३] अनेक कारणों के एकत्र सन्निवेश की धारणा के प्राचीन होने पर भी रुद्रट के कारण-माला अलङ्कारकी रूपगत नवीनता यह है कि इसमें प्रत्येक पूर्ववर्ती पदार्थ अपने उत्तरवर्ती का कारण बन जाता है। अतः एक ही वाक्य में जो अपने पूर्ववर्ती का कार्य होता है, वह अपने उत्तरवर्ती का कारण बन जाता है। इस प्रकार कारण-कार्य की शृङ्खला बन जाती है। शृङ्खला-रूप में कार्य-कारण-भाव की उद्भावना का श्रेय रुद्रट को है।

अन्योन्य

जहाँ दो अभिधेय पदार्थों में हेतुभूत क्रिया से परस्पर विशिष्ट धर्म को परिपुष्ट करने वाला एक कारक-भाव (कर्त्ता आदि कारकत्व) निष्पन्न होता है वहाँ अन्योन्य अलङ्कार होता है।[४] हेतुभूत समान-क्रिया से समान कारकत्व की धारणा दीपक-धारणा में ली गयी है। यह रुद्रट की नवीन उद्भावना है।

उत्तर

उत्तर सुन कर जहाँ पूर्ववचन का निश्चय किया जाय अथवा जहाँ प्रश्न से ही उसका उत्तर प्रतीत हो वहाँ उत्तर नामक अलङ्कार माना गया है।[५] उत्तर से प्रश्न तथा प्रश्न से उत्तर की प्रतीति के आधार पर प्रस्तुत

१ कारणमाला सेयं यत्र यथापूर्वमेति कारणताम्।
अर्थानां पूर्वार्थाद्भवतीदं सर्वमेवेति ॥—रुद्रट काव्याल०, ७,८४

२. द्रष्टव्य—भरत ना० शा० १६, अनुबन्ध, १०

३ अभिप्रेतार्थसिद्ध्यर्थं कीर्त्यन्ते यत्र सूरिभिः।
प्रयोजनान्यनेकानि सा मालेत्यभिसञ्ज्ञिता ॥
—वही, १६ अनुबन्ध, श्लोक सं० २९

४ यत्र परस्परमेकः कारकभावोऽभिधेययोः क्रियया।
सञ्जायेत स्फारिततत्त्वविशेषस्तदन्योन्यम् ॥—रुद्रट, काव्याल०, ७,९१

५. उत्तरवचनश्रवणादुन्नयनं यत्र पूर्ववचनानाम्।
क्रियते तदुत्तरं स्यात्प्रश्नादप्युत्तरं यत्र ॥—वही, ७, ९३

अलङ्कार के दो भेद स्वीकृत है। प्रथम भेद का स्वरूप अनुमान से कुछ मिलता-जुलता है। अनुमान की तरह इसमे भी उत्तर-वाक्य मे प्रश्न-वाक्य अनुमित हो जाता है। दोनो मे भेद केवल इतना है कि जहाँ अनुमान मे हेतुहेतुमद्भाव की सिद्धि अपेक्षित होती है वहाँ उत्तर मे केवल प्रश्न का अनुमान होता है। इसमे कार्यकारण भाव की सिद्धि नही होती। उत्तर के दूसरे प्रकार मे प्रश्न मे ही उत्तर की प्रतीति वाञ्छनीय मानी गयी है। उत्तर के इस भेद का स्वरूप भरत के पृच्छा सज्ञक लक्षण के स्वरूप से मिलता-जुलता है। पृच्छा मे प्रश्न ही उत्तर का ज्ञापक होता है।[1] अभिनव गुप्त ने पृच्छा लक्षण की परिभाषा की व्याख्या करते हुए लिखा है कि इसमे प्रश्न के उत्तर की अपेक्षा नही होती, चूँकि प्रश्न ही उत्तर की प्रतीति करा देते है।[2] स्पष्ट है कि पृच्छा लक्षण के तत्त्वो से ही रुद्रट के उत्तर के उक्त स्वरूप का निर्माण हुआ है।

सार

सार अलङ्कार मे एक समुदाय की वस्तुओ मे एक अङ्ग मे दूसरे अङ्ग का क्रमश गुणोत्कर्ष वर्णित होता है।[3] इसमे प्रत्येक पूर्ववर्ती पदार्थ मे उत्तरवर्ती पदार्थ उत्कृष्ट माना जाता है। इस प्रकार किसी वस्तु के उत्तरोत्तर उत्कर्षशाली अङ्गो का क्रमबद्ध उपस्थापन सार मे अपेक्षित माना गया है। प्रत्येक पूर्ववर्ती से अधिकाधिक गुणवान् वस्तुओ की शृङ्खला इसमे रहा करती है। वस्तु-विनिवेश की शृङ्खला कारणमाला की तरह इसमे भी रहती है, किन्तु इसका कारणमाला से यह भेद है कि इसमे पूर्ववर्ती पदार्थ का परवर्ती पदार्थ से हेतुहेतुमद्भाव-सम्बन्ध नही रहता, इसमे पूर्ववर्ती तथा परवर्ती पदार्थो मे गुणों के न्यूनाधिक्य-मात्र का विचार अपेक्षित माना गया है। प्रस्तुत अलङ्कार के स्वरूप की उद्भावना का श्रेय भी रुद्रट को ही है।

अवसर

न्यून वस्तु के उत्कर्ष-साधन के लिए जहाँ उदात्त या सरस वस्तु को उस न्यून वस्तु के उपलक्षण के रूप मे प्रस्तुत किया जाता है, वहाँ अवसर

---

१. यत्राकारोद्भवैर्वाक्यैरात्मानमथवा परम्।
पृच्छन्निवाभिधत्तेऽर्थं सा पृच्छेत्यभिसंज्ञिता॥—वही, १६,३४

२ पृच्छा ··पृच्छन्निवाभिधानम्। तन्नोत्तरमपेक्षते तस्यैव प्रत्यायकत्वात्।
—अभिनव, ना० शा० अ० भा० पृ० ३६१

३. यत्र यथासमुदायाद्यथैकदेश क्रमेण गुणवदिति।
निर्धार्यते यथावधि निरतिशय तद्भवेत्सारम्॥—रुद्रट, काव्याल० ७,९६

अलङ्कार होता है।[१] भरत ने हीन वस्तु मे उदात्तता के आधान को ओज गुण कहा था।[२] ओज गुण-लक्षण के दो पाठ उपलब्ध है। जिस लक्षण-श्लोक मे हीन वस्तु मे उदात्तता के आधान को ओज कहा गया है, उसे लक्ष्य कर हेमचन्द्र ने कहा है कि जहाँ कवि अवगीत या हीन वस्तु मे भी शब्दार्थ की सम्पदा से उदात्तत्व की प्रतिष्ठा करते है वहाँ भरत के अनुसार ओज गुण होता है।[३] अवसर अलङ्कार के प्रथम भेद का स्वरूप भरत के ओज के उक्त स्वरूप से मिलता-जुलता है। अवसर के दूसरे भेद मे सरस वाक्य के उपलक्षण बनाये जाने पर बल दिया गया है। भरत ने सरस तथा दिव्य भाव युक्त वाक्य के प्रयोग पर उदारत्व गुण मे विचार किया था।[४] युक्ति लक्षण मे उत्कृष्ट वस्तु के साथ अर्थ के सम्बन्ध-साधन पर बल दिया गया है।[५] इससे स्पष्ट है कि भरत के ओज एव उदारत्व गुणो तथा युक्ति लक्षण के तत्त्वो के योग से रुद्रट के अवसर अलङ्कार की स्वरूप-सृष्टि हुई है।

मीलित

जहा हर्ष, क्रोध, भय आदि का अपने समान चिह्न वाले नित्य या आगमापायी पदार्थो मे तिरस्कृत होना वर्णित हो वहाँ मीलित अलङ्कार होता है।[६] प्रस्तुत अलङ्कार का स्वरूप सर्वथा नवीन है।

एकावली

एकावली का स्वरूप भी नवीन है। कारणमाला तथा सार की तरह इसमे भी पदार्थो की शृङ्खला की कल्पना की गयी है। इसमे प्रत्येक परवर्ती पदार्थ अपने पूर्ववर्ती पदार्थ के प्रति विशेषण बन जाता है।[७]

---

१. अर्थान्तरमुत्कृष्ट सरस यदिवोपलक्षण क्रियते।
अर्थस्य तदभिधानप्रसङ्गतो यत्र सोऽवसरः ॥—रुद्रट, काव्याल० ७,१०३

२. द्रष्टव्य—भरत, ना० शा०, १६,१०६।

३. अवगीतस्य हीनस्य वा वस्तुन. शब्दार्थसम्पदा यदुदात्तत्व निषिञ्चन्ति कवयस्तदोजः' इति भरत.।—हेम०, काव्यानु० व्याख्या, पृ० २३३

४. द्रष्टव्य—भरत, ना० शा० १६,११०।

५. द्रष्टव्य—वही, १६,३६।

६. तन्मीलितमिति यस्मिन्समानचिह्नेन हर्षकोपादि।
अपरेण तिरस्क्रियते नित्येनागन्तुकेनापि ॥—रुद्रट, काव्याल० ७,१०६

७. द्रष्टव्य—वही, ७,१०९।

औपम्य वर्ग के अलङ्कार

मत

जहाँ वक्ता लोकमत से सिद्ध उपमेय का कथन कर स्वमत से उस उपमेय के समान धर्म वाले उपमान का उल्लेख करता हो, वहाँ मत नामक अलङ्कार माना गया है।[१] लोकमत से भिन्न वक्ता के निज-मत का प्रकाशन होने से मत की अन्वर्था सज्ञा है। स्पष्ट है कि इसमे वक्ता किसी वस्तु के सम्बन्ध मे अन्य व्यक्तियो की मान्यता का निषेध करता है, किन्तु अपह्नुति की तरह इसमे प्रस्तुत का शब्दत निषेध नही किया जाता। इसमे वर्ण्य विषय के सम्बन्ध मे अन्य लोगो के मत को अस्वीकार कर वक्ता अपने मत का उल्लेख-मात्र करता है। आचार्य भरत ने हेतु लक्षण मे किसी वस्तु के सम्बन्ध मे कही जाने वाली बातो को अनादृत कर वक्ता के द्वारा किसी असाधारण अर्थ का सप्रमाण निर्णय किया जाना वाञ्छनीय माना है।[२] इस लक्षण मे उपमानोपमेय भाव की धारणा को मिला कर लोगो की उपमेयोक्ति का अनादर कर स्वमत से उपमानोक्ति की धारणा मत अलङ्कार के लक्षण मे व्यक्त की गयी है। स्पष्ट है कि हेतु लक्षण तथा उपमा अलङ्कार के तत्त्वो के योग से मत अलङ्कार के स्वरूप की रचना हुई है।

उत्तर

उत्तर अलङ्कार के लक्षण मे रुद्रट ने यह मान्यता व्यक्त की है कि जहाँ उपमेयभूत वस्तु के सम्बन्ध मे कुछ पूछे जाने पर वक्ता उपमान के विख्यात तथा तन्मात्रनिष्ठ कार्य से उसे उपमान के तुल्य कहे, वहाँ उत्तर नामक अलङ्कार होता है।[३] उपमान के कार्य से उपमेय को उसके समान कहे जाने के कारण यह उत्तर उपमामूलक अलङ्कार है। एक अर्थ से तत्तुल्य अन्य अर्थ के निर्णय पर आचार्य भरत ने मिथ्याध्यवसाय लक्षण मे बल दिया था।[४] उत्तर मे भी उपमान के कार्य से तत्तुल्य उपमेय का निर्णय होता

---

१. तन्मतमिति यत्रोक्त्वा वक्तान्यमतेन सिद्धमुपमेयम्।
ब्रूयादथोपमानं तथा विशिष्ट स्वमतसिद्धम् ॥—रुद्रट, काव्याल० ८,६६

२. द्रष्टव्य—भरत, ना० शा० १६,१४

३ यत्र ज्ञातादन्यत्पृष्टस्तत्त्वेन वक्ति तत्तुल्यम्।
कार्येणानन्यसमाख्यातेन तदुत्तरं ज्ञेयम् ॥—रुद्रट, काव्याल० ८,७२

४. द्रष्टव्य—भरत, ना० शा०, १६,१६

है। किसी के द्वारा पूछे जाने पर निर्णय किये जाने मे आचार्य भरत ने आख्यान नामक लक्षण का सद्भाव स्वीकार किया है।[१] रुद्रट के उपमामूलक उत्तर अलङ्कार की परिभाषा मे एक अर्थ से तत्तुल्य अर्थ के निर्णय का तत्त्व मिथ्याध्यवसाय लक्षण से, किसी के द्वारा पूछे जाने पर वक्ता के द्वारा निर्णय किये जाने का तत्त्व आख्यान लक्षण से और उपमानोपमेय का तत्त्व उपमा अलङ्कार से गृहीत है।

प्रतीप

उपमेय की अतिशयता के द्योतन के लिए जहाँ उपमान के साथ उसकी समता के लिए उसकी निन्दा की जाती हो या उस पर अनुकम्पा प्रकट की जाती हो वहाँ रुद्रट के अनुसार प्रतीप अलङ्कार होता है।[२] प्रतीप के इस स्वरूप की कल्पना आचार्य दण्डी के उपमा अलङ्कार के एक भेद उत्प्रेक्षितोपमा के स्वरूप के आधार पर की गयी है। दण्डी के द्वारा प्रदत्त उत्प्रेक्षितोपमा के उदाहरण की व्याख्या करते हुए 'काव्यादर्श' की 'कुसुम-प्रतिमा' टीका के लेखक नृसिंहदेव शास्त्री ने रुद्रट के प्रतीप अलङ्कार के उदाहरण से उसका स्वरूप-साम्य प्रतिपादित किया है।[३] स्पष्ट है कि दण्डी की उपमा-धारणा के आधार पर ही रुद्रट ने प्रतीप नामक नवीन अलङ्कार की उद्भावना कर ली। रुद्रट के परवर्ती आचार्यों ने प्रतीप व्यपदेश को तो स्वीकार किया है, किन्तु उसके रुद्रट-कल्पित लक्षण को अस्वीकार कर नवीन लक्षण की सृष्टि की है।

उभयन्यास

रुद्रट के उभयन्यास अलङ्कार की प्रकृति भामह आदि आचार्यों के

---

१. द्रष्टव्य—भरत, ना० शा०, १६,२१।

२ यत्रानुकम्प्यते सममुपमाने निन्द्यते वापि।
उपमेयमतिस्तोतुं दुरवस्थमिति प्रतीप स्यात्॥
—रुद्रट, काव्यालं० ८, ७६

३. वयन्तु—'गर्वमसंवाह्यमिमम्' 'इत्यादिस्थलवत्' 'अन्योपमेयलाभेन वर्ण्यस्यानादरश्च तत्' इत्युक्तेः प्रतीप-विशेषच्छायामपि ब्रूमः।—काव्याद० कुसुमप्रतिमा, पृ० ८२। ध्यातव्य है कि 'गर्वमसंवाह्यमिमम्…' रुद्रट के प्रतीप अलङ्कार का उदाहरण है।
द्रष्टव्य—रुद्रट, काव्यालं० ८,७८

प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार से अभिन्न है।[१] रुद्रट ने अपने 'काव्यालङ्कार' में प्रतिवस्तूपमा का उल्लेख नही कर इस नवीन अलङ्कार-सज्ञा का उल्लेख किया है। स्पष्टत उभयन्यास नाम्ना नवीन तथा स्वरूपतया प्राचीन अलङ्कार है।

भ्रान्तिमान

रुद्रट ने सर्वप्रथम भ्रान्तिमान नामक स्वतन्त्र अलङ्कार का उल्लेख किया है, किन्तु भ्रमात्मक प्रतीति की धारणा अज्ञातपूर्व नही है। तत्त्वज्ञान के साथ द्वैकोटिक सशयात्मक तथा एककोटिक भ्रमात्मक प्रतिभास पर प्राचीन काल से ही दर्शन के क्षेत्र मे विचार हो रहा था। भरत ने विपर्यय लक्षण मे सन्देह शब्द का प्रयोग किया है, जिसकी व्याख्या मे अभिनवगुप्त ने कहा है कि यहाँ सन्देह से भरत का अभिप्राय भ्रम का है।[२] आचार्य दण्डी ने उपमा-चक्र के विवेचन-क्रम मे उपमान से उपमेय के सादृश्यातिशय के कारण उपमेय मे उपमान की भ्रान्ति के तत्त्व पर मोहोपमा तथा तत्त्वाख्यानोपमा में विचार किया है।[3] मोहोपमा का मोह (अन्य वस्तु मे अन्यबुद्धि) भ्रम ही है। तत्त्वाख्यानोपमा मे भ्रम का निवारण किया जाता है। यह भ्रमपूर्विका ही होती है। उपमा के साथ भरत के उक्त लक्षण के भ्रमात्मक ज्ञान के तत्त्व के मिश्रण से भ्रान्तिमान अलङ्कार का स्वरूप निर्मित है।

प्रत्यनीक

प्रत्यनीक मे उपमेय को उत्तम बताने के लिए उस उपमेय की विजय की इच्छा से उसके विरोधी उपमान की कल्पना की जाती है।[४] उपमेय उपमान का यह विरोध वचन-मात्र का होता है, तात्त्विक नही, क्योंकि तत्त्वत. विरोध होने पर दोनो मे औपम्य ही सम्भव नही होगा। प्रत्यनीक रुद्रट की मौलिक उद्भावना है।

---

१. द्रष्टव्य—रुद्रट, काव्यालं० ८, ८५।

—तुलनीय—भामह, काव्यालं० २,३४

२ विचारस्यान्यथाभावस्तथा दृष्टापदृष्टयो.।
सन्देहात्कल्प्यते यत्र सविशेषो विपर्यय.॥
—भरत ना० शा० १६ अनुबन्ध, श्लोक स० २६ तथा—
'सन्देहोऽत्रभ्रम' ··ना० शा० अ० भा० पृ० ३०८

३. द्रष्टव्य—दण्डी, काव्याद० २,२५ तथा ३६

४. वक्तुमुपमेयमुत्तममुपमान तज्जिगीषया यत्र।
तस्य विरोधीत्युक्त्या कल्प्येत प्रत्यनीकं तत्॥—रुद्रट, काव्याल० ८,९२

पूर्व

जहाँ उपमेय और उपमान; ये दोनो तुल्य कर्म वाले हो वहा यदि पश्चाद्भावी उपमेय का प्राग्भाव वर्णित हो तो उसमे पूर्व नामक अलङ्कार का सद्भाव माना जाता है।[१] पश्चाद्भावी अर्थ के पूर्व-भाव-वर्णन मे अतिशयोक्ति का तत्त्व स्पष्ट है। उद्भट के अतिशयोक्ति-विवेचन के क्रम म हम यह देख चुके हैं कि उन्होंने कार्य-कारण के पौर्वापर्य मे अतिशयोक्ति की सत्ता मानी थी।[२] रुद्रट ने औपम्यमूलक पूर्व अलङ्कार मे पौर्वापर्य की धारणा वहीं से ली है। कार्य-कारण के स्थान पर उपमानोपमेय की धारणा को पौर्वापर्य से मिला कर पूर्व अलङ्कार के प्रस्तुत स्वरूप की कल्पना की गयी है।

समुच्चय

समुच्चय मे अनेक उपमान तथा उपमेय द्रव्य, गुण, क्रिया तथा जाति-रूप एक साधारण धर्म से युक्त होते हे। इसमे सादृश्य के वाचक 'इव' आदि शब्दो का प्रयोग नही होता।[3] भरत ने दीपक अलङ्कार मे अनेक साकाक्ष पदो की आकाक्षा का पूरक एक क्रिया, जाति, गुण या द्रव्य को माना था। उनके पदोच्चय लक्षण मे व्यक्त पदो के उच्चय की धारणा रुद्रट की उपमानोपमेय-समुच्चय की कल्पना का आधार बनी होगी। इस प्रकार पदोच्चय लक्षण से समुच्चय, उपमा से उपमानोपमेय भाव और दीपक से अनेक का गुण, जाति, क्रिया तथा द्रव्य रूप एक अर्थ से सम्बन्ध की धारणा लेकर औपम्य गर्भ समुच्चय अलङ्कार की रूप-रचना की गयी है।

साम्य

उपमान तथा उपमेय मे साधारण रूप से स्थित गुण आदि की कार्यभूत अर्थ-क्रिया से उपमेय का उपमान से साम्य-प्रतिपादन मे रुद्रट के अनुसार साम्य अलङ्कार होता है।[४] साम्य के एक और प्रकार की कल्पना की

---

१. यत्रैकविधावर्थौ जायेते यौ तयोरपूर्वस्य।
अभिधानं प्राग्भवतः सतोऽभिधीयेत तत्पूर्वम् ॥—रुद्रट, काव्याल० ८,९७

२. द्रष्टव्य—प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० ११०

३. सोऽयं समुच्चयः स्याद्यत्रानेकोऽर्थ एकसामान्यः।
अनिवादिर्द्रव्यादिः सत्युपमानोपमेयत्वे ॥—रुद्रट, काव्याल० ८,१०३

४. अर्थक्रियया यस्मिन्नुपमानस्यैति साम्यमुपमेयम्।
तत्सामान्यगुणादिककारणया तद्भवेत् साम्यम् ॥—वही, ८,१०५

गयी है। इसके लक्षण मे रुद्रट ने कहा है कि जहाँ उपमान और उपमेय में सर्वात्मना साम्य का अभिधान हो, किन्तु उपमेय का उत्कर्ष सिद्ध करने वाले कुछ वैशिष्ट्य का कवि उल्लेख करता हो, वहाँ साम्य का सद्भाव माना जाता है।[1] उपमेय के उत्कर्षकारक विशेष के प्रतिपादन मे व्यतिरेक की धारणा स्पष्ट है। इसमे उत्कर्ष-प्रतिपादक विशेष को छोड अन्य सभी दृष्टियों से प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत के बीच साम्य-निरूपण होने के कारण ही इसे साम्य कहा गया है। स्पष्ट है कि साम्य के प्रथम प्रकार के साथ व्यतिरेक अलङ्कार के तत्त्व के मिश्रण मे उसके प्रस्तुत स्वरूप का निर्माण हुआ है। उपमा से साम्य का स्वभाव इतना मिलता-जुलता है कि इनके पृथक् अस्तित्व की कल्पना ही अनावश्यक जान पडती है। उपमा की तरह इसमे भी उपमेय तथा उपमान के बीच साधारण गुण, क्रिया आदि की कल्पना की गयी है। उपमा से इसके व्यावर्तन के लिए यह कल्पना कर ली गयी है कि उपमान और उपमेय का अर्थ-क्रिया मे साम्य-प्रतिपादन साम्य है। उनके बीच सामान्य रूप से रहने वाले गुण आदि उस अर्थक्रिया के कारण होते हैं। मेरी सम्मति मे उपमेय और उपमान के बीच साम्य-प्रतिपादन मे—चाहे वह उभय-साधारण गुण आदि से हो या उनके कार्यभूत अर्थक्रिया से—उपमा की ही सत्ता मानी जानी चाहिए। प्राचीन आचार्यों ने उपमा के जिस व्यापक स्वरूप की कल्पना की थी, उससे स्वतन्त्र साम्य अलङ्कार की कल्पना उनके लिए आवश्यक नही थी।

स्मरण

स्मरण को सर्वप्रथम रुद्रट ने ही अलङ्कार के रूप मे परिगणित किया है; किन्तु स्मृति या स्मरण की धारणा का उद्भावक उन्हे नही माना जा सकता। भारतीय दर्शन मे प्राचीन काल से ही स्मृति के स्वरूप का विवेचन हो रहा था। स्मरण के सम्बन्ध मे दार्शनिकों की मूल-धारणा को रुद्रट ने यथावत् स्वीकार किया है। उन्होने यह माना है कि जहाँ भावक किसी वस्तु को देख कर अतीत मे अनुभूत उसके सदृश किसी अन्य अर्थ को स्मरण करता है, वहाँ स्मरण अलङ्कार होता है।[2] दार्शनिकों ने भी सादृश्य को स्मरण का

---

१. सर्वाकार यस्मिन्नुभयोरभिधातुमन्यथा साम्यम्।
उपमेयोत्कर्षकर कुर्वीत विशेषमन्यत्तत्॥—रुद्रट, काव्यालं०, ८,१०७

२. वस्तुविशेषं दृष्ट्वा प्रतिपत्ता स्मरति यत्र तत्सदृशम्।
कालान्तरानुभूत वस्त्वन्तरमित्यदः स्मरणम्॥—वही, ८, १०९

हेतु माना है। नाट्याचार्य भरत के 'नाट्यशास्त्र' मे अनेकत्र स्मृति शब्द का उल्लेख हुआ है[१], किन्तु अलङ्कार के रूप मे नही। स्मृति को सञ्चारी भाव के रूप मे स्वीकार किया गया है।[२] रुद्रट ने केवल सादृश्य पर आधृत स्मृति को ही अलङ्कार कहा है। स्पष्ट है कि प्राचीनो की स्मृति-विषयक मान्यता को काव्यालङ्कार के क्षेत्र मे अवतरित-मात्र करने का श्रेय रुद्रट को दिया जा सकता है, स्मरण के स्वरूप की उद्भावना का नही।

अतिशय वर्ग के अलङ्कार

पूर्व

अतिशयमूलक पूर्व अलङ्कार के लक्षण मे यह मान्यता प्रकट की गयी है कि जहाँ कारण के पूर्व कार्य का प्रादुर्भाव विवक्षित हो वहा पूर्व अलङ्कार होता है।[३] कार्य-कारण के सामान्य पौर्वापर्य का व्यतिक्रम होने से इसे अतिशय गर्भ अलङ्कार माना गया है। इसे अतिशयोक्ति अलङ्कार का ही एक रूप माना जाना चाहिए। भामह, दण्डी, उद्भट आदि की अतिशयोक्ति-परिभाषा मे प्रस्तुत अलङ्कार के लक्षण का अन्तर्भाव सहज है। लोक सीमा का उल्लङ्घन होने से यह अतिशयोक्ति ही है। उद्भट ने कार्य-कारण के पौर्वापर्य-विपर्यय को अतिशयोक्ति का एक भेद माना था।[४] उद्भट के उक्त अतिशयोक्ति-भेद से रुद्रट का पूर्व अभिन्न है। अपने पूर्ववर्ती आलङ्कारिको के अतिशयोक्ति-अलङ्कार-लक्षण के तत्तदङ्गो से अतिशय मूलक स्वतन्त्र सज्ञा वाले विभिन्न अलङ्कारो की कल्पना कर लेने के कारण ही रुद्रट ने अतिशयोक्ति नामक प्रसिद्ध अलङ्कार का पृथक् लक्षण-निरूपण नही किया है। पूर्ववर्ती भामह आदि आचार्यो की अतिशयोक्ति की तरह रुद्रट के पूर्व का मूल भी भरत के अतिशय लक्षण मे देखा जा सकता है।[५]

१. द्रष्टव्य—भरत, ना० शा०, १६, १२४-१२५
२. द्रष्टव्य—वही, ७,५४
३. यत्रातिप्रबलतया विवक्ष्यते पूर्वमेव जन्यस्य।
प्रादुर्भावः पश्चाज्जनकस्य तु तद्भवेत्पूर्वम्॥—रुद्रट, काव्याल०, ६,३
४. कार्यकारणयोर्यत्र पौर्वापर्यविपर्ययात्।...
—उद्भट, काव्यालं० सार स० २, २५
५. द्रष्टव्य—भरत ना० शा० १६, १३

विशेष

रूद्रट के 'काव्यालङ्कार' मे विशेष अलङ्कार के तीन प्रकार उल्लिखित है। उसके एक भेद मे किसी आधेयभूत वस्तु के आधार के वस्तुतः रहने पर भी उसका (आधेय का) निराधार की तरह कथन होता है।[1] विशेष का दूसरा भेद वहाँ पाया जाता है, जहाँ अनेक आधार मे एक वस्तु का एककालावच्छेदेन सद्भाव प्रतिपादित होता है।[2] उसका तीसरा प्रकार वह है, जिसमे कर्त्ता कोई अन्य कार्य करता हुआ उसी कार्य-काल मे कोई अन्य अशक्य कार्य कर देता है।[3] रुद्रट के विशेष अलङ्कार का स्वरूप सर्वथा नवीन है।

तद्गुण

जहाँ समान गुण वाले ऐसे पदार्थों के, जिनके योग होने पर पृथक्-पृथक् रूप लक्ष्य हो सके, परस्पर सम्बन्ध होने पर उनमे भेद के लक्षित नही होने का वर्णन होता है, वहाँ रुद्रट के अनुमार तद्गुण नामक अलङ्कार होता है।[4] इसके एक और भेद की कल्पना की गयी है, जिसके स्वरूप के सम्बन्ध मे यह मान्यता व्यक्त की गयी है कि इसमे अन्य वस्तु के ससर्ग मे आने पर किसी वस्तु का उसी के गुण को ग्रहण कर लेना वर्णित होता है।[5] तद्गुण के प्रथम भेद का स्वरूप, जिसमे किसी वस्तु के रूप के लक्ष्य होने पर भी अन्य वस्तु के ससर्ग के कारण अलक्ष्य के रूप मे वर्णन होता है, उद्भट की अतिशयोक्ति के 'भेदे नान्यत्व' (भेद मे अभेद) भेद से मिलता-जुलता है।[6] संसर्ग होने पर एक वस्तु के द्वारा अन्य वस्तु के गुण-ग्रहण की धारणा नवीन है।

---

१. किञ्चिदवश्याधेय यस्मिन्नभिधीयते निराधारम्।
तादृगुपलभ्यमान विज्ञेयोऽसौ विशेष इति—रुद्रट, काव्यालं०, ९,५

२. यत्रैकमनेकस्मिन्नाधारे वस्तु विद्यमानतया।
युगपदभिधीयतेऽसावत्रान्यः स्याद्विशेष इति ॥—वही, ९, ७

३. यत्रान्यत्कुर्वाणो युगपत्कार्यान्तर च कुर्वीत।
कर्तुमशक्यं कर्त्ता विज्ञेयोऽसौ विशेषोऽन्य.॥—वही, ९, ९

४. यस्मिन्नेकगुणानामर्थाना योगलक्ष्यरूपाणाम्।
संसर्गे नानात्व न लक्ष्यते तद्गुण· स इति ॥—वही, ९,२२

५. असमानगुणं यस्मिन्नतिबहलगुणेन वस्तुना वस्तु।
संसृष्ट तद्गुणता धत्तेऽन्यस्तद्गुणः स इति ॥—वही, ९,२४

६. द्रष्टव्य—उद्भट, काव्याल० सारसं०, २,२४

अधिक अलङ्कार के दो प्रकार की कल्पना रुद्रट ने की है। जहाँ एक कारण से परस्पर विरुद्ध-स्वभाव वाले अथवा विरुद्ध क्रिया वाले दो पदार्थों का प्रादुर्भाव वर्णित हो, वहाँ अधिक नामक अलङ्कार का सद्भाव माना गया है।[1] प्रस्तुत अलङ्कार के प्रकारान्तर की कल्पना करते हुए रुद्रट ने कहा है कि जहाँ महान आधार मे भी स्वल्प आधेय का नही समा पाना वर्णित हो, वहाँ भी अधिक अलङ्कार होता है।[2] प्रस्तुत अलङ्कार के स्वरूप की उद्भावना का श्रेय रुद्रट को है।

विषम

विषम अलङ्कार के स्वरूप की कल्पना भी नवीन है। इसके लक्षण मे यह कहा गया है कि जहाँ कार्य और कारण के गुणो मे अथवा क्रियाओ मे परस्पर विरोध हो, वहाँ विषम अलङ्कार होता है।[3]

असङ्गति

असङ्गति की धारणा भी रुद्रट की मौलिक उद्भावना है। विषम से असङ्गति का भेद केवल यह है कि विषम मे कार्य और कारण के गुण एव क्रिया का विरोध-प्रतिपादन होता है, पर असङ्गति मे एक ही समय कार्य और कारण के भिन्नाधिकरणत्व का वर्णन होता है।[4] नियमत. जहाँ कारण हो, वही उसका कार्य भी होना चाहिए। असङ्गति मे एक काल मे ही कारण के एकत्र तथा कार्य के अपरत्र सद्भाव के वर्णन से जो चमत्कार उत्पन्न होता है, उसी मे अलङ्कारत्व माना गया है।

---

१. यत्रान्योन्यविरुद्ध विरुद्धबलवत्क्रियाप्रसिद्ध वा।
वस्तुद्वयमेकस्माज्जायत इति तद्भवेदधिकम् ॥—रुद्रट, काव्याल०, ६,२६

२ यत्राधारे सुमहत्याधेयमवस्थित तनीयोऽपि।
अतिरिच्येत कथञ्चित्तदधिकमपर परिज्ञेयम् ॥—वही, ६,२८

३ कार्यस्य कारणस्य च यत्र विरोधः परस्पर गुणयोः।
तद्वत्क्रिययोरथवा सजायेतेति तद्विषमम् ॥—वही, ६,४५

४. विस्पष्टे समकाल कारणमन्यत्र कार्यमन्यत्र।
यस्यामुपलभ्येते विज्ञेयासगतिः सेयम् ॥—वही, ६,४८

पिहित

वास्तव वर्ग के मीलित अलङ्कार की तरह अतिशय-गर्भ पिहित अलङ्कार मे भी एक गुण अपने आश्रय मे रहने वाले अन्य अर्थ को आच्छादित कर लेता है। किन्तु, दोनो मे स्वभावगत भेद यह है कि जहाँ मीलित मे समान चिह्न वाले अर्थान्तर से हर्ष, कोप आदि तिरस्कृत होता है, वहाँ पिहित मे किसी वस्तु का तिरस्कार या पिधान असमान गुण वाले पदार्थान्तर से होता है। स्पष्ट है कि मीलित की तरह प्रस्तुत अलङ्कार की उद्भावना का श्रेय भी रुद्रट को ही है।

व्याघात

जहाँ कार्योत्पादन के अवरोधक किसी तत्त्व के नही रहने पर भी कारण कार्य को उत्पन्न नही करता हुआ चित्रित हो, वहाँ व्याघात अलङ्कार माना गया है।[1] उद्भट के विशेषोक्ति अलङ्कार के स्वरूप से प्रस्तुत अलङ्कार का स्वरूप अभिन्न है। उन्होने कारण की समग्र उपस्थिति मे कार्य की अनुत्पत्ति को विशेषोक्ति कहा है। कही कार्यानुत्पत्ति का हेतु कथित तथा कही अकथित हो सकता है।[2] रुद्रट का व्याघात उद्भट की विशेषोक्ति के अकथितनिमित्ता भेद से अभिन्न है।

अहेतु

जहाँ विकार के बलवान हेतु के रहने पर भी किसी वस्तु मे स्थैर्य के कारण विकार का उत्पन्न नही होना वर्णित हो, वहाँ अहेतु नामक अलङ्कार माना गया है।[3] उद्भट के विशेषोक्ति-लक्षण के व्यापक परिवेश मे रुद्रट

---

१. अन्यैरप्रतिहतमपि कारणमुत्पादनं न कार्यस्य।
यस्मिन्नभिधीयेत व्याघातः स इति विज्ञेयः॥—वही, ९,५२

२ यत्सामग्र्येऽपि शक्तीनां फलानुत्पत्तिबन्धनम्।
विशेषस्याभिधित्सातस्तद्विशेषोक्तिरिष्यते॥
दर्शितेन निमित्तेन निमित्तादर्शनेन च।
तस्या बन्धो द्विधा लक्ष्ये दृश्यते ललितात्मकः॥
—उद्भट, काव्याल० सार स०, ५,५

३. बलवति विकारहेतौ सत्यपि नैवोपगच्छति विकारम्।
यस्मिन्नर्थः स्थैर्यान्मिन्तव्योऽसावहेतुरिति॥—रुद्रट, काव्याल०, ९,५४

के प्रस्तुत अलङ्कार का भी समावेश सम्भव है। अहेतु मे भी व्याघात की ही तरह मूलत हेतु के सद्भाव मे कार्य का अभाव वाञ्छनीय माना गया है। रुद्रट ने प्राचीन आचार्यो के विशेषोक्ति अलङ्कार को नाम्ना स्वीकार नही किया है, किन्तु वे उस प्रसिद्ध अलङ्कार के स्वरूप की उपेक्षा नही कर सके। उसी अलङ्कार के स्वरूप के आधार पर रुद्रट ने व्याघात तथा अहेतु अलङ्कारो की कल्पना कर ली है।

अतिशय वर्ग के अलङ्कारो के स्वरूप की समीक्षा से यह स्पष्ट हो जाता है कि रुद्रट ने इस वर्ग के अनेक अलङ्कारो के स्वरूप की कल्पना स्वतन्त्र रूप से की है। विशेष, अधिक, विषम, असङ्गति, पिहित आदि अलङ्कारो की उद्भावना इसका प्रमाण है।

आचार्य रुद्रट के 'काव्यालङ्कार' मे विवेचित नवीन अभिधान वाले उक्त अलङ्कारो के स्रोत-सन्धान के उपरान्त हम उनके उन अलङ्कारो के उद्गम पर विचार करेगे, जिनके नाम तो प्राचीन आचार्यों से गृहीत है, किन्तु उनके सामान्य स्वरूप की अथवा विशेष भेद की कल्पना स्वतन्त्र रूप से की गयी है। रुद्रट ने प्राचीन आचार्यो के जिन अलङ्कारो के नाम स्वीकार किये है, उनमे से अधिकाश के स्वरूप भी पूर्वाचार्य-सम्मत ही है। उदाहरणार्थ—वास्तव-वर्ग के जाति या स्वभावोक्ति, यथासख्य, दीपक, लेश और हेतु; औपम्य वर्ग के उपमा रूपक, अपह्नुति, समासोक्ति, अन्योक्ति या अप्रस्तुतप्रशसा तथा दृष्टान्त, अतिशय,वर्ग के उत्प्रेक्षा और विरोध, एव श्लेष-वर्ग के श्लेष अलङ्कारों के स्वरूप की धारणा पूर्ववर्ती आचार्यों की तत्तदलङ्कार-धारणा से अभिन्न है। अनुप्रास एव यमक अलङ्कारो के सम्बन्ध में भी कोई नवीन मान्यता नही प्रकट की गयी है। रुद्रट की जाति का स्वरूप भामह आदि आचार्यो की स्वभावोक्ति के स्वरूप से अभिन्न है। यथासख्य और दीपक अलङ्कारो के लक्षण-निरूपण मे भी रुद्रट भामह आदि आचार्यों की तद्विषयक धारणा से प्रभावित है। उन्होने लेश के सम्बन्ध मे दण्डी की धारणा को स्वीकार नही किया है। दण्डी ने उस अलङ्कार के सम्बन्ध मे अन्य आचार्यो की जिस मान्यता की ओर सङ्केत किया था उसके अनुसार लेश की सत्ता व्याज-स्तुति से पृथक् नही रह जाती। रुद्रट ने उसी मत के अनुसार दोष के गुणी-भाव तथा गुण के दोषीभाव को लेश कहा है। यही कारण है कि रुद्रट को व्याजस्तुति की पृथक् सत्ता की कल्पना आवश्यक नही जान पडी होगी। उनके हेतु अलङ्कार का स्वरूप दण्डी के हेतु से मिलता-जुलता ही है। दोनों मे

थोडा भेद यह है कि जहाँ दण्डी कार्य-कारण के एक साथ वर्णन को हेतु मे अपेक्षित मानते थे, वहाँ रुद्रट ने इसमे कार्य-कारण का ऐक्य अपेक्षित माना है। भामह ने हेतु के अलङ्कारत्व का खण्डन किया था। दण्डी ने उसे वाणी के उत्तम आभूपणो मे एक माना। उनके उत्तरवर्ती आचार्य उद्भट ने उसका नामोल्लेख नही किया है। वे सम्भवत. उसे काव्यलिङ्ग या काव्यहेतु से अभिन्न मानते थे। वामन के काव्यालङ्कार मे भी वह स्थान नही पा सका। रुद्रट ने आचार्य दण्डी के हेतु का विवेचन तो किया है, किन्तु उसे वाणी का उत्तम अलङ्कार नही कहा है। हाँ, उन्होने इसे अन्य अलङ्कारो से विलक्षण अवश्य कहा है।[1] हेतु की अन्य अलङ्कारो से विलक्षणता से रुद्रट का क्या अभिप्राय था, यह विचारणीय है। रूद्रट के पूर्व हेतु, सूक्ष्म और लेश के अलङ्कारत्व के सम्बन्ध मे दो मत थे। कुछ आवार्य या तो उनमे सौन्दर्य का अभाव मान कर उनका अलङ्कारत्व अस्वीकार करते थे या उनका अन्य अलङ्कार मे अन्तर्भाव मान कर उनके स्वतन्त्र अस्तित्व का निषेध करते थे। रुद्रट ने उन मतो के खण्डन के लिए हेतु को अलङ्कार कहा और अन्य अलङ्कारो मे उसके अन्तर्भाव की सम्भावना के खण्डन के लिए उसे अन्य अलङ्कारो से स्वतन्त्र कहा। नमिसाधु की यही मान्यता है।[2]

औपम्य-वर्ग के उपमा, रूपक, अपह्नुति, समासोक्ति, अन्योक्ति या अप्रस्तुत-प्रशसा तथा दृष्टान्त अलङ्कारो के सम्बन्ध मे रुद्रट की धारणा पूर्ववर्ती आचार्यो की धारणा से अभिन्न है। अतिशय-वर्ग की उत्प्रेक्षा का स्वरूप भी प्राचीन आचार्यो की उत्प्रेक्षा से मिलता-जुलता ही है। श्लेष-वर्ग के श्लेप अर्थालङ्कार की स्वरूप-कल्पना मे रुद्रट पर भामह आदि आचार्यो की श्लेष-धारणा का प्रभाव स्पष्ट है। प्राचीन व्यपदेश वाले कुछ अलङ्कारों के विषय मे रुद्रट की मान्यता कुछ मौलिक है। उनमे से कुछ अलङ्कारो की प्रकृति किञ्चित् नवीन है, कुछ का सामान्य स्वरूप तो प्राचीन आचार्यो के मतानुसार कल्पित है, किन्तु उनके नवीन भेदो की कल्पना की गयी है। कुछ

---

१. हेतुमता सह हेतोरभिधानमभेदकृद्भवेद्यत्र।
सोऽलङ्कारो हेतु: स्यादन्येभ्य. पृथग्भूत.॥—रुद्रट, काव्याल० ७,८२

२. अन्येभ्यो अलङ्कारेभ्य पृथग्भूतो विलक्षण:। अत्र चालङ्कारग्रहणमन्येभ्य: पृथग्भूत इति च परमतनिरासार्थम्। तथा हि नाम हेतुसूक्ष्मलेशानामलङ्कारत्व नेष्टम्। एषा चालङ्कारत्व विद्यते। वाक्यार्थालङ्करणान्न चान्यत्रान्तर्भाव. शक्यते कर्तुमिति—वही, टीका पृ० २३१

अलङ्कारो के एकाधिक स्वरूप कल्पित है, जिनमे से कोई रूप प्राचीन अलङ्कारो के मेल मे है और कोई स्वतन्त्र। इन दृष्टियो से रुद्रट के प्राचीन नाम, पर नवीन रूप वाले अलङ्कारो को निम्नलिखित वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है—

(क) नाम प्राचीन, किन्तु स्वभाव किञ्चित् नवीन—वास्तव-वर्ग के परिवृत्ति एव सूक्ष्म, औपम्य-वर्ग के सहोक्ति और आक्षेप।

(ख) सामान्य स्वरूप प्राचीन, किन्तु भेद नवीन—शब्दगत श्लेष, औपम्य मूलक सशय एव अर्थान्तरन्यास।

(ग) एकाधिक स्वरूप वाले अलङ्कार, जिनमे कुछ स्वरूप प्राचीन और कुछ नवीन—अतिशय-वर्ग की विभावना, वास्तव-वर्ग के सहोक्ति और व्यतिरेक तथा औपम्य-वर्ग की उत्प्रेक्षा।

उपरिलिखित अलङ्कारो के नवीन स्वरूपो अथवा नवीन भेदो की कल्पना के मूल का अनुसन्धान वाञ्छनीय है।

परिवृत्ति

रुद्रट ने परिवृत्ति-विषयक मूल धारणा को प्राचीन आचार्यों से लेकर भी कुछ नवीन रूप प्रदान किया है। उन्होने उद्भट की तरह वस्तुओ के पारस्परिक आदान-प्रदान मे प्रवृत्ति अलङ्कार का सद्भाव माना है। वस्तुओ के तात्त्विक दान-ग्रहण के अभाव मे भी प्रसिद्धि के कारण उसके उपचार मे परिवृत्ति की सत्ता स्वीकार करने मे रुद्रट के विचार की नवीनता है।[1] वस्तु की वास्तविक स्थिति के नही होने पर भी उसका उपचार से प्रयोग हुआ करता है। हृदय की कली का विकसित होना आदि प्रयोग उपचार से ही हुआ करता है। उपचार पर शब्दशक्ति के सन्दर्भ मे विचार होता है। उपचार की कल्पना नवीन नही। रुद्रट ने तात्त्विक आदान-प्रदान के साथ ही उसके औपचारिक प्रयोग मे भी परिवृत्ति का सद्भाव स्वीकार कर लिया।

सूक्ष्म

रुद्रट के पूर्व केवल दण्डी ने सूक्ष्म अलङ्कार का लक्षण-निरूपण किया था। भामह उसके अलङ्कारत्व का निषेध कर चुके थे। उद्भट ने सम्भवत.

१. युगपद्दानादाने अन्योन्य वस्तुनो क्रियेते यत्।
क्वचिदुपचर्येते वा प्रसिद्धितः सेति परिवृत्तिः॥—रुद्रट, काव्यालं० ७,७७

उस विवाद मे पडना उचित नही समझा। अत, उन्होने सूक्ष्म का उल्लेख काव्यालङ्कार से नही किया। रुद्रट ने दण्डी की सूक्ष्म-परिभाषा को अस्वीकार कर कुछ स्वतन्त्र रूप से उसे परिभाषित किया है। दण्डी ने जहाँ सूक्ष्म मे आकृति या सङ्केत से अर्थ का लक्षित होना वाञ्छनीय माना था, वहाँ रुद्रट ने शब्द से उसके अपने अर्थ से सम्बद्ध अन्य अर्थ का—युक्तियुक्त अर्थ का—लक्षित होना अपेक्षित माना है।[1] रुद्रट का सूक्ष्म लक्षण आपातत दण्डी के लक्षण से भिन्न है, किन्तु दोनो की सूक्ष्म अलङ्कार-धारणा मे यह समानता है कि इसमे अभिप्रेत अर्थ का लक्षित होना दोनो को इष्ट है। दण्डी अभीष्ट अर्थ का द्योतक इङ्गित या आकृति को मानते है रुद्रट शब्द को।

सहोक्ति

औपम्य-वर्ग की सहोक्ति के दो स्वरूपो का विवेचन रुद्रट के 'काव्यालङ्कार' मे हुआ है। उसके एक लक्षण मे यह मान्यता व्यक्त की गयी है कि जहाँ अतिशय अधिक क्रिया वाले अप्रस्तुत के साथ प्रस्तुत को समान क्रिया वाला कहा जाता हो वहाँ सहोक्ति अलङ्कार होता है।[2] उसके दूसरे प्रकार का प्रतिपादन करते हुए रुद्रट ने कहा है कि जहाँ एक कर्त्ता वाली क्रिया अनेक कर्मो मे आश्रित हो और वहाँ उपमेयभूत कर्म अपर कर्म अर्थात् उपमान के साथ कथित हो, वहाँ भी सहोक्ति अलङ्कार का सद्भाव माना जाता है।[3] सहोक्ति मे उपमानोपमेय भाव की कल्पना मे रुद्रट की नवीनता है। भामह तथा उद्भट ने दो वस्तुओ मे आश्रित दो क्रियाओ का एक पद से कथन होने मे सहोक्ति की सत्ता मानी थी।[4] दण्डी ने उसके लिए गुण और कर्म का सहभाव से कथन वाञ्छनीय माना।[5] वामन ने समकाल दो वस्तुओ की दो क्रियाओ का एक पद से कथन होने मे ही सहोक्ति स्वीकार की।[6] इस प्रकार उनकी सहोक्ति-धारणा भामह तथा उद्भट से बहुत भिन्न नही

१ यत्रायुक्तिमदर्थो गमयति शब्दो निजार्थसम्बद्धम्।
अर्थान्तरमुपपत्तिमदिति तत्सञ्जायते सूक्ष्मम्॥—रुद्रट, काव्याल० ७,९८

२. सा हि सहोक्तिर्यस्या प्रसिद्धदूराधिकक्रियो योऽर्थ।
तस्य समानक्रिय इति कथ्येतान्य सम तेन॥—वही, ८,९९

३ यत्रैककर्तृका स्यादनेककर्माश्रिता क्रिया तत्र।
कथ्येतापरसहित कर्मैक सेयमन्या स्यात्॥—वही, ८,१०१

४ द्रष्टव्य—भामह, काव्याल० ३,३९ तथा उद्भट काव्याल० ५,२९

५. द्रष्टव्य—दण्डी, काव्याद० २,३५१

६. द्रष्टव्य—वामन, काव्याल० ४,३,२८

थी। वामन में सभी अलङ्कारों को उपमा-प्रपञ्च सिद्ध करने का आग्रह था, अतः वामन के समय ही सहोक्ति में उपमा-धारणा मिल गयी। रुद्रट ने दो पदार्थों के एक साथ कथन की सहोक्ति की मूल धारणा में उपमानोपमेय-भाव की धारणा को मिला कर सहोक्ति के उक्त दो रूपों की कल्पना कर ली है।

आक्षेप

रुद्रट के अनुसार औपम्यमूलक आक्षेप अलङ्कार में वक्ता किसी वस्तु के लोक-प्रसिद्ध होने अथवा लोक-विरुद्ध होने के कारण वचन का आक्षेप कर उसके स्वरूप की सिद्धि के लिए अन्य वस्तु अर्थात् उपमानभूत वस्तु का कथन करता है।[1] भामह, दण्डी तथा उद्भट ने आक्षेप में प्रतिषेधोक्ति मात्र को पर्याप्त माना था। वामन ने उसमें उपमानोपमेय भाव को मिला कर उपमान के आक्षेप अर्थात् प्रतिषेध में आक्षेप का सद्भाव माना था। उनके सूत्र का यह अर्थ भी सम्भव है कि जहाँ उपमान का आक्षेप से ज्ञान हो, वहाँ आक्षेप अलङ्कार होता है। इस प्रकार उपमेय से उपमान के गम्य होने में भी वे आक्षेप मानते थे।[2] रुद्रट के आक्षेप अलङ्कार में आक्षेप का तत्त्व भामह आदि के आक्षेप-लक्षण के आधार पर ही कल्पित है। वामन की धारणा के अनुसार उन्होंने उपमानोपमेय के तत्त्व को भी आक्षेप में मिलाया। उनकी आक्षेप-परिभाषा में किञ्चित् नवीनता लोक-प्रसिद्धि अथवा लोक-विरोध को वचन के आक्षेप और अन्य वस्तु के कथन के हेतु के रूप में कल्पित करने में ही है।

शब्दश्लेष

रुद्रट ने सर्वप्रथम शब्दगत एवं अर्थगत श्लेष का पृथक्-पृथक् विवेचन किया है। दण्डी के श्लेष-लक्षण में उसके शाब्द एवं आर्थ भेदों की सम्भावना स्पष्ट थी, किन्तु उन्होंने दोनों का अलग-अलग विवेचन नहीं किया था।[3]

---

१. वस्तु प्रसिद्धमिति यद्विरुद्धमिति वास्य वचनमाक्षिप्य।
अन्यत्तथात्वसिद्ध्यै यत्र ब्रूयात्स आक्षेपः॥—रुद्रट, काव्याल० ८,८९

२. उपमानाक्षेपश्चाक्षेपः। उपमानस्याक्षेपः प्रतिषेधः उपमानाक्षेपः।······ उपमानस्याक्षेपतः प्रतिपत्तिरित्यपि सूत्रार्थः।—वामन, काव्याल० ४,३,२७ तथा उसकी वृत्ति।

३. दण्डी ने अभिन्नपद तथा भिन्नपद श्लेष-भेदों का निरूपण किया है। कुछ आचार्य इसी आधार पर शब्दगत श्लेष तथा अर्थगत श्लेष का विभाजन करते हैं।

रुद्रट ने शब्दगतश्लेष का उल्लेख शब्दालङ्कारो की श्रेणी मे किया तथा अर्थगत श्लेष की गणना श्लेष-वर्ग के अलङ्कारो मे की। रुद्रट की शब्द-श्लेष-धारणा दण्डी आदि की श्लेष-धारणा से मूलत अभिन्न है, किन्तु उन्होंने उसके कुछ नवीन भेदो की कल्पना कर ली है। उनके अनुसार शब्द-श्लेष के आठ भेद है—वर्ण-श्लेष, पद-श्लेष, लिङ्ग-श्लेष, भाषा-श्लेष, प्रकृति-श्लेष, प्रत्यय-श्लेष, विभक्ति-श्लेष तथा वचन-श्लेष। कहने की आवश्यकता नही कि शब्द के तत्तद्भेदो के आधार पर श्लेष के उक्त भेदो की कल्पना की गयी है। पूर्ववर्ती आचार्यों के सामान्य श्लेष-लक्षण मे भी उक्त भेदों की सम्भावना थी ही। उक्त भेदो की कल्पना रुद्रट को विचारगत नवीनता के श्रेय का अधिकारी सिद्ध करने के लिए पर्याप्त नही है।

संशय

पूर्ववर्ती आचार्यों की तरह रुद्रट ने भी किसी वस्तु मे द्रष्टा के द्वैकोटिक सशयात्मक ज्ञान को प्रस्तुत अलङ्कार का आधार स्वीकार किया है। यह सशय वस्तुओ के सदृश्यातिशय के कारण हुआ करता है। रुद्रट ने सशय अलङ्कार के तीन भेदो का विवेचन किया है। सशय के सामान्य लक्षण में कहा गया है कि जहाँ प्रतिपत्ता को एक उपमेय मे सादृश्य के कारण अनेक विषय का सन्देह हो उस अनिश्चयान्त ज्ञान मे सशय नामक अलङ्कार होता है।[१] सशय के अनिश्चयान्त रूप के अतिरिक्त निश्चयगर्भ एव निश्चयान्त भेद भी होते है। जहाँ उपमेय या उपमान मे वस्तुत नही रहने वाली वस्तु का सद्भाव कहा जाय अथवा इसके विपरीत वहाँ रहने वाली वस्तु की सम्भावना का निषेध किया जाय, वहाँ निश्चयगर्भ और जहाँ अन्तत. निश्चय का कथन हो वहाँ निश्चयान्त सशय होता है।[२] सशय का एक प्रकार वह माना गया है, जिसमे उपमेय-उपमान रूप अनेक विषयो मे कर्त्ता आदि कारकत्व का सन्देह होता है। उपमेय और उपमान के बीच अतिशय सादृश्य के कारण इसमें यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि विशेष क्रिया का कारक उपमेय है या उपमान। यह भी हो सकता है कि क्रिया के एक कारक के ज्ञान के लिए प्रस्तुत और अप्रस्तुत मे से एक के तात्त्विक तथा दूसरे के अतात्त्विक होने का

१ वस्तुनि यत्रैकस्मिन्ननेकविषयस्तु भवति सदेहः।
प्रतिपत्तु: सादृश्यादनिश्चय सशय स इति ॥—रुद्रट, काव्यालं० ८,५९
२. वही, ८, ६१

सन्देह हो।[१] उपमान और उपमेय के बीच सशय की धारणा भामह आदि पूर्ववर्ती आचार्यो की ससन्देह-धारणा से अभिन्न है। सन्देह की मूल धारणा मे द्वैकोटिक अनिश्चयात्मक ज्ञान की धारणा अन्तर्निहित थी। अत, रुद्रट के अनिश्चयान्त सशय के सामान्य लक्षण को भामह आदि के ससन्देह लक्षण पर ही आधृत माना जाना चाहिए। दण्डी ने इसे ही सशयोपमा कहा था। रुद्रट के निश्चयान्त सशय की स्वरूप-कल्पना का आधार आचार्य दण्डी के निर्णयोपमा अलङ्कार का लक्षण है, जिसमे वस्तुओ के बीच सन्देह के उपरान्त तत्त्व-निर्णय हो जाता है।[२], 'अग्निपुराण' मे निर्णयोपमा को निश्चयोपमा कहा गया है। पुराणकार के अनुसार इसमे (उपमेय मे) सशय के बाद निश्चय का प्रतिपादन होता है।[३] स्पष्ट है कि निर्णयोपमा और निश्चयोपमा तत्त्वत अभिन्न है। उसके स्वरूप से रुद्रट के निश्चयान्त सशय का स्वरूप भिन्न नही। पूर्वाचार्यो के सन्देह की इस सामान्य धारणा के आधार पर रुद्रट ने निश्चयगर्भ तथा क्रिया के कारकविपयत्व सशय, इन नवीन भेदो की कल्पना कर ली है। निश्चयगर्भ अनिश्चयान्त तथा निश्चयान्त के मध्य की स्थिति है। स्पष्ट है कि दण्डी के सशयोपमा एव निर्णयोपमा के स्वभाव को दृष्टि मे रख कर रुद्रट ने इस मध्यवर्तिनी प्रकृति की कल्पना कर ली होगी। क्रिया के कारकत्व के सशय की कल्पना की सम्भावना भी भामह आदि के ससन्देह की सामान्य परिभाषा मे ही निहित थी।

अर्थान्तरन्यास

भामह, दण्डी आदि आचार्यों की अर्थान्तरन्यास-विषयक मान्यता से रुद्रट की तद्विषयक मान्यता मिलती-जुलती ही है। रुद्रट भी उक्त आचार्यों की तरह इसमे उपमेयभूत किसी वस्तु का अभिधान कर उसके धर्म के दृढ़ीकरण के लिए उसके समर्थक किसी उपमानभूत अर्थान्तर का न्यास अपेक्षित मानते है।[४] उनके मतानुसार अर्थान्तरन्यास के चार भेद है—(क) जहाँ विशेष उपमेय का

१. रुद्रट, काव्याल० ८, ६५
२. द्रष्टव्य—दण्डी, काव्यादर्श २, २७
३. द्रष्टव्य—अग्निपुराण, अध्याय ३४४
४. धर्मिणमर्थविशेष सामान्यं वाभिधाय तत्सिद्ध्यै।
यत्र सधर्मिकमितर न्यस्येत्सोऽर्थान्तरन्यासः॥
—रुद्रट, काव्याल० ८,७९

अभिधान तथा उसका सामान्य उपमान से साधर्म्य के द्वारा समर्थन हो, (ख) जहाँ सामान्य उपमेय का अभिधान कर विशेप उपमान से साधर्म्य के द्वारा उसका दृढीकरण होता हो, (ग) जहाँ विशेष उपमेय का अभिधान एव सामान्य उपमान से वैधर्म्य के द्वारा उसका समर्थन किया जाय और (घ) जहाँ सामान्य उपमेय का विशेष उपमान से वैधर्म्य के द्वारा दृढीकरण हो। सामान्य एव विशेष प्रस्तुत के क्रमश. विशेष एवं सामान्य अप्रस्तुत से समर्थन की धारणा दण्डी से ली गयी है। उक्त दो भेदो के साधर्म्य तथा वैधर्म्य के आधार पर चार भेद कर लिये गये है। रुद्रट के पूर्ववर्ती दण्डी आदि आचार्यो के सामान्य अर्थान्तरन्यास-लक्षण मे इन भेदो की कल्पना का बीज निहित था।

विभावना

रुद्रट के अतिशय-वर्ग-गत विभावना अलङ्कार की सामान्य प्रकृति पूर्ववर्ती आचार्यों की विभावना से अभिन्न है। हेतु के अभाव मे कार्य के आविर्भाव को मूलत विभावना का विधायक स्वीकार किया गया है। अभाव शब्द मे नञ् के विभिन्न अर्थो के आधार पर विभावना के अनेक भेदो की कल्पना सम्भव है। नञ् से अभाव के साथ अल्पभाव आदि अर्थ का भी बोध होता है। अत. कारण की अल्पता आदि से भी पूर्ण फल की उत्पत्ति मे विभावना की कल्पना की जा सकती है। रुद्रट ने प्रस्तुत अलङ्कार के तीन रूपो की कल्पना की है—

(क) जिस कारण से किसी वस्तु की उत्पत्ति होती है उस कारण के अभाव मे भी कारणान्तर से उसका सद्भाव वर्णित होना।

(ख) किसी वस्तु के विकार के हेतु के अभाव मे भी उसमे विकार का वर्णन किया जाना।

(ग) किसी वस्तु के लोक-प्रसिद्ध धर्म का उससे भिन्न वस्तु मे भी सद्भाव दिखाया जाना।[१]

विभावना के प्रथम दो स्वरूपो मे तात्त्विक भेद नही है। प्रथम भेद की तरह द्वितीय मे भी (विकार के) कारण के अभाव मे (विकार रूप) कार्य की उत्पत्ति दिखायी जाती है। विभावना के उक्त दो रूपो की कल्पना रुद्रट ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यो के विभावना-लक्षण के आधार पर की है। भामह

१. द्रष्टव्य—वही ९,१६-२०

ने क्रिया के प्रतिषेध मे भी फलोत्पत्ति को विभावना का लक्षण माना था। दण्डी ने प्रसिद्ध हेतु की व्यावृत्ति मे फलोत्पत्ति को विभावना कहा। उनकी धारणा भामह से तत्त्वत अभिन्न थी, किन्तु उन्होने भामह के कारण-प्रतिषेध के स्थान पर कारण की व्यावृत्ति (स्वाभाविक कारण को छोड अन्य कारण से कार्योत्पत्ति) शब्द का प्रयोग किया। रुद्रट ने कारण के अभाव मे कारणान्तर से कार्योत्पत्ति को ही विभावना का सामान्य लक्षण स्वीकार किया है। रुद्रट की विभावना का तृतीय स्वरूप किञ्चित् नवीन है। इस विभावना-भेद की कल्पना की सम्भावना भी दण्डी की विभावना-परिभाषा मे ही निहित थी। रुद्रट ने उक्त विभावना-प्रकार के उदाहरण मे लक्ष्मी मे आसव का धर्म दिखाते हुए कहा है कि "लक्ष्मी आसव नही है, फिर भी वह लोगो को आँखे बन्द कराये बिना अन्धा बना देती है।"[1] इसमे भी तत्त्वत. अन्धत्व के प्रसिद्ध हेतु के स्थान पर हेत्वन्तर की कल्पना की गयी है। स्पष्ट है कि किसी कार्य के प्रसिद्ध कारण के अभाव मे उसके अन्य कारण की कल्पना को जो दण्डी ने विभावना मे वाञ्छनीय बताया था, उसीका अवलम्ब लेकर रुद्रट ने अन्य वस्तु-धर्म के अन्यत्र सद्भाव-वर्णन मे विभावना के एक प्रकार की कल्पना कर ली। दण्डी ने समाधि गुण मे अन्य वस्तु-धर्म का अन्यत्र आधान वाञ्छनीय माना है। विभावना के तृतीय भेद की कल्पना मे उक्त समाधि-धारणा का भी योग जान पडता है।

सहोक्ति

वास्तव-वर्गगत सहोक्ति अलङ्कार के तीन स्वरूपो का विवेचन रुद्रट ने किया है। भामह, दण्डी आदि पूववर्ती आचार्यों की सहोक्ति-विषयक मान्यता से रुद्रट की तद्विषयक मान्यता इस दृष्टि से अभिन्न मानी जा सकती है कि वे भी भामह दण्डी आदि की तरह दो वस्तुओ के धर्म का सह-कथन सहोक्ति मे आवश्यक मानते है। उभयनिष्ठ धर्मो की एक साथ उक्ति के कारण इस अलङ्कार की सज्ञा अन्वर्था है। भामह ने केवल क्रिया सहोक्ति का उल्लेख किया था, किन्तु दण्डी ने गुण, क्रिया, द्रव्य आदि की सह-उक्ति की कल्पना कर उसके अनेक भेद स्वीकार किये। रुद्रट की सहोक्ति-धारणा पर उक्त आचार्यों की मान्यता का प्रभूत प्रभाव पडा है। रुद्रट के 'काव्यालङ्कार' मे विवेचित सहोक्ति के तीन लक्षण निम्नलिखित है :—

(१) कोई कर्तृभूत या प्रधान अर्थ जिस गुण से युक्त हो, उसी गुण से

---

१. रुद्रट—काव्यालङ्कार, ६,२१

जहाँ वह दूसरे अर्थ को भी युक्त करता हुआ वर्णित हो, वहाँ उस प्रधान अर्थ के दूसरे अर्थ के समान-कथन मे सहोक्ति होती है।

(२) किसी अप्रधान अर्थ का प्रधान अर्थ के साथ उसी गुण अथवा धर्म से युक्त कर सह-उक्ति होने मे भी उक्त अलङ्कार होता है।

(३) परस्पर निरपेक्ष दो अर्थो को तुल्यकाल समान धर्म-युक्त कर कहने मे भी दोनो के सह-कथन के कारण सहोक्ति का सद्भाव माना जाता है।[1]

सहोक्ति के प्रथम एव द्वितीय प्रकार का स्वरूप एक-सा ही है। उनमे सहार्थ हेतुहेतुमद्भाव का है। दोनो मे थोडा-सा अन्तर यह है कि प्रथम भेद मे कर्त्ता की प्रधानता और क्रियमाण अर्थ की अप्रधानता मानी गयी है, जबकि द्वितीय मे क्रियमाण ही प्रधान और कर्त्ता गौण माना गया है। इन दोनों सहोक्ति-रूपो की प्रकृति दण्डी की सहोक्ति से मिलती-जुलती है, जिसमे गुण, क्रिया आदि के सह-कथन पर बल दिया गया है। निरपेक्ष पदार्थो की सह-उक्ति की धारणा कुछ स्वतन्त्र है, किन्तु इस भेद की कल्पना का बीज भी दण्डी आदि की दो पदार्थो की सहोक्ति की सामान्य धारणा मे ही निहित था।

व्यतिरेक

वास्तव व्यतिरेक अलङ्कार के प्रमुख दो स्वरूपो की स्थापना रुद्रट के 'काव्यालङ्कार' मे हुई है। उपमेय के गुण के विपरीत उपमान मे दोष के कथन मे व्यतिरेक का एक प्रकार माना गया है।[2] उसके दूसरे प्रकार मे उपमान के गुण के विरोधी दोष का उपमेय मे सद्भाव-वर्णन वाञ्छनीय माना गया है।[3] व्यतिरेक के प्रथम प्रकार के तीन भेद स्वीकार किये गये है :—

(क) उपमेय मे गुण तथा उपमान में दोष-कथन,

(ख) उपमेय मे गुण की उक्ति, किन्तु उपमान के दोष की अनुक्ति और

(ग) उपमेय मे गुण का अकथन, किन्तु उपमान मे दोष का कथन।

दूसरे प्रकार मे उपमान के गुण एव उपमेय के दोष के समस्त कथन पर

---

१. द्रष्टव्य—रुद्रट, काव्याल०, ७,१३,१७

२ यो गुण उपमेये स्यात् तत्प्रतिपन्थी च दोष उपमाने।
व्यस्तसमस्तन्यस्तौ तौ व्यतिरेक त्रिधा कुरुत:॥—वही, ७,८६

३ यो गुण उपमाने वा तत्प्रतिपन्थी च दोष उपमेये।
भवतो यत्र समस्तौ स व्यतिरेकोऽयमन्यस्तु॥—वही, ७,८९

बल देकर रुद्रट ने उसका एक ही भेद स्वीकार किया है। 'काव्यालङ्कार' के टीकाकार नमिसाधु ने इसके भी व्यस्त रूप की सम्भावना का सङ्केत दिया है।[१] भामह ने उपमान से उपमेय के आधिक्य-वर्णन मे व्यतिरेक स्वीकार किया था। उद्भट तथा वामन ने उन्ही की व्यतिरेक-विषयक मान्यता को स्वीकार किया। दण्डी ने उपमेय तथा उपमान के भेद-कथन मे तथा उपमान से उपमेय के आधिक्य-वर्णन मे व्यतिरेक की सत्ता स्वीकार की। रुद्रट के व्यतिरेक का प्रथम प्रकार पूर्ववर्ती आचार्यो के मतानुसार ही कल्पित है। उसके उक्त तीन भेदो की सम्भावना भी उद्भट के व्यतिरेक लक्षण मे—जिसमे उपमेय की उत्कृष्टता तथा उपमान की निकृष्टता के हेतु के दृष्ट या अदृष्ट होने पर बल दिया गया है—स्पष्ट थी। रुद्रट ने उपमेय से उपमान के आधिक्य-कथन मे जो व्यतिरेक का दूसरा प्रकार माना है, वह उनकी स्वतन्त्र कल्पना है। इस व्यतिरेक-प्रकार का औचित्य चिन्त्य है। उपमान से उपमेय के आधिक्य-प्रदर्शन मे ही वस्तुत अलङ्कारत्व माना जाना चाहिए। उपमान मे तो उपमेय से आधिक्य की स्वीकृति रहा ही करती है। उपमान की योजना उपमेय की प्रभाव-वृद्धि के लिए होती है। अत, जो पदार्थ प्रभावाधिक्य के लिए ख्यात रहता है, उसे ही किसी पदार्थ के प्रभाव की अभिवृद्धि के लिए उपमान के रूप मे लाया जाता है। स्पष्टत प्रस्तुत विषय के प्रभाव को बढाने के लिए किसी पदार्थ की उपमान के रूप मे योजना के मूल मे यह मान्यता निहित है कि वह अप्रस्तुत पदार्थ प्रस्तुत की अपेक्षा अधिक प्रभावोत्पादक है। अत उपमेय से उपमान के गुणाधिक्य-प्रतिपादन का आयास स्वत सिद्ध के साधन के प्रयास के समान है। उसमे अलङ्कारत्व का विधायक चमत्कार मानना समीचीन नही।

उत्प्रेक्षा

औपम्य-वर्गगत उत्प्रेक्षा अलङ्कार के तीन रूपो का लक्षण-निरूपण रुद्रट ने किया है। उसके एक लक्षण मे कहा गया है कि जहाँ उपमान और उपमेय मे अतिशय सादृश्य के कारण उनमे अभेद का प्रतिपादन किये जाने पर सिद्ध उपमान का सद्भाव उपपन्न हो और उस उपमान मे जिस गुण-क्रिया का वस्तुत सद्भाव नही हो उसका उसमे आरोप किया जाय, वहाँ उत्प्रेक्षा

१. व्यस्तयोरपि केचिदिच्छन्ति।—वही, नमिसाधुकृत टीका, पृ० २३४

अलङ्कार होता है।[१] उसका दूसरा प्रकार वह है, जिसमे उपमेय से सम्बद्ध अन्य उपमेय मे उपमान से सम्बद्ध अन्य उपमान की तद्रूपता की सम्भावना की जाती है।[२] उसके तीसरे प्रकार के सम्बन्ध मे यह मन्तव्य प्रकट किया गया है कि उसमे शोभन या अशोभन विशेषण से युक्त उपमेय मे वस्तुत: अविद्यमान उपमान की युक्ति से सम्भावना कर उससे समता का आरोप किया जाता है।[३] रुद्रट की उत्प्रेक्षा के प्रथम प्रकार की प्रकृति भामह की उत्प्रेक्षा से मिलती-जुलती है, जिसमे उपमान मे वस्तुतः असत् गुण या क्रिया का उससे कल्पित योग अपेक्षित माना गया है। तृतीय प्रकार मे उपमेय मे उपमान का सम्भावना की धारणा भी पूर्ववर्ती आचार्यों से ही ली गयी है। उत्प्रेक्षा मे उपमेय के असिद्ध उपमान की सम्भावना भामह, दण्डी आदि को भी अभीष्ट थी। दण्डी ने उपमा से उत्प्रेक्षा का भेद प्रतिपादन करते हुए यह मान्यता व्यक्त की है कि उपमा मे उपमान सिद्ध और उत्प्रेक्षा मे असिद्ध या सम्भावना के रूप मे रहता है। रुद्रट के तृतीय उत्प्रेक्षा प्रकार का स्वरूप इसी मान्यता के आधार पर कल्पित है। उत्प्रेक्षा का द्वितीय प्रकार किञ्चित् नवीन है। इसके स्वरूप की कल्पना का अवकाश भी भामह, दण्डी आदि के सामान्य उत्प्रेक्षा-लक्षण मे ही था। इसमे उपमेयान्तर्गत उपमेय मे उपमानान्तर्गत उपमान के अभेद की सम्भावना की कल्पना कर रुद्रट ने कुछ नवीनता लाने का प्रयास किया है। इसमे उपमेय के एक देश पर उपमान के एक देश के अभेदारोप की सम्भावना भी मानी जा सकती है। सम्भव है कि रुद्रट ने पूर्ववर्ती आचार्यो के रूपक के एकदेशविवर्ति-भेद के स्वरूप मे उपमेय के एक देश पर उपमान के एक देश के आरोप की धारणा से प्रेरणा लेकर वैसे आरोप की सम्भावना मे उत्प्रेक्षा के उक्त प्रकार की कल्पना कर ली हो। इसमे कुछ नवीनता यह भी लायी गयी है कि उपमेयगत अन्य उपमेय को उपमेय का अङ्ग नही कहकर स्वतन्त्र उपमेय ही कहा गया है। यही बात उपमानान्तर्गत उपमान के सम्बन्ध मे भी है। स्पष्टत. रुद्रट

---

१. अतिसारूप्यादैक्य विधाय सिद्धोपमानसद्भावम्।
आरोप्यते च तस्मिन्नतद्गुणादीति सोत्प्रेक्षा॥
—रुद्रट, काव्यालं० ८,३२

२. सान्येत्युपमेयगत यस्या सभाव्यतेऽन्यदुपमेयम्।
उपमानप्रतिबद्धापरोपमानस्य तत्त्वेन॥—वही, ८,३४

३ यत्र विशिष्टे वस्तुनि सत्यसदारोप्यते सम तस्य।
वस्त्वन्तरमुपपत्त्या सभाव्यं सापरोत्प्रेक्षा॥—वही, ८,३६

की उत्प्रेक्षा-धारणा पर पूर्ववर्ती आचार्यो की तद्विषयक धारणा का पुष्कल प्रभाव है।

काव्यालङ्कार धारणा के विकास की दृष्टि से रुद्रट के अलङ्कार सिद्धान्त के इस समीक्षात्मक अध्ययन का निष्कर्ष निम्नलिखित है—

रुद्रट ने ही सर्वप्रथम काव्य के अलङ्कारो को उनके मूल तत्त्वों के आधार पर वास्तव, औपम्य, अतिशय एव श्लेष वर्गों मे विभाजित किया। भामह और उद्भट ने भी अलङ्कारो का वर्गश उपस्थापन किया था। उद्भट के 'काव्यालङ्कारसारसग्रह' मे अध्यायो को अलङ्कार के वर्ग के आधार पर वर्ग ही कहा गया है, किन्तु वहाँ वर्गीकरण का आधार अलङ्कार का तत्त्व नही था। विद्वानो का अनुमान है कि भामह और उद्भट के वे वर्ग अलङ्कारो के ऐतिहासिक विकास के सूचक है। रुद्रट के अलङ्कार-वर्ग उनके चिन्तन की मौलिकता के परिचायक है। यह नही कहा जा सकता कि रुद्रट का वर्गीकरण सर्वथा पूर्ण एव निर्दोष है। उनके कुछ अलङ्कारो मे एकाधिक वर्गों के स्वभाव का मिश्रण है। अत, उन्हे किसी विशेष वर्ग मे माने जाने का औचित्य असन्दिग्ध नही। उदाहरणार्थ—वास्तव-वर्ग के व्यतिरेक अलङ्कार के स्वरूप का निर्धारण उपमान और उपमेय के उत्कर्षापकर्ष के आधार पर किया गया है। अत', इसे औपम्य-वर्ग के अलङ्कारो से पृथक् वास्तव-वर्ग मे रखना सर्वथा युक्तिसङ्गत नही। वास्तव-वर्ग के अलङ्कारो मे वस्तुस्वरूप का वर्णन-मात्र अपेक्षित माना गया है। सादृश्य के आधार पर दो पदार्थों की तुलना औपम्य-वर्ग के अलङ्कार का लक्षण है। स्पष्ट है कि उक्त व्यतिरेक को औपम्य-वर्ग मे ही रखना समीचीन होता। इन त्रुटियो के होने पर भी मूलतत्त्वो के आधार पर अलङ्कार-वर्गीकरण के प्रथम प्रयास के लिए रुद्रट श्रेय के अधिकारी है। समान सज्ञा वाले कुछ अलङ्कार दो वर्गो मे भी परिगणित है; किन्तु अलङ्कार-वर्ग के स्वभाव के अनुसार एक वर्ग के अलङ्कार उन्ही अभिधान वाले दूसरे वर्ग के अलङ्कार से भिन्न-स्वभाव वाले है। उदाहरण के लिए वास्तव-वर्ग के सहोक्ति, समुच्चय और उत्तर अलङ्कारो का स्वरूप औपम्य-वर्ग के उन्ही नाम वाले अलङ्कारो के स्वरूप से भिन्न है। वास्तव-वर्ग के विषम और हेतु, अतिशय वर्ग के विषम और हेतु से भिन्नस्वभाव वाले है। इसी प्रकार औपम्य-वर्ग के उत्प्रेक्षा एव पूर्व अलङ्कारो की प्रकृति अतिशय वर्गगत उत्प्रेक्षा और पूर्व से स्वतन्त्र है। अत. एक ही नाम के दो वर्ग-गत अलङ्कार की पृथक्-पृथक् सत्ता स्वीकार की जानी चाहिए।

रुद्रट ने अर्थालङ्कार के क्षेत्र मे तैंतीस तथा शब्दालङ्कार के क्षेत्र मे दो नवीन अलङ्कारो की गणना की है। वर्ग के अनुसार वास्तव-वर्ग मे चौदह, औपम्य-वर्ग मे दश तथा अतिशय-वर्ग मे नौ नवीन अलङ्कार परिगणित है। वक्रोक्ति और चित्र; ये दो शब्दालङ्कार भी नवीन है। स्पष्ट है कि वास्तव-वर्ग मे सर्वाधिक नवीन अलङ्कारो की कल्पना की गयी है। सख्या की दृष्टि से तो वास्तव-वर्ग मे सबसे अधिक अलङ्कार है ही, स्वरूपगत नवीनता की दृष्टि से भी इसी वर्ग के अलङ्कारो का आधिक्य है। कारण यह हो सकता है कि रुद्रट के पूर्ववर्ती आचार्य वस्तुस्वरूप-कथन मे बहुत चमत्कार नही मानते होगे और इसीलिए वस्तु-वर्णनपरक अधिक अलङ्कार-प्रकार की कल्पना उन्होने नही की होगी।

इसे अस्वीकार नही किया जा सकता कि रुद्रट से पूर्व आचार्य भरत से लेकर वामन तक की रचनाओ मे जितने अलङ्कारो का विवेचन हुआ था, उनमे से कई अलङ्कार वस्तुस्वरूपकथन-मात्र से सम्बद्ध थे। भामह की स्वभावोक्ति वास्तव अलङ्कार ही है। यथासख्य, प्रवृत्ति, हेतु, सूक्ष्म और लेश का सम्बन्ध भी वस्तु-वर्णन से ही है। यहाँ तक कि दीपक-जैसा मूल अलङ्कार भी वास्तव-कोटि मे ही परिगणित हुआ है। इतना होने पर भी उक्त अलङ्कारो मे एक सूक्ष्म भेद यह है कि कुछ अलङ्कारो मे वर्ण्य-वस्तु के स्वरूप-मात्र पर विचार किया गया है तथा कुछ मे वस्तु-वर्णन की विशिष्ट प्रक्रिया पर। यथासख्य, दीपक आदि मे वस्तु-वर्णन की विशिष्ट प्रक्रिया अपेक्षित मानी गयी है, किन्तु स्वभावोक्ति, परिवृत्ति आदि मे केवल वर्ण्य के स्वरूप पर विचार किया गया है। वस्तु-वर्णन की चमत्कारपूर्ण पद्धति मे अलङ्कारत्व असन्दिग्ध है, किन्तु वर्ण्य-वस्तु को अलङ्कार मानने मे दो मत रहे है। एक मत यह है कि अलङ्कार वर्ण्य से अभिन्न नही। वे वर्ण्य की श्रीवृद्धि करने वाले उसके सहायक तत्त्व है, जिनकी वर्ण्य से पृथक् सत्ता मानी ही जानी चाहिए। आचार्य पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने स्वभावोक्ति को अलङ्कार की सीमा मे घसीट लाने को अयौक्तिक कहा है।[1] पण्डित लक्ष्मीनारायण सुधाशु ने भी वस्तु-मात्र से सम्बद्ध अनेक अलङ्कारो का अलङ्कारत्व अस्वीकार्य सिद्ध किया है।[2] सस्कृत के आचार्यो मे भी वस्तुस्वरूपकथन-मात्र से सम्बद्ध अलङ्कारो की स्वीकृति के सम्बन्ध मे ऐकमत्य नही। भामह ने स्वभावोक्ति

१. द्रष्टव्य—त्रिवेणी (सूरदास) पृ० १०२
२ द्रष्टव्य—काव्यमे अभिव्यञ्जनावाद पृ० ८९

के स्वरूप का विवेचन अवश्य किया, किन्तु अतिशयोक्ति की स्वरूप-मीमासा के क्रम मे वक्रोक्ति को काव्य का प्रमुख तत्त्व स्वीकार कर उसे ही अलङ्कारो का भी प्राण माना। हेतु, सूक्ष्म और लेश के अलङ्कारत्व का खण्डन भी उन्होने उनमे वक्रोक्ति के अभाव के कारण ही किया। इस प्रकार आगे चल कर वक्रोक्तिवादी कुन्तक ने जो स्वभावोक्ति के अलङ्कारत्व का निषेध किया, उस मान्यता का बीज भामह के 'काव्यालङ्कार' मे ही पाया जा सकता है। स्पष्ट है कि वर्ण्य-वस्तु के रूप-वर्णन मे अलङ्कारत्व का सद्भाव मानने के विषय मे दो मत होने के कारण ही रुद्रट के पूर्व वास्तवमूलक अलङ्कारो की विविधता सामने नही आ सकी थी। रुद्रट के समसामयिक आचार्य वामन ने तो केवल उन्ही अलङ्कारो को स्वीकार किया है, जिनका मूल सादृश्य है। रुद्रट की अलङ्कार-विषयक स्थापना के उपरान्त भी वास्तव-वर्ग के अलङ्कार सर्वसम्मत नही हो सके। अभिनवगुप्त-जैसे सशक्त समीक्षक ने औपम्यमूलक अलङ्कार को ही स्वीकार किया है, वास्तव आदि को नही। वक्रोक्तिवादी आचार्यो ने भी वास्तव-वर्ग के अलङ्कारो को स्वीकार नही किया है। यही कारण है कि रुद्रट के वास्तव अलङ्कारो मे अधिकाश का स्वरूप सर्वथा नवीन है। उनका मूल पूर्ववर्ती आचार्यों की अलङ्कार-धारणा मे अथवा अपने अस्तित्व का विसर्जन कर परवर्ती अलङ्कार-प्रपञ्च को जन्म देने वाले लक्षण के स्वरूप मे नही ढूँढा जा सकता। रुद्रट के वास्तव-वर्ग के निम्नलिखित अलङ्कार सर्वथा नवीन है—समुच्चय, विषम, कारणमाला अन्योन्य, सार, मीलित तथा एकावली। उनके पर्याय अलङ्कार का एक प्रकार भी नवीन है। रुद्रट का पर्याय अंशत भामह आदि के पर्यायोक्त से अभिन्न है। उसके दो रूपो की कल्पना कर रुद्रट ने एक स्वरूप तो भामह के पर्यायोक्त से अभिन्न मान लिया, किन्तु दूसरे रूप की कल्पना सर्वथा स्वतन्त्र रूप से की। शेष, वास्तव अलङ्कारो की रूप-रचना के लिए रुद्रट ने पूर्ववर्ती आचार्यो के लक्षण, गुण, अलङ्कार आदि से सम्बद्ध विचार से तत्त्व ग्रहण किया है। कुछ दार्शनिक मान्यताओ की अवतारणा भी उनके द्वारा अलङ्कार के क्षेत्र मे हुई। उदाहरणार्थ—भाव अलङ्कार के एक प्रकार की रूप-रचना भरत के प्राप्ति-लक्षण के आधार पर तथा दूसरे प्रकार की रचना शब्दशक्ति की प्राचीन मान्यता के आधार पर हुई है। अनुमान की स्वरूप-सृष्टि मे प्राप्ति एव विचार-लक्षणो से तत्त्व लिये गये है। परिकर की कल्पना का मूल भरत के अक्षरसघात लक्षण तथा उदार गुण मे पाया जा सकता है। परिसख्य का स्वरूप-विन्यास आख्यान

और हेतु लक्षणो के तत्त्वो से किया गया है। उत्तर का एक रूप विचार लक्षण के आधार पर तथा दूसरा पृच्छा के आधार पर कल्पित है। अवसर के एक भेद का स्वभाव ओज गुण से मिलता-जुलता है तो उसके दूसरे भेद का स्वरूप उदारत्व गुण एव युक्ति-लक्षण के तत्त्वो से निर्मित है।

रुद्रट की शब्दगत वक्रोक्ति की प्रकृति नवीन है। चित्र अलङ्कार के विविध रूपो की कल्पना का मूल दण्डी के यमक अलङ्कार के स्वरूप-विवेचन मे पाया जा सकता है।

उनके औपम्य-वर्गगत नवीन व्यपदेश वाले अलङ्कारो मे केवल प्रत्यनीक का स्वरूप सर्वथा स्वतन्त्र जान पडता है। शेष अलङ्कारो के स्वरूप की कल्पना प्राचीन मनीषियो के विचारो के आधार पर की गयी है। मत, उत्तर, भ्रान्तिमान, पूर्व, समुच्चय, स्मरण, प्रतीप, उभयन्यास तथा साम्य इसके निदर्शन है। हेतु, लक्षण तथा उपमा अलङ्कार के तत्त्वो से मत का, मिथ्याध्यवसाय लक्षण, आख्यान लक्षण तथा उपमा के तत्त्वो के मिश्रण से उत्तर का, भ्रमात्मक प्रतीति की दार्शनिक मान्यता पर आधृत भरत के विपर्यय लक्षण के तत्त्व के साथ उपमानोपमेय भाव के योग से भ्रान्तिमान् का, अतिशयोक्ति एव उपमा अलङ्कारो के तत्त्वो से पूर्व का और पदोच्चय लक्षण, दीपक तथा उपमा अलङ्कारो के तत्त्वो के मेल से समुच्चय का स्वरूप निर्मित है। स्मरण अलङ्कार की रूप-रचना का आधार स्मृतिविषयक दार्शनिक सिद्धान्त है। प्रतीप की कल्पना दण्डी की उत्प्रेक्षितोपमा के आधार पर, उभयन्यास की रचना भामह की प्रतिवस्तूपमा के आधार पर तथा साम्य की सर्जना उपमा तथा व्यतिरेक के आधार पर की गयी है।

अतिशयमूलक अलङ्कारो के एक वर्ग की कल्पना कर लेने पर रुद्रट ने अतिशयोक्ति के स्वतन्त्र अस्तित्व की कल्पना आवश्यक नही समझी। इस वर्ग के विशेष, अधिक, विषम, असङ्गति तथा पिहित अलङ्कारो के नाम-रूप सर्वथा नवीन है। तद्गुण का एक प्रकार—जिसमे ससर्ग होने पर एक वस्तु दूसरी वस्तु का गुण ग्रहण कर लेती है—नवीन है। इस वर्ग के नवीन अभिधान वाले अन्य अलङ्कार पूर्ववर्ती आचार्यो की मान्यता के आधार पर कल्पित है। दृष्टान्त रूप मे पूर्व, व्याघात, अहेतु आदि देखे जा सकते है। पूर्व का स्वरूप उद्भट के अतिशयोक्ति-भेद 'कार्यकारण-पौर्वापर्य' से मिलता-जुलता है। तद्गुण का एक प्रकार उद्भट की अतिशयोक्ति के 'भेदेनान्यत्व' भेद के आधार

पर कल्पित है। व्याघात और अहेतु अलङ्कारो की स्वरूप-सृष्टि उद्भट की विशेषोक्ति के स्वभाव के अनुरूप की गयी है। वास्तव-वर्ग का पर्याय तथा अतिशय वर्ग का तद्गुण अशत नवीन है।

प्राचीन व्यपदेश वाले कुछ अलङ्कारो के स्वरूप मे भी किञ्चित् रूपगत नवीनता का आधान हुआ है। उदाहरणार्थ—वास्तव-वर्ग के परिवृत्ति एव सूक्ष्म तथा औपम्य-वर्ग के सहोक्ति और आक्षेप अलङ्कारो का स्वरूप किञ्चित् नवीन है। शब्दगत श्लेष, औपम्यमूलक सशय एव अर्थान्तरन्यास का सामान्य स्वरूप तो प्राचीन हे, किन्तु उनके कुछ नवीन भेदो की कल्पना की गयी है। वास्तव-वर्गगत सहोक्ति तथा व्यतिरेक, औपम्य-वर्गगत उत्प्रेक्षा तथा अतिशय वर्गगत विभावना—इन अलङ्कारो के एकाधिक रूपो का विवेचन किया गया है, जिनमे से कुछ रूप प्राचीन आचार्यो के मतानुसार विवेचित है, कुछ रूप किञ्चित् नवीन। प्राचीन आचार्यो की स्वभावोक्ति के लिए जाति तथा अप्रस्तुत-प्रशसा के लिए अन्योक्ति सज्ञा का प्रयोग किया गया है। उनकी प्रकृति नवीन नही, नाममात्र नवीन है। उक्त अलङ्कारो मे यत्किञ्चित् नवीनता लाने का प्रयास रुद्रट ने किया है। नवीन भेदो या नवीन अलङ्कार-प्रकारो के स्वरूप की कल्पना की सम्भावना प्राचीन आचार्यो के तत्तदलङ्कारो के सामान्य लक्षण में ही निहित थी।

वास्तव-वर्ग के यथासख्य, दीपक, लेश और हेतु, औपम्य-वर्ग के उपमा, रूपक, अपह्नुति, समासोक्ति तथा दृष्टान्त, अतिशय-वर्ग के उत्प्रेक्षा एव विरोध तथा श्लेष-वर्ग के श्लेप, इन अलङ्कारो के नामरूप रुद्रट के पूर्ववर्ती आचार्यो के अलङ्कारो से अभिन्न है।

निष्कर्षत· रुद्रट के वर्गानुक्रम से निम्नलिखित अलङ्कार ही सज्ञा एव स्वरूप की दृष्टि से उनकी सर्वथा मौलिक उद्भावना है —

(क) वास्तव-वर्ग—समुच्चय, विपम, कारणमाला, सार, अन्योन्य, मीलित तथा एकावली।

(ख) औपम्य-वर्ग—प्रत्यनीक।

(ग) अतिशय-वर्ग—विशेप, अधिक, विपम, असङ्गति और पिहित।

◉

आचार्य कुन्तक

भारतीय काव्यशास्त्र मे वक्रोक्ति-प्रस्थान के प्रवर्त्तक आचार्य कुन्तक ने 'वक्रोक्तिजीवित' मे काव्य के अलङ्कारो का विवेचन कुछ स्वतन्त्र रीति से किया है। उनका मुख्य प्रतिपाद्य उक्ति-की वक्रता है, जिसे वे काव्य की आत्मा मानते थे। उक्तिगत वक्रता या चमत्कार को काव्य-सर्वस्व मानने के कारण अलङ्कार के सम्बन्ध मे अलङ्कार-सम्प्रदाय के आचार्यो से उनका दृष्टि-भेद होना स्वाभाविक था। अलङ्कारवादी नही होने पर भी कुन्तक ने अलङ्कार-विवेचन मे जो महनीय योगदान दिया है, वह साहित्य-समीक्षा के पाठको के लिए आनन्दमय विस्मय का विषय है। इस क्षेत्र मे उनकी सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि अलङ्कार और अलङ्कार्य का भेदाभेद-निरूपण है। इस विषय मे उनकी मान्यता सर्वथा मौलिक और तर्कपुष्ट है। हमने कुन्तक के अलङ्कार्यालङ्कार-विवेक पर प्रथम अध्याय मे विचार किया है। प्रस्तुत सन्दर्भ मे हमारा उद्देश्य 'वक्रोक्तिजीवित' में विवेचित अलङ्कारो का स्रोत-सन्धान है।

कुन्तक ने अलङ्कारो की सख्या तथा उनके भेदोपभेदो के अनावश्यक प्रसार को अग्राह्य माना है। उनकी प्रवृत्ति तत्त्व-निरूपण की गहराई मे उतरने की थी, पूर्व निरुपित तथ्य के भदीकरण की नही। फलत उन्होने पूर्ववर्ती आचार्यो के द्वारा स्वीकृत अलङ्कारो की सख्या मे पर्याप्त काट-छाँट कर दी है। 'वक्रोक्तिजीवित' मे प्राचीन आचार्यो के कुछ अलङ्कारो के अलङ्कारत्व का खण्डन किया गया है, कुछ अलङ्कारो का नाम्ना उल्लेख भी नही किया गया है, कुछ अलङ्कारो के प्रधान स्वरूप तो स्वीकृत है, किन्तु उनके भेदोपभेदो को अस्वीकार कर दिया गया है तथा कुछ प्राचीन अलङ्कारो के नवीन स्वरूप की उद्भावना की गयी है। कुन्तक ने काव्यालङ्कार के किसी नवीन व्यपदेश की उद्भावना नही की है। उन्होने कुछ प्राचीन नामधेय अलङ्कारो के नवीन स्वरूप की कल्पना अवश्य की है। उदाहरणार्थ, रसवत्, दीपक आदि अलङ्कारों के स्वरूप के सम्बन्ध मे प्राचीन आचार्यो की मान्यता का खण्डन कर कुन्तक ने उनकी नवीन परिभाषाएँ दी है। कुछ अलङ्कारो के सामान्य स्वरूप का विवेचन प्राचील आचार्यो के मतानुरूप करने पर भी कुन्तक ने उनके कुछ नवीन भेदो की कल्पना कर ली है। व्यतिरेक आदि के भेद इस दृष्टि से द्रष्टव्य है। प्रस्तुत सन्दर्भ मे प्राचीन अभिधान वाले अलङ्कारो के कुन्तक-प्रदत्त नवीन लक्षणो तथा उनके द्वारा कल्पित प्राचीन अलङ्कारो के नवीन

भेदो का स्रोत-सन्धान अभीष्ट है। 'वक्रोक्तिजीवित' मे विवेचित अलङ्कारो को उनके नाम-रूप का प्राचीन अलङ्कारो से साम्य-वैषम्य की दृष्टि से निम्न-लिखित वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है—

(क) पूर्ववर्ती आचार्यों के लक्षण का खण्डन कर कुन्तक के द्वारा उद्भावित नवीन स्वरूप वाले अलङ्कार—इस वर्ग मे रसवत्, दीपक, सहोक्ति आदि अलङ्कार आते है। इनके नाम प्राचीन है, किन्तु स्वरूप नवीन।

(ख) उपमा मे अन्तर्भुक्त अलङ्कार—प्रतिवस्तूपमा, उपमेयोपमा, तुल्ययोगिता, अनन्वय, परिवृत्ति, तथा निदर्शना का उपमा से पृथक् अस्तित्व नही मान कर कुन्तक ने उसीमे उनका अन्तर्भाव स्वीकार किया है।[1]

(ग) श्लेष मे अन्तर्भूत अलङ्कार—कुन्तक ने समासोक्ति अलङ्कार का अन्तर्भाव श्लेप मे मान लिया है।[2]

(घ) शब्द-भेद से प्रस्तुत प्राचीन लक्षण वाले अलङ्कार—पर्यायोक्त, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, उपमा, श्लेप, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास, आक्षेप, विभावना, सन्देह, अपह्नुति, समृष्टि, रूपक तथा अप्रस्तुत-प्रशसा अलङ्कारो के स्वरूप के सम्बन्ध मे कुन्तक प्राचीन आचार्यों से सहमत है। उन्होने शब्द-भेद से उक्त अलङ्कारो के प्राचीन लक्षणो की ही अवतारणा की है। व्यतिरेक अलङ्कार के सामान्य स्वरूप के सम्बन्ध मे कुन्तक प्राचीन आचार्यों से सहमत है, किन्तु उन्होने उसके कुछ नवीन भेदो की उद्भावना कर ली है।

(ङ) अलङ्कार्य के रूप मे स्वीकृत प्राचीन अलङ्कार—कुन्तक ने स्वभावोक्ति, प्रेय, ऊर्जस्वी उदात्त तथा समाहित के अलङ्कारत्व का खण्डन कर उन्हे अलङ्कार्य के रूप मे स्वीकार किया है। आशी भी उनके अनुसार अलङ्कार्य ही है।

(च) चमत्काराभाव के कारण अस्वीकृत अलङ्कार—यथासख्य आदि अनेक अलङ्कारो का अस्तित्व कुन्तक ने अस्वीकार कर दिया। उनकी मान्यता है कि जिन अट्ठाईस अलङ्कारो का विवेचन 'वक्रोक्ति-

---

१. कुन्तक, वक्रोक्तिजीवित पृ० ४३९-४४९
२ वही, पृ० ४४९-४५३

जीवित' मे किया गया है, उनके अतिरिक्त जिन अलङ्कारो की गणना प्राचीन अलङ्कार-ग्रन्थो मे की गयी है, उनमे से कुछ तो इन्ही अट्ठाईस मे अन्तर्भुक्त है तथा कुछ शोभाहीन होने के कारण अलङ्कार नही है। विवेचित अट्ठाईस मे से भी कुछ का ही अलङ्कारत्व कुन्तक को मान्य है। विशेषोक्ति कही अन्य अलङ्कार मे अन्तर्भूत हो जाती है, कही वह अलङ्कार्य ही बन जाती है। हेतु, सूक्ष्म और लेश उक्तिगत वक्रता के अभाव मे अलङ्कार नही माने जा सकते। इन तीनो के सम्बन्ध मे भामह ने भी यही मन्तव्य प्रकट किया था। कुन्तक ने उनके स्वभाव-मात्र की रमणीयता की दृष्टि से उन्हें अलङ्कार्य ही स्वीकार किया है। उपमा-रूपक अलङ्कार की स्वतन्त्र सत्ता उपपन्न नही। निष्कर्षत', कुन्तक के मतानुसार निम्नलिखित अलङ्कारो का अस्तित्व ही स्वीकार्य है—

(१) उपमा (२) रूपक, (३) श्लेष, (४) व्यतिरेक, (५) अप्रस्तुतप्रशसा, (६) पर्यायोक्ति, (७) उत्प्रेक्षा, (८) अतिशयोक्ति, (९) दृष्टान्त, (१०) अर्थान्तरन्यास, (११) आक्षेप, (१२) विभावना, (१३) सन्देह, (१४) अपह्नुति (१५) रसवत्, (१६) दीपक, (१७) सहोक्ति।

कुन्तक ने अट्ठाईस अलङ्कारो का उल्लेख कर उनके अलङ्कारत्व का परीक्षण किया है। उनमे से कुछ के अलङ्कारत्व का खण्डन कर स्वमतानुसार स्वीकार्य अलङ्कारो का स्वरूप-विवेचन किया है। उनकी मान्यता है कि पूर्ववर्ती आलङ्कारिको ने इन अट्ठाईस अलङ्कारो के अतिरिक्त जिन अलङ्कारो का उल्लेख किया है, उनमे से कुछ तो इन्ही अलङ्कारो मे अन्तर्भुक्त हो जाते और शेष शोभाहीन होने के कारण अलङ्कार के रूप मे स्वीकार नही किये जा सकते। पूर्ववर्ती आचार्यो के कुछ अलङ्कारो को अलङ्कार नही मान कर अलङ्कार्य की कोटि मे रखने के कारण भी वक्रोक्तिजीवितकार ने अलङ्कार के सन्दर्भ मे उन्हे अविवेच्य और अनुल्लेख्य माना है। उदाहरणार्थ—यथासख्य शोभाहीन होने के कारण अलङ्कार नही। आशी' आशसनीय अर्थ की प्रमुखता के कारण अलङ्कार्य है। विशेषोक्ति कही अलङ्कार्य बन जाती है तथा कही अन्य अलङ्कार मे अन्तर्भूत हो जाती है। हेतु, सूक्ष्म और लेश मे अलङ्कारत्व-विधायक उक्ति-गत वक्रता का अभाव रहता है। अत', उन्हे अलङ्कार नही माना जा सकता। स्वभावमात्र रमणीय होने के कारण उन्हे

अलङ्कार्य मानना ही समीचीन है। उपमारूपक का अलङ्कारत्व उपपन्न नही।[१] इसलिए कुन्तक ने उक्त अट्ठाईस अलङ्कारो को ही परीक्षणीय समझा।

ऊर्जस्वी

दण्डी, भामह, उद्भट आदि पूर्ववर्ती आचार्यो के ऊर्जस्वी-लक्षण को कुन्तक ने अमान्य बताया है। उनकी मान्यता है कि काम-क्रोध आदि मनोविकार के कारण रस-परिपाक के बाधित होने के स्थल मे ऊर्जस्वी नामक अलङ्कार का सद्भाव स्वीकार करना समीचीन नही। ये मनोविकार रसभङ्ग के ही हेतु होते है। उनसे अलङ्कारत्व की सृष्टि नही होती। रसबोध मे चित्त-वैशद्य की स्थिति सभी रसवादी आचार्यो ने स्वीकार की है। इस दशा मे सत्त्व का उद्रेक रजस् एव तमस् को पराभूत कर देता है। जब तक राजस एव तामस-भाव सत्त्व से सर्वथा अभिभूत नही हो जाते तब तक रस की चर्वणा सम्भव नही होती। काम, क्रोध आदि तामस भाव रसास्वाद मे विघ्न उपस्थित करते है। रस-परिपाक की इस बाधित अवस्था मे ही प्राचीनो ने ऊर्जस्वी अलङ्कार की सत्ता स्वीकार की थी।

रसवत्

दण्डी, भामह, उद्भट आदि की रसवत्-परिभाषाए कुन्तक को मान्य नही। उन्होने पूर्ववर्ती आचार्यों की रसवत्-विषयक मान्यता का खण्डन कर स्वतन्त्र रूप से उसके लक्षण की कल्पना की है। दण्डी आदि आचार्यो ने रसमय काव्य मे रसवत् अलङ्कार का सद्भाव स्वीकार किया था। उन्होने रस को अलङ्कार के एक भेद मे समाविष्ट कर दिया था। कुन्तक अलङ्कार से रस का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार करते थे। उनकी मान्यता थी कि रस को अलङ्कार नही मान कर अलङ्कार्य माना जाना चाहिए। रसमय वाक्य को—अलङ्कार्य को—अलङ्कृत करने मे ही अलङ्कार की सार्थकता है। अत, रसवद् वाक्य को अलङ्कार मानना युक्तिसङ्गत नही। भामह तथा उद्भट की रसवद-लङ्कार-धारणा का खण्डन करते हुए कुन्तक ने यह युक्ति दी है कि अलङ्कार और अलङ्कार्य की पृथक्-पृथक् सत्ता तो मानी ही जानी चाहिए। यदि काव्य मे शृङ्गार आदि रस ही प्रधानत. वर्ण्यमान माना जाय तो वह अलङ्कार्य होगा

---

१. कुन्तक, वक्रोक्ति जीवित, ३,४४ तथा उसकी वृत्ति पृ० ४७८-८१

और उसे अलङ्कृत करने वाले किसी अन्य अलङ्कार की कल्पना करनी होगी। या यदि सहृदयो के आह्लाद का कारण होने से रस को ही अलङ्कार कहा जाय तो भी उस रसरूप अलङ्कार से अलङ्कृत होने वाले किसी स्वतन्त्र सत्तावान् अलङ्कार्य का अस्तित्व दिखाया जाना चाहिए। किन्तु, भामह तथा उद्भट के रसवत्-लक्षण मे अलङ्कार्य और अलङ्कार के विवेक का अभाव है। उन्होने रसवत् के जिस स्वरूप की कल्पना की है, वह अलङ्कार्य ही माना जा सकता है, अलङ्कार नही। दण्डी के लक्षण मे भी रसवत् का अलङ्कारत्व सिद्ध नही होता। उनके 'काव्यादर्श' मे रसवत्-परिभाषा के दो पाठ प्राप्त होते है। एक मे उसे (रसवत् अलङ्कार को) 'रस-पेशल' कहा गया है और दूसरे मे 'रस-सश्रय'। दोनो का अर्थ मूलत. अभिन्न है। वक्रोक्तिजीवितकार की मान्यता है कि 'रसपेशल' या 'रस-सश्रय' काव्य ही होता है, जो अलङ्कार्य है, अलङ्कार नही। अत भामह और उद्भट के रसवत्-लक्षण की तरह दण्डी का लक्षण भी अमान्य है। कुछ आचार्यो ने उपमा आदि अलङ्कारो से रसवत् के पृथक्करण के एक नवीन आधार की कल्पना की थी। वे मानते थे कि जहाँ चेतन-पदार्थ का वर्णन होता है वहाँ रस का सद्भाव होने के कारण रसवत् अलङ्कार होता है और जहाँ अचेतन पदार्थ का वर्णन होता है, वहाँ उपमा, रूपक आदि की सत्ता मानी जाती है। आनन्दवर्द्धन ने 'ध्वन्यालोक' मे इस मत का खण्डन किया है। कुन्तक ने उक्त मत के खण्डन मे आनन्दवर्द्धन की युक्ति को ही स्वीकार किया है। इस अश मे आनन्दवर्द्धन से सहमत होने पर भी कुन्तक ने उनकी रसवत्-धारणा को स्वीकार नही किया। उन्होने आनन्दवर्द्धन के रसवत्-लक्षण का भी खण्डन किया है। उनका कथन है कि जहाँ अन्य वाक्यार्थ की प्रधानता या अलङ्कार्यता हो तथा रस आदि अङ्ग रूप मे प्रयुक्त होते हो वहाँ आनन्दवर्द्धन ने रसादि अलङ्कार का सद्भाव स्वीकार किया है। यह समीचीन नही। आनन्दवर्द्धन के रसवत् अलङ्कार के उदाहरण मे उन्होने लक्षण का व्यभिचार दिखाया है।[१] उनकी तर्क-पद्धति का उल्लेख यहाँ अप्रासङ्गिक होगा।

पूर्ववर्ती आचार्यो के रसवत् लक्षण का खण्डन कर वक्रोक्तिजीवितकार ने प्रस्तुत अलङ्कार के स्वरूप के सम्बन्ध मे अपनी धारणा व्यक्त की है। उनकी मान्यता है कि जो अलङ्कार रस-तत्त्व के विधान से रसज्ञ पाठको का

---

१. कुन्तक, वक्रोक्तिजीवित, पृ० ३३८-६६

आह्लादजनक होकर रस के समान हो जाता है उसे रसवत् अलङ्कार कहते है। रस के समान आह्लादकारी होने के कारण यह अलङ्कारो मे मूर्धन्य स्थान का अधिकारी है।[१] कुन्तक ने उक्त अलङ्कार के सर्वथा नवीन स्वरूप की उद्भावना का दावा किया है। किन्तु, उनके रसवत्-लक्षण के परीक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनकी मान्यता पर पूर्वाचार्यो के विचारो का प्रचुर प्रभाव पडा है। कुन्तक की रसवत्-परिभाषा मे इस तथ्य की स्पष्ट स्वीकृति है कि काव्य मे सरसता का आधान करने वाला रस के समान आह्लादकारी कोई भी अलङ्कार रसवत् कहा जा सकता है। उन्होने स्वय रसवत् के उदाहरण मे एकत्र रूपक को तथा अपरत्र उत्प्रेक्षा को रसवत् कहा है। रूपक और उत्प्रेक्षा आदि सामान्य अलङ्कार भी होते है और रसवत् भी। प्रस्तुत अर्थ से अप्रस्तुत की सरस व्यञ्जना के स्थल मे कुन्तक रूपक आदि रसवत् अलङ्कार का सद्भाव मानेगे। इस अश मे उनकी रसवत्-धारणा प्राचीन आचार्यो की समासोक्ति-धारणा के समकक्ष मानी जा सकती है। यह रसवत् तत्त्वत एक स्वतन्त्र अलङ्कार न होकर अलङ्कारो का एक विशेष वर्ग सिद्ध होता है। इस वर्ग मे उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि सभी सुन्दर अलङ्कार रखे जा सकते है। सामान्य उपमा, रूपक आदि से इस वर्ग के उपमा, रूपक आदि का व्यावर्तक इस वर्ग के अलङ्कारो की रसमयता है। विचारणीय यह है कि उपमा, रूपक आदि रसवदलङ्कारो को रसवत्व का विधायक और आह्लादजनक कहना कहाँ तक उचित है। कुन्तक ने अलङ्कार को शब्द और अर्थ का धर्म स्वीकार किया है। वे अलङ्कार्य-भूत रस के उपकारक-मात्र हो सकते है, रसाधायक नही। काव्य-सौन्दर्य की व्यञ्जना मे काव्याङ्गो के समन्वित योग के सिद्धान्त को मानने पर भी कुन्तक ने अलङ्कार्य-अलङ्कार आदि का व्यावहारिक भेद स्वीकार किया ही है। अतः अलङ्कार को अलङ्कार्य का आधायक कहना उनके मतानुसार भी उपपन्न नही होगा। उनकी मान्यता यह जान पडती है कि जो अलङ्कार शब्दार्थ मे इतना उत्कर्ष ला दे कि वह रसमय काव्य-सा आह्लादकारी हो जाय वह (रस के सदृश आनन्ददायक होने के कारण) रसवत् अलङ्कार है। कुन्तक न तो रसवत् अलङ्कार को रस का हेतु मानते थे न उससे अभिन्न। वे उसे रस के समान महत्त्व देना चाहते थे। अलङ्कार सौन्दर्य-बोध मे उत्कर्ष लाते है। वे शब्द और अर्थ को अलङ्कृत कर काव्य के आत्मतत्त्व का भी उपकार

१. कुन्तक, वक्रोक्तिजीवित, ३,१४-१५

रते है। अत उन्हे काव्य का केवल बाह्य तत्त्व कह कर उपेक्षित नही किया ा सकता। अलङ्कार काव्य के बाह्य और अन्तरङ्ग दोनो ही धर्म माने जा कते है। आनन्दवर्द्धन ने अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य अलङ्कार को अन्तरङ्ग एव थग्यत्ननिर्वर्त्य अलङ्कार को बहिरङ्ग स्वीकार किया है। एक ही नाम के लङ्कार अन्तरङ्ग भी हो सकते है और बहिरङ्ग भी। कुन्तक की रसवद- ङ्कार-धारणा के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे भी अलङ्कार के सवत् एव सामान्य, दो वर्ग मानते थे। रसवत् वर्ग के अलङ्कारो को आनन्द- र्द्धन के अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य ध्वन्यलङ्कार या अन्तरङ्ग अलङ्कारो के समकक्ष ाना जा सकता है। कुन्तक की रसवत्-धारणा के विवेचन से निम्नलिखित ाष्कर्ष प्राप्त होते है—

(क) कुन्तक रसवत् नामक अलङ्कार की गणना करने पर भी उसे स्वतन्त्र अस्तित्व नही दिला पाये। उनके लक्षण के अनुसार रसवत् स्वतन्त्र अलङ्कार नही होकर अलङ्कारो का एक वर्ग-मात्र बन जाता है, जिसमे उपमा आदि सभी अलङ्कार आ सकते है। कुन्तक ने काव्य मे इसका मूर्धन्य स्थान माना है।

(ख) रसवत् अलङ्कार-वर्ग की कल्पना का मूल आनन्दवर्द्धन की अपृथग्-यत्ननिर्वत्य अलङ्कार-वर्ग की कल्पना मे पाया जा सकता है।

(ग) रसवत् के स्वरूप की कल्पना मे पूर्ववर्ती आचार्यो की समासोक्ति-धारणा का भी प्रभाव स्पष्ट है।

(घ) यह कुन्तक की स्वतन्त्र उद्भावना नही।

दीपक

भामह आदि आचार्यो की मान्यता थी कि जहाँ वाक्य के आरम्भ, मध्य ा अन्त मे स्थित एक क्रिया-पद अनेक पदो को दीपित करता हो, वहाँ दीपक ामक अलङ्कार होता है।[१] उनके मतानुसार दीप्यमान पदो की अपेक्षा से स्थित क्रियापद ही दीपक नामक अलङ्कार होगे। कुन्तक को यह मत मान्य ाही। उनकी मान्यता है कि क्रिया-पद प्रकाशक या दीपक अवश्य होते है; केन्तु दीपकता केवल उन्ही मे नही रहती। उनसे भिन्न पद भी दीपक हो सकते है। कर्त्ता, कर्म, करण आदि सभी पद पारस्परिक सम्बन्ध का द्योतन करते ही है। अत, दीपकत्व के आधार पर यदि क्रियापदो को दीपक कहा

१ भामह—काव्याल० २, २५-२६

जाय तो अन्य पदो को भी दीपक कहना होगा। ऐसे ही कुछ अन्य तर्कों से उन्होने भामह आदि आचार्यो की दीपक-धारणा का खण्डन करना चाहा है। इस प्रसङ्ग मे उनकी अष्टपक्षी युक्ति द्रष्टव्य है।[१] कुन्तक ने दीपक अलङ्कार के निम्नलिखित लक्षण की कल्पना की है—

"औचित्य के अनुरूप सुन्दर तथा सहृदयो के लिए आह्लादकारक वाच्य-भिन्न अर्थात् प्रतीयमान अर्थ-धर्म को प्रकाशित करने वाली वस्तु दीपक अलङ्कार है।"[२] स्पष्ट है कि कुन्तक की दीपक-धारणा का पूर्ववर्ती आचार्यो की तद्विषयक धारणा से कोई तत्त्वगत विरोध नही। भामह एव वामन से कुन्तक का मतभेद केवल इतना है कि जहाँ भामह आदि केवल क्रिया को दीपक मानते थे वहाँ कुन्तक ने क्रिया के साथ अन्य कारक आदि पदो को दीपक का प्रयोजक स्वीकार किया है। यह कुन्तक की स्वतन्त्र कल्पना नही। भरत के दीपक-लक्षण मे ही इसकी सम्भावना निहित थी। उद्भट ने भी दीपक की परिभाषा मे 'धर्मा' शब्द का प्रयोग कर क्रिया के अतिरिक्त कारक-पदो को भी दीपक का प्रयोजक स्वीकार किया था। वृत्ति मे 'धर्मा. क्रियादिरूपा.' यह व्याख्यान इस कथन का प्रमाण है। कुन्तक के दीपक भेद—केवल एव पक्तिसस्थ—अन्य आचार्यों के क्रमश केवल एव माला दीपक-भेदो से अभिन्न है।

सहोक्ति

कुन्तक ने भामह आदि पूर्ववर्ती आचार्यों की सहोक्ति-परिभाषा को अस्वीकार्य बता कर स्वमत से उसके नवीन लक्षण की स्थापना का प्रयास किया है। उन्होने समासोक्ति अलङ्कार की पृथक् सत्ता की स्वीकृति का भी विरोध किया है। वे उसे श्लेषानुप्राणित होने के कारण श्लेष मे ही अन्तर्भुक्त मानते थे। कुन्तक ने भामह आदि आचार्यो की सहोक्ति-परिभाषा के खण्डन मे यह युक्ति दी है कि उनकी परिभाषा के अनुसार सहोक्ति उपमा से स्वतन्त्र अस्तित्व नही रखती। भामह के उक्त अलङ्कार के उदाहरण को लक्ष्य कर उन्होने कहा है कि उसमे पारस्परिक साम्य का सम्बन्ध ही मनोहारित्व का

१. कुन्तक—वक्रोक्तिजीवित, पृ० ३९३-९६

२. औचित्यावहमम्लानं तद्विदाह्लादकारणम्।
अशक्तं धर्ममर्थाना दीपयद्वस्तु दीपकम्॥

—कुन्तक, वक्रोक्तिजीवित ३, १७

हेतु है, अत वहाँ उपमा का ही सद्भाव माना जायगा।[१] इस प्रकार भामह आदि की सहोक्ति को उपमान्तर्गत मान कर कुन्तक ने उसका लक्षण इस प्रकार दिया है :—"जहाँ वर्णनीय अर्थ की सिद्धि के लिए एक वाक्य से अनेक अर्थो का एक साथ कथन होता हो, वहाँ सहृदयो के मतानुसार सहोक्ति नामक अलङ्कार होता है।"[२] उन्होने यह स्वीकार किया है कि इसे ही कुछ लोग समासोक्ति भी कहते है।[3] भामह के सहोक्ति एव समासोक्ति अलङ्कारो का खण्डन कर कुन्तक ने दोनो के स्थान पर इस एक ही अलङ्कार की सत्ता स्वीकार की है। इस अलङ्कार के स्वरूप को कुन्तक की सर्वथा नवीन परिकल्पना मानते हुए वक्रोक्तिजीवित के व्याख्याता विश्वेश्वर ने कहा है कि "कुन्तक ने भामह के सहोक्ति-लक्षण का खण्डन करके जो अपना लक्षण प्रस्तुत किया है वह एकदम नया दृष्टिकोण है।"[४] यह मत समीचीन ही जान पडता है। कुन्तक का यह सहोक्ति-लक्षण परवर्ती आचार्यो ने स्वीकार नही किया। श्लेष से सहोक्ति का भेद स्पप्ट करने के लिए कुन्तक ने यह कल्पना कर ली है कि सहोक्ति मे कथित दोनो अर्थ गौण होते है, उनका उद्देश्य वर्णनीय अर्थ की सिद्धि होता है। श्लेष मे दोनो अर्थ मुख्य हो सकते है, या एक अर्थ मुख्य और दूसरा गौण।

व्यतिरेक

व्यतिरेक अलङ्कार के सामान्य स्वरूप के सम्बन्ध मे कुन्तक की धारणा भामह आदि आचार्यो की धारणा से अभिन्न है, किन्तु कुन्तक ने उसके भेदो की कल्पना कुछ स्वतन्त्र रूप से की है। उन भेदो का स्रोत-सन्धान वाञ्छनीय है। कुन्तक के अनुसार व्यतिरेक के मुख्य दो भेद है—शाब्द तथा प्रतीयमान। उसका तीसरा भेद वहाँ माना गया है, जहाँ वस्तु के लोक मे पाये जाने वाले स्वाभाविक स्वरूप को छोड कर उससे विलक्षण रूप से उसका वर्णन किया जाता है। प्रथम दो भेदो की कल्पना दण्डी की धारणा के आधार पर की गयी है। तीसरे प्रकार के व्यतिरेक की कल्पना किञ्चित् नवीन है। दो

१ अत्र परस्परसाम्यसमन्वयो मनोहारित्वनिबन्धनमित्युपमैव।
—कुन्तक, वक्रोक्तिजीवित, पृ० ४६१

२ यत्रैकेनैव वाक्येन वर्णनीयार्थसिद्धये।
अर्थाना युगपदुक्ति. सा सहोक्तिः सता मता॥—वही, ३,३७

३. कैश्चिदेषा समासोक्तिः ।—वही, पृ० ४६६

४. हिन्दी वक्रोक्तिजीवित, पृ० ४६३

वस्तुओ मे—उपमेय और उपमान मे—विशेष-प्रदर्शन की धारणा प्राचीन ही थी। एक ही वस्तु मे—प्रस्तुत के अपने ही यथार्थ एव वर्ण्यमान रूपो मे—विशेष-निर्धारण की कल्पना कुन्तक ने व्यतिरेक के इस भेद मे कर ली। कुन्तक वस्तु के स्वाभाविक रूप के वर्णन मे—स्वभावोक्ति मे—अलङ्कारत्व नही मानते। इसलिए उन्होंने वस्तु के सहज रूप के स्थान पर उसके कल्पित स्वरूप के वर्णन मे यह अलङ्कार-प्रकार स्वीकार किया है।

आचार्य कुन्तक की अलङ्कार-धारणा के विवेचन से हमे निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते है—

अलङ्कार-मीमासा के क्षेत्र मे आचार्य कुन्तक का महत्त्व पूर्व-प्रचलित अलङ्कारो की सख्या मे काट-छाँट की दृष्टि से ही है, नवीन अलङ्कारो की उद्भावना की दृष्टि से नही।

कुन्तक ने किसी नवीन नाम वाले अलङ्कार की कल्पना नही की। प्राचीन अभिधान वाले कुछ अलङ्कारो के सम्बन्ध मे पूर्ववर्ती आचार्यों की मान्यताओ का खण्डन कर उनके नवीन स्वरूप की कल्पना उन्होने अवश्य की। कही-कही तो उनका खण्डन दुराग्रहपूर्ण हो गया है। उन स्थलो मे तत्त्व-चिन्तन की अपेक्षा बौद्धिक चमत्कार-प्रदर्शन की प्रवृत्ति प्रधान हो गयी है।

कुन्तक के प्राचीन-नामधेय, किन्तु नवीन स्वरूप वाले अलङ्कारो के विधायक तत्त्व पूर्ववर्ती आचार्यों की लक्षण, अलङ्कार आदि की धारणा मे पाये जा सकते है।

सहोक्ति आदि मे उनका दृष्टिकोण नवीन है; पर वह किसी परवर्ती आचार्य को प्रभावित नही कर सका है।



भोजराज

भोज ने 'सरस्वती-कण्ठाभरण' एव 'शृङ्गार-प्रकाश' दोनो रचनाओ मे काव्य के अलङ्कारो की विवेचना की है। परम्परा से 'शृङ्गार-प्रकाश' 'सरस्वती-कण्ठाभरण' की अपेक्षा अधिक प्रौढ रचना स्वीकृत है, फिर भी अद्यावधि उसका अप्रकाशित रहना न केवल आश्चर्य की बात है, काव्यशास्त्र के पाठको के लिए दु:ख की भी बात है। भोज की अलङ्कार-धारणा के विवेचन मे प्रस्तुत पंक्तियो के लेखक को 'शृङ्गार-प्रकाश' के इतस्ततः प्रकाशित

अशो को ही प्रमाण मान कर सतोष करना पडेगा। प्रस्तुत विवेचन का प्रधान प्रमापक सरस्वती-कण्ठाभरण' को ही माना जा सकता है।

भोज ने काव्य के अलङ्कारो के शब्दगत, अर्थगत एव शब्दार्थ-उभयगत; ये तीन वर्ग स्वीकार किये है। उन्होने शब्दालङ्कार के चौबीस प्रकारो का स्वरूप-निरूपण किया है। भारतीय काव्यशास्त्र मे शब्दगत अलङ्कारो की इतनी सख्या कभी स्वीकृत नही हुई थी। हम देख चुके है कि भोज के पूर्व अनुप्रास, यमक, श्लेष आदि कुछ प्रसिद्ध शब्दालङ्कारो का स्वरूप ही विवेचन-योग्य माना गया था। उन्ही के अनेक भेदोपभेदो का निरूपण हुआ था। भोज की कृतियो में शब्दालङ्कारो की यह सख्यास्फीति सख्या-विशेष के प्रति उनके विलक्षण मोह का परिणाम है। काव्य-गुणो के स्वरूप-निरूपण के क्रम मे हमने चौबीस-सख्या के प्रति भोज की आसक्ति की ओर निर्देश किया है। किसी काव्य-तत्त्व की सख्या के सम्बन्ध मे शास्त्रकार का पूर्वाग्रह तत्त्व-निरूपण मे बाधक सिद्ध होता है। भोजराज तत्तत् काव्याङ्गो मे सख्यागत एकरूपता की स्थापना के आग्रह के कारण शास्त्रकार की अपेक्षित तटस्थता का निर्वाह नही कर सके। उनके सख्या-विषयक पूर्वाग्रह का परिणाम शब्दालङ्कार-विवेचन मे भी स्पष्ट है। शब्दगत अलङ्कारो की सख्या को चौबीस तक खीच कर ले जाने के लिए उन्होने कुछ अलङ्कारेतर धर्मो की भी गणना अलङ्कार मे कर ली हे। उदाहरणार्थ, शब्दालङ्कार के रूप मे परिगणित रीति, वृत्ति आदि का भारतीय काव्यशास्त्र मे अलङ्कार से स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार किया गया है। भोज ने रीति का अर्थ मार्ग ही स्वीकार किया है और उसके भेदो का देशगत आधार पर पूर्ववर्ती आचार्यो के द्वारा किया गया वैदर्भी, पाञ्चाली, **गौडीया** आदि नामकरण भी उन्हे मान्य है। हम अपरत्र इस तथ्य पर विचार कर चुके है कि यद्यपि आरम्भ मे देशगत आधार पर काव्य की रीतियो या मार्गो का नामकरण हुआ था, किन्तु पीछे चल कर तत्तद्देशगत रीतियों के गुणो के प्राधान्य के आधार पर विशेष गुणो को ही विशेष रीतियो का विधायक स्वीकार किया गया।[१] भोज ने इस तथ्य की उपेक्षा नही की। उन्होने रीति को गुणात्मक स्वीकार किया है। इसी प्रकार वृत्ति भी 'नाटयशास्त्र' से ही अलङ्कार से पृथक् अपनी सत्ता बनाये आ रही थी। रीति, वृत्ति आदि को शब्दालङ्कार के क्षेत्र मे घसीट कर ले जाने मे चिन्तन के नवीन क्षितिज के

१. द्रष्टव्य, लेखक का 'काव्य-गुणो का शास्त्रीय विवेचन',

उद्घाटन का मौलिक प्रयास नही है, गुण, अलङ्कार आदि मे सख्या की एकरूपता के स्थापन का लोभ-मात्र है।

भोज ने अर्थालङ्कारो एव उभयालङ्कारो के भी चौबीस-चौबीस प्रकारों की कल्पना की है। उनके अर्थालङ्कार है :—जाति या स्वभावोक्ति, विभावना, हेतु, अहेतु, सूक्ष्म, उत्तर, विरोध, सम्भव, अन्योन्य, परिवृत्ति, निदर्शन, भेद, समाहित, भ्रान्ति, वितर्क, मीलित, स्मृति, भाव, प्रत्यक्ष, अनुमान, आप्तवचन या आगम, उपमान, अर्थापत्ति तथा अभाव। उन्होने उभयालङ्कार के रूप मे जिन काव्यालङ्कारो का निरूपण किया है, वे है :—उपमा, रूपक, साम्य, सशयोक्ति, अपह्नुति, समाध्युक्ति, समासोक्ति, उत्प्रेक्षा, अप्रस्तुतस्तुति, तुल्ययोगिता, उल्लेख, सहोक्ति समुच्चय, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, विशेष, परिष्कृति या परिकर, दीपक, क्रम, पर्याय, अतिशय, श्लेष, भाविक एव ससृष्टि। उक्त अलङ्कारो मे से अधिकाश के छह-छह भेदो का विवेचन कर भी भोज ने सख्या की एकरूपता के प्रति अपने मोह का परिचय दिया है। प्रस्तुत सन्दर्भ मे भोज के नवीन अलङ्कारो का स्रोत-सन्धान अभिप्रेत है। सुविधा के लिए हम उनके शब्दगत, अर्थगत एव उभयगत अलङ्कारो का क्रमशः परीक्षण करेगे।

शब्दालङ्कार

जाति

शब्दगत जाति अलङ्कार का स्वरूप अर्थगत जाति या स्वभावोक्ति से सर्वथा भिन्न है। यह जाति भाषा-प्रयोग का औचित्य है। सस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओ का पात्र आदि के अनुरूप शुद्ध या मिश्र प्रयोग भोज के अनुसार जाति नामक शब्दालङ्कार है।[१] यह ध्यातव्य है कि भाषा आदि के उचित प्रयोग की धारणा पूर्ववर्ती आचार्यो से ही ली गयी है, केवल अलङ्कार की कोटि मे उसकी गणना भोज की नवीन कल्पना है। आनन्दवर्द्धन आदि आचार्य औचित्य की सविस्तर मीमासा कर चुके थे, किन्तु किसी भी आचार्य ने उसे अलङ्कार नही माना था। हमने अपरत्र औचित्य को गुण मानने वाले सिद्धान्त का खण्डन किया है।[२] औचित्य को गुण या अलङ्कार का एक भेद मान लेन

१. भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण, २, ६-१७

२. द्रष्टव्य, लेखक का 'काव्य-गुणों का शास्त्रीय विवेचन'

काव्य मे उसके यथार्थ महत्त्व का अवमूल्यन है। औचित्य वस्तुत. गुण, अलङ्कार आदि का प्रकार नही है, वह उन सबका विधायक है।

गति

भोज ने विषय के अनुरूप गद्य-पद्य के माध्यम के प्रयोग को गति नामक अलङ्कार माना है। वर्ण्य विषय के अनुरूप द्रुत, विलम्बित, मध्य आदि गति का प्रयोग इसमे वाञ्छनीय माना गया है।[१] स्पष्ट है कि उन्होने छन्द-शास्त्र की गति-विषयक धारणा को एक अलङ्कार के रूप में परिगणित कर लिया है। भोज की गति-धारणा न तो नवीन है और न अलङ्कार के रूप मे उसकी गणना उचित ही।

रीति, वृत्ति

हम इस तथ्य पर विचार कर चुके है कि भोजराज ने रीति तथा वृत्ति नामक स्वतन्त्र काव्याङ्गो को अलङ्कार के रूप मे परिगणित कर लिया है। रीति की धारणा दण्डी से तथा वृत्ति की धारणा भरत आदि आचार्यो से गृहीत है। इन्हें शब्दगत अलङ्कार मानना कथमपि समीचीन नही।

छाया

दूसरों की उक्ति की अनुकृति को भोज ने छाया अलङ्कार कहा है।[२] उक्ति के अनुकरण मे शब्दगत अलङ्कारत्व की स्वीकृति युक्ति-सङ्गत नही। कुछ आचार्यो ने लोकोक्ति आदि को अर्थालङ्कार माना है, जिसके औचित्य पर हमने अन्यत्र विचार किया है। 'सरस्वती-कण्ठाभरण' के टीकाकार रत्नेश्वर ने यह मन्तव्य व्यक्त किया है कि अन्यच्छायायोनिज काव्य मे भी कुछ लोग छाया अलङ्कार का सद्भाव मानते है।[३] राजशेखर ने समग्र काव्य-कृतियो को दो वर्गो मे विभाजित किया है। वे है—अयोनि काव्य-वर्ग तथा अन्यच्छायायोनि काव्य-वर्ग। अन्य काव्य की छाया पर निर्मित कवि-कर्म-मात्र को शब्दालङ्कार का एक भेद मान लेने मे क्या युक्ति होगी ?

---

१. भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण, २, ३०-३८

२ अन्योक्तीनामनुकृतिश्छाया सापीह षड्विधा।
—भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण, २,७५

३. अत्र केचिदन्यच्छायायोनिजमपि काव्यं छायालङ्कारव्यवहारभूमिमाहुः।
—वही, रत्नेश्वरकृत टीका, पृ० १६३–६४

मुद्रा

प्रस्तुत शब्दालङ्कार मे भोज ने वाक्य मे साभिप्राय पद-सन्निवेश पर बल दिया है।[१] मुद्रा के लक्षण-श्लोक पर टिप्पणी लिखते हुए रत्नेश्वर ने यह मान्यता व्यक्त की है कि इस मुद्रा को ही अन्य आचार्यो ने पदादिप्रकाश्य ध्वनि कहा है।[२] स्पष्टत रत्नेश्वर का सङ्केत आनन्दवर्द्धन के ध्वन्यालोक तथा उनके अनुयायियो की रचनाओ की ओर है। आनन्दवर्द्धन ने पदप्रकाश्य, वाक्यप्रकाश्य, विभक्तिप्रकाश्य आदि ध्वनि-भेदों का विवेचन किया है। भोज ने भी पदमुद्रा, वाक्यमुद्रा, विभक्तिमुद्रा आदि मुद्रा-भेदो का स्वरूप-निरूपण किया है। रत्नेश्वर की उक्त व्याख्या से भोज की मान्यता की निस्सारता ही प्रमाणित होती है। 'ध्वन्यालोक' मे ध्वनि की महत्ता की स्थापना हो जाने के बाद ध्वनि के अवयव-विशेप को शब्दालङ्कार के विशेप-भेद के रूप मे मान लेने की भ्रान्ति का कोई कारण नही दीख पडता। मुद्रा का एक भेद सम्वृत्ति-मुद्रा, जिसमे वक्ता कथन के मध्य मे किसी विशेप अभिप्राय से थोडा विराम लेता है, भरत के अनुक्तसिद्धि लक्षण के समान है, जिसमे अनुक्त बात भी श्रोता समझ लेता है। स्पप्ट है कि ध्वनि, लक्षण आदि के पूर्व-प्रतिपादित स्वरूप को मिला कर भोज ने उमे मुद्रा व्यपदेश से मुद्रित कर दिया और उसे शब्दगत अलङ्कार की सीमा मे समाविष्ट कर दिया।

उक्ति

विधिमुख से या निषेधमुख से सुन्दर कथन या उक्ति को शब्दालङ्कार उक्ति कहा गया है।[3] इसके विधि, नियम तथा परिसख्या भेदों का स्वरूप मीमासा-दर्शन के विधि, नियम एव परिसख्या-विषयक सिद्धान्त पर आधृत है। उक्ति के उक्त तीन भेदो की विशद मीमासा मीमासा-दर्शन मे की गयी

---

१ साभिप्रायस्य वाक्ये यद्वचसो विनिवेशनम्।
मुद्रा ता मुत्प्रदायित्वात् काव्यमुद्राविदो विदुः॥
—भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण, २, ८२

२. मुद्रैव पदादिप्रकाश्यध्वनिव्यवहारभूमिरन्येषाम्।
—वही, रत्नेश्वर की टीका, पृ० १६७

३. विधिद्वारेण वा यत्र निषेधेनाथवा पुनः।
प्रतीयते विशिष्टोऽर्थः सोक्तिरत्राभिधीयते॥—वही, २,९०

है। भोज की उक्ति के निषेध या प्रतिषेध-भेद का स्वरूप भरत के प्रतिषेध-लक्षण के समान है, जिसमे विज्ञ व्यक्तियो के द्वारा अनुचित कार्य से कर्त्ता का निवारण वाञ्छनीय माना जाता है।[1] उक्ति को अलङ्कार न मान कर अलङ्कार्य ही माना जाना चाहिए। यदि विधि-निषेध-परक सभी सुन्दर उक्तियो को अलङ्कारो के बीच परिगणित कर लिया जाय तो अलङ्कार्य क्या बच जायगा ? भोज इस तथ्य से परिचित थे। इसलिए उन्होने इस अलङ्कार को सामान्य काव्योक्ति से थोडा अलग करने का प्रयास किया है। उनके अनुसार विधि आदि उक्तियो से विशिष्ट अर्थ की प्रतीति मे ही अलङ्कारत्व होगा। किन्तु, यह अर्थ करने पर भी उक्ति को शुद्ध शब्दालङ्कार तो नही ही माना जा सकता। विशिष्ट अर्थ ही उसका नियामक होगा। उक्ति-विषयक मीमासा-शास्त्र की मान्यता तथा भरत के प्रतिषेध-लक्षण को मिला कर भोज ने उक्ति का रूप-निर्माण किया है। उक्ति उनकी स्वतन्त्र उद्भावना नही है और न उस उक्ति का अलङ्कारत्व ही असन्दिग्ध है।

युक्ति

जहाँ शब्द या अर्थ मे आपातत अन्वय का अभाव जान पडता हो, किन्तु उसमे अनुपपत्ति का परिहार कर अन्वय की योजना कर दी जाय, वहाँ भोज के अनुसार युक्ति नामक शब्दालङ्कार होता है।[2] पद की युक्ति के साथ ही भोज ने पदार्थगत युक्ति को भी शब्दालङ्कार मे परिगणित कर लिया है। उनके अनुसार पद, पदार्थ, वाक्य, वाक्यार्थ, प्रकरण तथा सम्पूर्ण प्रबन्ध ही युक्ति का विषय हो सकता है।[3] प्रकरण तथा सम्पूर्ण प्रबन्ध की अन्वय-योजना को शब्दालङ्कार का एक भेद कैसे माना जा सकता है? यह स्पष्ट है कि भोज ने प्रकरण एव प्रबन्ध मे प्रातिभासिक अनन्विति मे तात्त्विक अन्वय-योजना के जो उदाहरण 'सरस्वती-कण्ठाभरण' मे दिये है, उनसे युक्ति

---

१ कायपु विपरीतेपु यदि कश्चित् प्रवर्त्तते।
निवार्यते च कार्यज्ञैः प्रतिषेध प्रकीर्तितः॥—भरत, ना० शा० १६, २३

२. अयुज्यमानस्य मिथ शब्दस्यार्थस्य वा पुन.।
योजना क्रियते यासौ युक्तिरित्युच्यते बुधै॥
—भोज, सरस्वती कण्ठाभरण, २, ९८

३ पदञ्चैव पदार्थश्च वाक्य वाक्यार्थ एव च।
विषयोऽस्याः प्रकरण प्रबन्धश्चाभिधीयते॥—वही, २, ९९

के इन दो भेदो का स्वरूप हेतूत्प्रेक्षा के समान सिद्ध होता है। पदार्थ-युक्ति में भी आपाततः पदार्थों मे विरोध, किन्तु परिणामत अविरोध दीख पडता है। अत उसका स्वरूप भी प्राचीन आचार्यों के अर्थगत विरोध या विरोधाभास अलङ्कार से मिलता-जुलता है। इस अलङ्कार के स्वरूप को दृष्टि मे रखते हुए डॉ० राघवन ने कहा है कि इसे स्वीकार करने पर 'सम्पूर्ण काव्य ही युक्ति अलङ्कार हो जायगा।'[१] यह मान्यता उचित ही जान पडती है। युक्ति को शब्दगत अलङ्कार के रूप मे स्वीकार नही किया जा सकता।

भणिति

कवि की सुन्दर उक्ति-भङ्गी को भणिति शब्दालङ्कार का लक्षण माना गया है।[२] यहाँ भी भोज ने व्यापक काव्याङ्ग को शब्दालङ्कार की सीमा मे घसीट लिया है। टीकाकार रत्नेश्वर के अनुसार यह ध्वनि का एक रूप है। प्रकाशवर्ष ने इसे वक्रता से अभिन्न माना है। उक्तिगत वक्रता को भारतीय साहित्य-शास्त्र के वक्रोक्तिप्रस्थान मे जो महत्त्व दिया गया है उसे दृष्टि मे रखते हुए वक्रतापरनामा भणिति को शब्दालङ्कार मानना समीचीन नही जान पडता। भणिति के छह भेदो मे सम्भव भेद का स्वरूप उत्प्रेक्षा के समान तथा विशेष भेद का दण्डी के समाधि गुण के समान है। सवृत्ति तथा कल्पना-भेद का स्वभाव अतिशयोक्ति से मिलता-जुलता है। असम्भव और आश्चर्य भणिति भी अतिशयमूला ही है। स्पष्ट है कि भणिति मे शब्दालङ्कारत्व नही है।

गुम्फना

शब्द और अर्थ की वाक्य मे सम्यक् रचना को गुम्फना कहा गया है।[३] अर्थ की रचना को तो शब्दालङ्कार नही ही माना जा सकता। शब्द-रचना का अलङ्कारत्व ही यहाँ परीक्षणीय है। पर्याय-कृता गुम्फना भी शुद्ध शब्दालङ्कार नही। इसमे समान अर्थ के वाचक शब्दो की गुम्फना होती है। उन शब्दों की अर्थगत एकता ही इस अलङ्कार-प्रकार का विधान करती है। क्रम-कृता गुम्फना के उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह क्रम-हीन दोष का

---

१. डॉ० राघवन, Bhoja's Sr. Prakash, पृ० ३६१

२. उक्तिप्रकारो भणिति ··· ··· ···।—भोज, सरस्वती कण्ठाभरण, २,१११

३. वाक्ये शब्दार्थयोः सम्यग्रचना गुम्फना स्मृता।—वही, २, ११८

अभाव-मात्र है, अलङ्कार नही। भोज ने इसमे प्रसिद्धि-क्रम से रचना पर बल दिया है। प्रसिद्ध क्रम का निर्वाह न हो तो क्रमहीन दोष होगा, क्रम-गुम्फना मे उस दोष का अभाव-मात्र रहता है। पद-गुम्फना को रत्नेश्वर ने पल्लव से अभिन्न माना है।[१] भोज ने इसके उदाहरण को स्पष्ट करते हुए कहा है कि इसमे अर्थ की पुष्टि मे सहायता नही करने वाले पदो की भी छन्द की पूर्त्ति के लिए तथा अनुप्रास-विधान के लिए अर्थानुगुण रचना की गयी है; अत यहाँ पद-गुम्फना है।[२] स्पष्ट है कि यह अपने आप मे अलङ्कार नही है। यह अनुप्रास आदि अन्य अलङ्कार की योजना मे केवल सहायक हो सकता है। छन्दपूर्त्ति के लिए अपुष्टार्थ-पदो का प्रयोग कवि की अशक्ति का ही परिचायक होता है। समर्थ कवि पादपूर्त्त्यर्थ भी किसी अपुष्टार्थ पद का प्रयोग नही करता। भोज को वाक्यगत गुम्फना की कल्पना की प्रेरणा वामन के ओज गुण के 'वाक्यार्थे पदाभिधा' से मिली होगी। गुम्फना मे शब्दार्थ की सम्यक् रचना की जो धारणा व्यक्त की गयी है, उसे दृष्टि मे रखते हुए इसे शब्दालङ्कार का एक भेद नही माना जा सकता। यदि शब्द और अर्थ का सुष्ठु विन्यास अलङ्कार है, तो उससे पृथक् अलङ्कार्य क्या बच रहेगा ?

शय्या

पदार्थ अर्थात् प्रस्तुताप्रस्तुत वस्तु की पारस्परिक घटना को शय्या कहा गया है।[३] इसके इस स्वरूप की कल्पना कर शब्दालङ्कार की सीमा मे इसे क्यो ढकेल दिया गया यह कहना कठिन है। इसकी गणना शब्दालङ्कार मे नही करने से चौबीस की सख्या पूरी नही होती। सम्भव है, इसीलिए इसे शब्दा-लङ्कार कह दिया गया हो। पदार्थ की घटना को सामान्य रूप से भी अलङ्कार नही माना जा सकता, शब्दालङ्कार मानने का तो प्रश्न ही नही उठता। पदार्थ-योजना का शब्द से क्या सम्बन्ध ? यदि यह कहा जाय कि शब्द के बिना अर्थ की घटना सम्भव नही, शब्द और अर्थ मे अविभाज्य सम्बन्ध है, तब तो अलङ्कारो के शब्दगत, अर्थगत आदि वर्गों की मूल मान्यता ही व्यर्थ हो जायगी। इस आत्मघाती युक्ति से पदार्थ-घटना-रूप शय्या का

---

१. सरस्वतीकण्ठाभरण, रत्नेश्वर की टीका पृ० १८४
२. भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण २, १२३ की वृत्ति
३. शय्येत्याहुः पदार्थाना घटनाया परस्परम्।—वही, २, १२५

शब्दालङ्कारत्व सिद्ध नही किया जा सकता। शय्या के प्रकीर्ण-घटना-भेद मे भोजराज ने मुख्या, गौणी लक्षणा-जैसी शब्दशक्ति को समेट लिया है। अत शय्या का स्वरूप अलङ्कार से कुछ अधिक व्यापक हो गया है।

पठिति

पठिति शब्दालङ्कार के स्वरूप की कल्पना प्राचीन आचार्यो की वक्रोक्ति के आधार पर की गयी है। काकु और श्लेप से वक्ता के कथन का उसके अभिप्रेत अर्थ से भिन्न अर्थ निकालने की धारणा भोज की पठिति और प्राचीन आचार्यो की वक्रोक्ति मे समान है। भोज ने वक्ता के अभीप्ट अर्थ से भिन्न अर्थ-बोध कराने के अभिनय एव कान्ति, दो अन्य साधनो की भी कल्पना की है।[१]

यमक, श्लेष, अनुप्रास, चित्र

यमक, श्लेप, अनुप्रास एव चित्र अलङ्कार प्राचीन है। भोज ने इन अलङ्कारो के सम्बन्ध मे प्राचीन आलङ्कारिको की सामान्य धारणा को ही स्वीकार किया है। भेदोपभेदो की कल्पना मे उन्होने कुछ नवीनता लाने का प्रयास किया है। यमक, अनुप्रास एव चित्र अलङ्कारो की धारणा के विकास का मूल भरत के यमक मे ही है। हम यह देख चुके है कि यमक से अनुप्रास ने धीरे-धीरे अलग अस्तित्व ग्रहण किया। फिर भी, दोनो मे इतनी समता रही कि कुछ आचार्यो ने दोनो के स्थान पर केवल यमक की सत्ता स्वीकार की तो कुछ ने केवल अनुप्रास की। इसी धारणा से चित्र के अनेक रूपो का विकास हुआ। रुद्रट चित्र का अनुप्रास आदि से स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार कर चुके थे। भोज ने भी तीनो का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार किया है। इनके सामान्य स्वरूप तथा अधिकाश भेदो के स्वरूप के सम्बन्ध मे भोज की धारणा रुद्रट की धारणा से मिलती-जुलती है। रुद्रट ने यमक के अनेक भेदो की कल्पना की थी। उनसे पूर्व दण्डी भी यमक-प्रपञ्च की सविस्तर विवेचना कर चुके थे। भोज ने अपने पूर्ववर्ती सभी आचार्यो के यमक-भेद विवेचन के आधार पर उसके उनसठ भेदो का विवरण दिया है तथा उसके अनन्त भेदो की सम्भावना स्वीकार की है।[२] अनुप्रास की धारणा भी दण्डी,

---

१. काकुस्वरपदच्छेदभेदाभिनयकान्तिभिः।
पाठो योऽर्थविशेषाय पठितिः सेह षड्विधा ॥—वही, २, १३३

२. अत्यन्त बहवस्तेषा भेदाः सम्भेदयोनयः।
—भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण, २,१५०

रुद्रट आदि की एतद्विषयक धारणा के समान ही है। दण्डी ने श्रुत्यनुप्रास को माधुर्य गुण का एक प्रधान भेद मान कर काव्य मे उसे बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान दिया था। भोज ने उसी के आधार पर सामान्य-रूप से अनुप्रास अलङ्कार की प्रशसा बहुत बढा-चढा कर की है।[१] भोज की वृत्त्यनुप्रास-धारणा कुछ नवीन है। इसमे समान वर्ग के वर्णो की आवृत्ति होती है। यह वर्णानुप्रास का ही एक विशेष रूप है। भोज ने इसके विभिन्न रूपो को विभिन्न प्रदेशो से सम्बद्ध किया है, किन्तु यह विवेचन प्रमाण-पुष्ट नही है। चित्र अलङ्कार के बहुविध भेदो की कल्पना का आधार रुद्रट की चित्र-मीमासा है। भोज ने श्लेष के छह भेद ही स्वीकार किये है। रुद्रट के आठ श्लेष-भेदों मे से वर्णगत एव लिङ्गगत भेदो को भोज ने स्वीकार नही किया है। वे वर्णश्लेष का पदश्लेष मे तथा लिङ्गश्लेष का प्रकृतिश्लेष मे अन्तर्भाव मानते थे।

वाकोवाक्य

उक्ति-प्रत्युक्ति को भोज ने वाकोवाक्य अलङ्कार माना है।[२] इस प्रकार वार्त्तालाप ही अलङ्कार मान लिया गया। वार्त्तालाप के प्रकारो के आधार पर इस अलङ्कार के छह भेद कल्पित हुए—ऋजूक्ति, वक्रोक्ति, वैयात्योक्ति, गूढोक्ति, प्रश्नोत्तरोक्ति तथा चित्रोक्ति। कहने की आवश्यकता नही कि वक्रोक्ति की धारणा प्राचीन है और उसे भोज के पहले ही अलङ्कार मे स्वतन्त्र अस्तित्व मिल चुका था। कुन्तक ने उसे व्यापक अर्थ मे अलङ्कार मान कर, काव्य मे आत्मा का महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया था। भोज ने उसे शब्दालङ्कार के एक विशेष भेद के रूप मे सीमित कर दिया। उन्होने उसके निर्व्यूढ और अनिर्व्यूढ, इन दो उपभेदो की कल्पना की है। ऋजूक्ति के ग्राम्या तथा उपनागरिका भेद प्राचीन आचार्यो की वृत्ति-धारणा के आधार पर कल्पित है। स्पष्ट है कि भोज ने प्राचीन आलङ्कारिको की काव्य तत्त्व-विषयक धारणा को ही मिला-जुला कर इस नवीन अभिधान वाले अलङ्कार की कल्पना कर ली है। वस्तुत उक्ति-प्रत्युक्ति अपने आप मे अलङ्कार नही, उसमे दूसरे अलङ्कार भले रह सकते है। उक्ति-प्रत्युक्ति की विशेष भङ्गिमा

---

१. यथा ज्योत्स्ना चन्द्रमस यथा लावण्यमङ्गनाम्।
अनुप्रासस्तथा काव्यमलङ्कर्त्तुमयं क्षमः॥—वही, २,२४६

२. उक्तिप्रत्युक्तिमद्वाक्यं वाकोवाक्यं बिदुर्बुधाः।—वही, २,१४३

मे अलङ्कारत्व माना जा सकता है; किन्तु ग्राम्योक्ति आदि स्वत अलङ्कार कैसे मानी जा सकती है ?

प्रहेलिका

प्रहेलिका की धारणा भी प्राचीन है। बौद्धिक चमत्कार दिखाने वाले इस अलङ्कार का उल्लेख भामह ने रामशर्मा नामक आचार्य का साक्ष्य देते हुए यमक-विवेचन के प्रसङ्ग मे किया है। उन्होने स्पष्ट शब्दो मे इसे 'यमकव्यपदेशिनी' कहा है।[1] भोज के पूर्ववर्ती आचार्य दण्डी ने ही क्रीडा-गोष्ठी के हास्य-विनोद मे प्रयुक्त होने वाले इस अलङ्कार के सोलह भेदो का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार कर लिया था। भोज ने भी यमक आदि से पृथक् इसकी गणना की है।

गूढ, प्रश्नोत्तर

प्राचीन आचार्यो की प्रहेलिका के स्वरूप के आधार पर ही इन दो स्वतन्त्र अलङ्कारो की कल्पना भोजराज ने की है। विदग्ध-गोष्ठी मे अपनी बौद्धिक कला के प्रदर्शन से चमत्कार उत्पन्न करने की जो धारणा प्रहेलिका के सम्बन्ध मे व्यक्त का जाती रही है, वह इन दोनो अलङ्कारो के मूल मे भी है। गूढ उक्ति एवं प्रश्नोत्तर की उक्ति का वाकोवाक्य अलङ्कार के भेद के रूप मे भी भोज ने विवेचन किया है। अत. गूढ एव प्रश्नोत्तर पर पृथक् विचार आवश्यक भी नही था। प्रहेलिका के बौद्धिक-चमत्कार के अनेक भेदो की कल्पना की जा सकती है। रुद्रट ने कारकगूढ तथा क्रियागूढ प्रहेलिका-भेदो का उल्लेख किया था। उन्होने उसके प्रश्नोत्तर भेद की भी कल्पना की थी।[2] भोज के गूढ और प्रश्नोत्तर का स्वरूप रुद्रट के उक्त प्रहेलिका-भेदो के स्वरूप से भिन्न नही। इन्हे प्रहेलिकान्तर्गत मानना ही अधिक समीचीन जान पडता है।

अध्येय, श्रव्य, प्रेक्ष्य, अभिनेय

अध्येय, श्रव्य आदि को काव्य का अलङ्कार मानना युक्तिसङ्गत नही जान पडता। ये सामान्यत· काव्य के गुण हो सकते हैं, अलङ्कार नही। गुण भी पारिभाषिक अर्थ मे नही, साधारण अर्थ मे। अभिप्राय यह कि

---

१. भामह—काव्यालङ्कार, २,१९

२. रुद्रट—का यालङ्कार, ५,२४

कविता गद्य-काव्य आदि को पठनीय और श्रव्य होना चाहिए। उसमे ऐसी सरलता और सरसता हो कि वह पढने या सुनने मे अरुचिकारक नही हो। रूपक मे अभिनेयता और दर्शनीयता रहे। भोज ने इन्हे अलङ्कार कैसे मान लिया, इसका उत्तर उनकी काव्य-तत्त्व-समीक्षा की पद्धति पर विचार करने से मिल जाता है। गुण-विवेचन के सन्दर्भ मे हमने इस बात की ओर सङ्केत किया है कि सम्पूर्ण प्रबन्धगत-गुण की कल्पना का उनमे आग्रह था।[१] इसी आग्रह के कारण उन्होने उक्त प्रबन्ध-गत अलङ्कारो की भी कल्पना कर ली है।

अर्थालङ्कार

जाति

भोज की जाति प्राचीन आचार्यो की स्वभावोक्ति या जाति से अभिन्न है। जाति एव स्वभावोक्ति एक ही अलङ्कार की दो आख्याएँ है। भोज ने वस्तु-स्वभाव के विविध सम्भावित रूपो के वर्णन के आधार पर प्रस्तुत अलङ्कार के अनेक भेदो की कल्पना कर ली है। हम देख चुके है कि वस्तु के नित्य तथा आगमापायी धर्मो के आधार पर स्वभाव-कथन के मुख्य दो भेदो की कल्पना पहले भी की जा चुकी थी। भोज ने भी जाति के सार्वकालिक एव जायमान भेदो को स्वीकार किया है। मुग्धा बाला, नीच पात्र, पशु-पक्षी तथा बच्चे आदि के सहज रूप का वर्णन सार्वकालिक का तथा वेशभूषा, व्यापार आदि का वर्णन जायमान का उपभेद माना जायगा। कुन्तक के द्वारा जाति या स्वभावोक्ति के अलङ्कारत्व का खण्डन किये जाने पर भी उत्तरवर्ती आचार्यो ने उसकी गणना अलङ्कार के रूप मे ही की है। हमने जाति-विषयक इन परिपन्थी मान्यताओ के औचित्य की परीक्षा उचित सन्दर्भ मे की है। प्रस्तुत पसङ्ग मे यह निर्देश-मात्र अभिप्रेत है कि भोज की जाति-धारणा प्राचीन आलङ्कारिको की तद्विषयक धारणा से भिन्न नही।

विभावना

विभावना अलङ्कार के लक्षण-निरूपण-क्रम मे 'सरस्वती कण्ठाभरण' में आचार्य दण्डी के 'काव्यादर्श' से विभावना-लक्षण-श्लोक अविकल रूप मे उद्धृत कर दिया गया है।[२] भोज के द्वारा कल्पित उसके शुद्धा, चित्रा एव

---

१ द्रष्टव्य—लेखक का 'काव्य-गुणो का शास्त्रीय विवेचन'

२. भोज—सरस्वतीकण्ठाभरण, ३, २१ तुलनीय, दण्डी, काव्यादर्श २, १६६

विचित्रा उपभेद के नाम-मात्र नवीन है। उसके स्वरूप की कल्पना का मूल दण्डी के विविध विभावना-भेदो मे ही है।

हेतु

भोज की हेतु-धारणा भी दण्डी की धारणा के समान ही है। यह देखा जा चुका है कि दण्डी के पूर्ववर्ती भामह के पूर्व भी हेतु अलङ्कार की धारणा किसी-न-किसी रूप मे प्रचलित रही होगी। इसीलिए भामह ने उसके अलङ्कारत्व की मान्यता का खण्डन किया था। आचार्य दण्डी ने न केवल उसका अलङ्कार के रूप मे अस्तित्व स्वीकार किया, वरन् उसे वाणी के उत्तम अलङ्कारो मे स्थान दिया। भोज ने दण्डी के ही हेतु-स्वरूप को स्वीकार किया है, किन्तु उसे उत्तम आभूषण मानना उनका अभिमत नही जान पडता। क्रिया के हेतु एव कारकादि के भेदो के आधार पर भोज ने इस अलङ्कार के अनेक भेदो का कल्पना कर ली है।[1]

अहेतु

अहेतु अलङ्कार का स्वरूप रुद्रट के अतिशयमूलक अहेतु से मिलता-जुलता है। भोज ने प्रस्तुत अलङ्कार मे ही रुद्रट के वास्तव-वगगत कारणमाला अलङ्कार का अन्तर्भाव मान लिया है।[2] इस मान्यता का कोई सबल आधार नही जान पडता।

सूक्ष्म

हेतु की तरह सूक्ष्म के भी अलङ्कारत्व की स्वीकृति मे भोज पर दण्डी की मान्यता का प्रभाव है। इस अलङ्कार के स्वरूप-निर्धारण मे भी भोज दण्डी से पूर्णतः प्रभावित है।[3]

---

१. भोज—सरस्वतीकण्ठाभरण, ३, ३०

२. यस्तु कारणमालेति हेतुसन्तान उच्यते ।
पृथक् पृथगसामर्थ्यात् सोऽप्यहेतोर्न भिद्यते ।।
—भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण, ३, ६३

३. तुलनीय—भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण, ३, ६७ तथा दण्डी, काव्यादर्श, २, २६०

उत्तर

भोज के उत्तर अलङ्कार का स्वरूप आचार्य रुद्रट के वास्तव-वर्गगत 'सार' अलङ्कार के स्वरूप से मिलता-जुलता है। पदार्थ के सार-कथन मे रुद्रट ने सार नामक वास्तव अलङ्कार का सद्भाव माना था। भोज ने उसे ही सरस्वतीकण्ठाभरण मे उत्तर सज्ञा से अभिहित किया है।[१] यह उत्तर नाम भी रुद्रट के 'काव्यालङ्कार' से ही गृहीत है। रुद्रट ने सार और उत्तर के पृथक-पृथक् स्वरूपो का विवेचन किया था। भोज ने दोनो के स्थान पर एक ही अलङ्कार की सत्ता स्वीकार की और उसे ही 'सरस्वतीकण्ठाभरण' मे उत्तर तथा 'शृङ्गार-प्रकाश' मे सार सज्ञा से अभिहित किया।[२]

विरोध

भामह, दण्डी आदि प्राचीन आचार्यो के विरोध, असङ्गति, प्रत्यनीक, अधिक एव विषम अलङ्कारो के स्थान पर भोज ने इस एक अलङ्कार का ही उल्लेख किया है। अन्य अलङ्कार इसी मे अन्तर्भुक्त मान लिये गये है। पदार्थो की पारस्परिक असङ्गति को इसका लक्षण माना गया है। प्राचीनो ने भी विषम, विरोध, असङ्गति आदि मे असङ्गत पदार्थो की घटना पर बल दिया था। भोज ने विरोध के अङ्ग के रूप मे असङ्गति, प्रत्यनीक आदि का उल्लेख किया है।[3]

सम्भव

भोजराज ने सम्भव नामक नवीन अलङ्कार की कल्पना की है। इसके लक्षण मे उन्होने यह मन्तव्य प्रकट किया है कि जहॉ प्रचुर कारण को देख कर 'ऐसा हो सकता है', यह ज्ञान हो, वहॉ सम्भव अलङ्कार होता है।[४] डॉ० राघवन ने इसे प्राचीन आचार्यो की उत्प्रेक्षा के समान मान लिया है।[५] इसका कारण सम्भवत 'सम्भावना' शब्द है। उत्प्रेक्षा मे भी एक वस्तु मे

१ पदार्थाना तु य सारस्तदुत्तरमिहोच्यते।
—भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण, ३, ७४

२ द्रष्टव्य—डॉ० राघवन, Bhoja's Sr Prakash, पृ० ३८७

३ विरोधस्तु पदार्थाना परस्परमसङ्गति·।
असगति प्रत्यनीकमधिक विषमञ्च स·॥
—भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण, ३७९

४. प्रभूतकारणालोकात् स्यादेवमिति सम्भव।—वही, ३, ८६

५. डॉ० राघवन, Bhojas Sr. Prakash, पृ० ३८७

तत्सदृश अन्य वस्तु की अथवा किसी कार्य के कारण मे तद्भिन्न कारण की सम्भावना होती है। सम्भव मे सम्भावना का तत्त्व है अवश्य, किन्तु उसका स्वरूप उत्प्रेक्षा का विधान करने वाली 'सम्भावना' से किञ्चित् भिन्न है। भोज ने उस उत्प्रेक्षा का स्वतन्त्र ही अस्तित्व माना है। सम्भव मे कारण को देख कर वस्तु की विधि-निषेध आदि के रूप मे सम्भावना होती है। पीछे चल कर इसे ही सम्भावना सज्ञा से अभिहित किया गया है।

अन्योन्य

अन्योन्य अलङ्कार के सामान्य स्वरूप की कल्पना मे भोज पर रुद्रट की अन्योन्य-धारणा का प्रभूत प्रभाव है।

परिवृत्ति

भामह, दण्डी आदि प्राचीन आचार्यो की परिवृत्ति-विषयक सामान्य मान्यता को ही भोज ने स्वीकार किया है।

निदर्शन

भोज ने पूर्व-प्रचलित दो अलङ्कारो—निदर्शन या निदर्शना तथा दृष्टान्त—के स्थान पर एक ही अलङ्कार की सत्ता स्वीकार की है। वे निदर्शन और दृष्टान्त की पृथक्-पृथक् सत्ता स्वीकार नही करते। इस एक का ही एकत्र (सरस्वतीकण्ठाभरण मे) निदर्शन तथा अपरत्र (शृङ्गार प्रकाश मे) दृष्टान्त अभिधान है। इसके स्वरूप की कल्पना मे भोज ने भामह, दण्डी आदि प्राचीन आचार्यो की मान्यता का ही अनुगमन किया है।

भेद

प्राचीन आचार्यों के व्यतिरेक अलङ्कार को भोज ने भेद की अतिरिक्त आख्या दी है। उन्होने स्पष्ट रूप से इसे स्वीकार किया है कि इसे व्यतिरेक भी कहा जाता है।[१] भोज का भेद-लक्षण दण्डी के व्यतिरेक-लक्षण की ही अवतारणा है।[२]

---

१. भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण, ३, ११८

२. तुलनीय—भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण, ३, ११८ तथा दण्डी, काव्यादर्श २, १८०

समाहित

समाहित अलङ्कार की धारणा भामह, दण्डी आदि प्राचीन आचार्यो की धारणा से अभिन्न है।

भ्रान्ति

भोज की भ्रान्ति का स्वरूप रुद्रट की भ्रान्ति से मिलता-जुलता है। भोज ने इस अलङ्कार के चार प्रकारो की कल्पना की है। वे है—भ्रान्तिमाला, भ्रान्तिमान, भ्रान्त्यतिशय, भ्रान्त्यनध्यवसाय। भ्रान्ति की माला या परम्परा तथा इसकी अतिशयता के आधार पर भ्रान्तिमाला एव भ्रान्त्यतिशय भेदो की कल्पना की गयी है। माला एव अतिशय की धारणा नवीन नही है। भ्रान्तिमूलक ज्ञान के अन्य भेदो की कल्पना भी न्याय-शास्त्र आदि मे हो चुकी थी। वस्तुतः भ्रान्ति या भ्रान्तिमान की अलङ्कार रूप मे काव्यशास्त्र मे अवतारणा दर्शन के क्षेत्र से ही हुई है।

वितर्क

डॉ० राघवन की मान्यता है कि प्राचीन आचार्यो के सन्देह अलङ्कार को भोजराज ने वितर्क नाम से अभिहित किया है। इसका स्वरूप प्राचीनो के सन्देह के स्वरूप से अभिन्न है।[1] भोज ने ऊहा एव वितर्क को पर्याय-वाची स्वीकार किया है। जहाँ किसी वस्तु के वास्तविक स्वरूप के निर्णय मे मन मे वितर्क उठे वहाँ इस अलङ्कार की सत्ता मानी गयी है। इसका स्वरूप अशतः सन्देह से अवश्य मिलता है, किन्तु इसे सन्देह से अपृथक् सिद्ध नही किया जा सकता। रत्नेश्वर ने वितर्क का सन्देह से यह भेद स्पष्ट किया है कि सन्देह मे एक वस्तु मे दो या दो से अधिक वस्तुओ का समकालिक ज्ञान रहता है, अर्थात् एक मे अनेक वस्तुओं का विकल्प मन मे उठता रहता है, किन्तु वितर्क मे एक समय एककोटिक ज्ञान ही रहता है।[2] दूसरे शब्दो मे, सन्देह अनेक-कोटिक जिज्ञासा उत्पन्न करता है पर वितर्क एक-कोटिक। प्राचीनों के

---

१. डॉ० राघवन, Bhoja's Sr. Prakash, पृ० ३८७

२. सन्देहो नानाकोटिकस्तथाभूतामेव जिज्ञासा प्रसूते तर्कस्तु तदनन्तरभावी नियतकोटिकः तथाभूतामिति।—सरस्वतीकण्ठाभरण, रत्नेश्वर की टीका, पृ० ३९५

सन्देह को वितर्क कहना भोज को अभीष्ट नही था, इसका एक सबल प्रमाण यह है कि 'सरस्वती-कण्ठाभरण' मे सशयोक्ति नामक अलङ्कार का वितर्क से स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार किया गया है। भोज का सशयोक्ति अलङ्कार, जिसे उन्होने उभयालङ्कार-वर्ग मे परिगणित किया है, प्राचीन आचार्यो के सन्देह से अभिन्न है। हम यह देख चुके है कि 'सन्देह' के लिए 'ससन्देह', 'सशय', 'ससशय' आदि पर्यायो का प्रयोग होता रहा है। भोज ने उसके लिए सशयोक्ति शब्द का प्रयोग किया है। यदि वे वितर्क को सन्देह से अभिन्न मानते तो सशयोक्ति के स्वरूप-निरूपण की आवश्यकता ही नही रह जाती। स्पष्ट है कि सन्देह से किञ्चित् साम्य होने पर भी वितर्क का स्वतन्त्र अस्तित्व है। यह प्रमाण का सहकारी है। इससे तत्त्व-ज्ञान मे सहायता मिलती है। वितर्क या पर्यालोचन से हम निर्णय पर पहुँचते है, किन्तु सन्देह से निर्णय मे कोई सहायता नही मिलती। इसमे द्विकोटिक ज्ञान मे से अयथार्थ ज्ञान के निरस्त हो जाने पर तत्त्व-ज्ञान शेष रह जाता है। वितर्क भी भ्रम, सन्देह आदि की तरह ज्ञान-विषयक दार्शनिक चिन्तन का ही अवदान है। ऊहा या वितर्क के स्वरूप पर दर्शन के क्षेत्र मे गम्भीर विचार हुआ है। साहित्य मे उसकी अभिव्यक्ति को भोज ने अलङ्कार के रूप मे स्वीकार किया है।

मीलित

भोज के मीलित अलङ्कार का सामान्य स्वरूप रुद्रट के मीलित से मिलता-जुलता है। भोज ने मीलित मे ही पिहित, अपिहित, तद्‌गुण तथा अतद्‌गुण अलङ्कारो का अन्तर्भाव माना है।[१] यह देखा जा चुका है कि रुद्रट ने पिहित एव तद्‌गुण अलङ्कारो का वास्तव-वर्गगत मीलित से स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार किया था। वे इन्हे अतिशयमूलक अलङ्कार मानते थे। इन दो अलङ्कारो के अभावात्मक स्वरूप की कल्पना से अपिहित एव अतद्‌गुण अलङ्कारो का आविर्भाव हुआ। भोज ने इनका स्वतन्त्र अस्तित्व अस्वीकार कर इन्हे मीलित मे ही समाविष्ट कर दिया।

स्मृति

स्मृति अलङ्कार की स्वरूप-कल्पना मे भोज रुद्रट से सहमत है।

---

१. वस्त्वन्तरतिरस्कारो वस्तुना मीलित स्मृतम्।
पिहितापिहिते चैव तद्‌गुणातद्‌गुणौ च यत्॥
—भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण, ३, १६२

भाव

भोज के भाव का स्वरूप रुद्रट के वास्तव वर्ग-गत भाव अलङ्कार के समान है।

प्रत्यक्ष, अनुमान, आप्तवचन या आगम, उपमान, अर्थापत्ति, अभाव

प्रत्यक्ष आदि छह प्रमाणो की अलङ्कार के रूप मे मान्यता भोज की नवीनता है, किन्तु इनके स्वरूप की कल्पना मे उनकी कोई मौलिकता नही। यह सर्वविदित है कि भारतीय दर्शन की विभिन्न शाखाओ मे प्रमाण के तत्तदङ्गो का सूक्ष्म विवेचन हुआ है। प्रमाणो की सख्या के विषय मे दार्शनिको का मतभेद भी विख्यात है। जैमिनीय सूत्र की प्रमाण-मीमासा का भोज की अलङ्कार-धारणा पर पुष्कल प्रभाव पडा है। दर्शन के ये छह प्रमाण भोज के द्वारा काव्यालङ्कार के रूप मे स्वीकृत है। उन्होने उपमान के उदाहरणो मे मीमासक, नैयायिक आदि के मतो का स्पष्ट उल्लेख भी किया है।[१] उपमान मे अभिनय, आलेख्य, मुद्रा एव प्रतिबिम्ब नामक नवीन अलङ्कारो का अन्तर्भावन भोज ने माना है।[२] सम्भव है, भोज के समय इन अलङ्कारो का स्वतन्त्र अस्तित्व कुछ आचार्यो ने स्वीकार किया हो। अभाव अलङ्कार मे न्यायशास्त्र मे विवेचित अभाव के सभी अङ्गो का उल्लेख किया गया है।

उभयालङ्कार

उभयालङ्कार-वर्ग मे भोज ने जिन चौबीस अलङ्कारो का उल्लेख कर उनके स्वरूप का विवेचन किया है, इनमे से दो-तीन को छोड शेष सभी अलङ्कारो का स्वरूप प्राचीन है। उपमा, रूपक आदि के सम्बन्ध मे पूर्ववर्ती आचार्यो की सामान्य धारणा को स्वीकार कर इनकी विस्तृत मीमासा की गयी है। तत्तदालङ्कारिको की धारणाओ को मिला कर इन अलङ्कारो के अनेक भेदोपभेदो की भी कल्पना कर ली गयी है। भेदीकरण की प्रवृत्ति भोज की अपनी विशेषता थी। अतः इन भेदोपभेदो मे कल्पना-विलास ही पाया जा

---

१ 'तदिदमनुभूतविषय नाम उपमान मीमासका वर्णयन्ति। × × × × तदिदमननुभूतविषय उपमान नैयायिकाः समुन्नयन्ति।
—भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण, वृत्ति पृ० ४१४--१५ (क)

२. तथाभूतार्थविज्ञानजनकत्वेन हेतुना।
नास्मादभिनयालेख्यमुद्राबिम्बादयः पृथक्॥—वही, ३, २१०

सकता है। अलङ्कार के किसी विलक्षण स्वरूप की उद्भावना उन भेदो के विवेचन-क्रम मे नही हो पायी है। इन उभयालङ्कारो की सख्या को चौबीस तक ही सीमित रखने के लिए भोजराज ने किसी विशेष अलङ्कार मे पूर्वाचार्यों के द्वारा स्वीकृत अन्य कई अलङ्कारो का अन्तर्भाव मान लिया है। इस प्रकार रुद्रट का मत उत्प्रेक्षा मे अन्तर्भुक्त मान लिया गया। उनके उभयन्यास, प्रत्यनीकन्यास तथा प्रतीकन्यास अर्थान्तरन्यास मे समाविष्ट कर दिये गये। परिकर मे एकावली का अन्तर्भाव मान लिया गया। ससृष्टि और सङ्कर के स्थान पर केवल ससृष्टि का अस्तित्व स्वीकृत हुआ। उसीमे सङ्कर का अन्तर्भाव माना गया। हम देख चुके है कि सङ्कर और ससृष्टि मे एकाधिक अलङ्कारो के एक अधिकरण मे सन्निवेश की दो प्रक्रियाओ पर विचार किया गया है। वे एक ही अलङ्कार-विधान के दो रूप है। अत, भोज के पूर्व भी कुछ आचार्यो ने केवल ससृष्टि के स्वरूप का विवेचन किया था, कुछ ने केवल सङ्कर के स्वरूप का और कुछ ने दोनो के स्वरूप का। भोज ने ससृष्टि मे ही दोनो रूपो पर विचार किया है। भोज ने समाध्युक्ति नामक एक नवीन अलङ्कार का उल्लेख किया है; किन्तु इसका नाम-रूप दण्डी के समाधि गुण से अभिन्न है। दण्डी ने अन्य वस्तु के धर्म का अन्यत्र आरोप होने मे समाधि गुण माना था। भोज ने समाधि-उक्ति का यही लक्षण स्वीकार किया है। भोज के मतानुसार मीलित अलङ्कार भी समाध्युक्ति का ही एक भेद है। भोज ने भाविक अलङ्कार के स्वरूप की कल्पना स्वतन्त्र रूप से की है।

भोज के मतानुसार अपने आशय को प्रकट करने, अप्रकृत अर्थ की उत्थापना करने तथा अप्रकृत के अपदेश या छल मे भाविक अलङ्कार होता है। इस प्रकार उन्होने भाविक के उक्त तीन प्रकार स्वीकार किये है। उद्भेद या प्रकटीकरण को भोज ने भाविक से अभिन्न माना है। अत· उद्भेद की तीन प्रक्रियाएँ—व्यक्त, अव्यक्त तथा व्यक्ताव्यक्त—भी भाविक के तीन भेदो के रूप में स्वीकृत हुई है।[१] इसमे सामान्यत. एक कथन से आत्म-भाव की, अप्रकृत अर्थ आदि की प्रतीति करायी जाती है। दूसरे शब्दो मे इसमे कथित

१. स्वाभिप्रायस्य कथनं यदि वाप्यन्यभावना ।
अन्यापदेशो वा यस्तु त्रिविध भाविक बिदु. ॥
मते चास्माकमुद्भेदो विद्यते नैव भाविकात् ।
व्यक्ताव्यक्तोभयाख्याभिस्त्रिविधः सोऽपि कथ्यते ॥
—भोज, सर०कण्ठा० ४,३०८--३०९

वाक्य से अकथित अर्थ भी प्रकट हो जाता है। भरत ने मनोरथ लक्षण मे किसी दूसरे व्याज से आत्म-भाव के प्रकट करने की धारणा व्यक्त की थी।[१] भोज के भाविक का स्वरूप भरत के मनोरथ लक्षण से मिलता-जुलता है। भरत के उक्त लक्षण ने ही अप्रस्तुतप्रशसा अलङ्कार को भी जन्म दिया है। भोज का यह भाविक प्राचीनो की अप्रस्तुतप्रशसा के भी समीप पहुँच जाता है। अन्यापदेश आदि भाविक-भेद अन्योक्ति या अप्रस्तुतप्रशसा से अभिन्न है। भोज ने इससे अप्रस्तुतस्तुति या अप्रस्तुतप्रशसा का स्वरूप अलग करने के लिए स्तुति के अपात्र की स्तुति को अप्रस्तुतप्रशसा का लक्षण मान लिया है। भामह के अप्रस्तुतप्रशसा-लक्षण मे 'अधिकार से अपेत वस्तु की स्तुति' का अनधिकारी की स्तुति अर्थ समझ कर अप्रस्तुतप्रशंसा की उक्त परिभाषा कल्पित हुई और भरत के मनोरथ लक्षण आदि से तत्त्व ग्रहण कर प्राचीन आचार्यो की रचनाओं मे अलङ्कार के रूप मे अवतरित होने वाली अप्रस्तुतप्रशसा के स्वभाव से मिलते-जुलते स्वभाव की कल्पना भाविक के लक्षण-निरूपण के क्रम मे कर ली गयी। स्पष्ट है कि भोज के भाविक का नाम प्राचीन होने पर भी उसका स्वरूप प्राचीन भाविक से भिन्न है। फिर भी, उसकी प्रकृति को भोज की सर्वथा नूतन उद्भावना नही माना जा सकता। प्राचीन आचार्यों की लक्षण, अलङ्कार आदि की धारणा के आधार पर ही इस भाविक-लक्षण की कल्पना की गयी है।

भोज की अलङ्कार-धारणा के इस विवेचन से हम निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचते है—

शब्दालङ्कारो की सख्या चौबीस तक बढा देने के उद्देश्य से भोज ने पूर्वाचार्यो के द्वारा प्रतिपादित अनेक अलङ्कारेतर काव्य-तत्त्वो की भी गणना अलङ्कार के बीच कर ली है। रीति, वृत्ति, गति आदि इसके निदर्शन है।

प्राचीन आचार्यो की ही कुछ मान्यताओ को उन्होने नवीन अभिधान देकर शब्दगत अलङ्कार के रूप मे स्वीकार कर लिया है। इस प्रकार भाषौचित्य की धारणा जाति नाम धारण कर अलङ्कार के क्षेत्र मे प्रविष्ट हो गयी। ध्वनि के कुछ अङ्ग मुद्रा व्यपदेश से अलङ्कार की सीमा मे समाविष्ट हो गये। मीमासा-दर्शन मे प्रतिपादित विधि, नियम, परिसख्या आदि उक्ति

---

१ हृदयस्थस्य भावस्य सुश्लिष्टार्थप्रदर्शनम्।
अन्यापदेशकथनैर्मनोरथ इति स्मृतः ॥—भरत, ना०शा०, १६,२०

की सज्ञा पाकर शब्दालङ्कार के रूप मे स्वीकृत हुई । अध्येयत्व, श्रव्यत्व, प्रेक्ष्यत्व, आदि काव्य और नाटक के सामान्य गुण भी अध्येय आदि आख्याओ से अलङ्कार की श्रेणी मे परिगणित हुए ।

भणिति, शय्या, गुम्फना, वाकोवाक्य आदि को शब्दालङ्कार मानना समीचीन नही । उनमे लक्षण, ध्वनि, वक्रता आदि काव्य के महत्त्वपूर्ण तत्त्व समाविष्ट है ।

यमक, अनुप्रास, श्लेष, चित्र, प्रहेलिका आदि की धारणा मे कोई नवीनता नही । उनके सामान्य स्वरूप की धारणा के सम्बन्ध मे भोज अपने पूर्ववर्ती आचार्यो से सहमत है ।

अनेक शब्दालङ्कारा के छह-छह उपभेद करने मे विशेष सख्या के प्रति उनका मोह स्पष्ट है । प्राचीन आचार्यो की मान्यता की अवहेलना कर शब्दगत, अर्थगत एव उभयगत अलङ्कारो की सख्या के निर्धारण मे जो विलक्षणता भोज ने दिखायी है, वह चौबीस सख्या की एकरूपता के प्रति उनके लोभ का ही परिचायक है । यही कारण है कि उनकी अलङ्कार-सख्याविषयक मान्यता परवर्ती आचार्यो को मान्य नही हुई ।

भारतीय साहित्यशास्त्र मे अधिकरण-भेद से अलङ्कार के दो वर्ग स्वीकृत हुए है—शब्दालङ्कार वर्ग तथा अर्थालङ्कार वर्ग । भोज ने उसके तीन वर्गो की कल्पना की । शब्द तथा अर्थ के अलङ्कारो के बीच एक शब्दार्थोभयगत अलङ्कारो का वर्ग मान लिया गया । सामान्यत शब्दालङ्कार की अपेक्षा काव्य मे अर्थालङ्कार को अधिक महत्त्व दिया जाता है । भोज ने शब्द तथा अर्थ के अलङ्कारो की अपेक्षा उभयालङ्कारो को अधिक महत्त्व दिया है ।[1]

भोज के द्वारा प्रस्तुत अलङ्कारो का वर्गीकरण वैज्ञानिक नही हो सका है । कुछ शब्दालङ्कारो के लक्षण मे अर्थ की घटना पर वल देकर भोज ने उन्हे शुद्ध शब्दालङ्कार नही रहने दिया है । गुम्फना मे शब्द के साथ अर्थ की रचना, शय्या मे पदार्थ की घटना पर बल दिया जाना आदि इस कथन के प्रमाण है ।

शब्दालङ्कारों के कुछ भेदोपभेदो की कल्पना आचार्य भरत के लक्षण-विशेष की धारणा के आधार पर की गयी है । उदाहरणार्थ मुद्रा के षष्ठ भेद का स्वरूप भरत के अनुक्तसिद्धि नामक लक्षण के तत्त्व से निर्मित है ।

---

१. भोज—सरस्वतीकण्ठाभरण, ४, १

अर्थगत अलङ्कारो के वर्ग मे प्रत्यक्ष, अनुमान आदि छह प्रमाणो एवं वितर्क की अवतारणा का नवीन प्रयास भोज ने किया था। ज्ञान के इन साधनों के अलङ्कारत्व की कल्पना ही केवल नवीन है। इनके स्वरूप का विस्तृत विवेचन दर्शन मे हो चुका था। अत, भोज इनके स्वरूप की उद्भावना का श्रेय नही पा सकते।

वितर्क को सन्देह से अभिन्न मानने का भ्रम नही होना चाहिए। सन्देह एव वितर्क के स्वरूप अलग-अलग है। यदि सन्देह, भ्रम आदि की तरह वितर्क या ऊहा को भी अलङ्कार माना जाय तो उसका सन्देह से स्वतन्त्र ही अस्तित्व स्वीकार करना पडेगा।

भोज ने एक अलङ्कार मे उससे मिलते-जुलते स्वभाव वाले कई अलङ्कारो के अन्तर्भावन का भी आयास किया है। अहेतु मे रुद्रट की वास्तव-वर्गगत कारणमाला का, उत्तर मे सार का, विरोध मे विषम, असङ्गति, प्रत्यनीक एव अधिक का, निदर्शन मे दृष्टान्त का और मीलित मे पिहित, अपिहित, तद्गुण तथा अतद्गुण का समावेश इसका प्रमाण है। इस अन्तर्भावन के मूल मे भी 'चौवीस' सख्या के प्रति उनका मोह ही माना जा सकता है। 'सरस्वती-कण्ठाभरण' के उत्तर एव निदर्शन के स्थान पर शृङ्गारप्रकाश मे क्रमश सार तथा दृष्टान्त नाम पाये जाते है।

सम्भव नामक नवीन अलङ्कार की कल्पना भोज ने की है, जिसे परवर्ती काल मे सम्भावना भी कहा गया है।

अर्थगत अलङ्कारो मे अधिकाश के लक्षण प्राचीन आचार्यो की मान्यता के अनुरूप ही दिये गये है। जाति या स्वभावोक्ति, विभावना, विरोध, परिवृत्ति, निदर्शन, समाहित आदि के स्वरूप की कल्पना भामह, दण्डी आदि की तत्तदलङ्कारविषयक धारणा के आधार पर की गयी है। उत्तर, अन्योन्य, भ्रान्ति, मीलित, स्मृति, भाव आदि का स्वभाव रुद्रट के मतानुसार कल्पित है।

प्राचीन आचार्यो के व्यतिरेक के लिए व्यतिरेक के साथ 'भेद' नाम का प्रयोग किया गया है। स्पष्ट है कि भोज ने सम्भव के अतिरिक्त किसी अर्थालङ्कार के स्वरूप की उद्भावना अपनी ओर से नही की।

उभयालङ्कार-वर्ग के अधिकाश अलङ्कारो के नाम-रूप प्राचीन ही है। प्राचीन आक्षेप अलङ्कार के लिए प्रतिषेधोक्ति नाम का भी उल्लेख हुआ है।

भी चित्र अलङ्कार का एक भेद मान लिया गया है। मात्रा आदि के च्युत के आधार पर मात्रादिदत्त की कल्पना की गयी है। वाक्याङ्ग मे मात्रा आदि प्रदत्त होने पर भी यदि द्वितीय अर्थ की प्रतीति हो तो दत्त चित्र होता है।[१]

रुद्रट ने चित्र के ही तत्तद्भेदो के रूप मे चक्र, खड्ग, तुरग, गज आदि चित्रो या बन्धो का निरूपण किया था। अग्निपुराणकार ने चित्र के उक्त सात भेदो के विवेचन के उपरान्त तत्तद्बन्धो का उल्लेख किया है।[२] अर्धभ्रम, सर्वतोभद्र, चक्र, मुरज, खड्ग, शक्ति, आदि बन्धो की कल्पना रुद्रट से ही ली गयी है। रुद्रट ने कुछ बन्धो का नाम्ना उल्लेख कर यह कहा था कि इसी प्रकार विभिन्न वस्तुओ के प्रकार मे श्लोको का विन्यास किया जा सकता है और उन-उन वस्तुओ के नाम के आधार पर ही तत्तद्बन्धो का नामकरण किया जाता है।[३] अग्निपुराण मे गोमूत्रिका, अम्बुज दण्ड आदि बन्धो की भी कल्पना की गयी है।

'अग्निपुराण' का अर्थालङ्कार-विवेचन बहुत अशक्त और अप्रौढ है। किसी नवीन अलङ्कार की उद्भावना तो अग्निपुराणकार ने नही ही की, पूर्व प्रचलित अर्थालङ्कारो मे से भी अनेक को अकारण ही अस्वीकार कर केवल आठ (या सादृश्य के चार भेदो को लेकर ग्यारह) अर्थालङ्कारो की सत्ता स्वीकार की। सादृश्य के भी चार ही भेद स्वीकार करने मे कोई युक्ति नही। यदि सादृश्य पर आधृत होने के कारण उपमा और रूपक आदि को सादृश्य का भेद माना जाय तो उत्प्रेक्षा का सादृश्य से अलग अस्तित्व मानने का क्या आधार होगा ? औपम्यमूलक या सादृश्यमूलक अलङ्कार के विशत्यधिक प्रकारो का निरूपण वामन तथा कुन्तक की रचनाओ मे हो चुका था। वामन ने जितने अलङ्कारो का अस्तित्व स्वीकार किया था उन्हे उपमा-प्रपञ्च मान कर उनकी सादृश्यमूलकता स्वीकार की थी। स्पष्टत सादृश्य के चार ही भेद की स्वीकृति समीचीन नही। 'अग्निपुराण' के अर्थालङ्कारो का स्वरूप पूर्ववर्ती आचार्यो के ही मतानुसार कल्पित है। भरत, भामह, दण्डी आदि आचार्यो की तत्तदलङ्कार-धारणा के आधार पर अग्निपुराणकार ने अर्थगत अलङ्कारो का लक्षण-निरूपण किया है। दण्डी की अलङ्कार-धारणा का उन पर सर्वाधिक प्रभाव है।

---

१. अग्निपुराण, ३४३,२८

२. अग्निपुराण, ३४३, ३५-६५

३. रुद्रट, काव्यालङ्कार, ५, ३३

अग्निपुराणकार की शब्दार्थालङ्कार-धारणा सबसे विलक्षण है। उन्होने जिन छह शब्दार्थालङ्कारो का विवेचन किया है, उनमे से एक भी भारतीय काव्यशास्त्र मे अलङ्कार के रूप मे स्वीकृति नही पा सका है, फिर भी यह नही माना जा सकता कि प्रशस्ति, कान्ति, औचित्य आदि की धारणा 'अग्नि-पुराण' की मौलिक उद्भावना है। भोज ने भी उनके स्वरूप पर विचार किया था। उन्होने कान्ति, औचित्य आदि को काव्यालङ्कार नही मान कर काव्य-गुण के रूप मे स्वीकार किया था। अग्निपुराणकार ने उन्हे शब्दार्थालङ्कार मान लिया। यावदर्थपदत्व भोज के समितत्त्व गुण का ही पर्याय है। हमने अपनी पुस्तक 'काव्य-गुणो का शास्त्रीय विवेचन' मे औचित्य के गुणत्व का खण्डन किया है। उन्ही युक्तियो से उसे अलङ्कार मानने वाला मत भी खण्डित हो जाता है। औचित्य गुण, अलङ्कार आदि का प्राण है। उसे गुण या अलङ्कार के एक प्रकार के रूप मे सीमित कर देना समीचीन नही। अभिव्यक्ति को प्रकटत्व कहकर व्यञ्जना या ध्वनि से अभिन्न माना गया है और उसके भेदो के रूप मे व्यञ्जना पर आधृत आक्षेप, समासोक्ति, अपह्नुति, पर्यायोक्ति का उल्लेख हुआ है। स्पष्टत प्राचीनो के इन अलङ्कारो का ही समष्टि नाम अभिव्यक्ति है। निष्कर्ष यह कि शब्दगत, अर्थगत तथा शब्दार्थगत अलङ्कार-वर्गो मे किसी भी नवीन अलङ्कार की उद्भावना 'अग्निपुराण' मे नही हुई। कुछ नवीन नाम अवश्य कल्पित हुए, किन्तु वे प्राचीन काव्यतत्त्वो के ही नवीन अभिधान-मात्र है।



आचार्य मम्मट

आचार्य मम्मट की गणना भारतीय काव्यशास्त्र के अङ्गुलि-परिगणनीय विचारको की प्रथम पक्ति मे होती है। मम्मट के पूर्व काव्य-सिद्धान्त के विभिन्न पक्षो का जो विवेचन चल रहा था, उसमे मौलिक उद्भावनाओ की शक्ति अवश्य थी, किन्तु उसकी दो सीमाएँ थी। पहली, आचार्यो का पूर्वाग्रह, जो स्वस्थ शास्त्रीय चिन्तन मे बाधक हुआ। अलङ्कार, रीति, वक्रोक्ति आदि काव्य-तत्त्वो मे से किसी एक को ही काव्य-सर्वस्व सिद्ध करने का आग्रह लेकर रीति-ग्रन्थ लिखने वाले आचार्यो मे दृष्टि-सङ्कोच का होना स्वाभाविक था। फलत तत्तत्सम्प्रदायो मे काव्य के एक एक तत्त्व का सूक्ष्म विवेचन तो अवश्य

किया गया पर सभी तत्त्वो के सापेक्ष महत्त्व की स्थापना का प्रयास नही हुआ। अलङ्कार-सम्प्रदाय मे रीति, वक्रोक्ति, रस आदि को गौण स्थान मिला तो रीति, वक्रोक्ति आदि प्रस्थानो मे अलङ्कार केवल काव्य-सौन्दर्य के सहायक का स्थान पा सका। दूसरी सीमा तत्त्व-विवेचन की अपरिपक्वता थी। भरत, भामह, दण्डी, वामन, उद्भट, रुद्रट, कुन्तक आदि की दृष्टि काव्य-मीमासा के क्षेत्र मे नवीन-तथ्यो की उद्भावना पर ही प्रधान रूप से थी। अत', किसी विशेष तत्त्व की विशद विवेचना का अवकाश उन्हे नही था। काव्यशास्त्रीय चिन्तन मे उनके नव-नव उन्मेष की महत्ता की उपेक्षा नही की जा सकती, फिर भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उन विचारको की उक्त सीमाओ का अतिक्रमण कर एक स्वस्थ एव समन्वित साहित्य-सिद्धान्त की स्थापना की आवश्यकता शेष थी, जो आचार्य मम्मट के 'काव्य प्रकाश' मे पूर्ण हुई। मम्मट के पूर्व इतने काव्य-तत्त्वो की उद्भावना हो चुकी थी कि नवीन तत्त्वो की कल्पना की उतनी आवश्यकता नही थी, जितनी उन तत्त्वो के स्वरूप को व्यवस्थित कर काव्य-शरीर मे उनके स्थान-निर्धारण की थी। आचार्य मम्मट ने यही किया है। उनका महत्त्व नवीन उद्भावना की अपेक्षा पूर्वप्रचलित काव्य-विषयक मान्यताओ मे समन्वय की स्थापना कर उनके सापेक्ष महत्त्व-निर्धारण मे तथा विभिन्न काव्याङ्गो के स्वरूप के स्पष्टीकरण मे ही अधिक है। प्रस्तुत सन्दर्भ मे हम अलङ्कार के क्षेत्र मे उनकी मान्यता का मूल्याङ्कन तथा उनके द्वारा उद्भावित नवीन अलङ्कारो के स्रोत का अन्वेषण करेंगे।

'काव्य प्रकाश' मे निम्नलिखित अलङ्कारो का विवेचन हुआ है—

शब्दालङ्कार

(१) वक्रोक्ति, (२) अनुप्रास (छेकानुप्रास, वृत्यनुप्रास तथा लाटानुप्रास के पाँच भेद), (३) यमक, (४) श्लेष, (५) चित्र और (६) पुनरुक्तवदाभास।

अर्थालङ्कार

(१) उपमा, (२) अनन्वय, (३) उपमेयोपमा, (४) उत्प्रेक्षा, (५) ससन्देह, (६) रूपक, (७) अपह्नुति, (८) श्लेष, (९) समासोक्ति, (१०) निदर्शना, (११) अप्रस्तुतप्रशसा, (१२) अतिशयोक्ति, (१३) प्रति-वस्तूपमा, (१४) दृष्टान्त, (१५) दीपक, (१६) मालादीपक, (१७) तुल्य-

योगिता, (१८) व्यतिरेक, (१९) आक्षेप, (२०) विभावना, (२१) विशेषोक्ति, (२२) यथासख्य (२३) अर्थान्तरन्यास, (२४) विरोध या विरोधाभास, (२५) स्वभावोक्ति, (२६) व्याजस्तुति, (२७) सहोक्ति, (२८) विनोक्ति, (२९) परिवृत्ति (३०) भाविक (३१) काव्यलिङ्ग (३२) पर्यायोक्त, (३३) उदात्त, (३४) समुच्चय, (३५) पर्याय, (३६) अनुमान (३७) परिकर, (३८) व्याजोक्ति, (३०) परिसख्या, (४०) कारणमाला, (४१) अन्योन्य, (४२) उत्तर, (४३) सूक्ष्म, (४४) सार, (४५) असङ्गति, (४६) समाधि, (४७) सम, (४८) विषम, (४९) अधिक, (५०) प्रत्यनीक, (५१) मीलित, (५२) एकावली, (५३) स्मरण, (५४) भ्रान्तिमान, (५५) प्रतीप, (५६) सामान्य, (५७) विशेष, (५८) तद्गुण, (५९) अतद्गुण, (६०) व्याघात, (६१) ससृष्टि और (६२) सङ्कर।

उक्त अलङ्कारो मे से अधिकाश की स्वरूप-मीमासा मम्मट के पूर्ववर्ती आचार्यो की रचनाओ मे हो चुकी थी। भामह, वामन, उद्भट, रुद्रट आदि आचार्यो की तत्तदलङ्कार-धारणा को मम्मट ने स्वीकार कर अपनी कारिकाओ मे परिभाषित किया है और उन कारिकाओ की वृत्तियो मे अलङ्कारों के स्वरूप का स्पष्टीकरण किया है। शब्दालङ्कारो में श्लेष वक्रोक्ति और चित्र का विवेचन रुद्रट के मतानुसार किया गया है। श्लेष-विवेचन के सन्दर्भ मे श्लेष एव उपमा का साम्य-वैषम्य बताते हुए मम्मट ने रुद्रट का मत उद्धृत किया है।[1] अनुप्रास का स्वरूप-निरूपण भामह, उद्भट, रुद्रट आदि की मान्यता के अनुरूप ही किया गया है। लाटानुप्रास के जिन पाँच भेदो का विवेचन उद्भट ने किया था उनका उल्लेख 'काव्यप्रकाश' मे भी किया गया है।[2] मम्मट की पुनरुक्तवदाभास-धारणा उद्भट की तद्विषयक धारणा से अभिन्न है।[3] चित्र के विभिन्न रूपों के विवेचन मे मम्मट पर रुद्रट की मान्यता का पुष्कल प्रभाव है। आचार्य मम्मट यमक-निरूपण मे भामह, दण्डी तथा रुद्रट की धारणा से सहमत है। स्पष्ट है कि शब्दालङ्कार के क्षेत्र में मम्मट ने किसी नवीन अलङ्कार की उद्भावना नही की है।

---

१. तथाह्युक्तं रुद्रटेन—मम्मट, काव्यप्र० ७ पृ० २१३

२. तुलनीय, उद्भट, काव्यालङ्कारसारसंग्रह, १,४ तथा मम्मट, काव्यप्रकाश ९,११६ पृ० २०४

३. उद्भट, काव्यालङ्कारसारसंग्रह १, १ तथा मम्मट, काव्यप्रकाश ९, १२२ पृ० २१७

अर्थालङ्कारो मे उपमा-विषयक प्राचीन धारणा को ही मम्मट ने स्वीकार किया है। उसके भेदोपभेदो का विवेचन उन्होंने उद्भट के मतानुसार किया है। अनन्वय, उपमेयोपमा, उत्प्रेक्षा तथा ससन्देह या सशय का स्वरूप-निरूपण भामह, उद्भट, रुद्रट आदि की धारणा के आधार पर किया गया है। रूपक की सामान्य धारणा उक्त आचार्यों की धारणा से मिलती-जुलती ही है। उसके भेदो का विवेचन उद्भट की पद्धति पर किया गया है। उसका एक परम्परित भेद नवीन है। दण्डी ने रूपक के बीस भेदो का विवेचन कर उसके अनन्त रूपो की सम्भावना स्वीकार की थी। उसी के आधार पर मम्मट की परम्परित रूपक धारणा आधृत है। अपह्नुति, श्लेप तथा समासोक्ति की धारणा उक्त आचार्यों से ही ली गयी है। सर्वप्रथम उद्भट ने शब्द और अर्थ के श्लेष का पृथक्-पृथक् विवेचन किया था। रुद्रट ने भी उस शब्दार्थ-श्लेष-विवेक को स्वीकार किया। मम्मट ने भी शब्द और अर्थ के श्लेप का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार किया है। मम्मट की निदर्शना-धारणा उद्भट की तद्विपयक धारणा के समान हे। अप्रस्तुतप्रशसा का सामान्य स्वरूप भामह, उद्भट, रुद्रट, आदि आचार्यों की मान्यता के अनुसार ही कल्पित है। रुद्रट ने इसे अन्योक्ति सज्ञा से अभिहित किया था। उद्भट के 'काव्यालङ्कारसारसग्रह' की 'विवृति' मे प्रस्तुत अलङ्कार के पाँच भेदो का उल्लेख है—किसी वस्तु का वर्णन अभीष्ट होने पर उसके समान अन्य की उक्ति, विशेष कथ्य होने पर सामान्य की उक्ति, सामान्य वर्ण्य होने पर विशेष की उक्ति, कार्य की विवक्षा मे कारण की उक्ति तथा कारण की विवक्षा मे कार्य की उक्ति। मम्मट ने इन पाँचो भेदो को स्वीकार किया है। मम्मट की अतिशयोक्ति-विषयक धारणा उद्भट की धारणा से बहुलाशत प्रभावित है। भेद मे अभेद, पौर्वापर्य-व्यतिक्रम आदि अतिशयोक्ति-लक्षण उद्भट से ही गृहीत है। उसके एक भेद—उपमेय का उपमान के साथ निगरण पूर्वक अध्यवसान—की कल्पना नवीन जान पडती है। अतिशय की धारणा से रूपक (अभेदारोप) की धारणा को मिला कर इस अतिशयोक्ति-भेद की कल्पना की गयी है। इसलिए इसे रूपकातिशयोक्ति भी कहा जाता है। मम्मट के प्रतिवस्तूपमा तथा दृष्टान्त अलङ्कारो का स्वरूप उद्भट के तत्तदलङ्कारो के स्वरूप के समान है। दीपक प्राचीनतम अलङ्कारो मे एक है। मम्मट ने प्राचीन आचार्यो की दीपक-धारणा को ही स्वीकार किया है। तुल्ययोगिता का लक्षण-निरूपण उद्भट

के मतानुसार किया गया है। व्यतिरेक की धारणा भामह, उद्भट तथा रुद्रट की धारणा से मिलती-जुलती ही है। उद्भट और रुद्रट ने उपमान से उपमेय के आधिक्य-वर्णन मे तथा उपमेय से उपमान के आधिक्य-कथन मे व्यतिरेक अलङ्कार का सद्भाव स्वीकार किया था। इस प्रकार मम्मट के पूर्व व्यतिरेक के उक्त दो प्रकार प्रचलित थे। मम्मट ने केवल उपमान से उपमेय के अधिक्य-वर्णन मे ही व्यतिरेक माना है। उपमान मे उपमेय की अपेक्षा आधिक्य तो स्वीकृत ही रहता है, इसीलिए तो उपमेय की प्रभाव-वृद्धि के लिए उपमान से उसकी तुलना की जाती है। सम्भव है कि उपमान का आधिक्य स्वत सिद्ध होने के कारण मम्मट ने उपमानाधिक्य-रूप व्यतिरेक की कल्पना आवश्यक नही समझी हो। उन्होने उपमेय के आधिक्य-वर्णन की विभिन्न प्रक्रियाओ के आधार पर व्यतिरेक के चौबीस प्रकारो की कल्पना की है। आक्षेप के स्वरूप की कल्पना भामह और उद्भट के मतानुसार की गयी है। विभावना का प्रतिपादन भामह, उद्भट तथा रुद्रट की पद्धति पर किया गया है। आचार्य मम्मट की विशेपोक्ति उद्भट की विशेषोक्ति से अभिन्न है। यथासख्य और अर्थान्तरन्यास के स्वरूप का विवेचन करने मे मम्मट भामह, उद्भट तथा रुद्रट से सहमत है। विरोध की स्वरूप-कल्पना का आधार भामह तथा दण्डी की विरोध-धारणा है। दण्डी के 'काव्यादर्श' की 'कुसुमप्रतिमा'-टीका मे विरोध लक्षण की व्याख्या करते हुए टीकाकार ने कहा है कि इसमे वास्तविक अविरोध के होने पर भी विरोध-सा दिखाया जाता है। अत, इसे विरोध या विरोधाभास कहा जाता है।[1] मम्मट की धारणा इससे अभिन्न है। मम्मट ने स्वभावोक्ति की प्रकृति का निरूपण भी भामह, उद्भट और रुद्रट की धारणा के अनुरूप ही किया है। रुद्रट ने जाति व्यपदेश से जिस अलङ्कार का विवेचन किया है, वह मम्मट की स्वभावोक्ति से नाम्ना ही भिन्न है, प्रकृत्या अभिन्न है। मम्मट की व्याजस्तुति का स्वरूप भामह तथा उद्भट की व्याजस्तुति के स्वरूप से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। भामह और उद्भट ने निन्दामुखेन की जाने वाली स्तुति को व्याजस्तुति का लक्षण माना था। मम्मट ने इस लक्षण को तो स्वीकार किया ही, इसके वैपरीत्य के आधार पर आपातत: की जाने वाली स्तुति का तत्त्वत: निन्दा मे पर्यवसान होने के स्थल मे भी व्याजस्तुति अलङ्कार का सद्भाव स्वीकार

---

१. वास्तवविरोधाभावेऽपि विरोधप्रयोजकत्वात् विरोध. [विरोधाभास] इति नामालङ्कार: ।—काव्यादश, कुसुम प्र०, पृ० २५४

उस पर अनुकम्पा की जाय या उसकी निन्दा की जाय वहाँ प्रतीप अलङ्कार होता है।[१] उपमेय का वैशिष्ट्य-ख्यापन इस अलङ्कार मे मम्मट को भी अभिमत है। वे इसके लिए उपमेय के सद्भाव मे उपमान की व्यर्थता का प्रतिपादन तथा उपमान का तिरस्कार करने के लिए उपमेय के रूप मे उसकी कल्पना प्रतीप का लक्षण मानते है। मम्मट की यह प्रतीप-धारणा आचार्य दण्डी के विपर्यासोपमा के समान है। मम्मट के विशेष और तद्गुण अलङ्कार रुद्रट के एतत्सज्ञक अलङ्कारों से अभिन्न है। ससृष्टि और सङ्कर की धारणा प्राचीन है। भामह से लेकर रुद्रट तक एकाधिक अलङ्कारो के एकत्र सन्निवेश की दो प्रक्रियाओ—तिलतण्डुल न्याय से तथा नीरक्षीर न्याय से—पर ससृष्टि तथा सङ्कर सज्ञा से सविस्तर विवेचन हो चुका था। मम्मट ने दोनो की पृथक्-पृथक् सत्ता स्वीकार की तथा उनके प्राचीन लक्षण को ही स्वीकार किया।

स्पष्ट है कि उक्त अलङ्कारो के लक्षण-निरूपण मे मम्मट पर भामह, उद्भट तथा रुद्रट की अलङ्कार-धारणा का प्रभूत प्रभाव पडा है। भामह और उद्भट की अलङ्कार-धारणा बहुत कुछ समान है। अत मम्मट की धारणा पर पडने वाले प्रभाव की दृष्टि से उक्त दो आचार्यो की धारणा को एक सामान्य स्रोत माना जा सकता है। मम्मट को प्रभावित करने वाला दूसरा प्रबल स्रोत रुद्रट का 'काव्यालङ्कार' है।

कुछ पूर्व-प्रचलित अलङ्कारो को नाम्ना स्वीकार कर मम्मट ने कुछ नवीन रूप से उन्हे परिभाषित किया है। वे अलङ्कार है—(क) समुच्चय और (ख) व्याघात। इनकी स्वरूप-कल्पना का स्रोत अन्वेष्टव्य है।

समुच्चय

समुच्चय की प्रकृति की कल्पना का आधार आचार्य दण्डी की समुच्चयोपमा की धारणा है। मम्मट ने रुद्रट की समुच्चय-परिभाषाओं को दृष्टिगत रखते हुए प्रस्तुत अलङ्कार को कुछ भिन्न रूप से परिभाषित किया है। वे रुद्रट के 'सद्योग समुच्चय', 'असद्योग समुच्चय' तथा 'सदसद्योग समुच्चय' के पृथक्-पृथक् लक्षण को अस्वीकार कर एक ही व्यापक परिभाषा मे उन्हे आबद्ध करना चाहते थे। इसीलिए उन्होने यह कल्पना की कि जहाँ प्रस्तुत कार्य के एक साधक के रहने पर अन्य साधको के सद्भाव की भी कल्पना की

१. रुद्रट, काव्यालङ्कार, ८,७६

जाती है वहाँ समुच्चय अलङ्कार होता है।[१] स्पष्टत., कार्य के कारणो के समुच्चय के आधार पर इस अलङ्कार के स्वरूप की कल्पना की गयी है। मम्मट ने यह दावा किया है कि पूर्ववर्ती आचार्यो के समुच्चय के सद्योग, असद्योग आदि भेद इसी लक्षण मे समाविष्ट हो जाते है। उनके पृथक् लक्षण की कल्पना आवश्यक नही।[२] मम्मट ने गुण-क्रिया के युगपद् सद्भाव मे समुच्चय का दूसरा प्रकार माना है। इसकी कल्पना का आधार रुद्रट के समुच्चय का द्वितीय लक्षण है। उसकी ओर निर्देश करते हुए आचार्य मम्मट ने कहा है कि कुछ लोग केवल व्यधिकरण मे तथा कुछ केवल सामानाधिकरण्य मे क्रियाओ के समुच्चय मे प्रस्तुत अलङ्कार का सद्भाव मानते है, यह उचित नही। सामानाधिकरण्य तथा वैयधिकरण्य, दोनो मे क्रियाओ के समुच्चय के उदाहरण पाये जाते है।[३] सक्षेपत, मम्मट ने समुच्चय के द्वितीय लक्षण मे गुणो, क्रियाओ तथा गुण-क्रियाओ के एकदेश तथा भिन्न-देश मे समुच्चय पर बल दिया है।

व्याघात

रुद्रट के व्याघात का स्वरूप विशेपोक्ति अलङ्कार के स्वरूप से स्वतन्त्र सत्ता नही पा सका था। उनके अनुसार अन्य कारण से अप्रतिहत होने पर भी जहाँ कारण कार्य का उत्पादक नही हो सके, वहाँ कार्य का व्याघात होने से व्याघात अलङ्कार माना जाता है।[४] अप्रतिहत कारण के होने पर भी कार्य की अनुत्पत्ति को अलङ्कार-शास्त्र मे विशेपोक्ति की सज्ञा मिली है। इससे व्याघात के स्वरूप को स्वतन्त्र अस्तित्व देने के लिए आचार्य मम्मट ने यह कल्पना की है कि जहाँ कोई कर्त्ता जिस उपाय से जिस कार्य को सिद्ध करता है, उसी उपाय से यदि उसको जीतने की इच्छा से कोई दूसरा व्यक्ति कार्य को

---

१. तत्सिद्धिहेतावेकस्मिन् यत्रान्यत्तत्कर भवेत्।
समुच्चयोऽसौ··· ··।—मम्मट, काव्यप्र० १०, १७८ पृ० २७१

२. एष एव समुच्चयः सद्योगेऽसद्योगे च पर्यवस्यतीति न पृथक् लक्ष्यते ··।
—वही, वृत्ति पृ० २७२

३. इत्यादेश्च दर्शनात् व्यधिकरणे इति एकस्मिन् देशे इति च न वाच्यम्।
—वही, पृ० २७३

४. अन्यैरप्रतिहतमपि कारणमुत्पादन न कार्यस्य।
यस्मिन्नभिधीयेत व्याघातः स इति विज्ञेयः॥—रुद्रट, काव्यालं०, ९, ५२

अन्यथा सिद्ध कर देता है तो वहाँ व्याघात नामक अलङ्कार होता है।[१] प्रस्तुत व्याघात-परिभाषा मम्मट की स्वतन्त्र उद्भावना है। यह अलङ्कार नाम्ना प्राचीन; किन्तु प्रकृत्या नवीन है।

मम्मट के 'काव्य-प्रकाश' मे जिन चार अलङ्कारो का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकृत हुआ है, वे है—मालादीपक, विनोक्ति, सामान्य और अतद्गुण। अन्तिम तीन अलङ्कार नवीन है। इन अलङ्कारो की स्वरूप-कल्पना के आधार का अनुसन्धान प्रस्तुत सन्दर्भ मे किया जायगा।

मालादीपक

आचार्य मम्मट ने मालादीपक की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की है। इसकी परिभाषा मे कहा गया है कि जहाँ पूर्व-पूर्व वस्तु उत्तर-उत्तर वस्तु का उपकार करे, वहाँ मालादीपक अलङ्कार होता है।[२] उत्तर-उत्तर वस्तुओ को दीपित करने वाली पूर्ववर्ती वस्तुओ की इसमे माला रहती है। इसलिए इसे माला-दीपक कहा गया है। उत्तर-उत्तर वाक्यो का पूर्व-पूर्व वाक्यो की अपेक्षा रखने की कल्पना दण्डी ने मालादीपक मे की थी, पर उन्होने उसकी स्वतन्त्र सत्ता नही मान कर उसे दीपक का ही एक भेद माना था। मम्मट ने उसी मान्यता को स्वीकार कर दीपको की माला की कल्पना प्रस्तुत अलङ्कार मे की है। स्पष्ट है कि दण्डी के ही मतानुसार मालादीपक की कल्पना की गयी है। मम्मट ने इसकी गणना दीपक से स्वतन्त्र रूप मे की है।

विनोक्ति

मम्मट के अनुसार जहाँ अन्य वस्तु के विना अन्य वस्तु का (किसी एक वस्तु के अभाव मे दूसरी वस्तु का) सुन्दर होना या असुन्दर होना वर्णित हो, वहाँ विनोक्ति अलङ्कार होता है।[३] इस अलङ्कार के स्वरूप की कल्पना की प्रेरणा सहोक्ति के स्वरूप से मिली होगी। सहोक्ति मे एक वस्तु के साथ

---

१. यद्यथा साधित केनाप्यपरेण तदन्यथा।
तथैव यद्विधीयेत स व्याघात इति स्मृतः॥
—मम्मट, काव्यप्र०, १०, २०६ पृ० २९७

२. मालादीपकमाद्य चेद्यथोत्तरगुणावहम्।—वही, १०, १५७ पृ० २५४

३. विनोक्तिः सा विनाऽन्येन यत्रान्य. सन्न नेतरः।
—वही, १०, १७१ पृ० २६७

दूसरी वस्तु का वर्णन होता है। इसमे एक के अभाव मे दूसरे की स्थिति का वर्णन होता है।

सामान्य

विशेष के विपरीत सामान्य नामक नवीन अलङ्कार की कल्पना मम्मट ने की है। इसमे प्रस्तुत के गुण का अप्रस्तुत के साथ साम्य बताने के लिए ऐकात्म्य का निबन्धन किया जाता है अर्थात् दो वस्तुओ की समता के प्रतिपादन के लिए दोनो की एक-सी प्रतीति का वर्णन होता है।[१] दो वस्तुओ के वैशिष्ट्य के लुप्त हो जाने के कारण इसे सामान्य कहा जाता है।

अतद्गुण

अतद्गुण का स्वरूप तद्गुण के वैपरीत्य के रूप मे कल्पित है। मम्मट ने रुद्रट की तद्गुण-धारणा को स्वीकार कर उसके विपरीत अतद्गुण व्यपदेश से नवीन अलङ्कार की कल्पना कर ली।

उक्त विवेचन से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि मम्मट ने अधिकतर अलङ्कार-विषयक प्राचीन आचार्यों की मान्यता का ही विवेचन किया है।

कुछ अलङ्कारो के नवीन भेदों की भी कल्पना उन्होने की है; पर उसका आधार प्राचीन आलङ्कारिको की तत्तदलङ्कार-धारणा ही है।

जिन चार नवीन अलङ्कारो की कल्पना मम्मट ने की है, उनका मूल भी पूर्ववर्ती आचार्यों के विभिन्न अलङ्कारो के स्वभाव मे देखा जा सकता है। उदाहरणार्थ—मालादीपक के स्वरूप की कल्पना का आधार दीपक तथा माला-धारणा पर आधृत कारणमाला-जैसे अलङ्कार का स्वरूप है। विनोक्ति की कल्पना का आधार सहोक्ति को, सामान्य की कल्पना का आधार विशेष को तथा अतद्गुण की कल्पना का आधार तद्गुण को माना जा सकता है।

स्पष्टत, अलङ्कार के क्षेत्र मे नूतन उद्भावना की दृष्टि से मम्मट का महत्त्व अधिक नही है। विवेचन की प्रौढ़ता एवं प्राञ्जलता की ही दृष्टि से 'काव्यप्रकाश' के अलङ्कार खण्डो का महत्त्व है।



---

१ प्रस्तुतस्य यदन्येन गुणसाम्यविवक्षया।
ऐकात्म्य बध्यते योगात्तत्सामान्यमिति स्मृतम् ॥
—वही, १०, २०२ पृ० २६३

राजानक रुय्यक

भामह, उद्भट और रुद्रट के बाद काव्यालङ्कार-धारणा के विशदीकरण मे महनीय योग राजानक रुय्यक या रुचक ने दिया। उनका 'अलङ्कार-सूत्र' और उस पर 'अलङ्कार-सर्वस्व' नामक विवृति जो 'अलङ्कारसूत्र' के निर्णयसागर सस्करण के अनुसार मूल ग्रन्थकार के द्वारा ही रचित है, काव्य के अलङ्कारो के स्वरूप-विवेचन की स्पष्टता की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। [त्रिवेन्द्रम ग्रन्थमाला ने 'अलङ्कार-सर्वस्व' को रुय्यक के शिष्य मङ्खक की रचना माना है। उक्त विवृति के रचयिता का निर्णय प्रस्तुत पक्तियो के लेखक का प्रकृत विषय नही है।] अलङ्कार मीमासा के क्षेत्र मे रुय्यक का महत्त्व केवल पूर्ववर्ती आचार्यो के द्वारा प्रतिपादित अलङ्कारो को सूत्रबद्ध कर सरल रूप मे प्रस्तुत करने मे ही नही है, वरन् कुछ नवीन अलङ्कारो की स्वीकृति और उनके स्वरूप-निरूपण मे भी है। उनके द्वारा स्वीकृत प्राय. सभी अलङ्कार परवर्ती आचार्यो को मान्य हुए है। प्रस्तुत सन्दर्भ मे रुय्यक के द्वारा कल्पित नवीन अलङ्कारो का स्रोत-सन्धान अभिप्रेत है।

'अलङ्कार सूत्र' मे निम्नलिखित अलङ्कार उल्लिखित है—

(१) पुनरुक्तवदाभास, (२) छेकानुप्रास, (३) वृत्त्यनुप्रास, (४) यमक, (५) लाटानुप्रास, (६) चित्र, (७) उपमा, (८) अनन्वय, (९) उपमेयोपमा, (१०) स्मरण, (११) रूपक, (१२) परिणाम, (१३) सन्देह, (१४) भ्रान्तिमान्, (१५) उल्लेख, (१६) अपह्नुति, (१७) उत्प्रेक्षा, (१८) अतिशयोक्ति, (१९) तुल्ययोगिता, (२०) दीपक, (२१) प्रतिवस्तूपमा, (२२) दृष्टान्त, (२३) निदर्शना, (२४) व्यतिरेक, (२५) सहोक्ति, (२६) विनोक्ति, (२७) समासोक्ति, (२८) परिकर, (२९) श्लेष, (३०) अप्रस्तुतप्रशसा, (३१) अर्थान्तरन्यास, (३२) पर्यायोक्त, (३३) व्याजस्तुति, (३४) आक्षेप, (३५) विरोध, (३६) विभावना, (३७) विशेषोक्ति, (३८) अतिशयोक्ति, (३९) असङ्गति, (४०) विषम, (४१) सम, (४२) विचित्र, (४३) अधिक, (४४) अन्योन्य, (४५) विशेष, (४६) व्याघात, (४७) कारणमाला, (४८) एकावली, (४९) माला-दीपक, (५०) सार, (५१) काव्यलिङ्ग, (५२) अनुमान, (५३) यथासख्य, (५४) पर्याय, (५५) परिवृत्ति, (५६) परिसख्या, (५७) अर्थापत्ति, (५८) विकल्प, (५९) समुच्चय, (६०) समाधि, (६१) प्रत्यनीक, (६२) प्रतीप, (६३) निमीलित, (६४) सामान्य, (६५) तद्गुण, (६६) अतद्गुण, (६७)

उत्तर, (६८) सूक्ष्म, (६९) व्याजोक्ति, (७०) वक्रोक्ति, (७१) स्वभावोक्ति, (७२) भाविक, (७३) उदात्त, (७४) रसवत्, (७५) प्रेय, (७६), ऊर्जस्वी, (७७) समाहित, (७८) भावोदय (७९) भावसन्धि, (८०) भावशबलता (८१) ससृष्टि और (८२) सङ्कर।

कन्हैयालाल पोद्दार ने 'काव्यकल्पद्रुम' के प्राक्कथन मे लिखा है कि--'इस ग्रन्थ मे (रुय्यक के अलङ्कारसूत्र में) चौरासी अलङ्कार है।''[१] पोद्दारजी का यह कथन प्रमाण-पुष्ट नही है। उक्त बयासी अलङ्कारो मे अतिशयोक्ति के दो रूपो के आधार पर उसकी गणना दो बार की गयी है। दोनो की सख्या वस्तुत एक ही मानी जानी चाहिए। अत रुय्यक के अलङ्कारो की सख्या इक्यासी है।

राजानक रुय्यक ने श्लेष के शब्दगत तथा अर्थगत भेद की पृथक्-पृथक् विवेचना नही कर एक ही परिभाषा मे उन्हे परिभाषित किया है। उनके पूर्व शब्दश्लेष तथा अर्थश्लेष की पृथक्-पृथक् सत्ता स्वीकृत थी, किन्तु रुय्यक ने श्लेष का एक ही लक्षण देकर उसके शब्दगत, अर्थगत तथा उभय-गत, ये तीन भेद स्वीकार किये है। यमक आदि शब्दालङ्कारो तथा उपमा आदि अर्थालङ्कारो के भेदोपभेदो के जिस जाल की कल्पना पूर्ववर्ती आचार्यों ने की थी, उसके सरलीकरण की-प्रवृत्ति रुय्यक मे पायी जाती है।

रुय्यक के पूर्ववर्ती आचार्य मम्मट अपने समय तक अलङ्कार-शास्त्र के क्षेत्र मे होने वाले अलङ्कार के स्वरूप-निर्धारण-सम्बन्धी ऊहापोहों का सम्यक् परीक्षण कर निष्कर्ष-रूप मे जिन अलङ्कारो के स्वरूप की स्थापना कर चुके थे, उनमे से प्राय. सभी अलङ्कारों को रुय्यक ने यत्किञ्चित् परिष्कार के साथ स्वीकार कर लिया है। मम्मट के कुछ अलङ्कारो के लक्षण की समीक्षा भी रुय्यक ने की है, किन्तु ऐसे अलङ्कारो की सख्या नगण्य है। कुछ अलङ्कारो के भेदोपभेदो की कल्पना भी उन्होने स्वतन्त्र रूप से की है, पर अधिकाश अलङ्कारो के विषय मे मम्मट की धारणा को उन्होने यथावत् स्वीकार कर लिया है। अनेक अलङ्कारो के उदाहरण भी रुय्यक ने 'काव्य-प्रकाश' से ही लिये है। निम्नलिखित अलङ्कारो के सम्बन्ध मे मम्मट और रुय्यक की धारणा समान है:—चित्र, लाटानुप्रास, पुनरुक्तवदाभास, उपमा,

---

१. कन्हैयालाल पोद्दार, काव्यकल्पद्रुम, द्वितीय भाग, प्राक्कथन, पृ० २०

अनन्वय, उपमेयोपमा, स्मरण, रूपक, सन्देह, भ्रान्तिमान, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, सहोक्ति, विनोक्ति, समासोक्ति, परिकर, अप्रस्तुतप्रशसा, अर्थान्तरन्यास, पर्यायोक्त, व्याजस्तुति, आक्षेप, विरोध, विभावना, विशेपोक्ति, असङ्गति, सम, अन्योन्य, विशेष, व्याघात, कारणमाला, एकावली, सार, काव्यलिङ्ग, अनुमान, यथासख्य, पर्याय, परिवृत्ति, परिसख्या, समुच्चय, समाधि, प्रत्यनीक, प्रतीप, निमीलित, या मीलित, सामान्य, तद्गुण, अतद्गुण, उत्तर, सूक्ष्म, व्याजोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक, उदात्त, ससृष्टि और सङ्कर। सम, परिसख्या, सूक्ष्म आदि अलङ्कारो के उदाहरण भी रुय्यक ने 'काव्यप्रकाश' से ही लिये है।

यमक, छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, अतिशयोक्ति, विषम तथा अधिक के सम्बन्ध मे रुय्यक की धारणा मम्मट से मिलती-जुलती ही है। यमक के जो तीन भेद—दोनो पदो की सार्थकता, दोनो की निरर्थकता तथा एक की सार्थकता एव एक की निरर्थकता के आधार पर—रुय्यक ने स्वीकार किये है, उन भेदो की सम्भावना मम्मट के यमक-लक्षण मे 'अर्थे सति' कथन मे ही थी। मम्मट इस आधार पर भेद-कल्पना को समीचीन नही मानते थे। रुय्यक की अतिशयोक्ति का सामान्य स्वरूप मम्मट की अतिशयोक्ति से भिन्न नही। इसमे उपमान के द्वारा उपमेय का निगरणपूर्वक अध्यवसान तथा कार्य और कारण के पौर्वापर्य का व्यतिक्रम दोनो आचार्यो को अभीष्ट है। रुय्यक ने मम्मट के 'प्रस्तुतस्य अन्यत्व' के स्थान पर भेद मे अभेद, अभेद में भेद, सम्बन्ध मे असम्बन्ध तथा असम्बन्ध मे सम्बन्ध—इन चार अतिशयोक्ति-प्रकारो की कल्पना की है। भेद मे अभेद तथा अभेद मे भेद की कल्पना उद्भट से ली गयी है। उपमेय के अन्यत्व-प्रकल्पन-रूप अतिशयोक्ति का जो उदाहरण आचार्य मम्मट के 'काव्यप्रकाश' मे दिया गया है उसमे अभेद मे भेद दिखाया गया है। अन्य प्रभेद-कल्पना का अवकाश भी मम्मट के उक्त लक्षण मे ही था। मम्मट के विषम के चार भेदो मे से तीन को ही रुय्यक ने स्वीकार किया है। वे है—विरूप-कार्य की उत्पत्ति, अनर्थ की उत्पत्ति तथा विरूप की घटना। विषम के सामान्य स्वरूप के सम्बन्ध मे रुय्यक की धारणा मम्मट की धारणा से अभिन्न है। अधिक के स्वरूप की कल्पना रुय्यक ने मम्मट से कुछ स्वतन्त्र रूप से की है, यद्यपि दोनो के अधिक-लक्षण का स्रोत समान रूप से रुद्रट का द्वितीय अधिक-लक्षण है। रुद्रट की धारणा थी कि महान आधार मे स्थित अल्प आधेय भी यदि आधार से

(उत्कर्ष मे) बढा-चढा वर्णित हो तो अधिक अलङ्कार होता है।[1] बढा-चढा या अधिक उत्कर्षशाली होने (अतिरिच्येत) का अर्थ अधिक होना मान कर मम्मट ने अधिक का यह लक्षण दिया कि यदि महत् आधार से आधेय का महत्तर होना अथवा महत् आधेय से आधार का महत्तर होना (तत्वत उनके अल्प होने पर भी) वर्णित हो तो अधिक अलङ्कार होता है।[2] रुय्यक ने रुद्रट की अधिक परिभाषा के 'तनीयोऽपि अतिरिच्यते' की स्वमत से व्याख्या कर यह लक्षण दिया कि आश्रय की विपुलता मे आश्रित की परिमिति तथा आश्रित की विपुलता मे आश्रय की परिमिति के वर्णन से उत्पन्न चारुता मे प्रस्तुत अलङ्कार होता है।[3] इस अलङ्कार मे आश्रय तथा आश्रित की अननुरूपता रुद्रट, मम्मट तथा रुय्यक को समान रूप से इष्ट है।

रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वी, समाहित, भावोदय, भावसन्धि तथा भावशबलता अलङ्कारो के जिन स्वरूपो की कल्पना रुय्यक के 'अलङ्कार-सूत्र' मे की गयी है, वे नवीन नही है। भावोदय, भावसन्धि एव भावशबलता के स्वरूप का विवेचन मम्मट ने रसादि ध्वनि-निरूपण के क्रम मे किया था। 'रसादि' पद से उन्होने रस के साथ रसाभास, भाव, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि तथा भावशबलता को ग्रहण किया था। उन्होने स्पष्ट शब्दो मे कहा है कि जहाँ ये रसादि प्रधान रहते है वहाँ वे अलङ्कार्य होते है, किन्तु जहाँ वाक्यार्थ की प्रधानता रहती है और रस आदि उसके अङ्ग होकर आते है वहाँ व्यङ्ग्यार्थ के गौण हो जाने के कारण रस, भाव, रसाभास, भावाभास तथा भावशान्ति आदि का पर्यवसान क्रमश रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वी तथा समाहित आदि अलङ्कार के रूप मे होता है।[4] यह ध्यातव्य है कि मम्मट ने

---

१. यत्राधारे सुमहत्याधेयमवस्थितं तनीयोऽपि।
अतिरिच्येत कथञ्चित्तदधिकमपरं परिज्ञेयम्॥
—रुद्रट, काव्यालङ्कार, ९, २८

२. महतोर्यन्महीयासावाश्रिताश्रययोः क्रमात्।
आश्रयाश्रयिणौ स्याता तनुत्वेऽप्यधिक तु तत्॥
—मम्मट, काव्यप्रकाश, १०, १२८

३. आश्रयाश्रयिणोरनानुरूप्यमधिकम्।—रुय्यक, काव्यालङ्कार सूत्र ४८ तथा तच्चानानुरूप्यमाश्रयस्य वैपुल्येऽप्याश्रितस्य परिमितत्वाद् वा आश्रितस्य वैपुल्येऽप्याश्रयस्य परिमितत्वाद् वा स्यात्।
—वही वृत्ति, पृ० १६६

४. द्रष्टव्य—मम्मट, काव्यप्रकाश, ४, ४२ तथा उसकी वृत्ति, पृ० ३४

इस सन्दर्भ मे अलङ्कार शब्द का प्रयोग सामान्य अर्थ मे ही किया है, काव्यालङ्कार के विशेष अर्थ मे नही। इसीलिए उन्होने रसादि के गुणीभूत स्वरूप को अलङ्कार कहने पर भी उनका विवेचन अलङ्कार-निरूपण के सन्दर्भ मे नही कर गुणीभूतव्यङ्ग्य के अपराङ्ग-भेद के विवेचन-क्रम मे किया है। अलङ्कार-सम्प्रदाय के आचार्यो ने रस आदि को भी अलङ्कार-विशेष की सीमा मे आबद्ध करने का यत्न किया है। रुय्यक अलङ्कारवाद के प्रबल समर्थक थे। अत उन्होने रस, भाव आदि के निबन्धन मे रसवत्, प्रेय आदि अलङ्कारो की सत्ता स्वीकार कर ली। ध्वनि-प्रस्थान की स्थापना के पूर्व भामह, दण्डी, उद्भट आदि ने भी रसपेशल वाक्य मे रसादि अलङ्कार का सद्भाव माना था। उद्भट ने रस के निबन्धन मे रसवत्, भाव-निबन्धन मे प्रेय, रसाभास तथा भावाभास-निबन्धन मे ऊर्जस्वी एव रस-भाव आदि की शान्ति के निबन्धन मे समाहित अलङ्कार का सद्भाव माना था। रुय्यक की धारणा इससे अभिन्न है। भावोदय, भावसन्धि तथा भावशबलता के स्वरूप के सम्बन्ध मे रुय्यक की धारणा मम्मट की धारणा के ही समान है। रुय्यक के प्रेय, ऊर्जस्वी तथा समाहित का भामह के इन्ही नाम वाले अलङ्कारो से सम्बन्ध नही है।

व्यतिरेक अलङ्कार के सम्बन्ध मे रुय्यक की धारणा उद्भट आदि प्राचीन आचार्यो की धारणा के समान है। मम्मट से पूर्व उपमान की अपेक्षा उपमेय के आधिक्य-रूप व्यतिरेक के साथ उपमेय के हीनत्व-रूप व्यतिरेक की भी सत्ता स्वीकृत थी। मम्मट ने उसका केवल प्रथम रूप स्वीकार किया था। रुय्यक ने व्यतिरेक के उक्त दोनो रूप स्वीकार किये है।[1]

श्लेष अलङ्कार की सामान्य धारणा प्राचीन आचार्यो की धारणा के समान है। मम्मट के काल तक श्लेष के दो भेद—शब्दश्लेष तथा अर्थश्लेष—स्थापित हो चुके थे। रुय्यक ने दोनो को मिला कर एक शब्दार्थोभयगत श्लेष-भेद की भी कल्पना कर ली है। अपने पूर्ववर्ती आचार्यो की तरह शब्दश्लेष तथा अर्थश्लेष का पृथक्-पृथक् लक्षण-निरूपण नही कर रुय्यक ने श्लेष का एक सामान्य लक्षण देकर उक्त तीन भेदो का स्पष्टीकरण किया है।[2] यदि अलङ्कार सर्वस्व को रुय्यक-कृत नही माना जाय, जैसा कि कुछ विद्वानो का मत है, तो उक्त भेद-कल्पना के श्रेय के भागी वृत्तिकार (मङ्खुक ?) होगे।

---

१. भेदप्राधान्य उपमानादुपमेयस्याधिक्ये विपर्यये वा व्यतिरेकः।
—रुय्यक, अलङ्कारसूत्र २८, उद्भट का काव्यालङ्कार, २,११ भी द्रष्टव्य

२. विशेष्यस्यापि साम्ये द्वयोर्वोपादाने श्लेष.। रुय्यक, अलङ्कार सूत्र, ३३।

रुय्यक ने निदर्शना को किञ्चित् नवीन रूप से परिभाषित किया है, यद्यपि उक्त अलङ्कार के सम्बन्ध मे उनकी मान्यता मूलत प्राचीन आचार्यो से बहुत भिन्न नही है। भामह ने सादृश्य के वाचक पद के बिना केवल क्रिया से विशिष्ट अर्थ का प्रदर्शन निदर्शना का लक्षण माना था। उनके अनुमार इसमे सादृश्य व्यङ्ग्य रहता है।[१] उद्भट आदि ने वस्तु सम्बन्ध के असम्भव या सम्भव होने पर उपमा मे उसके पर्यवसान मे निदर्शना का सद्भाव माना था।[२] रुय्यक ने वस्तु सम्बन्ध के असम्भव या सम्भव होने पर गम्यमान वस्तु के साथ उसके (प्रस्तुत वस्तु के) बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव की कल्पना मे उक्त अलङ्कार माना है।[3] इस प्रकार प्राचीनो के उपमानोपमेयभाव मे पर्यवसान की कल्पना के स्थान पर बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव की कल्पना-मात्र नवीन है। बिम्व-प्रतिविम्ब की कल्पना दृष्टान्त से ली गयी है। रुय्यक की निदर्शना का दृष्टान्त से यह भेद है कि दृष्टान्त मे परस्पर निरपेक्ष वाक्यार्थों का बिम्ब-प्रतिबिम्ब सम्बन्ध होता है और निदर्शना मे प्रकृत वाक्यार्थ पर ही अन्य वाक्यार्थ का आरोप हो जाता है। इस प्रकार प्रस्तुत अलङ्कार मे प्रकृत तथा गम्यमान अर्थ मे विम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव सम्बन्ध दिखाया जाता है। रुय्यक की निदर्शना-धारणा भामह तथा उद्भट ; दोनो की धारणा से प्रभावित है।

रुय्यक के मालादीपक अलङ्कार का स्वरूप पूर्ववर्ती आचार्यो के माला-दीपक के स्वरूप से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है। आचार्य दण्डी ने दीपक के माला-भेद के सम्बन्ध मे यह मान्यता प्रकट की थी कि इसमे उत्तर-उत्तर स्थित वाक्य अपने-अपने पूर्ववर्ती वाक्य की अपेक्षा रखते है।[४] मम्मट ने इसी धारणा को व्यक्त करने के लिए कहा था कि मालादीपक मे पूर्व-पूर्व स्थित वाक्य अपने-अपने उत्तरवर्ती वाक्य का उपकार करते है।[५] उत्तरवर्ती वाक्यो का पूर्ववर्ती वाक्यो की अपेक्षा रखने मे तथा उनसे उपकृत होने मे कोई मौलिक भेद नही है। मम्मट ने उपकारकारक के अर्थ मे मालादीपक की

---

१. क्रिययैव विशिष्टस्य तदर्थस्योपदर्शनात्।
ज्ञेया निदर्शना नाम यथेववतिभिर्विना॥—भामह, काव्यालङ्कार, ३, ३३

२ उद्भट, काव्यालङ्कार, ५, ३१

३. सम्भवतासम्भवता वा वस्तुसम्बन्धेन गम्यमानं प्रतिबिम्बकरणं निदर्शना।
—रुय्यक, अलङ्कारसूत्र, २७

४. दण्डी, काव्यादर्श, २, १०८

५. मम्मट, काव्यप्रकाश, १०, १५७ पृ० २५४

लक्षण-कारिका मे 'गुणावह' शब्द का प्रयोग किया था। 'गुणावह' का 'उपकारक' अर्थ उन्हे अभीष्ट था, यह उस कारिका की वृत्ति से स्पष्ट है। रुय्यक ने मालादीपक का लक्षण मम्मट के ही मतानुसार दिया है। 'अलङ्कार सर्वस्व' मे सूत्र मे प्रयुक्त 'गुणावह' का अर्थ उत्कर्षकारक मान कर यह अर्थ किया गया है कि जहाँ पूर्व-पूर्व स्थित वाक्य से उत्तर-उत्तर मे स्थित वाक्य के उत्कर्ष का निबन्धन हो, वहाँ मालादीपक अलङ्कार होता है।[1] स्पष्ट है कि प्रस्तुत अलङ्कार के सम्बन्ध मे रुय्यक की मान्यता मम्मट की मान्यता से अभिन्न है। रुय्यक ने मम्मट के मतानुसार इसे परिभाषित किया, इसका एक प्रमाण यह भी है कि उस परिभाषा के स्पष्टीकरण के लिए मालादीपक के 'काव्यप्रकाश' मे उद्धृत उदाहरण का ही उपयोग किया गया है।

रुय्यक के 'अलङ्कार सूत्र' मे जिन नवीन अलङ्कारो का विवेचन हुआ है, उनके उद्गम-स्रोत की समीक्षा प्रस्तुत सन्दर्भ मे अपेक्षित है। रुय्यक ने निम्नलिखित नवीन अलङ्कारो का उल्लेख किया है—(१) परिणाम, (२) उल्लेख, (३) विचित्र, (४) अथपत्ति और (५) विकल्प।

परिणाम

परिणाम रुय्यक की नवीन कल्पना है। जहाँ आरोप्यमाण का प्रकृत के रूप मे उपयोग हो, वहाँ रुय्यक के अनुसार परिणाम नामक अलङ्कार होता है। इसका स्वरूप रूपक से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। दोनो मे प्रमुख भेद यह है कि रूपक मे केवल प्रकृत पर अप्रकृत का आरोप होता है, पर परिणाम मे आरोप के साथ ही आरोप्यमाण का प्रकृत मे उपयोग भी दिखाया जाता है। इसमे समासोक्ति की तरह अप्रकृत के व्यवहार का प्रकृत पर आरोप होने की धारणा व्यक्त की गयी है। अप्रकृत की प्रकृतार्थ मे उपयोगिता की धारणा नवीन है।

उल्लेख

रुय्यक का उल्लेख नाम्ना नवीन, किन्तु स्वरूपतया प्राचीन है। इसका स्वरूप आचार्य दण्डी के रूपक-भेद 'हेतुरूपक' के समान है। दण्डी ने हेतुरूपक का जो उदाहरण दिया है, उसमे रुय्यक का उल्लेख-लक्षण घटित

---

१. पूर्वपूर्वस्य तूत्तरोत्तर प्रत्युत्कर्षनिबन्धनत्वे मालादीपकम्।
—रुय्यक, अल० सूत्र, अल० सर्वस्व, पृ० १७८

होता है। दण्डी के अनुसार इस रूपक-प्रकार मे विषय पर आरोप्यमाण के हेतु का कथन होता है।[१] रुय्यक ने भी उल्लेख मे एक वस्तु के अनेक रूप मे ग्रहण करने के हेतु के निर्देश पर बल दिया है।[२] स्पष्ट है कि प्रस्तुत अलङ्कार की स्वरूप-कल्पना का उत्स 'हेतुरूपक' है।

विचित्र

रुय्यक की मान्यता है कि जहाँ विपरीत कार्य के लिए अर्थात् इष्ट-विरोधी फल के लिए यत्न दिखाया जाता हो, वहाँ विचित्र नामक अलङ्कार होता है।[३] विषम से इसका यह भेद बताया गया है कि विषम मे स्वतः अभीष्ट से विपरीत फल हो जाता है, पर इसमे अभीप्सित फल से विपरीत फल के लिए यत्न किया जाता है।[४] विचित्र रुय्यक की मौलिक उद्भावना है।

अर्थापत्ति

अलङ्कार के क्षेत्र मे अर्थापत्ति की अवतारणा सर्वप्रथम रुय्यक के 'अलङ्कार-सूत्र' मे हुई; किन्तु इसके स्वरूप को रुय्यक की उद्भावना नही माना जा सकता। रुय्यक ने स्वय यह स्वीकार किया है कि यह (अर्थापत्ति) वाक्यविदो का न्याय है।[५] एक के कथन से दूसरे का स्वत सिद्ध होना, जिसे दण्डापूपन्याय से स्पष्ट किया गया है, अर्थापत्ति है। शब्दशास्त्र की इस प्राचीन-धारणा को ही रुय्यक ने अलङ्कार के रूप मे स्वीकार किया है। आचार्य भरत ने अर्थापत्ति नामक लक्षण का उल्लेख किया था।[६] स्पष्ट है

---

१. दण्डी, काव्यादर्श, २,८५-८६। काव्यादर्श की कुसुमप्रतिमा टीका मे कहा गया है कि दण्डी के उक्त हेतुरूपक के उदाहरण मे विश्वनाथ आदि परवर्ती आचार्य उल्लेख अलङ्कार मानते है। द्रष्टव्य पृ० ११८

२. एकस्यापि निमित्तवशादनेकधा ग्रहण उल्लेखः।

—रुय्यक, अलङ्कारसूत्र, १९

३. स्वविपरीतफलनिष्पत्तये प्रयत्नो विचित्रम्।—वही, ४७

४. द्रष्टव्य—वही, समुद्रबन्धकृत टीका, पृ० १६५

५. दण्डापूपिकयार्थान्तरापतनमर्थापत्तिः।—रुय्यक, अलङ्कारसूत्र, ६३

६. अर्थान्तरस्य कथने यत्राऽन्योऽर्थः प्रतीयते।
वाक्यमाधुर्यसम्पन्ना सार्थापत्तिरुदाहृता॥

—भरत, नाट्यशास्त्र, १६,३२ (अनुबन्ध)

कि 'अलङ्कार-सूत्र' मे उल्लिखित अर्थापत्ति का नाम-रूप प्राचीन है, अलङ्कार के रूप मे उसकी स्वीकृति-मात्र नवीन।

विकल्प

विकल्प की धारणा भी प्राचीन है, किन्तु अलङ्कार के रूप मे उसकी स्वीकृति नवीन। समान बलशाली परस्पर विरोधी पदार्थो की युगपत् प्राप्ति मे विकल्प की स्थिति आती है। रुय्यक ने विकल्प का यही स्वरूप स्वीकार किया है।[१] साधारण विकल्प से विकल्प अलङ्कार का कुछ स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध करने के लिए रुय्यक ने इस अलङ्कार को औपम्य-गर्भ माना है।[२] स्पष्टतः, विकल्प की पूर्व-निर्धारित मान्यता के साथ उपमा-धारणा के योग से प्रस्तुत अलङ्कार का स्वरूप निर्मित है।

रुय्यक की अलङ्कार-धारणा के उक्त विवेचन से प्राप्त निष्कर्ष निम्नलिखित है :—

(क) अलङ्कारो की स्वरूप-मीमासा मे रुय्यक बहुलाशत. मम्मट से सहमत है।

(ख) अलङ्कार-विशेष के भेदोपभेदो के अधिकाधिक सरलीकरण का प्रयास रुय्यक ने किया है।

(ग) अलङ्कारो के लक्षण को सरल सूत्रो मे आबद्ध करना रुय्यक की विशेषता है।

(घ) परिणाम, उल्लेख, विचित्र, अर्थापत्ति तथा विकल्प—इन पाँच नवीन अलङ्कारो का उल्लेख रुय्यक ने किया है। इनमे से उल्लेख की कल्पना दण्डी के 'हेतुरूपक' के आधार पर की गयी है। अर्थापत्ति तथा विकल्प के सम्बन्ध मे पूर्वप्रचलित मान्यता को ही स्वीकार कर रुय्यक ने काव्य के अलङ्कार के रूप मे उनकी कल्पना कर ली। परिणाम का स्वरूप अशत रूपक के समान होने पर भी अशत रुय्यक के द्वारा कल्पित है। उसकी कल्पना का श्रेय—आशिक ही सही—रुय्यक को अवश्य है। विचित्र रुय्यक की मौलिक उद्भावना है।

---

१ तुल्यबलविरोधो विकल्पः।—रुय्यक, अलङ्कार-सूत्र, ६४

२. औपम्यगर्भत्वाच्चात्र चारुत्वम्।—अलङ्कार-सर्वस्व पृ० १९६

(ङ) अलङ्कार प्रस्थान के अनुयायी होने के कारण रुय्यक ने उद्भट आदि की तरह रस, भाव, तदाभास आदि के निबन्ध मे रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वी आदि अलङ्कार का सद्भाव स्वीकार किया है।



हेमचन्द्र

जैन आचार्य हेमचन्द्र ने अपने 'काव्यानुशासन' मे छह शब्दालङ्कारो तथा उनतीस अर्थालङ्कारो का विवेचन किया है। पूर्वप्रतिपादित अलङ्कारो मे से अनेक को अस्वीकार कर उक्त परिमित सख्या को स्वीकार करने मे कोई युक्ति नही है। हेमचन्द्र के पूर्व अलङ्कारो को सख्या-परिमिति का प्रयास वामन तथा कुन्तक ने भी किया था। उनके उस आयास के पीछे उनका मौलिक दृष्टि-कोण स्पष्ट था। केवल उपमामूलक अलङ्कारो का अस्तित्व स्वीकार कर उन्होने शेष का अलङ्कारत्व अस्वीकार कर दिया था। हेमचन्द्र की अलङ्कार मीमासा के क्षेत्र मे इस प्रकार की कोई नवीन स्थापना या स्वतन्त्र दृष्टि नही है। अलङ्कार के सामान्य स्वरूप तथा काव्य मे उसके स्थान-निरूपण की दृष्टि से वे आचार्य मम्मट के अनुयायी है। मम्मट का 'काव्यप्रकाश' ही हेमचन्द्र के 'काव्यानुशासन' का आकर-ग्रन्थ है। फिर भी मम्मट के बासठ अर्थालङ्कारो मे से केवल उनतीस की ही सत्ता हेमचन्द्र को मान्य है। काव्यशास्त्र मे नूतन सिद्धान्त की स्थापना की दृष्टि से हेमचन्द्र का कोई योगदान नही है। पूर्व प्रचलित काव्य-सिद्धान्तो का आकलन ही उनका उद्देश्य रहा है। प्रस्तुत सन्दर्भ मे हम उनके द्वारा विवेचित अलङ्कारो के स्वरूप का पूर्ववर्ती आचार्यो के अलङ्कारो से साम्य-वैषम्य की दृष्टि से परीक्षण करेगे।

हेमचन्द्र के 'काव्यानुशासन' मे निम्नलिखित अलङ्कारो का लक्षण-निरूपण किया गया है—

शब्दालङ्कार—(१) अनुप्रास, (२) यमक, (३) चित्र, (४) श्लेष, (५) वक्रोक्ति और (६) पुनरुक्ताभास।

अर्थालङ्कार—(१) उपमा, (२) उत्प्रेक्षा, (३) रूपक, (४) निदर्शन, (५) दीपक, (६) अन्योक्ति, (७) पर्यायोक्ति, (८) अतिशयोक्ति, (९) आक्षेप, (१०) विरोध, (११) सहोक्ति, (१२) समासोक्ति, (१३) जाति, (१४) व्याजस्तुति, (१५) श्लेष, (१६) व्यतिरेक, (१७) अर्थान्तरन्यास,

(१८) ससन्देह, (१९) अपह्नुति, (२०) परावृत्ति, (२१) अनुमान, (२२) स्मृति, (२३) भ्रान्ति, (२४) विषम, (२५) सम, (२६) समुच्चय, (२७) परिसख्या, (२८) कारणमाला तथा (२९) सङ्कर।

अनुप्रास की सामान्य धारणा मम्मट से अभिन्न है। हेमचन्द्र ने यद्यपि छेकानुप्रास तथा वृत्यनुप्रास, इन दो अनुप्रास भेदो का मम्मट की तरह नाम्ना निर्देश नही किया है तथापि उक्त भेदो की स्वीकृति स्पष्ट है। उन्होने एक की असकृत् आवृत्ति तथा अनेक की सकृत् और असकृत् आवृत्ति के उदाहरण दिये है। मम्मट ने एक या अनेक व्यञ्जन की असकृदावृत्ति को वृत्यनुप्रास तथा अनेक व्यञ्जन की सकृत् अर्थात् एक बार आवृत्ति को छेकानुप्रास नाम से अभिहित किया था। तात्पर्य-भेदसे समानार्थक पद की आवृत्ति मे मम्मट के मतानुसार हेमचन्द्र ने भी लाटानुप्रास अलङ्कार माना है। हेमचन्द्र लाटानुप्रास की गणना अनुप्रास से पृथक् करना समीचीन नही समझते। वे उसे अनुप्रास का ही भेद मानते है। अनुप्रास के वर्णावृत्ति या व्यञ्जनावृत्ति-लक्षण की व्याप्ति पदावृत्ति रूप लाटानुप्रास मे नही होने के कारण ही कुछ आचार्यो को लाटानुप्रास का अनुप्रास से स्वतन्त्र रूप से उल्लेख करने की आवश्यकता जान पडी होगी। वस्तुत छेक, वृत्ति आदि की तरह लाट को भी अनुप्रास का भेद-मात्र ही स्वीकार करना चाहिए। अनुप्रास का सामान्य लक्षण इतना व्यापक होना चाहिए कि लाटानुप्रास के स्वरूप मे उसका व्यभिचार नही हो। अस्तु, यहाँ इतना ही निर्देश अभीष्ट है कि हेमचन्द्र की अनुप्रास-धारणा मम्मट की धारणा मे अभिन्न है। हेमचन्द्र ने यमक का स्वरूप-निरूपण भी मम्मट के ही मतानुसार किया है।

चित्र-अलङ्कार के विवेचन मे हेमचन्द्र ने मम्मट के मत को तो स्वीकार किया ही है, उसके सम्बन्ध मे दण्डी आदि की मान्यता को भी ग्रहण किया है। आकार-चित्र की धारणा मम्मट से ली गयी है, पर स्वरादि के नियम से सम्बद्ध चित्र तथा च्युत, गूढ आदि चित्र-प्रकार की धारणा दण्डी तथा रुद्रट से गृहीत है। दण्डी ने यमक-प्रपञ्च के विवेचन-क्रम मे स्वर-व्यञ्जन के नियम के अनेक भेदो का उल्लेख किया था और विस्मयजनक होने के कारण उन्हे चित्र कहा था। रुद्रट ने खड्गादि आकृति-बद्ध चित्र का विवेचन करने के उपरान्त च्युतक, गूढ आदि का निर्देश किया था और उन्हे बौद्धिक क्रीडा-मात्र मे उपयोगी कहा था।[1] हेमचन्द्र ने चित्र अलङ्कार-विषयक उक्त

१. द्रष्टव्य—रुद्रट, काव्यालङ्कार, ५, २४

मान्यताओ को मिलाकर चित्र की परिभाषा दी है ।[१] हेमचन्द्र की शब्दश्लेष-धारणा मम्मट की धारणा से भिन्न नही ।

वक्रोक्ति के दो भेद मम्मट ने स्वीकार किये थे :—श्लेष और काकु । हेमचन्द्र ने उनमे से केवल श्लेष-वक्रोक्ति का अलङ्कारत्व स्वीकार किया है । काकु को वे राजशेखर की तरह पाठधर्म मानते है, अलङ्कार नही ।[२] उनकी श्लेष-वक्रोक्ति का स्वरूप मम्मट की श्लेष-वक्रोक्ति से अभिन्न है । हेमचन्द्र ने मम्मट के पुनरुक्तवदाभास को पुनरुक्ताभास कहा है । उसके लक्षण-निरूपण मे वे मम्मट से पूर्णत सहमत है । स्पष्ट है कि हेमचन्द्र की शब्दालङ्कार-धारणा पर मम्मट की धारणा का पुष्कल प्रभाव है । शब्दगत अलङ्कार के क्षेत्र मे हेमचन्द्र ने कोई नूतन उद्‌भावना नही की है ।

उपमा

उपमा-अलङ्कार के सम्बन्ध मे प्राचीन धारणा को ही हेमचन्द्र ने स्वीकार किया है । मम्मट की पद्धति पर उन्होने प्रस्तुत अलङ्कार के भेदोपभेदो का विवेचन किया है । उन्होने रुद्रट के रशनोपमा-भेद को भी स्वीकार किया है । मालोपमा के साथ उपमेयोपमा तथा अनन्वय को भी हेमचन्द्र ने उपमा का ही भेद माना है । रुद्रट ने भी उभयोपमा या उपमेयोपमा तथा अनन्वय की स्वतन्त्र सत्ता नही मान कर उपमा-भेद के रूप मे ही उनका विवेचन किया था । मम्मट ने इन अलङ्कारो का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार किया है । स्पष्टत· हेमचन्द्र की मान्यता रुद्रट की मान्यता के अधिक निकट है । हेमचन्द्र ने उपमा-लक्षण मे साधर्म्य के साथ 'हृद्य' विशेषण का प्रयोग किया है । यह वस्तुत कोई नवीन स्थापना नही है । अलङ्कार-मात्र के मूल मे हृदयावर्जक होने की भावना निहित है ।

उत्प्रेक्षा तथा रूपक के सम्बन्ध मे हेमचन्द्र की मान्यता पूर्ववर्ती आचार्यो की मान्यता से अभिन्न है ।

निदर्शना के लक्षण-निरूपण मे हेमचन्द्र ने पूर्ववर्ती आचार्यों के दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास एव निदर्शना अलङ्कारो की धारणा को मिला-जुला कर खिचडी पका दी है । इस प्रकार वे इष्टार्थ की सिद्धि के लिए दृष्टान्त के निर्देश मे

---

१ स्वरव्यञ्जनस्थानगत्याकारनियमच्युतगूढादि चित्रम् ।
—हेमचन्द्र, काव्यानुशासन ५, पृ० २५७

२. अर्थभेदभिन्नाना भङ्गाभङ्गाभ्या युगपदुक्तिः श्लेषः ।—वही, ५, पृ० २७२

निदर्शना अलङ्कार मानते है।[1] सामान्य से विशेष के समर्थन को तो वे अर्थान्तरन्यास कहते हे, पर विशेष से विशेष एव सामान्य के समर्थन को निदर्शना।[2] उक्त अलङ्कारो के स्वरूप को मिला देने के कारण ही हेमचन्द्र इससे पृथक् दृष्टान्त की सत्ता नही मानते। भामह और दण्डी ने भी दृष्टान्त की सत्ता नही मानी थी। हेमचन्द्र ने निदर्शना के जो उदाहरण दिये है, उनमे 'देवीभाव गमिता 'आदि श्लोक वस्तुत प्रतिवस्तूपमा का तथा 'क्व सूर्यप्रभवो वश · ·' आदि श्लोक निदर्शना का उदाहरण है। उक्त दो अलङ्कारो के पृथक्-पृथक् अस्तित्व की स्थापना हो जाने के उपरान्त उनके वैशिष्ट्य के विगलन तथा एकीकरण मे कोई सबल युक्ति नही दी गयी है।

दीपक, अन्योक्ति तथा पर्यायोक्त के सम्बन्ध मे हेमचन्द्र ने आचार्य मम्मट की धारणा को यथावत् स्वीकार कर लिया है। हेमचन्द्र की अन्योक्ति मम्मट की अप्रस्तुत-प्रशसा की ही अपर सज्ञा है।

अतिशयोक्ति की सामान्य-धारणा मम्मट आदि से ही ली गयी है। इसके भेदो की विवेचना मे हेमचन्द्र ने अपने पूर्ववर्ती आचार्य रुय्यक की मान्यता को स्वीकार किया है। मम्मट के भेद मे अभेद तथा अभेद मे भेद, इन दो अतिशयोक्ति-प्रकारो के साथ रुय्यक ने दो और प्रकारो की—सम्बन्ध मे असम्बन्ध तथा असम्बन्ध मे सम्बन्ध—की कल्पना की थी। हेमचन्द्र ने उक्त चारो अतिशयोक्ति-भेदो को स्वीकार किया हे।

आक्षेप, विरोध या विरोधाभास, सहोक्ति, समासोक्ति, जाति या स्वभावोक्ति, व्याजस्तुति, श्लेष तथा व्यतिरेक के विषय मे हेमचन्द्र की मान्यता मम्मट की मान्यता से अभिन्न है। जाति स्वभावोक्ति का पर्याय है।

आचार्य मम्मट की अर्थान्तरन्यास-परिभाषा को हेमचन्द्र ने अशत ही स्वीकार किया है। मम्मट साधर्म्य तथा वैधर्म्य के द्वारा सामान्य का विशेष से तथा विशेष का सामान्य से समर्थन अर्थान्तरन्यास का लक्षण मानते थे।

---

१ इष्टार्थसिद्ध्यै दृष्टान्तो निदर्शनम्।—वही, ६, पृ० ३०२

२ यत्र सामान्यस्य विशेषस्य वा विशेषेण समर्थन तन्निदर्शनम्। यत्र तु विशेषस्य सामान्येन समर्थन सोऽर्थान्तरन्यास. ·········।

—वही, व्याख्या, पृ० ३०३

हेमचन्द्र साधर्म्य तथा वैधर्म्य के द्वारा केवल विशेष का सामान्य से समर्थन इसका लक्षण मानते है।[1]

हेमचन्द्र के ससन्देह का स्वरूप मम्मट के ससन्देह के स्वरूप से मिलता-जुलता ही है। मम्मट की तरह हेमचन्द्र ने भी इस अलङ्कार के निश्चयगर्भ तथा निश्चयान्त भेद स्वीकार किये है। वे भी मम्मट की तरह सन्देह के भेद की उक्ति तथा अनुक्ति; ये दो भेद स्वीकार करते है। सन्देह के स्वरूप-निरूपण के सम्बन्ध मे इतनी सहमति होने पर भी हेमचन्द्र ने उसके लक्षण मे अलङ्कारान्तर की छाया के गर्भीकरण तथा तात्त्विक असन्देह मे भी सन्देह की कल्पना की बात अपनी ओर से कही है। निश्चयान्त सन्देह मे तो सन्देह का निवारण कवि कर ही देता है। वस्तुत, सन्देह अलङ्कार मे सन्देह तो कविकल्पित ही होता है। मम्मट आदि को भी वक्ता के द्वारा सन्देह-कल्पना मान्य थी। अत, इसे हेमचन्द्र की नवीन कल्पना नही माना जा सकता। रही अलङ्कारान्तर की छाया के गर्भीकरण की बात! ऐसा लगता है कि सन्देह-सङ्कर की धारणा से, जिसमे अनेक अलङ्कारो मे सन्देह होता है, अलङ्कारान्तर की छाया की धारणा ली गयी है।

अपह्नुति मे प्रकृत के अपलाप की धारणा मम्मट आदि आचार्यो से ली गयी है। मम्मट आदि पूर्ववर्ती आचार्यो ने अप्रस्तुत के द्वारा प्रस्तुत के अपलाप मे अर्थात् प्रस्तुत के अपलाप और अप्रस्तुत की स्थापना मे ही अपह्नुति मानी थी। हेमचन्द्र ने इसे तो स्वीकार किया ही, प्रस्तुत के द्वारा प्रस्तुत के अपलाप को भी अपह्नुति का लक्षण मान लिया। इस प्रकार प्राचीन आचार्यो के व्याजोक्ति को अपह्नुति का अङ्ग बना दिया। प्रस्तुत के द्वारा प्रस्तुत के अपलाप का जो उदाहरण 'काव्यानुशासन' मे दिया गया है, वह 'काव्यप्रकाश' मे दिये गये व्याजोक्ति के उदाहरण से अभिन्न है। हेमचन्द्र ने व्याजोक्ति का स्वतन्त्र अस्तित्व नही माना है।

परावृत्ति या परिवृत्ति, अनुमान, स्मृति तथा भ्रान्ति की धारणा मम्मट की धारणा से अभिन्न है। हेमचन्द्र ने मम्मट के विषम का केवल एक भेद—क्रिया के अभीष्ट फल से विपरीत फल की प्राप्ति—स्वीकार किया है। सम, समुच्चय, परिसख्या, तथा कारणमाला के स्वरूप के सम्बन्ध मे हेमचन्द्र

१. विशेषस्य सामान्येन साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां समर्थनमर्थान्तरन्यासः।
हेमचन्द्र, काव्यानुशासन, ६, पृ० ३३४

मम्मट से पूर्णत एकमत है। सङ्कर और ससृष्टि के स्थान पर हेमचन्द्र ने केवल सङ्कर का विवेचन किया है। ससृष्टि तथा सन्देह-सङ्कर को इसी का अङ्ग माना गया है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि हेमचन्द्र के 'काव्यानुशासन' मे अलङ्कार-विषयक कोई नवीन उद्भावना नही हुई है।



वाग्भट

हेमचन्द्र के प्राय समसामयिक जैन आचार्य वाग्भट (प्रथम) ने पूर्व-प्रचलित अलङ्कारो मे से चार शब्दालङ्कारो तथा पैंतीस अर्थालङ्कारो का विवेचन किया है। शब्दगत श्लेष तथा पुनरुक्तवदाभास या पुनरुक्ताभास, जो हेमचन्द्र के काव्यानुशासन मे स्वीकृत है, 'वाग्भटालङ्कार' मे उल्लिखित नही है। अर्थालङ्कारो की सख्या एव सज्ञा के सम्बन्ध मे भी उन दोनो जैन आचार्यो मे मतैक्य नही है। हेमचन्द्र ने जहाँ उनतीस अर्थालङ्कारो का उल्लेख किया था, वहाँ वाग्भट ने पैंतीस अलङ्कारो का उल्लेख किया है। 'वाग्भटालङ्कार' मे हेमचन्द्र के द्वारा विवेचित सभी अलङ्कार स्वीकृत नही है। हेमचन्द्र के उनतीस अलङ्कारो मे से पाँच का वाग्भट ने नाम्ना भी उल्लेख नही किया है। इस प्रकार केवल चौबीस अर्थालङ्कार 'काव्यानुशासन' तथा 'वाग्भटालङ्कार' मे सामान्य रूप से उल्लिखित है। वाग्भट ने प्राचीन आचार्यो की रचनाओ से ऐसे ग्यारह अर्थालङ्कार ग्रहण किये है, जो हेमचन्द्र के द्वारा अगृहीत है।

'वाग्भटालङ्कार' मे उल्लिखित अर्थालङ्कार निम्नलिखित है—(१) उपमा, (२) उत्प्रेक्षा, (३) रूपक, (४) दीपक, (५) अप्रस्तुतप्रशसा, (६) पर्यायोक्ति, (७) अतिशय, (८) आक्षेप, (९) विरोध, (१०) सहोक्ति, (११) समासोक्ति, (१२) जाति, (१३) श्लेष, (१४) व्यतिरेक, (१५) अर्थान्तरन्यास, (१६) सशय, (१७) अपह्नुति, (१८) परिवृत्ति, (१९) अनुमान, (२०) भ्रान्ति-मान्, (२१) विषम, (२२) समुच्चय, (२३) परिसख्या, (२४) सङ्कर, (२५) प्रतिवस्तूपमा, (२६) दृष्टान्त, (२७) तुल्ययोगिता, (२८) विभावना, (२९) हेतु, (३०) समाहित, (३१) यथासख्य, (३२) अवसर, (३३) सार, (३४) एकावली और (३५) प्रश्नोत्तर।

हेमचन्द्र के द्वारा स्वीकृत निदर्शना, व्याजस्तुति, स्मृति, सम तथा कारण-माला, इन पाँच अलङ्कारो का उल्लेख वाग्भट ने नही किया है।

प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, तुल्ययोगिता, विभावना, हेतु, समाहित, यथासख्य, अवसर, सार, एकावली तथा प्रश्नोत्तर, इन ग्यारह अलङ्कारो का उल्लेख हेमचन्द्र ने नही किया हे। वाग्भट ने इनका भी विवेचन अपने ग्रन्थ मे किया हैं। प्रस्तुत सन्दर्भ मे वाग्भट के अलङ्कारो का पूर्ववर्ती आचार्या के अलङ्कारो से सम्बन्ध का परीक्षण अभिप्रेत हे।

अनुप्रास, यमक, चित्र तथा वक्रोक्ति शब्दालङ्कारो का स्वरूप हेमचन्द्र की तरह वाग्भट ने भी मम्मट तथा रुय्यक के ही मतानुमार विवेचित किया है।

उपमा के सामान्य स्वरूप के सम्बन्ध मे वाग्भट मम्मट आदि आचार्यो की मान्यता से सहमत है। हेमचन्द्र की तरह उन्होने भी अनन्वय, उपमेयोपमा तथा मालोपमा को उपमा का ही भेद स्वीकार किया है। मालोपमा को उन्होने अनेकोपमान-मूला उपमा कहा है। उन्होने अनेक उपमेय-मूला उपमा की भी कल्पना की है।[१] आचार्य भरत ने 'नाट्य-शास्त्र' मे उपमा के भेदो का निरूपण उपमेय तथा उपमान की सख्या के आधार पर किया था। वे एक उपमेय का एक उपमान से अथवा अनेक उपमान से और अनेक उपमेय का एक अथवा अनेक उपमान से सादृश्य-प्रतिपादन मे उपमा के तत्तद्भेद मानते थे।[२] वाग्भट की अनेकोपमेय-मूला उपमा-धारणा आचार्य भरत की उक्त धारणा से अभिन्न है।

उत्प्रेक्षा तथा रूपक अलङ्कारो के स्वरूप का विवेचन वाग्भट ने मम्मट आदि आचार्यो की मान्यता के अनुरूप ही किया है।

दीपक के सम्बन्ध मे वाग्भट की धारणा भरत, भामह आदि प्राचीन आचार्यो की धारणा से अभिन्न है।

भामह आदि प्राचीन आचार्यों के मत का अनुसरण करते हुए वाग्भट ने अप्रस्तुत-प्रशसा का लक्षण अप्रस्तुत अर्थात् उपमान की प्रशसा या स्तुति को ही माना है। प्राचीन आचार्यों ने स्तुति या प्रशसा से अभिप्राय केवल वर्णन का माना था। अतः अप्रस्तुत के वर्णन से प्रस्तुत के बोध मे वे अप्रस्तुतप्रशसा अलङ्कार मानते थे। मम्मट आदि ने इसे अधिक स्पष्ट रूप से परिभाषित

१. वाग्भटालङ्कार, ४, ५६
२. एकस्यैकेन सा कार्या ह्यनेकेनाथवा पुनः।
अनेकस्य तथैकेन बहूना बहुभिस्तथा ॥—भरत, नाट्यशास्त्र, १६,४२

किया है। कुछ आचार्यों ने पूर्वाचार्यो की अप्रस्तुतप्रशसा-परिभाषा मे प्रयुक्त स्तुति शब्द का अर्थ उत्कर्ष-कथन मान कर अप्रस्तुत के गुणोत्कर्ष-वर्णन मे या उसकी स्तुति करने मे उक्त अलङ्कार मान लिया था। वाग्भट ने प्रशसा का अर्थ स्पष्ट नही किया है। उनके द्वारा उद्धृत प्रस्तुत अलङ्कार के उदाहरण से लगता है कि वे प्रशसा का अर्थ उत्कर्षगान ही समझते है।[१]

पर्यायोक्ति, अतिशय या अतिशयोक्ति, आक्षेप तथा विरोध अलङ्कारो के स्वरूप का प्रतिपादन वाग्भट ने हेमचन्द्र की ही तरह मम्मट आदि पूर्ववर्ती आचार्यो के मतानुसार किया है। उनकी सहोक्ति का स्वरूप भी पूर्वाचार्यो की सहोक्ति से मिलता-जुलता ही है। नवीनता यह है कि प्रस्तुत और अप्रस्तुत के सहकथन की जगह उन्होने कारण और कार्य के सह-भाव-कथन को सहोक्ति माना है।[२]

वाग्भट ने समासोक्ति की परिभाषा मे उसे पूर्ववर्ती आचार्यो की अप्रस्तुत-प्रशसा या अन्योक्ति के समकक्ष बना दिया है।[३] 'अप्रस्तुत-प्रशसा' के लक्षण मे अप्रस्तुत की स्तुति का गुणोत्कर्ष-वर्णन अर्थ लगा कर उन्होने मम्मट आदि की अप्रस्तुत प्रशसा से उसकी कुछ भिन्न प्रकृति मान ली और प्राचीन आचार्यो की अप्रस्तुत-प्रशसा-परिभाषा के आधार पर समासोक्ति की स्वरूप-कल्पना कर ली। वस्तुत प्राचीन आचार्यों ने समासोक्ति तथा अप्रस्तुत-प्रशसा को विपरीत-स्वभावा माना था। समासोक्ति मे प्रस्तुत के कथन से अप्रस्तुत की व्यञ्जना होती है तथा अप्रस्तुत-प्रशसा मे अप्रस्तुत के कथन से प्रस्तुत का बोध होता है। वाग्भट ने अप्रस्तुत के कथन से अभीप्सित या प्रस्तुत अर्थ के बोधन मे समासोक्ति अलङ्कार मान लिया है। इसे समासोक्ति के सम्बन्ध मे वाग्भट की नवीन स्थापना नही कहा जा सकता। समासोक्ति-परिभाषा मे यह नवीनता—यदि इसे नवीनता कहा जाय—समासोक्ति तथा अप्रस्तुत-प्रशसा अलङ्कारो के सम्बन्ध मे पूर्ववर्ती आचार्यो की धारणा को स्पष्ट रूप से समझ पाने की अक्षमता का परिणाम है।

जाति या स्वभावोक्ति, श्लेष तथा व्यतिरेक के सम्बन्ध मे वाग्भट धारणा मम्मट, रुय्यक आदि आचार्यों की धारणा से अभिन्न है।

१. द्रष्टव्य—वाग्भटालङ्कार, ४, १३४-३५

२. सहोक्ति. सा भवेद्यत्र कार्यकारणयो सह।
समुत्पत्तिकथा हेतोर्वक्तु तज्जन्मशक्तताम्॥—वही,४,११६

३. द्रष्टव्य—वही, ४,६५-६६

अर्थान्तरन्यास का सामान्य लक्षण पूर्ववर्ती आचार्यो की तद्विषयक मान्यता के अनुकूल ही कल्पित है। वाग्भट ने उसके दो भेद स्वीकार किये है :—श्लिष्ट तथा अश्लिष्ट।[१] आचार्य दण्डी ने अर्थान्तरन्यास के अनेक भेदो मे श्लेषाविद्ध या श्लिष्ट विशेषणमूलक अर्थान्तरन्यास-भेद भी माना था। वाग्भट के उक्त भेद-निरूपण का यही आधार है।

वाग्भट के सशय या सन्देह, अपह्नुति, परिवृत्ति, अनुमान तथा भ्रान्तिमान् अलङ्कारों की प्रकृति प्राचीन आचार्यो के एतत्सञ्ज्ञक अलङ्कारो की प्रकृति से अभिन्न है।

विषम का स्वरूप वाग्भट ने मम्मट के 'काव्यप्रकाश' से लिया है, किन्तु मम्मट के विषम के कई रूपो मे से केवल एक ही रूप—विरूप पदार्थ की घटना रूप—वाग्भट ने स्वीकार किया है।[२] हेमचन्द्र ने भी मम्मट के विषम का एक रूप स्वीकार किया था, पर वह वाग्भट के द्वारा स्वीकृत रूप से भिन्न था।[3] इस प्रकार हेमचन्द्र और वाग्भट के विषम-विवेचन का स्रोत समान होने पर भी दोनो की विषम-विषयक मान्यता परस्पर भिन्न है।

वाग्भट का समुच्चय-लक्षण रुद्रट के प्रथम समुच्चय-लक्षण से अभिन्न है। परिसख्या तथा सङ्कर की धारणा हेमचन्द्र की तरह वाग्भट ने भी मम्मट आदि आचार्यों से ही ली है। हेमचन्द्र की तरह वाग्भट ने भी अनेक अलङ्कारो के एकत्र सन्निवेश के सभी प्रकारो को सामान्य रूप से सङ्कर व्यपदेश से उपस्थित किया है। इसमे पृथक् ससृष्टि का स्वरूप-निरूपण वे आवश्यक नही समझते।

प्रतिवस्तूपमा तथा दृष्टान्त की धारणा वाग्भट ने भामह, उद्भट, आदि प्राचीन आचार्यो के मतानुसार व्यक्त की है।

तुल्ययोगिता की स्वरूप-कल्पना आचार्य दण्डी की तुल्ययोगोपमा के आधार पर की गयी है। वाग्भट की विभावना पूर्ववर्ती आचार्यों की विभावना से अभिन्न है। हेतु तथा समाहित के स्वरूप की कल्पना वाग्भट ने दण्डी के मतानुसार की है। यथासख्य का स्वरूप भी उन्होने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों से ही लिया है।

---

१. वाग्भटालङ्कार, ४,९२
२. वही, ४, ११७-११८
३. हेमचन्द्र, काव्यानुशासन, ६, पृ० ३४१

अवसर अलङ्कार की कल्पना वाग्भट ने आचार्य रुद्रट के 'काव्यालङ्कार' से ली है। रुद्रट के परवर्ती आचार्य मम्मट तथा रुय्यक ने अवसर का अलङ्कारत्व स्वीकार नही किया था। वाग्भट का अवसर-विवेचन उन पर रुद्रट के सीधे प्रभाव का परिचायक है।

वाग्भट के सार तथा प्रश्नोत्तर का स्वरूप पूर्वाचार्यों की मान्यता के अनुरूप कल्पित है। 'वाग्भटालङ्कार' मे विवेचित एकावली का स्वरूप मम्मट आदि आचार्यो की एकावली से मिलता-जुलता ही है। दोनों मे थोडा अन्तर यह है कि जहाँ मम्मट आदि को इस अलङ्कार मे यथापूर्व पर का विशेषणत्व अभिप्रेत था, वहाँ वाग्भट को यथापूर्व का पर के प्रति वैशिष्ट्यनिष्ठ होना अभीष्ट है। वाग्भटालङ्कार के एकावली-उदाहरण की परीक्षा से ऐसा लगता है कि वैशिष्ट्यनिष्ठता मे उनका अभिप्राय उत्कर्षाधायकता का है। मम्मट ने एकावली के जो उदाहरण दिये है, उनमे भी विशेषणभूत पद परवर्ती पद के उत्कर्ष का आधान करते है।[१] सम्भव है, मम्मट के एकावली-उदाहरण को देख कर ही वाग्भट ने एकावली मे पर के प्रति पूर्व का वैशिष्ट्यनिष्ठ होने या उत्कर्षाधायक होने की कल्पना कर ली हो। वस्तुत, मम्मट की एकावली-परिभाषा अधिक व्यापक है। विशेषण-भूत पूर्व-पद परवर्ती पदो का उपकार तो करते ही है, वे उनका उत्कर्ष भी प्रतिपादित कर सकते है। स्पष्ट है कि वाग्भट के एकावली-लक्षण मे मम्मट के लक्षण की अपूर्ण अनुकृति है।

वाग्भट की अलङ्कार-धारणा के उक्त परीक्षण से निम्नलिखित तथ्य प्रकाश मे आते है —

(क) 'वाग्भटालङ्कार' मे किसी नवीन अलङ्कार की उद्भावना का प्रयास नही है। पूर्व-प्रतिपादित अलङ्कारो मे से ही कुछ को चुन कर उनका लक्षण-निरूपण किया गया है। शेष अलङ्कारो को या तो असुन्दर मान कर छोड दिया गया है या अन्य अलङ्कार मे अन्तर्भूत मान कर।[१] किन्तु, उन्होने विशेष अलङ्कार की असुन्दरता या परान्तर्भुक्तता सिद्ध करने के लिए कोई युक्ति नही दी है।

(ख) श्लेष तथा पुनरुक्तवदाभास शब्दालङ्कारो का अस्तित्व अकारण अस्वीकार कर दिया गया है।

---

१. द्रष्टव्य—मम्मट, काव्य-प्रकाश पृ० २८९

(ग) स्वीकृत अलङ्कारो के लक्षण पूर्ववर्ती आचार्यो के मतानुसार ही दिये गये है। जहाँ कोई नवीनता दीख पड़ती है वह वाग्भट के स्वतन्त्र चिन्तन का फल नही, प्राचीन धारणा की अनुकृति की असफलता का परिणाम है। उनका समासोक्ति-विवेचन इस कथन का प्रमाण है।

(घ) धार्मिक दृष्टि से एक सम्प्रदाय के अनुयायी होने पर भी वाग्भट ने काव्यशास्त्रीय चिन्तन मे हेमचन्द्र की पद्धति का अनुगमन नही किया है। वाग्भट ने किसी एक आचार्य को आदर्श नही मान कर पूर्ववर्ती सभी आचार्यो की रचनाओं से अलङ्कार-विषयक मान्यता का आहरण किया है। उनके अधिकाश अलङ्कारो के स्वरूप मम्मट तथा रुय्यक के मतानुसार अवश्य कल्पित है, पर कई अलङ्कारो के रूप-विधान मे उन्होने भरत, भामह, दण्डी, रुद्रट आदि का सीधा प्रभाव ग्रहण किया है। उदाहरणार्थ—उपमा के अनेकोपमेय-मूला भेद का भरत के आधार पर, हेतु, समाहित तथा तुल्ययोगिता का स्वरूप दण्डी के आधार पर (तुल्ययोगिता दण्डी की तुल्ययोगिता के आधार पर नही, उनकी उपमा के एक भेद 'तुल्ययोगोपमा' के आधार पर) तथा अवसर और समुच्चय का स्वभाव रुद्रट के आधार पर कल्पित है।



शोभाकर मित्र

शोभाकर मित्र ने 'अलङ्कार-रत्नाकर' मे एक सौ नौ शब्दार्थालङ्कारो के स्वरूप का निरूपण राजानक रुय्यक के अलङ्कार-सूत्र की शैली मे किया है। अलङ्कार-सूत्र की शैली को अपनाने पर भी उन्होने रुय्यक की अलङ्कार-धारणा का अनुसरण नही किया है। यही नही, अपने पूर्ववर्ती किसी भी आचार्य की अलङ्कार-विषयक मान्यता का अन्धानुसरण नही कर शोभाकर ने अनेक नवीन अलङ्कारो के स्वरूप की कल्पना की है। यह ठीक है कि उनके नवोद्भावित अलङ्कारो मे से अधिकाश को भारतीय अलङ्कारशास्त्र मे स्वीकृति नही मिली, यह भी ठीक है कि उनके नवीन अलङ्कारो मे से कई प्राचीन अलङ्कारो के ही नवीन नाम है, फिर भी शोभाकर की अलङ्कार-धारणा का अपना महत्त्व है।

पण्डितराज जगन्नाथ-जैसे समर्थ आचार्य ने अनेक स्थलों पर रत्नाकरकार का मत उद्धृत किया है।[१] यद्यपि जगन्नाथ ने अधिकतर शोभाकर की अलङ्कार-विषयक मान्यता का खण्डन करने के लिए ही उल्लेख किया है, फिर भी यह शोभाकर की अलङ्कार-धारणा की शक्ति का ही परिचायक है। इससे कम-से-कम इतना तो सिद्ध ही है कि जगन्नाथ पण्डितराज ने शोभाकर के अलङ्कार-सिद्धान्त को उपेक्षणीय नही माना। 'अलङ्कार-रत्नाकर' के अलङ्कार-विवेचन का महत्त्व इस बात से भी स्पष्ट है कि अर्वाचीन आलङ्कारिको को सर्वाधिक प्रभावित करने वाले आचार्य अप्पय्य दीक्षित ने कुछ अलङ्कार या अलङ्कार-विशेष के कुछ भेदो का स्वरूप वही से लिया है। उदाहरणार्थ, अप्पय्य की अपह्नुति का पर्यस्त भेद (उपमान का अपह्नव) 'अलङ्कार-रत्नाकर' से ही गृहीत है। लगता है कि शोभाकर के 'अलङ्कार-रत्नाकर' का कुछ दिनो तक सस्कृत कवियो तथा अलङ्कार शास्त्र के आचार्यो पर बहुत प्रभाव रहा था। कहा जाता है कि 'यशस्कर' नामक कवि ने 'अलङ्कार-रत्नाकर' के विभिन्न अलङ्कार-लक्षणो के उदाहरण के रूप मे ही देवीशतक की रचना की थी।[२] ऐसी स्थिति मे डॉ० डे ने जो शोभाकर मित्र की गणना गौण आलङ्कारिको की कोटि मे कर ली है, वह उचित नही जान पडती।[३] यह बात दूसरी है कि शोभाकर ने नवीनता-प्रदर्शन के मोह मे अनेक प्राचीन अलङ्कारो के लिए नवीन सज्ञाओ की कल्पना कर ली थी तथा कुछ ऐसी उक्तियो मे अलङ्कारत्व मान लिया था, जिनमे वस्तुत चमत्कार का तत्त्व नही था और फलत उनकी मान्यता पीछे चल कर अस्वीकृत हो गयी, पर इस तथ्य को अस्वीकार नही किया जा सकता कि उनके अलङ्कार-सिद्धान्त ने अनेक कवियो को प्रभावित किया और अनेक सशक्त समीक्षको का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट

१. रसगङ्गाधर मे ग्यारह स्थलो पर अलङ्काररत्नाकर-कार की तत्तदलङ्कार-विषयक मान्यता को उद्धृत कर उसकी समीक्षा की गयी है।

२. 'Yasaskara, a Kasmirian poet, thought it fit to compose a Devisataka' 'in which each verse, besides being a panegyric of the goddess, also serves as an illustration of Ratnakara's Alankarasutras.

—अलङ्कार-रत्नाकर की भूमिका, पृ० ६, ले० देवधर

३. द्रष्टव्य—डॉ० सुशीलकुमार डे, History of Sanskrit Poetics, खण्ड १ पृ० ३०८

किया। अत गौण आलङ्कारिको की उपेक्षित सूची मे उनका नाम डाल देना समीचीन नही। प्रस्तुत सन्दर्भ मे हम 'अलङ्कार-रत्नाकर' के अलङ्कारो के स्रोत पर विचार करेंगे।

'अलङ्कार-रत्नाकर' मे शब्द एव अर्थ के निम्नलिखित एक सौ नौ अलङ्कारो का स्वरूप-निरूपण किया गया है—

शब्दालङ्कार

पुनरुक्तवदाभास, यमक, छेकानुप्रास, वृत्यनुप्रास, लाटानुप्रास और चित्र।

अर्थालङ्कार

उपमा, कल्पितोपमा, अनन्वय, असम, उपमेयोपमा, उदाहरण, प्रतिमा, तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, स्मृति, विनोद, व्यासङ्ग, व्यतिरेक, प्रतीप, वैधर्म्य, रूपक, अभेद, परिणाम, अपह्नुति, सन्देह, वितर्क, उत्प्रेक्षा, भ्रान्तिमान्, उल्लेख, प्रतिभा, क्रियातिपत्ति, अतिशयोक्ति, अप्रस्तुत-प्रशसा, व्याजस्तुति, प्रत्यनीक, विनोक्ति, सहोक्ति, समासोक्ति, श्लेष, परिकर, पर्यायोक्त, निश्चय, आक्षेप, विध्याभास, सन्देहाभास, विकल्पाभास, विरोध, विभावना, विशेषोक्ति, असङ्गति, अन्योन्य, विपर्यय, अचिन्त्य, विषम, सम, विचित्र, विशेष, व्याघात, अशक्य, व्यत्यास, समता, उद्रेक, तुल्य, अनादर, आदर, अनुकृति, प्रत्यूह, प्रत्यादेश, समाधि, अर्थान्तरन्यास, व्याप्ति, अनुमान, हेतु, आपत्ति, अर्थापत्ति, विधि, नियम, प्रतिसख्या, प्रतिप्रसव, तन्त्र, प्रसङ्ग, विकल्प, समुच्चय, परिवृत्ति, पर्याय, क्रम, वर्धमानक, अवरोह, अतिशय, शृङ्खला, तद्गुण, मीलित, विवेक, परभाग, उद्भेद, गूढ, सूक्ष्म, व्याजोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक, उदात्त, रसवत्, प्रेय और ऊर्जस्वी।

शोभाकर ने ससृष्टि की सत्ता का विरोध किया है[1] और सङ्कर के सम्बन्ध मे कुछ विलक्षण धारणा व्यक्त की है। उन्होने पूर्वाचार्यों की तरह अनेक अलङ्कारो के अङ्गाङ्गित्व मे सङ्कर अवश्य माना है, पर यह नवीन धारणा व्यक्त की है कि जहाँ अङ्गाङ्गि-भाव से अनेक अलङ्कार होगे वहाँ प्रधान को अलङ्कार और अप्रधान को उसका सङ्कर कहा जायगा।[2] स्पष्टत,

---

१. न ससृष्टिः पूर्वहानाच्चारुत्वाभावाच्च।—शोभाकर, अल० रत्ना०, १११

२. 'अङ्गत्वे तु सङ्करः।'⋯ ⋯तेन प्रधानतया उपमादीना निज निज नाम अङ्गत्वे पुनरेषा सङ्करधीर्नाङ्गिभावेऽपि।

—वही, सूत्र ११२ तथा उसकी वृत्ति, पृ० १९८

। सङ्कर को स्वतन्त्र अलङ्कार नही मान कर अनेक अलङ्कारो के एकत्र व की एक विशेष स्थिति मानी है। ससृष्टि एव सङ्कर के विषय मे कर की मान्यता का परीक्षण हम उचित प्रसङ्ग मे करेगे। प्रस्तुत प्रसङ्ग के नवीन अलङ्कारो के स्रोत का सन्धान ही अभिप्रेत है।

'अलङ्काररत्नाकर' मे विवेचित अलङ्कारो मे से निम्नलिखित के अभिधान है—असम, उदाहरण, प्रतिमा, विनोद, व्यासङ्ग, वैधर्म्य, अभेद, प्रतिभा, तिपत्ति, निश्चय, विध्याभास, सन्देहाभास, विकल्पाभास, विपर्यय, ःय, अशक्य, व्यत्यास, समता, उद्रेक, तुल्य, अनादर, आदर, अनुकृति, , प्रत्यादेश, व्याप्ति, आपत्ति, विधि, नियम, प्रतिप्रसव, तन्त्र, प्रसङ्ग, नक, अवराह, अतिशय, शृङ्खला, विवेक, परभाग, उद्भेद और गूढ।

क्रियातिपत्ति अर्थापत्ति का ही अपर पर्याय है।

शोभाकर ने कुछ प्राचीन नाम वाले अलङ्कारो के भी नवीन रूप की ा की हे। उदाहरणार्थ, प्रचीन आचार्यो ने क्रम को यथासख्य का माना था, पर शोभाकर ने आरोहावरोह को क्रम कहा है।[१] यह हावरोह-क्रम-रूप-समाधि-गुण से सर्वथा भिन्न है, क्योकि प्राचीन आचार्यो ाधि-गुण मे स्वर के आरोह और अवरोह का क्रम वाञ्छनीय माना था, कर के क्रम-अलङ्कार मे अर्थ का आरोह-अवरोह वाञ्छनीय माना गया स्पष्ट है कि यह अलङ्कार नाम्ना प्राचीन होने पर भी स्वरूपतया नवीन ऐसे अलङ्कारो का भी स्रोत अनुसन्धेय है।

जयरथ ने 'विमर्शिनी' मे यह मन्तव्य प्रकट किया है कि 'अलङ्काररत्नाकर' ल्पित सभी नवीन अलङ्कारो का अन्तर्भाव पूर्ववर्ती आचार्यो (विशेषत: ट के) के तत्तदलङ्कारो मे सम्भव है।[२] यही कारण है कि शोभाकर के । अलङ्कारो का अस्तित्व परवर्त्ती आचार्यो ने स्वीकार नही किया। थ ने ग्रन्थ-विस्तार के भय से शोभाकर के तत्तत् नवीन अलङ्कारो प्राचीन अलङ्कारो मे अन्तर्भावित नही दिखाया है। उनके इस मन्तव्य मे शोभाकर के स्वकल्पित अलङ्कारो के स्रोत-सन्धान मे सहायता मिल ाी है।

१ आरोहावरोहादि क्रम।—शोभाकर, अल० रत्ना०, सूत्र ९२।

२. एवमन्येषामपि समग्राणामभिनवालङ्काराणा चान्यैरन्यालङ्कारयोगो योजयितु शक्य एवेति जयरथ, विमर्शिनी।

असम

असम की स्वतन्त्र अलङ्कार के रूप मे कल्पना का श्रेय शोभाकर को ही है। जहाँ उपमेय का कोई उपमान नही मिल पाता हो, वहाँ (उपमान के असम्भव होने के कारण तथा उपमेय के समान किसी दूसरे के नही होने के कारण) असम नामक अलङ्कार होता है।[१] प्राय ही कवि उपमेय की विलक्षणता के प्रतिपादन के लिए यह वर्णन करते हे कि उसके समान ससार मे दूसरा कोई नही। शोभाकर के अनुसार इस प्रकार की उक्ति मे असम नामक अलङ्कार होगा। प्राचीन आचार्य इस प्रकार की उक्ति से अपरिचित नही थे, पर उन्होने असम के स्वतन्त्र अस्तिव की कल्पना नही की थी। मम्मट आदि आचार्य इस प्रकार के कथन का अध्ययन अनन्वय के स्वरूप मे कर रहे थे, तो दूसरी ओर कुछ आचार्य उसे लुप्तोपमा समझ रहे थे। शोभाकर ने दोनो से असम की स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध की। अनन्वय मे किसी उपमेय के अन्य उपमान के अभाव की धारणा अवश्य रहती है, पर इससे आगे बढ कर अन्योपमान के अभाव मे उपमेय को ही उसका उपमान बना दिया जाता है। असम मे केवल उपमेय के सदृश किसी उपमान का अभाव मात्र कथित होता है। उपमानलुप्ता उपमा से यह भिन्न है, क्योंकि लुप्तोपमा मे उपमान केवल अनुक्त होता है, इसमे उसका असम्भावित होना उक्त होता है। पण्डितराज जगन्नाथ ने भी असम की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार कर शोभाकर की मान्यता का ही समर्थन किया है। स्पष्ट है कि उपमेय की सर्वोत्कृष्टता की प्राचीन धारणा को लेकर भी शोभाकर मित्र ने स्वतन्त्र अलङ्कार के रूप मे उसकी सत्ता स्वीकार कर अपनी उर्वर कल्पनाशक्ति का परिचय दिया है।

कल्पितोपमा

शोभाकर ने कल्पितोपमा की गणना स्वतन्त्र अलङ्कार के रूप मे की है। आचार्य भरत ने इसे उपमा का एक भेद माना था।[२] उपमा से पृथक् इसकी सत्ता की कल्पना समीचीन नही।

उदाहरण

उदाहरण अलङ्कार के स्वरूप की कल्पना पूर्वाचार्यों की अर्थान्तरन्यास-धारणा के आधार पर की गयी है। रुय्यक ने जिस पद को अर्थान्तरन्यास के

---

१. 'तद्विरहोऽसमः।'—शोभाकर, अलं० रत्ना०, सूत्र १०

२. द्रष्टव्य—भरत, ना० शा०, १६, ४६

उदाहरण मे उद्धृत किया था, उसे ही शोभाकर ने उदाहरण का उदाहरण माना है।[१] शोभाकर ने अर्थान्तरन्यास से उदाहरण का इतना भेद मान लिया है कि अर्थान्तरन्यास मे सादृश्य का वाचक शब्द उक्त नही रहता, पर उदाहरण मे वह उक्त रहता है। सादृश्य का वाचक उक्त हो या अनुक्त अलङ्कार मे इसका महत्त्व नही, महत्त्व है सामान्य तथा विशेष कथन का क्रमश विशेष और सामान्य कथन से समर्थन का। यह अर्थान्तरन्यास मे भी होता है और उदाहरण मे भी। फिर उदाहरण का अर्थान्तरन्यास से पृथक् अस्तित्व क्यो माना जाय ? शोभाकर के परवर्ती आचार्यो मे से पण्डितराज जगन्नाथ ने तो उदाहरण का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार किया है, पर अन्य आचार्यो ने उसका सद्भाव नही माना है। शोभाकर ने उदाहरण का व्यपदेश आचार्य भरत के एतत्सञ्ज्ञक लक्षण से लिया है।

प्रतिमा

शोभाकर का प्रतिमा अलङ्कार प्राचीन आचार्यो की उपमा-धारणा के आधार पर ही कल्पित है। शोभाकर के अनुसार प्रतिमा मे अन्य धर्म का योग होने के कारण औपम्य अर्थगत होता है।[२] अन्य धर्म के अन्यत्र आरोप की धारणा नवीन नही है। आर्थी उपमा मे औपम्य अर्थगत ही होता है। अत उपमा से प्रतिमा के स्वतन्त्र अस्तित्व की कल्पना आवश्यक नही जान पडती। परवर्ती आचार्यो ने भी शोभाकर की प्रतिमा का अलङ्कारत्व स्वीकार नही किया है।

विनोद

विनोद के लक्षण मे कहा गया है कि जहाँ अनुभूत या अननुभूत वाञ्छित वस्तु के अप्राप्त होने पर उसके सदृश अन्य वस्तु से अपनी उत्कण्ठा शान्त की जाती है वहाँ विनोद नामक अलङ्कार होता है।[३] यह शोभाकर का नवीन अलङ्कार है। प्राचीन आचार्यो की अलङ्कार-धारणा मे इससे मिलती-जुलती उक्ति की

---

१. कुमारसम्भव का श्लोक 'अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य ' आदि अलङ्कारसूत्र मे अर्थान्तरन्यास के उदाहरण के रूप मे उद्धृत है। उसे ही अलङ्कार-रत्नाकर मे उदाहरण के उदाहरण मे उद्धृत किया गया है।
—अल० सू० पृ० १३१ तथा अल० रत्ना० पृ० १३

२. अन्यधर्मयोगादार्थमौपम्य प्रतिमा।—शोभाकर, अल० रत्ना०, १३

३. अन्यासङ्गात्कौतुकविनोदो विनोदः।—वही, २०

कल्पना अवश्य पायी जा सकती है, पर ठीक ऐसे स्वरूप की कल्पना किसी अलङ्कार लक्षण में नहीं पायी जाती। प्रतीप में अन्य उपमान के लाभ से उपमेय की उपेक्षा की धारणा व्यक्त की गयी थी। विनोद में भी सदृश वस्तु की प्राप्ति से वर्ण्य की उपेक्षा अन्ततः परिणत होती है। इस प्रकार प्रतीप के उक्त भेद को विनोद की कल्पना का आधार माना जा सकता है। इतना होने पर भी विनोद का प्रतीप से यह भेद है कि इसमें प्रतीप की तरह प्रस्तुत का अनादर प्रकट नहीं रहता। उसकी केवल व्यञ्जना हो सकती है। यह अलङ्कार इस मनोवैज्ञानिक तथ्य पर आधृत है कि किसी वस्तु के समान वस्तु से उस वस्तु की अभिलाषा कुछ हद तक तृप्त हो जाती है।

व्यासङ्ग

व्यासङ्ग अलङ्कार में अन्य वस्तु के संसर्ग में किसी अनुभव, स्मृति आदि का तिरोहित हो जाना वर्णित होता है।[1] किसी तीव्र भावानुभूति में अन्य भाव की अनुभूति का तिरोहित हो जाना मनोवैज्ञानिक तथ्य है। एक अनुभव, स्मृति तथा किसी अन्य क्रिया में अन्य अनुभव आदि के तिरोभाव-वर्णन में अलङ्कार विशेष मानना उचित नहीं। भावों के आविर्भाव-तिरोभाव का अध्ययन अलङ्कार से पृथक् रस, भाव आदि के क्षेत्र में किया जाता है। उसे अलङ्कार का एक भेद मान लेना उसके महत्त्व को परिमित करना है। शोभाकर ने भावशान्ति, भावोदय आदि से पृथक् व्यासङ्ग अलङ्कार के अस्तित्व की स्थापना का प्रयास किया है, किन्तु वह बुद्धिविलास-मात्र है।

वैधर्म्य

वैधर्म्य को शोभाकर ने स्वतन्त्र अलङ्कार माना है। यह रुय्यक, मम्मट आदि के वैधर्म्य से समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास से अभिन्न है।[2] शोभाकर ने पूर्वाचार्यों के सभी अर्थान्तरन्यास भेदों को स्वीकार नहीं किया है। वे साधर्म्य से समर्थन में अर्थान्तरन्यास तथा वैधर्म्य से समर्थन में वैधर्म्य अलङ्कार मानते हैं। स्पष्ट है कि यह अलङ्कार नाममात्र से नवीन है, इसकी धारणा प्राचीन है।

---

१ अनुभवस्मृत्यादिप्रत्यूहो व्यासङ्गः।—शोभाकर, अल० रत्ना० २१

२. 'उद्दिष्टस्य प्रतिपक्षतयाऽनुनिर्देशो वैधर्म्यम्।'—शोभाकर, अल० रत्ना० २५। तुलनीय—रुय्यक अलं० सू० ३५ तथा उसकी वृत्ति, पृ० १३१

अभेद

शोभाकर का अभेद पूर्ववर्ती आचार्यों के रूपक का ही एक भेद है।[१] रूपक से पृथक् इसकी कल्पना अनावश्यक है। रूपक से एक सूक्ष्म भेद की कल्पना की गयी है कि रूपक मे अभेद मात्र की प्रतीति होती है, पर इसमे नियत धर्म के विनाश से सर्वत अभेद प्रतीत होता है।[२] अभेदप्रतीति रूपक का ही विषय है। यह वामन की विशेषोक्ति से अभिन्न है।

प्रतिभा

प्रतिभा नामक अलङ्कार की कल्पना कर शोभाकर ने उसकी परिभाषा मे कहा है कि इसमे कवि-प्रतिभा से सम्भाव्य वस्तु की कल्पना की जाती है।[३] स्वभावोक्ति से इसका भेद बताते हुए कहा गया है कि जब सम्भावना से वस्तु-स्वभाव का वर्णन होता है तब वह प्रतिभा का अङ्ग होता है। वस्तु-स्वरूप का कवि-प्रतिभा से सम्भावना के रूप मे वर्णन मे प्रतिभा की सत्ता स्वीकृत है। अत. इसका सम्भावना पर आधत वस्तूत्प्रेक्षा मे समावेश सम्भव है। प्रतिभा को स्वतन्त्र अलङ्कार नही माना जा सकता। उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि के अतिरिक्त भी जो किसी वस्तु के स्वरूप पर कवि की अनेक प्रकार की कल्पनाएँ हो सकती है, उन सब को अलङ्कारविशेष मान लेना उचित नही।

क्रियातिपत्ति

क्रियातिपत्ति नाम्ना नवीन किन्तु स्वरूपतया प्राचीन अलङ्कार है। इस अलङ्कार ने अनेक अभिधान धारण किये है। यद्यर्थ की उक्ति को शोभाकर ने क्रियातिपत्ति कहा है।[४] मम्मट, रुय्यक आदि आचार्यो ने इसे सम्बन्धातिशयोक्ति कहा है। स्पष्ट है कि प्राचीन अलङ्कार को ही शोभाकर ने नवीन नाम से प्रस्तुत किया है, पर यह नाम अन्य आचार्यो को मान्य नही हुआ।

---

१ तुलनीय—अल० रत्ना० २७ तथा रुय्यक, अल० सू० १५

२. अभेदमात्रप्रतीतौ रूपक, नियतधर्महानावन्यतः सर्वतोऽभेदप्रतीतौ अभेद इति प्रतीतिभेदात्।—अल० रत्ना० पृ० ३८

३. 'सम्भाव्यमानस्य प्रतिभा।' ··सम्भाव्यमानस्यार्थस्य कविना प्रतिभाख्येन चक्षुपा परिकल्पनमुल्लेखरूपप्रतिभा।

—वही, ३५ तथा उसकी वृत्ति, पृ० ५५

४. यद्यर्थोक्तावसम्भाव्यमानस्य क्रियातिपत्तिः।—वही, ३६

निश्चय

निश्चय अलङ्कार की परिभाषा मे कहा गया है कि जहाँ विशेष-प्रतिपादन के लिए विहित या आशङ्कित का निषेध किया जाय वहा निश्चय नामक अलङ्कार होगा।[१] विहित के तात्त्विक निषेध मे कोई चमत्कार नही। उसके निषेधाभास मे आक्षेप अलङ्कार होता है। आशङ्का के स्थल मे निषेध को आचार्य दण्डी ने निर्णयोपमा कहा था। आक्षेप और निर्णयोपमा से पृथक् निश्चय की कल्पना आवश्यक नही। स्वय शोभाकर के निश्चय-उदाहरण 'सता कदर्थना व्यर्थ' आदि मे निषेध तात्त्विक नही है। उसमे आक्षेप अलङ्कार माना जा सकता है।

विध्याभास

विध्याभास का नाम-रूप शोभाकर ने आचार्य रुय्यक के द्वितीय आक्षेप-लक्षण से लिया है। रुय्यक के लक्षण 'अनिष्ट विध्याभासश्च' से विध्याभास अश लेकर शोभाकर ने इस स्वतन्त्र अलङ्कार का नामकरण कर लिया है तथा उसी आक्षेप-धारणा को इस प्रकार व्यक्त किया है कि जहाँ अविधेय अनिष्ट का विधान किया जाता है वहाँ विधान बाधित होने के कारण विध्याभास-मात्र मे परिणत हो जाता है। अत वहाँ विध्याभास नामक अलङ्कार होता है।[२] स्पष्टत, यह आक्षेप से स्वतन्त्र अलङ्कार नही है। प्राचीन आचार्यों के अलङ्कार की ही नवीन सज्ञा से अवतारणा की गयी है।

सन्देहाभास

सन्देह के आधार पर शोभाकर ने सन्देहाभास अलङ्कार की कल्पना की है। उनकी मान्यता है कि जहाँ सन्दिह्यमान दो पदार्थों मे से एक को अवश्यमेव स्वीकार्य बताना वक्ता का अभिप्राय हो वहाँ सन्देह के बाधित हो जाने से सन्देहाभास नामक अलङ्कार होता है।[३] सन्देहाभास अलङ्कार की कल्पना आवश्यक नही जान पडती। इसमे सन्देह की स्थिति तो वस्तुत. आती ही नहीं,

---

१. विहितस्याशकितस्य वा विशेषागमाय निषेधो निश्चय.।
—शोभाकर, अल० रत्ना० ४७

२. अनिष्टविधानं विध्याभासः।
—वही, ४९, तुलनीय—रुय्यक, अलं० सू० ३९

३. सन्दिह्यमानयोरेकत्र तात्पर्येच्छा सन्देहाभास।
—शोभाकर, अलङ्कार रत्ना० ५०

वक्ता की केवल साभिप्राय उक्ति रहती है। इसमे दो वस्तुओ मे से एक का स्वीकार्यत्व भी स्पष्ट ही रहता है। उदाहरण मे 'वल्लभ के आलिङ्गन का सुधा-रस तुम्हे प्रिय है या मान के विष की ज्वाला ?'[१] यह उक्ति प्रस्तुत की गयी है। इन दोनो मे कौन अधिक प्रिय होगा—विष या अमृत—यह सन्देह का तो विषय हो ही नही सकता। अत इस प्रश्न मे वक्ता का अभिप्राय ही महत्त्व रखता है। वक्ता के इस प्रश्न मे ही उसका उत्तर भी निहित है। इस प्रकार की उक्ति मे मम्मट, रुय्यक आदि आचार्यो ने प्रश्नपूर्विका परिसख्या का सद्भाव माना था। स्पष्ट है कि प्राचीन धारणा को ही नवीन नाम से प्रस्तुत करने का आयास शोभाकर ने किया है।

विकल्पाभास

विकल्पाभास मे चमत्कार नही होने के कारण उसे अलङ्कार मानना उचित नही। दो वाञ्छित या अवाञ्छित पदार्थो मे आकर्षण अथवा विकर्षण का समान बल हो तो उनमे से किसी के त्याग-ग्रहण मे मानसिक द्वन्द्व की स्थिति आ सकती है, तथा कोई चमत्कार भी हो सकता है। विकल्पाभास के प्रदत्त उदा-हरणो मे विकल्प की कही स्थिति आती ही नही।

वि र्यय

विपर्यय अलङ्कार मे धर्म और धर्मी का विपर्यय हो जाता है।[२] इस प्रकार कही धर्मी का ध र्मत्व और धर्म का धर्मित्व हो सकता है और कही अन्य वस्तु के धर्म का अन्य वस्तु-धर्म से विनिमय हो सकता है। अन्य वस्तु के धर्म का अन्यत्र आरोप की धारणा तो आचार्य दण्डी ने समाधि गुण मे व्यक्त की थी, पर यह उससे इस अश मे भिन्न है कि इसमे दो के धर्मो का विनिमय हो जाता है। अलङ्कार के रूप मे विपर्यय की प्रथम कल्पना का श्रे य शोभाकर को है। समाधि गुण की धारणा मे परिवृत्ति की पारस्परिक विनिमय की धारणा को मिला कर विपर्यय के स्वरूप का निर्माण किया गया है।

अचिन्त्य

अचिन्त्य विभावना से स्वतन्त्र अस्तित्व नही रखता। कारण के स्वभाव से विरुद्ध स्वभाव वाले कार्य की उत्पत्ति मे शोभाकर ने अचिन्त्य अलङ्कार

१. द्रष्टव्य—शोभाकर, अलङ्कार रत्ना० पृ० ८६
२. धर्मिधर्मभावस्य धर्माणा विनिमयो विपर्यय । —वही, ५७

माना है।[१] कार्यकारण की अननुरूपता की धारणा प्राचीन आचार्यो की विभावना के सामान्य लक्षण मे निहित थी। विभावना से स्वतन्त्र अचिन्त्य नामक नवीन अलङ्कार की कल्पना आवश्यक नही।

अशक्य

कार्योत्पत्ति के प्रतिबन्धक के होने पर कार्य करने की असमर्थता के वर्णन मे अशक्य अलङ्कार माना गया है।[२] प्रतिबन्धक के होने पर भी कार्योत्पत्ति मे तो चमत्कार रहता है पर प्रतिबन्धक के होने पर कार्य की अशक्यता मे क्या चमत्कार होगा ? अत चमत्कार के अभाव के कारण अशक्य को अलङ्कार नही माना जा सकता।

व्यत्यास

दोष मे गुण तथा गुण मे दोष मानने को शोभाकर ने व्यत्यास अलङ्कार कहा है।[3] इसी अलङ्कार-धारणा ने पीछे चल कर 'कुवलयानन्द' तथा 'रसगङ्गाधर' मे लेश को जन्म दिया। भरत ने लक्षण मे इस प्रकार की उक्ति पर विचार किया था। शोभाकर ने उसे अलङ्कार के रूप मे स्वीकार किया। अप्पय्य दीक्षित तथा पण्डितराज जगन्नाथ ने भी उसे कुछ सञ्ज्ञा-भेद से अलङ्कार के रूप मे स्वीकृति दी। आचार्य भरत ने कार्य लक्षण मे गुण का अपसारण कर दोष की योजना तथा दोष का अपसारण कर अर्थ से गुण की योजना की धारणा व्यक्त की थी।[४] उसीसे गुण मे दोषत्व तथा दोष मे गुणत्व की धारणा ली गयी है। इसी लक्षण ने व्यङ्ग्यार्थ का सहारा लेकर व्याजस्तुति को जन्म दिया है। इस अलङ्कार मे दोष और गुण का एक दूसरे से व्यत्यास की धारणा व्यक्त की गयी है।

समता

गुण का दोष से तथा दोष का गुण से अपसारण किये जाने के स्थल मे समता अलङ्कार का सद्भाव माना गया है।[५] यह शोभाकर का नवीन

---

१. अविलक्षणाद्विलक्षणकार्योत्पत्तिश्चाचिन्त्यम्।
—शोभाकर, अलं० रत्ना० ५८

२. प्रतिबन्धकादेर्विधानासामर्थ्यमशक्यम्। —वही, ६५

३. दोषगुणयोरन्यथात्वं व्यत्यासः।—वही, ६६

४. द्रष्टव्य—भरत, ना० शा०, १६,३७

५. तदन्याभ्या समाधान समता।—शोभाकर, अल० रत्ना०, ६७

अलङ्कार है। इस अलङ्कार की धारणा का बीज भी आचार्य भरत के कार्य-लक्षण मे देखा जा सकता है।

उद्रेक

दोष और गुण का सजातीय या विजातीय की अपेक्षा तुच्छत्व-वर्णन में उद्रेक अलङ्कार की सत्ता स्वीकार की गयी है।[1] एक दोष या गुण से दूसरे दोष के तुच्छ किये जाने मे तथा एक दोष या गुण से दूसरे गुण के न्यक्करण मे विशेष चमत्कार नही। एक वस्तु से दूसरी वस्तु (उपमेय से उपमान) के न्यक्करण मे व्यतिरेक अलङ्कार की सत्ता सभी आचार्यो ने मानी ही है। उससे पृथक् गुण-दोष मे एक के द्वारा दूसरे के न्यग्भाव मे पृथक् अलङ्कार की कल्पना आवश्यक नही।

तुल्य

दोष-गुण के सम्बन्ध पर ही तुल्य अलङ्कार की भी कल्पना की गयी है। शोभाकर की मान्यता है कि जहाँ एक दोष के निवृत्त होने पर दूसरे दोष का उदय हो; इसी प्रकार एक गुण की निवृत्ति और दूसरे गुण का उदय हो वहाँ तुल्य अलङ्कार होता है।[2] एक के शमन के उपरान्त क्रम से दूसरे का उदय पर्याय का विषय है। अत पर्याय अलङ्कार से पृथक् इसके अस्तित्व की कल्पना समीचीन नही। शोभाकर इस तथ्य से अवगत थे। इसलिए उन्होने वृत्ति मे यह स्पष्ट किया है कि यह पर्याय का विषय हो सकता है, पर दोष और गुण के ही उदय-प्रशम पर आधृत होने के कारण पर्याय से स्वतन्त्र अस्तित्व भी रखता है।[3] स्पष्ट है कि तुल्य के स्वतन्त्र अस्तित्व की कल्पना के पीछे केवल नवीनता-प्रदर्शन का मोह ही है।

अनादर

जैसी वस्तु प्राप्त हो उसके समान अन्य वस्तु की प्राप्ति के लिए उस (प्राप्त) वस्तु का जहाँ अनादर किया जाय वहाँ अनादर नामक अलङ्कार

---

१. सजातीयविजातीयाभ्या तुच्छत्वमुद्रेक.।—शोभाकर, अल० रत्ना० ६८

२. निवृत्तावन्योदयस्तुल्यम्।—वही, ६९

३. यद्येवमेकस्य दोषस्य निवृत्तौ क्रमेण दोषान्तरगमनात्पर्यायस्यायं विषयः। सत्यम्। तथाप्येक-दोषादि-निवृत्तौ दोषान्तरादेराविर्भावात्प्रकृता-कार्यसम्पत्तिलक्षणायास्तुल्यताया अत्र निष्पत्तिरेव।
—वही, वृत्ति, पृ० १२१

माना गया है ।[1] रुय्यक आदि के प्रतीप से पृथक् अनादर की सत्ता की कल्पना आवश्यक नही जान पडती ।

आदर

आदर अलङ्कार मे कोई चमत्कार नही । शोभाकर ने आदर के लक्षण मे कहा है कि जहाँ अधिक गुण वाली वस्तु की प्राप्ति होने पर किसी वस्तु को तुच्छ समझ कर त्याग दिया गया हो, पर उस गुणवान वस्तु के दूर हो जाने पर त्यक्त वस्तु को पुन स्वीकार कर लिया जाता हो वहाँ आदर अलङ्कार होता है ।[2] वस्तु के त्याग और स्वीकार का कारण स्पष्ट होने से इसमे विशेष चमत्कार नही ।

अनुकृति

अनुकृति के स्वरूप को लक्षित करते हुए शोभाकार ने कहा है कि जहाँ एक हेतु से किसी वस्तु के रूप-विशेष धारण करने पर दूसरे हेतु से अन्य वस्तु का भी उसमे ताद्रूप्य वर्णित हो वहा अनुकृति अलङ्कार होता है । इसमे ताद्रूप्य का हेतु कथित होता है ।[3] ताद्रूप्य की धारणा रूपक मे व्यक्त की गयी है । हेतु और हेतुमान का वर्णन हेतु का विषय है । अत रूपक, हेतु आदि प्राचीन अलङ्कारो मे ही इसका अन्तर्भाव हो जाता है ।

प्रत्यूह

प्रत्यूह में एक निमित्त से प्राप्त का दूसरे निमित्त से प्रतिबन्ध हो जाता है ।[4] प्राप्त एव प्रतिबद्ध हेतुमान के साथ हेतु-कथन-मात्र मे चमत्कार है । अत हेतु से पृथक् इसकी कल्पना आवश्यक नही ।

प्रत्यादेश

प्रत्यादेश की धारणा भी हेतु पर ही आधृत है । इसमे स्थित वस्तु का अन्य हेतु से अन्यथात्व वर्णित होता है ।[5] इसमे भी हेतु के अतिरिक्त कोई अन्य चमत्कार नही । इस प्रकार हेतु-हेतुमान-कथन-रूप हेतु से स्वतन्त्र अनुकृति, प्रत्यूह तथा प्रत्यादेश की कल्पना अनावश्यक है ।

---

१. अप्राप्तार्थं तत्तुल्यस्यानादरोऽनादरः ।—शोभाकर, अल० रत्ना०, ७०
२ त्यक्तस्वीकार आदरः ।—वही, ७१
३. हेत्वन्तरादन्यस्यापि तथात्वमनुकृतिः ।—वही, ७२
४. प्राप्तस्य प्रतिबन्धः प्रत्यूहः ।—वही, ७३
५. स्थितस्यान्यथापत्तिः प्रत्यादेशः ।—वही, ७४

व्याप्ति तथा अनुमान

व्याप्ति और अनुमान की धारणा न्याय दर्शन से गृहीत है। हम देख चुके है कि छह प्रमाण-सम्बन्धी न्याय की धारणा को लेकर तत्तदलङ्कारो की कल्पना काव्यशास्त्र मे कर ली गयी है। शोभाकर के व्याप्ति, अनुमान आदि अलङ्कार एतद्विषयक न्याय-सिद्धान्त पर ही अवलम्बित है।

आपत्ति

अनिष्टापत्ति मे शोभाकर ने आपत्ति नामक अलङ्कार माना है।[१] इसके लक्षण मे कहा गया है कि यदि कुछ करते हुए किसी को अनिष्ट की प्राप्ति होने का वर्णन हो तो वहाँ आपत्ति अलङ्कार होगा। विषम के अनर्थोत्पत्ति भेद से पृथक् अनिष्टापत्ति के सद्भाव की कल्पना आवश्यक नही जान पडती। उत्तर काल मे 'कुवलयानन्द' मे इसे विषम का अनिष्टापत्ति भेद कहा गया।[२]

विधि

असम्भावित हेतु अथवा फल का विधान विधि अलङ्कार माना गया है।[३] रुय्यक के अर्थान्तरन्यास का, कारण के द्वारा कार्य-समर्थन का, उदाहरण विधि मे उद्धृत है। असम्भाव्य फल का हेतु से समर्थन तथा हेतु का फल से समर्थन अर्थान्तरन्यास का विषय है। विधि मे समर्थन की जगह विधान की धारणा है। इसका समावेश अर्थान्तरन्यास के सामान्य लक्षण मे सम्भव है। अत इसके स्वतन्त्र अलङ्कारत्व की कल्पना आवश्यक नही।

नियम

नियम अलङ्कार की कल्पना मम्मट आदि की परिसख्या-धारणा से भिन्न नही। शोभाकर ने परिसख्या से नियम के स्वरूप मे कुछ सूक्ष्म भेद करने का प्रयास किया है। मम्मट के 'काव्यप्रकाश' मे जिसे परिसख्या का उदाहरण माना गया है उसे ही नियम का उदाहरण शोभाकर ने बताया है।[४] नियम का अन्तर्भाव परिसख्या मे सम्भव है।

---

१ अनिष्टापादनमापत्तिः।—शोभाकर, अल० रत्ना० ८०

२ द्रष्टव्य—अप्पय्य, कुवलया० ६०

३. असम्भाव्यहेतुफलप्रेषण विधि।—शोभाकर, अल० रत्ना० ८२

४ द्रष्टव्य—अ० रत्ना० पृ० १४३-४४ तथा काव्य प्र०, पृ० २७७-७८

अतिशय तथा शृङ्खला

अतिशय तथा शृङ्खला अलङ्कारो का स्वभाव एकावली, कारणमाला तथा मालादीपक आदि मे अभिन्न है। प्राचीनो के एकावली, कारणमाला, मालादीपक आदि को अस्वीकार कर शोभाकर ने उक्त दो अलङ्कारो की कल्पना की है। परम्परा का त्याग कर पुरानी बात को ही नवीन रूप मे प्रस्तुत करने के पीछे नवीनता का आतङ्क उत्पन्न करने की प्रवृत्ति-मात्र है। शोभाकर के बहुत पूर्व रुद्रट ने एकावली आदि को शृङ्खलामूलक अलङ्कार कहा था। उनके स्थान पर शृङ्खला नामक अलङ्कार-विशेष की कल्पना उचित नही।

विवेक

विवेक शोभाकर की नवीन उद्भावना है। विवेक शोभाकर के परवर्ती जयदेव के उन्मीलित से अभिन्न है। उन्मीलित की कल्पना पर हमने 'चन्द्रालोक' के उन्मीलित के परीक्षण-क्रम मे विचार किया है।

परभाग

परभाग की स्वतन्त्र अलङ्कार के रूप मे स्वीकृति उचित नही जान पडती। इसके लक्षण मे कहा गया है कि जहाँ स्वरूप-मात्र मे अवगत वस्तु का अन्य वस्तु की प्राप्ति होने पर उससे भेद जान पडे, वहाँ परभाग अलङ्कार होता है।[१] स्पष्ट है कि इस भेद-प्रतीति की परिणति वस्तु की अन्य वस्तु से अधिकता या न्यूनता की प्रतीति मे होगी। इस प्रकार इस अलङ्कार का चमत्कार व्यतिरेक से ही अनुप्राणित होने मे होगा। अत व्यतिरेक से पृथक् इसकी सत्ता की स्वीकृति आवश्यक नही।

उद्भेद

उद्भेद पूर्वाचार्यो के पिहित से मिलता-जुलता है, जिसमे छिपी बात का उद्घाटन किया जाता है।[२]

गूढ

गूढ को प्रहेलिकादिवत् गूढ कहा गया है।[3] अत. इसकी धारणा प्राचीन आचार्यो की प्रहेलिका-धारणा से गृहीत जान पडती है।

---

१ अनुभूतस्यार्थान्तरोपलब्धौ परभागः।—शोभाकर, अल० रत्ना०, १००

२ निगूढस्य प्रतिभेद उद्भेद.।—वही, १०१

३. गूढसाकाङ्क्षोपनिबद्धं गूढम्। ··इह तु प्रहेलिकादिवद्गूढार्थत्वम्।
—वही, १०२ तथा उसकी वृत्ति, पृ० १७५

शोभाकर के द्वारा कल्पित उपरिलिखित अलङ्कारो के स्वरूप के परीक्षण से निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते है :—

(क) शोभाकर ने पूर्ववर्ती आचार्यो के अनेक अलङ्कारो के भेदोपभेदो को स्वीकार नही किया है। अत पूर्वाचार्यो के अलङ्कार-विशेष के तत्तद् भेदो के आधार पर तत्तद् नवीन अलङ्कारो की कल्पना उन्होने कर ली है। उदाहरणार्थ, अर्थान्तरन्यास का केवल एक रूप—विशेष का सामान्य से समर्थन—स्वीकार कर उसके अन्य रूपो के आधार पर उदाहरण (सामान्य का विशेष से समर्थन), हेतु (जिसे काव्यलिङ्ग का पर्याय कहा गया है, कार्य कारण भाव पर आधृत), वैधर्म्य आदि अलङ्कारो की कल्पना की गयी है। उपमा के कल्पिता भेद को लेकर कल्पितोपमा की गणना स्वतन्त्र अलङ्कार के रूप मे कर ली गयी है। अतिशयोक्ति के यद्यर्थोक्त-कल्पन-भेद को क्रियातिपत्ति नाम से स्वतन्त्र अलङ्कार माना गया है।

(ख) कुछ प्राचीन अलङ्कार-धारणा को भी शोभाकर ने नवीन व्यपदेश से प्रस्तुत किया है। शृङ्खलामूलक अलङ्कारो के स्थान पर शृङ्खला नामक स्वतन्त्र अलङ्कार की ही कल्पना कर ली गयी। प्राचीनो के शृङ्खलामूलक एकावली, सार आदि के आधार पर ही अतिशय का नवीन नाम कल्पित है। पिहित को उद्भेद सज्ञा से प्रस्तुत किया गया है।

(ग) कुछ प्राचीन अलङ्कारो के स्वरूप से बहुत सूक्ष्म भेद के आधार पर नवीन अलङ्कार की कल्पना की गयी है। यह भेद इतना नगण्य है कि शोभाकर के तत्तत् नवीन अलङ्कारो की कल्पना ही अनावश्यक जान पडती है। कवियो की अनन्त उक्तियो मे एक से दूसरी का कुछ-न-कुछ तो सूक्ष्म भेद पाया ही जाता है। ऐसी स्थिति मे यदि प्रत्येक उक्ति के लिए उन सूक्ष्म भेदो के आधार पर अलग-अलग अलङ्कार की कल्पना की जाने लगे तो अलङ्कार की कोई सीमा नही रह जायगी। नगण्य भेद के आधार पर नवीन-नवीन अलङ्कारो की कल्पना मे नवीनता-प्रदर्शन का मोह-मात्र है। परिसख्या से नियम के स्वतन्त्र अस्तित्व की कल्पना ऐसी ही है। शोभाकर के नियम अलङ्कार के उदाहरण को मम्मट ने परिसख्या के उदाहरण के रूप मे ही उद्धृत किया था। क्रम, अवरोह आदि की पर्याय मे स्वतन्त्र सत्ता की कल्पना आवश्यक नही।

(घ) शोभाकर के द्वारा कल्पित कुछ अलङ्कारो का अस्तित्व चमत्कार के अभाव के कारण अमान्य है। नवीनता के मोह मे कुछ ऐसे अलङ्कारो की

कल्पना कर ली गयी है, जिनमे वस्तुत कोई चमत्कार नही। अशक्य आदि चमत्कार-हीन होने के कारण अलङ्कार नही।

(ङ) शोभाकर की कुछ अलङ्कार-विषयक उद्भावनाएँ अनुपेक्षणीय है। असम, विनोद, विवेक, प्रतिप्रसव विपर्यय, व्यत्यास, समता आदि की अलङ्कार-रूप मे कल्पना का श्रेय शोभाकर को है। असम का स्वरूप मम्मट आदि आचार्यों के अनन्वय तथा अन्य आचार्यो की लुप्तोपमा से तत्त्व ग्रहण कर निर्मित है। विनोद की कल्पना का आधार प्रतीप की धारणा है। विपर्यय मे समाधि गुण से अन्य धर्म के अन्यत्रारोप की तथा परिवृत्ति अलङ्कार से पारस्परिक विनिमय की धारणा ली गयी है। व्यत्यास तथा समता की स्वरूप-कल्पना का मूल आचार्य भरत के कार्य-लक्षण मे पाया जा सकता है। स्पष्ट है कि जिन अलङ्कारो की मौलिक उद्भावना का श्रेय शोभाकर को मिलना चाहिए उनके स्वरूप से भी प्राचीन आचार्य किसी-न-किसी रूप मे अवगत अवश्य थे। प्राचीनो के गुण, लक्षण तथा अलङ्कार विशेष की धारणा को मिला कर शोभाकर ने नवीन अलङ्कारो की कल्पना की है। शोभाकर के द्वारा कल्पित नवीन अलङ्कारो मे से निम्नलिखित पाँच अलङ्कारो का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकृत होना चाहिए—असम, विनोद, विपयय, व्यत्यास और समता। असम को पण्डितराज ने उसी नाम से स्वीकार भी किया है। व्यत्यास अप्पय्य दीक्षित तथा जगन्नाथ के द्वारा लेश के रूप मे स्वीकृत है। विवेक मे उन्मीलित की तथा प्रतिप्रसव मे पूर्वरूप की कल्पना का बीज निहित था। इन अलङ्कारो के उद्भावक आचार्य शोभाकर को गौण आलङ्कारिक मान लेना उचित नही।



जयदेव

जयदेव का 'चन्द्रालोक' अलङ्कारशास्त्र का बहुत ही लोकप्रिय ग्रन्थ सिद्ध हुआ है। अप्पय्य दीक्षित के 'कुवलयानन्द' का यह आधारभूत ग्रन्थ है। 'चन्द्रालोक' पर आधृत 'कुवलयानन्द' हिन्दी के रीति-आचार्यो की अलङ्कार-मीमासा का आदर्श सिद्ध हुआ है। यह जयदेव के अलङ्कार-विवेचन के महत्त्व का द्योतक है।

आचार्य राजानक रुय्यक और जयदेव के बीच लगभग एक शताब्दी का अन्तराल है। रुय्यक का काल बारहवी शताब्दी का पूर्वार्ध तथा जयदेव का

काल तेरहवी शताब्दी का पूर्वार्ध माना जाता है।[१] सौ वर्षों की इस अवधि मे अलङ्कारो के नाम-रूप के विषय मे अनेक नूतन स्थापनाएँ उपलब्ध होती है। पूर्ववर्ती आचार्यो के अधिकाश अलङ्कारो की सज्ञा एव परिभाषा को स्वीकार करने पर भी जयदेव ने उनकी अलङ्कार-धारणा का अन्धानुसरण नही किया है। उन्होने पूर्वप्रचलित अलङ्कारो मे से कई को अस्वीकार कर कई नवीन अलङ्कारो की कल्पना की है। प्रस्तुत सन्दर्भ मे जयदेव की नूतन अलङ्कार-सृष्टि की समीक्षा ही हमे इष्ट है।

'चन्द्रालोक' मे विवेचित अलङ्कारो की सख्या के सम्बन्ध मे विद्वानो मे बडा मतभेद है। डॉ० सुशील कुमार डे के अनुसार जयदेव ने आठ शब्दालङ्कारो का तथा एक सौ अर्थालङ्कारो का स्वरूप-निरूपण किया था।[२] उनके इस कथन का आधार सम्भवत: अप्पय्यदीक्षित की मान्यता है। अप्पय्य दीक्षित ने 'चन्द्रालोक' मे निरूपित शब्दालङ्कारो की सख्या आठ तथा अर्थालङ्कारो की सख्या एकसौ मानी है।[3] सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने लिखा है कि 'इसके (जयदेवकृत चन्द्रालोक के) पञ्चम मयूख मे आठ शब्दालङ्कार और बयासी अर्थालङ्कारो का निरूपण किया गया है।'[४] अलङ्कारो की सख्या के सम्बन्ध मे इस मतभेद का कारण 'चन्द्रालोक' के विभिन्न सस्करणो मे प्राप्त पाठ-भेद ही हो सकता है। डॉ० डे ने 'चन्द्रालोक' के अनेक पाठो की चर्चा की है।[५] सख्या के अतिरिक्त अलङ्कारो की सज्ञा के सम्बन्ध मे भी मत-वैभिन्न्य पाया जाता है। हमारे सामने बम्बई के गुजराती प्रेस से प्रकाशित चन्द्रालोक की जो मूल प्रति है तथा 'कुवलयानन्द' के मुखबन्ध के रूप मे उद्धृत 'चन्द्रालोक' की जो अलङ्कारानुक्रमणिका है उन दोनो मे अलङ्कारो के नाम मे पर्याप्त अन्तर है। 'कुवलयानन्द' की प्रस्तावना मे प्रदत्त अलङ्कारानुक्रमणिका मे विशत्यधिक नाम ऐसे है जो 'चन्द्रालोक' के बम्बई से प्रकाशित उक्त सस्करण मे नही है। इसके विपरीत 'चन्द्रालोक' के उक्त सस्करण मे विवेचित कुछ अलङ्कारो की चर्चा उक्त अनुक्रमणी मे नही की गयी

---

१. द्रष्टव्य—डॉ० सुशीलकुमार डे, 'History of Sanskrit Poetics,' खण्ड १ पृ० १८१ तथा पृ० १९८

२. वही, पृ० २०१

३. द्रष्टव्य—कुवलयानन्द के आरम्भ मे उद्धृत चन्द्रालोक की अलङ्कारानुक्रमणिका, पञ्चम मयूख।

४. द्रष्टव्य—कन्हैयालाल पोद्दार, काव्य कल्पद्रुम, खण्ड २ प्राक्कथन, पृ० २१

५. डॉ० डे, History of Sanskrit Poetics, खण्ड १, पृ० २०२-४

है। नीचे उक्त अनुक्रमणी मे प्रदत्त अलङ्कार-तालिका प्रस्तुत की जायगी। 'चन्द्रालोक' की अलङ्कार-सख्या के सम्बन्ध मे अप्पय्य दीक्षित की मान्यता पर सन्देह करने का कोई कारण नही है। उन्होने जयदेव के अर्थालङ्कारो को सख्या एक सौ मानी है। उन्होने यह स्पष्टत स्वीकार किया है कि 'चन्द्रालोक' मे जिन अलङ्कारो के लक्षण-उदाहरण दिये गये है उनके लक्षण-उदाहरण मैने वही से लिये है।[१] 'कुवलयानन्द' मे एक सौ अर्थालङ्कारो के स्वरूप-विवेचन के उपरान्त अप्पय्य दीक्षित ने कहा है कि इतने अलङ्कारो का निरूपण प्राचीन तथा अर्वाचीन आचार्यों के मतानुसार किया गया है।[२] स्पष्ट है कि अप्पय्यदीक्षित के एक सौ अर्थालङ्कारो की स्वरूप-मीमासा का आधार 'चन्द्रालोक' ही होगा। यदि दूसरे स्रोत से भी 'कुवलयानन्द' मे अलङ्कार लिये गये होते तो केवल चन्द्रालोककार के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन का पक्षपात सम्भवत अप्पय्य दीक्षित नही करते। अत जयदेव के शब्दार्थालङ्कारो की सख्या एक सौ आठ मानना ही समीचीन जान पडता है। कुवलयानन्द मे स्वीकृत चन्द्रालोक के अर्थगत अलङ्कारो की अनुक्रमणिका निम्नलिखित है —

(१) उपमा, (२) अनन्वय, (३) उपमेयोपमा, (४) प्रतीप, (५) रूपक, (६) परिणाम, (७) उल्लेख, (८) स्मृति, (९) भ्रान्तिमान्, (१०) सन्देह, (११) अपह्नुति, (१२) उत्प्रेक्षा, (१३) अतिशयोक्ति, (१४) तुल्ययोगिता, (१५) दीपक, (१६) आवृत्तिदीपक, (१७) प्रतिवस्तूपमा, (१८) दृष्टान्त, (१९) निदर्शना, (२०) व्यतिरेक (२१) सहोक्ति, (२२) विनोक्ति, (२३) समासोक्ति, (२४) परिकर, (२५) परिकराङ्कुर, (२६) श्लेष, (२७) अप्रस्तुतप्रशसा, (२८) प्रस्तुताङ्कुर, (२९) पर्यायोक्त, (३०) व्याजस्तुति, (३१) व्याजनिन्दा, (३२) आक्षेप, (३३) विरोधाभास, (३४) विभावना, (३५) विशेषोक्ति, (३६) असम्भव, (३७) असङ्गति, (३८) विषम, (३९) सम, (४०) विचित्र, (४१) अधिक, (४२) अल्प, (४३) अन्योन्य, (४४) विशेष, (४५) व्याघात, (४६) कारणमाला, (४७) एकावली, (४८) मालादीपक, (४९) सार, (५०) यथासख्य, (५१) पर्याय, (५२) परिवृत्ति,

१. येषा चन्द्रलोके दृश्यन्ते लक्ष्यलक्षणश्लोका.।
प्रायस्त एव तेषा . ...॥
—अप्पय्य दीक्षित, कुवलयानन्द वृत्ति पृ० २

२. इत्थ शतमलङ्कारा लक्षयित्वा निदर्शिताः।
प्राचामाधुनिकाना च मतान्यालोच्य सर्वत.॥—वही, १६९

(५३) परिसङ्ख्या, (५४) विकल्प, (५५) समुच्चय, (५६) कारकदीपक, (५७) समाधि, (५८) प्रत्यनीक, (५९) अर्थापत्ति, (६०) काव्यलिङ्ग, (६१) अर्थान्तर-न्यास, (६२) विकस्वर, (६३ प्रौढोक्ति, (६४) सम्भावना, (६५) मिथ्याध्यव-सिति, (६६) ललित, (६७) प्रहर्षण, (६८) विषादन, (६९) उल्लास, (७०) अवज्ञा, (७१) अनुज्ञा, (७२) लेश, (७३) मुद्रा, (७४) रत्नावली, (७५) तद्गुण, (७६) पूर्वरूप, (७७) अतद्गुण, (७८) अनुगुण, (७९) मीलित, (८०) सामान्य (८१) उन्मीलित, (८२) निमीलित, (८३) उत्तर, (८४) सूक्ष्म, (८५) पिहित, (८६) व्याजोक्ति, (८७) गूढोक्ति, (८८) विवृतोक्ति, (८९) युक्ति, (९०) लोकोक्ति, (९१) छेकोक्ति, (९२) वक्रोक्ति (९३) स्वभावोक्ति, (९४) भाविक, (९५) उदात्त, (९६) अत्युक्ति, (९७) निरुक्ति, (९८) प्रतिषेध, (९९) विधि तथा (१००) हेतु।

गुजराती प्रिंटिंग प्रेस से प्रकाशित चन्द्रालोक' मे पूर्वोक्त अलङ्कारो मे से प्रस्तुताङ्कुर, व्याजनिन्दा, अल्प, मालादीपक, मिथ्याध्यवसिति, ललित, अनुज्ञा, लेश, मुद्रा, रत्नावली, निमीलित, सूक्ष्म, गूढोक्ति, विवृतोक्ति, युक्ति, लोकोक्ति, निरुक्ति, प्रतिषेध, विधि तथा हेतु अलङ्कारो का उल्लेख नही पाया जाता। इसमे अनुमान, विरोध तथा भाविकच्छवि का उल्लेख है जिनकी गणना उक्त अनुक्रमणी मे नही की गयी है। अनुक्रमणी मे मीलित के अतिरिक्त निमीलित का नामोल्लेख है। पूर्ववर्ती आचार्यो ने मीलित का ही सोपसर्ग प्रयोग निमीलित किया था। अप्पय्य दीक्षित भी सम्भवत: मीलित से पृथक् निमीलित का अस्तित्व स्वीकार करना नही चाहते थे। इसीलिए उक्त अनुक्रमणी पर आधृत अपनी अलङ्कार-तालिका मे उन्होने निमीलित के स्थान पर विशेषक अलङ्कार का विवेचन किया है। किन्तु, इस अनुपपत्ति से बचने के लिए उन्होने जो पाठ-भेद किया उससे वे और अधिक उलझन मे पड गये। विशेष का स्वरूप-प्रतिपादन उन्हे दो बार करना पडा, जिसे कथमपि समीचीन नही माना जा सकता। अस्तु, उपरिलिखित अलङ्कारानुक्रमणिका तथा 'चन्द्रालोक' की उपलब्ध मूल प्रति मे जिन अलङ्कारो का उल्लेख मिलता है उनका पूर्वविवेचित अलङ्कारो से सम्बन्ध की दृष्टि से हम परीक्षण करेगे।

'चन्द्रालोक' मे निम्नलिखित आठ शब्दालङ्कारो का विवेचन हुआ है :—छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, लाटानुप्रास, स्फुटानुप्रास, अर्थानुप्रास, पुनरुक्त-प्रतीकाश, यमक और चित्र। पुनरुक्तप्रतीकाश उद्भट आदि प्राचीन आचार्यों के पुनरुक्तवदाभास का ही अपर पर्याय है। छेक, वृत्ति तथा लाट अनुप्रासो

के नाम-रूप प्राचीन ही है। यमक और चित्र अलङ्कारो का विवेचन भी पूर्ववर्ती आचार्यो के मतानुसार ही किया गया है। जयदेव ने दो नवीन शब्दालङ्कारो का निरूपण किया है। वे है:—स्फुटानुप्रास और अर्थानुप्रास।

स्फुटानुप्रास

चन्द्रालोककार ने स्फुटानुप्रास की परिभाषा मे कहा है कि यदि श्लोक के आधे भाग मे या उसके भी आधे अर्थात् पाद मे किसी वर्ण की नियत आवृत्ति हो तो उसे स्फुटानुप्रास कहते है।[1] यह स्फुटानुप्रास-धारणा आचार्य दण्डी की धारणा से भिन्न नही। दण्डी ने अनुप्रास अलङ्कार का उल्लेख माधुर्य गुण के प्रसङ्ग मे किया था, अलङ्कार के प्रसङ्ग मे नही। दण्डी ने भा अनुप्रास के पदगत तथा पादगत भेद स्वीकार किया था। स्फुटानुप्रास की धारणा उससे मिलती-जुलती ही है।

अर्थानुप्रास

प्रस्तुत अलङ्कार जयदेव की नवीन कल्पना है। उनकी मान्यता है कि जहाँ उपमेय और उपमान-वाक्यो मे नियत वर्णावृत्ति हो वहाँ अर्थानुप्रास अलङ्कार होता है।[2] सादृश्यमूलक रूपक आदि मे भी उपमानोपमेय वाक्यों मे नियत वर्णो की आवृत्ति की कल्पना की जा सकती है। इस प्रकार उपमा आदि अर्थालङ्कारों के साथ वर्णावृत्ति-रूप अनुप्रास की धारणा को मिला कर अर्थानुप्रास नामक नवीन अलङ्कार की कल्पना की गयी है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि जयदेव के 'चन्द्रालोक' मे अधिकाशत पूर्ववर्ती आचार्यो की शब्दालङ्कार-धारणा को ही स्वीकार किया गया है। स्फुटानुप्रास का नाम-मात्र नवीन है। उसका स्वरूप दण्डी के अनप्रास के स्वरूप से अभिन्न है। एक नवीन शब्दालङ्कार 'अर्थानुप्रास' की उद्भावना का श्रेय जयदेव को है। इसमे नियत वर्णावृत्ति का विचार होने से यह शब्दालङ्कार है, पर उपमान तथा उपमेय-रूप अर्थ का विचार होने से अर्थालङ्कार। इसीलिए इसकी सज्ञा अर्थानुप्रास है, पर इसकी गणना शब्दालङ्कार-वर्ग मे की गयी है।

---

१ श्लोकस्यार्धे तदर्धे वा वर्णावृत्तिर्यदि ध्रुवा ॥
तदा मता मतिमता स्फुटानुप्रासता सताम् ॥—जयदेव, चन्द्रालोक, ५,५

२ उपमेयोपमानादावर्थानुप्रास इष्यते।—वही, ५, ६.

अर्थालङ्कारो के स्वरूप-निरूपण मे जयदेव ने आचार्य भरत से लेकर रुय्यक तक की कृतियो मे व्यक्त तत्तदलङ्कार-विषयक मान्यताओ का उपयोग किया है। प्राचीन आचार्यो के जिन अलङ्कारो को जयदेव ने स्वीकार किया है, उनके लक्षण भी प्राय उन्होने पूर्वाचार्यो के मतानुसार ही दिये है। प्राचीन अभिधान वाले अर्थालङ्कार के रूप-विधान मे चन्द्रालोककार ने नवीन स्थापना का प्रयास बहुत कम किया है। उन्होने किसी एक पूर्ववर्ती आचार्य के अलङ्कार-सिद्धान्त का अनुगमन नही कर विभिन्न अलङ्कारो की स्वरूप-मीमासा मे अलग-अलग आलङ्कारिको के मत को स्वीकार किया है। इस दृष्टि से हम 'चन्द्रालोक' मे प्रतिपादित प्राचीन अलङ्कारो के स्वरूप का परीक्षण नीचे करेगे।

प्राचीन आचार्यो मे सामान्य परिभाषा मे अधिकाधिक तथ्य-प्रकाशन की प्रवृत्ति अधिक थी। धीरे-धीरे आचार्यो का झुकाव विशेषीकरण की ओर बढा। एक सामान्य तथा व्यापक परिभाषा का ही तत्त्व लेकर अनेक विशिष्ट तथा सीमित परिभाषाएं बनायी जाने लगी। अलङ्कार-विवेचन के क्षेत्र मे भी यह प्रवृत्ति स्पष्ट है। आचार्यो के बुद्धि-विलास से ऐसे अनेक अलङ्कार आविर्भूत हुए जिनके स्वरूप मे बडे आयास से कुछ सूक्ष्म भेद दिखाया जा सकता है, और उस सूक्ष्म भेद के होने पर भी उन सब के स्वरूप तक प्राचीन आचार्य के किसी एक अलङ्कार-लक्षण की व्याप्ति पायी जा सकती है। 'चन्द्रालोक' मे मम्मट आदि आचार्यों के किसी व्यापक अलङ्कार-लक्षण के आधार पर जिन नवीन अलङ्कारो की कल्पना की गयी है उनका परीक्षण जयदेव की अलङ्कार-विषयक नूतन उद्भावना के सन्दर्भ में किया जायगा।

अलङ्कार के क्षेत्र मे जयदेव की कुछ नवीन उद्भावनाओं का भी अवमूल्यन नही किया जा सकता। प्रस्तुत सन्दर्भ मे जयदेव कृत 'चन्द्रालोक' मे निरूपित अर्थालङ्कारो का प्राचीन आचार्यो की रचनाओ मे विवेचित अलङ्कारो से स्वरूपगत समता-विषमता की दृष्टि से अध्ययन तथा 'चन्द्रालोक' मे कल्पित नवीन अलङ्कारो का स्रोत-सन्धान वाञ्छनीय है।

उपमा

उपमा अलङ्कार के सामान्य स्वभाव का विवेचन जयदेव ने प्राचीन आचार्यो के मतानुसार ही किया है। इसी सन्दर्भ मे उन्होने अनन्वय तथा उपमेयोपमा का स्वरूप-निरूपण किया है, जो प्राचीनो की पद्धति पर ही किया गया है। इस प्रसङ्ग मे उन्होने एक प्रतीपोपमा अलङ्कार की कल्पना की है।

इस कल्पना के आधार का परीक्षण अपेक्षित है। जयदेव ने प्रतीपोपमा से पृथक् प्रतीप अलङ्कार का भी विवेचन किया है। उक्त दो अलङ्कारो के परस्पर स्वतन्त्र अस्तित्व की स्वीकृति का औचित्य विचारणीय है। प्रतीपोपमा के लक्षण मे कहा गया है कि जहाँ प्रसिद्ध उपमान की कल्पना उपमेय के रूप में की जाती हो वहाँ प्रतीपोपमा नामक अलङ्कार होता है।[१] स्पष्ट है कि मम्मट, रुय्यक आदि के प्रतीप-लक्षण से प्रतीपोपमा का उक्त लक्षण अभिन्न है। फिर, जयदेव के प्रतीप अलङ्कार की स्वरूप-कल्पना का क्या आधार है? उन्होने प्रतीप की परिभाषा इस प्रकार दी है —उपमेय से उपमान की हीनता के वर्णन मे प्रतीप नामक अलङ्कार होता है।[२] उपमान के प्रति साधारणतः उपमेय की अपेक्षा आधिक्य की भावना रहा करती है। उपमेय के उत्कर्ष की व्यञ्जना के लिए कभी-कभी उसकी अपेक्षा उपमान को हेय बताया जाता है। ऐसे स्थल मे जयदेव ने प्रतीप का सद्भाव माना है। स्पष्टतः, प्रतीप का यह लक्षण भी मम्मट आदि के प्रतीप-लक्षण के ही समान है। मम्मट ने प्रतीप के दो रूप माने थे—(क) उपमान का आक्षेप (निन्दा या निषेध) तथा (ख) अनादर के लिए उपमान का उपमेयत्व-प्रकल्पन।[३] मम्मट के प्रतीप के प्रथम भेद के स्वरूप के आधार पर जयदेव ने प्रतीप की परिभाषा दी तथा द्वितीय भेद की प्रकृति के आधार पर प्रतीपोपमा को परिभाषित किया। वस्तुत प्रतीपोपमा और प्रतीप के पृथक्-पृथक् अस्तित्व की कल्पना आवश्यक नही। प्रतीपोपमा का नाम-मात्र नवीन है, स्वरूप प्राचीन आचार्यो के प्रतीप से अभिन्न। जयदेव ने ललितोपमा नामक अलङ्कार की कल्पना कर उसके लक्षण मे कहा है कि यदि उपमान लीला आदि पदों से युक्त हो तो उसे ललितोपमा कहेगे।[४] लीला के साथ 'आदि' से उन्हे कौन-कौन से पद अभिप्रेत थे यह स्पष्ट नही है। ललितोपमा के उदाहरण को दृष्टि मे रखकर 'चन्द्रालोक'

---

१. विख्यातस्योपमानस्य यत्र स्यादुपमेयता।
(इन्दुर्मुखमिवेत्यादौ) स्यात् प्रतीपोपमा तदा॥
—जयदेव, चन्द्रालोक, ५, १४

२. प्रतीपमुपमानस्य हीनत्वमुपमेयतः।—वही, ५, १००

३. आक्षेप उपमानस्य प्रतीपमुपमेयता।
तत्रैव यदि वा कल्प्या तिरस्कारनिबन्धनम्॥
—मम्मट, काव्यप्रकाश, १०, २०१

४. उपमाने तु लीलादिपदाढ्ये ललितोपमा।—जयदेव, चन्द्रालोक, ५, १५

के टीकाकार वैद्यनाथ पायगुण्ड ने उक्त अलङ्कार के सम्बन्ध मे जयदेव की मान्यता को इस प्रकार स्पष्ट करने का प्रयास किया है—उपमान-वाचक पद मे लीला आदि पदो का प्रयोग कर जहाँ उपमेय पर उपमान के धर्म का आरोप किया जाय, वहाँ जयदेव के मतानुसार ललितोपमा का सद्भाव माना जायगा। निष्कर्षत, इस अलङ्कार मे उपमान और उपमेय मे एक के धर्म का अपरत्र आरोप होता है।[१] भरत ने लीलादि अर्थ का वर्णन (लीला आदि चेष्टाओं का वर्णन) कान्ति गुण का धर्म माना था।[२] उपमान के साथ लीलादि-पद के प्रयोग की धारणा उक्त धारणा से प्रभावित जान पडती है। उपमान के धर्म का उपमेय पर आरोपित किया जाना ललितोपमा के जयदेव-प्रदत्त लक्षण पर टीकाकार के द्वारा आरोपित है। यदि यह जयदेव को अभीष्ट रहा हो तो उनके उक्त अलङ्कार का स्वरूप आचार्य दण्डी के समाधि गुण से मिलता-जुलता माना जायगा। किन्तु, जयदेव की यह मान्यता स्पष्ट नही है। केवल लीला आदि पद-विशेष के प्रयोग के आधार पर स्वतन्त्र अलङ्कार के अस्तित्व की कल्पना समीचीन नही जान पडती। स्तवकोपमा के लक्षण मे कहा गया है कि जहाँ अनेक उपमान उपमेय-रूप अर्थ-युग्म का सादृश्य दिखाया जाय वहाँ स्तवकोपमा नामक अलङ्कार माना जाता है।[3] अनेक उपमेय का अनेक उपमान के साथ सादृश्य निरूपित होने के कारण, उपमेय तथा उपमान के गुच्छ के सद्भाव के कारण, इसे स्तवकोपमा कहा जाता है। यह धारणा आचार्य भरत की उपमा के उस भेद की धारणा के समान है, जिसमे उन्होने अनेक उपमेय का अनेक उपमान से सादृश्य-प्रदर्शन वाञ्छनीय माना है।[४] सम्पूर्णोपमा की प्रकृति के सम्बन्ध मे यह मान्यता प्रकट की गयी है कि इसमे उपमान तथा

१. तत्रोपमानोपमेययोरन्यतरत्रान्यतरधर्मारोपो ललितोपमेति फलितम्।
—जयदेव, चन्द्रालोक, रमा टीका, पृ० ४३

२. लीलाद्यर्थोपपन्ना वा ता कान्ति कवयो विदुः॥
—भरत, नाट्यशास्त्र, १६, ११२

३. अनेकार्थस्य युग्मस्य सादृश्य स्तवकोपमा। —जयदेव, चन्द्रालोक, ५, १६

तथा

·····अर्थयुग्मस्योपमानोपमेयरूपस्यानेकस्य यत्सादृश्यं सा सा, उपमानोपमेययोरनेकत्वं यत्र यत्र सेति यावत्।—वही, रमा टीका, पृ० ४३

४. भरत, नाट्यशास्त्र, १६, ४२

उपमेय, दोनो मे एक धर्म की वाच्यता रहती है।[1] इसके स्वरूप की कल्पना आचार्य दण्डी के श्लेषोपमा-लक्षण के आधार पर की गयी है।[2]

रूपक

'चन्द्रालोक' मे रूपक अलङ्कार का सामान्य लक्षण प्राचीन आचार्यो के मतानुसार ही दिया गया है। जयदेव ने सोपाधिरूपक, सादृश्यरूपक, आभास-रूपक तथा रूपितरूपक, इन चार रूपक-प्रकारो का निरूपण किया है। सोपाधि तथा सादृश्यरूपक प्राचीन आचार्यो के क्रमश. परम्परित रूपक एवं समस्तवस्तु-विषय सावयवरूपक के समान है। आभास रूपक की कल्पना आरोप्यमाण की असुन्दरता के आधार पर की गयी है। अङ्ग पर यष्टि आदि असुन्दर वस्तु के आरोप को जयदेव आभास रूपक या रूपकाभास कहेगे।[3] वस्तुत अलङ्कार-योजना प्रस्तुत की प्रभाववृद्धि के लिए की जाती है। यदि आरोप्यमाण मे रमणीयता का अभाव हो, वह आरोप विषय के प्रभाव के सवर्धन मे अक्षम हो, तो उसे आभासरूपक कहा जायगा। प्रश्न यह है कि क्या इसे अलङ्कार का स्वतन्त्र प्रकार माना जाना चाहिए ? यदि आरोप्यमाण रमणीय नही है तो वह अलङ्कारत्व का विधान कैसे करेगा ? रस आदि के क्षेत्र मे आभास की कल्पना अनौचित्य के स्थल मे की गयी है। यदि आरोप के अनौचित्य के आधार पर रूपक के आभास-भेद की कल्पना की जाय तो उसका अलङ्कारत्व ही असिद्ध हो जायगा। स्पष्टत , आभासरूपक की कल्पना बुद्धि-विलास-मात्र है। रूपितरूपक के स्वरूप की कल्पना का आधार प्राचीन आचार्यो के रूपक-रूपक का स्वरूप है।

परिणाम की धारणा जयदेव ने रुय्यक के 'अलङ्कार-सूत्र' से ली है। उल्लेख के स्वरूप की कल्पना भी रुय्यक आदि के मतानुसार ही की गयी है।

जयदेव की अपह्नुति का सामान्य स्वरूप आचार्य दण्डी की अपह्नुति के स्वरूप से अभिन्न है। 'चन्द्रालोक' मे अपह्नुति के निम्नलिखित प्रकारों का विवेचन किया गया है—पर्यस्तापह्नुति, भ्रान्तापह्नुति, छेकापह्नुति, तथा कैतवापह्नुति। आचार्य दण्डी ने 'काव्यादर्श' मे अपह्नुति के भेदो के

---

१. स्यात् सम्पूर्णोपमा यत्र द्वयोरपि विधेयता।—जयदेव, चन्द्रालोक ५, १७

२. तुलनीय—दण्डी, काव्यादर्श, २, २८

३. स्यादङ्गयष्टिरित्येवविधमाभासरूपकम्।—जयदेव, चन्द्रालोक, ५, २१

विवेचन के उपरान्त उसके अन्य अनेक भेदो की सम्भावना भी प्रकट की थी। 'काव्यादर्श' के टीकाकार नृसिंहदेव ने जयदेव-कल्पित उक्त अपह्नुति-भेदो को दण्डी-सम्मत स्वीकार किया है।[1] यह मान्यता उचित ही जान पडती है। ऐसे बहुत-से अपह्नुति-प्रकार दण्डी आदि के समय ही प्रचलित रहे होगे। उन्होने सब को अलग-अलग परिभाषित करना आवश्यक नही समझा होगा। दण्डी के सङ्केत का सहारा लेकर ही जयदेव ने अपह्नुति के उक्त भेदो की कल्पना की है।

उत्प्रेक्षा की प्रकृति के सम्बन्ध मे जयदेव प्राचीन आचार्यो से सहमत है। उन्होने उत्प्रेक्षा के एक गूढा भेद की कल्पना की है, जिसमे उत्प्रेक्षा के वाचक इव आदि शब्दो के प्रयोग का अभाव रहता है।[2] 'अलङ्कार-सर्वस्व' मे इवादि के अभाव मे प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा की कल्पना की गयी थी।[3] गूढोत्प्रेक्षा का स्वरूप उक्त प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा के ही समान है।

स्मृति, भ्रान्ति, सन्देह, मीलित तथा सामान्य अलङ्कारो के लक्षण जयदेव ने मम्मट, रुय्यक आदि पूर्ववर्ती आचार्यो की मान्यता के अनुरूप दिये है।

अनुमान का स्वरूप मम्मट, रुय्यक आदि के मतानुसार कल्पित है। अर्थापत्ति अलङ्कार की धारणा रुय्यक के 'अलङ्कार सूत्र' मे ली गयी है। काव्यलिङ्ग तथा परिकर अलङ्कारो के स्वरूप के सम्बन्ध मे जयदेव मम्मट तथा रुय्यक आदि आचार्यों से सहमत है।

अतिशयोक्ति की सामान्य धारणा मम्मट आदि आचार्यों की तद्विषयक धारणा से अभिन्न है। जयदेव ने प्रस्तुत अलङ्कार के छह भेदो की कल्पना की है। वे भेद है—अक्रमातिशयोक्ति, अत्यन्तातिशयोक्ति, चपलातिशयोक्ति, सम्बन्धातिशयोक्ति, भेदकातिशयोक्ति तथा रूपकातिशयोक्ति। अक्रम, अत्यन्त तथा चपल अतिशयोक्ति-भेद रुय्यक के कार्य-कारण-पौर्वापर्य-विध्वस-रूप अतिशय के आधार पर कल्पित है। रूपकातिशयोक्ति मम्मट के 'निगीर्याध्य-

---

१. · · ·अपह्नुतेः प्रकारत्रयं निरूप्य 'इत्यपह्नुतिभेदाना लक्ष्यो लक्ष्येषु विस्तर' इति आचार्यान्तरोक्तापह्नुतिभेदसंग्रहीकरणायोक्तम् तेन शुद्धापह्नुतिः, हेत्वपह्नुतिः, पर्यस्तापह्नुतिः, भ्रान्तापह्नुति., छेकापह्नुतिरित्याद्या अपि भेदा दण्डिना सम्मता एवाभान्ति ।
—काव्यादर्श, कुसुमप्रतिमा टीका, पृ० २३६-३७

२. इवादिकपदाभावे गूढोत्प्रेक्षा प्रचक्षते।—जयदेव, चन्द्रालोक, ५, ३०

३. प्रतीयमानाया पुनरिवाद्यप्रयोग.।—रुय्यक, अलङ्कारसर्वस्व, पृ० ५५

वसान' पर आधृत है। सम्बन्धातिशयोक्ति की कल्पना का आधार मम्मट, रुय्यक आदि के असम्बन्ध मे सम्बन्ध-वर्णन-रूप अतिशयोक्ति-प्रकार है। भेदकातिशयोक्ति का स्वरूप मम्मट के 'प्रस्तुतस्य अन्यत्व' के आधार पर कल्पित है। स्पष्टतः, अतिशयोक्ति-विषयक प्राचीन मान्यता का ही स्पष्टीकरण जयदेव ने किया है।

तुल्ययोगिता तथा दीपक के सम्बन्ध मे जयदेव की धारणा मम्मट आदि आचार्यो की धारणा के समान है। जयदेव ने आवृत्तिदीपक का लक्षण-निरूपण किया है। उनका आवृत्तिदीपक आचार्य दण्डी की आवृत्ति से अभिन्न है।[1]

प्रतिवस्तूपमा तथा दृष्टान्त की परिभाषाएँ जयदेव ने मम्मट आदि पूर्वाचार्यो के मतानुसार दी है। निदर्शना को जयदेव ने किञ्चित् नवीन रूप से परिभाषित किया है, यद्यपि उनकी तद्विषयक धारणा आचार्य मम्मट की धारणा से तत्वत. मिलती-जुलती ही है। उन्होने सादृश्य के कारण दो वाक्यार्थो मे ऐक्य के आरोप मे निदर्शना का सद्भाव माना है।[2] 'चन्द्रालोक' की 'रमा' व्याख्या मे निदर्शना की उक्त परिभाषा के स्पष्टीकरण मे कहा गया है कि इसमे दो वाक्यार्थो मे उपमानोपमेय-भाव की कल्पना कर आहार्य अभेदरूप तादात्म्य का आरोप किया जाता है।[3] इस प्रकार व्याख्याकार ने जयदेव की निदर्शना-धारणा को आचार्य मम्मट तथा रुय्यक की तद्विषयक धारणा से अभिन्न सिद्ध किया है।

व्यतिरेक और सहोक्ति के सम्बन्ध मे जयदेव की धारणा मम्मट, रुय्यक आदि पूर्ववर्ती आचार्यो की धारणा के समान है।

मम्मट ने विनोक्ति के दो रूप स्वीकार किये थे—अन्य के बिना अन्य का अशोभन होना तथा अन्य के बिना अन्य का शोभन होना। जयदेव ने इन दोनो मे से केवल प्रथम रूप का अलङ्कारत्व स्वीकार किया है।

समासोक्ति, श्लेष तथा अप्रस्तुतप्रशसा का लक्षण-निरूपण जयदेव ने मम्मट आदि की मान्यता के अनुरूप ही किया है। श्लेष के शब्दगत तथा अर्थगत,

---

१. तुलनीय—जयदेव, चन्द्रालोक, ५, ५४ तथा दण्डी, काव्यादर्श २, ११६

२ वाक्यार्थयो सदृशयोरैक्यारोपो निदर्शना।—जयदेव, चन्द्रालाक, ५, ५८

३. यत्र सादृश्यवशाद्वाक्यार्थयोरैक्यमारोप्यते उपमानोपमेयभाव-कल्पनाफलको वाक्यार्थयोराहार्याभेदनिश्चयरूपतादात्म्यारोप इति यावत्तत्र निदर्शनालङ्कारः।—वही, रमा टीका पृ० ५६

दोनो भेद जयदेव को मान्य है। उन्होंने पदश्लेप के सभङ्ग तथा अभङ्ग भेदों का भी विवेचन किया है। शब्दश्लेप का शब्दालङ्कार के सन्दर्भ मे पृथक् विवेचन नही कर एक ही स्थल मे श्लेप के भेद के रूप मे शाब्द तथा आर्थ श्लेषो का लक्षण-निरूपण किया गया है।

अर्थान्तरन्यास का जयदेव-प्रदत्त लक्षण मम्मट आदि के लक्षण से मिलता-जुलता है। पर्यायोक्ति तथा व्याजस्तुति की प्रकृति का विवेचन भी जयदेव ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यो के मतानुसार ही किया है।

आक्षेप अलङ्कार के सामान्य लक्षण-निरूपण मे जयदेव पूर्वाचार्यो से पूर्णत: सहमत है। उन्होने गूढाक्षेप-नामक एक नवीन आक्षेप-प्रकार का उल्लेख किया है। यह आक्षेप-प्रकार नाम्ना ही नवीन है। इसकी प्रकृति आचार्य रुय्यक के द्वितीय आक्षेप-भेद के समान है। आचार्य दण्डो ने इससे मिलते-जुलते आक्षेप के स्वभाव का विवेचन साचिव्याक्षेप नाम से किया था।

विरोध अलङ्कार की धारणा जयदेव ने आचार्य रुद्रट के 'काव्यालङ्कार' से ली है। रुद्रट के पूर्व आचार्य दण्डी भी विरोध का विवेचन कर चुके थे।

विरोधाभास के लक्षण-निरूपण मे जयदेव ने मम्मट आदि प्राचीन आचार्यों की मान्यता को ही स्वीकार किया है।

विभावना, विशेषोक्ति और असङ्गति के लक्षण जयदेव ने पूर्वाचार्यो के मतानुसार दिये है।

विषम अलङ्कार के लक्षण-निरूपण मे चन्द्रालोककार ने आचार्य मम्मट के विषम-विषयक सिद्धान्त का अशत: उपयोग किया है। मम्मट ने विषम के चार रूपो को स्वीकार किया था। उनमे से एक लक्षण—अनुपपद्यमान का योग—को जयदेव ने विषम अलङ्कार का लक्षण स्वीकार किया।[1] मम्मट के द्वितीय विषम-लक्षण के आधार पर उन्होने विषादन नामक एक नवीन अलङ्कार की कल्पना कर ली। इसका विवेचन हम यथास्थान करेंगे।

सम की धारणा मम्मट आदि आचार्यों की धारणा के समान है। विचित्र की प्रकृति का निरूपण जयदेव ने रुय्यक के मतानुसार किया है। अधिक की परिभाषा देते हुए जयदेव ने मम्मट आदि आचार्यों के अधिक के एक ही

१. विषम यद्यनौचित्यादनेकान्वयकल्पनम् ।—जयदेव, चन्द्रालोक, ५,८०
तुलनीय—मम्मट, काव्यप्रकाश, १०, १२६-२७ पृ० २८५

रूप को—आधार से आधेय के आधिक्य-वर्णन-रूप अधिक को—स्वीकार किया है। अन्योन्य का लक्षण मम्मट आदि की मान्यता के अनुरूप दिया गया है। विशेष को जयदेव ने मम्मट के मतानुसार ही परिभाषित किया है; किन्तु उन्होने मम्मट के विशेष का एक ही रूप स्वीकार किया है—ख्यात आधार के बिना भी आधेय का वर्णन।

व्याघात का लक्षण-निरूपण 'चन्द्रालोक' मे कुछ नवीन रूप मे किया गया है। जयदेव की मान्यता है कि जहाँ लोकप्रसिद्ध कार्य करने वाली वस्तु अयथाकारी रूप मे वर्णित हो अर्थात् प्रसिद्ध क्रिया को छोड विरुद्ध कार्य उत्पन्न करे, वहाँ व्याघात अलङ्कार होता है।[1] ध्यातव्य है कि मम्मट ने किसी के द्वारा प्रयुक्त साधन का विजिगीषु के द्वारा उसी के विरुद्ध प्रयोग किये जाने मे व्याघात का सद्भाव माना था। रुय्यक ने भी इस धारणा को स्वीकार किया था, पर उन्होने इसके साथ ही व्याघात के एक और रूप की कल्पना की थी, जिसमे किसी विशेष उद्देश्य से किसी कारण का उसके प्रकृत कार्य से विरुद्ध कार्य की निष्पादकता का समर्थन किया जाता है। जयदेव की व्याघात-धारणा रुय्यक की इस धारणा से प्रभावित जान पडती है; किन्तु इसमे उन्होने रुय्यक की तरह विशेष प्रयोजन की सिद्धि पर बल नही दिया है।

कारणमाला, एकावली, दीपकैकावली या मालादीपक तथा सार अलङ्कारो के सम्बन्ध मे जयदेव की धारणा पूर्वाचार्यो की धारणा से अभिन्न है। 'चन्द्रालोक' मे उदारसार-नामक एक अलङ्कार का लक्षण-निरूपण किया गया है। इसकी परिभाषा मे कहा गया है कि जहाँ उपमाननिष्ठ गुण की अपेक्षा उपमेयनिष्ठ गुण की अधिकता का वर्णन करते हुए भिन्न होने पर भी शब्द-महिमा से उनके गुणो मे एकता का आभास दिलाया जाय, वहाँ उदारसार अलङ्कार होता है।[2] भिन्न गुण मे अभिन्नता का आभास आरोप का परिणाम होता है, जो लाक्षणिक प्रयोग पर आधृत है। उदाहरणार्थ, यदि काव्य को मधु से अधिक मधुर पीयूष मे भी बढ कर मधुर कहा जाय तो जयदेव इसे उदारसार मानेगे। काव्य की मिठास लाक्षणिक प्रयोग है। वह तत्त्वत. मधु आदि की मिठास से भिन्न है, फिर भी उक्त कथन मे मधु और काव्य के

---

१. स्याद्व्याघातोऽयथाकारि वस्तुनि अक्रियमुच्यते।
—जयदेव, चन्द्रालोक, ५, ८६

२ उदारसारश्चेद्भाति भिन्नोऽभिन्नतया गुण·।—वही, ५, ९१

गुणो की एकता का आभास मिलता है। इस लाक्षणिक प्रयोग पर आधृत सार का भी समावेश मम्मट आदि के सामान्य सार-लक्षण मे सम्भव है। अत:, उदारसार की पृथक् सत्ता की कल्पना को जयदेव का कल्पना-विलास-मात्र माना जा सकता है।

यथासख्य तथा पर्याय अलङ्कारो के स्वभाव के सम्बन्ध मे जयदेव अपने पूर्ववर्ती मम्मट आदि आचार्यों की धारणा से पूर्णत सहमत है। परिवृत्ति के लक्षण मे उन्होने मम्मट की परिवृत्ति का केवल असम मे परिवर्त्तन रूप स्वीकार किया है। परिसख्या के विषय मे भी वे मम्मट आदि से एकमत है।

विकल्प अलङ्कार की धारणा जयदेव ने आचार्य रुय्यक से ली है। उनका समुच्चय आचार्य मम्मट के द्वितीय समुच्चय के समान है। समाधि तथा प्रत्यनीक के लक्षण की कल्पना उन्होने मम्मट आदि की तद्विषयक धारणा के आधार पर की है।

हम देख चुके है कि 'चन्द्रालोक' मे उल्लिखित प्रतीप अलङ्कार का लक्षण पूर्ववर्ती आचार्यों के प्रतीप-लक्षण से अभिन्न है। तद्गुण, अतद्गुण तथा प्रश्नोत्तर के स्वरूप की कल्पना जयदेव ने मम्मट आदि पूर्ववर्ती आचार्यों की तद्विषयक धारणा के अनुरूप की है। मम्मट के उत्तर को ही 'चन्द्रालोक' मे प्रश्नोत्तर कहा गया है।

पिहित अलङ्कार के स्वरूप की कल्पना जयदेव ने कुछ नवीन रूप मे की है। उनके पूर्व आचार्य रुद्रट पिहित का स्वरूप-निरूपण कर चुके थे, पर उन्होंने रुद्रट की पिहित-धारणा को स्वीकार नही किया। उन्होने पिहित के लक्षण मे कहा है कि जहाँ दूसरे के वृत्तान्त को जानने वाला विशेष प्रकार की चेष्टा करता हो, वहाँ उक्त अलङ्कार होता है।[१] इस प्रकार जयदेव ने पिहित का स्वभाव मम्मट आदि के सूक्ष्म अलङ्कार के स्वभाव के समान बना दिया है। मम्मट ने आकृति या इङ्गित से मनोभाव के प्रकटीकरण को सूक्ष्म कहा था।[२] जयदेव ने रुद्रट से पिहित की सज्ञा लेकर मम्मट के सूक्ष्म की प्रकृति के आधार पर उसके रूप की कल्पना कर ली। उद्योतकार इसे मम्मट आदि के सूक्ष्म से स्वतन्त्र नही मानते।[३]

---

१. पिहित परवृत्तान्तज्ञातुरन्यस्य चेष्टितम्।—जयदेव, चन्द्रालोक, ५,१०९

२ द्रष्टव्य—मम्मट, काव्यप्रकाश, १०,११२ पृ० २८१

३. उद्योतकारास्तु—सूक्ष्मालङ्कारान्तर्भूतत्वान्न पिहितालङ्कार. पृथगलङ्कार इत्याहु.।—कुवलयानन्द अलङ्कारचन्द्रिका टीका पृ० १६८

व्याजोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक तथा उदात्त अलङ्कारो के लक्षण भी जयदेव ने पूर्ववर्ती आचार्यों की मान्यता का अनुसरण करते हुए ही दिये है। वक्रोक्ति की गणना उन्होने अर्थालङ्कारो की पंक्ति मे की है। मम्मट आदि आचार्य उसे शब्दालङ्कार मानते थे। वस्तुत वक्रोक्ति मे पर्याय-परिवर्त्तन नही किया जा सकता। अत वह शब्दालङ्कार ही है। उसके स्वरूप के सम्बन्ध मे जयदेव मम्मट आदि से सहमत है।

भाविक के साथ जयदेव ने एक भाविकच्छवि अलङ्कार का भी विवेचन किया है। इसमे उन्होंने देश से तथा अपने से दूरवर्ती पदार्थ के साक्षात्कार पर बल दिया है।[1] भाविक के स्वरूप मे ही इसका अन्तर्भाव सम्भव है। इसके स्वतन्त्र अस्तित्व की कल्पना आवश्यक नही।

स्पष्ट है कि पूर्व-प्रचलित जितने अलङ्कारो के नाम जयदेव ने स्वीकार किये है, प्राय उनके रूप की कल्पना भी प्राचीन आचार्यो के मतानुसार ही की है। कुछ अलङ्कारो के प्राचीन लक्षण को अशत स्वीकार कर उन्होने अवशिष्ट लक्षण का उपयोग दूसरे अलङ्कार की स्वरूप-कल्पना मे कर लिया है। उदाहरणार्थ—प्रतीप के सम्बन्ध मे पूर्वाचार्यो के मन्तव्य का अवलम्ब लेकर प्रतीप तथा प्रतीपोपमा की पृथक्-पृथक् कल्पना कर ली गयी है।

कुछ अलङ्कार के प्राचीन स्वरूप को उन्होने अस्वीकार भी किया है, पर उसके सर्वथा नवीन रूप की कल्पना नही कर उन्होंने प्राचीन आचार्यो के किसी अन्य अलङ्कार के स्वरूप के आधार पर उसकी स्वरूप-कल्पना कर ली है। पिहित के रुद्रट-प्रदत्त लक्षण को अस्वीकार कर मम्मट आदि के सूक्ष्म के स्वरूप के आधार पर पिहित की स्वरूप-कल्पना इस कथन का प्रमाण है।

उपमा, रूपक, अपह्नुति आदि के यत्किञ्चित् नवीन भेदो की कल्पना जयदेव ने की है। उनकी कल्पना का आधार प्राचीन आचार्यो के सामान्यत. तत्तदलङ्कार-लक्षण मे ही पाया जा सकता है।

'चन्द्रालोक' मे नवीन नाम-रूप वाले जिन अलङ्कारो का लक्षण-निरूपण किया गया है, उनके स्रोत का परीक्षण प्रस्तुत सन्दर्भ मे वाञ्छनीय है। उक्त

---

१ देशात्मविप्रकृष्टस्य दर्शन भाविकच्छवि ।
—जयदेव, चन्द्रालोक, ५, ११४

ग्रन्थ मे निम्नलिखित नवीन अर्थालङ्कारो का उल्लेख पाया जाता है—उन्मीलित, परिकराङ्‌कुर, प्रौढोक्ति, सम्भावना, प्रहर्षण, विषादन, विकस्वर, असम्भव, उल्लास, पूर्वरूप, अनुगुण, अवज्ञा, भाविकच्छवि तथा अत्युक्ति।

उन्मीलित

उन्मीलित जयदेव की नवीन कल्पना है। इसका स्वभाव मीलित के ठीक विपरीत है। उद्योतकार इसे मीलित की ही एक स्थिति मानते है।[१] जगन्नाथ ने भी इस अलङ्कार की कल्पना को अनावश्यक माना है।[२] शोभाकर ने विवेक के स्वरूप की जो कल्पना की थी उससे उन्मीलित का स्वरूप मिलता-जुलता है।

परिकराङ्‌कुर

परिकराङ्‌कुर भी जयदेव का नवीन अलङ्कार है। इसकी प्रकृति परिकर से बहुत-कुछ मिलती-जुलती है। भेद केवल इतना है कि परिकर मे विशेषण का साभिप्राय प्रयोग होता है और परिकराङ्‌कुर मे विशेष्य का। साभिप्राय पद-प्रयोग पर दोनो मे समान रूप से बल दिया गया है।

प्रौढोक्ति

अतिशयोक्ति की प्राचीन धारणा के आधार पर जयदेव ने प्रौढोक्ति-नामक नवीन अलङ्कार की कल्पना कर ली है। इसका स्वरूप अतिशयोक्ति से इतना मिलता-जुलता है कि इसके पृथक् अस्तित्व की कल्पना आवश्यक नही जान पडती। प्रौढोक्ति के सम्बन्ध मे जयदेव की मान्यता है कि जिसमे जो अशक्त हो उसमे उसका सामर्थ्य-वर्णन प्रौढोक्ति है।[३] 'चन्द्रालोक' की 'रमा' टीका मे उचित ही कहा गया है कि यह मम्मट की अतिशयोक्ति से भिन्न नही।[४]

---

१. उन्मीलितालङ्कारो मीलितालङ्कारान्तर्भूतएवेति प्राहुरुद्योतकारादय‌।
—कुवलयानन्द, अलङ्कारचन्द्रिका टीका, पृ० १६५
२. द्रष्टव्य—जगन्नाथ, रसङ्गाधर, पृ० ८१७-१९
३. प्रौढोक्तिस्तदशक्तस्य तच्छक्तत्वावकल्पनम्।—जयदेव, चन्द्रालोक, ५,४७
४. अयं चातिशयोक्तिभेदा नालङ्कारान्तरमिति काव्यप्रकाशः।
—वही, रमा टाका, पृ० ५३

सम्भावना

सम्भावना की कल्पना भी अतिशयोक्ति के ही आधार पर की गयी है। मम्मट ने अतिशयोक्ति के एक भेद 'यद्यर्थोक्ति' की कल्पना की थी। जयदेव की सम्भावना अतिशयोक्ति के उक्त प्रकार से अभिन्न है।[१]

प्रहर्षण

प्रहर्षण की परिभाषा मे जयदेव ने कहा है कि जहाँ वाञ्छित अर्थ से अधिक की प्राप्ति का वर्णन होता है, वहाँ प्रहर्षण नामक अलङ्कार होता है।[२] अभीष्ट अर्थ से अधिक की प्राप्ति से उत्पन्न हर्ष ही प्रस्तुत अलङ्कार के अभिधान का आधार है। यह जयदेव का नवीन अलङ्कार है।

विषादन

विषादन की कल्पना पूर्वाचार्य के विषम अलङ्कार के लक्षण के आधार पर की गयी है। रुय्यक ने विषम के दो रूप स्वीकार किये थे—विरूप पदार्थ की घटना तथा अनर्थोत्पत्ति। विरूप-घटना-रूप विषम की धारणा को स्वीकार कर जयदेव ने विषम अलङ्कार को परिभाषित किया और अनर्थोत्पत्ति-रूप विषम के लक्षण को लेकर विषादन नामक नवीन अलङ्कार की कल्पना कर ली। स्पष्टत , विषादन का नाममात्र नवीन है, स्वरूप प्राचीन।

विकस्वर

विकस्वर मे जयदेव के अनुसार विशेष के समर्थन के लिए सामान्य का उपन्यास किये जाने पर पुन. उस सामान्य के समर्थन के लिए उपमानभूत विशेष का उपन्यास किया जाता है।[3] स्पष्टत , इस अलङ्कार की सम्भावना प्राचीन आचार्यो के अर्थान्तरन्यास के सामान्य लक्षण मे ही निहित थी। अर्थान्तरन्यास मे विशेष का सामान्य से तथा सामान्य का विशेष से समर्थन होता है। इसमे समर्थक वाक्य का पुन. अन्य वाक्य से समर्थन की धारणा थोडी नवीन है, पर इसकी कल्पना का मूल अर्थान्तरन्यास-धारणा मे ही है।

---

१. सम्भावन यदीत्थ स्यादित्यूहोऽन्यप्रसिद्धये।—जयदेव, चन्द्रालोक, ५, ४८

२. वाञ्छितादधिकप्राप्तिरयत्नेन प्रहर्षणम्।—वही, ५, ४९

३. यस्मिन्विशेषसामान्यविशेपा: स विकस्वर ।—वही, ५, ६६

असम्भव

अर्थ-निष्पत्ति मे असम्भाव्यत्व के वर्णन मे जयदेव ने असम्भव नामक अलङ्कार की सत्ता मानी है।[1] प्राचीन आचार्यो के विरोधाभास की सामान्य-धारणा मे प्रस्तुत अलङ्कार की सम्भावना निहित थी। इसके स्वतन्त्र अस्तित्व की प्रथम कल्पना का श्रेय जयदेव को है। कुछ आचार्यो ने विरोधाभास से इसके स्वतन्त्र अस्तित्व की कल्पना को अनावश्यक बताया है।[2]

उल्लास

उल्लास मे एक के गुण से दूसरे का दोष वर्णित होता है। टीकाकार ने उक्त कथन को उपलक्षण मान कर अन्य के दोष से अन्य के गुणवर्णन, अन्य के दोष से अन्य के दोष तथा अन्य के गुण से अन्य के गुण-वर्णन मे भी उल्लास की सत्ता स्वीकार की है।[3] यह जयदेव की नवीन कल्पना है। कुछ लोगो ने इसे काव्यलिङ्ग मे अन्तर्भूत माना है।[4]

पूर्वरूप

पूर्वरूप की कल्पना भी नवीन है। इसमे वस्तु की पुन· पूर्वरूपता-प्राप्ति का वर्णन होता है। इसके दो रूप माने गये है—(क) वस्तु का पुन अपना गुण प्राप्त कर लेना तथा (ख) वस्तु के नष्ट रूप की पुनः प्राप्ति। दूसरे पूर्वरूप मे वस्तु के विनाश का वर्णन तथा दूसरी वस्तु से उस नष्ट वस्तु के कार्य का कथन होता है।[5] शोभाकर ने इससे मिलते-जुलते स्वरूप की कल्पना प्रतिप्रसव नामक अलङ्कार मे की थी। सम्भव है, पूर्वरूप के प्रसव का श्रेय प्रति-प्रसव को हो।

---

१. असम्भवोऽर्थनिष्पत्तावसम्भाव्यत्ववर्णनम्।—जयदेव, चन्द्रालोक ५,७६

२. नेदमलङ्कारान्तरम्; किन्तु विरोधाभास· · एवेत्यन्ये।
—कुवलयानन्द, अलङ्कारचन्द्रिका टीका, पृ० १०८

३. उल्लासोऽन्यमहिम्ना चेद्दोषो ह्यन्यत्र वर्ण्यते।
—जयदेव, चन्द्रालोक, ५, १०१ तथा उसपर रमा टीका, पृ० ७०

४. काव्यलिङ्गेन गतार्थोऽय नालङ्कारान्तरत्वभूमिमारोहतीत्येके।
—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, २ पृ० ८०५

५. पुन· स्वगुणसम्प्राप्तिर्विज्ञेया पूर्वरूपता। तथा—
यद्वस्तुनोऽन्यथारूप तथा स्यात् पूर्वरूपता॥
—जयदेव, चन्द्रालोक, ५, १०३ तथा १०४

अनुगुण

अनुगुण अलङ्कार मे वस्तु के स्वत.सिद्ध गुण का ही अन्य वस्तु के ससर्ग से उत्कर्ष का वर्णन होता है।[१] यह जयदेव का नवीन अलङ्कार है। यह तद्गुण से इस अश मे मिलते-जुलते स्वभाव का है कि तद्गुण मे भी एक वस्तु ससर्ग के कारण दूसरी वस्तु का गुण ग्रहण करती है और अनुगुण मे भी एक वस्तु ससर्ग से दूसरी वस्तु का गुण ग्रहण कर अपने गुण का उत्कर्ष करती है। दोनो मे स्वल्प भेद यह है कि तद्गुण मे कोई वस्तु अपने गुण का त्याग कर दूसरी वस्तु का गुण ग्रहण करती है, पर अनुगुण मे दूसरे का गुण लेकर अपने ही गुण का उत्कर्ष किया जाता है।

अवज्ञा

अवज्ञा मे एक वस्तु के गुण-दोष से दूसरी वस्तु का अप्रभावित रहना वर्णित होता है।[२] अवज्ञा भी जयदेव की नूतन उद्भावना है।

भाविकच्छवि

भाविक की तरह इसमे भी परोक्ष अर्थ के दर्शन पर बल दिया गया है। इस दृष्टि से इसकी प्रकृति भाविक से बहुलाशत मिलती-जुलती है। भाविक से इसकी प्रकृति को कुछ अलग करते हुए जयदेव ने कहा है कि इसमे देश से या अपने से दूरवर्ती अर्थ का दर्शन वर्णित होता है।[३] भाविकच्छवि की कल्पना भी सूक्ष्म भेद के आधार पर पृथक्-पृथक् अलङ्कार के अस्तित्व-प्रकल्पन की प्रवृत्ति का परिणाम है।

अत्युक्ति

जयदेव के पूर्व अतिशयोक्ति से पृथक् अत्युक्ति के अस्तित्व की कल्पना नही की गयी थी। अत्युक्ति नामक स्वतन्त्र अलङ्कार की कल्पना सर्वप्रथम जयदेव ने ही की, पर इसकी धारणा को उनकी नवीन उद्भावना नही माना जा सकता। इसके स्वरूप की कल्पना आचार्य दण्डी के कान्ति गुण के स्वरूप

---

१. प्राक्सिद्धस्वगुणोत्कर्षोऽनुगुण परसन्निधे।

—जयदेव, चन्द्रालोक, ५, १०६

२ वही, ५,१०७

३. देशात्मविप्रकृष्टस्य दर्शन भाविकच्छविः।—वही, ५, ११४

के आधार पर की गयी है। जयदेव के अनुसार इसमे अद्भुत तथा अमत्य शौर्य, दान आदि का वर्णन किया जाता है। दण्डी ने भी कान्ति गुण मे अलोक-सिद्ध अर्थ के वर्णन पर बल दिया था। दण्डी ने स्वय कान्ति के लिए अत्युक्ति, इस अपर पर्याय का प्रयोग किया था।[१] स्पष्ट है कि दण्डी की उक्त कान्ति या अत्युक्ति की धारणा को लेकर जयदेव ने प्रस्तुत अलङ्कार की कल्पना की है।

'चन्द्रालोक' मे विवेचित उक्त अलङ्कारो के परीक्षण से प्राप्त निष्कर्ष निम्नलिखित है :—

(क) पूर्वाचार्यो ने जहाँ एक अलङ्कार के एकाधिक रूपो की कल्पना की थी, वहाँ जयदेव ने उन रूपो के आधार पर अनेक परस्पर स्वतन्त्र अलङ्कारो का कल्पना कर ली। इस प्रकार मम्मट आदि आचार्यो की अतिशयोक्ति के एक रूप को अतिशयोक्ति अभिधान से स्वीकार किया गया तथा उसी के दूसरे रूप को—यद्यर्थोक्ति-प्रकल्पन रूप को—सम्भावना नाम से स्वतन्त्र अलङ्कार मान लिया गया। रुय्यक आदि के विषम अलङ्कार के दो रूपो के आधार पर विषम तथा विषादन, इन दो अलङ्कारो की कल्पना कर ली गयी। विरूप घटना-रूप विषम को विषम सज्ञा से स्वीकार कर उसके अनर्थोत्पत्ति रूप को विषादन नाम से नवीन अलङ्कार स्वीकार किया गया। प्राचीन आचार्यो के प्रतीप के लक्षण के आधार पर ही प्रतीप तथा प्रतीपोपमा के पृथक्-पृथक् अस्तित्व की कल्पना की गयी। प्राचीनो के एक अलङ्कार के अनेक रूपो के आधार पर एकाधिक अलङ्कार की कल्पना 'चन्द्रालोक' मे अलङ्कार की संख्यावृद्धि का एक कारण है। सम्भावना, विषादन तथा प्रतीपोपमा आदि नवीन अलङ्कारो के आविर्भाव का यही रहस्य है।

(ख) जयदेव मे थोडे-थोडे बहुत ही सूक्ष्म भेदो के आधार पर अलग-अलग अलङ्कारो का कल्पना का प्रवृत्ति अधिक पायी जाती है। प्राचीन आचार्यों मे सामान्य रूप से तथ्य-निर्देश की प्रवृत्ति थी। जब नवीन-नवीन तथ्यो की उद्भावना का समय समाप्त हुआ तो उन्ही पूर्वनिर्दिष्ट तथ्यो के

---

१. इदमत्युक्तिरित्युक्तम्‌ ···· ····।—दण्डी, काव्यादर्श, १,९२ तथा उस पर 'कुसुमप्रतिमा' टीका—इदम्‌ = उपरि दर्शितमेवम्प्रकार काव्यम्‌ 'अत्युक्ति.' इत्युक्तम्‌ = अत्युक्तिनाम्ना कथितमालङ्कारिकै·। तथा च जयदेवः—अत्युक्तिरद्भुतातथ्यशौर्योदार्यादिवर्णनम्‌····।—पृ० ६०

आधार पर सूक्ष्म भेदों को लेकर अलग-अलग नाम से अलग-अलग अलङ्कारो की कल्पना की जाने लगी। भूत-भावी अर्थ के साक्षात्कार-रूप भाविक से स्वतन्त्र देशात्म-विप्रकृष्ट अर्थ के दर्शन-रूप भाविकच्छवि की कल्पना, अन्य के ससर्ग मे आकर उसके गुण को ग्रहण करने की प्रकृति वाले तद्गुण से अलग ससर्ग मे आने वाली वस्तु का गुण ग्रहण कर अपने गुण का उत्कर्ष करने की प्रकृति वाले अनुगुण की कल्पना तथा साभिप्राय विशेषण-प्रयोग-रूप परिकर से पृथक् साभिप्राय विशेष्य-प्रयोग-रूप परिकराङ्कुर की कल्पना इसी प्रवृत्ति का द्योतक है।

(ग) प्राचीन आचार्यो के कुछ अलङ्कारेतर काव्य-तत्त्वों के आधार पर भी पीछे चल कर कुछ अलङ्कारो की कल्पना की गयी है। जयदेव ने भी आचार्य दण्डी के कान्ति गुण के आधार पर, जिसे उन्होने अत्युक्ति भी कहा है, अत्युक्ति नामक अलङ्कार की कल्पना की है।

(घ) जयदेव ने कुछ ऐसे अलङ्कारो की भी नवीन नाम से कल्पना की है, जिनकी सम्भावना प्राचीन आलङ्कारिको के विशेष अलङ्कार मे ही थी। विकस्वर की कल्पना इस कथन का प्रमाण है। अर्थान्तरन्यास मे सामान्य और विशेष का एक दूसरे से समर्थन वाञ्छनीय माना गया था। उसी की एक विशेष प्रक्रिया विकस्वर मे पायी जाती है। इसमे विशेष का सामान्य से तथा फिर सामान्य का विशेष से समर्थन किया जाता है। असम्भव की सम्भावना विरोधाभास के सामान्य लक्षण मे ही निहित थी।

(ङ) कुछ ऐसे स्वतन्त्र अलङ्कार की भी कल्पना 'चन्द्रालोक' में की गयी है, जिसके स्वरूप का प्राचीन आचार्य के किसी अलङ्कार-विशेष से इतना कम भेद है कि उसके स्वतन्त्र अस्तित्व की कल्पना केवल कल्पनाविलास के लिए ही की गयी जान पडती है। उदाहरणार्थ, प्रौढोक्ति का स्वरूप अतिशयोक्ति से इतना मिलता-जुलता है कि उसके पृथक् अस्तित्व की कल्पना अनावश्यक जान पडती है।

(च) चन्द्रालोककार ने कुछ प्राचीन अलङ्कारो के विपरीत स्वभाव वाले अलङ्कारो की भी कल्पना की है। मीलित-विपर्ययात्मक उन्मीलित की कल्पना इसका प्रमाण है।

(छ)उल्लास, पूर्वरूप, प्रहर्षण तथा अवज्ञा अलङ्कारो का उद्भावना के श्रेय के भागी जयदेव है।

उक्त अलङ्कारो के अतिरिक्त 'कुवलयानन्द' मे विवेचित कुछ अलङ्कारों

को भी कुछ साहित्येतिहासविदो ने जयदेव के द्वारा कल्पित माना है। हम देख चुके है कि यह मान्यता विवादमुक्त नही है। कुछ विद्वान उन अलङ्कारो को जयदेव के परवर्ती आचार्य अप्पय्य दीक्षित की उद्भावना मानते है। उक्त मतो का परीक्षण कर किमी निष्कर्ष की प्राप्ति का आयास प्रस्तुत सन्दर्भ मे प्रस्तुत पक्तियो के लेखक को अभीप्ट नही है। इस अध्याय मे काव्यशास्त्र मे परिगणित नवीन अभिधान वाले अलङ्कारो के स्वरूप का केवल इस दृष्टि से अध्ययन अपेक्षित है कि उन उक्तिभङ्गियो के स्वरूप से प्राचीन आचार्य किसी-न किसी रूप मे परिचित थे या नही। दूसरे शब्दो मे उन अलङ्कारो के स्वरूप का बीज प्राचीन आचार्यो के काव्य-सिद्धान्त मे पाया जाता है या नही। इस उद्देश्य मे इस बात से विशेष अन्तर नही पडेगा कि वे अलङ्कार 'चन्द्रालोक' मे सर्वप्रथम विवेचित हुए या 'कुवलयानन्द' मे। अत उन अलङ्कारो के स्रोत का अन्वेपण हम अप्पय्य दीक्षित की अलङ्कार-धारणा के अध्ययन-क्रम मे करेंगे।



अलङ्कारोदाहरण

'अलङ्कारोदाहरण' के रचयिता के सम्बन्ध मे विद्वानो मे मतभेद है। मुरारिदान के 'यशवन्त यशोभूपण' मे यशस्कर को 'अलङ्कारोदाहरण' का रचयिता माना गया है।[१] डॉ० डे के अनुसार रुय्यक के 'अलङ्कार-सर्वस्व पर विमर्शिनी-नामक टीका लिखने वाले जयरथ ने 'अलङ्कारोदाहरण' की रचना की थी।[२] इस ग्रन्थ का उद्देश्य बच्चो को सरलता से अलङ्कार का ज्ञान कराना था। अत अलङ्कार-विषयक मौलिक चिन्तन की अपेक्षा अलङ्कार-लक्षण की सरलता का ही दृष्टि से इस कृति का अधिक महत्त्व है। 'विमर्शिनी' मे शोभाकर के जिन अलङ्कारो का खण्डन किया गया है, उन्हे भी 'अलङ्कारो-दाहरण' मे सोदाहरण विवेचित किया गया है। प्रस्तुत सन्दर्भ मे उक्त ग्रन्थ मे निरूपित नवीन अलङ्कारो का ही परीक्षण इष्ट है।

मुरारिदान ने 'अलङ्कारोदाहरण' के आठ नवीन अलङ्कारो की चर्चा की है। वे है—अङ्ग, अनङ्ग, अप्रत्यनीक, अभ्यास, अभीष्ट, तात्पर्य, तत्सदृशाकार तथा प्रतिबन्ध।

---

१. रामचन्द्र द्विवेदी, अलङ्कारसर्वस्व-मीमासा, पृ० ५४

२. डॉ० डे, History of Sanskrit Poetics, खण्ड १, पृ० १८६

अङ्गी के फलवत्त्व तथा अन्य के अफलवत्त्व-वर्णन मे अङ्ग अलङ्कार माना गया है। अनङ्ग अङ्ग का विपरीत-धर्मा है। अप्रत्यनीक के स्वरूप की कल्पना प्रत्यनीक के वैपरीत्य के आधार पर की गयी जान पडती है। दुष्कर कार्य की सिद्धि के लिए अभ्यास का वर्णन अभ्यास अलङ्कार का स्वभाव माना गया है। कार्यारम्भ होते ही उसकी सिद्धि का वर्णन अभीष्ट की प्रकृति है। अनेक का निर्देश होने पर एक मे तात्पर्येच्छा तात्पर्य अलङ्कार है।[१] तत्सदृशाकार तथा प्रतिबन्ध का स्वरूप स्पष्ट नही।

इन नवोद्भावित अलङ्कारो मे से एक भी अलङ्कार-शास्त्र मे स्वतन्त्र अलङ्कार के रूप मे स्वीकृति नही पा सका। कारण स्पष्ट है। अङ्ग मे सौन्दर्य नही। अनङ्ग उसीका विपरीत-धर्मा है। अप्रत्यनीक प्रत्यनीक के वैपरीत्य के आधार पर कल्पित है। अभ्यास, अभीष्ट आदि सौन्दर्याभाव के कारण अलङ्कार नही।

'अलङ्कारोदाहरण' की पाण्डुलिपि के आधार पर रामचन्द्र द्विवेदी ने सम्भव तथा सस्कार नामक दो अलङ्कारो का उल्लेख किया है।[२] सस्कार शोभाकर की भ्रान्ति के समान है। सम्भव के स्वरूप की कल्पना पहले ही हो चुकी थी।[3] स्पष्टत, 'अलङ्कारोदाहरण' मे किसी महत्त्वपूर्ण अलङ्कार की उद्भावना नही हुई।



विश्वनाथ

विश्वनाथ का 'साहित्य-दर्पण' सस्कृत काव्य-शास्त्र के विद्यार्थियो का बहुत ही प्रिय ग्रन्थ सिद्ध हुआ है। साहित्यशास्त्र के विभिन्न अङ्गों का सरल-सुबोध शैली मे प्रतिपादन ही 'साहित्य-दर्पण' की लोकप्रियता का रहस्य है। दृश्य तथा श्रव्य काव्य के अङ्गोपाङ्गो का विवेचन विश्वनाथ ने अपने ग्रन्थ मे किया है। उनकी ख्याति का कारण मुख्यत· शैली की प्राञ्जलता, विवेचन की विशदता तथा विषय की व्यापकता है—तत्त्व-चिन्तन की मौलिकता नही। उन्होने दृश्य-काव्य के अङ्गो का निरूपण 'नाट्यशास्त्र'

१. उद्धृत, रामचन्द्र द्विवेदी, अलं० सर्वस्व-मी०, पृ० ५०-५३
२. वही, पृ० ५४
३ द्रष्टव्य—भोज, सरस्वती-कण्ठाभरण, ३, २५

तथा 'दश-रूपक' के आधार पर किया है। अलङ्कार के क्षेत्र मे भी विश्वनाथ का विशेप मौलिक योगदान नही। इसका एक कारण तो यह है कि उनके पूर्ववर्ती आचार्यो की रचनाओ मे अलङ्कार-विपयक इतनी उद्भावनाएँ हो चुकी थी कि उनसे अधिक नूतन उद्भावनाओ की न तो आवश्यकता ही शेप थी और न उसके लिए विशेप अवकाश ही था। दूसरा कारण यह था कि विश्वनाथ रसवादी आचार्य थे और रस-ध्वनिवादी आचार्यो की तरह वे काव्य मे रस आदि की अपेक्षा अलङ्कार का गौण महत्त्व मानते थे। अत:, अलङ्कार के क्षेत्र मे विशेष ऊहापोह नही कर पूर्ववर्ती आचार्यो के बहुमान्य सिद्धान्त को ही परिष्कृत शैली मे प्रस्तुत करना उनको अभीष्ट होगा। अस्तु, प्रस्तुत सन्दर्भ मे साहित्यदर्पणकार की अलङ्कार-परिभापाओ की परीक्षा कर पूर्वाचार्यो के अलङ्कार-लक्षण से उनके सम्बन्ध का दिग्दर्शन इन पंक्तियों के लेखक को अभिप्रेत है।

विश्वनाथ ने 'साहित्य-दर्पण' मे निम्नलिखित शब्दार्थालङ्कारो के स्वरूप का निरूपण किया है :—

शब्दालङ्कार :—(१) पुनरुक्तवदाभास, (२) अनुप्रास (छेक, वृत्ति, श्रुति, अन्त्य तथा लाट), (३) यमक, (४) वक्रोक्ति, (५) भाषासम, (६) श्लेष तथा (७) चित्र।

अर्थालङ्कार :—(१) उपमा, (२) अनन्वय, (३) उपमेयोपमा, (४) स्मरण, (५) रूपक, (६) परिणाम, (७) सन्देह, (८) भ्रान्तिमान्, (९) उल्लेख, (१०) अपह्नुति, (११) निश्चय, (१२) उत्प्रेक्षा, (१३) अतिशयोक्ति, (१४) तुल्ययोगिता, (१५) दीपक, (१६) प्रतिवस्तूपमा, (१७) दृष्टान्त, (१८) निदर्शना, (१९) व्यतिरेक, (२०) सहोक्ति, (२१) विनोक्ति, (२२) समासोक्ति, (२३) परिकर, (२४) श्लेष, (२५) अप्रस्तुत-प्रशसा, (२६) व्याजस्तुति (२७) पर्य्यायोक्त, (२८) अर्थान्तरन्यास, (२९) काव्यलिङ्ग, (३०) अनुमान, (३१) हेतु, (३२) अनुकूल, (३३) आक्षेप, (३४) विभावना, (३५) विशेषोक्ति, (३६) विरोध, (३७) असङ्गति, (३८) विषम, (३९) सम, (४०) विचित्र, (४१) अधिक, (४२) अन्योन्य, (४३) विशेष, (४४) व्याघात, (४५) कारणमाला, (४६) मालादीपक, (४७) एकावली, (४८) सार, (४९) यथासख्य, (५०) पर्य्याय, (५१) परिवृत्ति, (५२) परिसख्या, (५३) उत्तर, (५४) अर्थावृत्ति, (५५) विकल्प, (५६) समुच्चय, (५७) समाधि, (५८) प्रत्यनीक, (५९) प्रतीप, (६०) मीलित, (६१) सामान्य, (६२) तद्गुण,

(६३) अतद्गुण, (६४) सूक्ष्म, (६५) व्याजोक्ति, (६६) स्वभावोक्ति, (६७) भाविक, (६८) उदात्त, (६९) रसवत्, (७०) प्रेय, (७१) ऊर्जस्वी, (७२) समाहित, (७३) भावोदय, (७४) भाव-सन्धि, (७५) भाव-शबलता, (७६) ससृष्टि, तथा (७७) सङ्कर।

विश्वनाथ ने कुछ पूर्ववर्ती आचार्यो के द्वारा शब्दगत अलङ्कार-रूप मे स्वीकृत प्रहेलिका के अलङ्कारत्व का खण्डन किया है।[1] पूर्वाचार्यो ने भी उसे क्रीडामात्रोपयोगी कहा था।[2] बौद्धिक चमत्कार पर आधृत प्रहेलिका के अलङ्कारत्व की रसवादी आचार्यो के द्वारा अस्वीकृति स्वाभाविक ही है।

विश्वनाथ के द्वारा निरूपित शब्दालङ्कारो मे पुनरुक्तवदाभास, अनुप्रास, यमक, वक्रोक्ति, श्लेष तथा चित्र अलङ्कारो का सामान्य स्वरूप प्राचीन आचार्यो के अलङ्कारो के स्वरूप से अभिन्न है। अनुप्रास के पूर्वाचार्यो के द्वारा स्वीकृत छेक, वृत्ति तथा लाट-भेदो के साथ श्रुति तथा अन्त्य भेदो की भी गणना विश्वनाथ ने की है। श्रुत्यनुप्रास की धारणा नवीन नही है। आचार्य दण्डी ने माधुर्य-गुण-विवेचन-प्रसङ्ग मे श्रुत्यनुप्रास के जिस लक्षण की कल्पना की थी, उसे ही विश्वनाथ ने स्वीकार किया है। अन्त्यानुप्रास की कल्पना आचार्य दण्डी के पादान्त यमक की कल्पना पर आधृत है।[3]

विश्वनाथ ने भाषासम-नामक स्वतन्त्र शब्दालङ्कार का अस्तित्व स्वीकार किया है। इस की स्वरूप-कल्पना के मूल मे सस्कृत, प्राकृत आदि अनेक भाषाओ की एकत्र घटना की धारणा निहित है। पूर्वाचार्यो ने भाषा-श्लेष मे विविध भाषाओ की सघटना की धारणा व्यक्त की थी। प्रस्तुत अलङ्कार की धारणा उक्त अलङ्कार की धारणा से बहुत-कुछ मिलती-जुलती है। अन्तर केवल इतना है कि विश्वनाथ ने विभिन्न भाषाओ मे एक ही तरह के शब्द से वाक्य की योजना मे भाषासम माना है जब कि भाषाश्लेष मे एक तरह के शब्द का प्रयोग आवश्यक नही, अनेक भाषाओ से एक वाक्यार्थ की निष्पत्ति ही अपेक्षित रहती है।

---

१. रसस्य परिपन्थित्वान्नालङ्कारः प्रहेलिका।
उक्तिवैचित्र्यमात्र सा च्युतदत्ताक्षरादिका॥
—विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, १०,१६

२. मात्राबिन्दुच्युतके प्रहेलिका कारकक्रियागूढे।
प्रश्नोत्तरादि चान्यत्क्रीडामात्रोपयोगमिदम्॥
—रुद्रट, काव्यालङ्कार, ५,२४

३ तुलनीय—विश्वनाथ, साहित्यद० १०, ७ तथा दण्डी, काव्यादर्श, ३, २

काकु तथा श्लेष पर आधृत वक्रोक्ति की स्वरूप-धारणा विश्वनाथ ने पूर्वाचार्यो से ही ली है; पर उसे उन्होने शब्दगत अलङ्कार माना है। प्राचीन आचार्यों ने इसकी गणना अर्थालङ्कारो की पक्ति मे की थी।

विश्वनाथ ने वर्ण, प्रत्यय, लिङ्ग, वचन आदि की श्लिष्टता के आधार पर श्लेष के आठ भेद स्वीकार किये है। पूर्वाचार्यो के श्लेष के सामान्य-लक्षण मे ही इन भेदो की सम्भावना निहित थी। पूर्वाचार्यो की पद्धति पर श्लेष के सभङ्ग, अभङ्ग तथा उभयात्मक भेद भी साहित्यदर्पणकार के द्वारा स्वीकृत है।[1]

अर्थालङ्कार

अर्थालङ्कारो के स्वरूप-निर्धारण मे भी विश्वनाथ ने पूर्ववर्ती आचार्यो की मान्यताओ का ही अनुसरण किया है। उनके 'साहित्यदर्पण' मे अर्थालङ्कारो के लक्षण रुय्यक तथा मम्मट के अलङ्कार-लक्षणो के आधार पर दिये गये है। हम यह देख चुके है कि मम्मट तथा रुय्यक की रचनाओ मे अलङ्कारो की सख्या तथा सज्ञा मे कुछ अन्तर है। रुय्यक के कुछ अलङ्कार मम्मट के 'काव्यप्रकाश' मे उल्लिखित नही है; पर उसमे कुछ ऐसे अलङ्कारो का भी विवेचन है, जो रुय्यक के द्वारा स्वीकृत नही है। ऐसे अलङ्कारो के सम्बन्ध मे विश्वनाथ ने समन्वयात्मक दृष्टिकोण अपनाया है। उन्होने मम्मट तथा रुय्यक, दोनो आचार्यों की मान्यताओ को स्वीकार किया है। उदाहरणार्थ, सम की धारणा मम्मट से तथा विचित्र की धारणा रुय्यक से ली गयी है। निश्चय अलङ्कार शोभाकर के 'अलङ्कार-रत्नाकर' से गृहीत है। शोभाकर का वह धारणा दण्डी की निर्णयोपमा-धारणा पर आधृत थी। विश्वनाथ ने उसके कुछ नवीन स्वरूप की कल्पना की। विश्वनाथ के अनुसार भ्रान्ति का निवारण कर अन्य वस्तु का स्थापन भी निश्चय होगा। विश्वनाथ का यह निश्चय दण्डी के तत्त्वाख्यानोपमा से अभिन्न है।[2] अनुकूल के स्वरूप की कल्पना नवीन है, जिसमें प्रतिकूल

---

१. विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, १०, १३-१४

२. तुलनीय—विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, १०, ५६ तथा दण्डी, काव्यादर्श, २, ३६

आचरण को अनुकूल करने का वर्णन होता है।[1] स्पष्टतः विश्वनाथ ने अनुकूल को छोड किसी नवीन अलङ्कार की उद्भावना नही की है।



विद्यानाथ

विद्यानाथ-रचित 'प्रतापरुद्रयशोभूषण'—जो प्रतापरुद्रीय नाम से भी पुकारा जाता है—उस काल की रचना है, जब काव्य-तत्त्व की मौलिक उद्भावना के स्थान पर पूर्व-प्रतिष्ठापित काव्य-सिद्धान्त का विवेचन-विश्लेषण-मात्र आचार्यो का उद्देश्य बच गया था। विद्यानाथ के पूर्व आचार्य मम्मट के 'काव्यप्रकाश' मे काव्य-तत्त्व-विश्लेषण को चरम प्रौढि प्राप्त हो गयी। फलतः परवर्ती आचार्यो का लक्ष्य सरल शैली मे पूर्ववर्ती आचार्यो की काव्यतत्त्व-विषयक मान्यताओ का उपस्थापन-मात्र रह गया। विद्याधर, विद्यानाथ आदि की रचनाओ मे इसी उद्देश्य की प्राप्ति का आयास है। अलङ्कार-विवेचन के क्षेत्र मे ध्वनिवादी मम्मट की अपेक्षा अलङ्कार-प्रस्थान के प्रबल पोषक आचार्य रुय्यक की धारणा परवर्ती आचार्यो के लिए अधिक अनुकरणीय सिद्ध हुई है। कुछ आचार्यो ने रुद्रट, मम्मट तथा कुछ अन्य प्राचीन आचार्यो की अलङ्कार-परिभाषाओ का भी इतस्तत. उपयोग किया है। प्रस्तुत सन्दर्भ मे हम विद्यानाथ की अलङ्कार-परिभाषाओ का पूर्ववर्ती आचार्यो के अलङ्कार-लक्षण से तुलनात्मक अध्ययन कर उन परिभाषाओं के स्रोत का निर्धारण करेगे।

विद्यानाथ ने निम्नलिखित अलङ्कारो का विवेचन किया है :—

शब्दालङ्कार .—छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, यमक, पुनरुक्तवदाभास, लाटानुप्रास तथा चित्र।

अर्थालङ्कार —(१) उपमा, (२) अनन्वय, (३) उपमेयोपमा, (४) स्मरण, (५) रूपक, (६) परिणाम, (७) सन्देह, (८) भ्रान्तिमान् (९) अपह्नुति, (१०) उल्लेख, (११) उत्प्रेक्षा, (१२) अतिशयोक्ति, (१३) सहोक्ति, (१४) विनोक्ति, (१५) समासोक्ति, (१६) वक्रोक्ति, (१७) स्वभावोक्ति, (१८)

---

१. अनुकूलो प्रातिकूल्यमनुकूलानुबन्धि चेत्।
—विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, १०, ८४

व्याजोक्ति, (१९) मीलन, (२०) सामान्य, (२१) तद्‌गुण, (२२) अतद्‌गुण, (२३) विरोध, (२४) विशेप, (२५) अधिक, (२६) विभावना, (२७) विशेपोक्ति, (२८) असङ्गति, (२९) विचित्र, (३०) अन्योन्य, (३१) विपम, (३२) सम, (३३) तुल्ययोगिता, (३४) दीपक, (३५) प्रतिवस्तूपमा, (३६) दृष्टान्त, (३७) निदर्शना, (३८) व्यतिरेक, (३९) श्लेप, (४०) परिकर, (४१) आक्षेप, (४२) व्याजस्तुति, (४३) अप्रस्तुतप्रशसा, (४४) पर्यायोक्त, (४५) प्रतीप, (४६) अनुमान, (४७) काव्यलिङ्ग, (४८) अर्थान्तरन्यास, (४९) यथासंख्य, (५०) अर्थापत्ति, (५१) परिसख्या, (५२) उत्तर, (५३) विकल्प, (५४) समुच्चय, (५५) समाधि, (५६) भाविक, (५७) प्रत्यनीक, (५८) व्याघात, (५९) पर्याय, (६०) सूक्ष्म, (६१) उदात्त, (६२) परिवृत्ति, (६३) कारणमाला, (६४) एकावली, (६५) मालादीपक और (६६) मार।

मिश्रालङ्कार :—समृष्टि एव सङ्कर।

विद्यानाथ ने वक्रोक्ति को शब्दालङ्कार नही मान कर अर्थालङ्कार-वर्ग में उसकी गणना की है। इस दृष्टि स उनकी मान्यता मम्मट से भिन्न है। उन्होने रुय्यक की पद्धति का अनुगमन किया है। उन्होने श्लेष का शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार-वर्गों मे अलग-अलग उल्लेख करने की मम्मट की पद्धति की उपेक्षा कर रुय्यक आदि की प्रणाली पर एकत्र ही उसका उल्लेख कर उसके शब्दगत, अर्थगत तथा उभयगत भेद स्वीकार किये है।

ससृष्टि एव सङ्कर अलङ्कारो को विद्यानाथ ने मिश्रालङ्कार-नामक पृथक् वर्ग मे परिगणित किया है। नीचे हम विद्यानाथ के द्वारा स्वीकृत उपरिलिखित अलङ्कारो के स्वरूप का वर्गानुक्रम से पूर्वाचार्यों के द्वारा विवेचित अलङ्कारो के स्वरूप से सम्बन्ध की मीमासा प्रस्तुत कर रहे है।

शब्दालङ्कार —यमक, पुनरुक्तवदाभास तथा चित्र अलङ्कारो के अतिरिक्त तीन अनुप्रासो का स्वतन्त्र अस्तित्व 'प्रतापरुद्रयशोभूपण' मे स्वीकृत है। वे है—छेक, वृत्ति तथा लाट। अनुप्रास के उक्त तीन स्वतन्त्र रूपो के अस्तित्व की कल्पना आचार्य रुय्यक की पद्धति पर की गयी है। मम्मट ने सामान्य रूप से एक ही अनुप्रास की गणना कर उसके तीन भेदो—छेक, वृत्ति तथा लाट—का विवेचन किया था। रुय्यक की तरह विद्यानाथ ने भी उक्त तीनो अनुप्रासो की पृथक्-पृथक् गणना की है।

अर्थालङ्कार

विद्यानाथ ने आचार्य रुय्यक के 'अलङ्कार-सूत्र' मे विवेचित अलङ्कारों में से रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वी, ममाहित, भावोदय, भावसन्धि तथा भावशबलता को छोड शेष सभी अलङ्कारो के स्वरूप का विवेचन किया है। रुय्यक की अलङ्कार-धारणा के विवेचन-क्रम मे हम देख चुके है कि उनके उक्त रसवदादि सात अलङ्कारो का अलङ्कारत्व निर्विवाद नही है। मम्मट ने भी रसवदादि अलङ्कारो का विवेचन अलङ्कार-प्रकरण मे नही कर रस आदि के विवेचन-प्रसङ्ग मे ही किया था। स्पष्ट है कि वे भी रसवदादि को एक विशेष अर्थ मे ही अलङ्कार कहते थे।

विद्यानाथ ने अलङ्कारो के लक्षण भी रुय्यक के अलङ्कार-सूत्र के आधार पर ही दिये है। उनका उद्देश्य काव्यालङ्कारो के पूर्व-स्थापित सिद्धान्त को सरल रूप मे प्रस्तुत करना तथा काकतीय नरेश प्रतापरुद्र के कीर्ति-पदो से उन्हे उदाहृत करना था। अत, 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' के अलङ्कारो के स्वरूप प्राचीन ही है, पर उनके उदाहरणो की नवीनता उक्त ग्रन्थ की अपनी विशेषता है।

प्रतापरुद्रीय के रचयिता ने न केवल अलङ्कार-लक्षण की कल्पना का आधार रुय्यक की अलङ्कार-धारणा को बनाया है, वरन् रुय्यक के अनेक अलङ्कारो के लक्षण को ही किञ्चित् शब्द-भेद के साथ उद्धृत कर दिया है। उदाहरणार्थ, अनन्वय, अनुमान, काव्यलिङ्ग तथा सार अलङ्कारो के रुय्यक-प्रदत्त लक्षण ही थोडे शब्द-परिवर्त्तन के माथ 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' मे उद्धृत है। समुच्चय के प्रथम रूप की परिभाषा भी विद्यानाथ ने 'अलङ्कार-सूत्र' से ही ली है। उसके द्वितीय स्वरूप के सम्बन्ध मे भी रुय्यक के समान धारणा व्यक्त की गयी है।

अतिशयोक्ति के पृथक्-पृथक् रूपो की कल्पना रुय्यक ने की थी। उनके पूर्ववर्ती मम्मट ने भी अतिशयोक्ति के एकाधिक रूप स्वीकार किये थे। मम्मट के निगीर्याध्यवसान-रूप अतिशयोक्ति-लक्षण के आधार पर रुय्यक ने अध्य-वसित-प्रधान-रूप अतिशयोक्ति की कल्पना की थी। विद्यानाथ ने भी इसी अतिशय-लक्षण को स्वीकार किया है।

सहोक्ति के लक्षण मे विद्यानाथ ने उसकी अतिशयोक्तिमूलकता

पर बल दिया है।[१] आपातत यह लक्षण कुछ नवीन जान पडता है, पर तत्वत· रुय्यक के सहोक्ति-लक्षण से अभिन्न है।

यद्यपि रुय्यक ने सहोक्ति के लक्षण-सूत्र मे अतिशयोक्तिमूलकता का उल्लेख नही किया था, तथापि 'अलङ्कार-सर्वस्व' मे यह स्पष्ट कर दिया गया है कि उसके मूल मे अतिशय की धारणा रहती है।[२]

निष्कर्षत, विद्यानाथ की रचना मे किसी नवीन अलङ्कार की उद्भावना नही हुई है।

विद्याधर ने भी 'एकावली' मे अलङ्कारों का विवेचन विद्यानाथ की ही तरह मम्मट एव रुय्यक के मतानुसार किया है। उन्होने समुच्चय के अङ्ग के रूप मे तत्कर का उल्लेख किया है।[3] यह स्वतन्त्र अलङ्कार न होकर समुच्चय का ही अङ्ग है।



वाग्भट (द्वितीय)

वाग्भट (द्वितीय) ने 'काव्यानुशासन' मे सूत्र-शैली मे अलङ्कारो का स्वरूप-निरूपण किया है। उन्होने अन्य तथा अपर; इन दो नवीन अलङ्कारो का विवेचन किया है। उनके अनुसार प्रभावशाली वस्तुओ तथा विभिन्न परिस्थितियो का एकत्र निबन्धन अन्य अलङ्कार है। गुण और क्रिया का एक साथ कथन अपर-नामक अलङ्कार का लक्षण माना गया है। कन्हैया लाल पोद्दार ने उक्त अलङ्कारो के सम्बन्ध मे यह मान्यता प्रकट की है कि 'वास्तव मे अन्य तुल्ययोगिता के और अपर समुच्चय के अन्तर्गत है।'[४]

---

१. सहार्थेनान्वयो यत्र भवेदतिशयोक्तितः।
कल्पितौपम्यपर्यन्ता सा सहोक्तिरितीष्यते ॥
—विद्यानाथ, प्रतापरुद्रयशोभूषण, अर्थालङ्कार प्रकरण, पृ० ४००

२. तत्रापि नियमेनातिशयोक्तिमूलत्वमस्या.।
—रुय्यक, अलङ्कारसर्वस्व, पृ० ८६

३. एकेन क्रियमाणं यत्रान्य स्पर्धयैव तत्कुरुते।
सोऽपि समुच्चयभेदः कथितोऽन्यस्तत्करो द्वैधम् ॥
—विद्याधर, एकावली, पृ० १५०

४. कन्हैयालाल पोद्दार—काव्यकल्पद्रुम, भाग २, भूमिका, पृ० २१

स्पष्ट है कि वाग्भट के अन्य तथा अपर नाम्ना ही नवीन है। उनका अन्तर्भाव प्राचीन आचार्यो के द्वारा निरूपित अलङ्कारो मे ही हो जाता है।



भावदेव सूरि

'काव्यालङ्कार-सार' मे जैन आचार्य भावदेव सूरि ने शब्दालङ्कारो के निरूपण के उपरान्त पचास अर्थालङ्कारो का विवेचन किया है। उन्होने दैवक-नामक एक अलङ्कार का उल्लेख किया है, जिसका नाम नवीन है। दैवक मे उनके अनुसार अर्थ के अनौचित्य का तथा उसके अवश्यम्भावित्व का वर्णन किया जाता है। इस प्रकार दैवक के दो रूप हो जाते है। दोनो के अलग-अलग उदाहरण भावदेव ने दिये है। एक मे कहा गया है कि 'कहाँ कर्कश तप और कहाँ तुम्हारा कोमल शरीर!'[1] इस उदाहरण से स्पष्ट है कि अनौचित्य-वर्णन से तात्पर्य अननुरूप-घटना का है, जिसे मम्मट, रुय्यक आदि ने विषम का एक रूप माना था। भाग्य मे लिखे का अवश्यम्भावित्व-वर्णन-रूप दैवक का जो उदाहरण दिया गया है, उसमे कहा गया है कि 'पद्मिनी दावाग्नि के भय से लीला-सरोवर मे छिपने गयी तो वहाँ हिम से मारी गयी।'[2] भावदेव के दैवक अलङ्कार का अन्तर्भाव मम्मट आदि के विषम मे सम्भव है। उसके स्वतन्त्र अस्तित्व की कल्पना आवश्यक नही।



केशव मिश्र

अलङ्कारशेखरकार केशव मिश्र अनुमानत. अप्पय्यदीक्षित के समसामयिक थे।[3] किन्तु, जहाँ अप्पय्य दीक्षित ने शताधिक अलङ्कारो का स्वरूप-निरूपण

---

१. विषयो दैवक यस्मिन् अनौचित्यं वर्ण्यते।
क्व तपः कर्कश क्वेद सुकुमार वपुस्तव ॥
—काव्यालं० सार ६, २५ उद्धृत, नरेन्द्रप्रभ सूरि,
अल० महोदधि, पृ० ३५३

२. दवभीत्या वन हित्वा लीलासरसि पद्मिनी।
तत्र दग्धा हिमेनासौ सावश्यं भावि दैवकम् ॥—६, २६ वही, पृ० ३५३

३ डॉ० सुशीलकुमार डे ने केशव और अप्पय्य, दोनो का समय अनुमानतः १६वी शताब्दी का उत्तरार्ध माना है।
द्रष्टव्य—डे, History of Skt. Poetics Vol I, पृ० २१८

किया है वहाँ केशव ने केवल आठ शब्दालङ्कारो एव चौदह अर्थालङ्कारो का ही विवेचन किया है। काव्य-गुण-धारणा के परीक्षण-क्रम मे भी हम यह देख चुके है कि केशव मिश्र की प्रवृत्ति काव्यतत्त्व-विवेचन मे सक्षेपीकरण की ओर थी।[१] अलङ्कारो की सख्या की परिमिति भी उनकी इसी प्रवृत्ति की परिणति है।

केशव मिश्र ने अर्थालङ्कारो की सख्या को जितना कम किया है, उस अनुपात मे शब्दालङ्कारो की सख्या को कम करने का प्रयास नही किया है। उनके शब्द और अर्थ के अलङ्कार निम्नलिखित है —

शब्दालङ्कार—चित्र, वक्रोक्ति, अनुप्रास, गूढ, श्लेप, प्रहेलिका, प्रश्नोत्तर तथा यमक।[२]

अर्थालङ्कार—उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति, अपह्नुति, समाहित, स्वभाव या स्वभावोक्ति, विरोध, सार, दीपक, सहोक्ति, अन्यदेशत्व या असङ्गति, विशेपोक्ति तथा विभावना।[३]

उक्त अलङ्कारो के अतिरिक्त जितने अलङ्कार पूर्वाचार्यों के द्वारा कल्पित थे, उन्हे केशव ने अमान्य बताया है। अन्य अलङ्कारों की सत्ता के अपलाप मे कोई सबल युक्ति नही। इस मान्यता के औचित्य की परीक्षा का प्रसङ्ग यहाँ नही। हमे प्रस्तुत सन्दर्भ मे केशव के अलङ्कारो की स्वरूप कल्पना के स्रोत पर ही विचार करना है।

वक्रोक्ति को केशव ने शब्दालङ्कार माना है। सस्कृत-अलङ्कार-शास्त्र मे वक्रोक्ति के शब्दालङ्कारत्व के सम्बन्ध मे दो मत रहे है।[४] केशव ने मम्मट आदि के मत का अनुसरण करते हुए उसे शब्दालङ्कार-वर्ग मे रखा है।

मम्मट आदि आचार्यों ने प्रश्नोत्तर को अर्थालङ्कार माना था। केशव ने प्रश्नोत्तर को भी शब्दालङ्कार माना है। गूढ और प्रहेलिका का पृथक्-पृथक्

---

१. द्रष्टव्य—लेखक का 'काव्यगुणो का शास्त्रीय विवेचन'

२. चित्रवक्रोक्त्यनुप्रासगूढश्लेषप्रहेलिका:।
प्रश्नोत्तर च यमकमष्टालक्रनयो ध्वनौ ।।—केशव, अलं० शे०, १०, १

३. उपमारूपकोत्प्रेक्षा: समासोक्तिरपह्नुति:।
समाहित स्वभावश्च विरोध. सारदीपकौ ।।
सहोक्तिरन्यदेशत्व विशेषोक्तिर्विभावना।
एवं स्युरर्थालङ्काराश्चतुर्दश न चापरे ।।—वही, ११, १-२

४. मम्मट विश्वनाथ आदि ने उसे शब्दालङ्कार माना है, पर रुय्यक आदि ने अर्थालङ्कार।

अस्तित्व माना गया है। आचार्य दण्डी आदि की प्रहेलिका के ही व्यापक स्वरूप से गूढ की धारणा ली गयी है। स्पष्टत, केशव के सभी शब्दालङ्कार पूर्वाचार्यो की मान्यता के अनुरूप ही कल्पित है।

अर्थालङ्कारो मे भी किसी नवीन अलङ्कार की कल्पना नही की गयी है। उपमा के दश भेद दण्डी आदि आचार्यो के मतानुसार स्वीकृत है। रूपक के पॉच भेद भी प्राचीन आचार्यो की रचनाओ से ही गृहीत है। उत्प्रेक्षा का केवल हेतूत्प्रेक्षा-भेद परिभाषित है। समासोक्ति को अप्रस्तुतप्रशसा के समकक्ष कर दिया गया है। इसमे केशव के अनुसार अन्य वस्तु को लक्ष्य कर अन्य का कथन होता है।[1] केशव के अन्य अर्थालङ्कार प्राचीन आचार्यो के तत्तदलङ्कारो से नाम-रूप की दृष्टि से अभिन्न है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि केशव के 'अलङ्कारशेखर' मे किसी नवीन अलङ्कार की उद्भावना नही हुई है। केशव का उद्देश्य अलङ्कारो को सक्षेप मे तथा सुबोध बना कर प्रस्तुत करना-मात्र था।



अप्पय्य दीक्षित

भारतीय अलङ्कार-शास्त्र के अर्वाचीन लेखको एव पाठको मे अप्पय्य दीक्षित की रचनाएँ सर्वाधिक जनप्रिय सिद्ध हुई है। हिन्दी के रीति-आचार्यो के ग्रन्थो मे अधिकाशत. अप्पय्य की अलङ्कार-धारणा को ही स्वीकार किया गया है। उनकी दो रचनाओ—'कुवलयानन्द' तथा 'चित्रमीमासा'—मे से लोकप्रियता की दृष्टि से 'कुवलयानन्द' प्रथम है। उक्त पुस्तक की इतनी प्रसिद्धि का कारण चिन्तन की मौलिकता नही, वरन् विषय-विवेचन की स्पष्टता और शैली की सरलता है। जयदेव की अलङ्कार-धारणा के विवेचन-क्रम में हम यह देख चुके है कि अप्पय्य दीक्षित ने उन्ही की धारणा का मुख्यत अनुसरण किया है। विद्वानो की यह मान्यता बहुलाश मे सत्य है कि 'कुवलयानन्द' मे 'चन्द्रालोक' की ही व्याख्या की गयी है। अप्पय्य दीक्षित ने स्वय भी इसे स्वीकार किया है कि उनका अलङ्कार-विवेचन पूर्वाचार्यो

---

१. अन्यदेवाभिप्रेत्यान्याभिधान समासोक्तिः। सैव चान्यापदेश इत्युच्यते।
—केशव, अल० शे०, मरीचि-१३, पृ० ३४

के ही मतानुसार है। जयदेव की अलङ्कार-धारणा के विवेचन-क्रम मे हमने जिन अलङ्कारो के स्रोत का परीक्षण किया है, उनके नाम-रूप को अप्पय्य दीक्षित ने यथावत् स्वीकार कर लिया है। उनके अतिरिक्त 'कुवलयानन्द' मे कुछ अन्य अलङ्कारो का भी लक्षण-निरूपण किया गया है, जो कुछ विद्वानो के अनुसार जयदेव के 'चन्द्रालोक' से ही लिये गये हे तथा कुछ के अनुसार अप्पय्य के द्वारा उद्भावित है। वे अलङ्कार है —प्रस्तुताङ्कुर, व्याजनिन्दा, अल्प, मिथ्याध्यवसिति, ललित, अनुज्ञा, मुद्रा, रत्नावली, विशेषक, गूढोक्ति, विवृतोक्ति, युक्ति, लोकोक्ति, निरुक्ति, प्रतिषेध, और विधि।

मालादीपक हेतु, सूक्ष्म और लेश के लक्षण और व्यपदेश प्राचीन ही है।

प्रस्तुताङ्कुर

प्रस्तुताङ्कुर की कल्पना अप्रस्तुतप्रशसा के स्वरूप के आधार पर की गयी है। प्राचीन आचार्यो ने अप्रस्तुत के वर्णन से प्रस्तुत का बोध कराने मे अप्रस्तुतप्रशसा का सद्भाव माना था। अप्पय्य ने प्रस्तुत के वर्णन से प्रस्तुत के द्योतन मे प्रस्तुत अलङ्कार की कल्पना की है।[1] एक के वर्णन से अन्य के द्योतन की धारणा प्राचीन आचार्यों से ही ली गयी है।

व्याजनिन्दा

व्याजनिन्दा नामक नवीन अलङ्कार का स्वरूप बहुत-कुछ व्याजस्तुति नामक प्राचीन अलङ्कार से मिलता-जुलता है। व्याजस्तुति मे निन्दामुखेन स्तुति अथवा स्तुतिमुखेन निन्दा के कथन की कल्पना की गयी थी। अप्पय्य ने निन्दामुखेन निन्दा की व्यञ्जना में व्याजनिन्दा-नामक नूतन अलङ्कार की कल्पना की है।[2]

अल्प

अल्प के स्वरूप की कल्पना अधिक के वैपरीत्य के आधार पर की गयी है। अधिक मे पृथुल आधेय से आधार का या पृथु आधार से आधेय का

---

१. प्रस्तुतेन प्रस्तुतस्यद्योतने प्रस्तुताङ्कुरः।—अप्पय्य, कुवलयानन्द, ६७

२ निन्दाया निन्दया व्यक्तिर्व्याजनिन्देति गीयते।—अप्पय्य, कुवलयानन्द, ७२

आधिक्य वर्णित होता है। इसके विपरीत अल्प मे सूक्ष्म आधेय से भी आधार की सूक्ष्मता का वर्णन होता है।[१]

मिथ्याध्यवसिति

मिथ्याध्यवसिति की अलङ्कार के क्षेत्र मे सर्वप्रथम अवतारणा अप्पय्य दीक्षित की रचना मे ही हुई। आचार्य भरत ने मिथ्याध्यवसाय को लक्षण माना था। उनके उक्त लक्षण से अप्पय्य दीक्षित के मिथ्याध्यवसिति अलङ्कार का स्वरूप भिन्न नही। भरत की मान्यता है कि जहाँ अभूतपूर्व अर्थ से उसके समान अर्थ का निर्णय हो, वहाँ मिथ्याध्यवसाय नामक लक्षण होता है।[२] अभिनवगुप्त ने उक्त लक्षण की भरत-प्रदत्त परिभाषा की व्याख्या करते हुए लिखा है कि इसमे अपारमार्थिक या असत्य अर्थ मे असत्य अर्थ का निश्चय होता है।[३] अप्पय्य दीक्षित ने मिथ्याध्यवसिति अलङ्कार मे इससे मिलती-जुलती ही धारणा व्यक्त की है। उन्होने कहा है कि जहाँ कुछ मिथ्यात्व की सिद्धि के लिए मिथ्या अर्थान्तर की कल्पना की जाय, वहाँ मिथ्याध्यवसिति नामक अलङ्कार होता है।[४] स्पष्ट है कि मिथ्याध्यवसाय या मिथ्याध्यवसिति की धारणा प्राचीन है, केवल अलङ्कार के रूप मे उसकी स्वीकृति नवीन है।

ललित

ललित अलङ्कार की परिभाषा देते हुए अप्पय्य दीक्षित ने कहा है कि जहाँ प्रस्तुत धर्मी के वर्णनीय वृत्तान्त का वर्णन नही कर उसके प्रतिबिम्ब-रूप किसी अप्रस्तुत का वर्णन किया जाय, वहाँ ललित नामक अलङ्कार होता है।[५] निदर्शना से इसका बहुत कम अन्तर है। पण्डितराज जगन्नाथ ने यह माना है कि बहुत कम भेद के आधार पर निदर्शना से इसका स्वतन्त्र अस्तित्व

---

१. अल्प तु सूक्ष्मादाधेयाद्यदाधारस्य सूक्ष्मता।—वही, ६७

२. अभूतपूर्वैर्यत्रार्थैस्तत्तुल्यार्थस्य निर्णयः।
स मिथ्याध्यवसायस्तु प्रोच्यते काव्यलक्षणम्॥
—भरत, नाट्यशास्त्र, १६,१६

३. अपारमार्थिकैरेवार्थैस्तत्तुल्यस्यावस्तुभूतस्यार्थान्तरस्य यस्य वक्तृव्यापारे सति निश्चयः सोऽयम्।—वही, अभिनव भारती पृ० ३०७-८

४. किञ्चिन्मिथ्यात्वसिद्ध्यर्थं मिथ्यार्थान्तरकल्पनम्।
—अप्पय्य, कुवलयानन्द, १२७

५. वर्ण्ये स्याद्वर्ण्यवृत्तान्तप्रतिबिम्बस्य वर्णनम्।—वही, १२८

होने से इसका स्वरूप कुछ नवीन अवश्य है। भोज ने क्रम नामक अलङ्कार के ऐसे ही स्वरूप की कल्पना की थी।[१]

विशेषक

'कुवलयानन्द' मे विशेष या विशेषक को दो बार भिन्न-भिन्न रूप मे परिभाषित किया गया है। प्रसिद्ध आधार के बिना भी आधेय का वर्णन विशेष कहा गया है, जो धारणा मम्मट के प्रथम विशेष की धारणा से अभिन्न है। जहाँ दो पदार्थो मे वैशिष्ट्य की स्फूर्ति होती हो, वहाँ भी विशेष नामक अलङ्कार माना गया है।[२] यह सामान्य अलङ्कार का विपरीतधर्मा है। स्पष्ट है कि इसके स्वरूप की कल्पना सामान्य के स्वरूप के वैपरीत्य के आधार पर की गयी है।

गूढोक्ति

गूढोक्ति अलङ्कार की परिभाषा मे कहा गया है कि इसमे किसी दूसरे को लक्ष्य कर दूसरे से कुछ कहा जाता है।[3] इसका स्वभाव अन्योक्ति से इतना मिलता-जुलता है कि उससे पृथक् इसके अस्तित्व की कल्पना ही अनावश्यक जान पडती है। कुछ लोगो ने इसे ध्वनि या गुणीभूत व्यङ्ग्य मे अन्तर्भुक्त माना है, स्वतन्त्र अलङ्कार नही।[४]

विवृतोक्ति

शब्दशक्तिमूल या अर्थशक्तिमूल गुप्त अर्थ को जहाँ कवि युक्ति से प्रकाशित करता हो, वहाँ विवृतोक्ति-नामक अलङ्कार माना गया है।[५] इस अलङ्कार मे शब्द-शक्तिमूल एव अर्थशक्तिमूल-ध्वनि की धारणा को समेट लिया गया है। वस्तुत. विवृतोक्ति को अलङ्कार का एक भेद मानना युक्तिसङ्गत नही। गुप्त अर्थ का आविष्करण, प्रकाशन या ध्वनन ध्वनि का व्यापार है। स्पष्टतः

---

१. द्रष्टव्य—भोज, सरस्वती-कण्ठाभरण, ४, २७७

२. अप्पय्य, कुवलयानन्द, ६६ तथा १४८

३. गूढोक्तिरन्योद्देश्य चेद्यदन्य प्रति कथ्यते।—वही, १५४

४. नाय पृथगलङ्कार, क्वचिद्गुणीभूतत्वाद्ध्वनित्वाक्रान्तत्वादिति केचित्।—वही, टीका, पृ० १७०

५. विवृतोक्ति श्लिष्टगुप्त कविनाविष्कृत यदि।—वही, १५५

विवृतोक्ति की धारणा नवीन नही है। उसकी अलङ्कार-रूप मे स्वीकृति-मात्र नवीन है। पर उसका अलङ्कारत्व असन्दिग्ध नही।

युक्ति

युक्ति-नामक अलङ्कार का स्वरूप व्याजोक्ति-नामक प्राचीन अलङ्कार के स्वरूप से मिलता-जुलता है। युक्ति के स्वरूप-निर्धारण के क्रम मे कहा गया है कि जहाँ अपने मर्म को छिपाने के लिए क्रिया के द्वारा दूसरे की वञ्चना की जाय, वहाँ युक्ति अलङ्कार होता है।[1] व्याजोक्ति से युक्ति की स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध करने के लिए दो युक्तियाँ दी गयी है.—(१) व्याजोक्ति मे आकार का गोपन होता है, पर युक्ति मे उससे अन्य वस्तु का गोपन होता है, (२) व्याजोक्ति मे तथ्य का गोपन उक्ति से होता है, पर युक्ति में क्रिया से।[2] तथ्य को छिपाने का तथा कोई झूठा बहाना बना कर दूसरे को वञ्चित करने का प्रयास व्याजोक्ति और युक्ति-दोनो मे समान रूप से होता है। इससे स्पष्ट है कि बहुत सूक्ष्म भेद के आधार पर एक अलङ्कार से अलग दूसरे अलङ्कार के अस्तित्व की कल्पना की प्रवृत्ति से ही युक्ति का जन्म हुआ है।

लोकोक्ति

प्राचीन आचार्यों ने लोकोक्ति को अलङ्कार के रूप मे स्वीकृति नहीं दी थी। काव्य मे लोक-प्रचलित उक्ति का प्रयोग प्राचीन काल से होता रहा है। लोकोक्ति के प्रयोग मे अलङ्कारत्व मानना युक्तिसङ्गत नही जान पडता। काव्य की उक्ति को अलङ्कार्य ही माना जाना चाहिए।

छेकोक्ति

छेकोक्ति की भी अलङ्कार के रूप में स्वीकृति नवीन है। लोकोक्ति के अर्थान्तरगर्भ प्रयोग मे प्रस्तुत अलङ्कार की सत्ता मानी गयी है।[3] अर्थान्तर का बोध व्यञ्जना-वृत्ति कराती है। इस अलङ्कार मे व्यञ्जना-व्यापार को भी समेट लिया गया है। व्यञ्जना-व्यापार से किसी लोकोक्ति में अन्यार्थ-बोध मे प्रस्तुत अलङ्कार का सद्भाव स्वीकार किया गया है। प्राचीन आचार्यों ने

---

१. युक्तिः परातिसन्धान क्रियया मर्मगुप्तये।—अप्पय्य, कुवलयानन्द, १५६

२. द्रष्टव्य—वही, वृत्ति, पृ० १७३

३. छेकोक्तिर्यत्र लोकोक्ते. स्यादर्थान्तरगर्भिता।—वही, १५८

व्यङ्‌ग्य-अर्थ का तथा व्यञ्जना-शक्ति का अध्ययन अलङ्कार से पृथक् सन्दर्भ मे किया था। इसीलिए उन्हे ऐसी उक्ति मे अलङ्कारत्व की कल्पना की आवश्यकता नही जान पडी होगी। लोकोक्ति के प्रयोग तथा अन्यार्थ की व्यञ्जना की धारणा नवीन नही है।

निरुक्ति

जहाँ अर्थविशेष का अभिधान कराने वाली सज्ञा से उस अर्थ के साथ ही योगवशात् अन्य अर्थ का भी बोध हो, वहाँ निरुक्ति नामक अलङ्कार माना गया है।[1] आचार्य भरत ने लक्षण के एक निरुक्त भेद की कल्पना की थी और उसके लक्षण-निरूपण-क्रम मे इससे मिलती-जुलती धारणा प्रकट की थी।[2] इस अलङ्कार की धारणा का मूल उक्त लक्षण को ही माना जा सकता है।

प्रतिषेध

प्रतिषेध या निषेध की धारणा से अन्यार्थ-व्यञ्जना की धारणा को मिला कर प्रतिषेध अलङ्कार की कल्पना कर ली गयी है। सामान्य निषेध में चमत्कार नही होने से उसमे अलङ्कारत्व नही होता। इसमे चमत्कार अन्यार्थ-गर्भिता से आता है। इसमे सर्वविदित का निषेध किया जाता है। यह निषेध अप्राप्त का निषेध है। ऐसे स्थल मे निषेध का कोई अर्थ नही होता। अत., किसी शब्द-विशेष के प्रयोग से उस निषेध मे अन्तर्हित अन्य अर्थ को प्रकट किया जाता है।[3] प्राचीन आचार्यो की दृष्टि मे ऐसे स्थल मे निषेध से अन्यार्थ की व्यञ्जना ही मानी जायगी।

विधि

सिद्ध के ही विधान मे विधि नामक अलङ्कार माना गया है।[4] इसमे भी चारुता अर्थान्तरगर्भिता मे ही रहती है। स्पष्टत, यह भी व्यञ्जना का ही भेद है। शोभाकर ने भी इस अलङ्कार की कल्पना की थी।

---

१. निरुक्तिर्योगतो नाम्नामन्यार्थत्वप्रकल्पनम्।—वही, १६४

२. द्रष्टव्य—भरत, नाट्यशास्त्र १६, १२ तथा उसका पाठान्तर पृ० ३०५

३. प्रतिषेधः प्रसिद्धस्य निषेधस्यानुकीर्तनम्।—अप्पय्य, कुवलयानन्द, १६५

४. सिद्धस्यैव विधानं यत्तमाहुर्विध्यलंकृतिम्।—वही, १६६

इस विवेचन से स्पष्ट है कि 'कुवलयानन्द' मे जिन नवीन अलङ्कारो का विवेचन हुआ है उनमे से अधिकाश की स्वरूप-कल्पना का आधार प्राचीन आचार्यो की तत्तत् काव्य-तत्त्व-धारणा मे ही है। उदाहरणार्थ; प्रतिपेध, विधि एव छेकोक्ति के स्वरूप की कल्पना क्रमश निपेध, विधि तथा लोकोक्ति के साथ व्यञ्जना-शक्ति की धारणा को मिला कर की गयी है। विवृतोक्ति ध्वनि की धारणा पर आधृत है।

कुछ अलङ्कार प्राचीन आचार्यों के लक्षण के आधार पर कल्पित है। मिथ्याध्यवसिति, निरुक्ति आदि इसके उदाहरण है, जिनका स्वरूप भरत के क्रमश· मिथ्याध्यवसाय एव निरुक्त लक्षणो के स्वरूप मे मिलता-जुलता है। अनुज्ञा अलङ्कार की कल्पना कार्य लक्षण के आधार पर की गयी है।

कुछ अलङ्कारो के स्वरूप प्राचीन अलङ्कारो के स्वरूप के विपर्यय के आधार पर कल्पित है। इस प्रकार अधिक के विपर्यय के रूप मे अल्प की कल्पना की गयी है। विशेप सामान्य के वैपरीत्य के आधार पर कल्पित है।

परवर्ती आचार्यों मे भेदीकरण की प्रवृत्ति अधिक होने के कारण प्राचीन अलङ्कार से अत्यल्प भेद के आधार पर भी नवीन अलङ्कार की कल्पना कर ली गयी है। फलत:, व्याजस्तुति से मिलते-जुलते स्वभाव वाले व्याजनिन्दा अलङ्कार के स्वतन्त्र अस्तित्व की कल्पना हुई। अप्रस्तुतप्रशसा के आधार पर प्रस्तुताङ्कुर कल्पित हुआ। अन्योक्ति या अप्रस्तुतप्रशसा से मिलते-जुलते स्वभाव वाले गूढोक्ति का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकृत हुआ तथा व्याजोक्ति से मिलते-जुलते रूप वाले युक्ति अलङ्कार की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की गयी।

नाटक आदि के कुछ तत्त्वो को भी अलङ्कार के रूप मे स्वीकार कर लिया गया है। उदाहरणार्थ, प्रकृतार्थ-परक पद से सूच्य अर्थ की सूचना नाटक का तत्त्व है। प्राय. इसका सहारा सूत्रधार नाटक की अवतारणा मे लिया करता है। इसके आधार पर मुद्रा-नामक अलङ्कार की कल्पना की गयी है। इस कल्पना मे भोज की धारणा का अनुगमन है।

कुछ ऐसे अलङ्कार कल्पित है, जिनका अलङ्कारत्व सन्दिग्ध है। उदाहरणार्थ, लोकोक्ति को अलङ्कार मानना समीचीन नही जान पड़ता। रत्नावली की धारणा नवीन है।

◉

पण्डितराज जगन्नाथ

पण्डितराज जगन्नाथ के 'रसगङ्गाधर' मे काव्य के अलङ्कारों का स्वरूप-विवेचन मौलिक रूप मे हुआ है। जिस समय हिन्दी रीति-साहित्य के आचार्य सस्कृत आचार्यो की अलङ्कारविषयक मान्यता का सफल-असफल अनुकरण कर रहे थे, उस समय पण्डितराज अपने गहन चिन्तन और प्रखर मेधा से प्राचीन मान्यताओ का परिष्कार कर अलङ्कार के स्वरूप का निर्धारण कर रहे थे। जगन्नाथ की मौलिक आलोचक प्रज्ञा सर्वविदित है। विषय के ऊहापोह मे, खण्डन-मण्डन की पद्धति पर अपने मत की स्थापना मे, उनका दार्शनिक चिन्तन सहायक सिद्ध हुआ है।

हम इस तथ्य पर विचार कर चुके है कि भारतीय अलङ्कार-शास्त्र मे कुछ समय तक नवीन-नवीन व्यपदेश से अलङ्कारो के विभिन्न प्रकारो की कल्पना की प्रवृत्ति रही; पर उत्तर काल मे अलङ्कारों के स्वरूप का स्पष्टीकरण ही आलङ्कारिको का उद्देश्य रहा। पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्य के अलङ्कारो के सम्बन्ध मे पूर्ववर्ती आचार्यो की मान्यता का परीक्षण कर स्वतन्त्र रूप से उनके स्वरूप का स्पष्टीकरण किया है। यह इतिहास का एक विलक्षण सयोग था कि अलङ्कार-विषयक मान्यताओ का मूल्याङ्कन सस्कृत अलङ्कार-शास्त्र के अन्तिम आचार्य के द्वारा हुआ—जैसे वे अलङ्कार-शास्त्रीय मीमासा का समापन करने के पूर्व उसका पुन परीक्षण कर लेना चाहते हो। उन्होने नवीन अलङ्कारो की कल्पना नही कर पूर्व-प्रतिपादित अलङ्कारो का ही स्वरूप-निरूपण किया है।

जगन्नाथ के द्वारा अप्पय्य दीक्षित की 'चित्रमीमासा' का किया हुआ खण्डन प्रसिद्ध है। विभिन्न अलङ्कारो के विषय मे पूर्ववर्ती आचार्यो की मान्यता के खण्डन तथा उनके विषय मे अपनी मान्यता की पुष्टि मे उनके दिये हुए तर्क पर हमने विशेष अलङ्कारो के स्वरूप-विकास के अध्ययन के सन्दर्भ मे विचार किया है। प्रस्तुत अध्याय मे हमारा उद्देश्य रसगङ्गाधरकार के द्वारा निरूपित अलङ्कारो के स्वरूप का स्रोत-सन्धान-मात्र है।

'रसगङ्गाधर' मे शब्दशक्तिमूलक ध्वनि के सन्दर्भ मे काव्य के अलङ्कारो की स्वरूप-मीमांसा की गयी है। उसमे निम्नलिखित अलङ्कारो के स्वरूप का विवेचन किया गया है—

(१)उपमा, (२) उपमेयोपमा, (३) अनन्वय, (४) असम, (५) उदाहरण, (६) स्मरण, (७) रूपक, (८) परिणाम, (९) ससन्देह,

(१०) भ्रान्तिमान्, (११) उल्लेख, (१२) अपह्नुति, (१३) उत्प्रेक्षा, (१४) अतिशयोक्ति, (१५) तुल्ययोगिता, (१६) दीपक, (१७) प्रतिवस्तूपमा, (१८) दृष्टान्त, (१९) निदर्शना, (२०) व्यतिरेक, (२१) सहोक्ति, (२२) विनोक्ति, (२३) समासोक्ति, (२४) परिकर, (२५) श्लेष, (२६) अप्रस्तुत-प्रशसा, (२७) पर्यायोक्त, (२८) व्याजस्तुति, (२९) आक्षेप, (३०) विरोध, (३१) विभावना, (३२) विशेषोक्ति, (३३) असङ्गति, (३४) विषम, (३५) सम, (३६) विचित्र, (३७) अधिक, (३८) अन्योन्य, (३९) विशेष, (४०) व्याघात, (४१) कारणमाला, (४२) एकावली, (४३) सार, (४४) काव्यलिङ्ग, (४५) अर्थान्तरन्यास, (४६) अनुमान, (४७) यथासख्य, (४८) पर्याय, (४९) परिवृत्ति, (०५) परिसख्या, (५१) अर्थापत्ति, (५२) विकल्प, (५३) समुच्चय, (५४) समाधि, (५५) प्रत्यनीक, (५६) प्रतीप, (५७) प्रौढोक्ति, (५८) ललित, (५९) प्रहर्षण, (६०) विषादन, (६१) उल्लास, (६२) अवज्ञा, (६३) अनुज्ञा, (६४) तिरस्कार, (६५) लेश, (६६) तद्गुण, (६७) अतद्गुण, (६८) मीलित, (६९) सामान्य और (७०) उत्तर।

प्रस्तुत अलङ्कार-तालिका से स्पष्ट है कि पण्डितराज जगन्नाथ ने बहुलाशत पूर्ववर्ती आचार्यों के द्वारा विवेचित अलङ्कारों का ही स्वरूप-निरूपण किया है। हम देख चुके है कि जगन्नाथ का उद्देश्य नवीन अलङ्कारों की उद्भावना करना नही, प्राचीन अलङ्कारो के स्वरूप का ही विशदीकरण था। जगन्नाथ ने 'असम' के सन्दर्भ मे रत्नाकर का मत उद्धृत किया है।[1] अत· 'असम' नाम को भी जगन्नाथ की कल्पना नही माना जा सकता। उदाहरण अलङ्कार भी 'अलङ्काररत्नाकर' से ही गृहीत है।[2] प्राचीन आचार्यो ने इसकी स्वतन्त्र सत्ता नही मान कर इसके स्वरूप का विवेचन उपमा के अन्तर्गत ही किया है। स्वय पण्डितराज जगन्नाथ ने इस तथ्य का उल्लेख किया है।[3] 'रसगङ्गाधर' मे एक नवीन अलङ्कार का उल्लेख है। वह है—तिरस्कार। यह अप्पय्य दीक्षित के अनुज्ञालङ्कार का विपरीतधर्मा है। अनुज्ञा

१. अपि त्वसमालङ्कार इति रत्नाकरेणोक्तम्।

—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर २, पृ० ३३४

२. तुलनीय—शोभाकर, अलङ्कार रत्नाकर पृ० १३ तथा रसगङ्गाधर, पृ० ३३६

३. प्राञ्चस्तु नायमलङ्कारोऽतिरिक्त.। उपमयैव गतार्थत्वात्।

—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ३४०-१

मे सदोष वस्तु मे गुण की कल्पना कर उसकी स्पृहा की जाती है, तिरस्कार मे इसके विपरीत प्रसिद्ध गुण वाली वस्तु मे दोष की कल्पना कर उसे अवाञ्छनीय बताया जाता है।[1] आचार्य भरत ने गर्हण नामक लक्षण मे दोष मे गुण तथा गुण मे दोष-प्रदर्शन की कल्पना की थी।[2] तिरस्कार की कल्पना का मूल उक्त लक्षण मे माना जा सकता है। जगन्नाथ के शेष अलङ्कार प्राचीन ही है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि पण्डितराज ने अलङ्कार-विवेचन मे जिन उक्तिभङ्गियो की कल्पना की है, उनसे प्राचीन आचार्य अनभिज्ञ नही थे।



विश्वेश्वर पण्डित

पण्डितराज जगन्नाथ के बाद सस्कृत साहित्यशास्त्र में मौलिक चिन्तन की प्रवृत्ति समाप्त हो गयी। उनके बाद के आचार्यो का उद्देश्य साहित्य के विभिन्न अङ्गो को सुबोध बना कर सस्कृत के अध्येताओ के लिए प्रस्तुत करना-मात्र रह गया। विश्वेश्वर पण्डित ऐसे ही आचार्यो मे से एक थे। उन्होने तीन ग्रन्थो मे अलङ्कार के स्वरूप का विवेचन किया है। 'अलङ्कार कौस्तुभ', 'अलङ्कार-मुक्तावली' तथा 'अलङ्कार-प्रदीप', इन तीन ग्रन्थो मे अलङ्कार के स्वरूप-विवेचन मे उनका उद्देश्य स्पष्ट है। विभिन्न स्तरो के पाठको की रुचि और योग्यता का ध्यान रख कर उन्होने उक्त तीन ग्रन्थो की रचना की है। 'अलङ्कार-मुक्तावली' अलङ्कार-शास्त्र मे प्रवेश करने वाले पाठको के लिए लिखी गयी थी। 'अलङ्कार-कौस्तुभ'मे एकसठ अलङ्कारो का विशद निरूपण किया गया। 'अलङ्कारप्रदीप' मे एक सौ उन्नीस अलङ्कारो का विवेचन किया गया। 'अलङ्कार-कौस्तुभ' मे विश्वेश्वर ने एकसठ अलङ्कारो की सत्ता स्वीकार कर पूर्ववर्ती आचार्यो के द्वारा प्रतिपादित अन्य पचीस अलङ्कारो मे से कुछ का उन्ही मे अन्तर्भाव माना है तथा कुछ के अलङ्कारत्व का खण्डन किया है। यह विलक्षण बात है कि एक ही आचार्य एक ग्रन्थ मे एक सौ उन्नीस अलङ्कारो का विवेचन करे और दूसरे ग्रन्थ मे उनमे से अनेक के अलङ्कारत्व का अथवा

---

१. एव दोषविशेषानुबन्धाद्गुणत्वेन प्रसिद्धस्यापि द्वेषस्तिरस्कारः।
—वही, पृ० ८०७

२. द्रष्टव्य—भरत, ना० शा०, अभिनव भारती मे उद्धृत, पृ० ३१५

कुछ के स्वतन्त्र अस्तित्व का खण्डन करे। इसका कारण चिन्तन की अपरिपक्वता या आत्मविश्वास का अभाव ही हो सकता है। 'अलङ्कार-कौस्तुभ' मे निम्नलिखित पचीस अलङ्कारो के स्वतन्त्र अस्तित्व का या अलङ्कारत्व का खण्डन किया गया है—अनुगुण, अल्प, असम्भव, आनुकूल्य, उन्मीलित, उल्लेख, निमीलित, निश्चय, परिकराङ्कुर, परिणाम, पूर्वरूप, प्रस्तुताङ्कुर, प्रहर्षण, प्रौढोक्ति, मिथ्याध्यवसिति, युक्ति, ललित, लेश, विकस्वर, विचित्र, वितर्क, विशेष, विषाद, सम्भावना और हेतु।

'अलङ्कार-प्रदीप' मे सूत्र-शैली मे 'कुवलयानन्द' के मुद्रा को छोड शेष सभी अलङ्कारो का निरूपण किया गया है। इसके अतिरिक्त विश्वनाथ के 'साहित्य-दर्पण' से अनुकूल, जगन्नाथ के 'रसगङ्गाधर' से तिरस्कार और शोभाकर के 'अलङ्कार-रत्नाकर' से निश्चय अलङ्कार गृहीत है। सस्कृत-आचार्यो की रचनाओ के साथ विश्वेश्वर ने हिन्दी रीति-आचार्यो की रचनाओ का भी उपयोग किया है।

स्पष्टत., विश्वेश्वर पण्डित की रचनाओ मे अलङ्कार-विषयक कोई मौलिक उद्भावना नही हुई है।



अच्युतराय

अच्युतराय ने सस्कृत अलङ्कार-शास्त्र का मन्थन कर साहित्य का सार प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। अच्युत का काल (अठारहवी शताब्दी का उत्तरार्ध तथा उन्नीसवी का पूर्वार्ध) पूर्वाचार्यो के साहित्य-सिद्धान्त-सागर के मन्थन का ही काल था, स्वतन्त्र कल्पना का काल नही। 'साहित्यसार' के कौस्तुभरत्न एव कामधेनुरत्न मे क्रमश अर्थालङ्कारो एव शब्दालङ्कारो का विवेचन है। शब्द के छेक, श्रुति तथा लाट अनुप्रास एव यमक का विवेचन हुआ है। अर्थ के एक सौ अलङ्कारो का निरूपण किया गया है। अलङ्कारो के लक्षण अधिकतर 'कुवलयानन्द' के अधार पर दिये गये है। 'साहित्य-सार' मे किसी नवीन अलङ्कार की उद्भावना नही की गयी है। हाँ, अलङ्कारो के अधिकाधिक भेदो की स्थापना का प्रयास अवश्य किया गया है। भेदीकरण मे भी प्राचीन आचार्यों की मान्यताओ का ही सहारा लिया गया है।

सस्कृत मे अलङ्कार-निरूपण करने वाले आचार्यो की एक सुदीर्घ परम्परा रही है। अनेक आचार्यो ने पूर्वाचार्यो के द्वारा स्वीकृत अलङ्कारो का लक्षण-निरूपण किया है। ऐसे गौण आचार्यो की एक लम्बी सूची डॉ० डे ने दी है।[१] जिन आलङ्कारिको का अलङ्कार-धारणा के विकास मे मौलिक योगदान नही, उनकी कृतियो की समीक्षा प्रस्तुत सन्दर्भ मे अप्रासङ्गिक समझ कर छोड दी गयी है।



निष्कर्ष

सस्कृत-अलङ्कार-शास्त्र मे काव्यालङ्कार-धारणा के विकास-क्रम के इस अध्ययन से निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते है —

आचार्य भरत के उपरान्त काव्य के अलङ्कारो की सख्या मे क्रमिक वृद्धि होती गयी है। भरत के चार अलङ्कारो की जगह परवर्ती आचार्यो की कृतियो मे शताधिक अलङ्कारो की कल्पना कर ली गयी है।

यद्यपि अधिकाश परवर्ती आचार्यो मे अलङ्कारो की सख्या के प्रसार की प्रवृत्ति ही अधिकतर पायी जाती है, पर कुछ आचार्यो ने समय-समय पर अलङ्कारो की सख्या के अनावश्यक प्रसार का विरोध कर सख्या को परिमित करने का भी आयास किया है। वामन, कुन्तक आदि आचार्यो का प्रयास इस दृष्टि से द्रष्टव्य है।

अलङ्कारो की सख्या की प्रसृति एव परिमिति का कारण अलङ्कारो के सम्बन्ध मे आचार्यो के दृष्टिकोण मे मूलभूत अन्तर रहा है। कुन्तक ने अलङ्कार एव अलङ्कार्य के बीच स्पष्ट विभाजक-रेखा खीच कर पूर्ववर्ती आचार्यो के कुछ अलङ्कारो को अलङ्कार्य सिद्ध कर अलङ्कार के क्षेत्र से बहिष्कृत कर दिया। वामन आदि आचार्यो ने केवल औपम्यगर्भ अलङ्कारो की ही सत्ता स्वीकार कर अन्य अलङ्कारो का अलङ्कारत्व अस्वीकार कर दिया है। केवल औपम्यमूलक अलङ्कारो का सद्भाव मानना युक्तिसङ्गत नही। विरोधमूलक, क्रममूलक आदि अलङ्कारो का अलङ्कारत्व भी उपेक्षणीय नही। अलङ्कार और अलङ्कार्य के बीच व्यावहारिक दृष्टि से विभाजक-रेखा अवश्य होनी चाहिए। अनेक आचार्यो ने काव्य के वर्ण्य को भी अलङ्कार

१. द्रष्टव्य—डॉ० डे, Hist. of skt. Poetics खण्ड १

मे परिगणित कर लिया है। अलङ्कार काव्योक्ति को अलङ्कृत करते है। अत: अलङ्कार और अलङ्कार्य का भेद-निरूपण उपक्षणीय नही।

अलङ्कारो के सख्या-प्रसार का प्रमुख कारण यह है कि नाट्याचार्य भरत के द्वारा विवेचित छत्तीस लक्षण अपनी सत्ता विसर्जित कर धीरे-धीरे कुछ परिवर्त्तन के साथ अलङ्कार के क्षेत्र मे अवतरित होते गये है। कुछ लक्षण तो अपने अपरिवर्त्तित स्वरूप मे ही अलङ्कार के रूप मे स्वीकार कर लिये गये है। अलङ्कार और लक्षण मे स्वरूपगत इतना साम्य था कि अनेक लक्षणों का तत्त्व लेकर नवीन-नवीन अलङ्कारो की सृष्टि कर ली गयी और नाटक का वह तत्त्व 'लक्षण' अपनी सत्ता खो बैठा। भारतीय साहित्य-शास्त्र के समर्थ समीक्षक अभिनवगुप्त-पाद ने तो यहाँ तक कह दिया है कि अलङ्कारों की सख्या लक्षणो के योग से ही बढती गयी है।[1] एक लक्षण का किसी अलङ्कार से तथा एक लक्षण का किसी दूसरे लक्षण से योग अलङ्कार-विशेष की कल्पना मे अवश्य सहायक सिद्ध हुआ है। फिर भी, आचार्य अभिनव की यह मान्यता किञ्चित् परिष्कार के साथ ही स्वीकार की जा सकती है। यह ठीक है कि अधिकाश अलङ्कारो का मूल लक्षणो मे पाया जा सकता है; पर ऐसे भी अलङ्कार परवर्ती आचार्यो की कृतियो मे पाये जाते है, जिनका मूल लक्षणो मे नही पाया जा सकता। अभिनव के पूर्व भी ऐसे अनेक अलङ्कार प्रचलित थे, जिनका मूल लक्षण मे नही। अभिनव गुप्त ने सम्भवत वामन के अलङ्कारो को दृष्टि मे रखते हुए उक्त मान्यता प्रकट की थी। अत, उन्होने अन्य अलङ्कारो की उपेक्षा कर दी होगी। अलङ्कार-शास्त्र के आधुनिक आलोचको ने परवर्ती आचार्यो की रचनाओ मे अलङ्कारो के सख्याधिक्य को देख कर उसकी तुलना मे भरत आदि आचार्यों की कृतियो मे अलङ्कार की सख्या की अल्पता देखते हुए यह मान लिया है कि आरम्भ मे अलङ्कार-शास्त्र अविकसित था। धीरे-धीरे उसका विकास होता गया है। हमारी विनम्र मान्यता यह यह है कि भरत आदि प्राचीन आचार्य भी काव्य की विविध उक्तिभङ्गियो से अनभिज्ञ नही थे। लक्षण मे अनेक उक्तिभङ्गियो पर विचार करने के कारण उन्होने अलङ्कारो की उतनी कम सख्या स्वीकार की थी। परवर्ती आचार्यो की भेदीकरण की प्रवृत्ति के कारण भी अलङ्कारो की सख्या मे वृद्धि होती गयी। एक अलङ्कार से बहुत सूक्ष्म भेद के आधार पर दूसरे

१. द्रष्टव्य—नाट्यशास्त्र की अभिनव-कृत अभिनवभारती व्याख्या पृ० ३१७ तथा ३२१

स्वतन्त्र अलङ्कार की कल्पना परवर्ती आचार्यों ने कर ली है। इस तरह प्राचीन आचार्यो के एक लक्षण या एक अलङ्कार के सामान्य स्वरूप मे ही परवर्ती आचार्यो के अनेक अलङ्कारो की सम्भावना बीज-रूप मे पायी जा सकती है।

लक्षण के अतिरिक्त गुण आदि की धारणा के आधार पर भी पीछे चल कर नवीन अलङ्कारो की कल्पना कर ली गयी है।

कुछ नाटक आदि के अङ्गभूत तत्त्व भी अलङ्कार के आविर्भाव मे सहायक हुए है। मुद्रा-जैसे अलङ्कार की कल्पना इसका उदाहरण है।

दर्शन आदि मे विवेचित काव्येतर तत्त्व भी काव्यालङ्कार की कल्पना में सहायक हुए है। इस प्रकार न्यायमूलक अलङ्कारो की काव्य-क्षेत्र में अवतारणा दर्शन के क्षेत्र से हुई है।

भोज ने रीति, वृत्ति आदि काव्य-तत्त्वो को अलङ्कार के रूप मे परिगणित कर लिया है। यह मान्यता निर्भ्रान्त नही। इसके पीछे भोज का सख्या-विशेष के प्रति मोह ही हेतु है। इसीलिए भोज के परवर्ती आचार्यो ने रीति, वृत्ति आदि को अलङ्कार नही मान कर स्वतन्त्र काव्य-तत्त्व माना है।

कुछ आचार्यों द्वारा अलङ्कार-विशेष के अलङ्कारत्व का खण्डन किये जाने पर भी वह अलङ्कार परवर्ती आचार्यो के द्वारा स्वीकृत होता रहा है। उदाहरणार्थ, कुन्तक ने अलङ्कार और अलङ्कार्य का भेद स्पष्ट करते हुए स्वभावोक्ति आदि को अलङ्कार्य सिद्ध किया था। फिर भी परम्परा का अनुसरण करते हुए प्राय सभी आलङ्कारिको ने स्वभावोक्ति को अलङ्कार मान लिया है। स्पष्ट है कि अलङ्कार और अलङ्कार्य के बीच स्पष्ट विभाजक-रेखा नही रहने के कारण भी अलङ्कारो की सख्या का इतना प्रसार होता गया। उक्तिभङ्गी से आरम्भ होकर अलङ्कार का क्षेत्र वर्ण्य-वस्तु तक फैल गया। इस प्रकार उदात्त, भाविक आदि भी अलङ्कार बन गये। वर्ण्य-वस्तु मे अलङ्कारत्व मानने मे दो मत हो सकते है। विशेष मनोभावो के आधार पर भी कुछ अलङ्कारो के स्वरूप की कल्पना की गयी। प्रहर्षण, विषादन आदि इसके उदाहरण है।

आचार्य भरत से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक निम्नलिखित अलङ्कारों की कल्पना की गयी है :—

शब्दालङ्कार

यमक, अनुप्रास (छेकानुप्रास लाटानुप्रास आदि) पुनरुक्तवदाभास, वक्रोक्ति, श्लेष, चित्र, बन्ध, भाषासम, जाति, गति, रीति, वृत्ति, छाया, मुद्रा, उक्ति, युक्ति, भगिति, गुम्फना, शय्या, पठिति, वाकोवाक्य, प्रहेलिका, गूढ, प्रश्नोत्तर, अध्येय, श्रव्य, प्रेक्ष्य और अभिनेय ।

चित्र, बन्ध, प्रहेलिका आदि का विवेचन कुछ आचार्यो ने यमक के भेद के रूप मे किया है, किन्तु अन्य आचार्यो ने उन्हे स्वतन्त्र अलङ्कार माना है। भाषासम से अभिनेय तक परिगणित अलङ्कारो को अलङ्कार-शास्त्र के बहुत कम आचार्यो ने स्वीकार किया है। उनमे रीति, वृत्ति आदि तो काव्य के स्वतन्त्र तत्त्व ही है। श्रव्य, प्रेक्ष्य आदि को अलङ्कार मानने मे कोई युक्ति नही। इस प्रकार निम्नलिखित शब्दालङ्कार ही आलङ्कारिको को बहुमान्य हुए है —यमक, अनुप्रास, पुनरुक्तवदाभास, वक्रोक्ति तथा श्लेष। चित्र, बन्ध प्रहेलिका आदि को—जिनमे वर्णो के विशिष्ट गुम्फ से चमत्कार उत्पन्न किया जाता है—अनुप्रास, यमक आदि का भेद मानना ही समीचीन है ।

अर्थालङ्कार

उपमा, रूपक, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक या भेद, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, यथासख्य या क्रम, उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति या जाति या स्वरूप, प्रेय, रसवत्, ऊर्जस्वी, पर्यायोक्त, समाहित, उदात्त, श्लिष्ट, अपह्नुति, विशेषोक्ति, विरोध, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुतप्रशसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, उपमारूपक, उपमेयोपमा, सहोक्ति, परिवृत्ति, ससन्देह, अनन्वय, उत्प्रेक्षावयव, भाविक, आशी, हेतु, सूक्ष्म, लेश, काव्यलिङ्ग, दृष्टान्त, व्याजोक्ति, समुच्चय, भाव, पर्याय, विषम, अनुमान, परिकर, परिसख्या, कारणमाला, अन्योन्य, उत्तर, सार, उदारसार, अवसर, मीलित, एकावली, मत, प्रतीप, उभयन्यास, भ्रान्तिमान्, प्रत्यनीक, पूर्व, साम्य, स्मरण, विशेष, तद्गुण, अधिक, विषम, असङ्गति, पिहित, व्याघात, अहेतु, सम्भव, वितर्क, प्रत्यक्ष, अनुमान, आप्तवचन या आगम, उपमान, अर्थापत्ति, अभाव, समाध्युक्ति, प्रशस्ति, कान्ति, औचित्य, सक्षेप, यावदर्थता, अभिव्यक्ति, सम, मालादीपक, विनोक्ति, सामान्य, अतद्गुण, परिणाम, उल्लेख, विचित्र, अर्थापत्ति, विकल्प, प्रतीपोपमा, उन्मीलित, परिकराङ्कुर, प्रौढोक्ति, सम्भावना, प्रहर्षण, विषादन, विकस्वर, असम्भव, उल्लास, पूर्वरूप, अनुगुण, अनुकूल,

अवज्ञा, भाविकच्छवि, अत्युक्ति, प्रस्तुताङ्कुर, व्याजनिन्दा, अल्प, मिथ्याध्यवसिति, ललित, अनुज्ञा, मुद्रा, रत्नावली, विशेषक, गूढोक्ति, विवृतोक्ति, युक्ति, लोकोक्ति, छेकोक्ति, निरुक्ति, प्रतिषेध, विधि, असम, उदाहरण, तिरस्कार ससृष्टि और सङ्कर। शोभाकर मित्र ने अनेक नवीन व्यपदेश वाले अलङ्कारो की कल्पना की, जिनमे से असम, उदाहरण आदि कुछ अलङ्कार ही पीछे स्वीकृति पा सके।

उपरिलिखित अलङ्कारो मे कुछ के एकाधिक स्वरूप विवेचित है। इस प्रकार समान सज्ञा होने पर भी उनका पृथक्-पृथक् अस्तित्व स्वीकार किया गया है। उदाहरणार्थ; रुद्रट के वास्तव-वर्गगत समुच्चय से उनके औपम्य-वर्गगत समुच्चय का स्वरूप भिन्न है। उनके उत्तर के भी दो रूप है—वास्तव तथा औपम्य, और वे दोनो एक दूसरे से सर्वथा स्वतन्त्र है। औपम्यमूलक पूर्व के स्वरूप को रुद्रट ने अतिशय-मूलक पूर्व से भिन्न माना है। इस प्रकार उक्त समुच्चय, उत्तर और पूर्व अलङ्कार नाम्ना तीन है किन्तु स्वरूप-दृष्ट्या वस्तुत. उनकी सख्या छह हो जाती है।

ऊपर जितने शब्दालङ्कारो एव अर्थालङ्कारो के नाम गिनाये गये है, उन्हे समग्रत. सस्कृत अलङ्कार-शास्त्र के किसी भी एक आचार्य ने स्वीकार नही किया है। 'कुवलयानन्द' मे अलङ्कारो की बहुत अधिक सख्या स्वीकृत है, फिर भी लगभग सवा सौ अलङ्कारो का ही अस्तित्व उसमे स्वीकृत है। भोज तथा अग्निपुराणकार के द्वारा कल्पित अनेक अलङ्कार आचार्यो की स्वीकृति नही पा सके। उपमा, रूपक, दीपक, यमक आदि अलङ्कार काव्य-शास्त्र के आरम्भ से लेकर अन्त तक निर्विवाद रूप से सभी आचार्यो के द्वारा स्वीकृत हुए है। उपमारूपक, उपमेयोपमा आदि का स्वतन्त्र अस्तित्व मानने मे आचार्यो मे मतैक्य का अभाव रहा है। कुछ आचार्य उपमेयोपमा को उपमा-भेद मानते है तो कुछ उसकी स्वतन्त्र सत्ता के पक्षपाती है।

अलङ्कारो की सख्या का प्रसार हो जाने पर आचार्यो ने उनके वर्गीकरण का प्रयास किया है। विभिन्न आचार्यो ने भिन्न-भिन्न आधार पर उनका वर्गीकरण किया है। इस प्रकार सादृश्य, विरोध एव शृङ्खला आदि के

आधार पर अलङ्कारो का वर्गीकरण हुआ तो दूसरी ओर वास्तव, औपम्य, अतिशय एवं श्लेष वर्गो मे उन्हे विभाजित किया गया।[१]

उद्गम-स्रोत की दृष्टि से सस्कृत-अलङ्कार-शास्त्र मे विवेचित काव्यालङ्कारो को निम्नलिखित वर्गो मे विभाजित किया जा सकता है :—

(क) लक्षण से आविर्भूत, (ख) रीति, वृत्ति आदि काव्य-तत्त्वों से समुद्भूत, (ग) गुण से नि सृत, (घ) अन्य नाट्य-तत्त्वो के आधार पर कल्पित, (ङ) दर्शन आदि काव्येतर शास्त्र के क्षेत्र से काव्य-क्षेत्र मे अवतरित (च) अलङ्कार-विशेष से बहुत सूक्ष्म भेद के आधार पर उससे स्वतन्त्र रूप मे कल्पित, (छ) अलङ्कार-विशेष के विपर्ययात्मक रूप मे कल्पित, (ज) समय-समय पर विशेष आचार्यो के द्वारा उद्भावित नवीन अलङ्कार, जिनमे से कुछ का अलङ्कारत्व असन्दिग्ध है, पर कुछ का सन्दिग्ध, (झ) रस, भाव आदि की धारणा से आविर्भूत, (ञ) औचित्य की धारणा पर आधृत तथा (ट) शब्द-शक्तियो पर अवलम्बित।

(१) लक्षण से आविर्भूत :—लक्षण के साथ लक्षण, गुण, अलङ्कार आदि के योग से अनेक अलङ्कारो की रूप-रचना हुई है। आचार्य अभिनव ने अलङ्कारो की सख्या-प्रसृति का प्रधान हेतु इसे ही माना था। सस्कृत काव्य-शास्त्र मे कल्पित निम्नलिखित अलङ्कारो का मूल लक्षण मे है —प्रेय, विरोध, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, व्याजस्तुति, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, अपह्नुति, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुतप्रशसा, निदर्शना, सन्देह, उदात्त, हेतु, सूक्ष्म, लेश, दृष्टान्त, विरोधाभास, भाव, अनुमान, परिकर, परिसख्या, उत्तर, अवसर (एक प्रकार), औपम्यवर्गगत मत, उत्तर, भ्रान्तिमान्, सम्भव, मिथ्याध्यवसिति, निरुक्ति, ललित और अनुज्ञा।

(२) रीति, वृत्ति आदि काव्यतत्त्वों से समुद्भूत :—भोज ने रीति, वृत्ति आदि को भी काव्यालङ्कार के रूप मे परिगणित कर लिया है। यह मान्यता समीचीन नही। रीति, वृत्ति आदि अलङ्कार से स्वतन्त्र काव्याङ्ग है। इसीलिए भोज की इस मान्यता को अलङ्कारशास्त्र मे समर्थन प्राप्त नही हो सका। भणिति, शय्या, गुम्फना आदि भी ऐसे ही अलङ्कार है।

---

१. रुद्रट ने वास्तव, औपम्य, अतिशय एवं श्लेष वर्गो मे अलङ्कारो का विभाजन किया है। सादृश्य, विरोध तथा शृङ्खला आदि के आधार पर अलङ्कारो के वर्गीकरण का प्रयास रुय्यक आदि ने किया।

(३) गुण-धारणा से नि.सृत .—स्वभावोक्ति, अत्युक्ति, भाविक तथा अवसर (एक भेद) अलङ्कारो का मूल गुणधारणा मे है। अग्निपुराणकार ने प्रशस्ति, कान्ति, औचित्य,सक्षेप और यावदर्थता की गणना अलङ्कार के रूप मे कर ली है। भोज ने इन्हे गुण माना था। औचित्य को वस्तुत न तो गुण माना जा सकता है, न अलङ्कार। वह गुण, अलङ्कार आदि का प्राणभूत काव्य का स्वतन्त्र ही तत्त्व है।

(४) नाट्य-क्षत्र से अलङ्कार के क्षेत्र मे अवतरित :—मुद्रा की कल्पना नाटक-तत्त्व के आधार पर की गयी है। प्रेक्ष्यत्व को भी कुछ आचार्यो ने अलङ्कार मान लिया है। यह उचित नही। प्रेक्ष्यत्व नाटक का आवश्यक धर्म है, जिसके अभाव में रूपक की रचना का उद्देश्य ही विफल हो जाता है।

(५) अन्य काव्य-तत्त्वों से आविर्भूत :—श्रव्यत्व, अध्येयत्व आदि काव्य के सामान्य धर्म की गणना भी काव्यालङ्कार के रूप मे कर ली गयी है; किन्तु इस कल्पना को अधिकाश आलङ्कारिको ने स्वीकार नही किया है।

(६) दर्शन के क्षेत्र से काव्यालङ्कार के क्षेत्र मे अवतरित :—स्मरण, प्रत्यक्ष, अनुमान आदि छह प्रमाण, वितर्क, अर्थापत्ति, विकल्प तथा उक्ति के विधि नियम और परिसख्या भेद की धारणा दर्शन से ली गयी है और इन्हे कुछ आलङ्कारिको ने अलङ्कार के रूप मे परिगणित कर लिया है।

(७) अलङ्कार-विशेष से सूक्ष्म भेद के आधार पर कल्पित स्वतन्त्र अलङ्कार .—अलङ्कार-शास्त्र के परवर्ती काल के आचार्यो मे भेदीकरण की प्रवृत्ति अधिक होने से थोडे-थोडे भेद के आधार पर स्वतन्त्र अलङ्कारो की कल्पना की जाने लगी। इस प्रकार किसी पूर्व-प्रतिपादित अलङ्कार से ही दूसरे अलङ्कार का जन्म हुआ। इस वर्ग के अलङ्कार है.—अनुप्रास, अनन्वय, उपमेयोपमा, उत्प्रेक्षा, आवृत्ति, चित्र, पूर्व, प्रतीप, उभयन्यास, साम्य, अतिशय-वर्गगत पूर्व, तद्गुण का एक भेद, व्याघात, अहेतु, मालादीपक, उल्लेख, सम्भावना, विषादन, प्रतीपोपमा, भाविकच्छवि, अनुगुण, परिकराङ्कुर, विकस्वर, असम्भव, प्रौढोक्ति, निश्चय, प्रतिषेध, विधि, छेकोक्ति, व्याजनिन्दा, प्रस्तुताङ्कुर, गूढोक्ति तथा युक्ति।

(८) अलङ्कार-विशेष के विपरीत-स्वभाव :—सामान्य, अतद्गुण, उन्मीलित तथा अल्प आदि इस वर्ग मे आते है। इनके स्वरूप की कल्पना

क्रमश· विशेष, तद्गुण, मीलित एव अधिक आदि के वैपरीत्य के आधार पर की गयी है।

(९) रस-भाव आदि की धारणा पर अवलम्बित :—अलङ्कार-प्रस्थान के कुछ आचार्यो ने रस-भाव आदि को भी अलङ्कार के क्षेत्र मे समाविष्ट कर दिया है। रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वी आदि का सम्बन्ध रस, भाव आदि से है। रस, भाव आदि की प्राचीन मान्यता मे ही अलङ्कारत्व की कल्पना पीछे चल कर कर ली गयी है।

(१०) औचित्य-धारणा से आविर्भूत :—भोज का भाषौचित्य अलङ्कार औचित्य का ही एक प्रकार है। औचित्य को अलङ्कार मानना उचित नही।

(११) शब्दशक्ति की धारणा पर आधृत —मुद्रा, विवृतोक्ति आदि अलङ्कार के मूल मे शब्दशक्ति की धारणा निहित है।

(१२) मौलिक अलङ्कार:—सस्कृत-अलङ्कार-शास्त्र मे भरत के परवर्ती आचार्यो ने समय-समय पर जिन मौलिक अलङ्कारो की उद्भावना की है, वे निम्नलिखित है। उनको दो वर्गो मे प्रस्तुत करना उचित होगा—(क) अशत मौलिक वर्ग मे तथा (ख) पूर्ण मौलिक वर्ग मे। अशत मौलिक अलङ्कार वे है, जिनके स्वरूप की कल्पना की कुछ सम्भावना तो भरत आदि प्राचीन आचार्यों के लक्षण, गुण, अलङ्कार आदि मे ही थी, पर उनके स्वरूप की कल्पना कुछ स्वतन्त्र रूप से भी हुई है। पूर्णत मौलिक वर्ग मे वे अलङ्कार रखे गये है, जिनके स्वरूप का सङ्केत 'नाट्यशास्त्र' मे कही नही मिलता।

(क) श्लिष्ट, सहोक्ति, परिवृत्ति, भाविक, वास्तव-वर्ग के पर्याय; परिवृत्ति, सूक्ष्म, अतिशय, तद्गुण, औपम्य-वर्गगत सहोक्ति और आक्षेप, परिणाम और लोकोक्ति।

(ख) वक्रोक्ति, विभावना, विशेषोक्ति, पर्यायोक्ति, समाहित, पुनरुक्तवदाभास, व्याजोक्ति, यथासख्य, वास्तव-वर्गगत समुच्चय, विषम, कारणमाला, अन्योन्य, सार, मीलित, एकावली तथा पर्याय का एक प्रकार, औपम्य-वर्गगत प्रत्यनीक, अतिशय-वर्गगत विशेष, अधिक, विषम, असङ्गति, पिहित तथा तद्गुण का एक प्रकार; अर्थानुप्रास, उल्लास, पूर्वरूप, प्रहर्षण, अवज्ञा, रत्नावली, विचित्र आदि पूर्ण मौलिक अलङ्कार है। इनमे से विभावना, विशेषोक्ति पर्यायोक्ति, समाहित और यथासख्य की उद्भावना का श्रेय भामह को; समुच्चय से तद्गुण तक के अलङ्कारो की उद्भावना का श्रेय रुद्रट को;

व्याजोक्ति की कल्पना का श्रेय वामन को, उल्लास, पूर्वरूप, प्रहर्षण एवं अवज्ञा की उद्भावना का श्रेय जयदेव को और रत्नावली की कल्पना का श्रेय अप्पय्य दीक्षित को है। पुनरुक्तवदाभास की उद्भावना उद्भट ने की थी। विचित्र रुय्यक की कल्पना है।

स्पष्ट है कि सभी समर्थ आलङ्कारिको ने अलङ्कारो के नवीन-नवीन स्वरूप की कल्पना का प्रयास किया है। भरत के बाद भामह और दण्डी के काल तक जिन अलङ्कारो की कल्पना हुई, उनमे से अधिकांश का स्वरूप भरत के लक्षण, अलङ्कार, गुण आदि के तत्त्व से बना है। सम्भवत. उन्ही अलङ्कारो को लक्ष्य कर अभिनव गुप्त के गुरु भट्ट तौत ने कहा था कि लक्षणों के योग से अलङ्कारो मे वैचित्र्य आता है। अभिनव के बाद भी बहुत-से अलङ्कारो के स्वरूप, लक्षण, अलङ्कार आदि के तत्त्वो के योग से कल्पित हुए है।

तृतीय अध्याय

हिन्दी रीति-साहित्य में अलङ्कार-विषयक उद्भावनाएँ और उनका स्रोत

हिन्दी मे अलङ्कार-शास्त्र की सुदीर्घ परम्परा पायी जाती है। हिन्दी-साहित्य के उस काल-खण्ड मे, जिसे 'रीति काल' की सज्ञा से अभिहित किया गया है, अलङ्कार का विवेचन ही प्रधान है। काव्य के अन्य अङ्गो—रस, शब्द-शक्ति, रीति, गुण, दोष, आदि—का भी विवेचन हिन्दी रीति-साहित्य मे हुआ है, किन्तु रीति-काल में काव्याङ्ग-विवेचन मे प्रधानता अलङ्कार-विवेचन की ही रही है। सस्कृत मे भी अलङ्कार-रहित काव्य की कल्पना को शीतल अग्नि की-सी अनुचित कल्पना मानने वाले आचार्य हुए है।[1] हम यह देख चुके है कि सस्कृत-साहित्य-शास्त्र मे अलङ्कार-प्रस्थान के समर्थक आचार्यो की एक सशक्त परम्परा रही है, किन्तु रस-ध्वनि-प्रस्थान की स्थापना के बाद अलङ्कार-प्रस्थान की लोकप्रियता क्षीण पड गयी। ध्वनिध्वस-प्रस्थान के आचार्यो का प्रयास सफल नही हो सका। आनन्दवर्धन, मम्मट आदि आचार्यो की तर्कपुष्ट मान्यताएँ अकाट्य प्रमाणित हुई। जयदेव, अप्पय्य दीक्षित आदि पिछले खेवे के आचार्यो ने अलङ्कार के श्रेय की स्थापना का फिर से प्रयास किया, पर सुरुचि-सम्पन्न पाठको की दृष्टि मे रस, ध्वनि आदि की अपेक्षा अलङ्कार को काव्य मे गौण स्थान ही मिला। हिन्दी रीति-शास्त्र मे अलङ्कार-विवेचन की प्रधानता का कारण स्पष्ट है। रीति-काल दरबारी साहित्य का काल था। राजाओ के दरबार मे आयोजित काव्य-गोष्ठियो मे उक्ति-चमत्कार से श्रोताओ को चमत्कृत एव मुग्ध करना कवियो का प्रधान उद्देश्य रहता था। फलत. उस काल की कविता सुन्दर अलङ्कारो से अलङ्कृत

---

१. अङ्गीकरोति य· काव्यं शब्दर्थावनलङ्कृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती॥—जयदेव, चन्द्रालोक, १,८

ाकर रसिको का मनोरञ्जन करने लगी। अलङ्कार-विवेचन तत्कालीन ाहित्य-शास्त्र का प्रधान अङ्ग बना। उक्ति-चमत्कार कविता का प्रधान अङ्ग ीकृत हुआ। हिन्दी के आचार्यो पर ही नही, उस काल के रस-सिद्ध सस्कृत कवि तथा ध्वनि-सम्प्रदाय के समर्थ समर्थक आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ र भी चमत्कारवाद का प्रभाव पडे बिना नही रहा। उन्होने भी काव्य की रिभाषा मे उक्ति-चमत्कार पर बल दिया है।

रीतिकालीन सामाजिक स्थिति का स्वाभाविक प्रतिफलन कृत्रिम एव लङ्कृत उक्ति से चमत्कार उत्पन्न करने के आयास में हुआ और अलङ्कार-ववेचन को आचार्यो ने प्राथमिकता दी। रीति-काल के अनेक आचार्यो ने वल काव्यालङ्कारो के ही स्वरूप का विवेचन किया है। काव्य के रस आदि न्य अङ्गो का विवेचन करने वाले आचार्यो ने भी अलङ्कारो का लक्षण-ारूपण किया है। इस प्रकार काव्यालङ्कार का स्वरूप-निरूपण करने वाले ाचार्यो की रीति-काल मे लम्बी परम्परा रही है। प्रस्तुत अध्याय में हम ङन्दीरीति-आचार्यो की अलङ्कार-विषयक उद्भावना का मूल्याङ्कन करेगे।



आचार्य केशव दास

केशव दास हिन्दी-रीति-शास्त्र के प्रथम आचार्य है। उन्होने 'कविप्रिया' ा काव्यालङ्कारो का स्वरूप-विवेचन किय। है। कवि के रूप मे केशव बौद्धिक ामत्कार-प्रदर्शन के लिए विख्यात है। उन्होने काव्य मे अलङ्कार का सद्भाव ावश्यक माना है।[१] अत, पण्डित रामचन्द्र शुक्ल की यह मान्यता उचित ो है कि— केशव को ही अलङ्कार आवश्यक मानने के कारण अलङ्कारवादी ह सकते है।'[२] 'कवि-प्रिया' मे विवेचित अलङ्कार निम्नलिखित है :—

जाति या स्वभाव, विभावना, हेतु, विरोध, विरोधाभास, विशेष, उत्प्रेक्षा, ाक्षेप, क्रम, गणना, आशिष, प्रेम, श्लेष, सूक्ष्म, लेश, निदर्शना, ऊर्जस्वी, सवत्, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, अपह्नुति, वक्रोक्ति, अन्योक्ति, ाविकरणोक्ति, विशेषोक्ति, सहोक्ति, व्याजस्तुति, व्याजनिन्दा, अमित,

१. जदपि सुजाति सुलच्छनी, सुबरन सरस सुबृत्त।
भूषन बिनु न विराजही, कविता बनिता मित्त ॥
—केशव, कविप्रिया, प्रभाव, ५,१

२. रामचन्द्र शुक्ल, हि० सा० का इतिहास, पृ० २३६

पर्यायोक्ति, युक्त, समाहित, सुसिद्ध, प्रसिद्ध, विपरीत, रूपक, दीपक, प्रहेलिका, परिवृत्त, उपमा, यमक और चित्र ।

उक्त बयालिस अलङ्कारो का सोदाहरण लक्षण-निरूपण 'कविप्रिया' मे किया गया है । कन्हैयालाल पोद्दार का कथन है कि (कविप्रिया के) नवे से सोलहवे प्रभाव तक शब्द और अर्थ के सैंतीस अलङ्कारो का निरूपण किया गया है । उन्होने 'कविप्रिया' के टीकाकार लाला भगवान दीन के इस कथन को ही अपरीक्षित रूप से स्वीकार कर लिया है—'केशव ने मुख्य सैंतीस नाम कहे है, पर इनके अवान्तर भेद मिल कर इनसे अधिक अलङ्कारो का वर्णन इस पुस्तक मे है ।'[१] लाला भगवान दीन ने वक्रोक्ति, अन्योक्ति आदि अलङ्कारो को उक्ति अलङ्कार का भेद मान लिया है । वस्तुत , वे उक्तिमूलक अलङ्कार है, उक्ति अलङ्कार के भेद नही । उनसे स्वतन्त्र उक्ति नामक कोई अलङ्कार नही ।

हम देख चुके है कि केशव के पूर्व सस्कृत-अलङ्कार-शास्त्र मे शताधिक अलङ्कारो का विवेचन हो चुका था, किन्तु केशव ने उनमे से सबका अलङ्कारत्व स्वीकार नही किया । उन्होने जितने अलङ्कारो का स्वरूप-निरूपण किया है उन सब के नाम सस्कृत-अलङ्कार-शास्त्र से ही नही लिये गये है , कुछ अलङ्कारो के नाम नवीन है । पूर्व-प्रतिपादित अनेक अलङ्कारो की अस्वीकृति का कोई कारण 'कवि-प्रिया' मे निर्दिष्ट नही है । कुछ अलङ्कारो के नवीन व्यपदेश की कल्पना के पीछे भी मौलिकता-प्रदर्शन की भावना ही जान पडती है । प्रस्तुत सन्दर्भ मे हम केशव के अलङ्कारो का सस्कृत-आचार्यो के अलङ्कार से तुलनात्मक अध्ययन कर केशव के द्वारा उद्भावित नवीन अलङ्कारों के उद्गम-स्रोत पर विचार करेगे ।

'कविप्रिया' मे विवेचित अलङ्कारो मे जाति या स्वभावोक्ति, विभावना, हेतु, उत्प्रेक्षा, आक्षेप, आशी , श्लेष, सूक्ष्म, लेश, निदर्शना, ऊर्जस्वी, रसवत्, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, अपह्नुति, विशेषोक्ति, सहोक्ति, व्याजस्तुति, पर्यायोक्ति, समाहित, रूपक, दीपक, प्रहेलिका, उपमा, यमक, और चित्र अलङ्कारो के नाम-रूप सस्कृत-आचार्यो के द्वारा विवेचित अलङ्कारों से अभिन्न है ।

केशव ने विरोध एव विरोधाभास के पृथक्-पृथक् स्वरूप का वर्णन किया है । सस्कृत अलङ्कार-शास्त्र मे भी विरोध तथा विरोधाभास सज्ञाओं का

१. लाला भगवान दीन, प्रिया-प्रकाश, पृ० १४८

उल्लेख हुआ है। प्राचीन आचार्य विरोध और विरोधाभास को एक ही अलङ्कार के दो नाम मानते थे। इसलिए कुछ आचार्यों ने विरोध नाम से तथा कुछ आचार्यों ने विरोधाभास नाम से उसका लक्षण प्रस्तुत किया था। दोनों को अलग-अलग स्वीकार करने वाले आचार्यों ने परस्पर विरुद्ध पदार्थों की घटना को विरोध कहा, तथा विरोध के आभास के स्थल मे विरोधाभास माना। केशव दास ने प्रस्तुत अलङ्कार के दो लक्षण दिये है। एक मे इस अलङ्कार को विरोधाभास और दूसरे मे विरोध कहा गया है। केशव का विरोध-लक्षण भामह तथा दण्डी के विरोध-लक्षण के समान है।[१] उनका विरोधाभास-लक्षण वामन के विरोध-लक्षण के आधार पर कल्पित है।[२] वामन ने ही सर्व-प्रथम विरोध को स्पष्ट शब्दो मे विरोध का आभास कहा था। उनका विरोधाभास-लक्षण विरुद्ध गुण, क्रिया आदि के सयोजन-रूप विरोध से किञ्चित् भिन्न था। केशव दास ने भामह तथा वामन की विरोध-धारणाओं को स्वीकार कर एक लक्षण भामह आदि के मतानुसार तथा दूसरा लक्षण वामन के मतानुसार दिया है।

विकल साधन से साध्य की पूर्त्ति मे विशेष अलङ्कार के सद्भाव की कल्पना केशव ने कर ली है।[3] यह एक विलक्षण कल्पना है। सस्कृत के आचार्यों ने विकल साधन से साध्य की सिद्धि को विभावना का एक प्रकार माना था। केशव ने पूर्ववर्ती आचार्यों की विशेषालङ्कार-विषयक मान्यता को छोड कर इस विभावना-भेद को विशेष मान लिया है। इस कल्पना मे कोई नवीनता नही।

हेतु अलङ्कार की सामान्य धारणा भी सस्कृत-आचार्यों से ही ली गयी है। उसके सभाव, अभाव तथा सभाव-अभाव-भेदो की कल्पना का बीज प्राचीनों के द्वारा कल्पित हेतु अलङ्कार के सामान्य लक्षण मे ही निहित था।

---

१ केशव दास विरोधमय, रचियत बचन विचारि।
तासो कहत विरोध सब · ·· ·।।—केशव, कविप्रिया, ९, १९
तुलनीय—दण्डी, काव्यादर्श, २, ३३३

२. बरनत लगै विरोध सो, अर्थ सवै अविरोध।
प्रगट विरोधाभास यह · ·· ।—केशव, कविप्रिया, ९, २२
तुलनीय—विरुद्धाभासत्व विरोध.।—वामन, काव्यालङ्कार, ४, ३, १२

३ साधक कारण विकल जहँ, होय साध्य की सिद्धि।
केशवदास बखानिये, सो विशेष परसिद्धि।।—केशव, कविप्रिया, ९, २४

केशव की उत्प्रेक्षा सस्कृत आलङ्कारिको की उत्प्रेक्षा से अभिन्न है, किन्तु केशव की उत्प्रेक्षा-परिभाषा प्राचीन आचार्यो की परिभाषा का तरह स्पष्ट और सटीक नही। उत्प्रेक्षा सादृश्यमूलक अलङ्कार है, जिसमे प्रस्तुत मे अप्रस्तुत की सम्भावना होती है। केशव ने उत्प्रेक्षा का लक्षण अन्य वस्तु मे अन्य का तर्क माना है।[१] इस परिभाषा मे सादृश्य पर, जो उत्प्रेक्षा का आधार है, प्रकाश नही पडता। अत: यह लक्षण अशक्त है।

आक्षेप के लक्षण तथा भेदोपभेद आचार्य दण्डी की तद्विषयक मान्यता के आधार पर कल्पित है। सशय, आशिष, धर्म तथा उपाय आक्षेप-भेद दण्डी से लिये गये है। मरण, प्रेम आदि भेदो की कल्पना का आधार भी 'काव्यादर्श' के आक्षेप-भेदो के उदाहरण मे ही है। दण्डी ने स्वय भी आक्षेप के अन्य अनेक भेदो की सम्भावना स्वीकार की थी।[२]

क्रम अलङ्कार के सम्बन्ध मे केशव की धारणा सस्कृत-आचार्यो की क्रम-धारणा से भिन्न है। सस्कृत के आचार्यो ने क्रम को यथासख्य का पर्याय माना था, पर केशव ने उसे एकावली के समान बना दिया है। 'कविप्रिया' मे क्रम की परिभाषा स्पष्ट नही है। आदि से अन्त तक वर्णन केशव के अनुसार क्रम है। भोज ने क्रमश. उत्पत्यादि-क्रम के वर्णन को क्रम कहा था। केशव का उक्त लक्षण भोज के क्रम-लक्षण के समीप है। केशव के द्वारा प्रदत्त निम्नलिखित उदाहरण एकावली का उदाहरण है—

सोभति सो न सभा जहँ वृद्ध न, वृद्ध न ते जु पढे कछु नाहीं।
ते न पढे जिन साधु न साधित, दीह दया न दिपै जिन माही।
सो न दया जु न धर्म धरै धर, धर्म न सो जहँ दान वृथाही।
दान न सो जहँ साँच न 'केशव' साँच न सो जु बसै छल छाहीं।[3]

स्पष्ट है कि क्रम केशव की नवीन उद्भावना नही है। पूर्वाचार्यो की एकावली आदि की धारणा को ही केशव ने क्रम के नाम से कुछ विकृत रूप मे प्रस्तुत किया है। उन्होंने पूर्ववर्ती आचार्यो के एकावली, कारणमाला तथा यथासख्य आदि का सद्भाव स्वीकार नही कर, सभी क्रम-मूलक अलङ्कारो को 'क्रम' की परिभाषा मे समेट लेना चाहा है। परिणाम यह हुआ है कि

१. केशव औरै वस्तु मे और कीजिये तर्क।
उत्प्रेक्षा तासो कहै......॥—वही, ९, ३०
२. द्रष्टव्य—दण्डी, काव्यादर्श, २, १६८
३. केशव, कविप्रिया, ११, ३

उनके क्रम का स्वरूप ही अस्पष्ट रह गया है। एकावली आदि अलङ्कारों को क्रम में समाविष्ट करने की प्रेरणा केशव को आचार्य रुय्यक के 'अलङ्कार-सूत्र' से मिली होगी। रुय्यक ने एकावली, कारणमाला, मालादीपक और सार अलङ्कारो को शृङ्खलाबद्ध या क्रम-मूलक अलङ्कार-वर्ग के अन्तर्गत परिगणित किया है। केशव ने मालादीपक को तो दीपक के सन्दर्भ मे परिभाषित किया, पर एकावली और कारणमाला के स्थान पर क्रम-नामक अलङ्कार की सत्ता की ही कल्पना कर ली। वस्तुत क्रम अपने आप मे कोई स्वतन्त्र अलङ्कार नही। उसका एकावली, कारणमाला आदि क्रम-मूलक अलङ्कारो से पृथक् अस्तित्व नहीं।

केशव ने अनुगणना से एक, दो आदि संख्याओ के वर्णन मे गणना अलङ्कार माना है। यह वस्तुत अलङ्कार है ही नही।

प्रेमालङ्कार की कल्पना असङ्गत है। प्रेम-जैसे हृदय के व्यापक भाव के वर्णन को अलङ्कार-विशेष मान लिया गया है। इसके लक्षण मे हृदय से कपट का विनाश और प्रेम के विकास पर बल दिया गया है।[1] इस प्रकार सौहार्द का चित्रण केशव के अनुसार प्रेमालङ्कार होगा। सम्भवत, केशव ने प्राचीन आचार्यो की प्रेय-धारणा को भ्रम-वश प्रेम अलङ्कार के रूप में विकृत कर प्रस्तुत कर दिया है। लाला भगवान दीन ने 'प्रिया-प्रकाश' मे दोष-परिहार के लिए लिखा है—'केशव ने उदाहरण मे प्रेम भाव का ही वर्णन किया है। इससे यह कदापि न समझना चाहिए कि प्रेम-वर्णन मे ही प्रेमालङ्कार होगा; वरन् यह जानना चाहिए कि किसी भी मनोभाव का सत्य और यथार्थ वर्णन ही प्रेमालङ्कार है।[2] यह केशव के प्रेमालङ्कार-लक्षण पर दीन जी के स्वमत का आरोप-मात्र है। केशव की प्रेमालङ्कार-परिभाषा से यह अर्थ नही निकलता। 'उपजै पूरण क्षेम' मे प्रेम-भाव के उदय की स्पष्ट स्वीकृति है।

केशव की वक्रोक्ति-धारणा भामह आदि की वक्रोक्ति-धारणा से अभिन्न है।[3] भामह ने उसे विशिष्ट अलङ्कार नही माना था। केशव ने उस व्यापक

---

१. कपट निपट मिटि जाय जहँ, उपजै पूरण क्षेम।
ताही सो सब कहत हैं, केशव उत्तम प्रेम ॥
—केशव, कविप्रिया, ११, २७

२. वही, प्रियाप्रकाश टीका, पृ० १६३

३. तुलनीय—केशव, कविप्रिया, १२, ३ तथा भामह, काव्यालङ्कार, २, ८५

धारणा को एक अलङ्कार मान लिया है। उनकी अन्योक्ति प्राचीनो की अप्रस्तुतप्रशसा से अभिन्न है। प्राचीन आचार्यो की असङ्गति को केशव ने व्यधिकरणोक्ति की सज्ञा दी है।

अमित

केशव ने अमित के लक्षण मे कहा है कि जहाँ साधन ही साधक की शुभ सिद्धि का फल भोगता हो, वहाँ अमित अलङ्कार होता है।[1] साधक सिद्धि के लिए किसी साधन का प्रयोग करता है और उस साधन से प्राप्त होने वाली सिद्धि का भोग साधक ही करता है, पर जहाँ साधन के द्वारा ही सिद्धि के भोग किये जाने का वर्णन हो या सिद्धि की प्राप्ति का श्रेय साधन को ही मिले वहाँ अमित नामक अलङ्कार होता है। इसके दो उदाहरण दिये गये है। एक मे नायिका की दूती का नायक के साथ सम्भोग का तथा दूसरे मे मधुकर शाह की जगह उसके सेनापति दुलहराम का विजयश्री प्राप्त करने का वर्णन है।[2] केशव की मान्यता है कि पहले मे नायिका साधक, दूती साधन तथा सम्भोग-सुख साध्य है, पर वह साध्य साधन को ही मिल जाता है। दूसरे मे साधक है मधुकर शाह, पर विजयश्री प्राप्त करने के साधनभूत दुलह को विजयश्री प्राप्त हो जाती है। अमित केशव की नूतन उद्भावना है।

केशव का युक्त अलङ्कार प्राचीन आचार्यो के स्वभावोक्ति अलङ्कार के समान ही है, जिसमे किसी के बुद्धि-बल के अनुरूप स्वरूप का कथन होता है।[3] प्राचीन आचार्यो के स्वभावोक्ति अलङ्कार को स्वीकार कर भी युक्त का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार किया गया है। इसमे स्वभावोक्ति के साथ 'सम' की योग्य-तया योग की धारणा भी मिला दी गयी है।

सुसिद्ध, प्रसिद्ध तथा विपरीत अलङ्कारो के नाम नवीन है। सुसिद्ध का स्वरूप असङ्गति के आधार पर कल्पित है, पर इसमे असङ्गति-जैसा चमत्कार नही। किसी अन्य के द्वारा जुटाये हुए साधन का फल कोई अन्य भोगे तो उसे केशव सुसिद्ध अलङ्कार कहेगे।[4] इसमे कोई चमत्कार नही। पिता के साधन

---

१. द्रष्टव्य—केशव, कविप्रिया, १२, २६

२. वही, १२, २७-२८

३. जैसो जाको रूप बल, कहिये ताही रूप।
   ताको कविकुल युक्त कहि, बरणन विविध सरूप ॥
   —वही, १२, ३१

४. साधि-साधि औरै मरै, औरै भोगै सिद्धि।
   तासो कहत सुसिद्धि सब ······॥—वही, १३, ४

का भोग पुत्र करता है। इसी प्रकार किसी की कमाई दूसरा भोग सकता है। पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था मे भोग के साधन श्रमिक जुटाते है और उनका भोग पूँजीपति करते है। यह जो सामाजिक जीवन का अभिशाप है उसे काव्य मे अलङ्कार कैसे मान लिया जाय? दूसरी बात यह है कि यह लोक की बडी साधारण घटना है। साधारणता मे चमत्कार का तत्त्व नही रह जाता, इसलिए उसमे अलङ्कारत्व मानना समीचीन नही। प्रसिद्ध की स्थिति भी सुसिद्ध-जैसी ही है। इसमे एक के साधन का फल अनेक के द्वारा भोगे जानेका वर्णन अपेक्षित माना गया है। एक राजा के पाप का फल असख्य प्रजा को भोगना पडता है, यह साधारण-सी बात है। इसमे अलङ्कार का सद्भाव मानना उचित नही जान पडता।

जहाँ कार्य का साधन ही उस कार्य का बाधक बन जाय, वहाँ विपरीत अलङ्कार माना गया है।[1] प्राचीन आचार्यों ने व्याघात का एक रूप वहाँ माना था, जहाँ किसी कार्य के लोक-प्रसिद्ध साधन को कोई उसके विरुद्ध कार्य का साधन बना दे।[2] इससे केशव के विपरीत का इतना ही अन्तर है कि उसमे कार्य का साधन ही उस कार्य का बाधक बन जाता है। स्पष्ट है कि विपरीत केशव की नवीन कल्पना है, पर उस कल्पना का आधार अप्पय्य आदि के व्याघात का एक रूप है।

परिवृत्त के स्वरूप को केशव ने कुछ अस्पष्ट कर दिया है। प्राचीन आचार्यों ने परिवृत्ति मे न्यूनाधिक के पारस्परिक परिवर्त्तन की कल्पना की थी। केशव उस धारणा से भी सहमत जान पडते है। इस अलङ्कार के उदाहरण की निम्नलिखित पक्ति मे न्यून और अधिक के परिवर्त्तन की धारणा व्यक्त हुई है—

दै परिरम्भन मोहन को मन मोहि लियो सजनी सुखदाई।

. . . . . ॥(४१)

किन्तु, केशव ने परिवृत्त-परिभाषा मे न्यूनाधिक के परिवर्त्तन पर कुछ भी प्रकाश नही डाला है। उन्होने परिवृत्त की परिभाषा मे कहा है कि जहाँ प्रयत्न कुछ और के लिए किया जाय और फल कुछ और उपज पडे, वहाँ

---

१ कारज साधक को जहाँ, साधन बाधक होय।
तासो सब विपरीत कहि,···· ··॥—केशव, कविप्रिया, १३, ६

२. यद् यत्साधनत्वेन लोकेऽवगत तत्केनचित्तद्विरुद्धसाधन क्रियेत चेत्स व्याघातः।—अप्पय्य, कुवलयानन्द, वृत्ति पृ० १२४

परिवृत्त अलङ्कार होता है।[१] इसके एक उदाहरण मे 'जिसका भला कीजिए वही बुरा मानता है', कहा गया है।[२] इस तरह प्राचीनो की अनिष्टावाप्ति-रूप विषम-भेद की धारणा को भी केशव ने परिवृत्त मे समेट लिया है। लाला भगवानदीन ने केशव के परिवृत्त अलङ्कार के स्वरूप को विषादन अलङ्कार के एक रूप के समान माना है।[3] भलाई के बदले बुराई मिलने की धारणा प्राचीन आचार्यो के परिवृत्ति-लक्षण के सहारे भी व्यक्त की जा सकती थी; पर केशव ने नवीनता के मोह मे उस प्राचीन-धारणा को भी अस्पष्ट कर उपस्थित किया है।

आचार्य केशव की अलङ्कार-धारणा के इस विवेचन से स्पष्ट है कि उनकी 'कविप्रिया' मे अलङ्कारो का स्वरूप-विवेचन प्रौढ नही है। अलङ्कार-वादी होने पर भी केशव ने अलङ्कार-निरूपण को चलता कर दिया है, जैसे वे अपने आचार्यत्व के दायित्व को अनिच्छा से ढो रहे हों। उनके पूर्व सस्कृत-अलङ्कार-शास्त्र मे जितने अलङ्कारो का स्वरूप-निरूपण हो चुका था तथा उनमे से जितने अलङ्कार-साहित्य के पाठको को बहुमान्य हो चुके थे, उन सबो का भी स्पष्ट रूप से यथातथ उपस्थापन केशव की 'कविप्रिया' में नही हो सका। उन्होने केवल बयालीस अलङ्कारो का लक्षण-निरूपण किया है, जिनमे प्रेम, अमित, गणना, सुसिद्ध, प्रसिद्ध, तथा विपरीत, नवीन नामधारी अलङ्कार है। इनमे से प्रेम को अलङ्कार नही माना जा सकता। वह हृदय का भाव है। सुसिद्ध, प्रसिद्ध और गणना मे कोई चमत्कार नही; अतः उन्हे अलङ्कार मानना उचित नही। विपरीत मे भी चमत्कार का अभाव है। अत, उसका अलङ्कारत्व सन्दिग्ध है। अन्योक्ति अप्रस्तुतप्रशसा का अपर पर्याय है। परिवृत्त की धारणा को केशव ने अस्पष्ट कर दिया है। उनका उत्प्रेक्षा-लक्षण भी स्पष्ट नही। युक्त मे स्वभावोक्ति और सम का स्वभाव मिश्रित है। अमित की उद्भावना का श्रेय केशव को है, किन्तु यह अलङ्कार लोकप्रियता प्राप्त नही कर सका।

स्पष्टत, 'कविप्रिया' मे अलङ्कार की कुछ नवीन सज्ञाओ की कल्पना करने पर भी केशव ने अलङ्कार-शास्त्र को कोई मौलिक योगदान नही दिया है। उन्होंने प्राचीन आचार्यो की अलङ्कार-विषयक मान्यता का ही अनुसरण

---

१. जहाँ करत कछु और ही उपजि परत कछु और।
तासौं परिवृत जानियो ········॥—केशव, कविप्रिया, १३,३६

२. द्रष्टव्य—वही, १३, ४२

३. वही, प्रिया-प्रकाश टीका, पृ० २७२

किया है। जहाँ-कही नवीनता लाने का आयास उन्होने किया है वहाँ या तो प्राचीन धारणा को ही कुछ विकृत और अस्पष्ट कर दिया है या फिर ऐसे अलङ्कारो के स्वरूप की कल्पना कर ली है, जिन्हे अलङ्कार माना ही नही जा सकता।



महाराज जसवन्त सिंह

'भाषाभूषण' मे महाराज जसवन्त सिह ने एक सौ आठ अलङ्कारो का लक्षण-निरूपण किया है। उन्होने मौलिकता का मिथ्याभिमान नही कर स्पष्ट शब्दो मे कहा है कि मैंने सस्कृत आचार्यो के अलङ्कार-लक्षणो के आधार पर अलङ्कारो को परिभाषित किया है।[१] 'भाषाभूषण' मे एक ही पद मे अलङ्कार के लक्षण-उदाहरण देने की 'कुवलयानन्द' आदि की पद्धति अपनायी गयी है। प्रस्तुत सन्दर्भ मे 'भाषाभूषण' मे विवेचित अलङ्कारो के स्रोत का परीक्षण हमारा इष्ट है।

'भाषाभूषण' मे अनुक्रम से निम्नलिखित अलङ्कारो का स्वरूप-निरूपण किया गया है —

अर्थालङ्कार :—उपमा, अनन्वय, उपमानोपमेय, प्रतीप, रूपक, परिणाम, उल्लेख, स्मरण, भ्रम, सन्देह, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, तुल्ययोगिता, दीपक, दीपकावृत्ति, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति, समासोक्ति, परिकर, परिकराङ्कुर, श्लेष, अप्रस्तुतप्रशसा, प्रस्तुताङ्कुर, पर्यायोक्ति, व्याजस्तुति, व्याजनिन्दा, आक्षेप, विरोधाभास, विभावना, विशेषोक्ति, असम्भव, असङ्गति, विषम, सम, विचित्र, अधिक, अल्प, अन्योन्य, विशेष, व्याघात, कारणमाला, एकावली मालादीपक, सार, यथासख्य, पर्याय, परिवृत्ति, परिसख्या, विकल्प, समुच्चय, कारकदीपक, समाधि, प्रत्यनीक, काव्यार्थापत्ति, काव्यलिङ्ग, अर्थान्तरन्यास, विकस्वर, प्रौढोक्ति, सम्भावना, मिथ्याध्यवसिति, ललित, प्रहर्षण, विषाद, उल्लास, अवज्ञा, अनुज्ञा, लेख, मुद्रा, रत्नावली, तद्गुण, पूर्वरूप, अतद्गुण, अनुगुण, मीलित, सामान्य,

---

१. अलङ्कार शब्दार्थ के, कहे एक सौ आठ।
किए प्रगट भाषा विषै, देखि सस्कृत पाठ॥
—जसवन्त सिह, भाषाभूषण, अल० प्रकरण, २०६

उन्मीलित, विशेषक, गूढोत्तर, चित्र, सूक्ष्म, पिहित, व्याजोक्ति, गूढोक्ति, विवृतोक्ति, युक्ति, लोकोक्ति, छेकोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक, उदात्त, अत्युक्ति, निरुक्ति, प्रतिपेध, विधि और हेतु ।

शब्दालङ्कार —छेकानुप्रास लाटानुप्रास, यमकानुप्रास तथा वृत्त्यनुप्रास ।

उपरिलिखित एक सौ एक अर्थालङ्कारो एव चार शब्दालङ्कारो के स्वरूप की विवेचना महाराज जसवन्त सिह ने 'भाषाभूपण' मे की है । उनके चार शब्दालङ्कार वस्तुत एक ही अनुप्रास के चार भेद है, फिर भी परम्परा से उनका पृथक्-पृथक् अस्तित्व स्वीकार किया जाता रहा है । जसवन्त सिह के शब्दालङ्कारो की सख्या चार मानने पर भी एक सौ एक अर्थालङ्कारो से उन्हे मिला कर कुल एक सौ पाँच अलङ्कार ही होते है । किन्तु, महाराज जसवन्त सिह ने स्वय एक सौ आठ अलङ्कारो के स्वरूप-निरूपण का दावा किया है । सख्या के सम्बन्ध मे 'भाषाभूपण' के लेखक की मान्यता को गलत नही माना जा सकता । उससे 'भाषाभूपण' के प्राप्त पाठ मे जो सख्या का अन्तर है, उसका एक कारण तो यह हो सकता है कि मूल पुस्तक के कुछ अलङ्कार-लक्षण किसी कारण नष्ट हो गये होगे । एक दूसरे कारण का भी अनुमान किया जा सकता है । सम्भव है कि जिन-जिन अलङ्कारो के एकाधिक स्वरूप स्वीकृत है, उन-उन अलङ्कारो की गणना भाषाभूपणकार ने स्वरूप के आधार पर एक से अधिक कर ली हो । किन्तु, ऐसा अनुमान करने पर समस्या के सुलझने के बजाय दूसरी कठिनाई उपस्थित हो जाती है । ऐसा मानने पर अलङ्कारो की सख्या एक सौ आठ से अधिक हो जाती है । उदाहरणार्थ, व्यतिरेक, विभावना, अतिशयोक्ति आदि के तत्तद् रूपो की अलग-अलग गिनती करने पर अलङ्कारो की सख्या एक सौ आठ से बहुत अधिक हो जायगी । इसलिए, अलङ्कार की सख्या-विषयक इस गडबडी का पहला कारण ही सम्भावित जान पडता है ।

महाराज जसवन्त ने शब्दालङ्कारो की सख्या छह मानी है । उनका कथन है कि यो तो शब्द के अनेक अलङ्कार हो सकते है, पर मैने छह अनुप्रासो का ही विवेचन किया है ।[1] 'भाषाभूपण' मे चार अनुप्रास ही विवेचित है । स्पष्ट है कि अनुप्रास के दो प्रकारो के लक्षण लुप्त है । यदि शब्दालङ्कारो

१. शब्दालङ्कृति बहुत है, अच्छर के सजोग ।
अनुप्रास षटविधि कहे, जे है भाषा जोग ।।
—जशवन्त, भाषाभूषण, अलङ्कार प्रकरण, २१०

की सख्या छह हो तो अर्थालङ्कारो की सख्या एक सौ दो होनी चाहिए। एक सौ एक अलङ्कारो के लक्षण उपलब्ध है, अत एक अर्थालङ्कार की परिभाषा लुप्त जान पडती है।

डॉ० रामशङ्कर शुक्ल 'रसाल' ने 'भाषाभूषण' के प्राप्त शब्दालङ्कार-लक्षण मे यमकानुप्रास को स्वतन्त्र यमक अलङ्कार माना है। उनके अनुसार शेष (छेक, लाट, वृत्ति) अनुप्रास के तीन प्रकार है।[१] यदि यमकानुप्रास को अनुप्रास से स्वतन्त्र यमक मान लिया जाय तब 'भाषाभूषण' के रचयिता के अनुसार इससे भिन्न छह अनुप्रास का स्वरूप-निरूपण किये जाने का अनुमान किया जायगा, और यह मान लिया जायगा कि तीन अनुप्रास-भेदो के लक्षण-परक पद अप्राप्य है। किन्तु, हमारा अनुमान है कि जसवन्त सिह ने यमकानुप्रास सहित छह अनुप्रास-प्रकारो का विवेचन किया होगा। यदि वे यमक को अनुप्रास मे स्वतन्त्र मानते तो यमक को यमकानुप्रास नही कहते। यमक को अनुप्रास के अन्तर्गत मानना असङ्गत भी नही कहा जा सकता। सस्कृत-अलङ्कार-शास्त्र मे भी कई आचार्यों ने अनुप्रास और यमक के स्वरूप का एक ही व्यपदेश से विवेचन किया है। अत, डॉ० रसाल की मान्यता तर्क-पुष्ट नही जान पडती। दो शब्दालङ्कार तथा एक अर्थालङ्कार के लक्षण ही लुप्त जान पडते है। सेठ कन्हैयालाल पोद्दार के अनुसार 'इसमे (भाषाभूषण मे) चार शब्दालङ्कार और एक सौ अर्थालङ्कार निरूपण किये गये है।'[२] हम ऊपर 'भाषाभूषण के एक सौ एक अर्थालङ्कारो की गणना कर चुके है। सम्भव है कि पोद्दार जी ने गूढोत्तर और चित्र को एक अलङ्कार मान कर दोनो की गणना एक कर ली हो। अप्पय्य दीक्षित ने उत्तर तथा चित्र को एक ही अलङ्कार के दो भेद स्वीकार किये थे। पर, महाराज जसवन्त सिह ने दोनो की पृथक्-पृथक् सत्ता स्वीकार कर दोनो को अलग-अलग परिभाषित किया है। 'भाषाभूषण' मे अर्थालङ्कारो की सख्या एक सौ एक ही है, एक सौ नही।

अप्पय्य दीक्षित का 'कुवलयानन्द' महाराज जसवन्त के 'भाषाभूषण' का उपजीव्य है। एक साथ लक्षण और उदाहरण देने की 'कुवलयानन्द' की शैली तो 'भाषाभूषण' मे अपनायी गयी ही है, उपमा से लेकर हेतु तक सभी

१. द्रष्टव्य—रामशकर शुक्ल 'रसाल' अलङ्कार पीयूष, खण्ड १, पृ० १०१
२ द्रष्टव्य—कन्हैयालाल पोद्दार, काव्यकल्पद्रुम, खण्ड २, प्राक्कथन पृ० ४१

अर्थालङ्कारो का अनुक्रम भी 'कुवलयानन्द' के ही आधार पर आधृत है। यही नही, 'भाषाभूषण' की अलङ्कार-परिभाषाएँ भी बहुलाशत 'कुवलयानन्द' के अलङ्कार-लक्षणो का अविकल हिन्दीरूपान्तर-मात्र है। 'भाषाभूषण' और कुवलयानन्द के तुलनात्मक अध्ययन से ऐसा लगता है कि महाराज जसवन्त की इस स्वीकारोक्ति मे—'**किए प्रगट भाषा विषै, देखि संस्कृत पाठ।**' 'सस्कृत पाठ' से अभिप्राय 'कुवलयानन्द' का ही है। 'भाषाभूषण' मे प्रमुख अलङ्कारो के भेदोपभेदो का विवेचन भी 'कुवलयानन्द' के तत्तदलङ्कार-भेदो के विवेचन से अभिन्न है। कुछ अलङ्कारो के प्रमुख भेदों का विवरण 'कुवलयानन्द' के आधार पर देकर उनके उपभेदो को जसवन्त सिह ने छोड दिया है। सम्भव है कि ग्रन्थ-विस्तार-भय से ऐसा किया गया हो। उदाहरण के लिए उत्प्रेक्षा के तीन भेदो—वस्तूत्प्रेक्षा, हेतूत्प्रेक्षा तथा फलोत्प्रेक्षा—का विवेचन तो 'कुवलयानन्द' के विवेचन से अभिन्न है, पर 'कुवलयानन्द' मे विवेचित वस्तूत्प्रेक्षा के उक्तास्पद तथा अनुक्तास्पद; हेतूत्प्रेक्षा एव फलोत्प्रेक्षा के सिद्धविषय और असिद्धविषय उपभेदो का विवेचन 'भाषाभूषण' मे नही किया गया है।

'कुवलयानन्द' मे व्याजस्तुति के दो रूप—(१) निन्दामुखेन स्तुति तथा (२) स्तुतिमुखेन निन्दा—विवेचित है, किन्तु 'भाषाभूषण' की व्याजस्तुति-परिभाषा मे उसके केवल प्रथम रूप को (निन्दा के व्याज से की जाने वाली स्तुति को) परिभाषित किया गया है।[१] उसके दूसरे रूप की अस्वीकृति का कोई कारण नही।

अप्पय्य दीक्षित ने सामान्य से विशेष और विशेष से सामान्य के समर्थन मे अर्थान्तरन्यास अलङ्कार का सद्भाव माना था, पर महाराज जसवन्त सिह ने उस अलङ्कार की अपूर्ण परिभाषा की अवतारणा की है। बाबू गुलाब राय के द्वारा सम्पादित 'भाषाभूषण' मे उपलब्ध पाठ के अनुसार विशेष से सामान्य के दृढीकरण मे अर्थान्तरन्यास अलङ्कार माना गया है। यह परिभाषा

---

१ तुलनीय—उक्तिर्व्याजस्तुतिर्निन्दास्तुतिभ्या स्तुतिनिन्दयोः ।—कुवलयानन्द, ७०

तथा

व्याजस्तुति निन्दा मिसहि जबै बडाई होहि।

—भाषाभूषण, अलङ्कार-प्रकरण, १०४

अर्थान्तरन्यास-विषयक प्राचीन मान्यता को अशत ही प्रस्तुत करती है। उक्त परिभाषा के एक पाठ-भेद का भी निर्देश किया गया है। उस पाठान्तर के अनुसार सामान्य से विशेष के समर्थन मे अर्थान्तरन्यास माना गया है।[१] यह पाठान्तर अर्थान्तरन्यास के दूसरे रूप को प्रकाशित करता है। दो मे से किसी भी पाठ को शुद्ध मानने से कुवलयानन्दकार की अर्थान्तरन्यास-धारणा पूर्णतः परिभाषित नही हो पाती। स्पष्ट है कि 'भाषाभूषण' का अर्थान्तरन्यास-लक्षण अपूर्ण है।

अप्पय्य दीक्षित ने उत्तर अलङ्कार के दो भेद स्वीकार किये थे। उत्तर के एक लक्षण मे उन्होंने गूढोत्तर शब्द का प्रयोग किया था। उसी परिभाषा से गूढोत्तर शब्द लेकर भाषाभूषणकार ने उत्तर का अभिधान गूढोत्तर दिया है। अप्पय्य ने उत्तर का दूसरा प्रकार चित्रोत्तर माना था, जिसमे प्रश्न और उत्तर साथ मिले रहते है। महाराज जसवन्त सिह ने चित्रोत्तर की चित्र नाम से स्वतन्त्र सत्ता मान ली है।[२] इस तरह 'कुवलयानन्द' के एक अलङ्कार उत्तर से भापाभूषण के गूढोत्तर तथा चित्र अभिन्न है।

कुछ अर्थालङ्कारो के स्वरूप के सम्बन्ध मे अप्पय्य दीक्षित से सहमत होने पर भी जसवन्त सिह उनके लक्षण स्पष्ट रूप से प्रस्तुत नही कर पाये है। उनके लक्षण इसीलिए आपातत अप्पय्य के अलङ्कार-लक्षण से किञ्चित् भिन्न लगते है, पर उन लक्षणो एवं उनके उदाहरणो के परीक्षण से स्पष्ट हो जाता है कि उन अलङ्कारो के सम्बन्ध मे जसवन्त सिह की धारणा अप्पय्य दीक्षित की धारणा से तत्त्वत अभिन्न है। इस दृष्टि से निम्नलिखित अलङ्कारो के लक्षण विचारणीय है—

'कुवलयानन्द' मे निरूपित तुल्ययोगिता के तीनो भेद 'भाषाभूषण' मे परिभाषित है। 'हित और अहित मे वृत्ति की तुल्यता' की जगह 'भाषाभूषण'

---

१. तुलनीय—उक्तिरर्थान्तरन्यासः स्यात्सामान्यविशेषयो॰।

—कुवलयान्द, १२२

तथा

विशेष ते सामान्य दृढ, तब अर्थान्तरन्यास।
पाठान्तर—सामान्य ते विशेष दृढ, ,, ,, ,,।

—भाषाभूषण, अलङ्कार-प्रकरण १५४

२. तुलनीय—अप्पय्य, कुवलयानन्द, १५० तथा जसवन्त, भाषाभूषण, अलङ्कार प्रकरण, १८०

मे 'एक शब्द मे हित अहित' कहा गया है। यह कथन तो कुवलयानन्दकार के मत को किसी तरह स्पष्ट कर देता है, किन्तु तुल्ययोगिता के शेष दो रूपो के सम्बन्ध मे प्राचीन आचार्यो की मान्यता जितनी स्पष्ट थी, उतनी स्पष्ट परिभाषा जसवन्त सिह नही दे सके है। अप्पय्य की इस परिभाषा को कि 'तुल्ययोगिता मे अनेक प्रस्तुनो और अनेक अप्रस्तुतो मे परस्पर धर्म की एकता होती है', जसवन्त सिह ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है—'बहु में एकै वानि।' 'बहु' से बहुत वर्ण्यो का या बहुत अवर्ण्यो का धर्मगत ऐक्य का भाव स्पष्ट नही होता। इस उक्ति की अशक्ति इस बात मे है कि इसमे दीपक से तुल्य-योगिता का भेद कराने वाले तत्त्व का उल्लेख नही है। तुल्ययोगिता के तीसरे प्रकार के सम्बन्ध मे अप्पय्य की मान्यता थी कि इसमे उत्कृष्ट गुण वाले के साथ समीकरण कर वस्तु का वर्णन होता है। इसे ही जसवन्त सिह ने 'बहु सौ समता गुननि करि' कहा है।[1] गुण मे ही उनका अभिप्राय सम्भवत उत्कृष्ट गुण का रहा है।

प्रतिवस्तूपमा के लक्षण मे जसवन्त सिह ने कहा है कि जहाँ दोनो वाक्य समान हो, वहाँ प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार होता है।[2] प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत वाक्यो मे एक ही समान धर्म का पृथक्-पृथक् निर्देश होने मे कुवलयानन्दकार ने प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार माना था।[3] दो वाक्या के समान होने के कथन से प्रतिवस्तूपमा का स्वरूप उतना स्पष्ट नही हो पाता।

दृष्टान्त की परिभाषा तो 'भाषाभूषण' मे और भी अस्पष्ट है। इसके सम्बन्ध मे केवल इतना ही कह दिया गया है कि इसके नाम से ही इसका लक्षण समझा जा सकता है।[4] यह ठीक है कि काव्य के अलङ्कारो की सज्ञा अधिकतर अन्वर्थ ही है, पर इससे उन अलङ्कारो को परिभाषित करने के दायित्व से आचार्य मुक्त नही हो जाते।

निदर्शना के लक्षण मे सदृश वाक्यार्थ मे ऐक्यारोप की धारणा अप्पय्य ने व्यक्त की थी। इसके स्थान पर जसवन्त सिह ने निदर्शना मे वाक्य अर्थ

१ जसवन्त, भाषाभूषण, अलङ्कार प्रकरण, ८०

२. प्रतिवस्तूपमा समझिये दोऊ वाक्य समान।—वही, ८६

३. द्रष्टव्य—अप्पय्य, कुवलयानन्द, ५१

४. अलङ्कार दृष्टान्त सो लच्छन नाम प्रमान।

—जसवन्त, भाषाभूषण, अलङ्कार प्रकरण, ८७

का सम होना' अपेक्षित माना है।[१] यह कथन निदर्शना के स्वरूप को पूर्णतः स्पष्ट नही कर पाता। निदर्शना के अन्य दो भेदो के लक्षण 'कुवलयानन्द' में दिये गये लक्षण के समान ही है।

व्याघात का लक्षण भी 'भापाभूषण' मे कुछ अस्पष्ट रह गया है। इस अलङ्कार के दो रूपों की कल्पना 'कुवलयानन्द' मे की गयी थी। एक मे किसी वस्तु का जैसे कार्य का साधन होना लोक-प्रसिद्ध हो, उसके विरुद्ध कार्य का साधन बनाया जाना वाञ्छनीय माना गया है। इस बात को इस वाक्य से व्यक्त किया गया है—

व्याघात जो कछु और तै कीजै कारज और।[२]

स्पष्ट है कि 'कुवलयानन्द' की व्याघात-परिभाषा से यह परिभाषा कुछ अस्पष्ट है। व्याघात के दूसरे रूप की परिभाषा 'कुवलयानन्द' की परिभाषा के समान है।

उदात्त मे समृद्धि चरित, श्लाघ्य चरित तथा अन्योपलक्षण की धारणा 'कुवलयानन्द' मे व्यक्त की गयी थी। समृद्धि, श्लाघ्य आदि के चरित का स्पष्ट उल्लेख नहा कर भाषाभूषणकार ने उपलक्षण से आधिक्य-वर्णन मे उदात्त का सद्भाव माना है।[३]

अत्युक्ति के लक्षण मे 'भाषाभूषण' मे सातिशय-रूप का वर्णन अपेक्षित बताया गया है। इस प्रकार अतिशयोक्ति से इसका भेद स्पष्ट नही रह पाता। 'कुवलयानन्द' मे अद्भुत शौर्य, औदार्य आदि के वर्णन मे अत्युक्ति का सद्भाव माना गया था। उसे 'भाषाभूषण' मे कुछ अस्पष्ट रूप मे प्रस्तुत किया किया है।

लेश अलङ्कार को जसवन्त सिह ने लेख कहा है। परम्परा से स्वीकृत लेश नाम के स्थान पर लेख नाम का प्रयोग करने का कोई कारण नही दीखता। सम्भव है कि लेख अपपाठ हो। उसका स्वरूप अप्पय्य दीक्षित के लेश के स्वरूप से अभिन्न है।[४]

---

१. तुलनीय—जसवन्त, भाषाभूषण, अलङ्कार प्रकरण, ८८-८९ तथा अप्पय्य, कुवलयानन्द, ५३-५६

२. जसवन्त, भाषाभूषण, अलङ्कार प्रकरण, १३५

३. वही, १९२

४. तुलनीय—भाषाभूषण, अलङ्कार प्रकरण, १६७ तथा कुवलयानन्द, १३८

समासोक्ति का लक्षण-निरूपण जसवन्त सिह ने 'कुवलयानन्द' के आधार पर नही कर दण्डी के 'काव्यादर्श' के आधार पर किया है। दण्डी की समासोक्ति-परिभाषा की व्याख्या मे नृसिह देव ने अप्रस्तुत-वर्णन से प्रस्तुत अर्थ की अभिव्यक्ति को समासोक्ति मे दण्डी का अभिमत सिद्ध किया है। जसवन्त सिह भी अप्रस्तुत-वर्णन मे प्रस्तुत की स्फूर्ति को समासोक्ति का लक्षण मानते है,[१] अप्पय्य की तरह प्रस्तुत-वर्णन मे अप्रस्तुत की स्फूर्ति को नही।

अप्रस्तुतप्रशसा के केवल दो भेद 'भाषाभूषण' मे स्वीकृत है, अप्पय्य के पाँच नही। अप्रस्तुत-वर्णन से प्रस्तुत की व्यञ्जना को समासोक्ति मान लेने पर अप्रस्तुतप्रशसा के सम्बन्ध मे अप्पय्य से सहमत होना जसवन्त सिह के लिए सम्भव नही था। कारण, अप्रस्तुत से प्रस्तुत की अवगति को अप्पय्य अप्रस्तुतप्रशसा मानते है और जसवन्त समासोक्ति। अत., जसवन्त सिह ने अप्रस्तुतप्रशसा के स्वरूप की कल्पना अप्पय्य दीक्षित की तद्विषयक धारणा से किञ्चित् स्वतन्त्र रूप से की है। उनके अनुसार जहाँ प्रस्तुत को छोड केवल अप्रस्तुत का वर्णन होता हो, अथवा प्रस्तुत का भी अशत. वर्णन करने के साथ अप्रस्तुत का वर्णन किया जाता हो, इन दोनो ही स्थितियो मे अप्रस्तुत-प्रशसा अलङ्कार माना जाता है।[२] यह मान्यता वामन की समासोक्ति-विषयक मान्यता से प्रभावित है। वामन ने प्रस्तुत के अनुक्त होने मे समासोक्ति अलङ्कार माना था। दण्डी, वामन आदि की समासोक्ति पीछे चल कर अप्रस्तुतप्रशंसा के रूप मे स्वीकृत हुई और समासोक्ति में उसके विपरीत स्वभाव (प्रस्तुत से अप्रस्तुत की व्यञ्जना) की कल्पना की गयी। महाराज जसवन्त सिह ने दण्डी के समासोक्ति-लक्षण को समासोक्ति के लिए स्वीकार किया और उसीसे मिलते-जुलते वामन के समासोक्ति-लक्षण का उपयोग अप्रस्तुतप्रशसा की परिभाषा मे करना चाहा। फल यह हुआ कि उनकी अप्रस्तुतप्रशसा का स्वरूप उन्ही की समासोक्ति के स्वरूप से स्पष्टत. स्वतन्त्र नही हो पाया। यदि वे प्रस्तुत के बिना अप्रस्तुत का वर्णन अप्रस्तुतप्रशसा

---

१. समासोक्ति प्रस्तुत फुरैऽप्रस्तुत वर्णन माँझ।
—जसवन्त, भाषाभूषण, अलङ्कार प्रकरण, ९५

२ अलङ्कार द्वै भाँति कौ अप्रस्तुत प्रशस।
इक वर्णन प्रस्तुत बिना दूजै प्रस्तुत अस ॥
—वही, ९६

मानते है तो निश्चित रूप से उस अप्रस्तुत से प्रस्तुत की व्यञ्जना माननी पडेगी, फिर तो यह उनकी समासोक्ति से अभिन्न हो जायगा। समासोक्ति और अप्रस्तुतप्रशसा की पृथक्-पृथक् सत्ता मानने पर भी समासोक्ति के सम्बन्ध मे दण्डी आदि की धारणा को स्वीकार करने के कारण ही ऐसी गडबडी हुई है।

उपरिविवेचित अलङ्कारो को छोड, शेष अलङ्कारों के भेदसहित लक्षण महाराज जसवन्त सिंह ने 'कुवलयानन्द' के आधार पर ही दिये हैं।

इस विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि महाराज जसवन्त सिंह ने 'भाषाभूपण' मे किसी नवीन अलङ्कार की उद्भावना नही की। उनका उद्देश्य सस्कृत-अलङ्कार-शास्त्र के बहुमान्य अलङ्कार-लक्षणों की भाषा में अवतारणा करना था। ऐसा करने मे कुछ अलङ्कारों का स्वरूप कुछ अस्पष्ट अवश्य रह गया है, पर अधिकाशत· उनका आयास सफल रहा है। उन्होने मुख्यत 'कुवलयानन्द' के आधार पर अलङ्कारो का लक्षण-निरूपण किया है; पर यह मानने का सबल आधार है कि वे दण्डी, वामन आदि की अलङ्कार-धारणा से भी पूर्णत अवगत थे।



मतिराम

मतिराम ने 'ललितललाम' में 'कुवलयानन्द' के आधार पर एक सौ अर्थालङ्कारों का स्वरूप-विवेचन किया है। महाराज जसवन्त सिंह की अलङ्कार-धारणा के परीक्षण-क्रम मे हम देख चुके हैं कि उन्होने भी 'कुवलयानन्द' को अपना उपजीव्य बना कर अलङ्कारो के स्वरूप का निरूपण किया था; पर उनका आयास पूर्णत· सफल नही हुआ था। उनके अलङ्कारो का स्वरूप कही-कही अस्पष्ट रह गया था और कही-कहीं कुछ भ्रमात्मक स्थापनाएँ भी हो गयी थी। मतिराम ने महाराज जसवन्त को अपने अलङ्कार-विवेचन का आदर्श नही मान कर सीधे अप्पय्य के 'कुवलयानन्द' को ही 'आकर' माना। यद्यपि मतिराम ने जसवन्त सिंह की तरह एक ही छन्द मे लक्षण-उदाहरण वाली 'कुवलयानन्द' की शैली को नही अपनाया है और फलतः उनका 'ललितललाम' बाह्य-रूप-विधान की दृष्टि से 'कुवलयानन्द' के उतना निकट नहीं है, जितना निकट जसवन्त का 'भाषाभूषण' है; पर यह स्पष्ट है कि 'कुवलयानन्द' की आत्मा को 'ललितललाम' में अधिक सफलता से अवतरित किया गया है।

'कुवलयानन्द' मे उपमा से लेकर हेतु तक जिन एक सौ अलङ्कारों के स्वरूप का विवेचन किया गया है, उनमें से प्राय सभी को उसी क्रम से 'ललितललाम' मे प्रस्तुत किया गया है। एक छोटा-सा भेद यह है कि 'कुवलयानन्द' के उन एक सौ अलङ्कारो मे से एक काव्यलिङ्ग को मतिराम ने स्वीकार नही किया है। ऐसा होने पर भी 'ललितललाम' मे अलङ्कारो की सख्या कम नही हुई। कारण यह हुआ कि एक अलङ्कार को छोड देने पर 'कुवलयानन्द' के ही एक अलङ्कार 'उत्तर' के दो रूपो का गूढोत्तर और चित्र नाम से पृथक्-पृथक् अस्तित्व स्वीकार कर लिया गया। मतिराम के पूर्व महाराज जसवन्त सिह ने भी अप्पय्य के उत्तर के दो रूपो की पृथक्-पृथक् गणना कर ली थी। जसवन्त सिह की यह मान्यता सख्यागत एकरूपता की दृष्टि से मतिराम को भी अनुकूल जान पडी होगी। अप्पय्य दीक्षित ने हेतु-निरूपण के उपरान्त अपने अलङ्कारो की सख्या एक सौ बतायी थी। मतिराम भी सम्भवत हेतु तक एक सौ अलङ्कारो का अस्तित्व माननना चाहते थे। इसीलिए एक को छोड देने पर दूसरे के दो रूपो को स्वतन्त्र अलङ्कार मान कर उन्होने 'कुवलयानन्द' से सख्या-साम्य का निर्वाह कर लिया।

अलङ्कार-धारणा मे कुवलयानन्दकार के अनुयायी होने पर भी मतिराम ने रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वी आदि रस-भावाश्रित अलङ्कारो तथा प्रमाणालङ्कारों का विवेचन नही किया है। उन्होने ससृष्टि और सङ्कर का भी लक्षण-निरूपण नही किया है। ससृष्टि, सङ्कर आदि स्वतन्त्र अलङ्कार तो है भी नही, वे तो एकाधिक अलङ्कारो के सहभाव की विभिन्न स्थितियाँ-मात्र है। प्रमाणालङ्कारों का अलङ्कारत्व असन्दिग्ध नही। रस, भाव आदि के निबन्धन-रूप रसवदादि को भी केवल अलङ्कार मानना मतिराम को उचित नही जान पड़ा होगा। यह भी ध्यातव्य है कि रसवदादि तथा प्रमाणालङ्कारो के स्वरूप-निरूपण के पूर्व ही अप्पय्य दीक्षित ने 'कुवलयानन्द' मे विवेचित हेतु तक के अलङ्कारो की गणना कर ली थी और उनकी सख्या एक सौ बतायी थी। इससे लगता है कि स्वय अप्पय्य दीक्षित पूर्व-विवेचित अलङ्कारो से रसवदादि अलङ्कारों को कुछ भिन्न महत्त्व देना चाहते थे। यदि उनकी दृष्टि मे सभी समान महत्त्व के भागी होते तो सबको मिलाकर एक ही साथ गिना गया होता। एक सौ स्वीकार्य अलङ्कारों के स्वरूप का विवेचन कर लेने के उपरान्त अप्पय्य ने सम्भवत· यह सुझाव-मात्र देना चाहा था कि रसवदादि-जैसी उक्तियों में भी अलङ्कारत्व माना जाना चाहिए, जिस सुझाव को मतिराम ने स्वीकार नही

किया । रसवदादि को दण्डी आदि प्राचीन आचार्यो ने भी अलङ्कार माना था; पर हम देख चुके है कि सस्कृत-अलङ्कार-शास्त्र मे भी उनके अलङ्कारत्व के सम्बन्ध मे आचार्यो मे मतैक्य नही रहा है।

मतिराम ने 'ललितललाम' मे स्वीकृत सभी अलङ्कारो को अप्पय्य दीक्षित के 'कुवलयानन्द' की अलङ्कार-परिभाषाओ के आधार पर ही परिभाषित किया है। 'कुवलयानन्द' मे जिन-जिन अलङ्कारो के जो-जो भेद कल्पित है, उन-उन अलङ्कारो के प्राय वे सभी भेद 'ललितललाम' मे निरूपित है। मतिराम ने अप्पय्य के कुछ अलङ्कारो की सज्ञाओ की जगह उनके पर्यायवाची अभिधान का प्रयोग किया है, पर उनके स्वरूप अप्पय्य के तत्तदलङ्कारो के स्वरूप से अभिन्न है। उदाहरणार्थ, मतिराम का परस्पर पूर्वाचार्य के अन्योन्य से तथा हेतुमाला कारणमाला से अभिन्न है। ये नाम प्राचीन अलङ्कारो के नाम के पर्याय-मात्र है।

अप्पय्य के 'उत्तर' के दो रूपो के आधार पर गूढोत्तर और चित्र—इन दो अलङ्कारो की स्वतन्त्र सत्ता तो मतिराम के पूर्व ही स्वीकृत हो चुकी थी, मतिराम ने चित्र के भी दो भेदो की परिभाषाएँ दी है। उनके अनुसार चित्र का एक रूप वह है, जिसमे प्रश्न एव उत्तर साथ रहे तथा दूसरा रूप वह है, जिसमे अनेक प्रश्नो का उत्तर एक हो।[1] चित्र के इन दो रूपो की कल्पना भी 'कुवलयानन्द' से ही ली गयी है। यद्यपि अप्पय्य दीक्षित ने उत्तर के दूसरे रूप, अर्थात् चित्रोत्तर के लक्षण मे उसके दो स्वरूपो को स्पष्ट रूप से पृथक्-पृथक् परिभाषित नही किया है, पर उन्होने उसके उदाहरण मे परिभाषा को घटित करते हुए लिखा है कि यहाँ एक अश मे प्रश्न और उत्तर साथ है तथा दूसरे अश मे अनेक प्रश्नो का उत्तर एक है। अत. इन दोनो ही स्थितियो मे चित्र-उत्तर है।[2] स्पष्ट है कि उत्तर के भेद चित्रोतर के दो उदाहरणो को ध्यान मे रख कर ही मतिराम ने चित्र के दो रूपो को परिभाषित किया है।

---

१. जहँ बूझत कछु बात कौ उत्तर सोई बात।
चित्र कहत मतिराम × × × ॥
बहुती बाननि को जहाँ उत्तर दीजे एक।
चित्र बखानन है तहाँ कविजन बुद्धि-विवेक॥
—मतिराम, ललितललाम, ३५०, ३५२

२. अत्र 'केदारपोषणरता' इति प्रश्नाभिन्नमुत्तर 'के खेटा:, कि चलम्?' इति प्रश्नद्वयस्य 'वय:' इत्येकमुत्तरम्।
—अप्पय्य, कुवलयानन्द, वृत्ति पृ० १६७

अतिशयोक्ति, सामान्यविशेष, तुल्ययोगिता, दीपक, आवृत्तिदीपक, प्रतिवस्तूपमज्ञान, दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति, समासोक्ति, परिकर, परिकराङ्कुर, श्लेष, अप्रस्तुतप्रशसा, पर्यायोक्ति, व्याजस्तुति, आक्षेप, विरोध, विभावना, विशेषोक्ति, असम्भव, असङ्गति, विषम, सम, विचित्र, प्रहर्षण, विषादन, अधिक, विशेष, विपरीत, अन्योन्य, व्याघात, गुम्फ, एकावली, मालादीपक, सार, यथासख्य, पर्याय, परिवृत्त, परिसख्या, विकल्प, समाधि, प्रत्यनीक, अर्थापत्ति, काव्यलिङ्ग, अर्थान्तरन्यास, प्रौढोक्ति, सम्भावना, मिथ्याध्यवसिति, ललित, उल्लास, अवज्ञा, अनुज्ञा, लेश, तद्गुण, पूर्वरूप, पूर्वावस्था, अतद्गुण, अनुगुण, मीलित, उन्मीलित, सामान्य, विशेषक, गूढोत्तर, चित्रोत्तर, सूक्ष्म, पिहित, व्याजोक्ति, युक्ति, लोकोक्ति, छेकोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक, भाविकछवि, उदात्त, अत्युक्ति, निरुक्ति, प्रतिषेध, विधि, अनुमान और सङ्कर।

गुम्फ कारणमाला का पर्याय है। कारणमाला के लक्षण मे अप्पय्य दीक्षित ने गुम्फ शब्द का प्रयोग किया था।[1] वही से गुम्फ सज्ञा गृहीत है।

विपरीत का अभिधान तो केशव से लिया गया है; पर उसका स्वरूप नवीन रूप मे कल्पित है। केशव ने कार्य के साधन के ही बाधक बन जाने मे विपरीत अलङ्कार माना था, पर भूषण की मान्यता है कि जहाँ आधार को आधेय तथा आधेय को आधार बना दिया जाय, वहाँ विपरीत अलङ्कार होगा।[2] भारतीय काव्य-शास्त्र मे प्राचीन काल से ही आधाराधेय-भाव-सम्बन्ध पर आधृत कई अलङ्कार प्रचलित रहे है। विशेष, अधिक, अल्प आदि ऐसे ही अलङ्कार हैं। प्रतीप मे उपमान और उपमेय मे एक के दूसरे रूप मे प्रकल्पन की धारणा है। उससे आधाराधेय मे पारस्परिक परिवर्त्तन की धारणा मिला कर विपरीत का स्वरूप निर्मित है। विपरीत नाम्ना प्राचीन होने पर भी स्वरूपतया नवीन है। इसके स्वरूप-निर्माण के लिए उपरिलिखित दो अलङ्कारो से तत्त्व लिया गया है।

भूषण ने पूर्वरूप से पृथक् पूर्वावस्था के अस्तित्व की कल्पना की है। दोनो के स्वरूप मे इतना साम्य है कि पूर्वरूप से स्वतन्त्र पूर्वावस्था की कल्पना

---

१. गुम्फ. कारणमाला स्यात्·········।—अप्पय्य, कुवलयानन्द, १०४

२. जहि अधार आधेय करि अरु आधेय आधार।
तहि कहत विपरीत है·········॥—भूषण, शिवराज भूषण, २०५

समीचीन नही जान पडती। दोनो मे किसी वस्तु के रूप मे किसी कारण से विकार होने पर पुन: पूर्वरूप की प्राप्ति का वर्णन रहता है।

सामान्यविशेष भूषण का नाम्ना नवीन अलङ्कार है। इसकी परिभाषा मे कहा गया है कि जहाँ सामान्य का कथन अभीष्ट हो वहाँ यदि विशेष का कथन हो तो सामान्यविशेष अलङ्कार होता है।[१] स्पष्टत, यह अप्रस्तुत-प्रशसा का एक भेद है। सामान्य की विवक्षा मे विशेष का, विशेष की विवक्षा मे सामान्य का तथा ऐसे अन्य का कथन होने मे अप्रस्तुतप्रशसा का सद्भाव प्राचीन आलङ्कारिको ने माना था।[२]

भाविकछवि को आचार्य पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने भूपण की उद्भावना माना था।[३] डॉ० भगीरथ मिश्र ने भी शुक्ल जी की मान्यता का ही अनुसरण किया है।[४] हम देख चुके है कि भाविकच्छवि अलङ्कार का विवेचन जयदेव ने 'चन्द्रालोक' मे किया था।[५] भूषण की भाविकछवि उससे अभिन्न है।[६] 'चन्द्रालोक' के सभी सस्करणो मे भाविकच्छवि का उल्लेख नही पाया जाता। सम्भव है कि शुक्ल जी के सामने 'चन्द्रालोक' की जो प्रति थी, उसमे भाविकच्छवि की परिभाषा नही रही हो। गुजराती प्रिटिग प्रेस से प्रकाशित 'चन्द्रालोक' मे भाविकच्छवि का उल्लेख इतना तो अवश्य प्रमाणित करता है कि सस्कृत-अलङ्कार-शास्त्र मे भी भाविकच्छवि का स्वरूप-निरूपण हो चुका था और भूषण ने वही से यह धारणा ली है। भाविकच्छवि की उद्भावना सर्वप्रथम या तो जयदेव ने की होगी या उनके समकालीन किसी अज्ञात आचार्य ने। भूषण को भाविकछवि की प्रथम कल्पना का श्रेय नही दिया जा सकता।

---

१ कहिबे जहि सामान्य है कहै तहाँ जु बिसेष।
सो सामान्य-बिसेष है·········॥—भूषण, शिवराजभूषण, १०९

२. तत्र सामान्यविशेषभावे सामान्याद् विशेषस्य विशेषाद्वा सामान्यस्या-वगतौ द्वैविध्यम्।—अप्पय्य, कुवलयानन्द, वृत्ति, पृ० ८२

३. रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २३५

४. भगीरथ मिश्र, हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० ८६

५. देशात्मविप्रकृष्टस्य दर्शनं भाविकच्छविः।—जयदेव चन्द्रालोक, ५,११४

६. जहँ दूरस्थित बस्तु को देखत वरनत कोइ।
भूषन भूषनराज यौ भाविकछवि है सोइ॥
—भूषण, शिवराजभूषण, ३११

'शिवराजभूषण' के अन्य सभी अलङ्कारों के नाम-रूप प्राचीन ही है। कुछ अलङ्कारो के स्वरूप को भूषण ने किञ्चित् अस्पष्ट भी कर दिया है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि अलङ्कार के क्षेत्र मे भूषण ने कोई महत्त्वपूर्ण उद्भावना नही की है। आधाराधेय के पारस्परिक विपर्यय मे जो विपरीत की सत्ता कल्पित है, उसका बीज प्रतीप तथा आधाराधेय-भाव पर आधृत अलङ्कारों की धारणा मे है।



देव

आचार्य देव ने 'शब्दरसायन' या 'काव्यरसायन' तथा 'भावविलास'; इन दो कृतियो मे काव्यालङ्कार के स्वरूप का निरूपण किया है। उक्त ग्रन्थो मे 'शब्दरसायन' ही देव की प्रौढ रचना है। अत, देव की अलङ्कार-धारणा के मूल्याङ्कन के लिए वही परीक्ष्य है। 'भावविलास' मे केवल उनचालीस अलङ्कारों का विवेचन किया गया है, पर 'शब्दरसायन' मे मुख्य और गौण अलङ्कारो को मिला कर सत्तर अलङ्कार निरूपित है। इस ग्रन्थ मे चालीस मुख्य तथा तीस गौण अलङ्कार माने गये है।[१] इन अर्थालङ्कारो के अतिरिक्त 'शब्दरसायन' मे शब्दालङ्कारो का भी विवेचन किया गया है।

'भावविलास' मे देव ने जिन उनचालीस अलङ्कारों का विवेचन किया था, उनमे से बत्तीस अलङ्कार 'शब्दरसायन' मे भी गृहीत है। उन बत्तीस को इस पुस्तक मे मुख्य अलङ्कार माना गया है; किन्तु सात को क्यों छोड दिया गया, इसका कोई कारण नही जान पडता।

'भावविलास' मे विवेचित अलङ्कार है—स्वभावोक्ति, उपमा, उपमेयोपमा, सशय, अनन्वय, रूपक, अतिशयोक्ति, समासोक्ति, वक्रोक्ति, पर्यायोक्ति, सहोक्ति, विशेषोक्ति, व्यतिरेक, विभावना, उत्प्रेक्षा, आक्षेप, उदात्त, दीपक, अपह्नुति, श्लेष, अर्थान्तरन्यास, अप्रस्तुतप्रशसा, व्याजस्तुति, आवृत्तिदीपक, निदर्शना, विरोध, परिवृत्ति, हेतु, रसवत्, ऊर्जस्वी या ऊर्जस्वल, सूक्ष्म, प्रेय, क्रम, समाहित, तुल्ययोगिता, लेश, भाविक, सङ्कीर्ण और आशिष।

---

१. मुख्य कहो चालीस विधि, गौन सुतीस प्रकार।

—देव, शब्दरसायन, ९ पृ० १४८

'भावविलास' के उक्त उनचालीस अलङ्कारो को ही आचार्य देव ने मुख्य अलङ्कार कहा है और समग्र अलङ्कार-प्रपञ्च को उन्ही के भेद स्वीकार किया है।[१] 'भावविलास' के अलङ्कार-विवेचन मे आचार्य दण्डी के 'काव्यादर्श' को आदर्श माना गया है। सशय को देव ने यद्यपि स्वतन्त्र अलङ्कार स्वीकार किया; पर इसकी परिभाषा मे उपमान और उपमेय के बीच सन्देह पर बल देकर इसे दण्डी के सशयोपमा से अभिन्न बना दिया है। भारतीय अलङ्कार-शास्त्र मे इस अलङ्कार ने सन्देह, ससन्देह, सशयोपमा, सशय आदि अभिधान ग्रहण किये हैं।

'शब्दरसायन' मे विवेचित अलङ्कार निम्नलिखित है :—

शब्दालङ्कार—अनुप्रास और यमक (चित्र अन्तर्लापिका, प्रहेलिका आदि इसी मे)।

[मुख्य] अर्थालङ्कार—स्वभावोक्ति, उपमा, रूपक, दीपक, आवृत्ति, परिवृत्ति, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विशेषोक्ति, समासोक्ति, विभावना, पर्यायोक्ति, वक्रोक्ति, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, उल्लेख, हेतु, सहोक्ति, सहोक्तिमाला, सूक्ष्म, लेश, क्रम, प्रेय, रसवत्, उदात्त, ऊर्जस्वी, अपह्नुति, समाधि, निदर्शना, दृष्टान्त, निन्दास्तुति, स्तुतिनिन्दा, सशय, विरोध, विरोधाभास, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुतस्तुति, असम्भव, असङ्गति, परिकर तथा तद्गुण।

[गौण] अर्थालङ्कार—अतद्गुण, अनुगुण, अनुज्ञा, अवज्ञा, गुणवत, प्रत्यनीक, लेख, सार, मिलित, कारणमाला, एकावली, मुद्रा, मालादीपक, समुच्चय, सम्भावना, प्रहर्षण, गूढोक्ति, व्याजोक्ति, विवृतोक्ति, युक्ति, स्वभावोक्ति, विकल्प, सङ्कीर्ण, भाविक, आशिष, स्मृति, भ्रान्ति, सन्देह, निश्चय, सम, विषम, अल्प, अधिक, अन्योन्य, सामान्य, विशेष, उन्मीलित, पिहित, अर्थापत्ति, विधि, निषेध, अन्योक्ति, अत्युक्ति एव प्रत्युक्ति।

उपरिलिखित अर्थालङ्कारो से गौण अर्थालङ्कारो की सख्या के विषय मे देव के कथन की सङ्गति नही बैठती। इस अव्यवस्था को देखते हुए कुछ विद्वानो ने देव के दोहे मे पाठ-दोष मान कर उसके सशोधन का सुझाव दिया

---

१. अलङ्कार मुख्य उनतालीस हैं देव कहें ये ही पुराननि मुनि मतनि मे पाइये।
आधुनिक कवित के संगत अनेक और इनही के भेद और विविध बताइये।
—देव, भावविलास, ५, १

है।[१] किन्तु, उससे भी समस्या का समाधान नही हो पाता। देव का गौण अर्थालङ्कार-विवेचन अनवधान-पूर्ण जान पडता है।

स्वभावोक्ति को मुख्य अलङ्कारो मे प्रथम स्थान दिया गया है और उसे गौण अलङ्कार-वर्ग मे भी परिगणित कर लिया गया है। सशय को मुख्य तथा सन्देह को गौण अलङ्कार मानने मे भी कोई युक्ति नही। अस्तु, प्रस्तुत सन्दर्भ मे हमारा उद्देश्य देव के द्वारा कल्पित नवीन अलङ्कारो के स्रोत का परीक्षण है।

देव ने मुख्य अर्थालङ्कार-वर्ग मे अप्रस्तुतस्तुति नाम के अलङ्कार का उल्लेख किया है। यह अप्रस्तुतप्रशसा का अपर पर्याय है। सस्कृत-अलङ्कार-शास्त्र मे भी प्रस्तुत अलङ्कार के दो रूप मिलते है। एक मे प्रशसा का अर्थ केवल वर्णन माना गया है तथा दूसरे मे प्रशसा का अर्थ 'गुणगान' लिया गया है। इस प्रकार कुछ आचार्यो के मत से इसमे अप्रस्तुत के वर्णन से प्रस्तुत का बोध कराया जाता है और अन्य आचार्यो के मतानुसार इसमे अप्रस्तुत के गुणोत्कर्ष का वर्णन किया जाता है। देव ने दूसरे रूप को ग्रहण कर प्राचीनो की अप्रस्तुतप्रशंसा का नया नामकरण अप्रस्तुतस्तुति कर दिया।

निन्दास्तुति और स्तुतिनिन्दा का अलग-अलग विवेचन किया गया है।[२] ये व्याजस्तुति के दो रूपो (निन्दामुखेन स्तुति तथा स्तुतिमुखेन निन्दा) के दो नाम है। उनकी पृथक्-पृथक् सत्ता की कल्पना आवश्यक नही।

देव के मुख्य अर्थालङ्कारो का स्वरूप-निरूपण अधिकतर दण्डी के आधार पर तथा गौण अर्थालङ्कारो का निरूपण 'चन्द्रालोक' तथा उसपर आधृत 'कुवलयानन्द' के आधार पर हुआ है।

देव के 'शब्दरसायन' मे नवकल्पित अलङ्कार है—गुणवत्, सङ्कीर्ण प्रत्युक्ति और सहोक्तिमाला। डॉ० ओम्प्रकाश शर्मा ने लेख को भी देव का नवीन अलङ्कार मान लिया है।[3] वस्तुत लेख का नाम और रूप देव ने पूर्ववर्ती आचार्यों से ही लिया है। हम यह देख चुके है कि महाराज

---

१. डॉ० ओम्प्रकाश शर्मा ने अपने शोध-प्रबन्ध मे देव के गौण अलङ्कारो का सख्या उनचालीस मान कर यह सुझाव दिया है कि देव के दोहे मे 'सुतीस' की जगह 'नौतीस' पाठ माना जाना चाहिए। किन्तु, शब्द-रसायन मे वस्तुतः अलङ्कारो की संख्या उनचालीस से भी अधिक है।

२. देव, शब्दरसायन, पृ० १७३

३. ओम्प्रकाश शर्मा, रीतिकालीन अलङ्कार-साहित्य, पृ० ९७

जसवन्त सिंह ने अप्पय्य के लेश अलङ्कार का नाम लेख कर दिया था। देव ने भी लेख नाम वहीं से लिया है। देव का लेख-लक्षण भी जसवन्त के लेख-लक्षण के समान ही है।[१] अतः, लेख को देव की नूतन उद्भावना नहीं माना जा सकता।

गुणवत् अलङ्कार की परिभाषा मे कहा गया है कि जहाँ गुणवान की सङ्गति से गुणहीन भी गुणवान बन जाय, वहाँ गुणवत् अलङ्कार होता है। इसके विपरीत जहाँ गुणहीन के संसर्ग से गुणवान भी गुणहीन बन जाय, वहाँ प्रत्यनीक अलङ्कार देव ने माना है।[२] गुणवत् नाम तो मतिराम के गुणवन्त के आधार पर कल्पित है, पर देव के गुणवत् का स्वरूप मतिराम के गुणवन्त से थोडा भिन्न है। देव के गुणवत् और प्रत्यनीक का स्वरूप प्राचीन आचार्यो के तद्गुण के स्वरूप से इतना मिलता-जुलता है कि तद्गुण से स्वतन्त्र उनके अस्तित्व की कल्पना अनावश्यक ही नही, अनुचित भी जान पडती है। तद्गुण मे कोई वस्तु अपने गुण का त्याग कर उस वस्तु का गुण ग्रहण कर लेती है, जिसके सम्पर्क मे वह आती है। गुणवत् मे भी तो यही होता है। गुणहीन व्यक्ति अपने हीन गुण का त्याग कर संसर्ग मे आने वाले गुणी व्यक्ति का उत्कृष्ट गुण ग्रहण कर लेता है। देव ने तद्गुण का अस्तित्व स्वीकार किया है। अत, उनके द्वारा गुणवत् की कल्पना नवीनता-प्रदर्शन मात्र के लिए की गयी जान पडती है। प्रत्यनीक मे भी दूसरे के अवगुण से अन्य के प्रभावित होने का ही भाव है।

सङ्कीर्ण का स्वरूप बहुत अस्पष्ट रह गया है। देव ने इसकी परिभाषा मे कहा है कि इसमे बहुलक्ष्य की प्राप्ति का प्रयास वर्णित रहता है।[3] यदि इस कथन का यह अर्थ माना जाय कि इस अलङ्कार मे अनेक लक्ष्यों की प्राप्ति का यत्न वर्णित होता है—जैसा कि सङ्कीर्ण के उदाहरण की परीक्षा से भी देव

---

१ तुलनीय—गुन मे दोष रु दोष मे, गुन कल्पन सो लेख।

—जसवन्त, भाषाभूषण, अल० प्र० १६७

तथा

गुन दोषन के दोष गुन, लेख सु कहौ बखानि।

—देव, शब्दरसायन, पृ० १७८

२. गुनवत संग गुनीन के, निगुनी गुननि प्रवीन,
प्रत्यनीक उलटो गुनहि, निगुन करै गुनहीन।

—देव, शब्दरसायन, पृ० १७८

३. ····संकीरण बहुलक्ष।—वही, पृ० १८०

का अभिमत जान पडता है—तो यह अलङ्कार शोभाकर मित्र के तन्त्र अलङ्कार से, जिसमे नाना फल की प्राप्ति के लिए प्रयत्न पर बल दिया गया है,[४] नाम्ना ही भिन्न सिद्ध होता है। सङ्कीर्ण नाम का प्रयोग सस्कृत के आचार्यो ने अलङ्कारो के सङ्कर या उनकी संसृष्टि के लिए किया था, पर देव ने उस नाम को लेकर तन्त्र से उसे मिला दिया। शोभाकर की अलङ्कार-धारणा के साथ देव की अलङ्कार-विषयक मान्यता के इस साम्य को देखते हुए यह अनुमान ठीक नही जँचता कि देव ने शोभाकर का 'अलङ्काररत्नाकर' नही देखा होगा।

प्रत्युक्ति मे उक्ति-प्रत्युक्ति की धारणा व्यक्त की गयी है। यह धारणा प्राचीन आचार्यो के उत्तर या उसीके भेद प्रश्नोत्तर से भिन्न नही। यह पुरातन अलङ्कार का नूतन अभिधान-मात्र है।

देव ने कुछ अलङ्कारो के नवीन भेदोपभेदो की भी कल्पना की है। यमक का सिहावलोकन-भेद (अपरिभाषित), उपमा के स्वभाव, योग, सङ्कीर्णभाव, उचित, प्रतिकार, उल्लेख, आक्षेप, गर्व आदि भेद स्वीकार किये गये है।

सिहावलोकन को आचार्य भिखारी दास ने परिभाषित किया है। अत, उसकी कल्पना के स्रोत पर हम भिखारी की अलङ्कार-धारणा के सन्दर्भ मे ही विचार करेगे। स्वभावोपमा, आक्षेपोपमा, उल्लेखोपमा आदि की कल्पना तत्तदलङ्कारो के साथ उपमा की धारणा को मिला कर की गयी है। उचितोपमा आदि उपमा-भेद की कल्पना का बीज आचार्य भरत की सदृशी उपमा की धारणा मे देखा जा सकता है। सङ्कीर्णभावोपमा की धारणा विचित्र-सी जान पडती है। इसके उदाहरण मे 'खीझति-सी, रीझति-सी, रूसति, रिसानी-सी' आदि को प्रस्तुत किया गया है। एक तो रीझना, खीझना आदि क्रिया मे सादृश्यवाचक 'सी' आदि लगाने से उसकी सम्भावना ही प्रकट होती है, उपमा नही; दूसरे, भावो के उपमान बनाये जाने मे स्वतन्त्र उपमा-भेद की कल्पना आवश्यक भी नही। उपमा अलङ्कार का सञ्चारी आदि मानसिक भावो के साथ देव ने जो सम्बन्ध जोडा है, उसपर आक्षेप करते हुए डॉ० नगेन्द्र ने ठीक ही लिखा है कि—"प्रीति, मद, ईर्ष्या आदि सचारियो तथा वैर आदि स्वभाव-वृत्तियो से उपमा का ग्रन्थिबन्धन निरर्थक है

४ द्रष्टव्य—शोभाकर, अल० रत्ना० ८६ तथा उसकी वृत्ति पृ० १४६

और उसको एक विफल वैचित्र्य-प्रदर्शन के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है ?[१]

स्पष्ट है कि उपमा आदि के नवीन भेदो की कल्पना मे नव-चिन्तन की कोई मूल्यवान उपलब्धि नही, चमत्कार-प्रदर्शन का लोभमात्र है।

देव के द्वारा उद्भावित अलङ्कारो मे से गुणवत् का प्राचीन आचार्यो के तद्गुण मे अन्तर्भाव सम्भव है। उनके सङ्कीर्ण की अपूर्ण परिभाषा से उदाहरण के सहारे उस अलङ्कार के सम्बन्ध मे उनकी जो धारणा स्थिर होती है, उससे वह अलङ्कार शोभाकर के तन्त्र अलङ्कार से अभिन्न सिद्ध होता है। प्रत्युक्ति नाम-मात्र से नवीन है। उसका स्वरूप प्राचीन आचार्यो के प्रश्नोत्तर से भिन्न नही। उनके शेष अलङ्कारो के नाम-रूप पुरातन ही है। स्पष्टत देव के 'शब्द-रसायन' या 'भावविलास' में किसी भी सर्वथा नवीन अलङ्कार-स्वरूप की मौलिक उद्भावना नही की गयी है।



दूलह

दूलह और रघुनाथ वन्दीजन समसामयिक थे। सवत् १८०० के आसपास दूलह ने 'कविकुलकण्ठाभरण' तथा रघुनाथ ने 'रसिकमोहन' की रचना की थी। दोनो रचनाओ मे अलङ्कारो के लक्षण-निरूपण में पर्याप्त समता है। उदाहरण तो दोनो मे अलग-अलग दिये गये है, पर लक्षण बहुलाशत· मिलते-जुलते है। दोनों मे से किसने दूसरे को प्रभावित किया होगा, यह कहना तो कठिन है; पर इस समता का एक कारण स्पष्ट है। दोनो ही आचार्यो के अलङ्कार-विवेचन का आदर्श समान रूप से अप्पय्य का 'कुवलयानन्द' रहा है।

कुवलयानन्दकार ने एक सौ अलङ्कारो का वर्णन कर लेने के उपरान्त रसवदादि तथा प्रमाणालङ्कारो का वर्णन किया था। 'कुवलयानन्द' मे, यह स्पष्ट जान पडता है कि उपमा से हेतु तक के एक सौ अलङ्कारो से रसवत् आदि का कुछ भिन्न महत्त्व माना गया था। दूलह ने भी उसी पद्धति का अनुगमन कर हेतु-विवेचन के उपरान्त उस अध्याय को समाप्त-सा करते हुए लिखा है कि एक सौ अर्थालङ्कार जो प्राचीन आचार्यों के द्वारा विवेचित थे,

१. डॉ० नगेन्द्र, देव और उनकी कविता, पृ० १५६

उनका वर्णन किया गया ।[१] दूलह ने एक सौ के अतिरिक्त सत्तर-बहत्तर आधुनिक अलङ्कारो की ओर सङ्केत किया है ।[२] पर, उनका अभिप्राय किन-किन अलङ्कारो से था, यह स्पष्ट नही । उन्होने अप्पय्य की तरह रसवदादि भाव-सम्बन्धी तथा प्रमाण-सम्बन्धी अलङ्कारो का भी निरूपण किया है ।[३]

'कुवलयानन्द' के स्मृति एव सन्देह को क्रमश स्मृतिमान तथा सन्देहवान कहा गया है। नाम मे यह परिवर्त्तन भ्रान्तिमान के सादृश्य के आधार पर हुआ है । दोनो के स्वरूप की कल्पना मे कोई नवीनता नही ।

व्याजस्तुति का नाम व्याजोक्ति कर दिया गया है । प्राचीन आचार्यों के व्याजोक्ति अलङ्कार की भी सत्ता स्वीकार करने के कारण व्याजोक्ति का दो बार उल्लेख करना पडा है । रघुनाथ के 'रसिकमोहन' मे भी व्याजस्तुति को व्याज-उक्ति कहने से ऐसी ही अव्यवस्था उत्पन्न हुई है। दूलह ने व्याज-उक्ति नाम को व्याजस्तुति से अधिक व्यापक समझा होगा । उन्हे लगा होगा कि व्याजस्तुति नाम केवल व्याज से की जाने वाली स्तुति का ही बोधक हो सकता है, व्याज से की जाने वाली निन्दा का नही, इसीलिए व्याजोक्ति कह कर भी दूलह ने लक्षण मे व्याजस्तुति तथा व्याज-निन्दा शब्दो का भी प्रयोग किया है ।[४] वस्तुत: व्याजस्तुति मे स्तुति का अर्थ 'वर्णन' था । उसका नाम-परिवर्त्तन उचित नही ।

ससृष्टि और सङ्कर का विवेचन भी दूलह ने सस्कृत आचार्यो की मान्यता के अनुरूप ही किया है। सङ्कर के चार भेद—अङ्गाङ्गिभाव, समसुप्रधान, सन्देह तथा वाचकानुप्रवेश—स्वीकृत है और उसे नृसिहाकार कहा गया है ।

शब्दालङ्कार-ससृष्टि के प्रसङ्ग मे दूलह ने छेकानुप्रास और यमक का वर्णन किया है ।[५]

स्पष्ट है कि प्राचीन अलङ्कारो के कुछ नवीन नाम की कल्पना को छोड 'कविकुलकण्ठाभरण' मे किसी नवीन अलङ्कार की कल्पना नही की गयी है ।



१. अरथालङ्कृत शत प्राचीन कहे ते कहे ।
—दूलह, कविकुलकण्ठाभरण, ७१

२. आधुनिक सत्तरि-बहत्तरि प्रमाने है ।—वही, ७१

३. वही, ७२-७६

४. द्रष्टव्य—वही, ३४

५. आवृति अक्षर अमित की है छेकानुप्रास,
बार-बार पद अर्थ जहँ भिन्न यमक परकास ।—वही, ७९

भिखारी दास

आचार्य भिखारी दास के 'काव्य-निर्णय' मे काव्यालङ्कारो के स्वरूप की विस्तृत मीमासा की गयी है। इस ग्रन्थ मे दो स्थलो पर अलङ्कारो का स्वरूप-निरूपण किया गया है। तीसरे उल्लास मे अलङ्कारो का सक्षिप्त विवेचन है, और आठवे से अठारहवे उल्लास तक विशद विवेचन। तीसरे उल्लास मे निरूपित अलङ्कारो का भी पुन विवेचन किया गया है और उनके अतिरिक्त कुछ अन्य अलङ्कार भी आगे स्वीकृत हुए है। इस प्रकार तीसरे उल्लास तथा आठवे से अठारहव उल्लासो मे विवेचित अलङ्कारो मे सख्यागत भेद स्पष्ट है। दास ने उक्त स्थलो मे अलङ्कार-विवेचन की शैली भी अलग-अलग अपनायी है। तृतीय उल्लास मे एक ही दोहे मे लक्षण-उदाहरण वाली 'कुवलयानन्द', 'भाषा-भूषण' आदि की शैली भी अपनायी गयी है और अलग-अलग पदो मे लक्षण-उदाहरण भी दिये गये है। पर आठवे से अठारहवे उल्लासो मे पृथक्-पृथक् छन्दो मे लक्षण और उदाहरण दिये गये है। तृतीय उल्लास की अपेक्षा अगले उल्लासो मे अलङ्कार-विशेष के भेदोपभेद भी अधिक दिये गये है। दो स्थलो पर अलङ्कार-विवेचन का कोई सङ्गत कारण नही दीखता। अस्तु, तृतीय उल्लास मे निरूपित अलङ्कार निम्नलिखित है —

उपमा, अनन्वय, प्रतीप, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास, निदर्शना, तुल्ययोगिता, उत्प्रेक्षा, अपह्नुति, स्मरण, भ्रम, सन्देह, व्यतिरेक, रूपक, अतिशयोक्ति, उदात्त, अधिक, अन्योक्ति, व्याजस्तुति, पर्यायोक्त, आक्षेप, विरुद्ध, विभावना, विशेषोक्ति, उल्लास, तद्गुण, मीलित, उन्मीलित, सम, भाविक, समाधि, सहोक्ति, विनोक्ति, परिवृत्ति, सूक्ष्म, परिकर, स्वभावोक्ति, काव्यलिङ्ग, परिसख्या, प्रश्नोत्तर, यथासख्य, एकावली, पर्याय, ससृष्टि तथा सभेद सङ्कर।

आठवे से अठारहवे उल्लासो तक विवेचित अलङ्कार निम्नलिखित है —

उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, प्रतीप, श्रौती उपमा, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास विकस्वर, निदर्शना, तुल्ययोगिता, प्रतिवस्तूपमा, उत्प्रेक्षा, अपह्नुति, स्मरण, भ्रम, सन्देह; व्यतिरेक, रूपक (परिणाम रूपक-भेद के रूप मे परिगणित) उल्लेख, अतिशयोक्ति, उदात्त, अधिक, अल्प, विशेष, (अन्योक्ति प्रधान→) अप्रस्तुतप्रशसा, प्रस्तुताङ्कुर, समासोक्ति, व्याजस्तुति, आक्षेप, पर्यायोक्ति; (विरोधमूलक→) विरुद्ध या विरोधाभास, विभावना, व्याघात, विशेषोक्ति, असङ्गति, विषम, उल्लास, अवज्ञा, अनुज्ञा, लेश, विचित्र, तद्गुण,

स्वगुण, अतद्गुण, पूर्वरूप, अनुगुण, मीलित, सामान्य, उन्मीलित, विशेष, सम, समाधि, परिवृत्ति, भाविक, हर्ष या प्रहर्षण, विषाद, असम्भव, सम्भावना, समुच्चय, अन्योन्य, विकल्प, सहोक्ति, विनोक्ति, प्रतिषेध, विधि, काव्यार्थापत्ति, सूक्ष्म, पिहित, युक्ति, गूढोत्तर, गूढोक्ति, मिथ्याध्यवसिति, ललित, विवृतोक्ति, व्याजोक्ति, परिकर, परिकराङ्कुर, स्वभावोक्ति, हेतु, प्रमाण, काव्यलिङ्ग, निरुक्ति, लोकोक्ति, छेकोक्ति, प्रत्यनीक, परिसख्या, प्रश्नोत्तर, दीपक, (दीपक-भेद स्वतन्त्र विवेचित) यथासख्य, एकावली, कारणमाला, उत्तरोत्तर, रसनोपमा, रत्नावली और पर्याय ।

उन्नीसवे उल्लास से लेकर इक्कीसवे उल्लास तक शब्दालङ्कारो का विवेचन किया गया है। उन्नीसवे उल्लास मे काव्य-गुणो का स्वरूप-निरूपण कर दास जी ने सबसे पहले गुणो के भूषण के रूप मे अनुप्रास का विवेचन किया है। अनुप्रास अलङ्कार शब्दार्थ को अलङ्कृत करते हुए शब्दार्थाश्रित गुणो के आभूषण तो हो सकते है, पर उन्हे रसाश्रित गुणो के अलङ्करण कैसे सिद्ध किया जा सकता है, इसमे कोई युक्ति नही दी गयी है। दास ने इस उल्लास मे छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, लाटानुप्रास के साथ वीप्सा, यमक तथा सिहावलोकन अलङ्कारो का स्वरूप-निरूपण किया है।

बीसवे उल्लास मे श्लेष, विरोधाभास, मुद्रा, वक्रोक्ति तथा पुनरुक्त-वदाभास का उल्लेख कर उनके अर्थालङ्कारत्व का निषेध किया गया है।[१] इक्कीसवे उल्लास मे स्वतन्त्र रूप से चित्रालङ्कार के विविध रूपो का विवरण दिया गया है।

'काव्यनिर्णय' मे वीप्सा शब्दालङ्कार नवीन है। वीप्सा की धारणा नवीन नही, केवल शब्द के अलङ्कार के रूप मे उसकी स्वीकृति नवीन है। किसी अर्थ पर बल देने के लिए शब्दो के दो बार प्रयोग का विधान सस्कृत-व्याकरण मे हुआ था।[२]

सिहावलोकन दास की नवीन कल्पना तो नहीं, पर सर्वप्रथम उसे परिभाषित करने का श्रेय उन्ही को है। आचार्य देव ने यमक के सिहा-

१. श्लेष, विरोधाभास है, सब्द-अलङ्कृत दास।
मुद्रा औ बक्रोक्ति पुनि, पुनरुक्तीबद भास ॥
इन पाँचन-करि अर्थ को भूषन कहै न कोई।
—भिखारी दास, काव्य-निर्णय, २०, १-२ पृ० ५५६

२. नित्यवीप्सयो. ।—पाणिनि, अष्टाध्यायी, ८, १, ४

वलोकन-भेद का उल्लेख किया था। दास ने सिंहावलोकन की परिभाषा में कहा है कि इसमे पद का आदि और अन्त चरण कुण्डलित हो जाता है।[१] प्रथम चरण के अन्त का शब्द दूसरे चरण के आरम्भ मे, दूसरे चरण के अन्त का शब्द तीसरे चरण के आरम्भ मे तथा तीसरे चरण के अन्त का शब्द चौथे चरण के आरम्भ मे और उसके अन्त का शब्द प्रथम चरण के आरम्भ मे कुण्डलायित रूप से रहे, तो दास के अनुसार सिंहावलोकन अलङ्कार होगा। यह सस्कृत-आचार्यो के यमक-भेदो मे से ही एक है। मम्मट के आद्यन्तिक यमक मे यमक के ऐसे ही स्वरूप की कल्पना की गयी थी।[२] इसे यमक से स्वतन्त्र अलङ्कार मानना उचित नही। सिंहावलोकन-न्याय सस्कृत मे प्रचलित था, जिसमे आगे-पीछे के सुसम्बद्ध अवलोकन की धारणा व्यक्त की गयी थी। इसका नाम-रूप हिन्दी-आचार्यो ने उसी न्याय से लिया है।

दास ने अर्थालङ्कारो मे श्रौती उपमा की गणना उपमा से स्वतन्त्र की है। उन्होने अनन्वय, प्रतीप, उपमेयोपमा, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास, विकस्वर, निदर्शना, तुल्ययोगिता तथा प्रतिवस्तूपमा की तरह श्रौती उपमा को भी उपमा का ही विकार स्वीकार किया है। किन्तु दृष्टान्त, विकस्वर आदि की तरह श्रौती उपमा को उपमा का विकार नही मान कर उपमा का भेद मानना ही उचित होता। उपरिलिखित अलङ्कारों को उपमा का विकार मानना नवीन सूझ नही। सस्कृत के आचार्यो ने भी सादृश्यमूलक अलङ्कारो को उपमा-प्रपञ्च कहा था।[3]

दीपक अलङ्कार का एकत्र सामान्य स्वरूप-निरूपण कर अपरत्र दीपक-भेदों का वर्णन किया गया है। देहरी-दीपक का नया नाम सुन कर कुछ आलोचक चमत्कृत हो उठे है, पर इसकी धारणा बीज रूप मे प्राचीन आचार्यो के सामान्य दीपक-लक्षण मे ही निहित थी। कारक-दीपक, क्रिया-दीपक आदि मे भी मध्यस्थित एक पद देहरी-दीपक-न्याय से दो पदों को दीपित करता है। एक पद से अनेक के दीपित होने मे ही दीपक की सार्थकता है। अतः, देहरी-दीपक की कल्पना मे भेदीकरण की प्रवृत्ति-मात्र का परिचय मिलता है,

---

१. चरँन अत और आदि के, जँमक कुण्डलित होई।
सिघविलोकनि है वहै,　　…　　…॥
—भिखारी दास, काव्य-निर्णय, १९, पृ० ५५५

२. द्रष्टव्य—मम्मट, काव्यप्रकाश, पृ० २०६

३. प्रतिवस्तुप्रभृतिरुपमाप्रपञ्चः।—वामन, काव्यालङ्कार, ४, ३, १

है, तत्त्व-चिन्तन की मौलिकता का नही। देहरी-दीपक नाम भी नूतन नही है। देहरी-दीपक-न्याय की धारणा सस्कृत मे प्रचलित थी।

दास ने स्वगुण नामक एक नवीन अलङ्कार का उल्लेख किया है। उन्होने उसका लक्षण नही देकर केवल उदाहरण दिया है। डॉ० ओम्प्रकाश ने स्वगुण की एक परिभाषा उद्धृत की है—'पाये पूरब रूप फिरि, स्वगुन सुमति कह देत।'[१] पर इस उद्धरण का स्रोत प्रमाणित नही। यदि स्वगुण की उक्त परिभाषा को दास-रचित मान लिया जाय तो स्वगुण अलङ्कार का स्वरूप 'चन्द्रालोक' के पूर्वरूप से, जिसमे पुनः स्वगुण की प्राप्ति पर बल दिया गया है,[२] अभिन्न हो जायगा। पूर्वरूप के दो रूपो की कल्पना भिखारी दास के पूर्ववर्ती आचार्यो ने की थी। एक मे वस्तु पर-सन्निधि से दूसरे का गुण ग्रहण कर पुन अपने पूर्व गुणों को धारण कर लेती है और दूसरे मे वस्तु के विकृत होने पर भी पहली ही-सी अवस्था की अनुवृत्ति का वर्णन किया जाता है।[३] भिखारी दास ने दूसरे रूप को पूर्वरूप तथा प्रथम रूप को स्वगुण कह दिया है। चन्द्रालोककार के पूर्वरूप-लक्षण से ही स्वगुण शब्द भी इस अलङ्कार के नामकरण के लिए लिया गया है।

भिखारी दास ने रसनोपमा नामक उपमा-भेद को स्वतन्त्र अलङ्कार मान कर उसे उपमा और एकावली का सङ्कर कहा है।[४] विश्नाथ ने 'साहित्यदर्पण' मे रसनोपमा के ऐसे ही स्वरूप का निरूपण किया था।[५] अनेक अलङ्कारो के सङ्कर या संसृष्टि-रूप में मिश्रण से अलङ्कार-विशेष के भेदोपभेदों की कल्पना की जाने लगे तो अलङ्कारो के अनन्त भेद हो जायँगे। दास ने इसी पद्धति पर उपमातिशयोक्ति, उत्प्रेक्षातिशयोक्ति आदि अलङ्कार-भेदो की कल्पना कर ली है। अपह्नुति, ससृष्टि, मालोपमा आदि के भी अनेक भेदो की परीक्षा से यह स्पष्ट हो जाता है कि भिखारी दास ने प्राचीन आचार्यो

---

१. ओम्प्रकाश शर्मा, रीतिकालीन अलङ्कार साहित्य, पृ० ११३
२. तुलनीय—पुन. स्वगुणसप्राप्तिर्विज्ञेया पूर्वरूपता।
—जयदेव, चन्द्रालोक, ५, १०३
३. वही, ५, १०४
४. उपमाँ और एकावली कौ सकर जहँ होइ।
ताही को 'रसनोपमाँ', कहै··· ··· ॥
—भिखारी दास, काव्य-निर्णय, १८, पृ० ५०८
५. विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, १०,३५ पृ० ६१४

की अलङ्कार-धारणा को ही मिला-जुला कर तत्तदलङ्कारो के नवीन भेदोपभेदो की कल्पना कर ली है।

'काव्य-निर्णय' के अलङ्कार-विवेचन के परीक्षण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि दास ने किसी सर्वथा नवीन उक्ति-भङ्गी की कल्पना अलङ्कार-क्षेत्र मे नही की है।

शब्दालङ्कार मे वीप्सा नामक नवीन अलङ्कार स्वीकृत है; पर वीप्सा की धारणा नवीन नही।

सिहावलोकन मम्मट आदि के पादाद्यन्तिक यमक से अभिन्न है।

स्वगुण-नामक अर्थालङ्कार जयदेव के पूर्वरूप से भिन्न नही। यह नाम भी 'चन्द्रालोक' के पूर्वरूप-लक्षण से ही लिया गया है। पूर्वरूप के पूर्व-स्वीकृत दो रूपो में से एक को दास ने पूर्वरूप तथा दूसरे को स्वगुण मान लिया है। उपमा, अतिशयोक्ति, अपह्नुति आदि के नवीन भेदो की कल्पना उन अलङ्कारो के साथ अन्य अलङ्कारो की धारणा को मिलाकर कर ली गयी है।



हिन्दी के अन्य आलङ्कारिक

हिन्दी के जिन रीति-आचार्यो ने अलङ्कार-क्षेत्र मे कुछ नवीन कल्पना की है या कम-से-कम कुछ नवीनता-प्रदर्शन का आयास किया है, उनकी कल्पना के औचित्य और प्रेरणा-स्रोत पर विचार किया जा चुका है। प्रस्तुत सन्दर्भ मे हम उन आचार्यो की अलङ्कार-मीमासा पर विचार करेंगे, जिन्होने संस्कृत तथा हिन्दी अलङ्कार-साहित्य मे निरूपित स्वीकार्य अलङ्कारो का लक्षण-निरूपण किया है। इस प्रसङ्ग मे उनकी अलङ्कार-धारणा का सक्षिप्त परिचय मात्र पर्याप्त होगा, चूँकि प्रस्तुत पक्तियो के लेखक का उद्देश्य प्रस्तुत अध्याय में नवोद्भावित अलङ्कारो के स्रोत का अनुसन्धान है। हिन्दी के अनेक सशक्त आचार्यो ने तथ्यहीन नूतनता से पाठको को चमत्कृत या आतङ्कित करने की छिछली प्रवृत्ति से बच कर अलङ्कार-विषयक पूर्व-मान्यताओ का सार-ग्रहण कर हिन्दी के स्वनिर्मित या पररचित पदो के उदाहरण से अलङ्कार-परिभाषाओ का स्पष्टीकरण किया है। उनका महत्त्व अलङ्कार-क्षेत्र में मौलिक योगदान की दृष्टि से भले ही अधिक नहीं हो; पर अलङ्कारों को स्पष्ट रूप से परिभाषित और उदाहृत कर हिन्दी के पाठको के लिए बोधगम्य बनाने की दृष्टि से उनका महत्त्व उपेक्षणीय नहीं।

संस्कृत-अलङ्कार-शास्त्र मे प्रचलित (सूत्र शैली को छोड) अलङ्कार-निरूपण की प्राय सभी शैलियो का अनुवर्त्तन हिन्दी रीति साहित्य मे हुआ है। दण्डी, मम्मट, विश्वनाथ आदि की तरह पृथक्-पृथक् पदों मे लक्षण और उदाहरण की शैली के साथ एक ही पद मे लक्षण एवं उदाहरण की 'कुवलयानन्द' की शैली को भी अपनाया गया है। अलङ्कार-निरूपण के माध्यम से अपने आश्रयदाता के गुण-गान की 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' की पद्धति पर हिन्दी मे अनेक अलङ्कार-ग्रन्थ लिखे गये है। ऐसे ग्रन्थो मे प्रत्येक अलङ्कार को परिभाषित कर आश्रयदाता के महिमा-वर्णनपरक स्वनिर्मित पदो का उदाहरण दिया गया है। अलङ्कार-लक्षणो की अपेक्षा अलङ्कार-उदाहरणो मे रीति-आचार्यो की महनीय मौलिकता है। यह रीति-आचार्यो के कवित्व की उपलब्धि है।

सस्कृत-आचार्यो की तरह हिन्दी मे भी विविध काव्याङ्ग-निरूपण के साथ अलङ्कार का विवेचन करने वाले तथा अलङ्कार सर्वस्वकार, कुवलयानन्दकार, आदि की तरह केवल अलङ्कार का निरूपण करने वाले आलङ्कारिको के दो वर्ग पाये जाते है, पर सस्कृत मे जहाँ अधिकाश आचार्यो ने अन्य काव्याङ्ग-निरूपण के क्रम मे अलङ्कार का स्वरूप-निरूपण किया है, वहाँ हिन्दी मे केवल काव्यालङ्कार का निरूपण करने वाले आचार्यो की संख्या ही अधिक है। यह हिन्दी-रीति-साहित्य मे चमत्कार प्रदर्शन की प्रवृत्ति का स्वाभाविक-परिणाम है।

'कुवलयानन्द' की पद्धति पर हिन्दी मे भी अनेक आचार्यों ने केवल अर्थालङ्कारो का निरूपण किया है, किन्तु अधिकांश आचार्यो ने शब्दालङ्कार एव अर्थालङ्कार का (कुछ ने अभयालङ्कार का भी) एक साथ लक्षण-निरूपण किया है। हिन्दी मे चित्र के विविध रूपो का—जिसकी धारणा का विकास अनुप्रास या यमक अलङ्कार की धारणा से हुआ था और जिसने सस्कृत मे ही खड्ग आदि की आकृति मे निबन्धन के रूप मे यमक और अनुप्रास से स्वतन्त्र अस्तित्व पा लिया था—स्वतन्त्र रूप से विशद विवेचन किया गया है। चित्र-काव्य जो सस्कृत के सुरुचि-सम्पन्न पाठको की दृष्टि मे नीरस होने के कारण हेय और उपेक्षणीय था, हिन्दी-रीति-काल की दरबारी सभ्यता मे दूर की कौडी लाकर श्रोता-मण्डली को विस्मय-विमुग्ध कर देने के कारण बहुत जनप्रिय हो गया था। इसलिए अनेक रीति-आचार्यो ने उसके स्वरूप का विस्तृत मीमासा की है। भिखारी दास ने 'काव्य-निर्णय' के एक अध्याय मे केवल

चित्र-भेदो का निरूपण किया है। यही नही, हिन्दी मे केवल चित्र-निरूपण पर स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखे गये है।

हिन्दी-रीति-साहित्य मे कुछ आचार्यो ने अलङ्कार का रस, गुण आदि से नियत सम्बन्ध जोडने का भी प्रयास किया है। पर, ऐसा प्रयास निष्फल ही सिद्ध हुआ है। ऐसे प्रयास को अलङ्कार-क्षेत्र मे उन आचार्यो का कोई महत्त्वपूर्ण योगदान नही माना जा सकता।

नीचे हम प्राचीन आचार्यो के मतानुसार अलङ्कार का विवेचन करने वाले हिन्दी-रीति-आचार्यो की अलङ्कार-धारणा का सामान्य परिचय प्रस्तुत कर रहे है।

आचार्य कुलपति मिश्र

कुलपति का 'रस-रहस्य' हिन्दी-रीतिशास्त्र मे महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। 'रस-रहस्य' के सातवे और आठवे वृत्तान्तो मे क्रमश शब्दालङ्कारों एवं अर्थालङ्कारो का निरूपण किया गया है। अलङ्कार-विवेचन मे कुलपति ने मम्मट की अलङ्कार-धारणा को आदर्श माना है। कुलपति ने स्पष्ट शब्दो में कहा है कि मम्मट ने काव्य के जिन अलङ्कारो का वर्णन किया है, उन्ही का निरूपण मैने भाषा मे किया है।[१] स्पष्ट है कि कुलपति ने किसी नवीन अलङ्कार की कल्पना की आवश्यकता नही समझी। मम्मट तथा सस्कृत और हिन्दी के अन्य समर्थ आचार्यो की कृतियो का अध्ययन कर आचार्य कुलपति ने काव्यालङ्कारो का प्रामाणिक विवेचन किया है।

आचार्य पदुमन दास

पदुमन दास ने 'काव्यमजरी' के दशवे तथा ग्यारहवे अध्यायो में क्रमश. शब्दालङ्कारो एव अर्थालङ्कारो का लक्षण-निरूपण किया है। उन्होने अलङ्कार-क्षेत्र मे कोई नवीन उद्भावना नही कर आचार्य केशव की 'कविप्रिया' मे निरूपित अलङ्कारो को ही आदर्श मान कर काव्यालङ्कार का निरूपण किया है।

श्रीधर या मुरलीधर ओझा

श्रीधर के 'भाषाभूषण' मे अप्पय्य दीक्षित के 'कुवलयानन्द' मे विवेचित अलङ्कारो का लक्षण-निरूपण किया गया है।

जिते साज है कवित के, मम्मट कहे बखानि।
ते सब भाषा मे कहे, 'रस रहस्य' मे आनि॥

—कुलपति मिश्र, रस रहस्य, पृ० ८८

सूरति मिश्र

सूरति मिश्र ने भी 'कुवलयानन्द' की लक्ष्य-लक्षण-शैली मे चन्द्रालोककार के द्वारा निरूपित (अप्पय्य के द्वारा स्वीकृत) अलङ्कारो के लक्षण उदाहरण दिये है।

रघुनाथ

रघुनाथ ने 'रसिकमोहन' मे 'कुवलयानन्द' के आधार पर अलङ्कारों का स्वरूप-निरूपण किया है। व्याजस्तुति को रघुनाथ ने व्याजोक्ति कहा और उसके दो रूपो—निन्दा के व्याज से की जाने वाली स्तुति तथा स्तुति के व्याज से की जाने वाली निन्दा—का सोदाहरण-निरूपण किया।[1] परम्परा से स्वीकृत व्याजोक्ति अलङ्कार को भी उन्होंने स्वीकार किया। फलत, 'रसिकमोहन' मे दो बार व्याजोक्ति का उल्लेख किया गया है। रघुनाथ ने प्रेमात्युक्ति-नामक अलङ्कार की कल्पना की है। यह वस्तुतः अलङ्कार का स्वतन्त्र रूप नही। अद्भुत तथा अतथ्य-वर्णन मे अत्युक्ति अलङ्कार की कल्पना की जा चुकी थी। प्रेमभाव के अत्युक्तिपूर्ण वर्णन में प्रेमात्युक्ति का सद्भाव रघुनाथ ने कल्पित कर लिया है। यह अत्युक्ति में ही अन्तर्भुक्त है। स्पष्टत, अलङ्कार के क्षेत्र मे रघुनाथ की कोई मौलिक उद्भावना नही।

रसरूप

रसरूप ने 'तुलसीभूषण' मे अलङ्कारो के लक्षण मम्मट, अप्पय्य आदि की विचार-सरणि का अनुसरण करते हुए दिये है। 'तुलसीभूषण' का वैशिष्ट्य यह है कि उसमे उदाहरण तुलसी-साहित्य से ही लिये गये है। रसरूप ने एक सौ ग्यारह अलङ्कारो का सभेद निरूपण किया है।[2] शब्दालङ्कारो मे अनुप्रास, यमक, वक्रोक्ति, श्लेष, चित्र तथा पुनरुक्तवदाभास का विवेचन किया गया है। 'चन्द्रालोक' आदि की पद्धति पर अर्थालङ्कारो का निरूपण किया

---

१. निदा सो अस्तुति जहाँ प्रगट परति है जोइ।
अस्तुति सो निदा जहाँ व्याज उक्ति तहँ होइ॥

—रघुनाथ, रसिकमोहन, २१०

२. एकादस अरु एक शत मुख्य अलङ्कृत रूप।

—रसरूप, तुलसीभूषण, पृ० ३५

गया है। अकारादि अक्षर-क्रम से अलङ्कारो का उल्लेख भी 'तुलसीभूषण' का एक वैशिष्ट्य है।[१]

'तुलसीभूषण' में धन्यता तथा निर्णय नामक दो नये अलङ्कारो का उल्लेख हुआ है। धन्यता मे करणीय अर्थ से अधिक बात उत्पन्न हो जाने की धारणा व्यक्त की गयी है।[२] यह धारणा वाञ्छित से अधिक प्राप्ति-रूप प्रहर्षण की धारणा से मिलती-जुलती ही जान पडती है। अत', प्रहर्षण मे ही इसका अन्तर्भाव सम्भव है।

निर्णय की परिभाषा मे कहा गया है कि जहाँ अनेक मुख से एक वस्तु के सम्बन्ध मे निर्णय दिया जाता है, वहाँ यह अलङ्कार होता है।[३] दण्डी ने निर्णय की बात निर्णयोपमा मे कही थी, जहाँ उपमेय और उपमान मे प्रमाता को सन्देह होने के स्थल मे वक्ता सन्देह-निवारण के लिए वस्तु के सम्बन्ध मे निर्णयात्मक बात कहता है।[४] स्पष्टत., रसरूप के निर्णय का स्वरूप दण्डी की निर्णयोपमा के स्वरूप से कुछ भिन्न है। निर्णय मे एक ही वस्तु के सम्बन्ध मे अनेक लोग अपना अलग-अलग निर्णय देते है, यह बात उसके उदाहरण से स्पष्ट हो जाती है, जिसमे एक ही व्यक्ति को कोई नर-नारायण कहता है, कोई हरि, कोई हर तो कोई कामदेव कहता है।[५] निर्णय के लक्षण-उदाहरण पर विचार करने से उसका स्वरूप उल्लेख के स्वरूप से अभिन्न जान पडता है, जिसमे एक वस्तु का बहुत लोगो के द्वारा अनेक प्रकार से उल्लेख किया जाता है। रसरूप ने उल्लेख अलङ्कार का भी उल्लेख अपने ग्रन्थ मे किया है। उसी मे निर्णय का अन्तर्भाव मानना उचित होता।

'चन्द्रोदय' ग्रन्थ के आधार पर विक्षेप-नामक अलङ्कार का लक्षण रसरूप ने दिया है। इसके सम्बन्ध मे यह मान्यता व्यक्त की गयी है कि जहाँ जो

---

१. अक्षर को सम्बन्ध करि क्रम हि सो रसरूप।
आदि बरन के नेम सो भूषन रचे अनूप ॥—रसरूप तुलसीभूषण, पृ० १

२. करन अर्थ ते अधिक जहाँ उपजावै कछु बात।
धन्यता तासो कहत है × × × × ॥—वही, पृ० २३

३. जहाँ होत है एक की निर्णय बहुमुख माँह।
अलङ्कार निर्णय कहत × × × × ॥—वही, पृ० २३

४. द्रष्टव्य—दण्डी, काव्यादर्श, २, २७

५. कोउ कह नरनारायण, हरि हर कोऊ।
कोउ कहै विहरत वन मधु मनसिज़ दोउ ॥
—रसरूप, तुलसीभूषण, पृ० २३

जिसका अधिकार हो, वह काम कोई और कर दे, परन्तु उसका नाम न ले वहाँ विक्षेप अलङ्कार होता है।[१] यह चमत्कार के अभाव के कारण अलङ्कार नही। मिथ्याध्यवसित के साथ उसी रूप वाले मिथ्या अलङ्कार की भी कल्पना रसरूप ने की है। जिसमे सब झूठ का ही वर्णन किया जाता हो, वह रसरूप के अनुसार मिथ्या अलङ्कार है।[२] केवल मिथ्या-वर्णन अलङ्कार नही। अप्पय्य दीक्षित की मिथ्याध्यवसिति-धारणा को ठीक-ठीक न समझ पाने के कारण सम्भवत रसरूप ने मिथ्या का यह स्वरूप मान लिया है।

निष्कर्ष यह कि रसरूप ने अलङ्कार-धारणा के विकास मे कोई महत्त्वपूर्ण योगदान नही दिया। नये नाम के जो अलङ्कार 'तुलसीभूषण' मे आये है, वे मौलिकता-प्रदर्शन-मात्र के लिए कल्पित है। धन्यता का प्रहर्षण में तथा निर्णय का उल्लेख में अन्तर्भाव सम्भव है। विक्षेप तथा मिथ्या चमत्कारहीन होने के कारण वस्तुतः अलङ्कार नही।

बैरीसाल

'भाषाभरण' मे बैरीसाल ने 'कुवलयानन्द' की पद्धति पर अलङ्कारो का स्वरूप-निरूपण किया है। उन्होने अप्पय्य दीक्षित का ऋण स्पष्ट शब्दो मे स्वीकार किया है।[3] अप्पय्य दीक्षित के प्रमाणालङ्कारो के विवेचन के उपरान्त बैरीसाल ने चार और प्रमाणो का निर्देश किया है। वे है—पुराण-प्रमाण, आगम-प्रमाण, आचार-प्रमाण और आत्मतुष्टि-प्रमाण। इनके लक्षण नही, केवल उदाहरण दिये गये है। उक्त प्रमाणो से भारतीय पाठको का इतना घनिष्ठ परिचय है कि उन्हे परिभाषित करने की आवश्यकता ही बैरीसाल को नही जान पडी होगी। इन प्रमाणो की कल्पना नवीन नही, फिर भी यह बैरीसाल की चिन्तनशीलता का एक प्रमाण तो है ही।

जगत सिंह

जगत सिह ने 'साहित्य-सुधानिधि, मे शब्दालङ्कारो तथा अर्थालङ्कारो का लक्षण-निरूपण किया है। उन्होने स्पष्ट शब्दों मे यह स्वीकार किया है

१. जो जाको अधिकार है, करे और सो काम।
ताहि कहत विक्षेप है, लहै न ताको नाम॥
—रसरूप, तुलसी भूषण पृ० ३४

२. मिथ्या तासों कहत है जो मिथ्या सब होइ।—वही, पृ० ३४

३. रीति कुवलयानन्द की, कीन्हौ भाषाभर्ण।
—बैरीसाल, भाषाभरण, पृ० ३६

कि उनके अलङ्कार-विवेचन का आधार 'चन्द्रालोक' आदि ग्रन्थ है।[१] 'साहित्य सुधानिधि, मे निरूपित सग्रामोद्दाम हुड्‌कृति, अलङ्कार को कुछ आलोचको ने जगत सिह की नवीन उद्‌भावना मान लिया है।[२] वस्तुत., यह जगतसिह की नवीन उद्भावना नही। जयदेव ने 'चन्द्रालोक' मे सग्रामोद्दामहुड्‌कृति का उल्लेख किया था। दृष्टान्त के लक्षण मे बिम्बप्रतिबिम्ब भाव का उल्लेख कर उन्होने कहा था कि मल्ल-प्रतिमल्ल भाव के होने पर सग्राम-क्षेत्र मे होने वाली उद्दाम हुड्‌कृति के समान हुङ्‌कृति होती है।[3] जयदेव के इस कथन की दो व्याख्याएँ सम्भव है। एक यह कि उन्होने दृष्टान्त के स्वरूप को ही स्पष्ट करने के लिए मल्ल-प्रतिमल्ल-भाव मे सग्राम की उद्दाम हुङ्‌कृति का उल्लेख किया होगा। दूसरी यह कि वस्तुओ के बिम्बप्रतिबिम्ब-भाव में दृष्टान्त अलङ्कार मान कर उन्होने मल्ल-प्रतिमल्ल-भाव मे सग्रामोद्दाम हुङ्‌कृति नामक स्वतन्त्र अलङ्कार की सत्ता मानी होगी।[४] वस्तुओ मे मल्ल-प्रतिमल्ल भाव का अर्थ स्पष्ट नही। अत:, 'चन्द्रालोक' की सग्रामोद्दाम हुङ्‌कृति का दृष्टान्त से स्वतन्त्र अस्तित्व सन्दिग्ध है। जगत सिह ने चन्द्रालोककार की उसी धारणा को सग्रामोद्दामहुड्‌कृति अलङ्कार मे प्रस्तुत किया है। 'साहित्य सुधानिधि' मे प्रस्तुत अलङ्कार का जो लक्षण दिया गया है, वह 'चन्द्रालोक' के श्लोक की एक पक्ति का अविकल अनुवाद है।[५] अत सग्रामोद्दाम हुङ्‌कृति-को जगतसिह की नवीन उद्भावना मानना भ्रम है।

---

१. चन्द्रालाक आदि है भाषा कीन।
—जगन सिह, साहित्य सुधानिधि, तरंग, ६,

२. द्रष्टव्य—ओम् प्रकाश शर्मा, रीतिकालीन अलङ्कार-साहित्य, पृ० १३२

३. चेद्बिम्बप्रतिबिम्बत्व दृष्टान्तस्तदलङ्कृतिः।
स्यान्मल्लप्रतिमल्लत्वे सग्रामोद्दामहुड्‌कृति ॥
—जयदेव, चन्द्रालोक, ५ ५६.

४. मल्लप्रतिमल्लत्वे सग्रामसम्बन्धिनी तदाधारा चोद्दामा निष्प्रतिबन्धा उत्कृष्टा हुङ्‌कृतिःस्यादित्युत्तरार्धार्थः। मल्लप्रतिमल्लत्वे यथा सग्रामोद्दाम-हुङ्‌कृतिः स्यात्तथा यदि बिम्बवत्वे तदा दृष्टान्तः स्यादित्यन्वयात् पूर्वोत्तरवाक्यार्थयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावाल्लक्ष्यमपीदमेव पद्यम्।··· ··· ··· यद्वा दृष्टान्तसहितस्य बिम्बप्रतिबिम्बत्वस्य हुङ्‌कृतिसहितस्य मल्लप्रति-मल्लत्वस्य च सः।—चन्द्रालोक, रमा टीका, पृ० ५५-५६.

५. तुलनीय—मल्ल प्रतिमल्लरव कहि कहं अस होइ।
ाम हुङ्‌कृति जानो सोइ ॥—जगत सिह, साहित्य सुधानिधि
तथा—स्यान्मल्लप्रतिमल्लत्वे संग्रामोद्दाम हुङ्‌कृतिः।
—जयदेव, चन्द्रालोक, ५, ५

जगत सिह ने अन्य अलङ्कारो के स्वरूप का निरूपण भी 'चन्द्रालोक' आदि की पद्धति पर ही किया है। स्पष्ट है कि जगत सिह की 'साहित्य-सुधानिधि' मे अलङ्कार-विषयक कोई नवीन स्थापना नही।

गोप कवि

गोप की दो रचनाएँ—'रामचन्द्रभूषण' तथा 'रामचन्द्राभरण'—उपलब्ध है। इन ग्रन्थो मे 'भाषाभूषण' की तरह 'कुवलयानन्द' के अलङ्कारो को स्वीकार किया गया है। शब्द के केवल अनुप्रास अलङ्कार का विवेचन है। गोप ने अलङ्कारो के उदाहरण, राम और सीता के चरितगान से सम्बद्ध पदो के दिये है। यह गोप कवि की मौलिकता है। दोनों ग्रन्थो की अलङ्कार-निरूपण-शैली मे थोडा अन्तर है। 'रामचन्द्रभूषण' के प्रथमार्ध मे अलङ्कारो के लक्षण देकर उत्तरार्ध मे उदाहरण दिये गये है, पर 'रामचन्द्राभरण' मे अलङ्कार-विशेष का लक्षण देकर वही उसका उदाहरण दिया गया है। गोप ने स्वभावोक्ति के चार भेद—जाति, गुण, क्रिया तथा द्रव्य-वर्णन के आधार पर स्वीकार किये है। प्राचीन आचार्यो की स्वभावोक्ति-धारणा मे जाति, गुण आदि के स्वाभाविक वर्णन की धारणा अन्तर्निहित थी।

कुमारमणि शास्त्री

कुमारमणि शास्त्री ने 'रसिक-रसाल' की रचना मे अपने ऊपर आचार्य मम्मट का ऋण स्वीकार किया है। अलङ्कारों के विवेचन मे भी अशतः वे मम्मट के ऋणी है। शब्दालङ्कार-निरूपण तथा अर्थालङ्कार में उपमा आदि के निरूपण मे उनके ऊपर आचार्य मम्मट का प्रभाव स्पष्ट है, पर अर्थालङ्कार-निरूपण मे वे अधिकाशत अप्पय्य दीक्षित से प्रभावित है। 'रसिक-रसाल' के अष्टम उल्लास मे सौ अलङ्कारो के विवेचन के उपरान्त 'कुवलयानन्द' की ही पद्धति पर प्रमाणालङ्कारो का निरूपण किया गया है।[१] अत', आशुकरण जी गोस्वामी का यह कथन उचित ही जान पडता है कि—'अलङ्कारो के नाम, सख्या, क्रम, लक्षण व उदाहरण की दृष्टि से यह उल्लास (अष्टम उल्लास) 'कुवलयानन्द' के आधार पर लिखा गया है।'[२]

---

१. द्रष्टव्य—कुमारमणि, रसिक रसाल, अर्थचित्र प्रकरण, ८, ३३७-४५

२. रसिक रसाल की भूमिका, पृ० ४२-४३,

याकूब खाँ

याकूब खाँ ने 'रसभूषण' मे नायिका-भेद और काव्यालङ्कार का एक साथ निरूपण करने का नया प्रयोग किया। उनकी मान्यता थी कि नायिका की शोभा के लिए आभूषण की आवश्यकता होती है। अतः नायिका-भेद के वर्णन के साथ अलङ्कार का विवेचन होना चाहिए।[१] 'रसभूषण' मे एक अलङ्कार और एक नायिका-भेद का लक्षण एक साथ दिया गया है। याकूब ने अद्भुत रस के साथ यमक-अलङ्कार का वर्णन किया है। इस प्रकार रस-विशेष के साथ अलङ्कार-विशेष के सम्बन्ध का भी सङ्केत 'रसभूषण' में मिलता है। काव्यालङ्कारो के स्वरूप-निरूपण मे कोई नवीनता नही है।

रसिक सुमति

'अलङ्कार-चन्द्रोदय' में रसिक सुमति ने स्पष्ट शब्दो मे यह स्वीकार किया है कि उनके अलङ्कार-निरूपण का आदर्श 'कुवलयानन्द' है।[२] उन्होने अर्थालङ्कारो के लक्षण-निरूपण के उपरान्त वृत्त्यनुप्रास, छेकानुप्रास तथा लाटानुप्रास शब्दालङ्कारो का भी निरूपण किया है।

सोमनाथ

'रसपीयूष निधि' की बाइसवी तरङ्ग मे सोमनाथ ने चित्र-सहित शब्दालङ्कारो एव अर्थालङ्कारो का विशद विवेचन किया है। उनका शब्दालङ्कार-विवेचन मम्मट आदि आचार्यों की पद्धति पर तथा अर्थालङ्कार विवेचन कुवलयानन्द की पद्धति पर है। कही-कही सोमनाथ ने किसी अलङ्कार के सम्बन्ध मे विभिन्न सस्कृत-आचार्यों का मत भी उद्धृत किया है। इससे स्पष्ट है कि अपने पूर्ववर्ती सस्कृत तथा हिन्दी के आचार्यो के अलङ्कार-सिद्धान्त का अध्ययन कर सोमनाथ ने प्राप्त निष्कर्ष के आधार पर अलङ्कार-निरूपण किया है।

---

१. द्रष्टव्य—याकूब खाँ, रसभूषण, पृ० ४७

२. रसिक कुवलयानन्द लखि, अलि मन हरस बढाइ।
अलंकार-चन्द्रोदयहि, वरनतु हियहुलसाइ ॥
—रसिक सुमति, अलंकार चन्द्रोदय, पृ० १

गोविन्द

'कर्णाभरण' मे गोविन्द ने अलङ्कारो के लक्षण-उदाहरण दिये है। उन्होंने 'कुवलयानन्द' की लक्षण-लक्ष्य शैली मे एक ही दोहे मे अलङ्कार-विशेष का लक्षण और उदाहरण देने का प्रयास किया था।[1] अधिकाश अलङ्कारो के लक्षण और उदाहरण एक ही दोहे मे दिये गये है, पर सर्वत्र गोविन्द को इस प्रयास मे सफलता नही मिली। अत', कुछ अलङ्कारो के लक्षण और उदाहरण अलग-अलग दोहो मे दिये गये है। सम आदि अलङ्कारो के लक्षण-उदाहरण इस दृष्टि से द्रष्टव्य है। अधिकाश मे चन्द्रालोककार तथा कुवलयानन्दकार से प्रभावित होने पर भी गोविन्द ने अन्य आचार्यो की अलङ्कार-धारणा का भी प्रभाव ग्रहण किया है। श्लेष के प्रकृत-प्रकृत, प्रकृताप्रकृत तथा अप्रकृता-प्रकृत-भेदो की कल्पना मे प्राचीन आचार्यो की श्लेषोपमा-धारणा का प्रभाव स्पष्ट है।

रूपसाहि

रूपसाहि ने 'रूप-विलास' मे विविध काव्याङ्गो का वर्णन करते हुए अलङ्कारो का भी स्वरूप-निरूपण किया है। इस ग्रन्थ के बारहवे विलास मे अर्थालङ्कारों का निरूपण 'कुवलयानन्द', 'भाषाभूषण' आदि की पद्धति पर दोहो मे ही लक्षण-उदाहरण देकर किया गया है। तेरहवे विलास मे शब्दालङ्कार एव चित्र का वर्णन किया गया है।

रतन कवि

'अलङ्कार-दर्पण' में रतन कवि ने एक ही छन्द मे लक्षण-उदाहरण देने की शैली में अलङ्कार-निरूपण किया है। रतन पर 'कुवलयानन्द', 'भाषा-भूषण' आदि का पुष्कल प्रभाव है। 'कान्ताभूषण' भी इन्ही की रचना मानी गयी है। नायिका-भेद और अलङ्कार का एक साथ वर्णन इस कृति की विशेषता है।

---

१. अलङ्कार या मे कहत लच्छन लच्छि समेत।
निज मति के अनुसार ते समुझहिं बुद्धिनिकेत॥
—गोविन्द, कण्ठाभरण, पृ० १

ऋषिनाथ

ऋषिनाथ ने 'अलङ्कारमणि मञ्जरी' मे शब्दालङ्कारो एव अर्थालङ्कारो का निरूपण किया है। पूर्व-प्रतिपादित अलङ्कारो को ही परिभाषित कर नवीन उदाहरणो से स्पष्ट किया गया है।

जनराज

'कविता-रसविनोद' मे जनराज ने काव्य के तत्तदङ्गो का निरूपण करते हुए आठवे विनोद मे (अधम काव्य-वर्णन मे) अर्थालङ्कारो का लक्षण-निरूपण किया है। यह निरूपण 'कुवलयानन्द' के आधार पर किया गया है। बाइसवे तथा तेइसवे विनोदो मे क्रमश. शब्दालङ्कार एव चित्र का विवेचन किया गया है। विवेचन विस्तृत होने पर भी परम्परागत ही है।

राम सिंह

'अलङ्कार-दर्पण' मे रामसिंह ने कुवलयानन्दकार के द्वारा स्वीकृत अलङ्कारो का निरूपण किया है। शैली मे यह भेद है कि इसमे एक पद मे लक्षण-उदाहरण नही देकर सोरठा, चौपाई तथा गाथा मे अलङ्कारो के लक्षण और दोहो मे उनके उदाहरण दिये गये है।

सेवादास

सेवादास का उद्देश्य नवीन अलङ्कार-लक्षण की स्थापना नही था। वे अलङ्कार-निरूपण के माध्यम से अपने उपास्य—राम और सीता—के गुण का प्रकाश करना चाहते थे। अत, उन्होने अपने 'रघुनाथालङ्कार' मे 'रामचन्द्र-भूषण' तथा 'रामचन्द्राभरण' की तरह प्रत्येक अलङ्कार का लक्षण देकर राम के गुणगान पर रचित पदो का उदाहरण दिया है। उन्होने स्वय यह स्वीकार किया है कि उनका अलङ्कार-निरूपण 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानन्द' के आधार पर है।[१]

---

१. कुवलयानन्द चंद्रालोक में अलंकार के नाम।
तिनकी गति अवलोकि के अलंकार कहि राम॥
—सेवादास, रघुनाथालंकार, पृ० २४

गोकुल

गोकुल ने 'चेतचन्द्रिका' मे रघुनाथ की प्रेमात्युक्ति-सहित उन्ही के मतानुसार अर्थालङ्कार-निरूपण किया है। उनके अपह्नव (अपह्नुति और उत्प्रेक्षा के योग से निर्मित) को डॉ० रसाल ने उनकी नयी कल्पना माना है। पर, यह विश्वनाथ के सापह्नवोत्प्रेक्षा से अभिन्न है।

चन्दन

चन्दन ने 'काव्याभरण' की रचना मे अपने ऊपर सस्कृत एव हिन्दी आचार्यो का ऋण स्वीकार किया है।[1] उनका अलङ्कार-निरूपण मुख्यत 'कुवलयानन्द' तथा 'भाषाभूषण' के अलङ्कार-वर्णन पर आधृत है।

रसिक गोविन्द

रसिक गोविन्द की दो रचनाएँ काव्यशास्त्र पर है और दोनो का नामकरण आचार्य ने अपने नाम के आधार पर किया है। 'रसिक-गोविन्द' मे अलङ्कारो का निरूपण 'चन्द्रालोक', 'कुवलयानन्द' तथा 'भाषाभूषण' की पद्धति पर किया गया है। 'रसिक-गोविन्द-आनन्दघन' मे विविध काव्याङ्गो के साथ अलङ्कारो का भी विवेचन किया गया है। इसमे अलङ्कारो का विवेचन गद्य मे होने से विवेचन प्रौढ है। इसमे मम्मट, अप्पय्य आदि की अलङ्कार-धारणा के साथ हिन्दी के केशव आदि आचार्यो का भी अलङ्कार-विषयक मत गृहीत है। अलङ्कार-विषयक नवीन उद्भावना के नही होने पर भी विवेचन की प्रौढता मे ही इस कृति का महत्त्व है।

उमेद राय

उमेद राय ने 'वाणी-भूषण' मे 'चन्द्रालोक' तथा 'भाषा-भूषण' के आधार पर अलङ्कार-निरूपण करने की बात स्वय कही है।[2] शब्दालङ्कार मे यमक का वर्णन अनुप्रास के अन्तर्गत किया गया है। सस्कृत मे भी कुछ आचार्यों ने केवल अनुप्रास का सद्भाव स्वीकार कर यमक को उसी का एक प्रकार माना

---

१. 'काव्याभरण' किये प्रगट, भाषा कवि आधार।
ग्रन्थ संस्कृत देखि मैं × × × × ॥—चन्दन, काव्याभरण, पृ० १

२. नित चन्द्रालोक विचारि मान।
किये भाषाभूषण की समान ॥—उमेद राय, वाणीभूषण, पृ० ३

था। इसके विपरीत कुछ आचार्यों ने यमक के सन्दर्भ मे ही अनुप्रास का स्वरूप-निरूपण किया है। अनुप्रास की धारणा का विकास तो वस्तुत. आचार्य भरत की यमक-धारणा से ही हुआ है। दोनो मे साम्य भी बहुत है। एक मे वण की आवृत्ति अपेक्षित है और दूसरे मे पद की। पद वर्णो का ही समुदाय है। अत· पदावृत्ति और वर्णावृत्ति मे तात्त्विक भेद नही।

उमेद राय ने शब्दालङ्कारो के अतिरिक्त एक सौ आठ अर्थालङ्कारों का निरूपण किया है।[1]

ब्रह्मदत्त

ब्रह्मदत्त ने 'दीप-प्रकाश' की रचना का आधार दूलह के 'कविकुल-कण्ठाभरण, को माना है।[2] प्रस्तुत पुस्तक के तृतीय प्रकाश मे सभेद अनुप्रास का, जिसमे यमक भी अन्तर्भूत है, निरूपण है तथा चतुर्थ प्रकाश मे अर्थालङ्कारों का विवेचन किया गया है। देव का गुणवत् अलङ्कार भी 'दीपप्रकाश' मे स्वीकृत है।

पद्माकर

पद्माकर ने 'पद्माभरण' मे काव्य के अलङ्कारो का विवेचन किया है। अर्थालङ्कार-प्रकरण मे 'कुवलयानन्द' की तरह एक सौ अर्थालङ्कारो का निरूपण कर पद्माकर ने रसवदादि, भावोदयादि तथा प्रमाणालङ्कारो का निरूपण किया है। एक सौ अलङ्कारो के बाद रसवदादि पन्द्रह अलङ्कारो का वर्णन 'कविकुलकण्ठाभरण' के आधार पर है। ससृष्टि और सङ्कर के लक्षण-उदाहरण अन्त मे दिये गये है। प्रमाणालङ्कार-निरूपण के क्रम मे बैरीसाल के 'भाषाभरण' मे कल्पित आगम, आचार तथा आत्मतुष्टि प्रमाण को भी पद्माकर ने स्वीकार किया है। कई अलङ्कारो के उदाहरण मे भी पद्माकर बैरीसाल के ऋणी है। स्पष्ट है कि पद्माकर ने 'चन्द्रालोक', 'कुवलयानन्द', 'कविकुलकण्ठाभरण', 'भाषाभरण' आदि ग्रन्थो के आधार पर अलङ्कार निरूपण किया है।

---

१. एक सो आठ सब अलकार,
अर्थ के कहे बुद्ध्यानुसार।—उभेदराय, वाणीभूषण पृ० ३९

२. दीप नरायन सिंह की लहि आयुस कवि ब्रह्म।
कविकुल कंठाभरण लखि कीन्हो ग्रन्थ अरम्भ॥
—ब्रह्मदत्त, दीप प्रकाश, पृ० ५

राय शिवप्रसाद

शिवप्रसाद ने 'रस-भूषण' में रस के साथ अलङ्कार के लक्षण दिये है। इस वर्णन-परिपाटी का श्रीगणेश याकूब खाँ ने किया था। अलङ्कार के लक्षण मुख्यत. 'भाषाभूषण' के आधार पर दिये गये है। शिव प्रसाद ने रस-विशेष के साथ अलङ्कार-विशेष को सम्बद्ध करने का प्रयास किया है। उदाहरणार्थ—हास्यरस के साथ व्याजस्तुति का, करुण रस के साथ प्रथम विषम का, रौद्र के साथ रूपक का, वीर के साथ उत्प्रेक्षा का, भयानक के साथ उत्प्रेक्षा एव अतिशयोक्ति का (सङ्कर-रूप मे), बीभत्स के साथ विभावना का, अद्भुत के साथ सम्भावना का तथा शान्त के साथ भेदकातिशयोक्ति का सम्बन्ध माना गया है।[१] किसी रस के साथ विशेष अलङ्कार का सम्बन्ध मानना युक्तिसङ्गत नही। अलङ्कार शब्दार्थ के अनियत धर्म है। अत, सभी अलङ्कार शब्दार्थ के सौन्दर्य की वृद्धि कर रसोपकारक हो सकते है। वे रस के बाधक भी हो सकते है और तटस्थ भी। रस और अलङ्कार के पारस्परिक सम्बन्ध पर हमने अपरत्र विचार किया है।

प्रताप साहि

'व्यङ्ग्यार्थ कौमुदी' मे प्रतापसाहि ने प्रसङ्गात् अलङ्कारो का भी वर्णन कर दिया है। इसमे पूर्ववर्णित अलङ्कारो का सक्षिप्त परिचय-मात्र दिया गया है।

कृष्ण भट्ट

'अलङ्कार-कलानिधि' मे कृष्ण भट्ट ने परम्परागत काव्यलङ्कारो का ही लक्षण-निरूपण किया है। सटीक और सुन्दर उदाहरणो के चयन मे ही उनकी मौलिकता है।

बलवान सिंह

आचार्य बलवान सिह ने 'चित्र चन्द्रिका' मे केवल चित्रालङ्कारो का विशद वर्णन किया है। चित्र का विवेचन तो सस्कृत-अलङ्कार-शास्त्र मे ही स्वतन्त्र रूप से होने लगा था, पर चित्र का इतना विस्तृत विवेचन करने वाला स्वतन्त्र ग्रन्थ संस्कृत में नही लिखा गया था। यह ठीक है कि सस्कृत के आचार्यो ने भी चित्र के अनन्त भेदों की सम्भावना स्वीकार की थी। पद्म, मुरज, खड्ग आदि कुछ चित्र-बन्धो का वर्णन कर सस्कृत आचार्यों ने वैसे ही अन्य बन्धों की कल्पना सम्भव मानी थी। बलवान सिह ने उन सङ्केत-सूत्रों का सहारा

१. द्रष्टव्य—राय शिवप्रसाद, रसभूषण, पृ० ६४-६६

लेकर अनेक नये बन्धो की कल्पना कर ली है। मम्मट आदि आचार्यो ने चित्र के शब्द-चित्र तथा अर्थ-चित्र, दो भेद माने थे। बलवान सिह ने दोनों के सङ्कर से सङ्कर-चित्र की भी कल्पना की है।[1]

ईश्वर कवि

ईश्वर कवि-रचित 'चित्रचमत्कृतकौमुदी', जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, केवल चित्रालङ्कार पर लिखित पुस्तक है। ईश्वर कवि के अनुसार चित्र के दो भेद है—(क) श्रौती, जिनका सम्बन्ध सुनने से है तथा (ख) दृष्टि, जिनका सम्बन्ध देखने से।[2] ईश्वर कवि ने चित्रालङ्कारो का सक्षिप्त परिचय मात्र दिया है।

रणधीर सिह

रणधीर ने 'काव्यरत्नाकर' मे अपनी रचना का आदर्श 'चन्द्रालोक', तथा 'काव्यप्रकाश' के अतिरिक्त भाषा के अन्य ग्रन्थो को बताया है।[3] डॉ० भगीरथ मिश्र के अनुसार उक्त ग्रन्थ मे अलङ्कारो का विवेचन 'चन्द्रालोक' के आधार पर किया गया है।[4]

गिरधर दास

गिरधर दास ने 'भारतीभूषण' मे 'कुवलयानन्द' मे निरूपित अलङ्कारो का निरूपण किया है। उपमा-वाचक शब्दो के दो वर्ग गिरधर ने माने है—मूलशब्द तथा इतर,[5] पर इस कल्पना मे कोई नवीनता नही। दण्डी आदि के द्वारा गिनाये वाचक शब्दो को ही उक्त दो वर्गों में प्रस्तुत किया गया है। आचार्य मम्मट ने श्रौती तथा आर्थी उपमा के लिए अलग-अलग वाचक शब्द गिनाये है। गिरधर दास उसी मान्यता से प्रभावित है।

---

१. अब शब्दचित्र बखानु पुनि अर्थ चित्र हि जानु।
सकर सुचित्र हि मानु, त्रय भेद चित्र हि आनु॥
—बलवानसिह, चित्रचन्द्रिका, ५ पृ० ३

२. सोई पुनि द्वै बिधि जानि मैं स्रौती द्रष्टि ठानि।
स्रौती सुनतहि सुष बढत द्रष्टि देषत मानि॥
—ईश्वर कवि, चित्रचमत्कृत कौमुदी, ५, पृ० १

३. द्रष्टव्य—रणधीर सिह, काव्यरत्नाकर, उद्धृत भगीरथ मिश्र, हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० १६७

४. द्रष्टव्य—भगीरथ मिश्र, हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० १६७

५. द्रष्टव्य—गिरधर दास, भारतीभूषण, पृ० २

प्रताप साहि

'व्यङ्ग्यार्थ कौमुदी' मे प्रताप साहि ने नायिका-भेद के साथ अलङ्कार का वर्णन किया है। अलङ्कार के क्षेत्र मे नव-चिन्तन प्रताप साहि का उद्देश्य नही था। उनका उद्देश्य था, एक साथ नायिका-भेद, व्यङ्ग्यार्थ तथा अलङ्कारो का वर्णन।

अमीर दास

'श्रीकृष्ण-साहित्य-सिन्धु' के पञ्चम तरङ्ग मे अमीर दास ने शब्दालङ्कारो का वर्णन किया है। चित्र का एक घड़ी-बन्ध भेद इसमे कल्पित है।[1] उनके शब्दार्थालङ्कारों के विवेचन पर आचार्य मम्मट का प्रभाव है।

निहाल

अमीर दास की तरह निहाल ने भी ब्रजभाषा को पजाबी लिपि मे लिखा है। ब्रजभाषा तथा पजाबी लिपि मे लिखित 'साहित्यशिरोमणि' की रचना का आधार उन्होने स्वय 'काव्यप्रकाश' को माना है।[2]

दामोदर

दामोदर अलङ्कारो की सख्या को परिमित करने के पक्षपाती थे। अत, उन्होने 'अर्थालङ्कार-मञ्जरी' मे केवल छत्तीस अर्थालङ्कारो का विवेचन किया है। वे शेष अलङ्कारो का अन्तर्भाव उन्ही छत्तीस मे मानते थे।[3]

ग्वाल

ग्वाल ने 'अलङ्कार-भ्रमभञ्जन' में खण्डन-मण्डन की पद्धति से अलङ्कार-विषयक मान्यताओं का परिष्कार करने की चेष्टा की थी। उन पर 'काव्य-प्रकाश', 'चन्द्रालोक' आदि का प्रभाव स्पष्ट है।

कवि दास

कवि दास ने 'अलङ्कार-माला' मे परम्परा से वर्णित अलङ्कारो का ही वर्णन किया है। वे भाषा-कवि मे आचार्य केशव की धारणा से प्रभावित थे। गद्य मे अलङ्कारो का विवेचन दास कवि ने स्पष्टता से किया है।

---

१. द्रष्टव्य—अमीर दास, श्रीकृष्ण साहित्य-सिन्धु, पृ० १६९

२. मम्मट मत जे काव्य के कछु पदारथ चिह्न।
ग्रन्थ बाध पूरन करयो कवि निहाल मतिहीन॥
—निहाल, साहित्यशिरोमणि, ३३६

३ इन मे, आवत दौर त्यौ सब सरिता सिन्धु मे।
—दामोदर, अर्थालङ्कारमञ्जरी, पृ० १

निष्कर्ष

अलङ्कार-क्षेत्र मे मौलिक उद्भावना की दृष्टि से हिन्दी-अलङ्कारशास्त्र के अध्ययन से निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैः—

(१) सस्कृत-अलङ्कार-शास्त्र मे प्रतिपादित अलङ्कार-सिद्धान्तो का सार लेकर ही अधिकाश हिन्दी-आचार्यो ने अलङ्कार-निरूपण किया है। कारण स्पष्ट है। हिन्दी-अलङ्कार-साहित्य का आरम्भ सस्कृत-साहित्य के अलङ्कार-चिन्तन के प्रायः अवसान-काल मे हुआ था। 'चन्द्रालोक' तथा उस पर आधृत 'कुवलयानन्द' के बाद सस्कृत-साहित्य मे भी अलङ्कार-विषयक उद्भावनाएँ नगण्य ही हुई। अप्पय्य के उपरान्त प्राय उन्ही के मान्य अलङ्कारों का लक्षण-निरूपण पण्डितराज जगन्नाथ के पूर्व तक किसी-न-किसी रूप मे होता रहा। कुछ दिनो तक सस्कृत और हिन्दी मे अलङ्कार ग्रन्थों का निर्माण समानान्तर चलता रहा। पण्डितराज जगन्नाथ ने अप्पय्य दीक्षित के अलङ्कार-सिद्धान्त पर तर्क के तीक्ष्ण कुठार का आघात किया। फिर भी, उनके परवर्ती हिन्दी आचार्यो ने पण्डितराज जगन्नाथ की दुर्बोध खण्डन-मण्डन की शैली की अपेक्षा अप्पय्य की सुगम अलङ्कार-निरूपण-पद्धति को ही अनुसरणीय माना। अप्पय्य के 'कुवलयानन्द' को आदर्श मान कर जसवन्त सिह ने 'भाषा-भूषण' की रचना की और हिन्दी के अधिकाश आचार्यो ने उसी मार्ग का अनुगमन किया। मम्मट, विश्वनाथ आदि के अलङ्कार-सिद्धान्त के अनुकरण पर भी हिन्दी मे अलङ्कार-ग्रन्थो की रचना हुई है। अनेक हिन्दी आचार्यों ने दण्डी आदि प्राचीन आचार्यों का प्रभाव भी ग्रहण किया है।

(२) सस्कृत-आचार्यो के अलङ्कार-लक्षण को बहुलाशतः स्वीकार करने पर भी हिन्दी-आचार्यो ने स्वतन्त्र रूप से कुछ नवीन अलङ्कारो की कल्पना की है। हिन्दी-अलङ्कार-साहित्य मे उद्भावित अलङ्कार उद्भावक-क्रम से निम्नलिखित है—

केशव—(१) गणना, (२) प्रेम, (३) अमित, (४) युक्त, (५) सुसिद्ध, (६) प्रसिद्ध तथा (७) विपरीत।

जसवन्त सिंह—(१) लेख (लेश का अपर पर्याय) तथा (२) **चित्र** (**उत्तर का चित्रोत्तर भेद, गूढोत्तर से स्वतन्त्र अस्तित्ववान् कल्पित; वस्तुतः कोई नवीन नहीं**)।

मतिराम—अपह्नुति का छलापह्नुति भेद (कैतवापह्नुति का पर्याय), उत्प्रेक्षा का गुप्तोत्प्रेक्षा भेद (गम्योत्प्रेक्षा का अपर नाम)।

भूषण—(१) सामान्य-विशेष, (२) पूर्वावस्था, (३) विपरीत (नाम प्राचीन पर स्वरूप नवीन)।

देव—(१) गुणवत्, (२) सङ्कीर्ण, (३) प्रत्युक्ति।

अलङ्कार के भेद—यमक-भेद—सिहावलोकन, उपमा-भेद—स्वभाव, योग, सङ्कीर्णभाव, उचित, प्रतिकार, उल्लेख, आक्षेप, गर्व आदि।

रघुनाथ—प्रेमात्युक्ति नामक अत्युक्ति भेद।

भिखारी दास—(१) वीप्सा (शब्दालङ्कार) और (२) स्वगुण। दीपक-भेद—देहरीदीपक, अतिशयोक्ति का उपमातिशयोक्ति, उत्प्रेक्षातिशयोक्ति आदि।

रसरूप—(१) धन्यता तथा (२) निर्णय।

बैरीसाल—प्रमाणालङ्कार-भेद—पुराण, आगम, आचार तथा आत्म-तुष्टि प्रमाण।

इस प्रकार हिन्दी-रीति-शास्त्र मे निम्नलिखित नवीन अलङ्कारों की कल्पना की गयी है, जिनके स्वरूप मौलिकता की दृष्टि से परीक्ष्य है—गणना, प्रेम, अमित, युक्त, सुसिद्ध, प्रसिद्ध, विपरीत (दो रूप केशव तथा भूषण के द्वारा कल्पित, विपरीत नाम्ना एक होने पर भी स्वरूपतया अलग-अलग हैं। अत, हिन्दी मे विपरीत नाम से वस्तुत दो अलङ्कारो की कल्पना की गयी है।), सामान्यविशेष, पूर्वावस्था, गुणवत्, सङ्कीर्ण (सस्कृत-आचार्यो के ससृष्टि-सङ्कर-रूप सङ्कीर्ण से भिन्न), प्रत्युक्ति, वीप्सा, स्वगुण, धन्यता तथा निर्णय।

लेख लेश का तथा चित्र चित्रोत्तर का अपर पर्याय-मात्र है। पुराण, आगम आदि प्रमाण शब्द-प्रमाण से भिन्न नही। आचार तथा आत्मतुष्टि प्रमाण की धारणा नवीन नही।

अलङ्कारो के तत्तत् नवीन भेदो की कल्पना विभिन्न अलङ्कारो की धारणा को मिला कर की गयी है। उदाहरणार्थ—उल्लेखोपमा, आक्षेपोपमा, उपमातिशयोक्ति, उत्प्रेक्षातिशयोक्ति आदि तत्तदलङ्कार-भेद द्रष्टव्य है। यमक का सिहावलोकन भेद नाम्ना नवीन अवश्य है; पर उसका स्वरूप मम्मट आदि के पाद यमक (आद्यन्त भेद) से अभिन्न है। प्रेमात्युक्ति मे भी प्रेमभाव की

अत्युक्ति की कल्पना है। विभिन्न भावो के साथ अलङ्कार के योग का तथा विभिन्न अलङ्कारो के योग का नवीन-नवीन नामकरण होने से अलङ्कार के असख्य भेद हो जायेंगे। ऐसे भेदो की कल्पना मे चिन्तन की मौलिकता की नही, अनावश्यक भेदीकरण से नवीनता-प्रदर्शन की प्रवृत्ति का परिचय मिलता है।

उपरिलिखित नवीन अलङ्कारो मे से—

(अ) कुछ तो चमत्कार का अभाव होने से अलङ्कार ही नही है—गणना, सुसिद्ध, प्रसिद्ध, (केशव का) विपरीत।

(आ) कुछ का सम्बन्ध रस-भाव या चरित्र से है। अत:, उन्हे अलङ्कार की सीमा मे परिमित कर देना उचित नही—प्रेम आदि।

(इ) कुछ अलङ्कारो का प्राचीन अलङ्कारो मे अन्तर्भाव सम्भव है—पूर्वावस्था तथा स्वगुण का पूर्वरूप मे, गुणवत् का तद्गुण मे, प्रत्युक्ति का प्रश्नोत्तर मे, सङ्कीर्ण का शोभाकर के तन्त्र मे अन्तर्भाव सम्भव है।

(ई) कुछ प्राचीन धारणा को अलङ्कार मान लिया गया है। अत, अलङ्कार-रूप मे उसकी स्वीकृति-मात्र नवीन है—वीप्सा की धारणा व्याकरण मे प्राचीन काल से प्रचलित थी। वीप्सा मे शब्द का दो बार प्रयोग व्याकरण-सम्मत है। इसे स्वतन्त्र अलङ्कार माना गया है। अनुप्रास आदि में यह अन्तर्भूत है।

(उ) कुछ के स्वरूप की कल्पना पूर्वाचार्यो के एकाधिक अलङ्कारो की धारणा के योग से की गयी है—युक्त मे स्वभावोक्ति और सम के स्वभाव का मिश्रण है। भूषण का विपरीत आधाराधेय भाव के साथ प्रतीप-धारणा के योग से कल्पित है।

(ऊ) प्राचीन अलङ्कार के ही किसी भेद को अन्य नाम से या उसी नाम से स्वतन्त्र अलङ्कार मान लिया गया है—सामान्यविशेष अप्रस्तुतप्रशसा का एक भेद है, जो नाम-भेद से स्वतन्त्र अलङ्कार मान लिया गया है। चित्र चित्रोत्तर का एक भेद है जो उसी नाम से स्वतन्त्र अलङ्कार बन गया है।

(३) हिन्दी-रीति-शास्त्र के आचार्यों ने कुछ प्राचीन अलङ्कारो के नवीन अभिधान का भी प्रयोग किया है। ऐसा कही-कही तो सकारण हुआ है, पर कही-कही अकारण। उदाहरणार्थ—कारणमाला की जगह उसी के प्राचीन लक्षण से गुम्फ शब्द लेकर 'गुम्फ' नाम का प्रयोग तथा कारण का पर्यायवाची शब्द लेकर हेतुमाला संज्ञा का प्रयोग; इसी प्रकार सार की परिभाषा से

'उत्तरोत्तर' शब्द लेकर उसका उत्तरोत्तर नामकरण, अन्योन्य के स्थान पर परस्पर अभिधान का प्रयोग, सन्देह तथा स्मृति के लिए, भ्रान्तिमान् के सादृश्य पर क्रमश. सन्देहवान् तथा स्मृतिमान् व्यपदेश का प्रयोग अकारण है। सम्भव है कि नवीनता-प्रदर्शन के लिए ऐसा किया गया हो।

व्याजस्तुति का व्याज-उक्ति नामकरण है तो सकारण; पर वह भ्रमोत्पादक भी हो गया है। व्याजस्तुति नाम मे हिन्दी-आचार्यो को केवल व्याज से की जाने वाली स्तुति के अर्थ का बोध कराने की शक्ति जान पडी। उसमे स्तुति के व्याज से की जाने वाली निन्दा में अव्याप्ति समझ कर उसका नाम व्याज-उक्ति कर दिया गया। इस प्रकार इस नाम-परिवर्त्तन से एक समस्या तो उन्होने सुलझायी, पर दूसरी विकट उलझन आ पडी। प्राचीन, आचार्यो की व्याजोक्ति की भी सत्ता उन्होने स्वीकार की है। परिणामत, दो अलङ्कारों का एक ही नाम हो गया, जो अवैज्ञानिक है।

(४) हिन्दी मे चित्र अलङ्कार का व्यापक और स्वतन्त्र वर्णन हुआ है। कई स्वतन्त्र ग्रन्थो मे केवल चित्र के ही विविध रूपों की कल्पना की गयी है। अत., हिन्दी मे अनेक नवीन बन्धो की कल्पना हुई है। चित्र मे विशेष रुचि साहित्यिक रुचि की विकृति का परिचायक है, जो हिन्दी-रीतिकाल की विकृत सामाजिक दशा की दुर्वार साहित्यिक परिणति थी। तत्कालीन राज-दरबारो मे कवि दूरारूढ कल्पना से, मानसिक व्यायाम से, श्रोता को चमत्कृत करने का प्रयास करते थे। अत चित्रकाव्य का, जिसका उद्देश्य ही क्रीडा-गोष्ठी-विनोद होता है, रीतिकाल मे विकास हुआ और अलङ्कार-शास्त्र में उसका विशद विवेचन किया गया। चित्रो के विविध भेदो की कल्पना की सम्भावना प्राचीन आचार्यो ने भी स्वीकार की थी।

(५) केशव का अमित अलङ्कार मौलिक है और उसकी उद्भावना का श्रेय उन्हे मिलना चाहिए।

(६) हिन्दी-अलङ्कार-शास्त्र मे अलङ्कार के क्षेत्र मे विशेष महत्त्वपूर्ण उद्भावना नही हो पायी।

चतुर्थ अध्याय

अलङ्कारों का वर्गीकरण

काव्यालङ्कारों के विकास के साथ उनके वर्गीकरण की आवश्यकता अनुभूत हुई। भरत के चार अलङ्कारो ने शताधिक अलङ्कारो की कल्पना का द्वार खोला। लक्षण, गुण आदि काव्य-तत्त्वो के योग से नवीन-नवीन अलङ्कार आविर्भूत होने लगे। उक्तियों मे थोडे-थोडे भेद के आधार पर समान अलङ्कार से अनेक स्वतन्त्र अलङ्कारों की कल्पना की जाने लगी। एक उपमा शैलूषी ने ही कितने रूप धारण किये! एक अलङ्कार के सादृश्य या विपर्ययात्मक रूप के आधार पर दूसरे अलङ्कार का उद्भावन हुआ। इस प्रकार अलङ्कार के एक सयोजक तत्त्व से अनेक अलङ्कार बने और वैपरीत्य के आधार पर अलङ्कार के नये सयोजकों की भी कल्पना की गयी। साधर्म्य के साथ वैधर्म्य भी अलङ्कार का विधायक बना। शृङ्खला आदि नवीन तत्त्वो के आधार पर भी अनेक अलङ्कारो की कल्पना की गयी। इसलिए, काव्य के अलङ्कारो का विभिन्न वर्गो मे विभाजन आवश्यक जान पडा। अलङ्कारो के आश्रयभूत शब्द और अर्थ के आधार पर अलङ्कारो के दो स्थूल विभाग तो अलङ्कार-धारणा के आरम्भिक काल से ही स्पष्ट हो चुके थे; पर अनेक नवीन अलङ्कारो की स्वीकृति के साथ अर्थालङ्कार के वर्ग-विभाजन की भी आवश्यकता हुई। कुछ आचार्यो ने शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार के अतिरिक्त उभयालङ्कार की भी कल्पना की है। एकाधिक अलङ्कारों के एकत्र सद्भाव में मिश्रालङ्कार भी स्वीकृत है। शब्दालङ्कारो के वर्ग-विभाजन की न तो आवश्कता हुई और न उसमें अधिक कठिनाई है। कारण है, उनकी सख्या की परिमिति। हाँ, वक्रोक्ति को शब्दालङ्कार माना जाय या अर्थालङ्कार, इस

सम्बन्ध मे दो मत अवश्य रहे है। उभयालङ्कार की सत्ता मानने के प्रश्न पर भी आचार्यो मे मतैक्य नही। अलङ्कारों के एकत्र सद्भाव के संसृष्टि और सङ्कर, दो ही रूप है। अत, उनके वर्गीकरण में भी कोई समस्या नही। समस्या है केवल अर्थालङ्कारो के वर्गीकरण की। संस्कृत तथा हिन्दी के अनेक सशक्त आलङ्कारिको ने अलङ्कारो के वर्गीकरण का प्रयास किया है, फिर भी वह समस्या पूर्णत: सुलभ नही पायी। इसका कारण स्पष्ट है। रुद्रट, रुय्यक-जैसे अलङ्कार-शास्त्र के उद्भट व्याख्याताओं की शक्ति मे तो सन्देह नही किया जा सकता, पर अलङ्कार-वर्गीकरण मे उनकी सीमा भी स्पष्ट है। उन आचार्यों ने अपने स्वीकृत अलङ्कारो का ही वर्गीकरण प्रस्तुत किया है, जो स्वाभाविक ही है। आज केवल वे ही अलङ्कार स्वीकृत नही है, जो उन आचार्यो द्वारा निरूपित थे। परवर्ती आचार्यों के द्वारा कल्पित कुछ नवीन अलङ्कार भी स्वीकृत है। अत, आधुनिक पाठको को उन नवीन अवर्गीकृत अलङ्कारो के वर्गीकरण मे कठिनाई हो सकती है। पिछले अध्याय मे हम देख चुके है कि अलङ्कार के सम्बन्ध मे आचार्यो के दृष्टि-भेद से अलङ्कार की सख्या मे बहुत भेद रहा है। केवल सस्कृत-अलङ्कार-शास्त्र मे ही लगभग दो सौ अलङ्कारो की कल्पना की गयी। हिन्दी में भी अठारह-उन्नीस नवीन अलङ्कारो की कल्पना की गयी। ये सभी अलङ्कार स्वीकार्य ही हों, यह बात नही। बीच-बीच मे अलङ्कारों की सख्या के नियमन-सयमन की भी चेष्टा होती रही। वामन, कुन्तक आदि के प्रयास इस दृष्टि से विचारणीय है। यों तो वाग्विकल्प के अनन्त भेदों के आधार पर अलङ्कार के अनन्त भेदों की सम्भावना आनन्दवर्धन के द्वारा, उक्ति-भेद की अनन्तता के आधार पर अलङ्कारों की अनन्तता की सम्भावना दण्डी के द्वारा और हृदयावर्जक या अलङ्क्रन अर्थ की व्यापकता के आधार पर अलङ्कारों की व्यापकता रुद्रट के द्वारा स्वीकृत है; पर असख्य अलङ्कार-भेदो को प्रमुख अलङ्कार-रूपो मे परिमित और परिभाषित करना अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से उपयोगी है। अनन्त उक्ति-भेद मे अनन्त अलङ्कार का सद्भाव मान लेने-मात्र से अलङ्कार की स्पष्ट धारणा नही बन सकती। अलङ्कार-विषयक संख्या-भेद का प्रमुख कारण यह है कि कुछ आचार्यो ने अलङ्कार और अलङ्कार्य का स्पष्ट भेद स्वीकार किया, तो अन्य आचार्यों मे वह भेद उपेक्षित हो गया। कुछ आचार्यो ने केवल साधर्म्यमूलक अलङ्कारों की सत्ता स्वीकार की, तो अन्य आचार्यों ने अन्य चमत्कार-जनक उक्तियो को भी अलङ्कार माना। कुछ अलङ्कारवादी आचार्यों

ने रस-भाव आदि को भी अलङ्कार की सीमा मे समेट लिया। अलङ्कार-विषयक इस दृष्टि-भेद के कारण अलङ्कारो के त्याग-ग्रहण का क्रम चलता रहा। इसीलिए, किसी एक आचार्य ने सवा सौ से अधिक अलङ्कार स्वीकार नही किये, पर सभी कल्पित अलङ्कारो की सख्या प्राय· दो सौ तक चली गयी। अलङ्कारो के वर्गीकरण के लिए स्वीकार्य अलङ्कारो का निर्धारण होना चाहिए और तब वर्गीकरण के ऐसे आधार का निर्णय होना चाहिए, जिसमे सभी स्वीकृत अलङ्कारो का वर्ग-विभाजन सम्भव हो सके।

अलङ्कारों का विभाजन कई दृष्टियो से सम्भव है। प्रस्तुत अध्याय में हम सस्कृत एवं हिन्दी-अलङ्कार-शास्त्र के आचार्यो के अलङ्कार-वर्गीकरण की परीक्षा कर सभी स्वीकार्य अलङ्कारो के वर्गीकरण का प्रयास करेंगे।

आश्रय के आधार पर अलङ्कारो के वर्गीकरण की बात आचार्यो के मन मे सबसे पहले आयी। आचार्य भरत के यमक-लक्षण मे—शब्दाभ्यास में—शब्दालङ्कारत्व की धारणा निहित थी। भामह, दण्डी आदि ने शब्द और अर्थ के अलङ्कारो का पृथक्-पृथक् विवेचन कर दोनो के स्वतन्त्र वर्ग स्पष्ट कर दिये। कुछ आचार्यो ने शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार के साथ उभयालङ्कार की भी कल्पना की। उभयालङ्कार को शब्दार्थालङ्कार भी कहा गया है। कुछ आचार्यो ने मिश्रालङ्कार की भी चर्चा की है। उभयालङ्कार और मिश्रालङ्कार की धारणा सर्वसम्मत नही है। हाँ, अनेक अलङ्कारो के, सङ्कर और ससृष्टि रूप मे—अङ्गाङ्गिभाव तथा परस्पर स्वतन्त्र भाव से—एकत्र सद्भाव की कल्पना सर्वमान्य हुई है। सङ्कर और ससृष्टि की गणना अलङ्कार के रूप मे होती रही है, पर वस्तुतः वे अलङ्कार नही, अनेक अलङ्कारो की एक आश्रय मे स्थिति की विभिन्न प्रक्रिया-मात्र है। इन्हे सङ्कीर्ण भी कहा जाता है। सङ्कीर्ण या ससृष्टि-सङ्कर मे अलङ्कारो का वर्गीकरण न तो सम्भव है और न आवश्यक ही। एक आश्रय मे कोई भी दो या उससे अधिक अलङ्कार परस्पर निरपेक्ष या परस्पर सापेक्ष रूप मे रह सकते है। अत. शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार, उभयालङ्कार तथा मिश्रालङ्कार-वर्गों मे अलङ्कार-विभाग परीक्षणीय है।

सस्कृत के प्रामाणिक आलङ्कारिको ने शब्द और अर्थ के आधार पर ही दो वर्गो मे काव्यालङ्कारो का विभाजन किया है। भोज और अग्नि-पुराणकार ने उभयालङ्कार की कल्पना की तो विद्यानाथ ने शब्दालङ्कार एवं अर्थालङ्कार के साथ मिश्रालङ्कार-वर्ग मान लिया। भोज और

अग्निपुराणकार की उभयालङ्कार-धारणा तथा विद्यानाथ की मिश्रालङ्कार-धारणा का औचित्य विचारणीय है।

'अग्निपुराण' मे यह मान्यता प्रकट की गयी है कि ऐसे अलङ्कार जो शब्द और अर्थ को एक साथ विभूषित करते हो, उभयालङ्कार कहे जाते है। उदाहरण से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। उभयालङ्कार की स्थिति 'अग्निपुराण' मे उस हार के समान मानी गयी है, जो एक साथ वक्ष और ग्रीवा, दोनो को अलङ्कृत करता है। स्पष्टतः, अग्निपुराणकार ने उभयालङ्कार का अभिप्राय समन्वित रूप से शब्द और अर्थ, दोनो को अलङ्कृत करने वाले अलङ्कारो से माना था। ये उभयालङ्कार स्वतन्त्र शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार के एकत्र सन्निवेश की स्थिति से—जैसा कि ससृष्टि और सङ्कर मे होता है—सर्वथा भिन्न है। अत , सङ्कर और ससृष्टि को उभयालङ्कार मानने की भ्रान्ति नही होनी चाहिए। ससृष्टि तथा सङ्कर मे एकाधिक अलङ्कार एक ही आश्रय को—दो शब्दालङ्कारो की ससृष्टि केवल शब्द तथा दो अर्थालङ्कारो की ससृष्टि केवल अर्थ को—अलङ्कृत करने वाले हो सकते है; पर इसके विपरीत उभयालङ्कार मे एक ही अलङ्कार दो आश्रयो को—शब्द और अर्थ को अलङ्कृत करता है। 'अग्निपुराण' मे प्रशस्ति, कान्ति, औचित्य आदि को उभयालङ्कार-वर्ग मे रखा गया है, जिनका अलङ्कारत्व ही सन्दिग्ध है।

भोज ने अर्थालङ्कार के रूप मे परम्परा से स्वीकृत उपमा, रूपक आदि अलङ्कारो को उभयालङ्कार-वर्ग मे परिगणित कर उभयालङ्कार की धारणा को ही अस्पष्ट कर दिया है। यदि उपमा आदि की अभिव्यक्ति शब्द और अर्थ; दोनो से मानी जाय, तो भोज के अनेक शब्दालङ्कारो और अर्थालङ्कारो की स्थिति भी इससे भिन्न नही रह जायगी। वस्तुतः, शब्द और अर्थ परस्पर इतने सम्पृक्त है कि दोनो को सर्वथा पृथक् नही किया जा सकता। शब्दालङ्कारों के निर्धारण मे भी तो अर्थ का विचार होता ही है। अर्थ-भेद से शब्दावृत्ति मे तथा तात्पर्य-मात्र-भेद से शब्दावृत्ति में अलग-अलग शब्दालङ्कार के अस्तित्व का निर्णय भी तो अर्थ-विचार की अपेक्षा रखता ही है। समासोक्ति आदि अर्थालङ्कार भी विशेषण-पद पर ही निर्भर है। अत., आचार्यो ने शब्दालङ्कारत्व तथा अर्थालङ्कारत्व के निर्णय का आधार बडी सावधानी से स्थिर किया है। भोज ने शब्द अर्थ के आधार पर अलङ्कार-विभाजन के उस विवेक को अस्पष्ट कर दिया।

प्रहेलिका आदि गूढार्थवाची शब्दों पर अवलम्बित चित्रालङ्कार भी शब्दार्थाश्रित ही है। अतः, शब्द और अर्थ उभय आश्रयो पर एक साथ आश्रित श्लेष, पुनरुक्तवदाभास, वक्रोक्ति तथा प्रहेलिका आदि अर्थ-चित्र को उभयालङ्कार-वर्ग मे परिगणित किया जाना चाहिए। अर्थचित्र मे 'अर्थ' विशेपण का प्रयोग करने पर भी आचार्य मम्मट ने शब्दालङ्कार-निरूपण के सन्दर्भ मे उसका विवेचन किया है। इससे इस मत की पुष्टि होती है कि मम्मट अर्थ-चित्र को शब्द और अर्थ के बीच की स्थिति मे—उभयालङ्कार की स्थिति मे—मानते थे। श्लेष, पुनरुक्तवदाभास, वक्रोक्ति आदि को शब्दार्थाश्रित होने के कारण उभयालङ्कार-वर्ग मे परिगणित करना युक्तिसङ्गत तो है ही, उनके शब्दालङ्कारत्व या अर्थालङ्कारत्व के विषय मे परम्परागत मतभेद को दूर करने की दृष्टि से उपादेय भी है। उभय-सापेक्ष अलङ्कारो मे से प्राधान्य के आधार पर कुछ को शब्दालङ्कार तथा कुछ को अर्थालङ्कार माना गया है।

मिश्रालङ्कार

विद्यानाथ ने शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार के अतिरिक्त अलङ्कार का तीसरा वर्ग, मिश्रालङ्कार-वर्ग, स्वीकार किया है और इस तीसरे वर्ग में ससृष्टि और सङ्कर को रखा है। ससृष्टि और सङ्कर मे अन्य आचार्यो की तरह विद्यानाथ ने भी अनेक शब्दालङ्कारो, अनेक अर्थालङ्कारो तथा कुछ शब्दालङ्कारो और अर्थालङ्कारो का समानाश्रयत्व स्वीकार किया है। विश्वनाथ ने 'साहित्य-दर्पण' मे सङ्कर और ससृष्टि को अलङ्कारो का मिश्रित रूप कहा है। इसलिए उन अलङ्कारो को मिश्रालङ्कार-वर्ग मे रखा गया है। हम इस तथ्य पर विचार कर चुके है कि ससृष्टि और सङ्कर का रूप स्थिर नही किया जा सकता। काव्य का कोई भी अलङ्कार दूसरे अलङ्कार के साथ अङ्गाङ्गिभाव से या परस्पर निरपेक्षभाव से समान आश्रय मे रह सकता है। अतः, सङ्कर और ससृष्टि को शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार से स्वतन्त्र विशेष अलङ्कार नही माना जा सकता। शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार वर्गो मे गिने जाने वाले अलङ्कार ही ससृष्टि और सङ्कर मे रहा करते है। ससृष्टि मे तो एक आश्रय में अनेक अलङ्कार परस्पर स्वतन्त्र भाव से रहा करते है। अतः, अलङ्कारो का मिश्रण भी नही माना जाना चाहिए। सङ्कर का भी अलङ्कार-विशेष के मिश्रण से कोई विशेष प्रकार का स्वरूप निर्धारित नही किया गया है। अतः, उसे भी

स्वतन्त्र अलङ्कार मान कर उसके लिए स्वतन्त्र अलङ्कार-वर्ग की कल्पना आवश्यक नही।

सस्कृत तथा हिन्दी-अलङ्कार-शास्त्र मे दो अलङ्कारो के तत्त्व के मिश्रण से कुछ निश्चित स्वरूप वाले अलङ्कारो की कल्पना की गयी है। उनकी स्थिति ससृष्टि और सङ्कर से भिन्न है। उनमे दो स्वतन्त्र अलङ्कारो के तत्त्व का ग्रहण होने पर भी उनके निश्चित स्वरूप का निर्धारण कर उन्हे स्वतन्त्र अस्तित्व दिया गया है। दीपक और एकावली के तत्त्वो के मिश्रण से माला-दीपक, उपमा और रूपक के तत्त्व से उपमारूपक आदि अलङ्कारो का तथा अपह्नुति और उत्प्रेक्षा के मिश्रण से सापह्नवोत्प्रेक्षा आदि अनेक अलङ्कार-भेदो का अध्ययन मिश्रालङ्कार-वर्ग मे होना चाहिए। मालादीपक आदि का स्वतन्त्र अस्तित्व सस्कृत के समर्थ आलङ्कारिको ने भी माना है। उपमा-रूपक की कल्पना सर्वमान्य नही हुई है; पर हमने पिछले अध्याय मे इस तथ्य पर विचार किया है कि अनेक अलङ्कारो की कल्पना तत्तदलङ्कारो के तत्त्वो के मिश्रण से की गयी है। हमारी मान्यता है कि वैसे मिश्रित स्वभाव वाले अलङ्कारो का अध्ययन ही मिश्रालङ्कार-वर्ग मे किया जाना चाहिए।

उभयालङ्कार से मिश्रालङ्कार का भेद स्पष्ट है। उभयालङ्कार एक साथ शब्द और अर्थ—दोनो पर आश्रित रह कर दोनो को अलङ्कृत करते है, जैसा कि अग्निपुराणकार के कथन से स्पष्ट है। पर, मिश्रालङ्कार मे दो अलङ्कारो के तत्त्व के मिश्रण से नया अलङ्कार-रूप बन जाता है। यह मिश्रण केवल शब्दालङ्कारो के तत्त्व का भी हो सकता है और केवल अर्थालङ्कारो के तत्त्व का भी। शब्द और अर्थ के अलङ्कारों के परस्पर मिश्रण से नवीन अलङ्कार बन सकता है। सङ्कर और ससृष्टि को इस वर्ग मे नही रख कर अलग वर्ग मे रखा जाना चाहिए। कारण यह है कि यदि उन्हे विश्वनाथ, विद्यानाथ आदि के मतानुसार अनेक अलङ्कारो के मिश्रण से बने स्वतन्त्र अलङ्कार[1] मान भी लिया जाय, तो भी विभिन्न अलङ्कारों के तत्त्वो के मिश्रण से आविर्भूत मालादीपक आदि मिश्रालङ्कारो से उनका एक बडा भेद रह जायगा। वह यह कि जहाँ मालादीपक मे दीपक और एकावली, इन दो

---

१. यद्येत एवालङ्कारा: परस्परविमिश्रिता:।
तदा पृथगलङ्कारौ ससृष्टि: सङ्करस्तथा।।
—विश्वनाथ, साहित्य-दर्पण, १०, १२६
विद्यान थ का प्रतापरुद्रयशोभूषण, पृ० ४७२ भी द्रष्टव्य

का ही मिश्रण नियत होने से उस अलङ्कार का स्वरूप निर्धारित है, वहाँ सङ्कर और ससृष्टि मे एक से अधिक किन्ही भी अलङ्कारो के मिश्रण की सम्भावना होने से उनका स्वरूप-निर्धारण सम्भव नही। अत, नियत-स्वभाव तथा अनियत-स्वभाव अलङ्कारो का अध्ययन स्वतन्त्र वर्गो मे किया जाना चाहिए। ससृष्टि और सङ्कर का विवेचन कुछ आचार्यो ने 'सङ्कीर्ण' शीर्पक में किया है। इसलिए अलङ्कारो की ससृष्टि तथा उनके सङ्कर को सङ्कीर्ण अलङ्कार-वर्ग मे रखा जा सकता है। आश्रय-भेद के आधार पर अलङ्कारो के निम्नलिखित पाँच वर्गो की कल्पना की जा सकती है—

१. शब्दालङ्कार-वर्ग
२ अर्थालङ्कार-वर्ग
३ उभयालङ्कार-वर्ग
४ मिश्रालङ्कार वर्ग तथा
५. सङ्कीर्ण अलङ्कार-वर्ग

इन मे प्रथम तीन का विभाजन तो केवल उनके आश्रय-भेद के आधार पर है; पर चौथे और पाँचवे वर्गो की कल्पना का आधार तत्तदलङ्कार-तत्त्वो का मिश्रण है। चौथे वर्ग के अलङ्कारो मे दो अलङ्कारो के मिश्रण से नियत-स्वभाव विशेष अलङ्कार बन जाता है, पर पाँचवे वर्ग मे एक आश्रयगत तत्तदलङ्कारो की विशेष प्रकार की स्थिति का ही अध्ययन किया जाता है।

शब्दालङ्कार :

शब्दालङ्कार मे शब्द का चमत्कार प्रमुख रूप से रहता है। इसमे अर्थ का विचार सर्वथा नही होता हो, यह बात नही। लाटानुप्रास मे तात्पर्य-मात्र के भेद से शब्द और अर्थ, दोनो की आवृत्ति अपेक्षित होती है। यमक मे एक-से शब्द मे अर्थ का भेद रहना आवश्यक माना जाता है। इस प्रकार शब्दालङ्कार मे भी अर्थ का विचार रहता है; पर अर्थालङ्कार से इसका भेद यह है कि यह शब्द पर आश्रित रहता है। फलत, यह अपने आश्रयभूत शब्द का पर्याय-परिवर्त्तन सहन नही कर सकता। अत, अन्वय-व्यतिरेक से यह सिद्ध किया गया है कि किसी शब्द के स्थान पर उसका पर्यायवाची शब्द रख देने पर यदि अलङ्कारत्व नष्ट हो जाता है तो वह शब्दालङ्कार होगा। पर्याय-परिवर्त्तन किये जाने पर भी यदि अलङ्कारत्व नष्ट नही होता तो उसे शब्दालङ्कार नही माना जा सकता।

अर्थालङ्कार

शब्दालङ्कार के विपरीत अर्थालङ्कार शब्द के अर्थ पर आश्रित रहता है। अतः, एक शब्द की जगह उसी अर्थ के वाचक दूसरे शब्द को रख देने पर भी अलङ्कारत्व की हानि नही होती। कारण यह है कि शब्द के पर्याय-परिवर्त्तन किये जाने पर भी अर्थ तो वही रह जाता है। अत, अर्थ मे परिवर्त्तन नही होने के कारण अर्थाश्रित अलङ्कार का उस शब्द-परिवर्त्तन से कुछ नही बिगडता। इसलिए, पर्याय-परिवर्त्तनासहत्व शब्दालङ्कार का तथा परिवृत्तिसहत्व अर्थालङ्कार का व्यावर्त्तक है।

शब्द, अर्थ, शब्दार्थोभय, मिश्र तथा सङ्कीर्ण-वर्गो मे अलङ्कार का विभाजन स्थूल है। इससे किसी अलङ्कार की प्रकृति का पता नही चलता।

सस्कृत तथा हिन्दी के अनेक आचार्यो ने अलङ्कार के मूल-तत्त्वो के आधार पर वर्ग-विभाजन किया है। नीचे हम उन आचार्यो के वर्गीकरण का समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर रहे है।

अलङ्कारो के सख्या-प्रसार के साथ अर्थालङ्कार के व्यावर्तक दो तत्त्वो का प्रथम सङ्केत आचार्य भामह के 'काव्यालङ्कार' मे मिलता है। शब्द और अर्थ के अलङ्कारो का विभाजन तो आचार्य भरत के 'नाट्यशास्त्र' मे ही सङ्केतित था।[१] भरत और भामह के बीच की अवधि मे जिन अर्थालङ्कारो की कल्पना की गयी, उनके दो मूल तत्त्वो का निर्देश आचार्य भामह ने किया है। वे है—वक्रोक्ति तथा स्वभावोक्ति। वक्रोक्ति से भामह का अभिप्राय अतिशयोक्ति का था। इसलिए उन्होने अतिशयोक्ति के सन्दर्भ मे वक्रोक्ति शब्द का उल्लेख किया है। इस प्रकार भामह के पूर्व ही वस्तु के स्वाभाविक वर्णन मे तथा उसके अतिशयपूर्ण कथन मे क्रमशः स्वभावोक्ति-मूलक तथा अतिशयोक्ति या वक्रोक्तिमूलक अलङ्कारो का सद्भाव स्वीकृत था। अलङ्कार के विधायक इन दो मूल तत्त्वो का पता होने पर भी भामह ने उक्त आधार पर अलङ्कारो के वर्ग-विभाजन की आवश्यकता नही समझी। कारण यह है कि अलङ्कार के सम्बन्ध मे उनका दृष्टिकोण स्पष्ट था। वे वक्रोक्ति को अर्थ की चारुता का आवश्यक हेतु मानते थे। अत, उनके अनुसार वक्रोक्ति या अतिशयोक्ति के अभाव मे अलङ्कारत्व की कल्पना ही नहीं की जा सकती।[१] केवल वक्रोक्तिमूलक अलङ्कार ही काव्यालङ्कार

१. द्रष्टव्य—अभिनव गुप्त, लोचन, पृ०

के रूप मे स्वीकार्य है। जिसमे वक्रोक्ति का अभाव था उसके अलङ्कारत्व का भामह ने खण्डन किया। हेतु, सूक्ष्म तथा लेश के अलङ्कारत्व को अस्वीकार करने का यही रहस्य है।[1] स्वभावोक्ति अलङ्कार का उल्लेख कर भामह ने कहा है कि कुछ लोगो ने स्वभावोक्ति को भी अलङ्कार माना है।[2] स्पष्ट है कि स्वभावोक्ति का अलङ्कारत्व भामह को मान्य नही था। भामह के द्वारा स्वीकृत सभी अलङ्कार वक्रोक्तिमूलक ही थे। इसलिए उनके सामने वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति-वर्गो मे अलङ्कार के विभाजन का प्रश्न नही था; पर स्वभावोक्ति आदि के उल्लेख से यह स्पष्ट है कि भामह अपने पूर्ववर्ती अज्ञातनाम आचार्यो के द्वारा निरूपित ऐसे अलङ्कारो के स्वरूप से भी परिचित थे, जिनका मूलभूत तत्त्व वक्रोक्ति या अतिशयोक्ति नही, वरन् स्वभावोक्ति था। स्वभावोक्ति तथा स्वभाव-कथन-मूलक अन्य अलङ्कारो के अलङ्कारत्व का प्रश्न विवादग्रस्त रहा है। भामह के उत्तरवर्ती वक्रोक्ति-वादी आचार्य कुन्तक ने स्वभावोक्ति आदि के अलङ्कारत्व के खण्डन के लिए तर्क के तीक्ष्ण अस्त्र का प्रयोग किया; फिर भी अलङ्कार-शास्त्र की परम्परा मे स्वभावोक्ति का अलङ्कारत्व स्वीकार किया जाता रहा। इतना ही नही, कुछ आचार्यो ने स्वभावोक्ति को काव्यालङ्कार मे प्रथम स्थान देने का भी प्रयास किया है।[3] यह तो वस्तुत. स्वभावोक्ति के प्रति अतिगामी पक्षपात है; फिर भी सस्कृत तथा हिन्दी-अलङ्कार-शास्त्र की सुदीर्घ परम्परा मे स्वीकृत स्वभावोक्ति-जैसे अलङ्कार के अलङ्कारत्व पर आधुनिक अलङ्कार-शास्त्र का छात्र सन्देह नही करता। परम्परागत मान्यता स्वतः ही प्रमाण बन जाती है।

स्वभावोक्ति को तो अलङ्कार-रूप मे स्वीकृति मिली ही—पीछे चल कर अनेक ऐसे अलङ्कार स्वीकृत हुए है, जिनके मूल में वस्तुरूप का स्वाभाविक वर्णन रहता है। तद्गुण, मीलित, अनुगुण, उदात्त, भाविक, भाविकच्छवि, अनुमान प्रमाण आदि अलङ्कारो के मूल मे वस्तु-स्वभाव कथन ही है। ऐसे अलङ्कारो की सख्या अब इतनी अधिक हो गयी है कि इन्हे स्वभावोक्ति के स्वतन्त्र वर्ग मे वर्गीकृत करने की आवश्यकता है। स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति

---

१. भामह, काव्यालङ्कार, २, ८५
२. वही, २, ८६
३. वही, २, ९३



या अतिशयोक्ति के मूल-तत्त्वो के आधार पर अर्थालङ्कारो के दो प्रमुख वर्गों की कल्पना की जा सकती है।

अर्थालङ्कारो का विभाजन आचार्यों ने वाच्य और प्रतीयमान वर्गो मे भी किया है। विद्यानाथ ने भी प्रतीयमान वास्तव, प्रतीयमान औपम्य आदि वर्गों मे ऐसे अलङ्कारो को रखा है, जिनमे अर्थ प्रतीयमान रहते है।[1] अपह्नुति, उत्प्रेक्षा आदि के वाच्य और गम्य-भेद किये गये है। इस प्रकार एक ही अलङ्कार वाच्य भी होता है और गम्य भी। वाच्य और व्यङ्ग्य या प्रतीयमान वर्गो मे अलङ्कार-विभाजन मे सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि व्यङ्ग्य तथा वाच्य पर आश्रित अलङ्कार पृथक्-पृथक् नही है। डॉ० ओम्प्रकाश शर्मा ने अपने शोध-प्रबन्ध मे व्यङ्ग्य और अव्यङ्ग्य वर्गो मे अलङ्कारो के विभाजन का प्रयास किया है, पर वे इस क्षेत्र मे कोई नवीन स्थापना नही कर सके। उन्हे उक्त दो शीर्षो मे विभाजन के क्रम मे प्राचीन आचार्यों के द्वारा निर्धारित सादृश्यमूलक, विरोधमूलक, शृङ्खलामूलक आदि उपवर्गो का सहारा लेना ही पडा है। उलटे नवीन स्थापना के मोह मे उन्होने कुछ भ्रान्त वर्गीकरण भी कर दिया है। उत्प्रेक्षा आदि को उन्होने केवल व्यङ्ग्य-मूलक अलङ्कार-वर्ग मे रखा है।[2] उत्प्रेक्षा गम्या भी होती है, पर उसके वाच्य-भेद को व्यङ्ग्यमूलक अलङ्कार-वर्ग मे रखने में क्या औचित्य हो सकता है ?

रुद्रट, रुय्यक आदि आचार्यो ने अर्थालङ्कार के कुछ मूल तत्त्वो के आधार पर अलङ्कार का वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। उनकी अलङ्कारवर्ग-धारणा परीक्ष्य है।

रुद्रटकृत वर्गीकरण

काव्यालङ्कार को तत्तदलङ्कार-तत्त्वों के आधार पर वर्गीकृत करने का प्रयास आचार्य रुद्रट ने किया। उनके पूर्व अलङ्कारो के विधायक तथा व्यावर्त्तक वक्रोक्ति, सादृश्य आदि तत्त्वो का निर्देश अवश्य मिलता है; पर उन मूलभूत तत्त्वो के आधार पर अलङ्कारो के वर्गों की कल्पना नही की गयी थी। उद्भट ने 'काव्यालङ्कारसारसग्रह' मे अलङ्कारो को छह वर्गो मे अवश्य

१. अर्थालङ्काराणा चातुर्विध्यम्। केचित् प्रतीयमानवास्तवः केचित् प्रतीयमानौपम्याः। केचित् प्रतीयमानरसभावादयः। केचिदस्फुटप्रतीयमाना इति।—विद्यानाथ, प्रतापरुद्रयशोभूषण, पृ० ३३७

२. ओम्प्रकाश शर्मा, रीतिकालीन अलङ्कार-साहित्य, पृ० ४६६

प्रस्तुत किया है, पर उनके वर्ग-विभाग का कोई स्पष्ट आधार नही। अलङ्कार के मूल-तत्त्व के आधार पर तो वह वर्ग-विभाजन नही ही माना जा सकता—वह शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार के स्थूल विभाग के आधार पर भी विभाजित नही है। प्रथम वर्ग मे ही शब्दालङ्कार के साथ उपमा, रूपक, दीपक तथा प्रतिवस्तूपमा अर्थालङ्कारो को प्रस्तुत किया गया है। यह ठीक है कि आचार्य उद्भट ने पुनरुक्तवदाभास, अनुप्रास आदि से अलग इन अर्थालङ्कारो का स्वभाव माना है, पर यह स्पष्ट है कि उन्होने ग्रन्थ के वर्गों का विभाजन न तो अलङ्कार के आश्रयभूत शब्दार्थ के आधार पर किया है और न अलङ्कार के मूल-तत्त्वो के आधार पर ही। सम्भव है कि उन वर्गो से अलङ्कार के विकास के एक-एक क्रम का सङ्केत उद्भट ने देना चाहा हो, या यह भी सम्भव है कि एक-एक वर्ग के अलङ्कारो को वे विशेष-विशेष आलङ्कारिको के द्वारा कल्पित मानते हो, पर प्रमाण के अभाव मे इस सम्बन्ध में कुछ नही कहा जा सकता। 'काव्यालङ्कारसारसङ्ग्रह' का वर्ग-विभाग अलङ्कारो के वर्गीकरण की दृष्टि से कोई महत्त्व नही रखता। रुद्रट का वर्गीकरण ऐतिहासिक दृष्टि से तो प्रथम है ही—तत्त्व-निरूपण की दृष्टि से भी वह महत्त्वपूर्ण है।

आचार्य रुद्रट ने अपने 'काव्यालङ्कार' मे विवेचित अलङ्कारो को आश्रय के आधार पर शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार-वर्गो में विभाजित कर अर्थालङ्कारों को मूलतत्त्वो के आधार पर निम्नलिखित चार वर्गो में विभक्त कर उपस्थापित किया है—(१) वास्तव-वर्ग, (२) औपम्य-वर्ग, (३) अतिशय-वर्ग तथा (४) श्लेष-वर्ग।

रुद्रट ने उक्त चार वर्गो मे अलङ्कारों के विभाजन का सिद्धान्त स्पष्ट कर दिया है। उनके अनुसार जिन अलङ्कारों मे सादृश्य, अतिशय तथा श्लेष को छोड केवल वस्तु के स्वरूप का स्पष्ट वर्णन होता है, वे वास्तव-मूलक अलङ्कार है।[1] जिन अलङ्कारो में वस्तु-विशेष का अन्य वस्तु के साथ सादृश्य से सम्यक्-रूपेण तुलनात्मक प्रतिपादन किया जाता है, उन्हे औपम्यमूलक अलङ्कार कहा जाता है।[2] जिन अलङ्कारो मे लोक-प्रसिद्धि के बाध के

१. वास्तवमिति तज्ज्ञेय क्रियते वस्तुस्वरूपकथनं यत्।
पुष्टार्थमविपरीत निरुपममनतिशयमश्लेषम्॥
—रुद्रट, काव्यालङ्कार, ७, १०

२. सम्यक् प्रतिपादयितु स्वरूपतो वस्तु तत्समानमिति।
वस्त्वन्तरमभिदध्याद्वक्ता यस्मिंस्तदौपम्यम्॥—वही, ८, १

कारण अर्थ, धर्म आदि के नियम का विपर्यय होता है और अतिलौकिक वर्णन किया जाता है, उन्हे अतिशयमूलक अलङ्कार कहते है[१] और जिन अलङ्कारों मे अनेकार्थक पदो से वाक्य-योजना की जाती है वे श्लेषमूलक अलङ्कार है।[२] हम पिछले अध्याय मे वर्गानुक्रम से रुद्रट के द्वारा निरूपित अलङ्कारो का अध्ययन कर चुके है। यहाँ पुनरुक्ति के आक्षेप की आशङ्का होने पर भी हम अध्ययन की सुविधा के लिए प्रसङ्ग के अनुरोध से उन्हे उक्त वर्गो मे पुनः उपस्थापित कर रहे है—

१. वास्तव-वर्गग अलङ्कार—सहोक्ति, समुच्चय, जाति या स्वभावोक्ति, यथासख्य, भाव, पर्याय, विषम, अनुमान, दीपक, परिकर, परिवृत्ति, परिसख्या, हेतु, कारणमाला, व्यतिरेक, अन्योन्य, उत्तर, सार, सूक्ष्म, लेश, अवसर, मीलित तथा एकावली।

२. औपम्य-वर्गगत अलङ्कार—उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अपह्नुति, संशय या सन्देह, समासोक्ति, मत, उत्तर, अन्योक्ति या अप्रस्तुतप्रशसा, प्रतीप, अर्थान्तरन्यास, उभयन्यास, भ्रान्तिमान्, आक्षेप, प्रत्यनीक, दृष्टान्त, पूर्व, सहोक्ति, समुच्चय, साम्य और स्मरण।

३. अतिशय-वर्गगत अलङ्कार—पूर्व, विशेष, उत्प्रेक्षा, विभावना, तद्गुण, अधिक, विरोध, विषम, असङ्गति, पिहित, व्याघात और हेतु।

४. अर्थ-श्लेष-वर्गगत अलङ्कार—इसमे श्लेष के मुख्य दो भेद आते हैं—शुद्ध और सङ्कीर्ण। प्रथम के भेद—अविशेष, विरोध, अधिक, वक्र, व्याज, उक्ति, असम्भव, अवयव, तत्त्व तथा विरोधाभास। द्वितीय के भेद–ससृष्टि और सङ्कर।

इस प्रकार बारह अलङ्कार श्लेषमूलक माने गये है—दश शुद्ध और दो सङ्कीर्ण।

रुद्रट के पूर्व भामह ने अलङ्कार को वक्रोक्तिमूलक या अतिशयोक्तिमूलक कहा था। वामन ने सभी अलङ्कारो के मूल मे सादृश्य की भावना मानने का आग्रह लेकर सभी अलङ्कारो को औपम्यमूलक मान लिया था और इसीलिए उन्होने अलङ्कारों की सख्या भी बहुत सीमित कर दी थी। आचार्य रुद्रट ने पूर्वाग्रहमुक्त होकर भामह के अतिशयमूलक अलङ्कारो की सत्ता भी

---

१. यत्रार्थधर्मनियमः प्रसिद्धिबाधाद्विपर्ययं याति।
कश्चित्क्वचिदतिलोकं स स्यादित्यतिशयस्तस्य॥
—रुद्रट, काव्यालङ्कार ६, १

२. यत्रैकमनेकार्थैर्वाक्यं रचितं पदैरनेकस्मिन्।
अर्थे कुरुते निश्चयमर्थश्लेषः स विज्ञेयः॥—वही, १०, १

स्वीकार की, और वामन के औपम्यमूलक अलङ्कारों की भी। उन दोनों के अतिरिक्त वास्तव और श्लेषमूलक अलङ्कार-वर्गो की भी कल्पना उन्होने की है।

रुद्रट के उक्त चार अलङ्कार-वर्गो मे समान व्यपदेश के कुछ अलङ्कार दो वर्गों में परिगणित है। उत्तर, सहोक्ति और समुच्चय, वास्तव तथा औपम्य; दोनों वर्गो मे रखे गये है। हेतु तथा विषम वास्तवमूलक भी माने गये है और अतिशयमूलक भी। उत्प्रेक्षा और पूर्व का उल्लेख औपम्यवर्ग मे भी है और अतिशयवर्ग मे भी। इस प्रकार उक्त सात अलङ्कारों के दो-दो मूल-तत्त्व रुद्रट ने माने है और पृथक्-पृथक् मूल-तत्त्वो के आधार पर उन्होंने उनके अलग-अलग स्वरूप की कल्पना की है। इस प्रकार वास्तव-वर्ग के उत्तर, सहोक्ति और समुच्चय, औपम्य-वर्ग के क्रमश: उत्तर, सहोक्ति और समुच्चय से नाम्ना अभिन्न होने पर भी स्वरूप-दृष्ट्या भिन्न है। यह बात दो-दो वर्गो मे आने वाले हेतु, विषम, उत्प्रेक्षा और पूर्व के सम्बन्ध मे भी सत्य है। एक अलङ्कार के अलग-अलग वर्गो के आधार पर दो-दो स्वरूपो की अनावश्यक कल्पना उक्त वर्गीकरण की व्यावहारिक कठिनाई से बचने के लिए करनी पडी है। यह उस वर्गीकरण की सीमा है। अलङ्कारो के पूर्वनिरूपित स्वरूप का तत्तद् वर्गो मे विभाजन ही वर्गीकरण की स्वस्थ पद्धति है। वर्ग के अनुरोध से अलङ्कार-विशेष के नवीन स्वरूप की कल्पना वर्ग-विभाजन के आधार की अशक्ति या अव्याप्ति का परिचय देती है। अत:, रुद्रट का उक्त वर्गीकरण सर्वथा पूर्ण तो नही, पर अलङ्कारो के मूल-तत्त्व का अन्वेषण कर उनके आधार पर अलङ्कार-वर्गो के निर्धारण का प्रथम महत्त्वपूर्ण प्रयास अवश्य है।

रुय्यककृत वर्गीकरण—आचार्य रुय्यक का अलङ्कार-वर्गीकरण के क्षेत्र मे महनीय योगदान है। उन्होने सादृश्य, विरोध, शृङ्खला, न्याय (लोक-न्याय तथा शास्त्र-न्याय), और गूढार्थप्रतीति के आधार पर अपने अलङ्कारों का वर्गीकरण किया है। सादृश्य, विरोध आदि के पुन: कुछ उपखण्ड किये गये है।

१ सादृश्यगर्भ—इस वर्ग मे सब से अधिक अलङ्कार आते हैं। इसका मूल तत्त्व है साधर्म्य। साधर्म्य के तीन भेद है—

(क) भेदाभेदतुल्य-प्रधान

(ख) अभेद-प्रधान और

(ग) गम्यमानौपम्य

यह साधर्म्य कही वाच्य होता है और कहा प्रतीयमान। उक्त उपवर्गों में सादृश्य-गर्भ अर्थालङ्कारो का विभाजन इस प्रकार किया गया है—

भेदाभेदतुल्यप्रधान सादृश्यगर्भ अलङ्कार:—(१) उपमा, (२) उपमेयोपमा, (३) अनन्वय और (४) स्मरण।

अभेदप्रधान सादृश्यगर्भ अलङ्कार:—(अ) आरोपमूलक—(१) रूपक, (२) परिणाम, (३) सन्देह, (४) भ्रान्ति, (५) उल्लेख तथा (६) अपह्नुति। (आ) अध्यवसायमूलक—(१) उत्प्रेक्षा एव (२) अतिशयोक्ति।

गम्यमान-औपम्य सादृश्यगर्भ अलङ्कार:—(१) तुल्ययोगिता, (२) दीपक, (३) प्रतिवस्तूपमा, (४) दृष्टान्त, (५) निदर्शना, (६) व्यतिरेक, (७) सहोक्ति, (८) विनोक्ति, (९) समासोक्ति, (१०) परिकर, (११) श्लेष, (१२) अप्रस्तुतप्रशसा, (१३) पर्यायोक्ति, (१४) अर्थान्तरन्यास, (१५) व्याजस्तुति तथा (१६) आक्षेप।

सादृश्य की तीन प्रकार की स्थितियो के आधार पर सादृश्यगर्भ अलङ्कार-वर्ग के उक्त तीन उपवर्ग माने गये है। प्रथम उपवर्ग के अलङ्कारो मे उपमेय और उपमान मे सादृश्यगत भेदाभेद मे तुल्यता रहती है। द्वितीय उपवर्ग के अलङ्कारो मे दोनो मे (उपमान-उपमेय मे) अभेद कथन रहता है। अभेद कथन के दो रूप है—आरोप-प्रधान और अध्यवसाय-प्रधान। रूपक आदि मे आरोप की तथा उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति मे अध्यवसाय की प्रधानता रहती है। तृतीय उपवर्ग मे वे अलङ्कार रखे गये है, जिनमे औपम्य व्यङ्ग्य रहता है। रुय्यक के अनुसार सादृश्यगर्भ अलङ्कार के भेदाभेद-तुल्य-प्रधान खण्ड मे उपमा आदि चार; अभेदप्रधान खण्ड मे रूपक आदि आरोपमूलक छह तथा उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति, इन अध्यवसायमूलक दो को मिला कर कुल आठ तथा गम्यमानौपम्य खण्ड मे तुल्ययोगिता आदि सोलह अलङ्कार आते है। इस प्रकार रुय्यक के सादृश्य या औपम्यगर्भ अलङ्कारो की सख्या अट्ठाइस है।

२. विरोधगर्भ —इस वर्ग मे उन बारह अलङ्कारो की गणना की गयी है, जिनके मूल मे विरोध की भावना निहित रहती है। वे अलङ्कार है—(१) विरोध, (२) विभावना, (३) विशेषोक्ति, (४) सम, (५) विषम, (६) विचित्र, (७) अधिक, (८) अन्योन्य, (९) विशेष (१०) व्याघात, (११) कार्यकारणपौर्वापर्य-रूप अतिशयोक्ति और (१२) असङ्गति।

विषम के साथ सम को भी विरोधगर्भ अलङ्कार-वर्ग मे वर्गीकृत करने

का औचित्य बताते हुए आचार्य रुय्यक ने कहा है कि सम मे विषम अलङ्कार का वैधर्म्य रहता है; अत उसे इसी वर्ग मे रखा जाना चाहिए।

अतिशयोक्ति की गणना सादृश्यगर्भ तथा विरोधगर्भ—दोनो वर्गो मे करने के कारण रुय्यक को इस अलङ्कार को दो बार परिभाषित करना पड़ा है। रुद्रट के वर्गीकरण की परीक्षा के क्रम मे यह कहा जा चुका है कि वर्गानुरोध से एक अलङ्कार की दो परिभाषाओं की कल्पना वर्गीकरण के अधार की अपूर्णता का परिचायक है।

३. शृङ्खलामूलक .—इस वर्ग मे रखे गये अलङ्कार मे पद या वाक्य अन्य पद या वाक्य के साथ शृङ्खला के रूप मे सम्बद्ध रहते है। इस वर्ग मे चार अलङ्कार रखे गये है —(१) कारणमाला, (२) एकावली, (३) मालादीपक और (४) सार। इन अलङ्कारो मे कारण, विशेषण आदि की शृङ्खलाबद्ध स्थिति रहती है।

४. न्यायमूलक —शास्त्रीय तथा लौकिक न्याय से सम्बद्ध अलङ्कारो को तीन वर्गों मे रखा गया है—

(क) तर्कन्यायमूलक

(ख) वाक्यन्यायमूलक या काव्यन्यायमूलक तथा

(ग) लोकन्यायमूलक

तर्कन्यायमूलक अलङ्कार—(१) काव्यलिङ्ग और (२) अनुमान।

वाक्यन्यायमूलक अलङ्कार—(१) यथासख्य, (२) पर्याय, (३) परिवृत्ति, (४) अर्थापत्ति, (५) विकल्प, (६) परिसख्या, (७) समुच्चय तथा (८) समाधि।

लोकन्यायमूलक अलङ्कार—(१) प्रत्यनीक, (२) प्रतीप, (३) मीलित, (४) सामान्य, (५) तद्गुण, (६) अतद्गुण और (७) उत्तर। इस प्रकार उक्त सत्रह अलङ्कार लोक तथा शास्त्र के न्याय पर आधृत माने गये है।

५. गूढार्थप्रतीतिमूलक—इस वर्ग मे उन अलङ्कारों को रखा गया है जिनमे गूढ अर्थ की प्रतीति हुआ करती है। गूढार्थ-बोध मे ही उन अलङ्कारों का सौन्दर्य निहित रहता है। वे अलङ्कार है—(१) सूक्ष्म, (२) व्याजोक्ति एवं (३) वक्रोक्ति।

इस प्रकार रुय्यक ने अपने चौसठ अलङ्कारों का वर्ग-विभाजन किया है। उनके अनेक अलङ्कार अवर्गीकृत रह गये है। उदाहरणार्थ—स्वभावोक्ति,

भाविक, उदात्त, ससृष्टि, सङ्कर, रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वी तथा समाहित आदि अलङ्कारो का सद्भाव स्वीकार कर भी रुय्यक ने उनके वर्ग की कल्पना नही की है। ससृष्टि और सङ्कर के वर्ग की कल्पना तो आवश्यक भी नही थी। कारण, उन्हे तत्तद्वर्ग के अलङ्कारो से स्वतन्त्र अस्तित्व वाला माना ही नही जा सकता। उनमे कोई स्वतन्त्र मूलतत्त्व नही। अन्य अलङ्कार ही अपने-अपने मूल तत्त्वो के साथ ससृष्टि एव सङ्कर मे सङ्कीर्ण रूप से रह सकते है। अत॰ आश्रय के आधार पर किये जाने वाले वर्गीकरण मे ही इन दोनो का समाहार सम्भव है। रुय्यक ने इसीलिए मूल-तत्त्व पर आधृत किसी वर्ग मे सङ्कर और ससृष्टि को स्थान नही दिया है। रस, भाव आदि पर आश्रित रसवदादि अलङ्कारो (रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वी, समाहित, भावोदय, भावसन्धि, भाव-शबलता) को एक पृथक् 'रसभावमूलक अलङ्कार-वर्ग' मे वर्गीकृत किया जा सकता था। किन्तु, रुय्यक ने उन अलङ्कारो के वर्ग की कल्पना आवश्यक नही समझी। रस, भाव आदि के विवेचन-क्रम मे रसवत् आदि के स्वरूप पर विचार हो रहा था, पर जब रस, भाव आदि की कल्पना (स्थितिविशेष मे) रसवत् आदि अलङ्कारो के रूप मे की गयी, तो उन्हे वर्गीकृत करने के लिए एक स्वतन्त्र वर्ग की कल्पना तो की ही जानी चाहिए। रुद्रट के वास्तव-वर्ग को अस्वीकृत करने के पूर्वाग्रह से भी रुय्यक के वर्गीकरण मे थोडी त्रुटि रह गयी है। स्वभावोक्ति को जब रुय्यक ने अलङ्कार के रूप मे स्वीकृति दी, तब अलङ्कार के वास्तव-वर्ग को अस्वीकार करने मे कोई औचित्य नही। स्वभावोक्ति का मूलतत्त्व है वस्तु-स्वरूप-वर्णन। अत॰, वह वास्तव-वर्ग का अलङ्कार है। भाविक और उदात्त मे भी वस्तु-वर्णन की प्रधानता रहती है। अत॰, वास्तव-वर्ग को स्वीकार करने से उदात्त तथा भाविक के वर्गीकरण की समस्या का भी समाधान हो जाता।

आचार्य रुय्यक ने अलङ्कार के कुछ मूलतत्त्वो को ढूँढ कर उनके आधार पर नवीन दृष्टि से अलङ्कारो के वर्गीकरण का महत्त्वपूर्ण प्रयास अवश्य किया है; पर उनका वर्गीकरण भी सर्वथा पूर्ण तथा निर्दोष नही हो पाया। स्वभावोक्ति आदि का अवर्गीकृत रह जाना उनके वर्गीकरण-सिद्धान्त की अव्याप्ति का तथा अतिशयोक्ति को दो वर्गों मे रखना उस सिद्धान्त की अशक्ति का द्योतक है। रुद्रट के द्वारा कल्पित वास्तव-वर्ग की उपेक्षा अकारण है। इस सीमा के होने पर भी सादृश्य के भेदाभेदप्रधान, अभेदप्रधान तथा गम्यमा-नौपम्य भेदो की कल्पना और विरोध, शृङ्खला, न्याय तथा गूढार्थप्रतीति-जैसे

अलङ्कार के मूलभूत तत्त्वों का निर्धारण भारतीय अलङ्कार शास्त्र को आचार्य रुय्यक का महनीय योगदान है।

रुय्यक ने मूलतत्त्वो के आधार पर अर्थालङ्कारों को प्रस्तुत कर काव्य के समग्र अलङ्कारों के आश्रय के आधार पर विभाजन का भी सङ्केत दिया है। उन्होने शब्द, अर्थ तथा उभय वर्गों मे अलङ्कारों का विभाजन स्वीकार किया है। 'अलङ्कार-सर्वस्व' मे यमक आदि को शब्दालङ्कार, उपमा आदि को अर्थालङ्कार तथा लाटानुप्रास आदि को उभयालङ्कार कहा गया है।

विद्याधरकृत वर्गीकरण—विद्याधर ने 'एकावली' में अलङ्कार-वर्गीकरण बहुलांशत· आचार्य रुय्यक के वर्गीकरण-सिद्धान्त के आधार पर किया है। भाषाभेद से रुय्यक के अलङ्कार-वर्गो को स्वीकार कर उन्होंने ससृष्टि और सङ्कर के वर्गीकरण के लिए अन्योन्याश्लेषपेशल वर्ग की कल्पना की है। इस कल्पना का मूल आचार्य रुद्रट के श्लेष-भेद सङ्कीर्ण-वर्ग की कल्पना मे है। रुद्रट के सङ्कीर्ण के लिए ही अन्योन्याश्लेषपेशल व्यपदेश प्रयुक्त हुआ है। आचार्य रुय्यक के सादृश्यगर्भ अलङ्कार के तीन उपवर्गों—भेदाभेद-तुल्य-प्रधान, अभेद-प्रधान तथा गम्यमानौपम्य—के आधार पर विद्याधर ने तीन अलङ्कार-वर्गों की कल्पना की है। वे है—भेद-प्रधान, अभेद-प्रधान तथा गम्यौपम्याश्रयी। विरोधमूलक तथा शृङ्खलामूलक वर्गो को विद्याधर ने भी स्वीकार किया है। रुय्यक के न्यायमूलक अलङ्कारो के तीन वर्गो—लोकन्याय, वाक्यन्याय तथा तर्कन्याय—मे से केवल लोकन्यायाश्रयी अलङ्कार-वर्ग की सत्ता विद्याधर ने स्वीकार की है। रुय्यक के गूढार्थप्रतीति-मूलक अलङ्कार-वर्ग को विद्याधर ने बलाद्गूढार्थप्रतीतिमूलक-वर्ग कहा है। विद्याधर ने रुय्यक के वर्गीकरण को स्वीकार कर उनके द्वारा अवर्गीकृत अलङ्कारो को भी उन्ही वर्गो मे समाविष्ट करने का प्रयास किया है। उदाहरणार्थ—स्वभावोक्ति, भाविक तथा उदात्त को उन्होने बलाद्गूढार्थप्रतीति-मूलक-वर्ग मे वर्गीकृत कर दिया है। किन्तु, यह वर्गीकरण अविचारित जान पडता है। स्वभावोक्ति, भाविक तथा उदात्त मे किसी गूढ अर्थ की व्यञ्जना नही रहती, उनमें वस्तु-स्वरूप का और समृद्धि का यथार्थ तथा चित्रात्मक वर्णन अपेक्षित माना जाता है। रुय्यक स्वभावोक्ति आदि के इस स्वभाव से परिचित थे। इसीलिए उन्होंने उन अलङ्कारों का वर्गीकरण अलङ्कार के स्वीकृत वर्गों में नहीं किया था। विद्याधर यदि उन अलङ्कारों का वर्गीकरण करना ही चाहते थे (और उन्हें वर्गीकृत करने की चेष्टा उचित ही होती)

तो उन्हे उन अलङ्कारों के मूल-तत्त्व के आधार पर नवीन वर्ग की कल्पना करनी चाहिए थी। यदि नवीन वर्ग की कल्पना नही कर वे रुद्रट के वास्तव-वर्ग को ही स्वीकार कर लेते—जैसे रुय्यक के द्वारा अवर्गीकृत ससृष्टि और सङ्कर के वर्गीकरण के लिए उन्होने रुद्रट के सङ्कीर्ण के आधार पर अन्योन्याश्लेषपेशल-वर्ग को स्वीकार किया है—तो समस्या का समाधान सरलता से हो जाता; पर इस उलझन को सुलझाने का प्रयास नही कर विद्याधर ने चलते ढग पर रुय्यक के वर्गीकरण को आदर्श मान कर अलङ्कारो का वर्गीकरण कर दिया है।

पहले आश्रय के आधार पर शब्द और अर्थ-वर्गो मे अलङ्कारो का विभाजन कर विद्याधर ने अर्थालङ्कारो को वर्गानुक्रम से इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

१. भेदप्रधान वर्ग—(१) उपमा, (२) उपमेयोपमा, (३) अनन्वय तथा (४) स्मरण।

२. अभेदप्रधान वर्ग—(क) आरोपमूलक—(१) रूपक, (२) परिणाम, (३) सन्देह, (४) भ्रान्तिमान्, (५) उल्लेख और (६) अपह्नुति।

(ख) अध्यवसाय मूलक—(१) उत्प्रेक्षा और (२) अतिशयोक्ति।

३. गम्यौपम्याश्रयी वर्ग—(१) तुल्ययोगिता, (२) दीपक, (३) प्रतिवस्तूपमा, (४) दृष्टान्त, (५) निदर्शना, (६) व्यतिरेक, (७) सहोक्ति, (८) विनोक्ति, (९) समासोक्ति, (१०) परिकर, (११) परिकराङ्कुर, (१२) श्लेष, (१३) अप्रस्तुतप्रशसा, (१४) अर्थान्तरन्यास, (१५) पर्यायोक्ति और)१६) आक्षेप।

४. विरोधगर्भ—(१) विरोध, (२) विभावना, (३) विशेषोक्ति, (४) अतिशयोक्ति, (५) असङ्गति, (६) विषम, (७) सम, (८) विचित्र, (९) अधिक, (१०) अन्योन्य, (११) विशेष तथा (१२) व्याघात।

५. शृङ्खलाकार—(१) कारणमाला, (२) एकावली, (३) मालादीपक, (४) सार, (५) काव्यलिङ्ग, (६) अनुमान, (७) यथासख्य, (८) पर्याय, (९) परिवृत्ति, (१०) परिसख्या, (११) अर्थापत्ति, (१२) समुच्चय और (१३) समाधि। इन्हे तर्कवाक्यन्यायमूलक भी कहा गया है।

६. लोकन्यायाश्रयी—(१) प्रत्यनीक, (२) प्रतीप, (३) मीलित, (४) सामान्य, (५) तद्गुण, (६) अतद्गुण, (७) उत्तर और (८) प्रश्नोत्तर।

७. बलाद्गूढार्थप्रतीतिमूलक—(१) सूक्ष्म, (२) व्याजोक्ति, (३) वक्रोक्ति, (४) स्वभावोक्ति, (५) भाविक और (६) उदात्त।

८. अन्योन्याश्लेषपेशल—(१) ससृष्टि और (२) सङ्कर।

शब्दालङ्कार-वर्ग मे विद्याधर ने पुनरुक्तवदाभास, अनुप्रास, यमक, चित्र, छेकानुप्रास, वृत्यनुप्रास तथा लाटानुप्रास की गणना की है। अलङ्कारो के वर्गीकरण के क्षेत्र मे विद्याधर ने कोई मौलिक योगदान नही दिया है।

विद्यानाथकृत वर्गीकरण

विद्यानाथ ने 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' मे पहले आश्रय-भेद के आधार पर अलङ्कार के तीन वर्ग स्वीकार किये है—शब्दगत, अर्थगत तथा उभयगत। अनुप्रास आदि को शब्दालङ्कार, उपमा आदि को अर्थालङ्कार तथा लाटानुप्रास, उभयससृष्टि आदि को उभयगत अलङ्कार माना गया है। अर्थालङ्कार के मुख्य चार विभाग कर पुनः अलङ्कार-कक्ष्याविभाग मे विद्यानाथ ने आचार्य रुय्यक के मत का अनुसरण किया। उनके चार प्रमुख अलङ्कार-वर्ग तथा उन वर्गो मे विभाजित अलङ्कार निम्नलिखित है—

१. प्रतीयमान वास्तव-वर्ग—(१) समासोक्ति, (२) पर्यायोक्ति, (३) आक्षेप, (४) व्याजस्तुति (५) उपमेयोपमा, (६) अनन्वय, (७) अतिशयोक्ति, (८) परिकर, (९) अप्रस्तुतप्रशसा तथा (१०) (अनुक्त निमित्त) विशेषोक्ति।

२. प्रतीयमानौपम्य वर्ग .—(१) रूपक, (२) परिणाम, (३) सन्देह, (४) भ्रान्तिमान्, (५) उल्लेख, (६) (सापह्नव) उत्प्रेक्षा, (७) स्मरण, (८) तुल्ययोगिता, (९) दीपक, (१०) प्रतिवस्तूपमा, (११) दृष्टान्त, (१२) सहोक्ति, (१३) व्यतिरेक, (१४) निदर्शना और (१५) श्लेष।

३. प्रतायमानरसभावादि वर्ग .—(१) रसवत्, (२) प्रेय, (३) ऊर्जस्वी, (४) समाहित, (५) भावोदय, (६) भावसन्धि तथा (७) भावशबलता।

अस्फुटप्रतीयमान-वर्ग :—(१) उपमा, (२) विनोक्ति, (३) अर्थान्तरन्यास, (४) विरोध, (५) विभावना, (६) (गुण निमित्त) विशेषोक्ति, (७) विषम, (८) सम, (९) चित्र, (१०) अधिक, (११) अन्योन्य, (१२) कारणमाला, (१३) एकावली, (१४) व्याघात, (१५) मालादीपक, (१६) काव्यलिङ्ग, (१७) अनुमान, (१८) सार, (१९) यथासख्य, (२०) अर्थापत्ति, (२१) पर्याय, (२२) परिवृत्ति, (२३) परिसंख्या, (२४) विकल्प, (२५) समुच्चय, (२६) समाधि, (२७) प्रत्यनीक, (२८) प्रतीप, (२९) विशेष, (३०) मीलित, (३१) सामान्य, (३२) असङ्गति, (३३) तद्गुण,

(३४) अतद्गुण, (३५) व्याजोक्ति, (३६) वक्रोक्ति, (३७) स्वभावोक्ति, (३८) भाविक, और (३९) उदात्त।

समासोक्ति को रुय्यक ने गम्यमानौपम्य वर्ग मे रखा था। विद्यानाथ ने उसे प्रतीयमानवस्तु-वर्ग मे गिना है। उपमेयोपमा को भी विद्यानाथ ने गम्यमानौपम्य वर्ग मे परिगणित किया है। रुय्यक ने इसे भेदाभेदतुल्यप्रधान सादृश्यगर्भ अलङ्कार-वर्ग मे रखा है। स्पष्टत, विद्यानाथ ने कुछ नवीन दृष्टि से उक्त चार वर्गों मे अलङ्कारो का विभाजन किया है। प्रतीयमानौपम्य अलङ्कार-वर्ग की कल्पना आचार्य रुय्यक के गम्यमानौपम्यसादृश्य वर्ग के आधार पर की गयी है। रुय्यक की तरह विद्यानाथ ने भी तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त आदि को प्रतीयमानौपम्य-वर्ग मे रखा है, पर रुय्यक के विनोक्ति, समासोक्ति, परिकर, अप्रस्तुतप्रशसा, पर्यायोक्ति, अर्थान्तरन्यास, व्याजस्तुति और आक्षेप को गम्यमानौपम्य-वर्ग मे रखने के मत को विद्यानाथ ने स्वीकार नही किया है। विद्यानाथ ने रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्तिमान् आदि को प्रतीयमानौपम्य-वर्ग मे वर्गीकृत किया है, जिन्हे रुय्यक ने इतर वर्गों मे रखा था।

प्रतीयमान-रसभावादि-वर्ग की कल्पना कर विद्यानाथ ने रसवदादि अलङ्कार के वर्गीकरण की समस्या का समाधान कर दिया है। रुय्यक इस समस्या को बिना सुलझाये छोड गये थे। इस वर्ग की कल्पना के लिए विद्यानाथ श्रेय के भागी है।

विद्यानाथ ने उपरिलिखित अलङ्कार-वर्गो के अतिरिक्त अलङ्कार के अवान्तर विभाग भी किये, जो अधिकाशत आचार्य रुय्यक के वर्गीकरण-सिद्धान्त पर आधृत है। वे अवान्तर विभाग—विद्यानाथ के शब्दो मे 'अलङ्कारकक्ष्याविभाग'—निम्नलिखित है :—

१. साधर्म्यमूलक
   (क) भेदप्रधान, (ख) अभेदप्रधान तथा (ग) भेदाभेदप्रधान
२. विरोधमूलक
३. वाक्यन्यायमूलक
४. लोकव्यवहारमूलक और
५. तर्कन्यायमूलक
६. शृङ्खलावैचित्र्यमूलक
७. अपह्नवमूलक
८. विशेषणवैचित्र्यमूलक

अलङ्कार के उपरिलिखित अवान्तर-वर्गो मे सादृश्य, विरोध, न्याय तथा शृङ्खलामूलक-वर्ग रुय्यक के वर्गो से अभिन्न है। अपह्नवमूलक-वर्ग विद्यानाथ की नूतन उद्भावना है। वस्तुतः, अनेक अलङ्कारो के मूल मे अपह्नव या गोपन का तत्त्व रहता है। उसके आधार पर एक अलङ्कार-वर्ग की कल्पना अनुचित नही। यदि अनेक अलङ्कारो के मूल मे एक तत्त्व मिलता हो तो उस समान मूलतत्त्व के आधार पर अलङ्कारो को एक वर्ग मे वर्गीकृत करना शास्त्रीय दृष्टि का ही परिचायक है।

विद्यानाथ ने विशेषणवैचित्र्य के आधार पर एक स्वतन्त्र अलङ्कार-वर्ग की कल्पना कर समासोक्ति और परिकर को इस वर्ग मे रखा है। प्रथम विभाजन मे विद्यानाथ ने उक्त दोनो अलङ्कारो को प्रतीयमान-वास्तव-वर्ग में रखा है। विद्याधर ने उन अलङ्कारो को गम्यमानौपम्य वर्ग मे रखा है। विशेषण-वैचित्र्यमूलक अलङ्कारो मे विशेषण के वैचित्र्य के कारण प्रतीयमान होने वाले अर्थ का (चाहे वह वस्तु-रूप में हो या औपम्य-रूप मे) ही प्राधान्य होता है, अतः प्रतीयमान, वास्तव, औपम्य आदि से स्वतन्त्र इस वर्ग की कल्पना बहुत आवश्यक नही।

अवान्तर वर्गो मे अलङ्कारो का विभाजन विद्यानाथ ने इस प्रकार किया है :—

१. सादृश्यमूलक—(क) अभेदप्रधान साधर्म्यनिबन्धन—(१) रूपक, (२) परिणाम (३) सन्देह, (४) भ्रान्तिमान्, (५) उल्लेख और (६) अपह्नव।

(ख) भेदप्रधान साधर्म्यनिबन्धन—(१) दीपक, (२) तुल्ययोगिता, (३) दृष्टान्त, (४) निदर्शना, (५) प्रतिवस्तूपमा, (६) सहोक्ति, (७) प्रतीप तथा (८) व्यतिरेक।

(ग) भेदाभेदसाधारण साधर्म्यमूलक—(१) उपमा, (२) अनन्वय, (३) उपमेयोपमा तथा (४) स्मरण।

(घ) अध्यवसायमूलक—(१) उत्प्रेक्षा और (२) अतिशयोक्ति।

२. विरोधमूलक—(१) विभावना, (२) विशेषोक्ति, (३) विषम, (४) चित्र, (५) असङ्गति, (६) अन्योन्य, (७) व्याघात, (८) अतद्गुण, (९) भाविक और (१०) विशेष।

३. न्यायमूलक—(क) वाक्यन्यायमूलक—(१) यथासंख्य, (२) परिसख्या, (३) अर्थापत्ति, (४) विकल्प एवं (५) समुच्चय।

(ख) लोकव्यवहारमूलक—(१) परिवृत्ति, (२) प्रत्यनीक, (३) तद्गुण, (४) समाधि, (५) सम, (६) स्वभावोक्ति, (७) उदात्त और (८) विनोक्ति।

(ग) तर्कन्यायमूलक—(१) काव्यलिङ्ग, (२) अनुमान एव (३) अर्थान्तरन्यास ।

४. शृङ्खलावैचित्र्यमूलक.—(१) कारणमाला, (२) एकावली, (३) मालादीपक और (४) सार ।

५. अपह्नवमूलक.—(१) व्याजोक्ति, (२) वक्रोति और (३) मीलन या मीलित ।

६. विशेषणवैचित्र्यमूलक.—(१) समासोक्ति और (२) परिकर ।[1]

विशेषणवैचित्र्यमूलक अलङ्कार-वर्ग को स्वतन्त्र वर्ग नही मान कर मल्लिनाथ ने 'एकावली' की 'तरला' टीका मे उसे औपम्य-गर्भ अलङ्कार-वर्ग का अवान्तर भेद 'विशेषण-विच्छित्ति' माना है ।

मल्लिनाथ ने सादृश्यमूलक और औपम्य-गर्भ अलङ्कार-वर्गो को पृथक्-पृथक् रखा है । औपम्य-वर्ग मे अलङ्कार को आचार्य रुद्रट ने विभाजित किया था । रुय्यक आदि ने सादृश्यमूलक-वर्ग की कल्पना की थी । सादृश्यमूलक-वर्ग मे औपम्य-गर्भ अलङ्कार भी आ ही जाते है । अत , दोनो वर्गो को अलग-अलग मानने मे अलङ्कार-तत्त्व का अनुरोध नही, केवल स्पष्टीकरण का उद्देश्य है, जो व्याख्याता या टीकाकार के पक्ष मे स्वाभाविक है ।

रुद्रट, रुय्यक, विद्याधर और विद्यानाथ के वर्गीकरण की परीक्षा से यह स्पष्ट है कि उनमे से किसी एक आचार्य का वर्गीकरण सर्वथा पूर्ण नही । रुय्यक के वर्गो को स्वीकार करने वाले विद्याधर तथा विद्यानाथ ने भी स्वेच्छा से काव्यालङ्कारो को उन वर्गो मे विभक्त किया है । इस प्रकार रुय्यक ने अलङ्कार-विशेष को यदि एक वर्ग मे रखा तो अन्य आचार्यो ने उसी अलङ्कार को किसी दूसरे वर्ग मे वर्गीकृत किया है । विशेष वर्ग मे अलङ्कार-विशेष को वर्गीकृत करने मे मतैक्य का अभाव वर्गीकरण के आधार की अशक्ति का ही सूचक है । फिर भी, सस्कृत के उक्त आचार्यो ने जितने अलङ्कार-वर्गो की कल्पना की है उन्हे मिला-जुला कर वर्गीकरण का व्यापक आधार बनाया जा सकता है । रुय्यक के अलङ्कार-वर्गो के साथ रुद्रट के वास्तव तथा श्लेष, और विद्यानाथ के प्रतीयमान-रसभावादि वर्गो को मिला कर सस्कृत-अलङ्कार-शास्त्र के सभी स्वीकार्य अलङ्कारो का वर्गीकरण किया जा सकता है ।

---

१. विद्यानाथ, प्रतापरुद्रयशोभूषण, पृ० ३३८-३९

हिन्दी-रीति-आचार्यों का वर्गीकरण

हिन्दी-अलङ्कार-साहित्य मे भी सस्कृत-साहित्य की पद्धति पर अलङ्कारो का शब्द, अर्थ के आधार पर वर्गीकरण कर पुन: अर्थालङ्कारो का मूल-तत्त्वो के आधार पर वर्गीकरण किया गया है। कुवलयानन्दकार की तरह हिन्दी के मतिराम, रघुनाथ. गोविन्द, रत्नेश आदि आचार्यो ने केवल अर्थालङ्कारो का ही निरूपण किया है। अत उन आचार्यो के अलङ्कारो के लिए आश्रय के आधार पर वर्गीकरण की समस्या नही। हिन्दी मे शब्द-चित्र को, जो वस्तुत शब्दालङ्कार है, स्वतन्त्र अस्तित्व प्राप्त हो गया है। बलवान सिह तथा ईश्वर कवि ने केवल चित्रालङ्कार पर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे है। अत , हिन्दी के अलङ्कारों का वर्गीकरण करने के क्रम मे शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार, उभयालङ्कार आदि के साथ चित्रालङ्कार का स्वतन्त्र वर्ग भी स्वीकार किया जाना चाहिए। चित्र की धारणा का विकास यद्यपि यमक, अनुप्रास आदि शब्दालङ्कारो से ही हुआ है, पर उसने अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है। केवल अलङ्कार के रूप मे ही नही, चित्र काव्य के एक स्वतन्त्र प्रकार के रूप मे—अधम काव्यरूप मे ही सही—चित्रकाव्य का अस्तित्व स्वीकृत हुआ है। चित्रालङ्कार चित्र-काव्य का ही अङ्गविशेष है। उसके इतने स्वरूपो की कल्पना की गयी है कि शब्दालङ्कार से स्वतन्त्र चित्रालङ्कार-वर्ग मे उन चित्र-रूपो का अध्ययन अपेक्षित है।

हम यहाॅ रीतिकालीन आचार्यो के अलङ्कार-वर्गीकरण के प्रयास का समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत करेंगे। रीतिकालीन हिन्दी-अलङ्कार-शास्त्र मे केशव और भिखारी दास ने अलङ्कार-वर्गीकरण का प्रयास किया है।

आचार्य केशव-कृत वर्गीकरण

केशवदास ने अलङ्कार के मुख्य दो विभाग माने है—(१) साधारण और (२) विशिष्ट। साधारण अलङ्कार के चार भेद माने गये है:—

(क) वर्णालङ्कार,
(ख) वर्ण्यालङ्कार,
(ग) भूमिश्री वर्णन और
(घ) राज्यश्री वर्णन।[१]

---

१. द्रष्टव्य—केशव, कविप्रिया, ५, २-३

उन्होने उपमा आदि को विशिष्ट अलङ्कार माना है। केशव के द्वारा निरूपित सभी शब्दगत तथा अर्थगत अलङ्कार विशिष्ट अलङ्कार है।[१] इन विशिष्ट अलङ्कारो का विभाजन उन्होने न तो शब्दार्थ-रूप आश्रय के आधार पर किया है और न अलङ्कार के मूल-तत्त्वो के आधार पर ही। अतः, केशव का वर्गीकरण महत्त्वपूर्ण नही। साधारण और विशिष्ट वर्गों मे विभाजन नयी सूझ नही। अलङ्कारवादी अलङ्कार की व्यापक परिभाषा 'सौन्दर्यमलङ्कार.' मे समग्र काव्य-तत्त्वो को सामान्य रूप से अलङ्कार मान लेते है और उस अलङ्कार से (काव्य से) उपमा आदि का वैशिष्ट्य बताने के लिए इन उपमा आदि काव्यालङ्कारों को विशिष्टालङ्कार कहते है। अतः, विशिष्टालङ्कार की धारणा प्राचीन ही है। साधारण अलङ्कार को चार वर्गो मे बॉट कर उसके सम्बन्ध मे केशव ने कुछ नवीन धारणा अवश्य प्रकट की है; पर वस्तुत उनमे से किसी वर्ग में ऐसा अलङ्कार नही रखा गया है, जो किसी भी सस्कृत या हिन्दी-आचार्य के द्वारा अलङ्कार के रूप मे स्वीकृत हो। अत, प्रस्तुत सन्दर्भ मे वह विवेच्य नहीं। वर्णों का विवरण, वर्ण्य वस्तुओ का विवरण अलङ्कार के रूप में स्वीकार्य नही। भोज ने भी नगर, अर्णव, शैल, ऋतु आदि के वर्णन को प्रबन्धगत अलङ्कार माना था, पर वह महाकाव्य आदि के अङ्ग के रूप में ही स्वीकृत हुआ, अलङ्कार के रूप मे नही। वर्णो का विवरण केशव मिश्र तथा अमर ने भी दिया है; पर उस विवरण को अलङ्कार-मीमासा के अन्तर्गत नही माना जा सकता।

आचार्य भिखारीदास-कृत वर्गीकरण

आचार्य भिखारी दास ने काव्यालङ्कार का वर्गीकरण कुछ नवीन दृष्टि से किया है। हम देख चुके है कि आश्रय के आधार पर अलङ्कारो का वर्गीकरण शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार तथा उभयालङ्कार-वर्गो मे परम्परा से किसी-न-किसी रूप में होता रहा था; पर भिखारी दास ने शब्दालङ्कार-वर्ग तथा अर्थालङ्कार-वर्ग के अतिरिक्त एक तीसरे वर्ग—'वाक्यालङ्कार-वर्ग' की कल्पना की और उसमे आठ अलङ्कारों को रखा।[२] उन्होने चित्र को शब्दालङ्कार-वर्ग से स्वतन्त्र चित्रालङ्कार-वर्ग मे रखा।[३] इन चार वर्गों के

१. केशव, कविप्रिया, प्रभाव ९-१६
२. भिखारी दास, काव्य-निर्णय, १८ पृ० ४९५
३. वही, २१, पृ० ५७५

अतिरिक्त भिखारी ने एक रसभावाश्रित अलङ्कारो के वर्ग की कल्पना को भी स्वीकार किया ।[१]

शब्दालङ्कार-वर्ग से चित्र के लिए स्वतन्त्र वर्ग की कल्पना स्वाभाविक ही थी। रीतिकाल मे चित्रकाव्य की सायास रचना बहुत अधिक मात्रा मे हो रही थी। चित्र के नये-नये स्वरूपो की कल्पना मे कवि अपने कौशल का प्रदर्शन बडे मनोयोग से करने लगे थे। फलत॰, चित्रालङ्कार के भेदों की सख्या स्फीत होती जा रही थी। अत. चित्र के विविध भेदो का अध्ययन एक स्वतन्त्र वर्ग मे ही उपयोगी जान पडा होगा।

अर्थालङ्कार से स्वतन्त्र वाक्यालङ्कार की कल्पना दास की नवीन कल्पना है। इसका औचित्य विचारणीय है। प्रश्न यह है कि क्या यथासख्य, एकावली, कारणमाला आदि का समावेश परम्परागत अर्थालङ्कार-वर्ग मे नही होता था ? यदि होता था तो उससे पृथक् वाक्यालङ्कार-वर्ग की कल्पना की क्या आवश्यकता थी ? इसमे सन्देह नही कि यथासख्य आदि भी अर्थाश्रित अलङ्कार है। उनमे वाक्य का भी विचार अवश्य रहता है। अत॰, उन अलङ्कारो को यदि वाक्यलङ्कार-वर्ग मे वर्गीकृत करने का आग्रह हो तो वाक्यालङ्कार को अर्थालङ्कार-वर्ग का अवान्तर भेद मानना उचित होगा। अर्थालङ्कार वर्ग के शृङ्खला आदि के आधार पर अनेक वर्ग माने ही गये है।

रसवत् तथा भावाश्रित प्रेय, ऊर्जस्वी आदि को मूल-तत्त्व रस एव भाव के आधार पर एक वर्ग मे रखा गया है। उक्त पाँच वर्गो पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जाता है कि भिखारी दास के सामने अलङ्कारो के वर्गीकरण का निश्चित आधार नही था। रसवदादि वर्ग की कल्पना मूल-तत्त्व के आधार पर तथा शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार की कल्पना अलङ्कार के आश्रयभूत शब्द और अर्थ के आधार पर की गयी है। शब्दालङ्कार-वर्ग से पृथक चित्रालङ्कार-वर्ग की कल्पना का औचित्य केवल अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से है। वाक्यालङ्कारो को अर्थालङ्कारान्तर्गत नही मान कर उनका स्वतन्त्र वर्ग मानना बुद्धि-विलास-मात्र है।

शब्दालङ्कारो मे से वीप्सा, यमक और सिहावलोकन का निरूपण दास ने शब्दालङ्कार-प्रकरण मे नही कर काव्यगुण-विवेचन के सन्दर्भ में किया है। अनुप्रास, छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास तथा लाटानुप्रास का लक्षण-निरूपण

१. भिखारी दास, काव्य-निर्णय ५, पृ० १०१

पृथक् किया गया है और शब्दालङ्कार-निरूपण-प्रस्ताव मे श्लेष, विरोधाभास, मुद्रा, वक्रोक्ति और पुनरुक्तवदाभास का निरूपण किया गया है। इन शब्दाश्रित अलङ्कारो के अलग-अलग विवेचन का भी कोई स्पष्ट कारण नही। वक्रोक्ति, पुनरुक्तवदाभास, विरोधाभास तथा मुद्रा को दास ने शब्दालङ्कार-वर्ग मे रखा है। हम देख चुके है कि भारतीय अलङ्कार-शास्त्र मे इन अलङ्कारो को शब्दालङ्कार मानने मे दो मत रहे है। कुछ आचार्य इन्हे शब्दालङ्कार मानते है तो कुछ अर्थालङ्कार। वस्तुत, इन अलङ्कारो के स्वरूप-विन्यास मे शब्द और अर्थ, दोनो की अपेक्षा रहती है। अत, इन्हे उभयालङ्कार माना जा सकता है। दास ने उभयालङ्कार तो नही माना; पर इन उभयात्मक स्वभाव वाले अलङ्कारों को ही एकत्र शब्दालङ्कार सज्ञा से वर्गीकृत कर भारतीय अलङ्कार-शास्त्र मे प्रचलित एक मतवाद की ओर सङ्केत कर दिया है। अन्यथा अनुप्रास, यमक आदि का, जिन्हे सभी आचार्यो ने एक मत से शब्दालङ्कार स्वीकार किया है, अपरत्र वर्णन कर शब्दार्थोभयगत स्वभाव वाले अलङ्कारो के एकत्र निरूपण का क्या औचित्य होगा ?

भिखारी दास ने अर्थालङ्कारों को दश वर्गो मे प्रस्तुत किया है। उन वर्गो का कोई विशेष नामकरण नही कर उन्होने वर्ग के प्रधान अलङ्कार के आधार पर उपमादि, उत्प्रेक्षादि आदि कहा है। उपमादि मे उपमा के साथ उसके समान प्रतीप आदि; उत्प्रेक्षादि मे उत्प्रेक्षा के साथ उसके समान अपह्नुति, स्मरण आदि अलङ्कार रखे गये है। यह विचारणीय है कि उस वर्ग के अन्य अलङ्कारो को उपमा के समान मानने का क्या आधार है ? यदि उस वर्ग के सभी अलङ्कारो मे कुछ ऐसा समान तत्त्व हो, जो उन्हे उपमा के समान सिद्ध करता हो तब तो वह वर्गीकरण मूल-तत्त्व पर आधृत शास्त्रीय वर्गीकरण माना जायगा। अन्यथा वह वर्ग-विभाजन उद्भट आदि के विभाजन की तरह यदृच्छात्मक और अवैज्ञानिक माना जायगा।

दास के 'काव्यनिर्णय' मे इतस्तत· जो सङ्केत दिये गये है, उनके आधार पर अर्थालङ्कारो के तत्तद् वर्गो मे विभाजन के आधार का निर्णय किया जा सकता है। अलङ्कारो के वर्ग-विशेष की कल्पना के आधार की परीक्षा के लिए तत्तदलङ्कार-वर्गों में दास ने जिस रूप मे विशेष-विशेष अर्थालङ्कारों को प्रस्तुत किया है उस रूप मे हम उन्हे नीचे उपस्थापित कर रहे है—

१. उपमादि वर्ग—(१) उपमा, (२) अनन्वय, (३) उपमेयोपमा,

(४) प्रतीप, (५) श्रौती उपमा, (६) दृष्टान्त, (७) अर्थान्तरन्यास, (८) विकस्वर, (६) निदर्शना, (१०) तुल्ययोगिता और (११) प्रतिवस्तूपमा।

२. उत्प्रेक्षादि वर्ग :—(१) उत्प्रेक्षा, (२) अपह्नुति, (३) स्मरण, (४) भ्रम, और (५) सन्देह।

३. व्यतिरेक-रूपकादि वर्ग :—(१) व्यतिरेक, (२) रूपक, (३) परिणाम और (४) उल्लेष या उल्लेख। परिणाम को तो परिणाम-रूपक कहकर रूपक का ही प्रकार माना गया है; पर उल्लेख की स्वतन्त्र सत्ता मानी गयी है[1], यद्यपि उसकी प्रकृति परम्परित-माला-रूपक से मिलती-जुलती है।

४. अतिशयोक्ति आदि वर्ग :—(१) अतिशयोक्ति, (२) उदात्त, (३) अधिक, (४) अल्प और (५) विशेष।

५. अन्योक्ति आदि वर्ग :—(१) अप्रस्तुतप्रशंसा, (२) प्रस्तुताङ्कुर, (३) समासोक्ति, (४) व्याजस्तुति, (५) आक्षेप एवं (६) पर्यायोक्ति।

६ विरुद्धादि वर्ग :—(१) विरुद्ध, (२) विभावना, (३) व्याघात, (४) विशेषोक्ति, (५) असङ्गति तथा (६) विषम।

७. उल्लासादि वर्ग :—(१) उल्लास, (२) अवज्ञा, (३) अनुज्ञा, (४) लेश, (५) विचित्र, (६) तद्गुण, (७) स्वगुण, (८) अतद्गुण, (६) पूर्वरूप, (१०) अनुगुण, (११) मीलित, (१२) सामान्य, (१३) उन्मीलित और (१४) विशेष।

८. समादि वर्ग :—(१) सम, (२) समाधि, (३) परिवृत्त, (४) भाविक, (५) प्रहर्षण, (६) विषादन, (७) सम्भव, (८) असम्भव, (६) समुच्चय, (१०) अन्योन्य, (११) विकल्प, (१२) सहोक्ति, (१३) विनोक्ति, (१४) प्रतिषेध, (१५) विधि तथा (१६) काव्यार्थापत्ति।

९. सूक्ष्मादि वर्ग :—(१) सूक्ष्म, (२) पिहित, (३) युक्ति, (४) गूढोत्तर, (५) गूढोक्ति, (६) मिथ्याध्यवसाय, (७) ललित, (८) विवृतोक्ति, (६) व्याजोक्ति, (१०) परिकर और (११) परिकराङ्कुर।

---

१. एक मे बहु बोध कै, बहु गुँन सो 'उल्लेख'।
परपरित-मालाँन सों, लीनो भिन्न विसेख॥
—भिखारी दास, काव्यनिर्णय, पृ० २६३

१०. स्वभावोक्ति वर्ग :—(१) स्वभावोक्ति, (२) हेतु, (३) प्रमाण, (४) काव्यलिङ्ग, (५) निरुक्ति, (६) लोकोक्ति, (७) छेकोक्ति, (८) प्रत्यनीक, (९) परिसख्या और (१०) प्रश्नोत्तर ।

एक-एक वर्ग के अलङ्कारो का निरूपण 'काव्य-निर्णय' के एक एक उल्लास मे किया गया है । इस प्रकार अष्टम उल्लास से सत्रहवे उल्लास तक क्रमश उपरिलिखित अलङ्कार-वर्गो के अलङ्कारो का विवेचन किया गया है। आपाततः उक्त वर्गीकरण उद्भट आदि के वर्ग-विभाजन की तरह उद्देश्यहीन लगती है, पर भिखारी दास ने तत्तत् अलङ्कारो को तत्तद्वर्गो में विभाजित करने का उद्देश्य इतस्ततः व्यक्त कर दिया है ।

उपमादि वर्ग मे दास ने औपम्यमूलक अलङ्कारो को रखा है। उन्होने इस वर्ग के अलङ्कारो को उपमान और उपमेय का विकार कहा है ।[1] इस वर्ग के दो खण्ड स्पष्ट है—उपमा के आर्थी और श्रौती-भेद के आधार पर इस वर्ग के अलङ्कार गम्यमान-सादृश्य तथा वाच्य-सादृश्य खण्डो मे विभक्त माने जा सकते है । उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा एव प्रतीप में सादृश्य वाच्य तथा दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास, विकस्वर, निदर्शना, तुल्ययोगिता तथा प्रति-वस्तूपमा मे सादृश्य गम्य होता है। वाच्य तथा गम्यमान सादृश्य की दृष्टि से इस वर्ग के अलङ्कारो के क्रम-विन्यास को देखने से भिखारी दास की शास्त्रीय दृष्टि का पता चलता है । औपम्य-गर्भ अलङ्कारो के एक वर्ग की परम्परागत धारणा पर इस वर्ग की कल्पना आधृत है ।

उत्प्रेक्षादि-वर्ग मे अलङ्कार-विभाजन दास की मनोवैज्ञानिक सूझ का परिचायक है । इस वर्ग मे उन अलङ्कारो को वर्गीकृत किया गया है, जिनमें वस्तुओं के सारुप्य के कारण वस्तु-ज्ञान की विभिन्न स्थितियों का वर्णन रहा करता है। ज्ञान निश्चयात्मक तथा अनिश्चयात्मक होता है। इस आधार पर निश्चय, सन्देह आदि अलङ्कारो का स्वरूप-विधान होता है । निश्चयात्मक ज्ञान भी सत्य और मिथ्या होता है। भ्रम मे एक वस्तु मे अन्य वस्तु का निश्चयात्मक ज्ञान होता है; पर वह ज्ञान मिथ्या होता है। सिद्ध वस्तु-ज्ञान तथा असिद्ध वस्तु-ज्ञान के आधार पर भी ज्ञान की दो कोटियाँ होती है। उत्प्रेक्षा मे दो वस्तुओं का अभेद-ज्ञान असिद्ध या सम्भावना के रूप में व्यक्त होता है। सदृश वस्तु से उसके समान वस्तु की स्मृति हो आती है। यह

---

१. ···उपमॉन औरु उपमेइ कौ, है विकार समझौ सुचित ।।

—भिखारीदास, काव्यनिर्णय, पृ० १५९

पूर्वानुभूत वस्तु का स्मृतिजन्य ज्ञान भी ज्ञान की विशेष दशा है। द्वैकोटिक ज्ञान सन्देह तथा एककोटिक सत्यासत्य ज्ञान निश्चय, भ्रम, सम्भावना, स्मृति आदि का हेतु सादृश्य होता है। हमने सादृश्य से स्मृति, भ्रान्ति, सन्देह, सम्भावना आदि मानसिक दशा के आविर्भाव के मनोवैज्ञानिक तथ्य पर काव्यालङ्कार के मनोवैज्ञानिक अध्ययन के सन्दर्भ मे विस्तार से विचार किया है।[1] स्पष्ट है कि दास ने मनोवैज्ञानिक आधार पर उत्प्रेक्षादि-वर्ग मे अलङ्कारो का वर्गीकरण किया है। इन अलङ्कारो के मूल मे समान तत्त्व है दो वस्तुओ के ज्ञान का सम्बन्ध-विशेष।

व्यतिरेक-रूपकादि-वर्ग के रूपक, परिणाम और उल्लेख रुय्यक आदि के द्वारा अभेद-प्रधान सादृश्यमूलक-वर्ग मे रखे गये थे। रुय्यक की उस धारणा को लेकर दास ने उसमे गम्यमान औपम्य के व्यतिरेक को मिला कर एक वर्ग की कल्पना कर ली है। अतिशयोक्ति-वर्ग के अलङ्कारो मे समान रूप से अतिशयता की धारणा है।

अन्योक्त्यादि-वर्ग मे ऐसे अलङ्कारो को परिगणित किया गया है, जिनमे समान रूप से एक अर्थ के कथन से अन्य अर्थ की व्यञ्जना होती है। जहाँ कवि अभिप्रेत अर्थ का साक्षात् कथन न कर ऐसी भङ्गी से वर्णन करता है कि अभीष्ट अर्थ अभिव्यञ्जित हो जाता है, ऐसी उक्तियों के विभिन्न रूपो मे विभिन्न अलङ्कारो की कल्पना अलङ्कार-शास्त्र मे की गयी है। भिखारी दास ने एक उक्ति से अन्य उक्ति की व्यञ्जना की धारणा पर आधृत अलङ्कारों को एक वर्ग मे वर्गीकृत किया है। इस वर्ग के अलङ्कारो का मूल-तत्त्व है एक अर्थ की उक्ति से अन्यार्थ की व्यञ्जना। अतः, इस वर्ग के अलङ्कारो को अन्यार्थ-व्यञ्जनामूलक कहा जा सकता है। यह भ्रान्ति नही होनी चाहिए कि अन्योक्ति आदि वर्ग मे केवल अन्य उक्ति अर्थात् अप्रस्तुत-उक्तिमूलक अलङ्कार ही है।[2] इस वर्ग के अप्रस्तुतप्रशसा मे यदि अप्रस्तुतकथन से प्रस्तुत

१. द्रष्टव्य—प्रस्तुत ग्रन्थ, अध्याय ८

२. डॉ० ओम्प्रकाश ने अन्योक्ति से केवल अप्रस्तुतोक्ति का अर्थ मान लिया है। (द्रष्टव्य, रीति-अलङ्कार साहि० पृ० ४६१)। ऐसा अर्थ मानने पर समासोक्ति आदि का इस वर्ग मे समावेश सम्भव नही होगा। दास ने इस वर्ग के अलङ्कारों का मूलाधार अन्य की उक्ति से अन्य की व्यञ्जना को माना हे। वह उक्ति अप्रस्तुत की भी हो सकती है और प्रस्तुत की भी।

गम्यमान होता है तो इसके विपरीत समासोक्ति मे प्रस्तुत की उक्ति से अप्रस्तुत की व्यञ्जना होती है। प्रस्तुताङ्कुर मे एक प्रस्तुत के वर्णन से दूसरे प्रस्तुत का भी बोध हो जाता है। व्याजस्तुति मे निन्दा तथा स्तुति की उक्ति से क्रमश स्तुति और निन्दा की व्यञ्जना होती है। आक्षेप मे विधि-मुख से निषेध आदि की व्यञ्जना होती है। निष्कर्ष यह कि अन्योक्त्यादि वर्ग के सभी अलङ्कारो मे एक अर्थ के कथन से अन्य अर्थ की व्यञ्जना होती है।

विरुद्धादि अलङ्कार-वर्ग की कल्पना आचार्य रुय्यक के विरोधमूलक अलङ्कार-वर्ग के आधार पर की गयी है। इस वर्ग के अलङ्कारो का मूल-तत्त्व विरोध है। आचार्य रुय्यक ने इस वर्ग मे विरोध, विभावना, व्याघात आदि बारह अलङ्कारो की गणना की थी। भिखारी दास ने उनमे से छह को विरुद्धादि अलङ्कार-वर्ग मे रखा है।

उल्लास आदि वर्ग मे परिगणित चौदह अलङ्कारो के समान मूल-तत्त्व का स्पष्ट निर्देश भिखारी दास ने किया है। उन्होने कहा है कि मैने गुण-दोष की धारणा के आधार पर चौदह अलङ्कारो को उल्लासादि वर्ग मे रखा है।[१] स्पष्टत, अलङ्कारों के मूल-तत्त्व के आधार पर प्रस्तुत अलङ्कार-वर्ग कल्पित है। अलङ्कारो के मूल मे गुण-दोष-धारणा का समान आधार स्थिर कर एक नवीन अलङ्कार-वर्ग की कल्पना का श्रेय भिखारी दास को है।

सम आदि सोलह अलङ्कारो के एक वर्ग की कल्पना का आधार दास ने उचित-अनुचित बात के कहने का चमत्कार माना है।[२] इस प्रकार इस वर्ग की कल्पना भी अलङ्कारो के मूल मे निहित एक सामान्य तत्त्व के आधार पर ही की गयी है।

सूक्ष्म आदि वर्ग मे अलङ्कार-वर्गीकरण का आधार ध्वनि को माना गया है। इस वर्ग के अलङ्कारो मे समान रूप से वस्तु व्यङ्ग्य हुआ करती है।[3] रुय्यक आदि ने भी गूढार्थप्रतीतिमूलक अलङ्कारो का स्वतन्त्र वर्ग माना है। यह धारणा रुय्यक की धारणा से मिलती-जुलती है।

---

१. सब गुन-दोष-प्रकार गुनि, किएँ एक ही ठौर थिति।
—भिखारी दास, काव्यनिर्णय, १४ पृ० ३५७

२. वही, १५ पृ० ३८५

३. वही, १६ पृ० ४३१

स्वभावोक्ति-वर्ग के अलङ्कारो का समान तत्त्व वाचकपद-मूलकता को स्वीकार किया गया है।[१] अत, सूक्ष्म आदि व्यङ्ग्यप्रधान अलङ्कारो से स्वभावोक्ति आदि वाचकपदप्रधान अलङ्कार भिन्न-धर्मा है।

दास के अर्थालङ्कार-विभाग की इस परीक्षा से स्पष्ट हो जाता है कि उन्होने कुछ अलङ्कारों को एक वर्ग मे रखने के समय उन अलङ्कारो मे अन्तर्निहित कुछ मूल-तत्त्वो को ध्यान मे अवश्य रखा था। उन वर्गो का स्पष्ट नामकरण नही होने के कारण मूल-तत्त्व की धारणा अवश्य ही कुछ अस्पष्ट रह गयी है, किन्तु कई वर्गो के मूलाधार का स्पष्ट उल्लेख भी दास ने कर दिया है। अत, भिखारी दास के अलङ्कार-वर्गो के सम्बन्ध मे कन्हैयालाल पोद्दार की यह मान्यता प्रमाण-पुष्ट नही है कि दास ने अलङ्कारों का क्रम मूल-तत्त्वों के आधार पर नही रखा।[२]

भिखारी दास के वर्गीकरण मे थोडी अव्यवस्था भी अवश्य रह गयी है। उपमादि वर्ग से व्यतिरेक रूपकादि वर्ग को अलग करने का एक आधार यह माना जा सकता है कि सादृश्यमूलक होने पर भी उपमा आदि भेदाभेदतुल्य-प्रधान है तो रूपक आदि अभेद प्रधान, पर प्रश्न यह है कि उस अभेदप्रधान सादृश्यमूलक अलङ्कार-वर्ग मे व्यतिरेक को कैसे गिना जा सकता है? अतिश-योक्ति-वर्ग के अलङ्कारों का मूल-तत्त्व भी यदि अतिशय की धारणा को स्वीकार किया जाय तो उदात्त की इस वर्ग मे गणना उचित नही जान पडती। वर्गी-करण-विषयक ये छोटी-छोटी अव्यवस्थाएँ उपेक्षणीय ही मानी जा सकती है, फिर भी डॉ० भगीरथ मिश्र के इस अतिगामी कथन से सहमत होना कठिन है कि इस प्रकार अनेक अलङ्कारो का सामान्य आधार ढूँढ कर उनका वर्ग बाँधना दास की विशेषता है, जैसा कि न किसी ने पहले और न किसी ने उनके पीछे किया।[3] डॉ० मिश्र का यह कथन इस सुधार के साथ मान्य है कि हिन्दी-रीति-आचार्यो मे दास का वर्गीकरण-प्रयास सर्वाधिक प्रामाणिक है।

दास ने वाक्यालङ्कार-वर्ग की कल्पना कर प्राचीन आचार्यों के द्वारा अर्थालङ्कार के रूप मे स्वीकृत यथासख्य, एकावली, कारणमाला, उत्तरोत्तर, रसनोपमा, रत्नावली, पर्याय और दीपक को इस स्वतन्त्र वाक्यालङ्कार-वर्ग मे विभाजित किया है।

---

१. भिखारी दास, काव्यनिर्णय १७ पृ० ४५७
२. कन्हैयालाल पोद्दार, काव्यकल्पद्रुम, भाग २, प्राक्कथन, पृ० ४२
३. डॉ० भगीरथ मिश्र, हिन्दी काव्यशा० का इति०, पृ० १३७

आचार्य भिखारी दास के अलङ्कार-वर्गो को निम्न तालिका से प्रकट किया जा सकता है—

अलङ्कार

- अर्थालङ्कार
  - १ उपमादि
  - २ उत्प्रेक्षादि
  - ३ व्यतिरेकरूपकादि
  - ४ अतिशयोक्ति आदि
  - ५ अन्योक्तिआदि
  - ६ विरुद्धादि
  - ७ उल्लासादि
  - ८ समादि
  - ९ सूक्ष्मादि
  - १० स्वभावोक्ति आदि
- वाक्यालङ्कार (८)
- शब्दालङ्कार (५)
- चित्रालङ्कार (१)

सस्कृत तथा हिन्दी अलङ्कार-शास्त्र के आचार्यो के अलङ्कार-वर्गीकरण-प्रयास के इस परीक्षण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हे कि काव्यालङ्कार का विभाग दो दृष्टियो से किया गया है—(क) अलङ्कार के आश्रयभूत शब्द और अर्थ की दृष्टि से तथा (ख) अर्थालङ्कारो मे भी अनेक अलङ्कारो मे समान रूप से पाये जाने वाले मूल-तत्त्व की दृष्टि से। आश्रय के आधार पर मुख्यत तीन अलङ्कार-वर्गो की कल्पना की गयी है—(क) शब्दालङ्कार-वर्ग, (ख) अर्थालङ्कार-वर्ग तथा (ग) उभयालङ्कार-वर्ग।

उन तीन वर्गों के अतिरिक्त कुछ आचार्यो ने मिश्रालङ्कार-वर्ग की तथा सङ्कीर्ण या अन्योन्याश्लेषपेशल-वर्ग की भी कल्पना की है। उभय, मिश्र तथा सङ्कीर्ण वर्गो की धारणा स्पष्ट नही रही है। कुछ आचार्यो ने उभयालङ्कार-वर्ग मे ही ससृष्टि और सङ्कर को रखा है। कुछ आचार्यो के द्वारा उभयालङ्कार-वर्ग मे शब्दार्थोभयगत अलङ्कार रखे गये है। मिश्रालङ्कार-वर्ग की भी स्थिति स्पष्ट नही। एक तो इस वर्ग की सत्ता बहुत कम आचार्यो ने स्वीकार की है, दूसरे यह मत भी स्थिर नही हो पाया है कि इस वर्ग मे केवल उन्ही अलङ्कारो का वर्गीकरण किया जाय, जिनमे दो या अधिक अलङ्कारो की प्रकृति का मिश्रण है, या उनका भी, जिनमे एकाधिक अलङ्कार के साथ रहने की धारणा है। सङ्कीर्ण या अन्योन्याश्लेषपेशल-वर्ग मे केवल अलङ्कारो की ससृष्टि या उनका सङ्कर रखा गया है।

उपरिलिखित पाँच वर्गों को स्वीकार कर लेने से अलङ्कारो के आश्रय के आधार पर वर्गीकरण की समस्या का समाधान मिल जाता है। कुछ अलङ्कार शब्द पर आश्रित है, कुछ अर्थ पर तो कुछ शब्द और अर्थ दोनों पर। उदाहरणार्थ; अनुप्रास, यमक आदि शब्दाश्रित है, उपमा आदि अर्थाश्रित तथा वक्रोक्ति, पुनरुक्तवदाभास आदि शब्दार्थोभयाश्रित। श्लेष भी उभयालङ्कार है। अत, उसके दो रूपो—शब्दश्लेष और अर्थश्लेष—की कल्पना करनी पडी है। मालादीपक, उपमारूपक आदि अलङ्कारो मे दो अलङ्कारों के स्वभाव का मिश्रण है। ऐसे अलङ्कारो को सामान्यतः अर्थालङ्कार-वर्ग मे रखा जाता है; पर उन्हे मिश्रालङ्कार-वर्ग मे रखना अधिक सङ्गत होगा। ससृष्टि और सङ्कर को स्वतन्त्र वर्ग मे—सङ्कीर्ण-वर्ग या अन्योन्याश्लेषपेशल-वर्ग में—रखा जाना चाहिए।

हिन्दी-रीति-साहित्य मे दो और वर्ग कल्पित हुए—शब्दालङ्कार-वर्ग से स्वतन्त्र चित्रालङ्कार-वर्ग तथा र्थालङ्कार-वर्ग से स्वतन्त्र वाक्यालङ्कार-वर्ग। इन वर्गों की कल्पना केवल अध्ययन की सुविधा के लिए स्वीकार की जा सकती है।

पण्डित रामदहिन मिश्र ने आलोचक-सुलभ तटस्थता के साथ रुद्रट, विद्यानाथ, रुय्यक आदि के अलङ्कारवर्गीकरण की परीक्षा कर उन्हे वैज्ञानिक वर्गीकरण माना है।[१] किन्तु, उन्होने अपने मत से अलङ्कारो के शब्दगत एवं अर्थगत-वर्ग मान कर अर्थगत अलङ्कारों को पुन औपम्यमूलक तथा वाक्य-वक्रता-मूलक अलङ्कार-वर्गो में विभाजित किया है।[२]

अर्थालङ्कार का समान मूल-तत्त्व के आधार पर वर्गीकरण का प्रयास रुद्रट से लेकर भिखारी दास तक चलता रहा। उन आचार्यो के द्वारा कल्पित अलङ्कार-वर्गों मे से कोई एक तो सर्वथा पूर्ण और निर्दोष नही है, पर उन सब को मिला कर वर्गीकरण का एक व्यापक और पूर्ण आधार बनाया जा सकता है। अलङ्कारो के स्वरूप पर समग्रता से विचार करने पर उनके कुछ व्यावर्त्तक धर्म स्पष्टत. परिलक्षित होते है। कुछ अलङ्कारो मे प्रस्तुत की प्रभाव-वृद्धि के लिए अप्रस्तुत की योजना होती है। आरम्भ मे अलङ्कार-विधान के मूल मे अप्रस्तुत विधान की ही धारणा थी। शब्दचमत्कारमूलक

१. द्रष्टव्य—रामदहिन मिश्र, काव्यदर्पण, पृ० ४३७-३८
२. वही, पृ० ४१९-२०

यमक को छोड, भरत के तीनो अर्थालङ्कारो के मूल मे अप्रस्तुत-योजना की धारणा थी। वामन, अभिनव आदि आचार्य प्रस्तुत के लिए अप्रस्तुत का विधान करने वाले अलङ्कारो को ही स्वीकार्य मानते है। भारतीय अलङ्कार-शास्त्र मे अनेक ऐसे अलङ्कार भी कल्पित और स्वीकृत हुए है, जिनमे केवल वर्ण्य-वस्तु का भङ्गी-विशेष से वर्णन अपेक्षित होता है। यह वर्णन दो रूपो में हो सकता है—वस्तु-स्वभाव या स्वरूप का यथार्थ वर्णन तथा उसका सातिशय या कृत्रिम वर्णन। अप्रस्तुत-विधान मे तो सातिशयता रहा ही करती है, वस्तु-स्वरूप के वर्णन मे भी कही-कही सातिशय की धारणा रहा करती है। इस दृष्टि से रुय्यक के औपम्य, वास्तव और अतिशय—ये तीनो अलङ्कार-वर्ग वैज्ञानिक, अतः स्वीकार्य है।

अनेक अलङ्कारो का प्रधान स्वभाव गूढार्थ-प्रत्यायकता है; अत· रुय्यक का गूढार्थ-प्रतीतिमूलक एक अलङ्कार-वर्ग भी स्वीकार किया जा सकता है। भिखारी दास के अनुसार इसे व्यापक रूप देकर उन सभी अलङ्कारों को, जिनमें एक उक्ति से अन्य अर्थ की व्यञ्जना होती है, इसमे वर्गीकृत किया जा सकता है।

हम देख चुके है कि पीछे चलकर शास्त्र तथा लोकन्याय की धारणा की भी अवतारणा अलङ्कार-क्षेत्र मे हुई है। अतः, रुय्यक के द्वारा कल्पित न्याय-मूलक-वर्ग भी उपादेय है।

रस-भाव आदि पर आश्रित रसवत्, प्रेय आदि के लिए एक स्वतन्त्र वर्ग स्वीकार किया जाना चाहिए। इस वर्ग की कल्पना का श्रेय विद्यानाथ को है।

उक्तिवैचित्र्य या भङ्गी-भणिति पर आधृत अलङ्कारो का एक स्वतन्त्र वर्ग माना जा सकता है।

गुण-दोष, कार्य-कारण, विशेषण-विशेष्य आदि के सम्बन्ध पर आश्रित अलङ्कारो के भी पृथक्-पृथक् वर्ग माने जा सकते है।

इन वर्गों मे अलङ्कारो का विभाजन निम्नलिखित रूप में किया जा सकता है:—

शब्दालङ्कार-वर्ग :—अनुप्रास, यमक।
चित्रालङ्कार-वर्ग :—चित्र, प्रहेलिका।
उभयालङ्कार-वर्ग (शब्दार्थोभय) :—पुनरुक्तवदाभास, वक्रोक्ति, श्लेष।
मिश्रालङ्कार-वर्ग :—सापह्नवोत्प्रेक्षा, उपमा-रूपक, मालादीपक आदि।
सङ्कीर्ण अलङ्कार-वर्ग :—संसृष्टि, सङ्कर।

अर्थालङ्कार-वर्ग :—शेष सभी अलङ्कार, जो अर्थ पर आश्रित है, इस वर्ग मे आते है। पर्याय-परिवर्त्तन-सहत्त्व इस वर्ग के अलङ्कार की कसौटी है। अर्थालङ्कार का निम्नलिखित वर्गों मे विभाजन किया जा सकता है :—

अप्रस्तुत विधान वाले अर्थात् औपम्यमूलक अलङ्कार —उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अपह्नुति, सशय, समासोक्ति, अन्योक्ति, प्रतीप, अर्थान्तरन्यास, भ्रान्तिमान्, आक्षेप, दृष्टान्त, साम्य, स्मरण, उपमेयोपमा, अनन्वय, परिणाम, अतिशयोक्ति, तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, निदर्शना, व्यतिरेक, विनोक्ति, अप्रस्तुतप्रशसा, सहोक्ति आदि।

वस्तुवर्णनपरक अर्थात् वास्तवमूलक अलङ्कार :—स्वभावोक्ति, समुच्चय, यथासख्य, पर्याय, विषम, अनुमान, परिकर, परिवृत्ति, परिसख्या, हेतु, कारणमाला, अन्योन्य, उत्तर, सार, लेश, अवसर, मीलित, एकावली, अतद्गुण, पूर्वरूप, अनुगुण, स्वगुण, भाविक, उदात्त, भाविकच्छवि आदि।

अतिशयमूलक :—पूर्व, विशेष, विभावना, तद्गुण, अधिक, विरोध, विषम, असङ्गति, पिहित, व्याघात, अहेतु, विशेषोक्ति, विचित्र, अत्युक्ति, कार्यकारणपौर्वापर्य-विपर्यय-रूप अतिशयोक्ति आदि।

गूढार्थप्रतीतिमूलक या व्यङ्ग्य-गर्भ अलङ्कार :—सूक्ष्म, व्याजोक्ति, पिहित, गूढोत्तर, गूढोक्ति, ललित, विवृतोक्ति, प्रस्तुताङ्कुर आदि।

रसभावाश्रित अलङ्कार :—रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वी, समाहित, भावसन्धि, भावशबलता आदि।

न्यायमूलक :—(क) लोकन्यायाश्रित—प्रत्यनीक, प्रतीप, मीलित, सामान्य, तद्गुण, अतद्गुण, उत्तर।

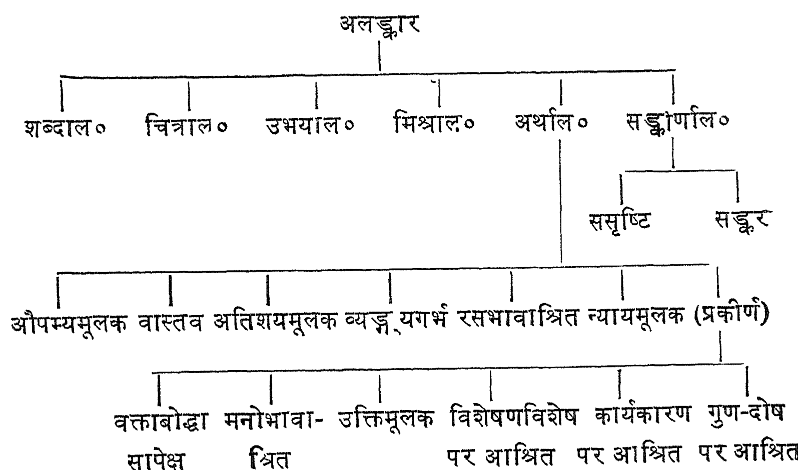
(ख) वाक्यन्यायमूलक—यथासख्य, पर्याय, परिवृत्ति, अर्थापत्ति, विकल्प, परिसख्या, समुच्चय, समाधि।

(ग) तर्कन्यायमूलक—काव्यलिङ्ग, अनुमान, प्रमाणालङ्कार आदि।

कार्यकारण-भाव, विशेष्यविशेषण-भाव आदि के आधार पर भी अलङ्कारो के अवान्तर-भेद सम्भव है। उक्ति-भङ्गिमा पर आधृत लोकोक्ति, छेकोक्ति, व्याजोक्ति आदि को अलग वर्ग मे भी रखा जा सकता है। मनोभाव से प्रत्यक्षतः सम्बद्ध अलङ्कारो को अलग मनोभावाश्रित-वर्ग मे वर्गीकृत किया जा सकता है। इस वर्ग मे प्रहर्षण, विषादन, स्मृति, भ्रान्ति, सन्देह आदि को रखा जा सकता है।

प्रमाता-प्रमेय, वक्ता-बोद्धा आदि की अपेक्षा रखने वाले व्याजस्तुति, वक्रोक्ति, प्रश्नोत्तर, व्याजोक्ति आदि का भी एक स्वतन्त्र वर्ग कल्पित हो सकता है। अनेक दृष्टियो से अलङ्कार का वर्गीकरण किये जाने पर एक ही अलङ्कार अनेक वर्गो मे भी आ सकता है। यह अशास्त्रीय नही। उदाहरणार्थ, लोकन्यायाश्रित अनेक अलङ्कार वास्तव वर्गगत भी है।

अलङ्कार-वर्गीकरण के आयास की सार्थकता केवल तत्तद्वर्गो मे अलङ्कार के अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से ही है। स्वीकार्य अलङ्कार-वर्गो की तालिका नीचे दी जाती है :—



अलङ्कारों का स्वरूप-विकास

भारतीय अलङ्कार-शास्त्र मे निरूपित काव्यालङ्कारों के लक्षण की परीक्षा से यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी अलङ्कार के किसी विशेष आचार्य द्वारा कल्पित लक्षण से सभी आचार्य सहमत नही। एक ही आचार्य के द्वारा प्रतिपादित अलङ्कार-लक्षण से सभी आचार्यों की सहमति उनकी स्वस्थ समीक्षात्मक दृष्टि का परिचायक भी नही होती। सभी आचार्यों ने अलङ्कार-विशेष के सम्बन्ध में पूर्व-स्थापित मान्यता पर विचार करते हुए उसका परिमार्जित और निर्दुष्ट लक्षण-निरूपण करने का प्रयास किया है। जिन आचार्यों मे विषय-विवेचन की मौलिक दृष्टि थी, उन्होने स्वतन्त्र रूप से अलङ्कार-विशेष की परिभाषा की कल्पना की। सामान्य मेधा वाले आचार्यों ने पूर्ववर्ती आचार्यों के द्वारा निरूपित अलङ्कार-लक्षणो मे से ही किसी एक का ग्रहण और अन्य का त्याग किया। कुछ आचार्यों ने पूर्व-उद्भावित अनेक लक्षणों को मिला-जुला कर अलङ्कार-विशेष का एक लक्षण बना दिया। अलङ्कार-लक्षण का यह त्याग-ग्रहण आरम्भ से अन्त तक चलता रहा है। बीच-बीच मे स्वतन्त्र चिन्तन से भी अलङ्कार-लक्षणो की कल्पना होती रही है। अतः, अलङ्कार-विशेष का लक्षण-विकास अलङ्कार-धारणा के क्रमिक विकास का प्रतिनिधित्व नही करता, जैसा कि भ्रमवश कुछ लोगो ने मान लिया है।[1] अलङ्कार-विशेष के लक्षण-विकास के पीछे कई कारण विद्यमान रहे है, जिनमे कुछ का सम्बन्ध साहित्य-विषयक मान्यता से तथा कुछ का सम्बन्ध मूलत भाषा की प्रकृति से है।

१. द्रष्टव्य—डॉ० ओमप्रकाश, रीतिकालीन अलङ्कार-साहित्य का शास्त्रीय विवेचन, पृ० २२६

रसवत् आदि के स्वरूप के सम्बन्ध मे अलङ्कारवादी एव रसवादी आचार्यो का दृष्टिभेद स्वाभाविक था। रस आदि को अलङ्कार के क्षेत्र मे परिमित करने का आग्रह रखने वाले आचार्यो ने रसपेशलता को रसवत् अलङ्कार मान लिया, किन्तु जो आचार्य काव्य मे रस का अलङ्कार से स्वतन्त्र तथा उससे अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान मानने के पक्षपाती थे, उन्होने केवल रस की अप्रधानता के स्थल मे रसवत् अलङ्कार का अस्तित्व स्वीकार किया।[१] भावाश्रित प्रेय, ऊर्जस्वी आदि की भी यही स्थिति है। फलत, रसवदादि अलङ्कारो के स्वरूप का निरूपण रसवादी तथा अलङ्कारवादी आचार्यो के द्वारा अलग-अलग रूपो मे किया गया।

अलङ्कार के सम्बन्ध मे आचार्यों की मूल धारणा के भेद के कारण भी अलङ्कार-विशेष का स्वरूप-परिवर्त्तन हुआ है। वामन आदि आचार्यो ने इस मूल धारणा के साथ अलङ्कार-विशेष का लक्षण-निरूपण किया कि प्रत्येक अलङ्कार मे उपमानोपमेय भाव किसी-न-किसी रूप मे अवश्य रहना चाहिए। अत', उन्होने पूर्वाचार्यो के अनेक अलङ्कारों का अलङ्कारत्व तो अस्वीकार कर ही दिया, साथ ही कुछ अलङ्कारो के स्वरूप मे उपमानोपमेय-सम्बन्ध को जोड कर उनके किञ्चित् नवीन रूप का प्रतिपादन किया। फलत, परिवृत्ति, सहोक्ति आदि में भी, जिनमे अन्य आचार्यो ने क्रमश. किन्ही दो वस्तुओ का विनिमय तथा सहभाव-वर्णन अपेक्षित माना था, वामन के अनुसार विनिमय तथा सहभाव वाली वस्तुओ के बीच कुछ प्रस्तुत-अप्रस्तुत के सम्बन्ध की कल्पना आवश्यक हो गयी। उपमानोपमेय-भाव के आग्रह के कारण ही उनकी विशेषोक्ति शोभाकर के अभेद तथा जगन्नाथ के रूपक के समान बन गयी है।

अलङ्कार-शास्त्र का इतिहास प्रमाणित करता है कि प्राचीन आचार्यों मे सामान्य रूप से तत्त्व-निरूपण की प्रवृत्ति थी, पर पीछे चल कर विशेषीकरण की प्रवृत्ति बढती गयी। फलत, प्राचीन आचार्यो के द्वारा निरूपित एक अलङ्कार के व्यापक स्वरूप से पीछे चल कर अनेक अलङ्कार आविर्भूत हुए है। एक अलङ्कार के आधार पर अनेक अलङ्कारो की कल्पना के लिए उन दोनो के बीच किञ्चित् भेद की कल्पना तथा दोनो की सीमा के निर्धारण की

---

१. भामह, उद्भट आदि ने शृङ्गारादि रसयुक्त वाक्य मे रसवत् अलङ्कार माना है; पर विश्वनाथ के अनुसार रस-भाव आदि के गौण हो जाने मे रसवत्, प्रेय आदि अलङ्कार का अस्तित्व माना जाता है।—तुलनीय—उद्भट,काव्यालं० सार सं० ४,२-४ तथा विश्वनाथ,साहित्यद० १०,१२४

आवश्यकता हुई। उस मूल अलङ्कार के क्षेत्र को सीमित करने तथा उससे उद्भूत अलङ्कार से उसके स्वरूप का भेद सिद्ध करने के लिए उसकी परिभाषा मे परिवर्त्तन किया गया। उदाहरणार्थ, आचार्य भरत ने यमक का लक्षण केवल 'शब्द का अभ्यास' अर्थात् शब्द की आवृत्ति को माना था।[1] अभिनव गुप्त ने यह स्पष्ट कर दिया है कि यमक के उक्त लक्षण मे ही अनुप्रास, लाटानुप्रास आदि की सम्भावना निहित थी।[2] पीछे चल कर जब यमक से अनुप्रास, लाटानुप्रास आदि की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की गयी तो उनके बीच कुछ भेद लाने के लिए भरत के यमक-लक्षण मे एक विशेषण जोड दिया गया कि 'अर्थ-भेद से पदावृत्ति होने पर यमक अलङ्कार होता है।' इस प्रकार यमक के प्राचीन लक्षण मे परिवर्त्तन तथा उसका सीमा-निर्धारण किया गया।

कुछ आचार्यो ने सभी अलङ्कारो की सज्ञा को अन्वर्था सज्ञा मान कर नाम के आधार पर उनके स्वरूप की कल्पना की है। अधिकांश अलङ्कारो के नाम अन्वर्थ अवश्य है; किन्तु कुछ अलङ्कारो के नामानुरूप लक्षण-योजना के लिए उनके स्वरूप मे किञ्चित् परिवर्त्तन करना पडा है। शब्दार्थ के सम्बन्ध मे धारणा के परिवर्त्तन के साथ अलङ्कार-लक्षण के परिवर्त्तन का विस्तार से अध्ययन हमने 'अलङ्कार और भाषा' नामक अध्याय मे किया है। यहाँ एक उदाहरण पर्याप्त होगा—अप्रस्तुतप्रशसा का लक्षण अधिकाश आचार्यो ने यह माना है कि इसमे अप्रस्तुत का वर्णन होता है और उससे प्रस्तुत अर्थ की व्यञ्जना होती है, पर कुछ आचार्यो ने प्रशसा का अर्थ स्तुतिगान मान कर लक्षण मे यह परिवर्त्तन कर दिया कि अप्रस्तुत प्रशसा मे उपमान की प्रशसा अर्थात् स्तुति की जाती है और फिर इस लक्षण को देख कर कुछ आचार्यो ने उसके स्थान पर अप्रस्तुतस्तुति नामकरण कर दिया।

इस प्रकार अनेक कारणो से अलङ्कार-विशेष के लक्षण मे सशोधन-परिवर्त्तन होते रहे है। अलङ्कार-विशेष के लक्षण-विकास (विकास से तात्पर्य परिवर्त्तन-मात्र का है) के अध्ययन मे उसके मूल मे निहित साहित्य-शास्त्रीय तथा साहित्य-शास्त्रेतर कारणो का परीक्षण वाञ्छनीय होगा। अलङ्कार के लक्षण मे कुछ परिवर्त्तन तो केवल मौलिकता-प्रदर्शन के लिए कर दिया गया

---

१. शब्दाभ्यासस्तु यमकम्·········।—भरत, ना० शा० १६,५९

२. शब्दशब्देन वर्णः पद तदेकदेश इति सर्वं गृह्यते। तेनानुप्रासः, लाटीयादेरनेनैवोपसग्रहः।—वही, अभिनवभारती, पृ० ३२६।

है, कुछ परिवर्त्तन भ्रान्तिवश भी हो गया है।[१] ऐसे भ्रान्तिमूलक तथा नवीनता-प्रदर्शनमूलक परिवर्त्तन अग्राह्य है। अत, उनपर विशेष विचार की अपेक्षा नही।

प्रस्तुत अध्याय मे हम चार मूल अलङ्कारो से लेकर शताधिक स्वीकार्य अलङ्कारो मे से प्रत्येक के उद्भव से लेकर संस्कृत तथा हिन्दी-अलङ्कार-शास्त्र मे उसके स्वरूप-विकास का अध्ययन प्रस्तुत करेगे—

यमक

भारतीय अलङ्कार-शास्त्र मे उपलब्ध शब्दालङ्कारो में यमक प्रथम है। ऐतिहासिक दृष्टि से तो यह प्रथम है ही, समग्र शब्दालङ्कार-प्रपञ्च का उद्गम-स्रोत होने के कारण महत्त्व की दृष्टि से भी प्रथम है। आचार्य भरत के द्वारा स्वीकृत एव परिभाषित चार अलङ्कारों मे यमक एकमात्र शब्दालङ्कार है। यद्यपि भरत ने शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार-वर्गो मे अलङ्कारो का विभाजन नही किया था तथापि यमक के लक्षण से अन्य अलङ्कारो से इसका यह भेद स्पष्ट हो जाता है कि इसमे शब्द-सौन्दर्य पर बल दिया गया है, जब कि अन्य अलङ्कारो मे अर्थ की चारुता का विचार है। अभिनवगुप्त ने यमक को शब्दालङ्कार कह कर भरत के शेष तीन अलङ्कारो से उसका भेद किया है।[२] आचार्य भरत के अनुसार शब्द का अभ्यास अर्थात् शब्दावृत्ति यमक अलङ्कार है। एक शब्द की आवृत्ति ध्वनि-साम्य के कारण श्रुति-सुखद होती है। इस चारु श्रुति मे ही इसका अलङ्कारत्व है। आचार्य भरत के यमक-लक्षण 'शब्दाभ्यास' मे वर्णावृत्ति तथा पदावृत्ति, दोनो की धारणा निहित थी।

भामह ने प्राचीन आचार्यो के पाँच अलङ्कारो की चर्चा करते हुए भरत के चार अलङ्कारों के अतिरिक्त एक अनुप्रास का भी उल्लेख किया और वर्णाभ्यास को अनुप्रास का लक्षण मान लिया। ऐसी स्थिति मे अनुप्रास और यमक की पृथक्-पृथक् सत्ता के प्रतिपादन के लिए यमक-परिभाषा से वर्णाभ्यास की धारणा को निकाल कर उसके क्षेत्र का सीमा-निर्धारण आवश्यक हो

---

१. हिन्दी के रीति-अलङ्कार-लक्षण मे अनेकत्र ऐसी भ्रान्ति तथा नवीनता-प्रदर्शन के मोह का उल्लेख हमने किया है। द्रष्टव्य—प्रस्तुक ग्रन्थ अध्याय ३

२. शब्दालङ्कारस्वरूपमाह शब्दाभ्यासस्तु यमकमिति।
—भरत, ना० शा० अभिनव भारती, पृ० ३२६

गया। भामह ने यमक की कोई नवीन परिभाषा तो नही दी; पर उसके व्यापक स्वरूप से अनुप्रास को पृथक् करने के लिए यमक की पूर्व-प्रतिपादित परिभाषा में कुछ विशेषण जोड़ कर उसके विषय-क्षेत्र को सीमित कर दिया। भरत की वर्णाभ्यास-धारणा के आधार पर अनुप्रास की कल्पना की गयी और पदाभ्यास-धारणा के आधार पर यमक के स्वरूप का स्थिरीकरण किया गया। यमक और अनुप्रास के बीच कुछ व्यावर्त्तक धर्मो की कल्पना की गयी। जब वर्णावृत्ति को अनुप्रास कहा गया तब यमक मे श्रुतिसम वर्ण-समुदाय की आवृत्ति पर बल दिया गया। समान श्रुति वाले स्वर और व्यञ्जन के समुदाय की आवृत्ति मे ही यमक का सद्भाव माना गया। अनुप्रास मे केवल व्यञ्जन की भी आवृत्ति हो सकती है; पर यमक मे स्वर-व्यञ्जन-सङ्घ की आवृत्ति आवश्यक मानी गयी। अनुप्रास मे केवल व्यञ्जनावृत्ति के साथ स्वर-व्यञ्जन-समुदाय की भी आवृत्ति हो सकती है। अत', यमक-लक्षण मे एक और व्यावर्त्तक धर्म की कल्पना आवश्यक हुई। यह माना गया कि यमक मे श्रुतिसम भिन्नार्थक वर्णसमुदाय की ही आवृत्ति होनी चाहिए।[1] आचार्य भरत ने केवल शब्द की आवृत्ति यमक मे अपेक्षित मानी थी, भामह ने उस परिभाषा को दो सुधारो के साथ स्वीकार किया—(क) केवल श्रुतिसम व्यञ्जन की नही, स्वर-व्यञ्जन-समुदाय की आवृत्ति यमक मे होनी चाहिए तथा (ख) पुनरावृत्त स्वर-व्यञ्जन-समुदाय मे श्रुति की समता; पर अर्थ की भिन्नता होनी चाहिए। इस प्रकार अनुप्रास को यमक से अलग कर दोनो का भेद इन रूपो मे माना गया—

(अ) अनुप्रास मे केवल एक या अनेक व्यञ्जन की भी आवृत्ति हो सकती है और स्वर के साथ भी। पर,

यमक मे स्वर और व्यञ्जन के समुदाय की उसी क्रम मे आवृत्ति होती है।

(आ) यमक में आवृत्ति वाले पदो मे श्रुतिमात्र की समता अपेक्षित है। सार्थक पदों के अर्थ मे भिन्नता आवश्यक है। निरर्थक वर्णो की भी आवृत्ति हो सकती है। अनुप्रास मे (विशेषत. लाटानुप्रास मे) अर्थ-भेद आवश्यक नही। केवल तात्पर्य-भेद से समानार्थक श्रुतिसम शब्दों की भी आवृत्ति हो सकती है। स्पष्ट है कि यमक के ही कुछ तत्त्वो से अनुप्रास की कल्पना कर लेने पर यमक की परिभाषा मे कुछ परिष्कार करने की आवश्यकता हुई।

---

१. द्रष्टव्य, भामह, काव्यालङ्कार २,९-१८

वामन ने यमक के लक्षण मे यह स्पष्ट किया कि अनेकार्थक पद अथवा अक्षर की आवृत्ति स्थान-नियम से होने पर यमक अलङ्कार होता है।[1] वामन के इस लक्षण मे चिन्त्य है कि सार्थक केवल पद ही होते है। अत. पदावृत्ति के स्थल मे ही पदो की भिन्नार्थकता अपेक्षित होगी। जहाँ निरर्थक समश्रुति वाले वर्णो की भी स्थान-नियम से आवृत्ति होगी, वहाँ भी यमक की सत्ता मानी जायगी। भरत ने यमक मे केवल शब्दाभ्यास आवश्यक माना था। भामह के अनुसार अर्थ-भेद से वर्णावृत्ति (जिसका अर्थ पदावृत्ति ही होगा, चूँकि अर्थ-भेद पद का ही हो सकता है) यमक का लक्षण है। वामन ने यमक के लक्षण का और परिष्कार किया और उसके दो स्पष्ट भेद कर दिये—(क) सार्थक पदो की अर्थभेद से स्थान नियम के साथ आवृत्ति तथा (ख) निरर्थक वर्णसङ्घ की स्थान-नियम के साथ आवृत्ति। वामन ने अनुप्रास और यमक का भेद भी स्पष्ट कर दिया है। उनके मतानुसार—

(क) यमक मे पद या वर्णसङ्घ की आवृत्ति नियत स्थान में ही होती है, पर अनुप्रास मे आवृत्ति का स्थान अनियत है।

(ख) यमक मे पद की आवृत्ति अर्थभेद से ही हो सकती है, अनुप्रास में यह नियम नही।

(ग) यमक मे पूर्ण रूप से स्वर और व्यञ्जन-समुदाय की उसी क्रम से आवृत्ति होती है, पर अनुप्रास मे स्वर-भेद के साथ भी व्यञ्जनावृत्ति हो सकती है।

वामन का यमक-लक्षण भी आचार्य भरत की यमक-धारणा का ही स्पष्टीकरण करता है। उसके सभी विशेषणों की कल्पना अनुप्रास और यमक के स्वतन्त्र अस्तित्व के प्रतिपादन के लिए की गयी है।

रुद्रट ने भी यमक मे आवृत्त वर्णों मे श्रुति की समता, क्रम की समानता तथा (सार्थक पदों मे) अर्थ की भिन्नता वाञ्छनीय मानी है।[2] वामन के स्थान-नियम को रुद्रट ने यमक का आवश्यक लक्षण नही माना है।

वक्रोक्तिवादी कुन्तक ने वर्णविन्यास-वक्रता के भेद के रूप मे यमक का लक्षण-निरूपण किया है। उन्होने यमक-विषयक वामन की मान्यता को स्वीकार

१. पदमनेकार्थमक्षरं वाऽवृत्तं स्थाननियमे यमकम्।
—वामन, काव्यालं० सू०, ४, १, १

२. तुल्यश्रुतिक्रमाणामन्यार्थाना मिथस्तु वर्णानाम्।
पुनरावृत्तिर्यमकम् × × × ×॥—रुद्रट, काव्यालङ्कार; ३,१

कर उसमे अपनी ओर से भी कुछ जोडा है। उन्होने यमक की परिभाषा मे कहा है कि जहाँ समान वर्ण वाले, पर भिन्नार्थक; प्रसादगुणयुक्त, श्रुतिपेशल, औचित्ययुक्त पद की स्थान-नियम के साथ आवृत्ति होती हो, वहाँ यमक अलङ्कार होता है।[१] अर्थभेद से समान वर्ण वाले पद की नियत-स्थान मे आवृत्ति की धारणा प्राचीन ही है। कुन्तक की इस परिभाषा मे निरर्थक वर्ण-समुदाय की आवृत्ति में यमक की अव्याप्ति हो जाती है। प्रसाद गुण से युक्त होना, श्रुतिपेशल होना तथा औचित्ययुक्त होना कुन्तक ने यमक में आवश्यक माना है। यह धारणा नवीन है। यमक मे प्रसाद गुण भी हो तो अवश्य ही उसका सौन्दर्य बढ जायगा, पर प्रसादत्व को यमक का आवश्यक लक्षण मानना उसके क्षेत्र को अनावश्यक रूप से सीमित कर देना है। प्रसादेतर ओज आदि के स्थल में भी यमक के सद्भाव की सम्भावना को समाप्त नही किया जा सकता। श्रुतिपेशलत्व विशेषण का औचित्य भी चिन्त्य है। समान वर्ण, पद आदि की आवृत्ति के मूल मे श्रव्यत्व की धारणा प्राचीन काल से ही रही है, किन्तु कुन्तक ने श्रुतिपेशल का विशेष अर्थ मे प्रयोग किया है। उनके अनुसार अकठोर वर्ण-विन्यास ही श्रुतिमधुर होता है। इस तरह कठोर वर्ण या पद की आवृत्ति मे कुन्तक के अनुसार यमक का सद्भाव स्वीकार्य नही होगा। पर भारतीय साहित्य मे कठोर पदावृत्ति-रूप यमक के भी अनेक सुन्दर उदाहरण पाये जाते है। अत यह लक्षण अव्याप्ति दोष से मुक्त नही। औचित्ययुक्त का तात्पर्य स्पष्ट करते हुए कुन्तक ने कहा है कि जहाँ यमक-रचना के व्यसन से औचित्य की हानि नही होती हो, वही यमक का अलङ्कारत्व स्वीकीर्य होगा। अलङ्कार-विशेष के लक्षण मे यह उल्लेख अनावश्यक है। औचित्य तो गुण, अलङ्कार आदि का प्राण ही होता है। किसी भी अलङ्कार की योजना से यदि औचित्य मे न्यूनता आती है तो वह अलङ्कार अलङ्कार नही माना जा सकता। अतः कुन्तक ने यमक-परिभाषा मे कुछ स्वतन्त्र कल्पना करने पर भी इस क्षेत्र में कोई महत्त्वपूर्ण योगदान नही दिया।

रुय्यक, भोज, अग्निपुराणकार, मम्मट, विश्वनाथ आदि सस्कृत-अलङ्कार-

---

१. समानवर्णमन्यार्थं प्रसादि श्रुतिपेशलम्।
औचित्ययुक्तमाद्यादिनियतस्थानशोभि यत्॥
यमकम् × × × × ×॥
—कुन्तक, वक्रोक्तिजी० २,६-७

शास्त्र के प्राय सभी आचार्यो ने वामन, रुद्रट आदि की यमक-विषयक मान्यता को ही स्वीकार किया है।

हिन्दी-रीति-साहित्य मे भी यमक का परम्परागत स्वरूप ही स्वीकृत हुआ है। उसके कुछ नवीन भेदोपभेदो की कल्पना अवश्य की गयी, पर उसका सामान्य लक्षण वामन, रुद्रट आदि के मतानुसार ही कल्पित हुआ। याकूब खाँ ने यमक मे श्लेष के तत्त्व की कल्पना की,[1] पर वह महत्त्वपूर्ण कल्पना नही। आवृत्त पद की भिन्नार्थकता की धारणा मे ही यह धारणा अन्तर्निहित थी।

सभी आचार्यो की यमक-धारणा का निष्कर्ष इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—यमक मे स्वर-व्यञ्जन समुदाय की उसी क्रम में पाद के आदि, मध्य, अन्त आदि नियत स्थान मे आवृत्ति होती है। यदि वह वर्ण-समुदाय सार्थक हुआ तो यह आवश्यक है कि आवृत्त पदो का अर्थ परस्पर भिन्न हो। निरर्थक वर्ण-समुदाय की आवृत्ति मे स्वर-व्यञ्जन का समान क्रम तथा आवृत्ति का नियत स्थान-मात्र अपेक्षित होता है। आवृत्ति व्यवहित भी हो सकती है और अव्यवहित भी। वर्ण-समुदाय की आवृत्ति की निम्नलिखित स्थितियाँ हो सकती है—

(क) दोनो पद सार्थक हो,

(ख) दोनो वर्ण समुदाय निरर्थक हो तथा

(ग) एक अश सार्थक और अन्य निरर्थक हो।

कही पूर्व अश सार्थक और उत्तर अश निरर्थक हो सकता है, कही इसके विपरीत पूर्व अश निरर्थक और उत्तर अश सार्थक हो सकता है।

रस के साथ यमक का नियत सम्बन्ध नही होने से कुछ आचार्यो ने इसे महत्त्वहीन अलङ्कार माना है,[2] पर काव्य-प्रवृत्ति को देखने से ऐसा जाना पडता है कि महाकवियो ने भी यमक मे रुचि दिखलायी है। आचार्य भरत

---

१. यमक सहित अश्लेष, पुनि पुनि पद आवै वही।
अद्भुत कहै विशेष, अचरज उपजै आय चित॥
—याकूब खाँ, रसभूषण, पृ० ४२। उद्धृत, ओम्प्रकाश शर्मा, रीति० अलङ्कार-साहित्य, शास्त्रीय विवेचन पृ०, ३१८

२. दण्डी ने यमक को 'नैकान्तमधुर' कह कर अन्त में विवेच्य समझा था। कुन्तक ने भी उसमें शोभा का अभाव माना है। दोनो के यमक-लक्षण

द्रष्टव्य

के द्वारा दश यमक-भेदो का विशद विवेचन तथा रामायण, महाभारत आदि मे बहुलता से प्राप्य यमक-उदाहरण इसका प्रमाण है। वस्तुत' नाद-सौन्दर्य की दृष्टि से यमक का अपना महत्त्व है। अत', उसे सर्वथा उपक्षेणीय नही माना जा सकता। रस-प्रधान काव्य मे यमक की योजना अवश्य ही गौण पड गयी, क्योकि ऐसे काव्य मे कवि का ध्यान भाषा-सौन्दर्य या नाद-सौन्दर्य से हट कर भाव-सौन्दर्य पर केन्द्रित रहता है। हिन्दी-रीतिकालीन अलङ्कृत साहित्य मे यमक मे कवियो की विशेष रुचि का परिचय मिलता है। यही कारण है कि हिन्दी-अलङ्कार-शास्त्र में यमक के कई नवीन भेदो की भी कल्पना की गयी।

यमक के भरत प्रतिपादित दश भेदों के आधार पर अलङ्कार-शास्त्र मे उसके असख्य भेदो की कल्पना की गयी है। प्रत्येक अलङ्कार के भेदोपभेदों के विकास-क्रम का और उनके पारस्परिक भेद का विवेचन किया जाय तो एक विपुलकाय ग्रन्थ बन जायगा।

अनुप्रास

अनुप्रास का स्वरूप-निरूपण सर्वप्रथम आचार्य भामह के 'काव्यालङ्कार' में उपलब्ध होता है। इसकी धारणा आचार्य भरत की यमक-धारणा से आविर्भूत हुई है। यमक की तरह अनुप्रास भी वर्ण (स्वर तथा व्यञ्जन के सम्मिलित या पृथक्-पृथक्) की आवृत्ति पर अवलम्बित है। आचार्य भरत ने सामान्य रूप से शब्दाभ्यास या अक्षरसमूहावृत्ति को यमक कहा था। उस सामान्यतो निर्दिष्ट यमक-परिभाषा मे अनुप्रास भी समाविष्ट है। पीछे चल कर कुछ वैशिष्ट्य की कल्पना कर यमक से स्वतन्त्र अनुप्रास की सत्ता स्वीकार की गयी। भामह ने अनुप्रास को परिभाषित करते हुए कहा—'समान रूप वाले वर्ण के विन्यास को अनुप्रास कहा जाता है।'[१] यमक में तो वर्ण-समूह (स्वर-व्यञ्जन-समूह) की उसी रूप मे आवृत्ति अपेक्षित मानी गयी थी, पर अनुप्रास मे सरूप वर्ण का विन्यास पर्याप्त माना गया। इस प्रकार एक व्यञ्जन की पुनरावृत्ति भी अनुप्रास मे हो सकती है और उस वर्ण के समान श्रुति वाले वर्ण की भी योजना हो सकती है। 'र' के बाद 'ल' या 'ड' के विन्यास मे भी वर्णसारूप्य के कारण अनुप्रास का सद्भाव माना जायगा।

१. सरूपवर्णविन्याससमनुप्रास प्रचक्षते ॥—भामह, काव्यालङ्कार २,५

वर्णसारूप्य के आधार पर अलङ्कार-विधान का मनोवैज्ञानिक कारण यह है कि समान स्वरूप वाले वर्ण मन पर समान प्रभाव उत्पन्न करते है। अत. जब एक-से वर्ण एक वाक्य या पद मे बार-बार आते है तो समान ध्वनि-प्रभाव की एकतानता पाठक के मन पर बनी रहती है। सम-ध्वनि से मन मे एकतान ध्वनि-प्रभाव की सृष्टि मे ही अनुप्रास का अलङ्कारत्व है। भामह के 'काव्यालङ्कार' मे प्राप्त सङ्केत से जान पडता है कि उनसे बहुत पहले ही अनुप्रास ने यमक से स्वतन्त्र अपना अस्तित्व बना लिया था। भामह ने 'काव्यालङ्कार' मे ग्राम्यानुप्रास तथा लाटानुप्रास; इन दो अनुप्रास-रूपो का उल्लेख किया है।[1] प्रतिहारेन्दुराज ने उक्त अनुप्रासो का सम्बन्ध क्रमश ग्राम्या या कोमला तथा उपनागरिका वृत्तियो से जोडा है।

आचार्य दण्डी ने यद्यपि शब्दालङ्कार-निरूपण के सन्दर्भ मे केवल यमक का सभेद निरूपण किया है, तथापि उनके 'काव्यादर्श' मे अनुप्रास का स्पष्ट विवेचन हुआ है। उन्होने गुण-विवेचन के प्रसङ्ग मे श्रुत्यनुप्रास-रूप माधुर्य गुण की चर्चा की और उसे वैदर्भ मार्ग के सरस काव्य का महत्त्वपूर्ण तत्त्व माना। उसी क्रम मे उन्होने गौड मार्ग के प्रदर्शन-प्रिय कवियो की अनुप्रास मे विशेष रुचि की चर्चा की। दण्डी ने अनुप्रास को (श्रुत्यनुप्रास से भिन्न वर्णावृत्ति-रूप अनुप्रास को) गौड मार्ग के काव्य का आदर्श मान कर श्रुत्यनुप्रास की अपेक्षा उसे कम महत्त्व दिया है। दण्डी वैदर्भ मार्ग के काव्य को उत्तम कोटि का अकृत्रिम काव्य मानते थे। अत., उस काव्य मे ग्राह्य श्रुत्यनुप्रास दण्डी को अधिक अभिमत होगा। श्रुत्यनुप्रास मे समान उच्चारण स्थान से उच्चरित होने वाले वर्णो की एकत्र योजना से भी समान प्रभाव उत्पन्न किया जा सकता है। जहाँ किसी भी प्रकार के श्रुति-साम्य से समान प्रभाव मन पर उत्पन्न किया जा सकता हो, वहाँ श्रुत्यनुप्रास माना गया है। दण्डी के अनुसार वर्णावृत्ति अनुप्रास का सामान्य लक्षण है।[2]

उद्भट ने यमक को छोड वर्ण, पद आदि के अभ्यास के रूप मे केवल अनुप्रास का भेदसहित विवेचन किया है। उन्होने अनुप्रास के मुख्य तीन रूप माने है-—(१) छेकानुप्रास, (२) वृत्त्यनुप्रास और (३) लाटानुप्रास। वृत्त्यनुप्रास तत्तद्वृत्तियो पर आधृत है। अत. ग्राम्या या कोमला, परुषा तथा

१. द्रष्टव्य—भामह, काव्यालं० २, ६-८
२. वर्णावृत्तिरनुप्रासः पादेषु च पदेषु च।
—दण्डी, काव्याद० १, ५५ उसके श्लोक ५२ से ५८ तक द्रष्टव्य

उपनागरिका वृत्तियो के आधार पर वृत्त्यनुप्रास के तीन उपभेद उद्भट के द्वारा स्वीकृत है। तत्तद्वृत्तियो मे विशेष प्रकार के (कोमल, कठोर आदि) वर्णो के अनुकूल विन्यास का विधान है। वृत्त्यनुप्रास के उन उपभेदो मे कोमल, कठोर आदि वर्णो की विशेष प्रकार की आवृत्ति का ही विचार रहता है। ग्राम्यानुप्रास अर्थात् ग्राम्या या कोमला वृत्ति पर आधृत वृत्त्यनुप्रास तथा लाटानुप्रास का उल्लेख भामह ने भी किया था। लाटानुप्रास का लक्षण उद्भट ने अधिक स्पष्टता से निरूपित किया। आवृत्त पदो मे वर्णसमुदाय की समता के साथ वाच्यार्थ की भी समता लाटानुप्रास मे रहती है, पर उनके तात्पर्यार्थ मे भेद आवश्यक होता है। इस तरह यमक से लाटानुप्रास का यह भेद होता है कि जहाँ यमक मे सार्थक पदो की आवृत्ति होने पर अर्थभेद (वाच्यार्थ का भेद) आवश्यक होता है, वहाँ लाटानुप्रास मे वाच्यार्थ की समता रह सकती है, तात्पर्य-मात्र का भेद अपेक्षित रहता है। उद्भट ने छेकानुप्रास की कल्पना कर उसकी परिभाषा मे अनेक वर्णो का दो बार उच्चारण अपेक्षित माना। वर्णो का द्विरुच्चारण क्रम-भेद से भी हो सकता है। 'प्रथम' शब्द के वर्णसमूह का क्रमभेद से 'प्रमथ' के रूप मे द्विरुच्चारण छेकानुप्रास का उदाहरण है। इस दृष्टि से छेकानुप्रास यमक, लाटानुप्रास आदि से स्वतन्त्र है।[1]

वामन ने यमक मे स्वर-व्यञ्जन-सङ्घात की आवृत्ति की प्रक्रियाओ पर विचार करने के उपरान्त कहा है कि यमक से भिन्न अवशिष्ट सभी प्रकार के सारूप्य को अनुप्रास कहते है।[2] सारूप्य शब्द इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि अनुप्रास मे स्वर-व्यञ्जन-समुदाय की समग्रतः आवृत्ति भी हो सकती है और अशत भी। अभिप्राय यह कि यमक मे स्वर-व्यञ्जन-सङ्घ की सम्पूर्णता मे आवृत्ति अपेक्षित होती है, पर अनुप्रास मे स्वर-भेद से भी केवल व्यञ्जन की आवृत्ति हो सकती है। वामन के अनुसार अनुप्रास का स्वरूप समझने के लिए उनके यमक के स्वरूप का विचार आवश्यक होगा। उनके यमक-लक्षण पर दृष्टि रखते हुए उनके अनुप्रास का स्वरूप इस प्रकार निर्धारित किया जा सकता है—जहाँ एकार्थक अथवा अनेकार्थक पदो की

---

१. द्रष्टव्य—उद्भट, काव्यालं० सार स० १, ३-२०

२. शेषःसरूपोऽनुप्रासः। —वामन, काव्यालंसू० ४, १-८ तथा उसकी वृत्ति—पदमेकार्थमनेकार्थं च स्थानानियतं तद्विधमक्षरं च शेषः।
—वही, पृ० १७७

(स्वर-व्यञ्जन-समुदाय की) अनियत स्थान में आवृत्ति हो, वहाँ अनुप्रास अलङ्कार होता है। स्पष्टत., वामन की अनुप्रास-धारणा भामह, उद्भट आदि की धारणा से तत्त्वत. भिन्न नही। वामन ने अनुल्बण या मसृण अनुप्रास को ग्राह्य और उल्बण या उग्र को त्याज्य माना है।[1]

रुद्रट ने स्वर-निरपेक्ष व्यञ्जनावृत्ति को अनुप्रास का लक्षण माना, साथ ही उन्होने यह भी आवश्यक माना कि आवृत्त वर्णो के बीच एक, दो या तीन वर्णो का व्यवधान रहना चाहिए।[2] इस तरह रुद्रट के मतानुसार आवृत्त व्यञ्जनो की स्वर-निरपेक्षता तथा उनके (आवृत्त व्यञ्जनो के) बीच अन्य वर्णो के व्यवधान का नियम अनुप्रास का यमक से व्यावर्त्तन करता है। रुद्रट के इस अनुप्रास-लक्षण मे लाटानुप्रास आदि का समावेश नही हो पाता। रुद्रट ने मधुरा, प्रौढा, परुषा, ललिता तथा भद्रा वृत्तियों के आधार पर अनुप्रास (वृत्त्यनुप्रास) के पाँच भेद स्वीकार किये है। उद्भट आदि की तीन वृत्तियो की जगह रुद्रट ने पाँच वृत्तियाँ स्वीकार की है।[3]

कुन्तक ने अनुप्रास को 'वर्णविन्यास वक्रता' सज्ञा से प्रस्तुत किया है। उसके सम्बन्ध मे उनकी धारणा प्राचीन आचार्यो की धारणा से मिलती-जुलती ही है। उनके अनुसार जहाँ एक, दो या बहुत-से वर्ण थोडे-थोडे अन्तर पर बार-बार ग्रथित होते है, वहाँ वर्णविन्यास की वक्रता मानी जाती है।[4]

अग्निपुराणकार ने आचार्य रुद्रट की मान्यता के अनुसार मधुरा, ललिता आदि पाँच वृत्तियाँ स्वीकार कर वृत्त्यनुप्रास के पाँच भेद स्वीकार किये है।[5] 'अग्निपुराण' मे प्रतिपादित वर्णावृत्ति-रूप अनुप्रास का स्वरूप रुद्रट के अनुप्रास के स्वरूप से भिन्न नही।

---

१. अनुल्बणो वर्णानुप्रासः श्रेयान्।—वामन, काव्यालं० सू०४, १-९ तथा—
उल्बणस्तु न श्रयान्।—वही, वृत्ति पृ० १७९

२. एकद्वित्रान्तरितव्यञ्जनमविवक्षितस्वरं बहुशः।
आवर्त्यते निरन्तरमथवा यदसावनुप्रासः॥—रुद्रट, काव्यालं०, २, १८

३. वही, २, १९-३१

४. एको द्वौ बहवो वर्णा बध्यमाना. पुन. पुनः।
स्वल्पान्तरास्त्रिधा सोक्ता वर्णविन्यासवक्रता॥
—कुन्तक, वक्रोक्तिजी० २, १

५. द्रष्टव्य—अग्निपुराण, अध्याय ३४३

मम्मट ने भी आचार्य रुद्रट के अनुप्रास-लक्षण के आधार पर वर्णसाम्य को अनुप्रास का लक्षण कहा है। इसके स्पष्टीकरण मे उन्होने वर्णसाम्य का अभिप्राय स्वर की विरूपता होने पर भी व्यञ्जन के सदृश होने से माना है। इसके दो भेद—छेकानुप्रास तथा वृत्त्यनुप्रास—स्वीकृत है। तात्पर्य-भेद से शब्दावृत्ति या पदावृत्ति-रूप लाटानुप्रास का स्वतन्त्र विवेचन है। स्पष्टत ; छेक, वृत्ति और लाट अनुप्रासो के सम्बन्ध मे मम्मट की धारणा उद्भट की धारणा से अभिन्न है। उद्भट की तरह मम्मट ने भी तीन ही वृत्तियाँ स्वीकार की है। मम्मट ने लाटानुप्रास के पाँच भेद स्वीकार किये है।[१] आचार्य रुय्यक की धारणा भी मम्मट की धारणा से मिलती-जुलती ही है। रुय्यक ने छेकानुप्रास और वृत्त्यनुप्रास का निरूपण तो एक स्थल मे किया है, पर लाटानुप्रास का निरूपण यमक-निरूपण के उपरान्त किया है।[२] इससे स्पष्ट है कि पीछे चल कर लाटानुप्रास छेक, वृत्ति आदि रूप अनुप्रास से स्वतन्त्र हो गया। इसका कारण अनुप्रास-लक्षण मे वर्णावृत्ति (स्वर-निरपेक्ष व्यञ्जनावृत्ति) पर बल दिया जाना हुआ। लाटानुप्रास मे स्वर-व्यञ्जन-समुदाय की आवृत्ति होती है। उसमे यमक की तरह पदावृत्ति ही होती है, तात्पर्यमात्र-भिन्न अर्थ-साम्य के साथ।

विश्वनाथ ने अपने पूर्ववर्ती मम्मट, रुय्यक आदि की अनुप्रास-धारणा को स्वीकार अवश्य किया; पर उन्होंने दण्डी आदि प्राचीन आचार्यो की अनुप्रास-धारणा से भी सहायता ली। उन्होने दण्डी के श्रुत्यनुप्रास को (जिसे दण्डी ने माधुर्य का अङ्ग माना था) अनुप्रास अलङ्कार का एक रूप स्वीकार किया है, जो उचित ही है। इसके अतिरिक्त अन्त्यानुप्रास, जिसमे सरूप-वर्ण की आवृत्ति पद या पाद के अन्त मे होती है, की भी कल्पना की गयी है।[३] यह कल्पना तो नवीन नही; क्योकि भरत ने भी पादान्त यमक आदि की कल्पना की थी, पर इससे अनुप्रास के सम्बन्ध में एक विशेष दृष्टिकोण का पता चलता है। वे अनुप्रास मे वर्णावृत्ति के स्थान-नियम का अभाव आवश्यक नही मानते। अनुप्रास का यमक से इस आधार पर भी भेद-निरूपण का प्रयास हुआ था कि यमक मे वर्णसमूह या पद की आवृत्ति का स्थान नियत होता है और अनुप्रास

---

१. वर्णसाम्यमनुप्रासः।—मम्मट, काव्यप्र० ९, १०४ तथा उसकी वृत्ति द्रष्टव्य, पृ० २०१, २०८

२. द्रष्टव्य—रुय्यक, अलं०सर्वस्व सूत्र स० ४, ५ तथा ८

३. विश्वनाथ, साहित्यद० १०, ३-९

मे अनियत।[१] विश्वनाथ ने अन्त्यानुप्रास मे वर्णावृत्ति के स्थान-नियम को स्वीकार कर उक्त धारणा को अस्वीकार कर दिया।

अनुप्रास के सम्बन्ध मे हिन्दी के आलङ्कारिकों की धारणा मम्मट, रुय्यक तथा विश्वनाथ आदि आचार्यों की धारणा से मिलती-जुलती है। दास ने अनुप्रास-भेद के रूप मे तुक का विस्तार से वर्णन किया है। तुक की धारणा का मूल विश्वनाथ की अन्त्यानुप्रास-धारणा मे है। हिन्दी-रीति-शास्त्र मे तुक या अन्त्यानुप्रास का विशद विवेचन सकारण है। हिन्दी मे तुकान्त छन्दो मे बहुलता से काव्य-रचना होने के कारण तुक की विस्तृत मीमासा की आवश्यकता हुई।

अनुप्रास को काव्य में यमक की अपेक्षा अधिक महत्त्व मिला; क्योंकि इसे रसोपकारक माना गया है। अनुप्रास शब्द के व्युत्पत्त्यर्थ मे रसोपकारकता की धारणा निहित है। आचार्य दण्डी ने केवल श्रुत्यनुप्रास को रस-पोषक माना था। आचार्य देव ने अनुप्रास-मात्र को 'रस-पूर' माना है।

अनुप्रास के स्वरूप के सम्बन्ध मे सस्कृत तथा हिन्दी-आचार्यो की धारणा का सार-सक्षेप निम्नलिखित है :—

अनुप्रास मे स्वर-निरपेक्ष व्यञ्जन की व्यवहित आवृत्ति होती है। परुषा, कोमला आदि वृत्तियो के लिए निर्धारित वर्णो की आवृत्ति के आधार पर वृत्त्यनुप्रास के पाँच भेद स्वीकृत है। अनुप्रास मे व्यञ्जनावृत्ति उसी क्रम में भी हो सकती है और क्रम-परिवर्त्तन से भी। स्वर-व्यञ्जन-समुदाय अर्थात् सार्थक पद की भी आवृत्ति अनुप्रास में हो सकती है; पर ऐसी स्थिति मे यह आवश्यक है कि आवृत्त पदो का वाच्यार्थ अभिन्न तथा तात्पर्यार्थ भिन्न हो। समान स्थान-प्रयत्न से उच्चरित वर्णो की अदूर योजना मे भी ध्वनि-प्रभाव के साम्य के कारण अनुप्रास का सद्भाव माना जाता है। सामान्यत: अनुप्रास मे वर्ण की आवृत्ति का स्थान अनियत रहता है; किन्तु अन्त्यानुप्रास मे पाद या पद के अन्त मे वर्ण की नियत आवृत्ति अपेक्षित होती है। इस प्रकार सरूप-वर्णाभ्यास-रूप अनुप्रास के पाँच भेद हो जाते है :—

(क) वृत्तिविशेष मे प्रयुक्त व्यञ्जन-समुदाय की आवृत्ति (वृत्त्यनुप्रास)

(ख) वर्णसङ्घ की क्रम-भङ्ग-आवृत्ति (छेकानुप्रास)

(ग) तात्पर्य-भेद से समानार्थक पद की आवृत्ति (लाटानुप्रास)

---

१. वामन आदि ने इसी आधार पर दोनों का भेद किया था।

—द्रष्टव्य वामन, काव्यालं० सू० वृत्ति ४, १, १ तथा ४, १, ८

(घ) समान उच्चारणस्थान से उच्चरित वर्णों की अदूर योजना (श्रुत्यनुप्रास) तथा

(ङ) पद या पाद के अन्त मे सरूप वर्णावृत्ति (अन्त्यानुप्रास)

अनुप्रास के उक्त भेदो के स्वरूप पर विचार करने से यमक और अनुप्रास के निम्नलिखित भेदक तत्त्व स्पष्ट हो जाते है—

(१) लाटानुप्रास मे सार्थक पद की आवृत्ति होने पर आवृत्त पदो का वाच्यार्थ अभिन्न होता है, तात्पर्य-मात्र का भेद रहता है, पर यमक मे पदावृत्ति अर्थभेद से ही होती है।

(२) अनुप्रास मे वर्णावृत्ति अनियत स्थान मे होती है (अन्त्यानुप्रास मे नियत स्थान में भी), पर यमक मे नियत स्थान में ही आवृत्ति होती है।

(३) अनुप्रास मे स्वर-निरपेक्ष केवल व्यञ्जनावृत्ति अपेक्षित होती है (केवल लाटानुप्रास मे स्वर-व्यञ्जन-समुदाय की आवृत्ति होती है), पर यमक मे स्वर-व्यञ्जन-सङ्घ की आवृत्ति अपेक्षित है।

(४) अनुप्रास मे वर्ण-समुदाय की आवृत्ति क्रम-भङ्ग से भी हो सकती है; पर यमक मे उसी क्रम से शब्दावृत्ति की अपेक्षा होती है।

(५) अनुप्रास मे एक उच्चारण-स्थान से उच्चरित वर्णो की योजना भी हो सकती है, पर यमक मे पूर्व-उच्चरित वर्ण की ही आवृत्ति होती है, उसके सदृश वर्ण की नही।

चित्रालङ्कार

अलङ्कार के रूप मे चित्र की धारणा का विकास मूल शब्दालङ्कार यमक से हुआ; किन्तु उस धारणा का इतना विकास हुआ कि उसने अलङ्कार-भेद के रूप मे अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बना लिया।

सस्कृत-साहित्य मे चित्र-काव्य प्राय उपेक्षित ही रहा था। रससिद्ध कवियो के सरस काव्य के सामने रसहीन और कृत्रिम चित्र-काव्य किसे भाता? फिर भी प्रदर्शन की स्वाभाविक प्रवृत्ति किसी-न-किसी रूप मे प्रकट होती रही। सरस महाकाव्यो मे भी चित्र, प्रहेलिका आदि की योजना कर बौद्धिक चमत्कार-प्रदर्शन के लिए विशेष स्थल सुरक्षित कर लिये गये। माघ-जैसे कवि ने भी महाकाव्य मे चित्र का आवश्यक स्थान माना।[१] फलत, सस्कृत अलङ्कार-शास्त्र मे भी चित्र, प्रहेलिका आदि के विविध रूपो का विवेचन चलता

१. माघ, शिशुपाल-वध, १९, ४१

रहा। हिन्दी के रीतिकाल मे चमत्कार उत्पन्न करने की प्रवृत्ति इतनी अधिक बढी कि विपुलकाय चित्रकाव्य की सर्जना होने लगी। उस काल की दरबारी कवि-गोष्ठियो मे ऐसे काव्य की रचना स्वाभाविक ही थी। इसका दुर्वार प्रभाव अलङ्कार-शास्त्रीय चिन्तन पर भी पडा। चित्र का निरूपण महत्त्व पाने लगा। केवल चित्रालङ्कार-विवेचन के लिए स्वतन्त्र ग्रन्थो की भी रचना हुई। चित्र-विषयक इतने बडे ऊहापोह का इतिहास स्वतन्त्र प्रबन्ध का विषय है। अतः, इस सन्दर्भ मे हमारा उद्देश्य चित्रालङ्कार-विषयक सामान्य धारणा के विकास का परिचय-मात्र देना होगा।

चित्रालङ्कार मे वर्ण-कौतुक से चमत्कार उत्पन्न किया जाता है। इसमें वर्णो के विशेष प्रकार के विन्यास की अपेक्षा रहती है। अतः, इसकी कल्पना का बीज मूल शब्दालङ्कार यमक की वर्णावृत्ति की विभिन्न प्रक्रियाओ मे माना जा सकता है। शब्दो या वर्णो की क्रीडा की प्रवृत्ति से चित्र-धारणा का स्वतन्त्र रूप मे विकास हुआ। वर्णो का इतना सुविचारित सग्रथन, कि सम्पूर्ण पद का पद्म, खड्ग आदि चित्रो मे नियमतः निबन्धन हो जाय, भारतीय चित्र-कवियो के वर्ण-प्रयोग-कौशल का परिचायक है। यही नही, काव्य तथा काव्येतर चित्र आदि कलाओ के तात्त्विक अन्तःसम्बन्ध की स्थापना मे उनकी उदार दृष्टि का भी परिचय चित्रालङ्कारो मे मिलता है। विभिन्न चित्रबन्धो मे वर्ण-विन्यास भाषा की शक्ति का भी परिचायक है। भारतीय कवियो की दृष्टि रस-प्रधान या भाव-प्रधान रही। इसीलिए चित्र-रचना को गौरव प्राप्त नही हो सका। कवियो की सहज काव्य-शक्ति की दृष्टि से भले ही चित्र अलङ्कार-विधान का कोई महत्त्व नही हो पर उनकी बौद्धिक क्षमता तथा प्ररूढ कल्पनाशक्ति की दृष्टि से तो उसका महत्त्व है ही। इसीलिए भारतीय अलङ्कार-शास्त्र के प्राय सभी समर्थ आचार्यो ने उसे शब्द के अलङ्कार के रूप मे स्वीकृति दी है।

यमक निरूपण-प्रस्ताव मे आचार्य-दण्डी ने सर्वप्रथम दुष्कर चित्रबन्ध का उल्लेख किया। भामह ने चित्र का निरूपण नही किया है, यद्यपि बाणभट्ट के साक्ष्य से यह स्पष्ट है कि भामह के पूर्व चित्र की धारणा का विकास हो चुका था।[१] दण्डी ने चित्र की कोई सामान्य परिभाषा तो नही दी, पर गोमूत्रिका, अर्धभ्रम, सर्वतोभद्र आदि के उदाहरण से उनकी चित्र-धारणा

१. द्रष्टव्य, दण्डी, काव्याद० ३,७८-८३

स्पष्ट है। शायद चित्र सज्ञा की अन्वर्थता के कारण ही दण्डी ने उसे परिभाषित करना आवश्यक नही समझा। उन्होने चित्रो मे स्वर, वर्ण के उच्चारण-स्थान तथा व्यञ्जन के प्रयोग के जो सूक्ष्म नियम बताये है तथा एकाक्षर चित्र, द्विवर्ण चित्र, त्रिव्यञ्जन चित्र आदि मे जो चित्रो का विभाग किया है, उसे देखते हुए यह आक्षेप नही किया जा सकता कि चित्र के सम्बन्ध मे दण्डी की धारणा स्पष्ट नही थी। चित्र का लक्षण परवर्ती आचार्यो ने भी 'पद्म आदि आकृति मे या चित्र मे वर्णविन्यास' माना है। यह चित्र नाम से ही स्पष्ट है। अत., दण्डी ने गोमूत्रिका आदि चित्र-भेदो को ही परिभाषित और उदाहृत किया है।

दण्डी के उपरान्त आचार्य रुद्रट ने चित्रालङ्कार का व्यवस्थित विवेचन किया। उन्होने चित्र की सामान्य परिभाषा इस प्रकार दी—'जहाँ वस्तु के (पद्म, खड्ग आदि वस्तु के) स्वरूप की रचना उसके चिह्न के साथ वर्णो के द्वारा विशेष भङ्गी या विच्छित्ति से की जाती है, वहाँ चित्र-अलङ्कार होता है।'[१] स्पष्टत, रुद्रट ने वर्ण-विन्यास की भङ्गी से वस्तु-रूप-रचना मे चित्र अलङ्कार का सद्भाव माना है। यह चित्र-धारणा आचार्य दण्डी की तद्विषयक धारणा से अभिन्न है। तत्तत् चित्र-बन्धों के अतिरिक्त भी सर्वतोभद्र अनुलोम, प्रतिलोम आदि अनेक विचित्र चित्र-भेदो की सत्ता रुद्रट ने मानी है। सर्वतोभद्र को चित्र के रूप मे दण्डी ने भी स्वीकृति दी थी। रुद्रट के 'काव्यालङ्कार' मे चित्र के दो प्रमुख भेद स्पष्ट हो गये—

(क) चक्र, पद्म, खड्ग आदि वस्तुओ की आकृति को प्रकट करने वाला वर्ण-विन्यास-रूप चित्र तथा (ख) वर्णो के विशेष क्रम-विन्यास से अनुलोम प्रतिलोम आदि के रूप मे विच्छित्ति प्रकट करने वाला चित्र।[२]

दण्डी ने भी चित्र के उक्त दो भेद स्वीकार किये थे। इसीलिए उन्होने गोमूत्रिका आदि से थोड़ा अलग वर्ण-नियम के आधार पर (एक वर्ण, दो वर्ण आदि की योजना के आधार पर) कुछ चित्र-भेदों का निरूपण किया था, पर चित्र के उक्त मुख्य भेदो के स्पष्टीकरण का श्रेय आचार्य रुद्रट को ही है।

---

१. भङ्ग्यन्तरकृततत्क्रमवर्णनिमित्तानि वस्तुरूपाणि।
साङ्कानि विचित्राणि च रच्यन्ते यत्र तच्चित्रम्॥
—रुद्रट, काव्यालं० ५,१

२. वही, ५,२-३

अग्निपुराणकार ने चित्र के सात भेद स्वीकार किये—प्रश्न, प्रहेलिका, गुप्ताक्षर, च्युताक्षर, दत्ताक्षर, च्युतदत्ताक्षर तथा समस्या। इन सभी रूपो में विदग्ध-महोत्सवकारी वर्ण-कौतुक की प्रधानता रहती है। अतः, सभी चित्र-भेद माने गये है।[१] हमने इस तथ्य पर अलग विचार किया है कि प्रहेलिका की धारणा का चित्र से स्वतन्त्र रूप मे भी विकास हुआ है। अग्निपुराणकार ने चित्र का कुछ व्यापक अर्थ गोष्ठी मे कुतूहलजनक वाग्बन्ध लेकर प्रहेलिका को चित्र का ही एक भेद स्वीकार किया है। तत्तत्प्रसिद्ध वस्तुओ के रूप मे वर्ण-गुम्फ, जिमे बन्ध कहा गया है, चित्र का एक रूप है, जिसके वस्तु-स्वरूप के आधार पर अनेक भेद हो जाते है।

चित्र के स्वरूप के सम्बन्ध में भोज की धारणा भी पूर्ववर्ती आचार्यों की तद्विषयक धारणा से मिलती-जुलती ही है।[२]

आचार्य मम्मट ने केवल वस्तु की आकृतियो के रूप मे वर्ण-गुम्फन को—चित्र-बन्ध को—ही चित्रालङ्कार के रूप में स्वीकार किया है। दुष्कर वर्ण-विन्यास-रूप प्रहेलिका आदि मे केवल कवि की बौद्धिक क्षमता का प्रदर्शन होता है। अत, उसे अकाव्य समझकर मम्मट ने अविवेच्य माना है।[3] आचार्य रुय्यक ने मम्मट के मत का ही अनुमोदन किया है।[४] विश्वनाथ ने खड्गादि आकृति के रूप मे किये जाने वाले वर्णगुम्फ को चित्र-अलङ्कार माना और च्युताक्षर, दत्ताक्षर आदि क्लिष्ट वर्णगुम्फ से चमत्कार उत्पन्न करने वाली रस-विरोधी प्रहेलिका के अलङ्कारत्व का खण्डन किया।[५] विश्वनाथ के उपरान्त चित्र के सम्बन्ध मे सस्कृत-अलङ्कार-शास्त्र मे कोई नवीन कल्पना नही की गयी।

इस प्रकार सस्कृत-अलङ्कार-शास्त्र के आचार्यो मे चित्र के सम्बन्ध में एक बात मे तो मतैक्य है कि इसमे वर्णो की क्रीडा से चमत्कार उत्पन्न किया जाता है। विभिन्न आकृतियो मे वर्णगुम्फ को चित्र-अलङ्कार मानने मे दण्डी,

---

१. अग्निपुराण, अध्याय ३४३
२. द्रष्टव्य, भोज, सरस्वतीकण्ठा० २, १०९-१४७
३. तच्चित्रं यत्र वर्णाना खड्गाद्याकृतिहेतुता।—मम्मट, काव्यप्र० ९, १२१
४. वर्णाना खड्गाद्याकृतिहेतुत्वे चित्रम्।
—रुय्यक, अलं० सर्वस्व, सूत्रस० १०
५. पद्माद्याकारहेतुत्वे वर्णाना चित्रमुच्यते। तथा—रसस्य परिपन्थित्वान्नालङ्कारः प्रहेलिका।—विश्वनाथ, साहित्यद० १०, १५-१६

रुद्रट, अग्निपुराणकार, भोज, मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ आदि सभी एकमत है; पर जहाँ, दण्डी, रुद्रट, अग्निपुराणकार, आदि ने चित्र का अपेक्षाकृत व्यापक अर्थ लेकर सभी वैचित्र्यजनक वर्ण-कौतुक को—चाहे वर्ण-गोपन आदि के द्वारा प्रहेलिका के रूप मे हो या पद्म, खड्ग आदि वस्तु-स्वरूप मे वर्ण-गुम्फ के रूप मे—चित्र माना था, वहाँ मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ आदि ने केवल वस्तु-वन्ध चित्र को ही अलङ्कार के रूप मे स्वीकृति दी।

हिन्दी-रीतिकाल मे चित्र-काव्य तथा चित्रालङ्कार-विवेचन के लिए अनुकूल वातावरण मिला। चमत्कार-प्रधान काव्य-सर्जना के प्राचुर्य के कारण अनेक आचार्यो ने विस्तार से चित्रालङ्कार-निरूपण किया। चित्र पर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे गये और अनेक नवीन चित्र-बन्धो की कल्पना की गयी। घडी-बन्ध आदि की कल्पना इसका प्रमाण है। बलवान सिह ने शब्द-चित्र, अर्थ-चित्र तथा सङ्कर-चित्र-भेदो से चित्र का विशद विवेचन किया है।[1] यह ध्यातव्य है कि सस्कृत-आचार्यो ने भी ध्वनि-हीन काव्य को चित्र-काव्य माना था। इस तरह चित्र-काव्य का क्षेत्र चित्र अलङ्कार से व्यापक है, जिसमें सभी शब्दार्थालङ्कारो की योजना हो सकती है। बलवान सिह ने उसी चित्रकाव्य-धारणा के अनुरूप अर्थालङ्कारो को भी चित्रालङ्कार के क्षेत्र मे ला दिया है। यह उचित नही। चित्र-अलङ्कार का क्षेत्र चित्र-काव्य से थोडा भिन्न है। हिन्दी-आचार्यो ने भी संस्कृत-आचार्यो की तरह वर्ण-कौतुक को ही चित्र का लक्षण माना है।

चित्र-अलङ्कार के महत्त्वहीन माने जाने पर भी बाणभट्ट के काल से हिन्दी-रीतिकाल तक उसमे कवियो की रुचि का इतिहास चित्र की लोक-प्रियता प्रमाणित करता है।

प्रहेलिका

चित्रालङ्कार के विकास-क्रम की परीक्षा मे हम देख चुके है कि प्रहेलिका की धारणा का विकास कुछ दूर तक चित्र-धारणा के साथ हुआ है। दण्डी आदि आचार्यो ने चित्र से स्वल्प भेद के साथ प्रहेलिका का विवेचन किया था। अग्निपुराणकार ने दोनो को मिला कर प्रहेलिका को चित्र का एक भेद स्वीकार कर लिया। दोनो मे वर्ण-कौतुक की धारणा समान रूप से होने के कारण ही ऐसा हुआ है। सर्वप्रथम भामह के 'काव्यालङ्कार' मे प्रहेलिका की परिभाषा प्राप्त होती है। वहाँ यह सङ्केत भी स्पष्ट रूप से दिया गया है

१. बलवान सिह, चित्र चन्द्रिका पृ० ३

कि उनके पूर्ववर्ती—रामशर्मा ने प्रहेलिका का निरूपण किया था। भामह की यह मान्यता उचित है कि प्रहेलिका 'यमक-व्यपदेशिनी' है। यमक मे वर्णों की रचना की विभिन्न प्रक्रियाओ का विचार चल रहा था। उसी सन्दर्भ मे धात्वर्थ के गहन प्रयोग मे प्रहेलिका अलङ्कार का सद्भाव माना गया।[१] भामह ने प्रहेलिका मे वर्णकौतुक (जिसके कारण उसे यमक-व्यपदेशिनी कहा गया है) के साथ अनेक गूढ अर्थ से युक्त धातु-प्रयोग भी वाञ्छनीय माना है। अर्थ की दुरूहता के कारण ही इसे शास्त्रवत् व्याख्येय कहा गया है।[२]

दण्डी ने प्रहेलिका के सोलह भेदो का विस्तार से विवेचन किया है। उन्होंने प्रहेलिका को दुष्कर चित्र-बन्ध से भी दुष्करतर माना है और क्रीडा-गोष्ठी-मात्र मे इसकी उपयोगिता मानी है।[3] उन्होने प्रहेलिका के प्रत्येक भेद को पृथक्-पृथक् परिभाषित किया है। प्रहेलिका-विषयक सामान्य धारणा भामह की धारणा के समान ही है।

रुद्रट ने चित्र-विवेचन के उपरान्त मात्राच्युतक, विन्दुच्युतक प्रहेलिका आदि का वर्णन किया है, पर इसे अलङ्कार मानने के पक्ष मे वे नही जान पडते। उन्होने इसे क्रीडा-मात्र मे उपयोगी मान कर उपेक्षणीय ही समझा है।[४]

अग्निपुराणकार ने प्रहेलिका को चित्र के सात भेदों में एक माना है। इसके शाब्दी तथा आर्थी; दो भेद स्वीकार किये गये है। अर्थ का निगूहन करते हुए शब्द-प्रयोग को प्रहेलिका का लक्षण माना गया है। स्पष्टतः यह धारणा प्राचीनों की धारणा से अभिन्न है। भोज आदि ने भी प्रहेलिका का यही स्वरूप स्वीकार किया है।

श्री धर्मदास सूरि ने 'विदग्धमुखमण्डन' मे प्रहेलिका के स्वरूप को स्पष्ट

---

१. नानाधात्वर्थगम्भीरा यमकव्यपदेशिनी।
प्रहेलिका साह्य दिता रामशर्माच्युतोत्तरे॥—भामह, काव्याल० २,१९

२. काव्यान्यपि यदीमानि व्याख्यागम्यानि शास्त्रवत्।
उत्सवः सुधियामेव हन्त ! दुर्मेधसो हताः॥—वही, २,२०

३. द्रष्टव्य, दण्डी, काव्याद० ३,९६-१२४

४. मात्राबिन्दुच्युतके प्रहेलिका कारकक्रियागूढे।
प्रश्नोत्तरादि चान्यत्क्रीडामात्रोपयोगमिदम्॥—रुद्रट, काव्यालं० ५,२४

रूप से परिभाषित किया है। उनके मतानुसार प्रहेलिका मे ऊपर से किसी अर्थ को प्रकट कर सही अर्थ का गोपन किया जाता है।[१]

रस-सम्प्रदाय के आचार्यो ने प्रहेलिका को अलङ्कार के रूप मे स्वीकार नही किया है। विश्वनाथ ने इसे रस-परिपन्थी कह कर त्याज्य बताया है।[२] प्राचीन आलङ्कारिको ने भी प्रहेलिका को अलङ्कार के रूप मे विशेष महत्त्व नही दिया था।

हिन्दी के रीति-आचार्यो ने भी प्रहेलिका मे विशेष रुचि नही दिखायी। केशव, भिखारी, बलवान सिंह आदि ने प्रहेलिका को अलङ्कार के रूप मे स्वीकार कर प्राचीन आचार्यो की धारणा के अनुरूप उसका स्वरूप-निरूपण किया है।

वक्रोक्ति

भारतीय काव्य-शास्त्र मे जहाँ एक ओर वक्रोक्ति की धारणा का विकास उसके व्यापक अर्थ मे काव्य के प्रमुख तत्त्व के रूप मे हुआ है, वहाँ दूसरी ओर सङ्कुचित अर्थ मे उसे काव्यालङ्कार का एक भेद-मात्र माना गया है। उक्ति की वक्रता अर्थात् लोकोत्तरता, जिसे पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्य की चारुता से अभिन्न माना है, अलङ्कार-विशेष की सीमा मे परिबद्ध नही की जा सकती। उक्तिगत वक्रता का यही अर्थ भामह, कुन्तक आदि के मन मे था। इसीलिए भामह ने उसे अतिशयोक्ति से मिलाते हुए काव्यार्थ का विभावक माना था और कुन्तक ने लोक-सामान्य स्वभाव-उक्ति के अलङ्कारत्व का खण्डन किया था। यह ध्यातव्य है कि भारतीय अलङ्कार-शास्त्र मे अलङ्कार-विशेष के रूप मे वक्रोक्ति की धारणा कुछ विशिष्ट अर्थ के साथ विकसित हुई है। इसमे भी उक्ति की वक्रता की धारणा अवश्य है, पर एक विशेष अर्थ में। प्रस्तुत सन्दर्भ मे हमारा विवेच्य विशिष्ट अर्थ मे वक्रोक्ति-अलङ्कार का—जिसे रुद्रट आदि ने शब्दालङ्कार और रुय्यक, अप्पय्य आदि ने अर्थालङ्कार माना है—स्वरूप विकास है।

---

१. व्यक्तीकृत्य कमप्यर्थं स्वरूपार्थस्य गोपनात्।
यत्राबाह्यान्तरावर्थौ कथ्यन्ते ता प्रहेलिकाः॥
—धर्मदास सूरि, विदग्ध मुखमण्डन

२. रसस्य परिपन्थित्वान्नालङ्कारः प्रहेलिका।
उक्तिवैचित्र्यमात्रं सा च्युतदत्ताक्षरादिका॥
—विश्वनाथ, साहित्यद० १०,१६

अलङ्कार-विशेष के रूप मे वक्रोक्ति का निरूपण सर्वप्रथम आचार्य वामन ने किया, पर उनका वक्रोक्ति अलङ्कार-लक्षण परवर्ती आचार्यो को मान्य नहीं हुआ। सादृश्यमूला लक्षणा मे वक्रोक्ति अलङ्कार मान कर वामन ने उसे आचार्य दण्डी के समाधि गुण के समान बना दिया।[1]

रुद्रट ने वक्रोक्ति अलङ्कार वहाँ माना, जहाँ वक्ता के किसी विशेष अर्थ मे प्रयुक्त वाक्य का श्रोता श्लेष या कण्ठध्वनि-भेद के सहारे उससे भिन्न अर्थ लगा लेता है। वक्ता के कथन मे उसके अभीष्ट अर्थ से भिन्न अर्थ की योजना या तो सभङ्ग या अभङ्ग श्लेष से सम्भव है या काकु अर्थात् कण्ठ-ध्वनि के भेद से। इस प्रकार वक्रोक्ति के दो मुख्य भेद होते है—श्लेष-वक्रोक्ति तथा काकु-वक्रोक्ति।[2] रुद्रट का यह वक्रोक्ति-लक्षण ही परवर्ती आचार्यो को मान्य हुआ। उसके शब्दालङ्कारत्व तथा अर्थालङ्कारत्व के विषय में आचार्यो मे दो मत अवश्य रहे है; पर उसके स्वरूप तथा श्लेष और काकु भेदो के सम्बन्ध मे मतभेद नही रहा। रुद्रट ने वक्रोक्ति को शब्दालङ्कार माना था। आचार्य मम्मट तथा विश्वनाथ ने रुद्रट के मत का ही समर्थन किया, पर रुय्यक, अप्पय्य आदि आचार्यो ने वक्रोक्ति के उसी स्वरूप को स्वीकार करने पर भी अर्थालङ्कार के रूप मे स्वीकार किया। वस्तुत: सभङ्ग तथा अभङ्ग श्लेष और काकु पर आश्रित वक्रोक्ति मे शब्दालङ्कारत्व भी है और अर्थालङ्कारत्व भी। अत:, उसे उभयालङ्कार-वर्ग मे मानना ही उचित होगा।

निष्कर्ष यह कि रुद्रट-कल्पित वक्रोक्ति अलङ्कार के स्वरूप मे कोई परिवर्त्तन नही हुआ। सस्कृत तथा हिन्दी के आचार्यो ने वक्रोक्ति की रुद्रट-प्रदत्त परिभाषा को ही स्वीकार किया है।

श्लेष

श्लेष ही एक ऐसा अलङ्कार है, जिसे आचार्यो ने शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार—दोनो रूपों मे स्वीकार किया है। वक्रोक्ति आदि की स्थिति यह है कि उसे कुछ आचार्य शब्दालङ्कार मानते है तो अन्य आचार्य अर्थालङ्कार, पर

---

१. सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः।—वामन, काव्याल० सू० ४,३,८
—तुलनीय दण्डी, काव्याद० १, ९३-९५

२. वक्त्रा तदन्यथोक्तं व्याचष्टे चान्यथा तदुत्तरदः।
वचनं यत्पदभङ्गैर्ज्ञेया सा श्लेषवक्रोक्तिः॥
विस्पष्ट क्रियमाणादक्लिष्टा स्वरविशेषतो भवति।
अर्थान्तरप्रतीतिर्यत्रासौ काकुवक्रोक्तिः॥—रुद्रट, काव्यालं० २, १४, १६

श्लेष आचार्यो के द्वारा दोनो रूपो मे स्वीकृत है। इस प्रकार श्लेष के दो भेद मान्य रहे है—शब्दश्लेष तथा अर्थश्लेष। श्लेष के दोनो रूपों का निरूपण अलग-अलग—शब्दालङ्कार-प्रकरण तथा अर्थालङ्कार-प्रकरण मे—किया गया है।

अलङ्कार-निरूपण के सन्दर्भ मे श्लेष की चर्चा सर्वप्रथम आचार्य भामह ने की। यद्यपि शब्द और अर्थ के स्वतन्त्र अलङ्कार के रूप मे श्लेष के स्वरूप-निरूपण का क्रम आचार्य उद्भट से आरम्भ हुआ है; पर उद्भट के पूर्व भामह और दण्डी श्लेष के स्वरूप पर विचार कर चुके थे। दण्डी ने तो श्लेष को सभी अलङ्कारो का सौन्दर्याधायक भी माना था।

भामह ने उपमान के साथ उपमेय के तत्त्व-साधन मे अर्थात् उपमान से अभेद-साधन में श्लिष्ट का सद्भाव मानकर उसे उपमाहेतुक सहोक्ति आदि के रूप मे विवेचित किया। भामह के श्लिष्ट (तीन रूप) का स्वरूप अपरिष्कृत ही रह गया है।[१]

दण्डी ने श्लेष को किञ्चित् परिष्कृत रूप में प्रस्तुत किया है। उन्होने श्लेष को परिभाषित करते हुए कहा कि इसमे एक रूप अर्थात् अभिन्न-पद-युक्त वाक्य अनेकार्थ का वाचक होता है। युगपद् उच्चार्य समान-रूप पद से अनेकार्थ-बोध मे दण्डी के अनुसार श्लेष अलङ्कार माना जाना चाहिए।[२] दण्डी ने श्लेष के अभिन्न-पद तथा भिन्न-पद अर्थात् अभङ्ग तथा सभङ्ग—ये दो भेद स्वीकार किये है। पीछे चलकर अभिन्न और भिन्न पद के आधार पर श्लेष-भेद की कल्पना के आधार पर ही शब्दगत तथा अर्थगत श्लेष-भेदो की कल्पना की गयी है। दण्डी ने श्लेष का शब्दार्थ-विभाग स्पष्ट नही किया था।

आचार्य उद्भट ने श्लेष की परिभाषा का परिष्कार किया और उसके शब्दगत तथा अर्थगत--दो भेद स्वीकार किये। तब से श्लेष के ये दो भेद प्रायः सर्वसम्मति से स्वीकृत रहे हैं। उद्भट के द्वारा परिष्कृत श्लेष-लक्षण ही परवर्ती काल मे स्वीकृत हुए है। अत उसका स्वरूप-परीक्षण यहाँ प्रासङ्गिक होगा। दण्डी की तरह उद्भट ने भी अनेक अर्थ की युगपत् विवक्षा मे श्लेष का सद्भाव माना है। उनका कहना है कि जहाँ एक प्रयत्न से उच्चार्य शब्दों से अनेक

---

१. द्रष्टव्य, भामह, काव्यालं० ३,१४-२०

२. श्लिष्टमिष्टमनेकार्थमेकरूपान्वित वचः।
तदभिन्नपदं भिन्नपदप्रायमिति द्विधा॥—दण्डी, काव्याद० २,३१०

अर्थ का निबन्धन होता हो, वहाँ श्लिष्ट अलङ्कार होता है। अनेक अर्थ की युगपत् विवक्षा की दो स्थितियाँ सम्भव है—(१)एक-प्रयत्नोच्चार्य तथा उदात्त, स्वरित आदि अभिन्न गुण से युक्त शब्द से अनेकार्थ-बोध (ऐसा शब्द देखने में तो एक लगता है पर शास्त्रीय दृष्टि से तत्वतः अनेक होता है; क्योंकि अर्थ-भेद से शब्द मे भिन्नता मानी गयी है। अर्थात् एक ही शब्द यदि अनेकार्थवाची हो तो एक अर्थ का बोध कराने के समय वह अलग शब्द माना जायगा और दूसरे अर्थ का बोध कराने के समय अलग। फलत. वह एक ही शब्द उच्चारण के प्रयत्न तथा उदात्त, अनुदात्त, स्वरित आदि की दृष्टि से अभिन्न होने पर भी दो अर्थो का बोध कराने के कारण दो माना जायगा), तथा (२) प्रयत्न, उदात्त आदि स्वर के भेद के कारण युगपत् प्रयुक्त न हो सकने पर भी परस्पर छायानुकारी शब्दो से अनेकार्थ बोध। प्रथम को (जिसमें अर्थ-भेद के कारण समान शब्द परस्पर भिन्न माना जाता है) अर्थश्लेष तथा द्वितीय को शब्दश्लेष माना गया है।[1] ये क्रमश अभङ्ग तथा सभङ्ग श्लेष के समान है।

रुद्रट ने शब्दश्लेष का निरूपण शब्दालङ्कार-प्रकरण मे किया तथा अर्थालङ्कार का श्लेषमूलक स्वतन्त्र वर्ग मान कर एक स्वतन्त्र अध्याय में उसका सभेद निरूपण किया।[2]

मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने श्लेष के सामान्य स्वरूप के सम्बन्ध मे दण्डी, उद्भट आदि आचार्यो की मान्यता को ही स्वीकार किया है। श्लेष के लक्षण की दृष्टि से कोई नवीन ऊहापोह परवर्ती आचार्यो ने नही किया। मम्मट और रुय्यक ने श्लेष के शब्दगत तथा अर्थगत होने के प्रश्न पर सूक्ष्मता से विचार किया है। मम्मट ने किसी अलङ्कार को शब्दगत या अर्थगत मानने का आधार अन्वय-व्यतिरेक को माना था। इस आधार पर उनका निष्कर्ष यह था कि जहाँ शब्दो के पर्याय-परिवर्त्तन से अलङ्कारत्व की हानि हो, वहाँ शब्दालङ्कार और जहाँ पर्याय-परिवर्त्तन होने पर भी अलङ्कारत्व बना रहे, वहाँ अर्थालङ्कार होता है। आचार्य रुय्यक ने अलङ्कार के आश्रय-भूत शब्द और अर्थ के आधार पर उसका शब्दगत तथा अर्थगत विभाग उचित माना। फलत मम्मट ने अपने निर्धारित निकष पर श्लेष मे पर्याय-परिवर्त्तन

---

१. एकप्रयत्नोच्चार्याणा तच्छायां चैव बिभ्रताम्।
स्वरितादिगुणैर्भिन्नैः बन्ध. श्लिष्टमिहोच्यते॥
—उद्भट, काव्यालं०-सार सं० ४,२३

२. द्रष्टव्य, रुद्रट, काव्यालं० अध्याय ४ तथा १०

के असहत्व तथा सहत्व के आधार पर उसे शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार माना।[१] रुय्यक ने आश्रय के आधार पर श्लेष को न केवल शब्दगत तथा अर्थगत माना वरन् उसे उभयगत भी स्वीकार किया। इस प्रकार रुय्यक के अनुसार श्लेष शब्दगत, अर्थगत तथा उभयगत हो सकता है। रुय्यक के अनुसार शब्दश्लेष मे पदभङ्ग से दो अर्थ निकलते है। उन शब्दो मे उच्चारण-प्रयत्न तथा उदात्तादि स्वर की भिन्नता रहती है; अत वे शब्द परस्पर स्वतन्त्र होते है। वे तत्त्वत अलग-अलग शब्द होने पर भी एकरूपता का आभास-मात्र उत्पन्न करते है। इन दोनो शब्दो का सम्बन्ध जतु-काष्ठ सम्बन्ध के समान होता है। जैसे लकडी मे सटी हुई लाह उससे अभिन्न जान पडती है; पर वस्तुत वह लकडी से भिन्न होती है, उसी तरह सभङ्ग पदश्लेष अर्थात् शब्दश्लेष मे दो स्वतन्त्र शब्द एक से प्रतिभात होते है। अर्थश्लेष मे एक ही शब्द, जिसका उच्चारण प्रयत्न, स्वर आदि एक ही होते है, दो अर्थो का वाचक होता है। इसमे एक शब्द मे दो अर्थ एक वृन्त मे लगे दो फल की तरह रहा करते है। उभयश्लेष मे उक्त दोनो स्थितियाँ रहा करती है।[२] शब्दालङ्कार-विभाग के आधार की भिन्नता के कारण दोनो आचार्यो के शब्दश्लेष और अर्थश्लेष की धारणा कुछ अलग-अलग है। मम्मट शब्दश्लेष के सभङ्ग एव अभङ्ग दोनों भेद स्वीकार करेगे, पर रुय्यक केवल सभङ्ग को ही शब्दश्लेष मानेगे।

मम्मट और रुय्यक के उपरान्त अलङ्कार-शास्त्र मे श्लेषविषयक दोनो ही मान्यताएँ प्रचलित रही है। विश्वनाथ आदि आचार्यो ने मम्मट की श्लेष-विषयक मान्यता का अनुमोदन किया तो विद्याधर आदि ने आचार्य रुय्यक के सिद्धान्त का समर्थन किया। जयदेव आदि परवर्ती आचार्य भी प्राचीन आचार्यो के श्लेष-लक्षणको ही मान कर चले। हिन्दी-रीति-आचार्यो ने भी श्लेष के उस परम्परागत लक्षण को ही स्वीकार किया है।

श्लेष के मुख्य दो भेद दण्डी ने सभङ्ग तथा अभङ्ग पद के आधार पर किये थे।

---

१. अर्थश्लेषस्य तु स विषय. यत्र शब्दपरिवर्त्तनेऽपि न श्लेषत्वखण्डना।
मम्मट, काव्य प्र०, ६ पृ० २१२

२. एष च शब्दार्थोभयगतत्वेन वर्तमानत्वात् त्रिविधः। तत्रोदात्तादिस्वर-भेदात् प्रयत्नभेदाच्च शब्दान्यत्वे शब्दश्लेषः यत्र प्रायेण पदभङ्गो भवति। अर्थश्लेषस्तु यत्र स्वरादिभेदो नास्ति। अतएव न तत्र सभङ्गपदत्वम्। सङ्कलनया तूभयश्लेषः।—रुय्यक, अलं० सर्वस्व पृ० ११२

उनके अनुसार श्लेष के अभिन्न क्रियावान्, अविरुद्ध क्रियावान्, विरुद्ध क्रियावान् तथा नियमवान् आदि भेद भी होते है।[१] दण्डी के सभङ्ग-अभङ्ग भेद के आधार पर उद्भट ने श्लेष के शब्दगत और अर्थगत भेद स्वीकार किये। रुद्रट ने शब्द-श्लेष के वर्ण, पद, लिङ्ग भाषा, प्रकृति, प्रत्यय, विभक्ति तथा वचन के आधार पर आठ और श्लेष-वर्ग मे परिगणित अर्थश्लेष के अविशेष, विरोध, अधिक, वक्र, व्याज, उक्ति, असम्भव, अवयव; तत्त्वश्लेष तथा विरोधाभास— ये दश भेद माने।[२] भोज ने शब्दश्लेष और उभय-श्लेष के छह-छह भेद किये। शब्द-श्लेष के भेद प्रकृति, प्रत्यय, विभक्ति, वचन, पद तथा भाषा भेद के आधार पर तथा शब्दार्थोभय-श्लेष के भेद पद, क्रिया, कारक आदि के आधार पर किये गये।[३]

आचार्य मम्मट ने शब्दश्लेष के नौ भेदो मे सभङ्ग और अभङ्ग श्लेष-भेदो को भी परिगणित किया तथा अर्थश्लेष को भी स्वीकार किया। रुय्यक ने शब्दश्लेष और अर्थश्लेष के साथ उभयश्लेष भेद की भी कल्पना की। अप्पय्य दीक्षित ने वर्ण्य, अवर्ण्य तथा वर्ण्यावर्ण्य की अनेकता के आधार पर श्लेष के तीन भेद किये। हिन्दी मे आचार्य केशव ने समान पद-वाक्य से पाँच-पाँच अर्थ तक के उदाहरण दिये है।[४]

काव्य मे श्लेष अलङ्कार का महत्त्वपूर्ण स्थान माना गया है। दण्डी ने श्लेष को सभी अलङ्कारो का शोभाधायक कहा था। उद्भट ने अन्य अलङ्कारो के साथ श्लेष के रहने पर उसकी सार्वत्रिक प्रधानता स्वीकार की।[५] रुय्यक तथा मम्मट ने इस मान्यता मे असहमति प्रकट कर उपमा आदि के साथ श्लेष के रहने पर साधारण्य की ही प्रधानता मानी।[६] फिर भी, इतना तो कहा ही जा सकता है कि श्लेष को आचार्यो ने बहुत महत्त्वपूर्ण अलङ्कार माना है। वस्तुतः, एक साथ अनेकार्थ के गुम्फन मे कवि के कौशल का परिचय मिलता है। अतः, श्लेष का महत्त्व अनुपेक्षणीय है।

---

१. द्रष्टव्य, दण्डी, काव्याद० २,३१०-२२
२. द्रष्टव्य, रुद्रट, काव्याल, ४, २ तथा १०, २
३. द्रष्टव्य, भोज, सरस्वती कण्ठा० २,६६ तथा ४,८४
४. द्रष्टव्य, केशव, कविप्रिया, ११,३३
५ अलङ्कारान्तरगता प्रतिभा जनयत्पदैः।
—उद्भट, काव्यालं०, सारस० ४,२४
६. द्रष्टव्य—अलङ्कार सर्वस्व पृ० ११६-१७

पुनरुक्तवदाभास

आचार्य उद्भट ने सर्वप्रथम पुनरुक्तवदाभास अलङ्कार का निरूपण किया। उन्होने यद्यपि शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार का सैद्धान्तिक रूप से विभाजन नही किया है, तथापि उनके अलङ्कार-विवेचन के क्रम को देखते हुए यह स्पष्ट है कि उन्होने प्रस्तुत अलङ्कार को शब्दालङ्कार माना है। पुनरुक्तवदाभास के लक्षण मे उद्भट ने कहा है कि इस मे पुनरुक्ति का आभास होता है, अर्थात् भिन्न-भिन्न पद एक ही वस्तु का बोध कराते-से जान पडते है।[1] एक ही अर्थ का भिन्न-भिन्न पदो से पुन -पुन कथन पुनरुक्ति-दोष माना जाता है, पर जहाँ तत्त्वत अर्थ की पुनरुक्ति नही रहने पर भी आपातत. पुनरुक्ति का आभास होता है और विचार करने पर परिणामत पुनरुक्ति का परिहार हो जाता है, वहाँ चमत्कार के कारण पुनरुक्तवदाभास या पुनरुक्ताभास अलङ्कार माना जाता है।

सस्कृत तथा हिन्दी अलङ्कार-शास्त्र के प्रायः सभी प्रमुख आचार्यो ने पुनरुक्तवदाभास का यही स्वरूप माना है। इस अलङ्कार के विषय मे आचार्यो मे थोडा मतभेद इसके शब्दगतत्व तथा अर्थगतत्व आदि को लेकर ही रहा है। एक ओर रुय्यक तथा उनके अनुयायी विद्याधर, विद्यानाथ आदि ने इसे अर्थालङ्कार माना तो दूसरी ओर आचार्य मम्मट तथा उनके अनुयायियो ने इसे शब्दार्थोभयगत अलङ्कार माना है। विश्वनाथ भी इसे उभयालङ्कार मानने के पक्ष मे ही है। विश्वनाथ के शब्दालङ्कार-प्रकरण मे पुनरुक्तवदाभास का निरूपण होने से यह भ्रान्ति नही होनी चाहिए कि वे इसे शब्दालङ्कार मानने के पक्ष मे थे। उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है कि इसे उभयालङ्कार मानने पर भी उन्होने केवल परम्परा के निर्वाह के लिए इसका निरूपण शब्दालङ्कार-प्रकरण मे किया है।[2] हिन्दी अलङ्कार-शास्त्र के एक शोधक ने तो यहाँ तक मान लिया है कि विश्वनाथ ने पुनरुक्तवदाभास को अर्थालङ्कार माना है।[3]

---

१. पुनरुक्तवदाभासमभिन्नवस्तिवोद्‌भासिभिन्नरूपपदम् ।—उद्भट, काव्याल० सारसं० पृ० १

२. शब्दार्थयोः प्रथम शब्दस्य बुद्धिविषयत्वात् शब्दालङ्कारेषु वक्तव्येषु शब्दार्थालङ्कारस्यापि पुनरुक्तवदाभासस्य चिरन्तनैः शब्दालङ्कारमध्ये लक्षितत्वात् प्रथम तमेवाह। —विश्वनाथ, साहित्यद० वृत्ति पृ० ५५८

३. द्रष्टव्य, डा० ओम्प्रकाश, रीतिकालीन अल० सा० का शास्त्रीय विवेचन, पृ० २३६

पता नही, ऐसी भ्रान्त धारणा का क्या आधार था। पुनरुक्तवदाभास को उभयगत मानना ही युक्तिसङ्गत जान पडता है; क्योकि इसमे पुनरुक्ति का बोध पहले शब्द-प्रयोग चातुरी से होता है, पर पुनरुक्ति का परिहार अर्थ-सापेक्ष होता है।

हिन्दी के कुछ आचार्यो ने पुनरुक्तवदाभास के स्थान पर पुनरुक्ति सज्ञा का प्रयोग किया है। यह उचित नही। तात्त्विक पुनरुक्ति को तो काव्य में दोष ही माना जायगा। पुनरुक्ति के आभास-मात्र मे अलङ्कारत्व रहता है।

विरोधाभास

सस्कृत तथा हिन्दी-अलङ्कार-शास्त्र मे प्रस्तुत अलङ्कार के दो नाम उपलब्ध है—विरोध तथा विरोधाभास। आरम्भ मे भामह, दण्डी, उद्भट आदि ने विरोध सज्ञा से ही इस अलङ्कार के स्वरूप का निरूपण किया था, पर पीछे चल कर उसके लिए अधिक सार्थक अभिधान का प्रयोग हुआ। मम्मट ने यद्यपि विरोध सज्ञा का ही प्रयोग किया है, पर उन्होने यह उल्लेख किया है कि इसे ही विरोधाभास भी कहते है। दण्डी, उद्भट, मम्मट, रुय्यक आदि के विरोध-लक्षण पर विचार करने से उसका विरोधाभास नाम ही अन्वर्थ, अत. अधिक समीचीन जान पडता है। रुद्रट आदि आचार्यो के विरोध-अलङ्कार के लिए विरोध सज्ञा उपयुक्त है।

विरोध को अधिकाश आचार्यों ने अर्थालङ्कार माना है। मम्मट के अन्वय-व्यतिरेक के निकष पर तो शब्द-परिवृत्ति-सहत्व के कारण यह अर्थालङ्कार सिद्ध किया जा सकता है; पर आश्रय-भेद के आधार पर इसे केवल अर्थाश्रित मानने में दो मत हो सकते है। इसमे तात्त्विक अविरोध मे विरोध का आभास उत्पन्न किया जाता है। स्वरूपत. विरोध की प्रतीति मे शब्द-प्रयोग का चमत्कार अपेक्षित रहता है, विरोध-परिहार अवश्य अर्थ के आधार पर हुआ करता है। आचार्य भिखारी दास ने विरोध तथा विरोधाभास की अलग-अलग सत्ता मान कर विरोध को तो अर्थालङ्कार माना है, पर विरोधाभास को शब्दालङ्कार।[१] सस्कृत-अलङ्कार-शास्त्र का एक ही अलङ्कार दो सज्ञाओ के कारण दो स्वतन्त्र-अलङ्कार बन गया। इसका दूसरा कारण यह था कि भामह, दण्डी तथा उद्भट के उपरान्त विरोध की परिभाषाएँ

१. भिखारी दास, काव्यनिर्णय, उल्लास १३ तथा २०। उसकी टीका पृ० ५६६ भी द्रष्टव्य

वामन तथा रुद्रट के द्वारा कुछ अलग-अलग रूप मे कल्पित हुई । उन्ही दोनों के परस्पर स्वतन्त्र विकास की परिणति विरोध तथा विरोधाभास; इन दो स्वतन्त्र अलङ्कारो के रूप मे हुई है। विरोधाभास को एक ओर केवल अर्था-लङ्कार तथा दूसरी ओर केवल शब्दालङ्कार (दास आदि के द्वारा) मानने के दो अतिगामी विचारो के बीच उसे उभयालङ्कार-वर्ग मे रखना समीचीन जान पडता है। दास ने विरोधाभास मे शब्द का चमत्कार स्वीकार करने पर भी विरोध-परिहार आवश्यक माना है, जा अर्थ के आधार पर ही सम्भव है। अतः, दास के विरोधाभास-लक्षण के अनुसार उसे शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार; दोनों (स्पष्ट शब्दो मे शब्दार्थोभयालङ्कार) माना जा सकता है।

भामह, दण्डी तथा उद्भट ने विरोधाभास की जो परिभाषाएँ दी थी, वे व्याख्या-सापेक्ष थी। उनके अनुसार विरुद्ध पदार्थो का ससर्ग-वर्णन इस अलङ्कार मे विशेष अर्थात् वर्ण्य के उत्कर्ष प्रदर्शन के लिए किया जाता है। दण्डी की इस धारणा की व्याख्या मे नृसिहदेव ने 'विशेषदर्शनायैव' (केवल उत्कर्ष-निरूपण के लिए) की व्याख्या करते हुए कहा है कि तात्त्विक-अविरोध मे भी विरोध-प्रदर्शन वर्ण्य के उत्कर्ष-निरूपण के लिए 'विरोध' मे किया जाता है। निष्कर्ष यह कि इसमे तात्त्विक अविरोध और प्रातिभासिक विरोध रहा करता है। इसलिए इसे विरोधाभास भी कहा जाता है।[१]

भामह, दण्डी तथा उद्भट की विरोध-परिभाषाओ मे, जो एक-दूसरे से मिलती-जुलती ही है, (भामह और उद्भट की परिभाषा तो अभिन्न है[२]) विरुद्ध गुण, क्रिया आदि की योजना का तो स्पष्ट शब्दो मे उल्लेख हुआ है, पर यह स्पष्टत. अभिहित नही है कि विरोध तात्त्विक नही. प्रातिभासिक-मात्र होता है। वामन ने अपनी विरोध-परिभाषा मे यह स्पष्ट किया कि विरोध का आभास ही विरोध अलङ्कार है।[3] भामह तथा दण्डी की

---

१. विशेषदर्शनायैव विशेष. वर्णनीयस्य उत्कर्ष तस्य दर्शनाय निरूपणायैव विरुद्धानाम् अन्योन्यविरुद्धधर्मवता पदार्थाना = जातिगुण क्रियाद्रव्याणाम् यत्र वैचित्र्ये ससर्गदर्शनम् सम्बन्धवर्णनम् सामानाधिकरण्यप्रतिपादन-मिति यावत्, स विरोध = वास्तवविरोधाभावेऽपि विरोधप्रयोजकत्वात् विरोधः [विरोधाभास] इति नामालङ्कार स्मृत . ।
—दण्डी, काव्याद० २, ३३३ की कुसुमप्रतिमा टी० पृ० २५४

२. द्रष्टव्य—भामह, काव्याल० ३,२५ तथा उद्भट, काव्याल० सार स० ५,६

विरुद्धाभासत्व विरोध. ।—वामन, काव्याल० सू० ४,३,१२

परिभाषाओ मे भी यह आभास का भाव निहित अवश्य था, जो 'विशेषाभिधानाय' तथा 'विरोधदर्शनायैव' से व्यक्त होता है। वामन ने उसका स्पष्ट उल्लेख किया।

आचार्य रुद्रट ने भामह आदि की परिभाषा से विरुद्ध गुण-क्रिया आदि की एकत्र सङ्घटना की धारणा तो ली, पर विशेषमात्र-प्रदर्शन के उद्देश्य से प्रातिभासिक विरोध की योजना की धारणा का अस्वीकार कर दिया। फलत, उन्होने विरोध के लक्षण मे आभास की धारणा का त्याग कर यह मान्यता प्रकट की कि इसमे एक समय एक ही आधार मे परस्पर सर्वथा विरुद्ध द्रव्य, गुण, क्रिया और जाति का अवस्थान वर्णित होता है।[1] भामह, दण्डी आदि की विरोध-परिभाषाओ मे प्रकारान्तर से व्यक्त तथा वामन की परिभाषा मे स्पष्टत अभिहित विरोध का स्वभाव ही परवर्ती आचार्यों के द्वारा परिभाषित हुआ है। सस्कृत के मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ आदि तथा हिन्दी के चिन्तामणि, यगवन्त सिह, मतिराम, दूलह, पद्माकर आदि ने वामन की विरोध-धारणा को ही अपनाया है। केशव ने विरोध मे विरोधमय वचन की रचना पर बल देकर रुद्रट की धारणा स्वीकार की है, साथ ही विरोध के आभास को भी स्वीकृति दी है, जैसा कि उनके विरोध-उदाहरण से स्पष्ट है। उसकी व्याख्या मे लाला भगवान दीन ने यह मान्यता प्रकट की है कि इस कवित्त के पहले और तीसरे चरण मे 'विरोध' अलङ्कार तथा दूसरे और चौथे मे 'विरोधाभास' अलङ्कार है, पर विरोधाभास को केशव ने 'विरोध' ही के अन्तर्गत माना है।[2] दास ने वामन आदि आचार्यो के मतानुसार विरोधाभास का स्वरूप स्वीकार किया (यद्यपि उन्होने उसकी परिभाषा को कुछ अस्पष्ट कर दिया है) और उससे स्वतन्त्र विरोध अलङ्कार का अस्तित्व स्वीकार कर उन्होने विरोधाभास को शब्दालङ्कार तथा विरोध को अर्थालङ्कार मान लिया है। यह दास के अलङ्कार-निरूपण की सीमा है कि वे अर्थगत विरोध-अलङ्कार तथा शब्दगत विरोधाभास-अलङ्कार का भेद स्पष्ट नही कर सके। यदि वे विरोध का लक्षण केशव के मतानुसार देते तो उन्ही के मतानुसार विरोधाभास का भेद स्पष्ट हो जाता। केशव की विरोध-धारणा मे—जिसमे एक साथ रुद्रट के मतानुसार विरोध तथा वामन आदि के

---

१ यस्मिन् द्रव्यादीना परस्पर सर्वथा विरुद्धानाम्।
एकत्रावस्थान समकालं भवति स विरोध ॥—रुद्रट, काव्यालं० ९, ३०

२. द्रष्टव्य, केशव, कविप्रिया,. ..लाला भगवानदीन की टीका पृ० १५५

ऐतिहासिक दृष्टि से उपमा की सामान्य धारणा मे विशेष परिवर्त्तन या विकास नही हुआ है। इस बात मे दो मत नही कि उपमा मे प्रस्तुत वस्तु की तुलना अप्रस्तुत वस्तु के साथ की जाती है। यह तुलना दोनो के बीच किसी साधारण धर्म के आधार पर होती है। यदि किसी कारण वर्ण्य वस्तु अन्य वस्तु के सदृश नही जान पडे तो दोनो की तुलना का कोई अर्थ नही होगा। दो वस्तुओ की तुलना मे दोनो के बीच साधारण धर्म के वाचक शब्दो का प्रयोग होता है। इस प्रकार उपमा के चार अङ्ग स्वीकृत है —(१) वह वर्ण्य वस्तु, जिसकी तुलना अन्य वस्तु से की जाती है अर्थात् उपमेय, (२) जिस वस्तु के साथ वर्ण्य वस्तु की तुलना की जाती है अर्थात् उपमान, (३) दोनो के बीच साधारण रूप से रहने वाला धर्म, जिसे साधारण धर्म कहते है और (४) उपमेय एव उपमान के बीच सादृश्य के वाचक शब्द। इन चार तत्त्वों—उपमेय, उपमान, साधारण धर्म तथा उपमा-वाचक शब्द—से उपमा अलङ्कार की योजना होती है। जहाँ ये चारो तत्त्व उक्त रहते हैं, वहाँ पूर्णा उपमा तथा इनमे से एक, दो तथा तीन के लुप्त रहने पर लुप्ता उपमा होती है।

उपमा के उक्त चार अङ्ग तथा उनके सम्पूर्णत उक्त तथा अशत उक्त होने के आधार पर उपमा के पूर्णा एव लुप्ता भेद सर्वसम्मत है। इस प्रकार आचार्य भरत से लेकर अधुनातन आचार्यो की उपमा-धारणा का सार यह है कि जहाँ कुछ साधारण धर्म या सादृश्य के आधार पर वर्ण्य वस्तु की अप्रस्तुत वस्तु के साथ तुलना की जाती हो, वहाँ उपमा अलङ्कार होता है। उदाहरण के लिए उज्ज्वल अपाङ्ग मे काली कनीनिका के सौन्दर्य के लिए यदि कवि यह वर्णन करता है कि— उज्ज्वल अपाङ्ग मे काली कनीनिका श्वेत पद्म मे वैठे काले भ्रमर के समान सुन्दर है' तो यह उपमा अलङ्कार का उदाहरण होगा। इसमे उज्ज्वल अपाङ्ग मे काली कनीनिका उपमेय, श्वेत कमल मे काला भ्रमर उपमान, सुन्दरता दोनों मे साधारण धर्म तथा 'समान' उपमा का वाचक शब्द होगा। यहाँ ध्यातव्य है कि दोनो की सुन्दरता तो उपमा का हेतु है ही, अपाङ्ग तथा कमल के एव कनीनिका और भ्रमर के वर्ण आदि का सादृश्य भी उसका हेतु है। इस प्रश्न को लेकर बहुत सूक्ष्म विचार किया गया है कि दो वस्तुओं के बीच साधर्म्य मे उपमा मानी जाय या सादृश्य मे ? उपमा के सन्दर्भ मे दूसरा विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या सार्वत्रिक रूप से

उपमान को उत्कृष्ट गुणवान् तथा उपमेय को उससे निकृष्ट-गुणयुक्त माना जाना चाहिए ? इन प्रश्नो के सम्बन्ध मे आचार्यों की मान्यता का सार यह है कि धर्म, स्वरूप आदि की समानता के आधार पर उपमानोपमेय भाव की कल्पना की जा सकती है। समानोपमा मे तो विशेषण-मात्र के साम्य के आधार पर उपमा की कल्पना होती है। उपमा की योजना मे उपमान के रूप, गुण आदि की अतिशय प्रसिद्धि, अत., उसकी उत्कृष्टता की धारणा भी रहा ही करती है। दोष आदि के लिए उपमान की कल्पना के पीछे भी उपमान मे दोष के आधिक्य की धारणा निहित रहा करती है ।

प्राचीन आलङ्कारिको के उपमा-लक्षण मे साधर्म्य तथा सादृश्य—दोनो शब्दो का प्रयोग हुआ है। आचार्य भरत, दण्डी आदि ने दो वस्तुओ के बीच सादृश्य की प्रतीति को उपमा कहा तो मम्मट, रुय्यक आदि ने उपमा-लक्षण मे 'साधर्म्य' शब्द का प्रयोग किया। उपमान के साथ उपमेय के गुण आदि से साम्य को भी भामह, कुन्तक आदि ने उपमा का लक्षण माना है। इस प्रकार 'साधर्म्य', 'सादृश्य' तथा 'गुण-साम्य या धर्म साम्य' शब्दो का प्रयोग तत्तदाचार्यो के उपमा-लक्षण मे हुआ है। गुणसाम्य तथा धर्मसाम्य साधर्म्य से अभिन्न है। ऐतिहासिक दृष्टि से उपमा के लक्षण-विकास का अध्ययन वाञ्छनीय है।

उपमा के अलङ्कार-शास्त्रीय निरूपण के पूर्व निरुक्ति की दृष्टि से यास्क के 'निरुक्त' मे तथा ज्ञान के साधन के रूप मे न्यायशास्त्र मे उसका विवेचन हो चुका था। यास्क ने उपमा के स्वरूप के सम्बन्ध मे अपने पूर्ववर्ती आचार्य गार्ग्य की मान्यता उद्धृत की है। गार्ग्य का मत था कि किसी वस्तु से भिन्न वस्तु का उससे सादृश्य उपमा है। उपमा का कर्म है—श्रेष्ठ या प्रख्यात गुण वाले पदार्थ से कनीय या अख्यात गुण वाली वस्तु की तुलना। कही-कही हीन गुण वाले पदार्थ के साथ भी अधिक गुण वाली वस्तु की तुलना उपमा मे की जा सकती है (इसे भरत आदि निन्दोपमा कहेगे)।[1]

आचार्य भरत ने उपमा को परिभाषित करते हुए कहा कि जहाँ काव्य-रचना मे कोई वस्तु (वर्ण्य वस्तु) सादृश्य के कारण दूसरी वस्तु के साथ उपमित होती है, वहाँ उपमा होती है। वह उपमा गुण और आकृति पर

१. अथात उपमा यदतत्तत्सदृशम् इति गार्ग्यस्तदासा कर्म ज्यायसा वा गुणेन प्रख्याततमेन वा कनीयासं वाप्रख्यात वाथापि कनीयसा ज्यायासम्।
—यास्क, निरुक्त ३, १

आश्रित होती है।[१] भरत की उपमा-धारणा का सार यह होगा कि उपमा मे दो वस्तुओ मे गुण और आकृति का सादृश्य होने से एक वस्तु की दूसरी वस्तु के साथ तुलना की जाती है। स्पष्टत:, भरत के उपमा-लक्षण पर यास्क के द्वारा निर्दिष्ट गार्ग्यकृत उपमा-लक्षण का पुष्कल प्रभाव होने पर भी किञ्चित् नवीनता है। एक तो काव्य-बन्ध की चर्चा कर आचार्य भरत ने सादृश्य में चारुता की धारणा को प्रकारान्तर से मिला दिया। अत:, 'यत्किञ्चित्' के उल्लेख मे भरत की उपमा-परिभाषा का अर्थ 'जिस-किसी प्रकार से सादृश्य के आधार पर की जाने वाली तुलना' नही माना जा सकता। गार्ग्य ने गुण के सादृश्य का उल्लेख किया तो भरत ने उपमा को गुणाकृतिसमाश्रया कह कर उसमे किञ्चित् वैशिष्ट्य का आधान किया।

भामह ने अपने पूर्ववर्ती आचार्य भरत के उपमा-लक्षण को स्वीकार नही किया। उन्होने उपमा की परिभाषा मे कहा कि जहाँ देश-काल, क्रिया आदि की दृष्टि से विरुद्ध उपमान के साथ उपमेय का गुण-लेश के कारण साम्य दिखाया जाय, वहाँ उपमा होती है।[२] भामह की मान्यता है कि एक वस्तु का दूसरी वस्तु से साम्य वास्तविक नही, कवि कल्पित ही हुआ करता है; क्योकि संसार मे एक वस्तु का दूसरी वस्तु से तात्त्विक साम्य हो ही नही सकता। हर वस्तु दूसरी वस्तु से विलक्षण हुआ करती है। कवि की प्रतिभा दो वस्तुओ मे गुण के लेश से साम्य ढूँढ़ कर उपमा की योजना करती है।[३]

दण्डी ने जिस-किसी प्रकार के सादृश्य की प्रतीति मे उपमा की सत्ता मान ली।[४] आचार्य भरत ने उपमा के लक्षण में 'यत्किञ्चित्' शब्द का प्रयोग किया था और किञ्चित् सदृशी उपमा आदि की सत्ता स्वीकार की थी। दण्डी की उपमा-धारणा भरत की उसी धारणा से अनुप्राणित है।

---

१. यत्किञ्चित् काव्यबन्धेषु सादृश्येनोपमीयते।
उपमा नाम सा ज्ञेया गुणाकृतिसमाश्रया ॥—भरत, ना० शा १६, ४१

२. विरुद्धेनोपमानेन देशकालक्रियादिभि:।
उपमेयस्य यत्साम्यं गुणलेशेन सोपमा ॥—भामह, काव्यालं० २, ३०

३. वही, २, ४३-४४

४. यथाकथञ्चित् सादृश्यं यत्रोद्भूतं प्रतीयते।
उपमा नाम सा तस्या: प्रपञ्चोऽयं निदर्श्यते ॥

—दण्डी काव्याद० २, १४

उद्भट ने उपमेय और उपमान के मनोहारी साधर्म्य को उपमा कहा और उसमें भामह की तरह देश, काल आदि की भिन्नता को भी स्वीकृति दी।[1] आचार्य वामन ने भामह के उपमा-लक्षण को ही सूत्रबद्ध किया है।[2]

आचार्य रुद्रट ने भी पूर्वाचार्यो की तरह दोनो मे उपमेय और उपमान मे एक समान गुण या साधारण धर्म का सद्भाव उपमा के लिए आवश्यक माना है।[3]

कुन्तक ने वर्ण्य वस्तु के स्वभाव की मनोहारिता की सिद्धि के लिए उत्कृष्ट मनोहरता वाली किसी वस्तु के साथ उसकी तुलना मे उपमा का सद्भाव माना।[4] कुन्तक के इस उपमा-लक्षण में उनका यह अभिप्राय जान पडता है कि उपमा-योजना की सार्थकता वर्ण्य वस्तु के सौन्दर्य आदि के प्रभाव की वृद्धि मे है। यह मान्यता उचित ही है। केवल उपमा मे ही नही, सर्वत्र अप्रस्तुत-योजना का उद्देश्य प्रस्तुत की प्रभावोत्पादकता की वृद्धि ही होनी चाहिए।

अग्निपुराणकार ने दण्डी के उपमा-लक्षण को स्वीकार कर उसमे लोक-व्यवहार का तत्त्व मिला दिया। इस प्रकार लोक-सीमा मे किञ्चित् सारूप्य के आधार पर एक वस्तु की दूसरी वस्तु के साथ तुलना अग्निपुराणकार के मतानुसार उपमा है।[5] दण्डी के सादृश्य के स्थान पर अग्निपुराण में सारूप्य

---

१. यच्चेतोहारि साधर्म्यमुपमानोपमेययोः।
मिथोऽविभिन्नकालादिशब्दयोरुपमा तु तत्॥
—उद्भट, काव्याल० सार स० १, ३२

२. उपमानेनोपमेयस्य गुणलेशतः साम्यमुपमा।
—वामन, काव्यालं० सू० वृत्ति ४, २, १ तुलनीय, भामह, काव्याल० २, ३०

३. उभयोः समानमेकं गुणादि सिद्धं भवेद्यथैकत्र।
अर्थेऽन्यत्र तथा तत्साध्यत इति सोपमा त्रेधा॥
—रुद्रट, काव्यालं० १,४

४. विवक्षितपरिस्पन्दमनोहारित्वसिद्धये।
वस्तुनः केनचित् साम्यं तदुत्कर्षवतोपमा॥
—कुन्तक, वक्रोक्तिजी० ३, ३०

५. किञ्चिदादाय सारूप्यं लोकयात्रा प्रवर्तते।
समासेनासमासेन सा द्विधा प्रतियोगिनः॥
—अग्निपुराण, अध्याय, ३४४

शब्द का प्रयोग हुआ। इस तरह दो वस्तुओ मे रूपगत समता आवश्यक मानी गयी। भोज ने भी दो पदार्थों के बीच अवयव-सामान्य उपमा मे वाञ्छनीय माना है।[१] इस प्रकार भोज की उपमा का स्वरूप अग्निपुराणकार की उपमा से तत्त्वतः भिन्न नही। उनकी उपमा-परिभाषा मे 'प्रसिद्धि के अनुरोध' का उल्लेख भी उसे अग्निपुराण की उपमा-परिभाषा मे निर्दिष्ट 'लोक-यात्रा के प्रवर्त्तन' के समीप ला देता है।

मम्मट ने परस्पर स्वतन्त्र दो वस्तुओ में साधर्म्य को उपमा कहा।[२] रुय्यक की धारणा मम्मट की इस धारणा से मिलती-जुलती अवश्य है; पर उसमे साधर्म्य की भेदाभेदतुल्यता का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। उपमा मे साधर्म्य की भेदाभेदतुल्यता आवश्यक मानी जाती है। अर्थात्, इसमे दो वस्तुओ के बीच कुछ साधारण तत्त्व रहते है, जो दोनो का अभेद-ज्ञान कराते है और कुछ असाधारण तत्त्व होते है, जिनसे दोनों का भेद प्रतीत होता है। मम्मट ने भी साधर्म्य के इसी भेदाभेदतुल्य रूप को उपमा मे अपेक्षित माना था। भेद-प्रधान साधर्म्य वाले व्यतिरेक को तथा अभेद-प्रधान साधर्म्य वाले रूपक आदि को मम्मट ने भी भेदाभेदतुल्य साधर्म्य-प्रधान उपमा से स्वतन्त्र माना है।

हेमचन्द्र, वाग्भट, शोभाकर, जयदेव, विद्यानाथ, विद्याधर, विश्वनाथ, केशव मिश्र, अप्पय्य दीक्षित, जगन्नाथ आदि सस्कृत के परवर्ती आचार्यो ने उपमा के लक्षण मे कोई विशेष बात नही लायी। कुन्तक आदि की तरह चेतोहारी, हृद्य, सुन्दर आदि विशेषण सादृश्य के लिए जगन्नाथ आदि के उपमा-लक्षण मे प्रयुक्त हुए है।[३] कुछ लोगो ने अलङ्कार-मात्र के मूल में सौन्दर्य की धारणा निहित रहने के कारण अलङ्कार-विशेष के लक्षण में सुन्दर आदि पद के प्रयोग को अनावश्यक ही नही, पुनरुक्ति दोष-दुष्ट भी माना है।[४] उपमा-लक्षण मे सुन्दर आदि विशेषण का प्रयोग विशेष उद्देश्य से किया गया जान पडता है। दो वस्तुओ के बीच सादृश्य-निरूपण की चर्चा शास्त्र में—काव्यशास्त्रेतर शास्त्र मे—हो रही थी। न्याय, व्याकरण आदि के उस शुष्क

---

१. प्रसिद्धेरनुरोधेन यः परस्परमर्थयोः।
भूयोऽवयवसामान्ययोगः सेहोपमा मता॥
—भोज, सरस्वती कण्ठा, ४, ५

२. साधर्म्यमुपमा भेदे......।—मम्मट, काव्यप्र० १०, १२५

३. सादृश्य सुन्दरम्......उपमालङ्कृतिः।—जगन्नाथ, रसगंगा० पृ० २४८

४. द्रष्टव्य, डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी, अलङ्कार मीमासा, पृ० २१४-१५

उपमा-विवेचन से काव्य के अलङ्करणभूत उपमा के भेद-निरूपण के लिए यदि उसमे सुन्दर या हृदयग्राही सादृश्य वाञ्छनीय माना गया तो यह अनुचित नही हुआ।

हिन्दी-रीति-काल में परम्परागत उपमा-धारणा का ही अनुवर्तन होता रहा। केशव ने उपमान और उपमेय मे रूप, शील तथा गुण की समता आवश्यक बतायी।[1] दोनो के बीच साधारण धर्म या समान गुण की चर्चा तो प्राचीन काल से उपमा-लक्षण मे चल ही रही थी, अग्निपुराणकार ने दोनो की रूपगत समता (सारूप्य) का भी उल्लेख किया था। केशव ने रूप एवं गुण की समता की धारणा प्राचीनो से लेकर एक शील की समता भी आवश्यक बता दी। प्राचीन आचार्यो के साधर्म्य या सादृश्य मे केवल गुण की ही नही, क्रिया, द्रव्य आदि की समता की धारणा भी अन्तर्निहित थी। केशव ने कोई नवीन धारणा तो उपमा मे नही जोडी, उलटे गुण के अतिरिक्त शील-जैसे अनावश्यक पद को परिभाषा मे जोड़ कर परिभाषा को शिथिल बना दिया।

देव ने दो वस्तुओ मे गुण तथा अवगुण की समता के आधार पर उपमा की कल्पना की।[2] इस प्रकार उनके मतानुसार उत्कृष्ट गुण की समता के आधार पर एक प्रकार की; और दुर्गुण की समता के आधार पर दूसरे प्रकार की उपमा होगी। स्पष्ट है कि पहले से जो समान धर्म या समान गुण की चर्चा होती रही थी, उसका सीमित अर्थ ही देव ने समझा था। अतः, गुण का अर्थ उत्कृष्ट गुण मान कर उन्होंने अपनी ओर से निकृष्ट गुण मे भी उपमा की कल्पना की। गुण का अर्थ केवल सद्गुण समझने का कारण यह हो सकता है कि प्राचीन आचार्य उत्कृष्ट गुणवान् (उपमान) के साथ किसी वस्तु के सादृश्य के वर्णन मे उपमा मानते रहे थे। उपमेय की अपेक्षा उपमान में गुणोत्कर्ष की धारणा आवश्यक मानी गयी थी। वर्ण्य वस्तु की किसी अन्य वस्तु से तुलना ही इस मान्यता पर आधृत है कि उस ख्यात गुण वाली

१. रूप शील गुण होय सम जो क्यों हूँ अनुसार।
ता सों उपमा कहत कवि केशव बहुत प्रकार॥
—केशव, कविप्रिया, १४,१

२. गुन, औगुन सम तौलि कै, जहाँ एक सम और,
सो उपमा, कहि (गहि) वाच्य (वाक्य) पद, सकल अर्थ लघु ठौर।
—देव, शब्दरसायन ६ पृ० १५०

वस्तु (उपमान) से तुलना करने पर वर्ण्य वस्तु का गुण—या उसके गुण का प्रभाव—भी स्पष्ट हो जायगा। कुछ आधुनिक आलोचकों ने यह युक्ति दी है कि प्रस्तुत या वर्ण्य वस्तु के गुणोत्कर्ष से प्रभावित होकर ही कवि अप्रस्तुत की योजना करता है। इस तर्क मे कवि की अनुभूति पर तो ध्यान रखा गया है; पर उस अनुभूति की अभिव्यञ्जना की स्वाभाविक पर्युत्सुकता की उपेक्षा कर दी गयी है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की यह मान्यता उचित है कि अप्रस्तुतयोजना की सार्थकता प्रस्तुत की प्रभाववृद्धि मे ही है।[१] कवि प्रस्तुत की प्रभाव-वृद्धि के लिए ऐसा अप्रस्तुत सामने लाता है जिसमे, प्रस्तुत-सा गुण अधिक मात्रा में तथा प्रसिद्ध रूप मे रहता है। अतः, उपमेय की अपेक्षा उपमान में गुणोत्कर्ष मानने मे आचार्यो का तात्पर्य यह नही था कि उपमान मे अच्छे गुण ही रहा करते है। गुणोत्कर्ष से अभिप्राय किसी धर्म (सद्गुण या अवगुण) के आधिक्य का तथा सुविख्यात होने का ही था। जब भरत के समय से ही निन्दोपमा, आदि को उपमा के रूप मे स्वीकृति मिलती रही, तब आचार्य गुणोत्कर्ष का अर्थ सद्गुण मात्र का उत्कर्ष कैसे समझते ? गुण शब्द का प्रयोग आज कुछ अर्थ-विकास के साथ होता है। केवल गुण कहने से सद्गुण के अर्थ का बोध होता है तथा हीन गुण के बोध के लिए 'अव' 'दुर' आदि उपसर्ग के साथ गुण शब्द का प्रयोग आवश्यक माना जाता है। अच्छे गुण के बोध के लिए 'सत्' उपसर्ग लगाया भी जाता है; पर वह आवश्यक नही माना जाता। पहले गुण का अर्थ व्यापक था। अच्छे तथा बुरे के लिए 'सत्' तथा 'अव' आदि उपसर्ग का प्रयोग आवश्यक था। यह ध्यातव्य है कि किसी आचार्य ने गुणोत्कर्ष के लिए सद्गुण के उत्कर्ष का भाव व्यक्त नहीं किया है। देव ने गुण-साम्य का अर्थ सद्गुण-साम्य मान कर अपनी ओर से यह जोड़ दिया कि अवगुण की समता मे भी उपमा होगी। गुण से ही अर्थबोध हो जाने के कारण अवगुण शब्द का प्रयोग अनावश्यक है।

हिन्दी के अन्य रीति-आचार्यो ने उपमा अलङ्कार की परिभाषा मे परम्परा का ही निर्वाह किया है। उपमा-धारणा के विकास-क्रम की इस परीक्षा का निष्कर्ष यह है कि जहाँ वर्ण्य वस्तु की अन्य वस्तु से सादृश्य के कारण तुलना की जाती है, वहाँ उपमा अलङ्कार होता है। सादृश्य के लिए इसमें दो सदृश वस्तुओं का परस्पर पार्थक्य आवश्यक है। शास्त्र मे विवेचित उपमा से काव्य-शास्त्रीय उपमा के भेद के लिए इसमे सादृश्यगत चारुता अपेक्षित है।

१. द्रष्टव्य, रामचन्द्र शुक्ल, चिन्तामणि।

उपमा-भेद

आचार्य भरत के समय से ही उपमा के अनेक भेदोपभेदों की कल्पना होती रही है। भरत ने उपमा के पाँच भेद—(१) प्रशंसोपमा, (२) निन्दोपमा, (३) कल्पितोपमा, (४) सदृशी उपमा तथा (५) किञ्चत्सदृशी उपमा—स्वीकार किये है।[१] भामह ने उसके तीन भेदों का उल्लेख किया—(१) यथा, इव आदि वाचक शब्द-प्रयोग पर आधृत, (२) समासगा तथा (३) वति प्रत्यय-युक्त क्रिया-सामान्य वाली। उन्होने अनेक भेदो की सम्भावना स्वीकार कर भी उनका विवेचन अनावश्यक समझा।[२] दण्डी ने उसके बत्तीस भेद किये हैं। वे है :—धर्मोपमा, वस्तूपमा, विपर्यासोपमा, अन्योन्योपमा, नियमोपमा, अतियमोपमा, समुच्चयोपमा, अतिशयोपमा, उत्प्रेक्षितोपमा, अद्भुतोपमा, मोहोपमा, सशयोपमा, निर्णयोपमा, श्लेपोपमा, समानोपमा, निन्दोपमा, प्रशंसोपमा, आचिख्यासोपमा, विरोधोपमा, प्रतिषेधोपमा, चटूपमा, तत्त्वाख्यानोपमा, असाधारणोपमा, अभूतोपमा, असम्भावितोपमा, बहूपमा, विक्रियोपमा, मालोपमा, वाक्यार्थोपमा, प्रतिवस्तूपमा, तुल्ययोगोपमा तथा हेतूपमा।[३] वामन ने उपमा के कल्पिता एवं लौकिकी भेद कर पुनः पदवृत्ति तथा वाक्यवृत्ति-रूप मे दो विभाग किये है। उन्होने पूर्णोपमा तथा लुप्तोपमा भेदो का भी निर्देश किया है।[४] उद्भट ने व्याकरण-सिद्धान्त के आधार पर श्रौती, आर्थी भेदों की कल्पना की।[५] उनके समय से पूर्णा एवं लुप्ता के भेदोपभेदों की कल्पना की जाने लगी। पूर्णा के श्रौती एव आर्थी तथा लुप्ता के उपमेय, उपमान, साधारण धर्म तथा वाचक शब्द मे से एक, दो या तीन के अनुपादान के आधार पर पाँच भेद स्वीकृत हुए। उसके भी श्रौती तथा आर्थी विभाग किये गये। श्रौती एवं आर्थी पूर्णा पुनः तद्धितगत, समास-गत एवं वाक्यगत होने के आधार पर छह प्रकार की मानी गयी। लुप्तोपमा के इक्कीस भेद कल्पित हुए। निम्नलिखित तालिका से परवर्ती आचार्यों के उपमा-विभाग की धारणा प्रस्तुत की जा सकती है—

---

१. प्रशसा चैव निन्दा च कल्पिता सदृशी तथा।
किञ्चिच्च सदृशी ज्ञेया ह्युपमा पञ्चधा पुनः ॥—भरत, ना० शा० १६, ४६

२. द्रष्टव्य, भामह, काव्यालं० २,३०-३८

३. द्रष्टव्य, दण्डी, काव्याद० २,१५-५०

४. द्रष्टव्य, वामन, काव्याल० सू० १,२,२-७

५. द्रष्टव्य, उद्भट, काव्याल० सारसं० १,३३-३८

इस प्रकार उपमा के चार तत्त्वो—उपमेय, उपमान, वाचक एव साधारण धर्म—के समग्रत: उपादान मे पूर्णोपमा तथा उनमे से एक, दो तथा तीन के लोप के आधार पर लुप्तोपमा भेद कर पुन. तद्धित, समास आदि प्रत्ययो के आधार पर दोनो के उपभेद किये गये है। पूर्णा के छह तथा लुप्ता के इक्कीस भेद मिला कर सत्ताइस भेद हो जाते है। उद्भट के इस व्याकरणाश्रित उपमा-विभाग को मम्मट, विश्वनाथ आदि परवर्ती आचार्यो ने भी स्वीकार किया है। विश्वनाथ ने उपमा के रसना आदि भेदो की कल्पना को भी स्वीकार किया है। मम्मट ने उसे स्वतन्त्र रूप से परिभाषित करने की आवश्यकता नही समझी थी।[1]

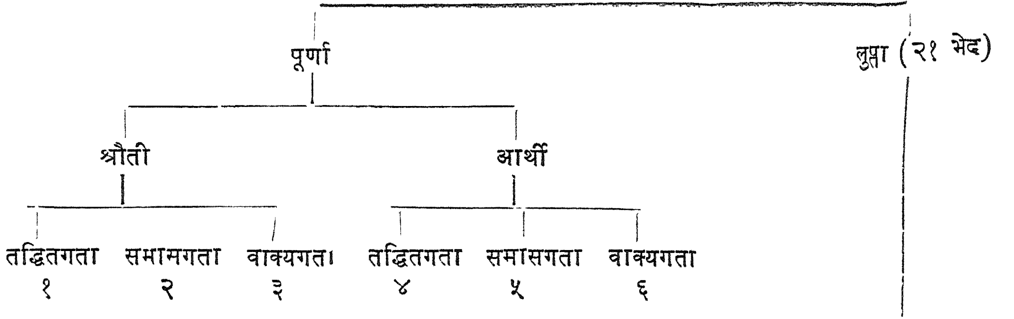
उपमा के लक्षण-निरूपण के प्रसङ्ग मे साधर्म्य तथा सादृश्य पदों के प्रयोग के औचित्य पर विचार कर लेना वाञ्छनीय है। मम्मट ने परस्पर भिन्न वस्तुओ मे साधर्म्य को उपमा का लक्षण माना, सादृश्य को नही। साधर्म्य और सादृश्य-पदो के अर्थ मे थोडा भेद है। वैयाकरणो की मान्यता है कि साधर्म्य शब्द का 'य' प्रत्यय समान धर्म-युक्त वस्तु या वस्तुओ के साथ सम्बन्ध का बोधक है।[2] समान धर्म और समान धर्म वाली वस्तु के बीच का सम्बन्ध सादृश्य नही कहा जा सकता। पीताम्बरत्व कहने से पीला वस्त्र और पीला वस्त्र धारण करने वाले के बीच का जो सम्बन्ध प्रकट होता है, वह सादृश्य नही, साधर्म्य है। क्योकि, सादृश्य दो वस्तुओ के बीच ही होता है, जो वस्तुएँ समान धर्म से युक्त रहती है; न कि समान धर्म और उससे युक्त वस्तु के बीच।

एक उदाहरण से साधर्म्य और सादृश्य का भेद स्पष्ट हो जायगा। उपमा-दोष का एक उदाहरण है—'हसी के समान शुभ्र चन्द्रमा'। यहाँ उपमा के वाचक पद का प्रयोग होने से उपमा है; पर दोष यह है कि शुभ्र या धवल धर्म का हंसी के साथ सम्बन्ध नही। कारण यह है कि हंसी स्त्रीलिङ्ग का पद है और धवल पुल्लिङ्ग का। धवल चन्द्र और धवल हसी के बीच सादृश्य

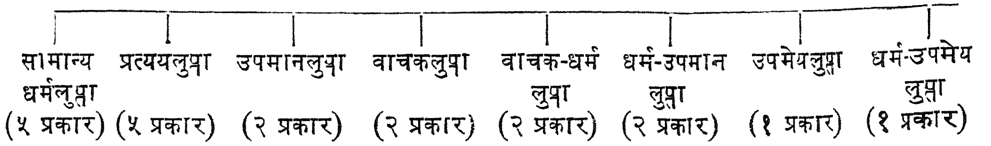
---

१. .. रशनोपमा च न लक्षिता एवविधवैचित्र्यसहस्रसम्भवात् उक्तभेदानतिक्रमाच्च।—मम्मट, काव्यप्रकाश, १० पृ० २३१

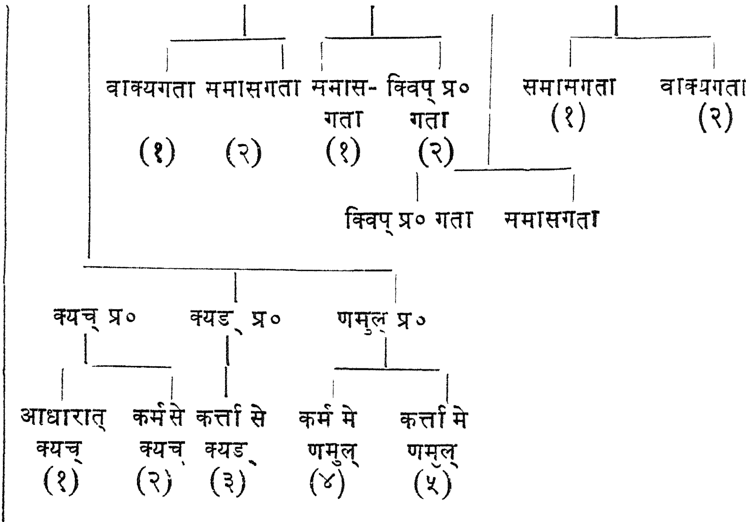
२. समासकृत्तद्धितास्तु यद्यपि केवल सम्बन्ध नाभिदधति, तथापि सम्बन्धिनि वर्त्तमाना: सम्बन्धं प्रवृत्तिनिमित्तमपेक्षन्त इति तेभ्य: सम्बन्धे भावप्रत्यय:। तथा च राजपुरुषत्वमिति स्वस्वामिभाव. प्रतीयते। पाचकत्वमिति क्रियाकारक-सम्बन्ध:। औपगवत्वमिति अपत्यापत्यवत्सम्बन्ध:।—महाभाष्य पर, कैयट का प्रदीप, अध्याय ५.



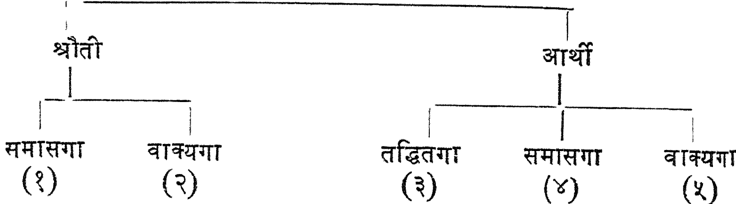
उपमा
पूर्णा
लुप्ता (२१ भेद)
श्रौती
आर्थी
तद्धितगता १
समासगता २
वाक्यगता ३
तद्धितगता ४
समासगता ५
वाक्यगता ६



सामान्य धर्मलुप्ता (५ प्रकार)
प्रत्ययलुप्ता (५ प्रकार)
उपमानलुप्ता (२ प्रकार)
वाचकलुप्ता (२ प्रकार)
वाचक-धर्म लुप्ता (२ प्रकार)
धर्म-उपमान लुप्ता (२ प्रकार)
उपमेयलुप्ता (१ प्रकार)
धर्म-उपमेय लुप्ता (१ प्रकार)



वाक्यगता (१)
समासगता (२)
समास-गता (१)
क्विप् प्र० गता (२)
समासगता (१)
वाक्यगता (२)
क्विप् प्र० गता
समासगता
क्यच् प्र०
क्यङ् प्र०
णमुल् प्र०
आधारात् क्यच् (१)
कर्म से क्यच् (२)
कर्त्ता से क्यङ् (३)
कर्म मे णमुल् (४)
कर्त्ता मे णमुल् (५)



श्रौती
आर्थी
समासगा (१)
वाक्यगा (२)
तद्धितगा (३)
समासगा (४)
वाक्यगा (५)

तो है, पर साधर्म्य नही। यदि सादृश्य-मात्र में उपमा का सद्भाव माना जाता तो उक्त उदाहरण मे उपमा अलङ्कार ही माना जाता, उपमा-दोष नही। निष्कर्ष यह कि साधर्म्य का अर्थ है साधारण-धर्म-सम्बन्ध। यह शब्द उपमेय के साथ धर्म के सम्बन्ध का, उसके उपमान के साथ समान धर्म के सम्बन्ध का तथा दोनो वस्तुओ (उपमेय एवं उपमान) के बीच समान-धर्म-सम्बन्ध का बोध कराता है। साधर्म्य मे ही उपमा होती है।

रूपक

'नाट्य-शास्त्र' मे उपलब्ध चार प्राचीनतम अलङ्कारों मे से रूपक भी एक है। स्वरूपगत चारुता तथा कवि-परम्परा मे प्राप्त प्रतिष्ठा की दृष्टि से उपमा के बाद रूपक का ही स्थान माना जाना चाहिए । हम देख चुके है कि काव्यशास्त्र मे स्वभावोक्ति तथा अतिशयोक्ति या वक्रोक्ति को अलङ्कार मे प्रथम स्थान दिलाने के भी प्रयास हुए हैं।[१] स्वभावोक्ति का तो अलङ्कारत्व ही विवादग्रस्त रहा है। सर्वमान्य अलङ्कार नही होने के कारण स्वभावोक्ति को अलङ्कारो मे प्रथम स्थान तो नही ही दिया जा सकता; द्वितीय स्थान मे भी उसकी गणना नही की जा सकती। अतिशयोक्ति एक निश्चित सीमा मे ही रुचिकर होती है। जहाँ कवि की कल्पना अतिशयोक्ति में खींच-तान आरम्भ करती है, वहाँ काव्य का प्रभाव जाता रहता है। अतिशयोक्ति पर आश्रित कवि की वह ऊहा बौद्धिक चमत्कार की सृष्टि भले करे, हृदय की सवेदना का उत्कर्ष नही कर पाती। अत, अलङ्कार-विशेष के रूप मे अतिशयोक्ति को उपमा, रूपक आदि की अपेक्षा अधिक महत्त्व देना उचित नही। रूपक मे लाक्षणिक प्रयोग का सौन्दर्य निहित रहता है। काव्य में ऐसे प्रयोग का महत्त्व अनुपेक्षणीय है। अरस्तू के अनुसार लाक्षणिक प्रयोग का कौशल कवि-प्रतिभा को ईश्वर का महनीय वरदान है।[२] भारतीय आचार्यो ने भी लक्षणा शक्ति को एवं उस पर आश्रित रूपक अलङ्कार को बहुत महत्त्वपूर्ण माना है। सभी आचार्यो के द्वारा रूपक की अलङ्कार रूप मे स्वीकृति तथा उसकी सभेद विशद मीमांसा इस कथन का प्रमाण है। कवियों मे भी रूपक

भामह ने अतिशयोक्ति या वक्रोक्ति को अलङ्कारसर्वस्व माना तो दण्डी ने स्वभावोक्ति को प्रथम निरूप्य समझा।

But for the greatest thing is a gift for metaphor. For this alone cannot be learnt from others and is a sign of inborn power. — Aristotle, Poetics, chapter XXII.

भरत के उक्त रूपक-भेदो मे ही है।[१] स्वविकल्प से किसी वस्तु (वर्ण्य वस्तु) की रूप-रचना मे अर्थात् उस वर्ण्य मे अन्य वस्तु के रूप की कल्पना में प्रस्तुत पर अप्रस्तुत के आरोप की धारणा-निहित थी। यही धारणा परवर्ती काल के आचार्यों के रूपक-लक्षण मे स्पष्टतया व्यक्त हुई है।

भामह ने अपनी रूपक-परिभाषा मे भरत की रूपक-धारणा को अधिक स्पष्टता से प्रस्तुत किया है। उनके मतानुसार जहाँ प्रस्तुत और अप्रस्तुत में गुण की समता देख कर अप्रस्तुत के साथ प्रस्तुत का तत्त्व रूपित किया जाय, अर्थात् प्रस्तुत पर अप्रस्तुत का आरोप किया जाय, वहाँ रूपक अलङ्कार होता है। रूपक के दो भेद होते है—(१) समस्तवस्तुविषय और (२) एकदेश-विवर्ति।[२] रूपक की कल्पना में उपमेय और उपमान के बीच गुण की समता को 'गुणाश्रित औपम्य' पद से भरत ने भी हेतु बताया था। भरत के द्वारा सङ्केतित रूपक के दो भेदो का स्पष्ट निरूपण भामह ने किया है।

दण्डी का रूपक-लक्षण उपमा-लक्षण-सापेक्ष है। उन्होने कहा है कि उपमान और उपमेय का भेद जहाँ तिरोभूत हो जाय, ऐसी उपमा ही रूपक है।[3] उपमा मे दोनो के बीच साधर्म्य मे भेदाभेद की प्रधानता होती है। दोनो के साधर्म्य के अभेद की दशा मे रूपक अलङ्कार होता है। इस प्रकार उपमा के साथ रूपक के स्वरूप के तुलनात्मक अध्ययन का निष्कर्ष यह होगा कि गुण की समता के कारण उपमान और उपमेय का अभेदारोप अर्थात् उपमेय पर उपमान के आहार्य अभेद का आरोप रूपक अलङ्कार है। स्पष्टतः, दण्डी के रूपक का यह स्वरूप भामह के रूपक से अभिन्न है, पर जहाँ भामह ने रूपक का स्वतन्त्र तथा पूर्ण लक्षण दिया था, वहाँ दण्डी ने उसे उपमा-लक्षण-सापेक्ष बना कर परिभाषित किया है।

---

१. तस्य (रूपकस्य) द्वौ भेदौ तुल्यैरवयवैं सर्वैरेवान्यरूपीकृतैर्युक्तं, यदि वा किञ्चित् सादृश्ययुक्त रूपितम्। अत्रापि किञ्चिदन्ये रूपसा-दृश्याद्युक्त रूपान्तररूपित यत्रैकदेशविवर्ति प्रसिद्धं द्रव्यास्ति।
—ना० शा०, अभिनव भारती पृ० ३२५

२. उपमानेन यत्तत्वमुपमेयस्य रूप्यते।
गुणानां समता दृष्टवा रूपक नाम तद्विदु ॥
समस्तवस्तुविषयमेकदेशविवर्तिच।
द्विधा रुपकमुद्दिष्टम् ···॥—भामह, काव्याल०, २,२१-२२

३. उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते॥—दण्डी, काव्याद० २,६६

उद्भट ने रूपक की परिभाषा किञ्चित् स्वतन्त्र रूप में दी है। उन्होंने उपमान और उपमेय के गुण-साम्य की चर्चा छोड कर लक्षणा वृत्ति के आधार पर एक पद से दूसरे पद के सम्बन्ध मे रूपक अलङ्कार का सद्भाव माना है। रूपक-परिभाषा मे गौणीवृत्ति का उल्लेख निस्सन्देह तथ्य के स्पष्टीकरण की दृष्टि से उद्भट की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। रूपक मे प्रस्तुत पर अप्रस्तुत का आरोप लक्षणा से ही सम्भव होता है। भरत, भामह आदि की रूपक-परिभाषाओ मे भी आरोप की सङ्गति गौणीवृत्ति के आधार पर ही मानी जायगी। उद्भट ने इसी तथ्य के स्पष्टीकरण के लिए गौणीवृत्ति का उल्लेख करते हुए कहा कि जहाँ श्रुति (अर्थनिष्ठ निरन्तर शब्द-व्यापार अर्थात् मुख्य वृत्ति) से प्रतिपादित अर्थ से सम्बन्ध का अभाव होने पर गौणीवृत्ति से पद का पदान्तर से सम्बन्ध होता है, वहाँ रूपक अलङ्कार होता है।[१]

आचार्य वामन ने भामह के रूपक-लक्षण को ही सूत्रबद्ध किया है।[२] रुद्रट ने रूपक के मुख्य दो प्रकार स्वीकार कर उन्हे पृथक्-पृथक् परिभाषित किया। प्रथम रूपक-लक्षण मे उन्होने भामह के मत का अनुसरण करते हुए गुण-साम्य के कारण उपमान और उपमेय का अभेद वाञ्छनीय बताया, साथ ही उत्प्रेक्षा से उसका भेद निरूपित करने के लिए उसकी परिभाषा में 'अविवक्षितसामान्या' विशेषण भी जोड दिया।[3] इस प्रकार रुद्रट की मान्यता यह थी कि उपमान और उपमेय का अभेद तो रूपक और उत्प्रेक्षा—दोनों में समान रूप से रहता है, पर उत्प्रेक्षा से रूपक का यह भेद है कि उत्प्रेक्षा में छल, छद्म, व्याज आदि शब्दो से उपमान और उपमेय के बीच अभेद और भेद विवक्षित रहता है; पर रूपक मे सामान्य विवक्षित नही रहता। रूपक मे भी उपमान और उपमेय के बीच सामान्य (कोई साधारण-धर्म) रहता तो अवश्य है, पर वह अविवक्षित रहता है। रुद्रट के रूपक का दूसरा प्रकार

---

१. श्रुत्या सम्बन्धविरहाद्यत्पदेन पदान्तरम् ।
गुणवृत्तिप्रधानेन युज्यते रूपक तु तत् ॥
—उद्भट, काव्यल० सारस० १, २१

२. उपमानेनोपमेयस्य गुणसाम्यात् तत्त्वारोपो रूपकम् ।
—वामन, काव्याल० सू० ४, ३-६ तुलनीय, भामह, काव्याल० २,२१

३ यत्र गुणानां साम्ये सत्युपमानोपमेययोरभिदा ।
अविवक्षितसामान्या कल्प्यत इति रूपकं प्रथमम् ॥
—रुद्रट, काव्यालं० ८, ३८

"समस्त' रूपक है, जिसकी परिभाषा मे कहा गया है कि इसमे उपमान और उपमेय का समास कर उपमेय को गौण रूप मे प्रस्तुत किया जाता है।[१] रूपक के प्रथम प्रकार मे उपमान और उपमेय पृथक्-पृथक् रहते है; पर द्वितीय प्रकार मे वे समस्त रहते है। रुद्रट के ये दो रूपक क्रमशः व्यस्त तथा समस्त रूपक-भेदों के रूप मे परवर्ती आचार्यो के द्वारा स्वीकृत हुए है।

कुन्तक ने आचार्य उद्भट के मत का अनुसरण करते हुए उपमान के द्वारा उपमेय को अपने रूप का अर्पण रूपक का लक्षण माना और इस रूपार्पण की प्रक्रिया के मूल मे निहित प्रस्तुत-अप्रस्तुत की समता का प्राण-भूत तत्त्व उपचार-वक्रता को स्वीकार किया।[२] भोज ने भी रूपक का मूलाधार लक्षणा-वृत्ति को स्वीकार कर उद्भट की रूपक-धारणा का ही अनुमोदन किया है।[३] अग्निपुराणकार ने भामह और दण्डी—दोनो के रूपक-लक्षणो को उद्धृत कर दिया है।[४] मम्मट, रुय्यक आदि आचार्यो को आचार्य दण्डी का रूपक-लक्षण उपयुक्त जान पडा और उन्होने उसी के आधार पर रूपक को परिभाषित किया। मम्मट ने उपमान और उपमेय के अभेद को रूपक का लक्षण स्वीकार किया।[५] दण्डी के रूपक-लक्षण का भी निष्कर्ष यही था। रुय्यक ने भी अभेद-प्रधान आरोप को (उपमेय पर उपमान के आरोप को) रूपक का प्रधान लक्षण माना और अपह्नुति से उसके भेद-निरूपण के लिए परिभाषा मे 'आरोप-विषयानपह्नवे' पद जोड दिया।[६] रूपक मे विषय का निगरण नही होता, केवल उस पर विषयी का आरोप होता है।

उत्तर काल मे परम्परानुमोदित रूपक-धारणा ही प्रस्तुत की गयी है। यह सत्य है कि रूपक की निर्दोष परिभाषा की स्थापना के आयास-क्रम मे

---

१ उपसर्जनोपमेय कृत्वा तु समासमेतयोरुभयोः।
यत्तु प्रयुज्यते तद्रूपकमन्यत्समासोक्तम् ॥—रुद्रट, काव्यालं० ८, ४०

२ उपचारैकसर्वस्व यत्र (वस्तु) तत् साम्यमुद्वहत्।
यदर्पयति रूप स्व वस्तु तद् रूपक विदु. ॥
—कुन्तक, वक्रोक्तिजी० ३, २०

३. द्रष्टव्य, भोज, सरस्वतीकण्ठा० ४, २४

४. द्रष्टव्य, अग्निपुराण, अध्याय ३४४

५. तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः।—मम्मट, काव्यप्र० १०,१३९

६. अभेदप्राधान्य आरोप आरोपविषयानपह्नवे रूपकम्।
—रुय्यक अल० सर्वस्व १५

उत्तरकालीन आचार्यों ने पूर्ववर्ती आचार्यों की रूपक-परिभाषा का खण्डन कर नवीन रूप से उसे परिभाषित करने का प्रयास किया है। शोभाकर के द्वारा रुय्यक-प्रदत्त रूपक-परिभाषा का खण्डन तथा पण्डितराज जगन्नाथ के द्वारा अप्पय्य की 'चित्रमीमासा' के रूपक-लक्षण का खण्डन ऐसा ही प्रयास है।[१] पर, ऐसे खण्डन-मण्डन के प्रयास के होने पर भी रूपक के स्वरूप की मूल-धारणा मे विशेष परिवर्त्तन नही हुआ।

हिन्दी-रीति-आचार्यों ने भी रूपक के प्राचीन स्वरूप को ही परिभाषित किया है। रूपक अलङ्कार के सम्बन्ध में आचार्यों की धारणा के सार निम्नलिखित है :—

(क) इस अलङ्कार मे उपमान और उपमेय मे अभेद की प्रतीति होती है। दूसरे शब्दो मे, उपमान के साथ उपमेय का तत्त्व अर्थात् ताद्रूप्य या अभेद दिखाना रूपक का प्रधान लक्षण है।

(ख) इस अभेद-प्रतीति का हेतु दोनों के बीच गुण की समता है।

(ग) इसमे उपचार या लक्षणा का चमत्कार निहित रहता है, क्योंकि प्रस्तुत का अप्रस्तुत के साथ ताद्रूप्य लक्षणा शक्ति से ही उपपन्न हो सकता है।

(घ) उपमा से रूपक का केवल इतना भेद है कि उपमा मे प्रस्तुत और अप्रस्तुत के बीच साधर्म्य मे भेदाभेद की प्रधानता रहती है, पर रूपक मे दोनो के बीच साधर्म्य अभेद-प्रधान होता है।

(ङ) रूपक मे उपमेय और उपमान का सामान्य अर्थात् साधारण धर्म विवक्षित नही होता।

(च) रूपक मे उपमेय और उपमान पृथक्-पृथक् भी रह सकते है और दोनो का समास कर उपमेय को गौणरूप मे भी प्रस्तुत किया जा सकता है। इस आधार पर रूपक के व्यस्त और समस्त, दो रूप होते है।

रूपक-भेद

सस्कृत-अलङ्कारशास्त्र के विभिन्न आचार्यों ने अलग-अलग रूप मे रूपक के भेदों की कल्पना की है। हम देख चुके है कि रूपक के समस्तवस्तुविषय और एकदेशविवर्ति अथवा साङ्ग और निरङ्ग भेदो की कल्पना आरम्भ से

---

१. द्रष्टव्य, शोभाकर, अलङ्काररत्नाकर, पृ० ३२ तथा जगन्नाथ, चित्र-मीमासा-खण्डन पृ० ४४-५३

होती रही थी। आचार्य दण्डी ने रूपक के बीस प्रमुख भेदों का लक्षण-निरूपण कर उसके अन्य भेदो की भी सम्भावना स्वीकार की। दण्डी के द्वारा निरूपित रूपक-भेद निम्नलिखित है—समस्तरूपक, व्यस्तरूपक (दोनो का सम्मिलित रूप समस्तव्यस्त-रूपक भी), सकलरूपक, अवयवरूपक, अवयविरूपक, एकाङ्ग रूपक, द्व्यङ्गादिरूपक, युक्तरूपक, अयुक्तरूपक, विषमरूपक, सविशेषणरूपक, विरुद्धरूपक, हेतुरूपक, श्लिष्टरूपक, उपमारूपक, व्यतिरेकरूपक, आक्षेपरूपक, समाधानरूपक, रूपकरूपक तथा तत्त्वापह्नवरूपक।[१]

आचार्य उद्भट ने समस्तवस्तुविषय मालारूपक का उल्लेख किया है।[२] रुद्रट ने रूपक के प्रमुख दो रूपो को परिभाषित कर समासरूपक के तीन भेदों—सावयव, निरवयव तथा सङ्कीर्ण—के लक्षण दिये है। सावयव और निरवयव के दो-दो भेद माने गये है—समस्तविषय एव एकदेशी। सावयव के सहजावयव, आहार्यावयव और उभयावयव उपभेद भी कल्पित है। निरवयव के शुद्ध, माला, रशना तथा परम्परित—ये चार उपभेद माने गये है। शुद्ध और माला वाक्यगत निरवयवरूपक के तथा रशना और परम्परित समस्त-रूपक के भेद है। सङ्कीर्ण के सहजावयव, आहार्यावयव तथा उभयावयव उपभेद स्वीकृत है।[३] रुद्रट का रूपक-विभाग निम्न तालिका से स्पष्ट किया जा सकता है :—

- वाक्यरूपक
  - सावयव
    - समस्तविषय
    - कदेशी
    - → सहजावयव, आहार्यावयव, उभयावयव
  - निरवयव
    - समस्तविषय
    - एकदेशी
    - शुद्ध, माला
  - सङ्कीर्ण
- समासरूपक
  - सावयव
    - समस्तविषय
    - एकदेशी
    - → सहजावयव, आहार्यावयव, उभयावयव
  - निरवयय
    - समस्तविषय
    - एकदेशी
    - रशना, परम्परित
  - सङ्कीर्ण

१. द्रष्टव्य, दण्डी, काव्यादर्श २, ६६-९६

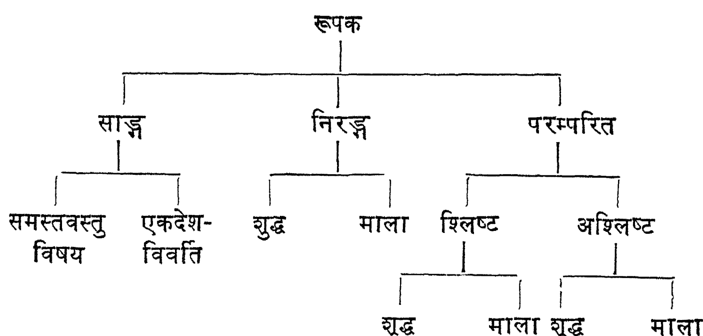
२. समस्तवस्तुविषय मालारूपकमुच्यते।

—उद्भट, काव्यालं० सार स० १, २५

३. रुद्रट, काव्यालङ्कार, ८, ४१, ५६

मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ आदि परवर्ती आचार्यों का रूपक-विभाग रुद्रट के उक्त विभाग से प्रभावित है। उन आचार्यो के रूपक-विभाग के तुलनात्मक अध्ययन की सुविधा के लिए हम के रूपक-विभाग की तालिका दे रहे है :—

मम्मट का रूपक-भेद



रुय्यक का रूपक-विभाग मम्मट के उक्त विभाग से अभिन्न है। रुय्यक ने साङ्ग और निरङ्ग के स्थान पर क्रमशः सावयव और निरवयव-शब्दों का प्रयोग किया है। शुद्ध के लिए केवल तथा श्लिष्ट और अश्लिष्ट के लिए क्रमश. 'श्लिष्टशब्दनिबन्धन' एवं 'अश्लिष्टशब्दनिबन्धन' शब्दो का प्रयोग किया गया है।

विश्वनाथ ने मम्मट और रुय्यक की रूपक-विभाजन-पद्धति का ही अनुसरण किया है। उन्होंने मम्मट की तरह 'साङ्ग' और 'निरङ्ग' शब्दो का प्रयोग किया है; पर 'शुद्ध' की जगह रुय्यक की तरह 'केवल' शब्द का प्रयोग किया है। श्लिष्टशब्दनिबन्धन तथा अश्लिष्टशब्दनिबन्धन शब्दों का प्रयोग भी रुय्यक के मतानुसार किया गया है।

भोज ने रूपक के जो चौबीस भेद माने है, उस मान्यता में तथ्य-निरूपण की अपेक्षा सख्याविशेष के प्रति मोह ही प्रधान हेतु है।[१] हिन्दी-रीति-साहित्य में रूपक-विभाग के क्षेत्र मे कोई नवीन उद्भावना नही हुई। रुद्रट, मम्मट,

---

१. गुण आदि के क्षेत्र में भी गुणो की चौबीस सख्या निर्धारित करने के भोज के आग्रह की परीक्षा हम कर चुके है।

द्रष्टव्य, लेखक का 'काव्य-गुणों का शास्त्रीय विवेचन' अ० १

रुय्यक आदि की धारणा का ही अनुगमन रीति-आचार्यो ने किया। यह मान्यता भ्रान्तिपूर्ण है कि केशव ने 'रूपकरूपक' नाम मे एक नये भेद का निर्देश किया है।[१] रूपकरूपक-भेद का सोदाहरण-निरूपण दण्डी ने किया था, जिसमे एक बार रूपित पदार्थ पर पुन. रूपण की धारणा व्यक्त की गयी थी।[२] स्पष्टत. रीति-काल मे परम्परानुमोदित रूपक-विभाग का ही निरूपण किया गया है।

दीपक

उपमा और रूपक की तरह दीपक भी भारतीय अलङ्कार-शास्त्र मे प्राप्त प्राचीनतम अर्थालङ्कारो मे से एक है। आचार्य भरत से लेकर आधुनिक काल तक के प्राय: सभी आलङ्कारिको ने दीपक का अलङ्कारत्व स्वीकार किया है। भामह और दण्डी ने तुल्ययोगिता अलङ्कार का स्वरूप दीपक से इतना मिला दिया कि पीछे चल कर जयरथ, पण्डितराज जगन्नाथ, आदि आचार्यो ने तुल्ययोगिता से पृथक् दीपक का सद्भाव मानना अनावश्यक बताया; पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि दीपक के स्वरूप के आधार पर ही उससे मिलते-जुलते स्वरूप वाले तुल्ययोगिता अलङ्कार के स्वतन्त्र अस्तित्व की कल्पना की गयी है। अत , यह कल्पना अपने आधार के ही अस्तित्व का अपलाप नही कर सकती। यदि उक्त दोनो अलङ्कारो के स्वतन्त्र अस्तित्व की कल्पना आवश्यक न मानी जाय और दोनो के स्थान पर एक ही अलङ्कार के व्यापक स्वरूप की कल्पना लाघव के लिए उचित मानी जाय, तो भी दीपक के अस्तित्व को अस्वीकार करने का कोई आधार नही होगा। अस्तु, प्रस्तुत प्रसङ्ग मे हम दीपक के स्वरूप-विकास का अध्ययन करेगे।

आचार्य भरत ने दीपक का स्वरूप-निरूपण करते हुए कहा था कि इसमे नाना अधिकरण मे रहने वाले शब्दो का एक ही वाक्य से सयोग होता है।[3] एक वाक्य अनेक शब्दो का दीपन करता है, इसीलिए इस अलङ्कार का

---

१. डॉ० ओमप्रकाश शर्मा, रीतिकालीन अल० साहित्य का शास्त्रीय विवेचन, पृ० २५४

२. दण्डी, काव्यादर्श, २, ९३

३. नानाधिकरणार्थाना शब्दानां सम्प्रदीपकम्।
एकवाक्येन संयुक्तं तद्दीपकमिहोच्यते ॥—भरत, ना० शा० १६,५३

अभिधान अन्वर्थ है। अभिनवगुप्त ने भरत के दीपक-लक्षण का स्पष्टीकरण करने के क्रम मे कहा है कि जहाँ विभिन्न आश्रयो अर्थात् वाक्यो मे रहने वाले परस्पर साकाक्ष पदो की आकाक्षापूर्त्ति एक ही वाक्य से सयुक्त क्रिया, गुण, जाति आदि करते हों, वहाँ भरत के अनुसार दीपक अलङ्कार होता है।[१] भामह ने भी भरत की ही तरह दीपक को अन्वर्था सज्ञा मान कर एक पद से अनेक पदार्थ के दीपन मे दीपक अलङ्कार का सद्भाव स्वीकार किया।[२] दण्डी ने भी पूर्वाचार्यो से मिलती-जुलती धारणा ही दीपक के सम्बन्ध मे व्यक्त की। उनके अनुसार जहाँ जाति, गुण, क्रिया अथवा द्रव्य का वाचक कोई शब्द एकत्र रह कर अनेक वाक्यो का उपकार करता हो, वहाँ दीपक अलङ्कार होता है।[३] दण्डी का 'उपकार' शब्द भरत के 'सम्प्रदीपन' तथा भामह के 'दीपन' से अभिन्न अर्थ रखता है। आचार्य उद्भट ने सर्वप्रथम दीपक-लक्षण मे उपमान और उपमेय के सम्बन्ध का स्पष्ट शब्दो मे उल्लेख किया। उन्होने दीपक मे प्रधान और अप्रधान मे अर्थात् प्रस्तुत और अप्रस्तुत मे प्रतीयमान सम्बन्ध भी वाञ्छनीय बताया।[४] इस तरह उनके दीपक-लक्षण का आशय होगा कि एक शब्द अनेक उपमेय और उपमान-बोधक शब्दो का जहाँ दीपन करता है, वहाँ दीपक अलङ्कार होता है। तुल्ययोगिता अलङ्कार के स्वतन्त्र अस्तित्व की कल्पना हो जाने पर दीपक के लक्षण मे कुछ व्यावर्त्तक धर्मो की कल्पना आवश्यक थी। उद्भट ने इस आवश्यकता को समझा और दोनो मे यह भेद-व्यवस्था कर दी कि दीपक मे उपमान-उपमेय वाक्यो का ही एक शब्द से

---

१. नाना ये शब्दान्तरवाक्यपदात्मानस्तेषां, अधिकरणार्थनामाश्रये अर्थोऽर्थता येषा तथाभूताना साकाक्षाणामिति तेषां यत्सम्यक् प्रकर्षेण दीपकमाकांक्षापूरक क्रियागुणजात्यादि तद्दीपक यत एकेनावान्तर-वाक्येनासयुक्त सत्तथाकरोति दीपकप्रकृतित्वात्तथोक्तमित्यर्थ ।
—ना० शा० अभिनव भारती, पृ० ३२४-२५

२. अमूनि कुर्वतेऽन्वर्थामस्याख्यामर्थदीपनात् ।
—भामह, काव्यालं० २,२६

३. जातिक्रियागुणद्रव्यवाचिनैकत्रवर्त्तिना ।
सर्ववाक्योपकारश्चेत् तमाहुर्दीपक यथा ॥—दण्डी, काव्याद० २, ९७

४. आदिमध्यान्तविषया प्राधान्येतरयोगिन. ।
अन्तर्गतोपमाधर्मा यत्र तद्दीपक विदु: ॥
—उद्भट, काव्यालं० सारस० १,२८

सम्बन्ध होता है, जब कि तुल्ययोगिता मे अनेक उपमेय-वाक्यो का अथवा अनेक उपमान-वाक्यो का ही परस्पर सम्बन्ध एक शब्द से दीपित होता है।[1] वामन ने उद्भट की दीपक-धारणा को ही सूत्रबद्ध किया। उन्होने उपमान और उपमेय-वाक्यो मे एक क्रिया का सम्बन्ध होना दीपक का लक्षण माना।[2] भरत से दण्डी तक अनेक वाक्यो के बीच एक पद का सम्बन्ध दीपक का लक्षण माना जाता रहा था। वाक्यो को दीपित करने वाला वह पद जाति, गुण, क्रिया या द्रव्य—किसी का भी वाचक हो सकता था। वामन ने केवल क्रिया-पद से अनेक वाक्यो (उपमेय और उपमान वाक्यो) मे सम्बन्ध-निर्देश को दीपक का लक्षण स्वीकार किया। रुद्रट ने दीपक को औपम्य-गर्भ नही मान कर वास्तव-व ित अलङ्कार माना है। इसलिए यह स्वाभाविक था कि उनके दीपक-लक्षण मे अनेक वाक्यो के बीच उपमानोपमेय का सम्बन्ध आवश्यक नही माना गया। उन्होने अनेक वाक्यो मे एक पद से सम्बन्ध-सूचना की धारणा पूर्वाचार्यो से ली। क्रिया-पद के साथ कारक-पद को भी उन्होने अनेक वाक्यों का दीपक स्वीकार किया।[3] इस प्रकार रुद्रट की दीपक-धारणा उद्भट और वामन की दीपक-धारणा से इस दृष्टि से भिन्न है कि वे उद्भट आदि की तरह दीपित होने वाले वाक्यो मे उपमान-उपमेय का सम्बन्ध आवश्यक नही मानते। वामन से रुद्रट की धारणा इस दृष्टि से भी कुछ भिन्न है कि जहाँ वामन ने केवल क्रिया-पद को अनेक वाक्यो का उपकारक माना था, वहाँ रुद्रट ने क्रिया-पद के साथ कारक-पद को भी दीपक अलङ्कार में अनेक वाक्यों का दीपक स्वीकार किया है। स्पष्ट है कि रुद्रट की दीपक-धारणा भरत, भामह और दण्डी की धारणा के मेल मे है। आचार्य कुन्तक ने केवल क्रिया-पद से अनेक वाक्यो के दीपन की धारणा को स्वीकार नही किया। उन्होने इस धारणा के खण्डन के लिए भामह के दीपक-उदाहरणो को उद्धृत कर यह दिखाया है कि उनमे केवल क्रिया-पद को दीपक माना गया है।[4] केवल क्रियापद से अनेक अर्थ के द्योतन मे दीपक का सद्भाव

---

१. द्रष्टव्य, उद्भट, काव्याल० सार स० १, २८ पर तिलक की विवृति पृ० ११

२. उपमानोपमेयवाक्येष्वेका क्रिया दीपकम्।
—वामन, काव्याल० सू० ४,३,१८

३. द्रष्टव्य, रुद्रट, काव्यालं० ७,६४

४. द्रष्टव्य, कुन्तक, वक्रोक्तिजी० पृ० ३९१-९७

मानने वाले मत का खण्डन कर कुन्तक ने स्वमत से दीपक को परिभाषित करते हुए कहा कि इस अलङ्कार मे 'औचित्य के अनुरूप सुन्दर एव सहृदय-हृदयाह्लादक पदार्थों के प्रतीयमान धर्म का दीपन होता है।'[१] कुन्तक ने नवीन रूप से दीपक को परिभाषित करने का आयास किया है, पर वे वस्तुत., दीपक के सम्बन्ध मे किसी नवीन तथ्य की स्थापना नही कर सके है। क्रिया के अतिरिक्त जाति, गुण, द्रव्य के वाचक शब्दो का दीपकत्व दण्डी आदि स्वीकार कर चुके थे। रुद्रट ने भी कारक-दीपक का अस्तित्व स्वीकार किया था। भामह ने कही भी स्पष्टत केवल क्रिया-पद के दीपकत्व की धारणा व्यक्त नही की थी। यह एक सयोग भी हो सकता है कि उनके तीन उदाहरणो मे क्रिया से ही अर्थ-दीपन हुआ है। कुन्तक ने दीपक की परिभाषा मे उचित, सुन्दर तथा तद्विदाह्लादकारक विशेषणों का जो प्रयोग किया है, उसका औचित्य भी विचारणीय है। औचित्य तो सभी अलङ्कारो का प्राण ही है। उसके अभाव मे अलङ्कारत्व ही सम्भव नही। सुन्दर होने तथा सहृदय के लिए आह्लादकारी होने की धारणा भी अलङ्कार-मात्र के स्वरूप की कल्पना के मूल मे निहित है। अतः, उक्त विशेषणो का अलङ्कार-विशेष के लक्षण मे प्रयोग आवश्यक नही। अशक्त अर्थात् प्रतीयमान धर्म के द्योतन की धारणा कुन्तक ने उद्भट से ली है। स्पष्ट है कि कुन्तक ने पूर्वाचार्यो की दीपक-धारणा को ही कुछ परिष्कार के साथ प्रस्तुत किया है।

आचार्य मम्मट ने रुद्रट की तरह क्रिया-दीपक और कारक-दीपक; इन दो दीपक-प्रकारो का अस्तित्व स्वीकार किया है। उन्होने पूर्ववर्ती आचार्यो के मत का अनुसरण करते हुए प्रस्तुत और अप्रस्तुत धर्मियो के गुण, क्रिया आदि धर्म का एक ही बार उपादान, दीपक का लक्षण माना। बहुत क्रियाओं के होने पर कर्त्ता आदि छह कारको मे से किसी एक का एक ही बार उपादान, कारक-दीपक का लक्षण माना गया।[२] स्पष्टत , मम्मट पर रुद्रट की दीपक-धारणा का प्रभूत प्रभाव है; पर, जहाँ रुद्रट ने दीपक को वास्तव-वर्ग का अलङ्कार माना था, वहाँ मम्मट ने वामन आदि की तरह उसमे उपमानोपमेय-सम्बन्ध

---

१. औचित्यावहमम्लान तद्विदाह्लादकारणम्।
अशक्त धर्ममर्थाना दीपयद् वस्तु दीपकम् ॥—कुन्तक, वक्रोक्तिजी० ३, १७

२. सकृद्वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम्।
सैव क्रियासु बह्वीपु कारकस्येति दीपकम् ॥
—मम्मट, काव्याप्र० १०, १५६

भी आवश्यक माना। मम्मट के बाद दीपक का यही स्वरूप रुय्यक, विश्वनाथ आदि के द्वारा स्वीकृत हुआ है।[1] भोज ने आचार्य दण्डी का ही दीपक-लक्षण किञ्चित् शब्द-भेद से उद्धृत कर दिया है।[2] मम्मट के बाद दीपक के सम्बन्ध मे दो धारणाएँ मुख्य रूप से स्वीकृत होती रही है—(क) उपमान एव उपमेय-वाक्यो का एक धर्म से (क्रिया, गुण आदि से) सम्बन्ध तथा (ख) अनेक क्रियाओ का एक कारक से दीपन। प्रथम धारणा का बीज उद्भट की दीपक-परिभाषा मे था, जिसमे 'अन्तर्गतोपमाधर्मा' का उल्लेख हुआ था। वामन ने उस धारणा को और स्पष्ट स्वरूप दिया था। कारक-दीपक की प्रथम कल्पना का श्रेय रुद्रट को है। इन दो धारणाओ को मिला कर मम्मट ने दीपक का जो स्वरूप स्थिर किया, वही परवर्ती आचार्यों को बहुमान्य हुआ है। भरत, भामह, दण्डी आदि के दीपक अलङ्कार मे न तो उपमान-उपमेय की धारणा थी, न कारक से क्रिया-पदो के दीपन की। उन आचार्यों ने सामान्यतः दो या अधिक पदार्थों के एक धर्म से दीपन मे दीपक का सद्भाव माना था। परवर्ती काल मे तुल्ययोगिता की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकृत हो जाने के कारण उससे भेद-निरूपण के लिए उपमान और उपमेय-वाक्यो तक ही दीपक का क्षेत्र सीमित करने की आवश्यकता हुई। इस प्रकार ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से दीपक के तीन रूप सामने आते है —

(क) किन्ही दो पदार्थों का एक धर्म से सम्बन्ध-द्योतन,
(ख) केवल उपमानोपमेय वाक्यो का एक धर्म से सम्बन्ध-द्योतन तथा
(ग) अनेक क्रियाओ का एक कारक से दीपन।

इनमे से दीपक के अन्तिम दो रूप ही परवर्ती काल मे स्वीकृत हुए हैं। प्रथम को क्रियादि-दीपक तथा द्वितीय को कारक-दीपक कहा जाता है। हिन्दी के रीति-आचार्यों ने दीपक के सम्बन्ध मे कोई नवीन उद्भावना नही की। उन्होने मम्मट आदि के दीपक-लक्षण को ही मुख्यतः स्वीकार किया है।

दीपक-भेद

दीपक अलङ्कार के भेदों की कल्पना वाक्यों को दीपित करने वाले क्रियादि-पद की वाक्य मे स्थिति के आधार पर आरम्भ हुई। भामह ने क्रियापद के

---

१. द्रष्टव्य—रुय्यक, अलं० सर्वस्व २४ तथा विश्वनाथ, साहित्यद० १०,६७

२. क्रियाजातिगुणद्रव्यवाचिनैकत्रवर्तिना।
सर्ववाक्योपकारश्चेत् दीपकं तन्निगद्यते॥
—भोज, सरस्वतीकण्ठा० ४,७७ तुलनीय—दण्डी, काव्याद० २,९७

वाक्य के आरम्भ, मध्य और अन्त मे रहने के आधार पर आदिदीपक, मध्यदीपक तथा अन्तदीपक—इन तीन दीपक भेदो की कल्पना की।[१] आचार्य दण्डी ने वाक्यो को दीपित करने वाले गुण, जाति, क्रिया तथा द्रव्य के पद के आधार पर दीपक के मुख्य चार भेद स्वीकार कर भामह के आदि, मध्य तथा अन्तदीपक-भेदो को भी स्वीकार किया। इन भेदो के अतिरिक्त मालादीपक, विरुद्धार्थदीपक, एकार्थदीपक तथा श्लिष्टार्थदीपक की भी कल्पना दण्डी ने की। दण्डी की आवृत्ति के अर्थावृत्ति, पदावृत्ति तथा उभयावृत्ति भेद भी तत्त्वत. दीपक के ही भेद है। इस तरह दण्डी के द्वारा निरूपित दीपक-भेदों की सख्या पन्द्रह हो जाती है। वे भेद है—आदिजातिदीपक, आदिगुणदीपक, आदिक्रियादीपक, आदिद्रव्यदीपक, मध्यजातिदीपक, मध्यक्रियादीपक, अन्त-जातिदीपक, अन्तक्रियादीपक, मालादीपक, विरुद्धार्थदीपक, एकार्थदीपक, श्लिष्टार्थदीपक, अर्थावृत्तिदीपक, पदावृत्तिदीपक तथा उभयावृत्तिदीपक।[२]

रुद्रट ने क्रियादिदीपक और कारकदीपक-नामक दो मुख्य दीपक-भेदो की कल्पना की तथा उनके आदि, मध्य और अन्तगतत्व के आधार पर तीन-तीन उपभेद स्वीकार किये।[3] इस प्रकार तीन प्रकार के क्रिया-दीपक तथा तीन प्रकार के कारक-दीपक स्वीकृत हुए। कुन्तक ने दीपक के दो भेद माने—केवल-दीपक और पक्तिसस्थ-दीपक अर्थात् मालादीपक।[४] पक्तिसस्थ के पुन: तीन भेद स्वीकार किये गये है।[५] कुन्तक ने कर्तृपद के निबन्धन के आधार पर दीपक के अनेक भेदो की सम्भावना भी स्वीकार की है।[६] मम्मट, रुय्यक आदि आचार्यो ने क्रियादीपक एवं कारकदीपक भेदो को स्वीकार किया।[७]

१. आदिमध्यान्तविषय त्रिधा दीपकमिष्यते।—भामह, काव्याल० २,२५

२. द्रष्टव्य, दण्डी, काव्याद० २, ९७-११९

३. द्रष्टव्य, रुद्रट, काव्याल० ७, ६४-६५

४. एक प्रकाशक सन्ति भूयासि भूयसां क्वचित्।
केवल पक्तिसस्थ वा द्विविध परिदृश्यते॥
—कुन्तक, वक्रोक्तिजी० ३, १८

५. यदपर पक्तिसंस्थ नाम तत् कारणत्रैविध्यात् त्रिप्रकारम्।
—वही, वृत्ति, पृ० ४००

६. ····कर्तृपदनिबन्धनानि दीपकानि बहूनि सम्भवन्तीति।
—वही, वृत्ति पृ० ४०३

७. द्रष्टव्य, मम्मट, काव्यप्र० १० पृ० २५३

रुय्यक ने क्रिया आदि के आदिगत, मध्यगत एव अन्तगत भेदो को स्वीकार किया है।[1] जयदेव ने दण्डी के आवृत्तिदीपक, मालादीपक आदि भेदो को भी स्वीकार किया है, पर उन्होने मालादीपक के स्वरूप की कल्पना स्वतन्त्र रूप से की है। उनके मतानुसार दीपक और एकावली अलङ्कारो के स्वरूप का मिश्रण मालादीपक है।[2] नरसिह कवि ने 'नञ्जराज यशोभूषण' मे दीपक के दो मुख्य भेदो के तीन-तीन उपभेद—गुणतद्भावरूपधर्मान्वय, क्रियातद्भावान्वय एव द्रव्यतद्भावान्वय—मान कर छह प्रकार के दीपक माने है।[3]

हिन्दी-रीति-आचार्यो ने सस्कृत के आचार्यो की दीपक-भेद-विषयक मान्यता को ही प्रधानत· स्वीकार किया है। केशव ने मणिदीपक-नामक एक नवीन दीपक-भेद की कल्पना की, जिसमे वर्षा, शरद्, भूषण, भाव आदि का वर्णन अपेक्षित माना गया।[4] देव ने परिवृत्ति, कारणमाला तथा समुच्चय को दीपक का भेद मान लिया है।[5] यह नवीन भेद की कल्पना नही, अन्य अलङ्कारों के दीपक मे अन्तर्भाव का आयास-मात्र है, जिसका औचित्य सन्दिग्ध है। आचार्य भिखारी ने देहरीदीपक नामक दीपक-भेद को भी स्वीकार किया है।[6]

अनन्वय

स्वरूप-विकास की दृष्टि से अनन्वय के स्वरूप मे कोई परिवर्त्तन नही दीख पडता। उपमा से उसकी स्वतन्त्र सत्ता माने जाने के प्रश्न पर आचार्यों के दो मत रहे है। उपमा के एक भेद के रूप मे इस अलङ्कार की धारणा का जन्म हुआ था। पीछे चल कर अधिकाश आचार्यो ने अनन्वय के प्राचीन स्वरूप को ही स्वीकार कर उपमा से उसकी स्वतन्त्र सत्ता मान ली। अन्य उपमामूलक अलङ्कारो की तरह उपमा की मूल धारणा पर आधृत होने पर भी उसे उपमा का एक भेद-मात्र नही मान कर स्वतन्त्र अलङ्कार माना जाने लगा। परवर्ती

१. रुय्यक अलं० सर्वस्व, पृ० ७४
२. दीपकैकावलीयोगान्मालादीपकमिष्यते।
—जयदेव, चन्द्रालोक, ५, ८६
३. द्रष्टव्य, नरसिंह, नञ्जराजयशोभू० पृ० १९८
४. द्रष्टव्य, केशव, कविप्रिया पृ० २६४-६५
५. देव, शब्दरसायन पृ० १५८
६. भिखारी, काव्यनि० पृ० ५२२

काल मे भी कुछ आचार्य अनन्वय का उपमा मे अन्तर्भाव मानने के पक्ष में युक्तियाँ देते रहे; पर अलङ्कार-शास्त्र के पाठको ने उसकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार कर ली थी।

आचार्य भरत ने उपमा के एक भेद, सदृशी उपमा का जो उदाहरण दिया था, उसमे उपमेय को ही उसका उपमान बताया गया था। उस उदाहरण को देखते हुए अभिनव गुप्त ने सदृशी-उपमा का लक्षण निर्धारित किया कि जहाँ उपमेय को ही अपना उपमान बना दिया जाता है वहाँ सदृशी उपमा होती है।[१] सामान्यत कवि जब वर्ण्य वस्तु को सर्वोत्कृष्ट या अद्वितीय सिद्ध करना चाहता है, तब उसके समान अन्य किसी भी वस्तु का सर्वथा अभाव सूचित करने के लिए उस वर्ण्य वस्तु की उपमा स्वय उस वर्ण्य वस्तु से ही देता है। दूसरे शब्दो मे, वर्ण्य वस्तु का उपमान उससे भिन्न कोई पदार्थ नही होता, वर्ण्य ही अपना उपमान आप बन जाता है। ऐसी स्थिति मे अनन्वय अलङ्कार का सद्भाव माना जाता है। स्पष्ट है कि आचार्य भरत की सदृशी उपमा को ही पीछे चल कर नयी सञ्ज्ञा और उपमा से स्वतन्त्र सत्ता दी गयी है। अनन्वय अभिधान का उल्लेख सर्वप्रथम भामह ने किया और उन्होने उसे उपमा से स्वतन्त्र अस्तित्व दिया। भामह ने अनन्वय को परिभाषित करते हुए कहा कि जहाँ वर्ण्य वस्तु से अन्य वस्तु के सादृश्य का अभाव बताने के लिए उस वस्तु से उसी का उपमानोपमेय-भाव कल्पित होता है, वहाँ अनन्वय अलङ्कार होता है।[२] भामह के उत्तरवर्ती आचार्य दण्डी ने अनन्वय का न तो स्वतन्त्र अस्तित्व माना और न उसका नाम्ना उल्लेख ही किया। उन्होने भरत की तरह अनन्वय के इस स्वरूप की कल्पना उपमा के प्रकार-निरूपण के क्रम मे की; पर उपमा के उस प्रकार की भरत-निर्दिष्ट सञ्ज्ञा को स्वीकार नही कर उन्होंने उसे असाधारणोपमा-सञ्ज्ञा से अभिहित किया।[3] उद्भट ने भामह के मतानुसार अनन्वय की परिभाषा दी और उसका स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार किया।[४]

---

१. यत्रोपमेयस्यैवोपमानता सेय सदृशी ` ` ` `।—भरत ना०शा० १६, ५० पर अभिनव भारती टीका० पृ० ३२४

२. यत्र तेनैव तस्य स्यादुपमानोपमेयता।
असादृश्यविवक्षातस्तमित्याहुरनन्वयम्॥—भामह, काव्याल० ३, ४५

३. द्रष्टव्य, दण्डी की असाधारणोपमा धारणा, काव्याद० २, ३७
यह धारणा भामह आदि की अनन्वय-धारणा से अभिन्न है।

४. द्रष्टव्य, उद्भट, काव्याल सारसं० ६, ७

वामन ने अनन्वय के इसी प्राचीन स्वरूप को स्वीकार किया, पर भामह और उद्भट की अनन्वय-परिभाषाओं को कुछ सशोधन के साथ ग्राह्य माना। उन्होने अनन्वय की परिभाषा मे केवल इतना कहा कि एक ही वस्तु मे उपमानोपमेयत्व की जहाँ कल्पना की जाय, वहाँ अनन्वय अलङ्कार होता है।[१] परिभाषा मे सम्भवत उन्होंने 'असादृश्यविवक्षा' का उल्लेख अनावश्यक समझा। किसी वस्तु को उसके अपने ही समान कहने मात्र से अन्य वस्तु का उससे असादृश्य व्यञ्जित हो जाता है। अत, अनन्वय-लक्षण मे 'असादृश्य-विवक्षा' शब्द अपेक्षातिरिक्त माना गया। सम्भव है कि भामह, उद्भट आदि आचार्यों ने भी केवल विपय के स्पष्टीकरण के लिए उक्त शब्द का उल्लेख परिभापा मे किया हो। परवर्ती आचार्यो मे रुद्रट, पण्डितराज जगन्नाथ आदि ने भामह की परिभापा को ही स्वीकार किया है; पर मम्मट, रुय्यक, विद्यानाथ विश्वनाथ, जयदेव तथा अप्पय्य दीक्षित आदि अधिकाश आचार्यों ने वामन की परिभाषा का ही अनुमोदन किया है।

हिन्दी के भिखारी दास आदि आचार्यो ने वामन के मतानुसार अनन्वय को परिभाषित किया है।

अनन्वय के स्वरूप के सम्बन्ध मे एक समस्या मीमासको ने उठायी है, जिसपर इस सन्दर्भ मे विचार कर लेना अपेक्षित है। उनकी मान्यता है कि एक ही वस्तु मे उपमानोपमेय-भाव सम्भव नही। कोई वस्तु स्वय अपना उपमान कैसे बनेगी? अत., मीमासकों का तर्क यह है कि जब ऐसी उक्तियों का प्रयोग होता है कि 'राम-रावण का युद्ध राम-रावण के युद्ध के ही समान था' या 'आकाश आकाश के ही समान है' तब उनके अर्थ की सङ्गति के लिए यह कल्पना आवश्यक होती है कि 'राम और रावण के बीच जो युद्ध हुआ वह कल्पान्तर मे हुए राम और रावण के युद्ध के समान था', 'यह आकाश पूर्व-कल्प के ऐसे ही आकाश के समान है' आदि।[२] निष्कर्ष यह कि मीमांसक किसी वस्तु का उसी वस्तु के साथ उपमानोपमेय-भाव तभी सम्भव मानेंगे, जब उस वस्तु को सविशेषण कर उसके अपने ही रूप से कुछ भेद कल्पित कर

---

१. एकस्योपमेयोपमानत्वेऽनन्वयः।—वामन, काव्यालं०सू० ४, ३-१४
२. अप्पय्य दीक्षित, चित्रमीमासा, सुधा-टीका, पृ० १५०

लिया जाय। वाचस्पति मिश्र ने इस भेद कल्पना को अगतिकगति मान कर इससे अपनी असहमति प्रकट की है।[१]

साहित्य-शास्त्र के आचार्यों की मान्यता वाक्य-मीमासको की उक्त मान्यता से भिन्न है। उनकी युक्ति है कि भेद हो जाने पर—चाहे वह भेद कल्पित ही क्यो न हो—उक्ति मे अनन्वय नही माना जायगा। वैसी उक्ति मे उपमा का ही सद्भाव माना जायगा। अत, आचार्यो ने इस बात का स्पष्ट उल्लेख अनन्वय के लक्षण मे किया है कि जहाँ एक वस्तु की ठीक उसीसे उपमा दी जाय, अर्थात् उपमेय और उपमान एक वस्तु तो हो ही, उसमे उपाधिगत भी कोई भेद न हो, वहाँ अनन्वय अलङ्कार होता है। अनन्वय नाम की सार्थकता भी इसी मे है कि धर्म का अभेद होने पर वस्तु की अपने से उपमा अन्वित नहीं होती। अनन्वय का पर्यवसान द्वितीय सादृश्य के निषेध मे होता है। वह वस्तु ठीक अपने ही समान है, अर्थात् जिस देश-काल मे वह है, उसी देश-काल मे अपने ही समान है, इस कथन का तात्पर्य यह होता है कि उसके समान दूसरी कोई वस्तु नही है। निष्कर्षत:, एक धर्मयुक्त किसी वस्तु का उसी धर्म से युक्त अपने से ही उपमानोपमेय-भाव मे सभी आचार्यो ने एक-मत से अनन्वय अलङ्कार माना है। द्वितीय-सादृश्य-व्यवच्छेद इस अलङ्कार का व्यावर्त्तक है।

उपमेयोपमा

अनन्वय की तरह उपमेयोपमा को भी उपमा का भेद तथा उससे स्वतन्त्र अलङ्कार मानने वाले दो मत पाये जाते है। उसके स्वरूप के सम्बन्ध मे प्राय: आचार्यो मे मतैक्य ही रहा है। भामह ने सर्वप्रथम उपमेयोपमा अलङ्कार का स्वरूप-विवेचन किया और उसे स्वतन्त्र अलङ्कार माना। उपमा से इसका भेद यह माना गया कि जहाँ उपमा मे किसी प्रस्तुत के लिए अन्य अप्रस्तुत की योजना की जाती है, वहाँ उपमेयोपमा मे प्रस्तुत और अप्रस्तुत के बीच पारस्परिक उपमानोपमेय भाव की कल्पना की जाती है। इसमे एक वाक्य के

---

१. तेन तस्योपमेयत्वं रामरावणयुद्धवत्।
अगत्या भेदमारोप्य गतौ तस्या न विद्यते॥—वाचस्पति मिश्र, भामती, उद्धृत चित्र-मीमांसा, सुधा-टीका, पृ० १५३

उपमेय और उपमान अपरत्र क्रमश. एक दूसरे के उपमान और उपमेय[1] बन जाते है। आचार्य दण्डी ने उपमेयोपमा के इसी स्वरूप को स्वीकार कर उसे अन्योन्योपमा व्यपदेश दिया और उसकी स्वतन्त्र सत्ता नही मान कर उसे उपमा का ही एक भेद स्वीकार किया।[2] उद्भट ने उपमेयोपमा के लक्षण मे इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया कि इसमे दो वस्तुओ का पारस्परिक सादृश्य दिखाया जाता है, जिससे परिणामत: उन दो वस्तुओं से अन्य वस्तु के सादृश्य का अभाव सूचित होता है।[3] आचार्य रुद्रट ने उपमेयोपमा के स्थान पर उभयोपमा शब्द का उल्लेख कर उसे उपमा का ही एक भेद माना है। उसकी परिभाषा मे उन्होने उद्भट की उपमेयोपमा-धारणा को स्वीकार कर कहा है कि इन दो वस्तुओ—उपमेय और उपमान—के समान कोई अन्य वस्तु नहीं है, ऐसा मान कर जहाँ इन दोनो की क्रमश एक दूसरे से समता दिखायी जाती हो, वहाँ उभयोपमा अलङ्कार माना जाता है।[4] पण्डितराज जगन्नाथ ने भी उपमेयोपमा के लक्षण मे 'तृतीय सादृश्य व्यवच्छेद' का उल्लेख आवश्यक समझा।[5] इस प्रकार उपमेयोपमा के सम्बन्ध मे उद्भट, रुद्रट, जगन्नाथ आदि का मत भामह आदि के मत से मूलत अभिन्न है, पर भेद यह है कि जहाँ भामह ने इस अलङ्कार की परिभाषा मे केवल दो वस्तुओ की पारस्परिक समता की चर्चा की, वहाँ उद्भट आदि ने उसमे 'अन्यसादृश्य व्यवच्छेद' के तत्त्व का उल्लेख भी आवश्यक समझा। अनन्वय मे एक वस्तु से दूसरी किसी भी वस्तु की समता का अभाव बताया जाता है और उपमेयोपमा मे दो वस्तुओ

---

१. उपमानोपमेयत्व यत्र पर्यायतो भवेत्।
उपमेयोपमां नाम ब्रुवते तां यथोदिताम्॥
—भामह, काव्याल० ३, ३७

२. द्रष्टव्य, दण्डी, काव्याद० २, १८

३. अन्योन्यमेव यत्र स्यादुपमानोपमेयता।
उपमेयोपमामाहुस्ता पक्षान्तरहानिगाम्॥
—उद्भट, काव्यालं० सार सं० ५, २७

४. वस्त्वन्तरमस्त्यनयोर्न सममिति परस्परस्य यत्र भवेत्।
उभयोरुपमानत्व सक्रममुभयोपमा सान्या॥—रुद्रट, काव्याल० ८, ६

५. तृतीयसदृशव्यवच्छेदबुद्धिफलकवर्णनविषयीभूत परस्परमुपमानोपमेय-भावमापन्नयोरर्थयोस्सादृश्य सुन्दरमुपमेयोपमा।
—जगन्नाथ, रसगगा० पृ० ३०६।

की समता स्वीकार कर किसी भी तीसरी वस्तु की उन दोनो से समता का अभाव माना जाता है। इसीलिए उद्भट आदि ने उपमेयोपमा की परिभाषा मे तृतीय-सादृश्य के व्यपोह का उल्लेख किया है। परवर्ती आचार्यो मे से जगन्नाथ को छोड मम्मट, रुय्यक, जयदेव, विद्यानाथ, विश्वनाथ आदि प्रायः सभी आचार्यो ने भामह की उपमेयोपमा-परिभाषा को ही स्वीकार किया है। उन्होने 'तृतीय-सादृश्य-व्यवच्छेद' का परिभाषा मे उल्लेख आवश्यक नही समझा। परिभाषा मे उक्त शब्द के उल्लेख का औचित्य विचारणीय है।

दो वस्तुओ मे पारस्परिक उपमानोपमेयभाव की कल्पना मे ही उन दो वस्तुओ से तृतीय वस्तु के सादृश्य के अभाव की धारणा निहित है। यही उपमा से उपमेयोपमा का भेद है। उपमा मे भी दो वस्तुओ की समता दिखायी जाती है, पर अन्य वस्तुओ से किसी वस्तु के सादृश्य की सम्भावना का निषेध नही होता। जब दो वस्तुओ के पारस्परिक उपमानोपमेयभाव की कल्पना से ही तृतीय-सादृश्य के व्यवच्छेद की धारणा व्यक्त हो जाती है तो उसका परिभाषा मे उल्लेख अपेक्षातिरिक्त ही है। केवल विषय के स्पष्टीकरण में उक्त शब्द-प्रयोग की सार्थकता मानी जा सकती है।

उत्प्रेक्षा

भारतीय साहित्य-शास्त्र मे उत्प्रेक्षा को उपमा, रूपक आदि की तरह ही महत्त्वपूर्ण अलङ्कार माना गया है। भामह से लेकर आधुनिक काल तक के प्राय· सभी आचार्य उत्प्रेक्षा का अलङ्कारत्व मानने मे एकमत है। संस्कृत के अनेक आचार्यो ने अन्य अलङ्कारो की अपेक्षा उत्प्रेक्षा को अधिक महत्त्वपूर्ण माना था। कुन्तक ने अन्य अलङ्कारों के साथ उत्प्रेक्षा के रहने पर सार्वत्रिक रूप से उत्प्रेक्षा को शोभातिशायी स्वीकार किया था।[१] केशव मिश्र ने उसे 'सर्वालङ्कारसर्वस्व' कह कर अलङ्कारों मे शीर्षण्य माना।[२] हिन्दी मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने मनोवैज्ञानिक आधार पर उत्प्रेक्षा के महत्त्व की

---

१. अपहृत्यान्यालङ्कारलावण्यातिशयश्रिय· ।
उत्प्रेक्षा प्रथमोल्लेखजीवितत्वेन जृम्भते ।।
—कुन्तक, वक्रोक्तिजी० पृ० ४२९ (अन्तरश्लोक)

२. सर्वालङ्कारसर्वस्व कविकीर्तिविवर्धिनी ।
उत्प्रेक्षा हरति स्वान्तमचिरोढा स्मितादिव ।।—
—केशव मिश्र, अलं० शे० १३, पृ० ३४

स्थापना की है। उनके अनुसार उत्प्रेक्षा मे अध्यवसान साध्य या सम्भावना के रूप मे रहता है। इसमे अन्तर की वेदना की व्यञ्जना प्रधान रहती है। अत:, यह अतिशयोक्ति आदि की अपेक्षा भाव-व्यञ्जना मे अधिक सहायक होती है।[1] प्रस्तुत सन्दर्भ मे उत्प्रेक्षा के उद्भव और विकास का अध्ययन अभीष्ट है।

सर्वप्रथम आचार्य भामह ने उत्प्रेक्षा अलङ्कार के अस्तित्व की कल्पना कर उसे परिभाषित किया। उनके मतानुसार उत्प्रेक्षा मे उपमा का पुट, पर सामान्य की अविवक्षा होती है, असिद्ध गुण, क्रिया आदि का योग रहता है तथा अतिशय का भाव मिला रहता है।[2] आचार्य भरत की कल्पिता उपमा के स्वरूप मे, 'अतद्गुणक्रियायोग' तथा 'सातिशय' की धारणा निहित थी। भामह की उत्प्रेक्षा-धारणा का बीज उसी मे था। उत्प्रेक्षा के सामान्य स्वरूप के सम्बन्ध मे एकमत होने पर भी भामह के उत्तरवर्ती आचार्यो ने उसके स्वरूप के स्पष्टीकरण के लिए नवीन-नवीन शब्दावलियो का प्रयोग किया है। आचार्य दण्डी ने उत्प्रेक्षा के स्वरूप और क्षेत्र के निर्धारण के लिए उसके एक प्रसिद्ध उदाहरण—लिम्पतीव तमोऽङ्गानि, वर्षतीवाञ्जन नभ.—का सूक्ष्म विश्लेषण कर उसकी परिभाषा मे नूतन शब्दावली की कल्पना का मार्ग प्रशस्त किया। उन्होने उत्प्रेक्षा की परिभाषा मे कहा कि जहाँ चेतन या अचेतन पदार्थ की स्वभावसिद्ध वृत्ति (अर्थात् गुण, क्रिया आदि व्यापार और स्वत:सिद्ध स्वरूप) के अन्यथा रहने पर अन्यथा-रूप से सम्भावना की जाती है, वहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार होता है।[3] चेतन, अचेतन की स्वभावसिद्ध वृत्ति प्रस्तुत रहती है और उसकी अन्यथा अर्थात् अप्रस्तुत-रूप मे सम्भावना की जाती है। निष्कर्षत:, दण्डी अन्य-धर्म के सम्बन्ध के हेतु से अन्य वस्तु मे अन्य के तादात्म्य की सम्भावना मे उत्प्रेक्षा का सद्भाव मानते थे। उद्भट ने भामह के मतानुसार, उपमानोपमेयभाव के सद्भाव मे भी उसके अविवक्षित

१. द्रष्टव्य, रामचन्द्र शुक्ल, जायसी ग्रन्थावली की भूमिका।

२. अविवक्षितसामान्या किञ्चिच्चोपमया सह।
अतद्गुणक्रियायोगादुत्प्रेक्षातिशयान्विता॥
—भामह, काव्याल० २,९१

३. अन्यथैव स्थिता वृत्तिश्चेतनस्येतरस्य वा।
अन्यथोत्प्रेक्ष्यते यत्र तामुत्प्रेक्षा विदुर्यथा॥
—दण्डी, काव्याद० २,२२१

होने तथा उत्कर्ष के लिए अप्रकृत के गुण, क्रिया आदि के प्रकृत मे योग होने में उत्प्रेक्षा का सद्भाव माना। यह उत्प्रेक्षा सम्भावना-रूप होती है। उद्भट ने इस तथ्य का भी स्पष्टीकरण किया कि क्रिया के साथ प्रयुक्त 'इव' आदि सम्भावना व्यक्त करते है, अतः वहाँ उत्प्रेक्षा होती है।[१] दण्डी भी इस तथ्य पर विचार कर चुके थे। वामन ने अतिशय के लिए अतद्रूप का अन्यथा अध्यवसान उत्प्रेक्षा का लक्षण माना।[२] उत्प्रेक्षा की परिभाषा मे विशेष नवीनता नही होने पर भी 'अध्यवसान' शब्द का प्रयोग महत्त्वपूर्ण है। 'अतद्रूप वस्तु मे अतिशय के लिए तद्रूपतया अध्यवसान' आरोप, लक्षणा आदि के परिहार के लिए प्रयुक्त है। आरोप आदि का परिहार कर यह अध्यवसान सम्भावना-लक्षण होता है।[3] 'अतिशयार्थ' से वामन का तात्पर्य भ्रान्तिज्ञान-निवृत्ति का है।[४] उद्भट की उत्प्रेक्षा-परिभाषा मे प्रयुक्त 'अतिशय' का अर्थ तिलक ने 'उत्कर्ष' माना था।[५] इस प्रकार सातिशय की धारणा उत्प्रेक्षा के स्वरूप मे आरम्भ से ही पायी जाती है।

रुद्रट ने उत्प्रेक्षा के दो रूप स्वीकार किये है। एक को उन्होने औपम्य-गर्भ अलङ्कार-वर्ग मे रखा है और दूसरे को अतिशयगर्भ अलङ्कार-वर्ग मे। हम देख चुके है कि आरम्भ से ही उपमेय मे उपमान की सम्भावना पर उत्प्रेक्षा-लक्षण मे बल दिया जाता रहा है। उद्भट, वामन आदि आचार्यो

---

१. साम्यरूपाविवक्षाया वाच्येवाद्यात्मभि पदै।
अतद्गुणक्रियायोगादुत्प्रेक्षाऽतिशयान्विता ॥ × × सम्भावनेयम्।
—उद्भट, काव्यालं० सारस० ३,४-५

२. अतद्रूपस्यान्यथाध्यवसानमतिशयार्थमुत्प्रेक्षा।
—वामन, काव्यालं० सू० ४,३,९

३. अतत्स्वभावस्य वस्तुनस्तत्तद्गुणयोगात्तत्तद्भावकल्पनमध्यारोपः; यत्र रूपकादिस्वरूपलाभ। यत्तु सादृश्ये सत्येकेन वस्तुना वस्त्वन्तरस्य प्रतिपादनमध्यवसायरूप सा सादृश्यमूला लक्षणा; यत्र वक्रोक्तिव्यपदेश.। यत् पुनस्तद्रूपे वस्तुन्यतिशयमाधातु तद्रूपतयाऽध्यवसान, सोऽयमध्यवसाय सम्भावनालक्षण उत्प्रेक्षेति विवेकः।
—वामन, काव्याल० सू०, कामधेनु-टीका, पृ० १३१

४. अतिशयार्थमिति—भ्रान्तिज्ञाननिवृत्त्यर्थम्।
—वामन, काव्याल० सू० पृ० १३१

५. अतिशयेति। उत्कर्षपर्यवसायिनीत्यर्थ.।
—उद्भट, काव्याल० सारस० की विवृति पृ० ३०

ने इस सम्भावना का प्रयोजन 'अतिशय' (उत्कर्षाधान या भ्रान्तिज्ञान-निवृत्ति) की सिद्धि मे माना था। इस प्रकार अतिशयार्थ उपमेय की उपमान के साथ सम्भावना उत्प्रेक्षा की परिभाषा मानी गयी थी। रुद्रट ने उत्प्रेक्षा मे उपमानोपमेय के सद्भाव के कारण जहाँ एक ओर उसे औपम्यगर्भ अलङ्कार माना, वहाँ दूसरी ओर अतिशय की धारणा के सद्भाव के कारण उसे अतिशयमूलक अलङ्कार भी माना। रुद्रट के अनुसार औपम्यगर्भ उत्प्रेक्षा के तीन रूप है। प्रथम उत्प्रेक्षा वह है, जहाँ सिद्ध उपमान के साथ अतिशय सादृश्य के कारण उपमेय का अभेद बताया जाय और उपमान के गुण आदि का उपमेय मे सम्भव न होने पर उस उपमेय मे उसका आरोप किया जाय। स्पष्टतः, इसमे उपमेय मे उपमान की सम्भावना का तत्त्व स्वीकृत है। उत्प्रेक्षा के दूसरे रूप मे आचार्य रुद्रट ने उपमेय से सम्बद्ध अन्य उपमेय तथा उपमान से सम्बद्ध अन्य उपमान के बीच सम्भावना के सद्भाव की कल्पना की। उनके अनुसार जहाँ उपमेयस्थ अन्य उपमेय की उपमान से सम्बद्ध अन्य उपमान के तत्त्व के साथ ताद्रूप्य की सम्भावना की जाय, वहाँ द्वितीय उत्प्रेक्षा होती है। उत्प्रेक्षा के तीसरे भेद की परिभाषा मे कहा गया है कि जहाँ सुन्दर या असुन्दर विशेषण से विशिष्ट उपमेय मे किसी अविद्यमान अन्य (उपमान) वस्तु की समता का आरोप किया जाता हो, वहाँ तीसरी उत्प्रेक्षा होती है। इसमे अविद्यमान वस्तु की सम्भावना किसी युक्ति से उपपन्न बतायी जाती है।[१]

अतिशयमूलक उत्प्रेक्षा के भी दो रूपों की कल्पना रुद्रट ने की है। एक में असम्भव क्रिया आदि के सम्भव बताये जाने पर तथा अविद्यमान क्रियादि को विद्यमान बताये जाने पर बल दिया गया है।[२] दूसरे मे किसी वस्तु के रूप के स्वाभाविक कारण से भिन्न कारण का आरोप अपेक्षित माना गया है।[३]

आचार्य कुन्तक ने भी सम्भावना में उत्प्रेक्षा का सद्भाव स्वीकार कर सम्भावना से सम्भाव्य के अनुमान और सादृश्य को अलग-अलग तथा दोनों

---

१. द्रष्टव्य, रुद्रट, काव्याल० ८,३२-३७

२. यत्रातितथाभूते सम्भाव्येत क्रियाद्यसम्भाव्यम्।
सम्भूतमतद्वति वा विज्ञेया सेयमुत्प्रेक्षा॥—रुद्रट, काव्यालं० ९, ११

३. अन्यनिमित्तवशाद्यद्यथा भवेद्वस्तु तस्य तु तथात्वे।
हेत्वन्तरमतदीयं यत्रारोप्येत सान्येयम् (उत्प्रेक्षा)॥—वही, ९, १४

को समन्वित रूप मे भी उसका हेतु स्वीकार किया। उनके अनुसार समुल्लिखित वाक्यार्थ से तदतिरिक्त अर्थ की योजना उत्प्रेक्षा का लक्षण है। यह अतिरिक्तार्थ की योजना या तो सम्भाव्य के अनुमान से सम्भव होती है या सादृश्य के कारण। अनुमान और सादृश्य, दोनो एक साथ भी उल्लिखितार्थव्यतिरिक्त अर्थ की योजना के साधक हो सकते है। कुन्तक ने अतिशयोद्रेक को उत्प्रेक्षा का प्रयोजन माना है।[1] स्पष्ट है कि वे रुद्रट की तरह उत्प्रेक्षा मे अतिशय और सादृश्य, दोनो का तत्त्व स्वीकार करते है। उत्प्रेक्षा के एक अन्य रूप मे कुन्तक ने क्रियारहित वस्तु मे भी किसी क्रिया के प्रति कर्तृत्व की कल्पना पर बल दिया है। क्रिया मे कर्तृत्व का आरोप वस्तु के अपने सौन्दर्य की महिमा से हो सकता है अथवा भावक को वैसी प्रतीति होने के कारण भी हो सकता है।[2]

वामन उत्प्रेक्षा को सादृश्यमूलक स्वीकार कर अतिशयोक्ति से उसका भेद-निरूपण कर चुके थे, फिर भी रुद्रट के द्वारा स्पष्ट रूप से और कुन्तक के द्वारा प्रकारान्तर से प्रस्तुत अलङ्कार का मूलतत्त्व सादृश्य के साथ अतिशय भी स्वीकृत हुआ। अग्निपुराणकार ने भी उत्प्रेक्षा मे अतिशय का तत्त्व स्वीकार कर उसके लक्षण मे 'लोकसीमातिवर्तन' का उल्लेख किया।[3] मम्मट ने उद्भट की तरह सम्भावना को उत्प्रेक्षा का लक्षण माना।[4]

आचार्य रुय्यक ने उत्प्रेक्षा की परिभाषा मे उद्भट तथा वामन की उत्प्रेक्षा-परिभाषाओ मे प्रयुक्त क्रमश सम्भावना एव अध्यवसान पदो का सार लेकर 'साध्य अध्यवसाय' पर बल दिया।[5] सम्भावना साध्य अध्यवसाय के रूप मे ही व्यक्त होती है, सिद्ध के रूप मे नही।

रुय्यक के परवर्ती आचार्य उत्प्रेक्षा के लक्षण मे सम्भावना या साध्याध्यवसाय पद का ही प्रयोग करते रहे है। विद्याधर के उत्प्रेक्षा-लक्षण मे अध्यवसान पद प्रयुक्त हुआ है।[6] विश्वनाथ, विद्यानाथ, हेमचन्द्र, शोभाकर,

१. द्रष्टव्य, कुन्तक, वक्रोक्तिजी० ३, २५-२७
२. वही, ३, २८
३. अग्निपुराण, अध्याय, ३४४
४. सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्।
—मम्मट, काव्यप्र० १०, १३७
५. अध्यवसाये व्यापारप्राधान्य उत्प्रेक्षा।
—रुय्यक, अल० सर्वस्व, सूत्रसंख्या २१
६. विद्याधर, एकावली।

अप्पय्यदीक्षित, पण्डितराज जगन्नाथ आदि आचार्यो ने उत्प्रेक्षा के लक्षण मे सम्भावना पद का प्रयोग किया है, परवर्ती आचार्यो मे केशव मिश्र ने आचार्य रुद्रट की तरह उत्प्रेक्षा मे आरोप का तत्त्व स्वीकार किया है।[1] वाग्भट ने उत्प्रेक्षा मे की जाने वाली सम्भावना या कल्पना मे औचित्य को भी वाञ्छनीय बताया।[2] इसकी विशेष आवश्यकता नहीं थी, क्योकि औचित्य सभी अलङ्कारो का स्वीकृत मूलाधार ही है।

हिन्दी के रीति-आचार्यो ने सस्कृत-आलङ्कारिको की उत्प्रेक्षा-धारणा को ही स्वीकार किया है। उत्प्रेक्षा-लक्षण मे सम्भावना या अनुमान के स्थान पर हिन्दी-रीतिशास्त्र मे तर्क तथा ऊहा शब्दो का भी प्रयोग हुआ है। गोविन्द कवि ने उत्प्रेक्षा मे तर्क पर बल दिया तो गोकुल कवि ने सम्भावना के लिए ऊहा शब्द का प्रयोग किया।[3] शब्द प्रयोग-मात्र के इस भेद के होने पर भी हिन्दी-आलङ्कारिको की उत्प्रेक्षा का स्वरूप प्राचीन उत्प्रेक्षा के स्वरूप से अभिन्न रहा है।

उत्प्रेक्षा के स्वरूप-विकास के अध्ययन का निष्कर्ष निम्नलिखित है :—

(क) एक पदार्थ मे अन्य पदार्थ की सम्भावना उत्प्रेक्षा का स्वरूप है।

(ख) यह सम्भावना प्रायः अतिशयार्थ अर्थात् उत्कर्ष की सिद्धि के लिए की जाती है।

(ग) उपमेय मे उपमान की सम्भावना होने से—उपमान एव उपमेय के सम्बन्ध की कल्पना के कारण उत्प्रेक्षा सादृश्यमूलक अलङ्कार भी है और सम्भावना का प्रयोजन अतिशय या उत्कर्ष-साधन होने के कारण अतिशय-मूलक भी।

(घ) किसी वस्तु की स्वाभाविक स्थिति मे उसके किसी भिन्न कारण की सम्भावना भी उत्प्रेक्षा में की जाती है। वस्तु, फल और हेतु की सम्भावना के आधार पर उत्प्रेक्षा के तीन रूप स्वीकृत हुए हैं।

(ङ) मन्ये, शङ्के आदि शब्दो के साथ क्रिया-पद के साथ प्रयुक्त होने

---

१. अन्यनिमित्तके वस्तुन्यन्यनिमित्तकत्वारोप उत्प्रेक्षा।
—केशव मिश्र, अल० शे० १३, पृ० ३४

२. वाग्भटालङ्कार, ४, ६०

३. द्रष्टव्य, गोविन्द, कर्णाभरण पृ० ५ तथा गोकुल, चेतचन्द्रिका पृ० ४०

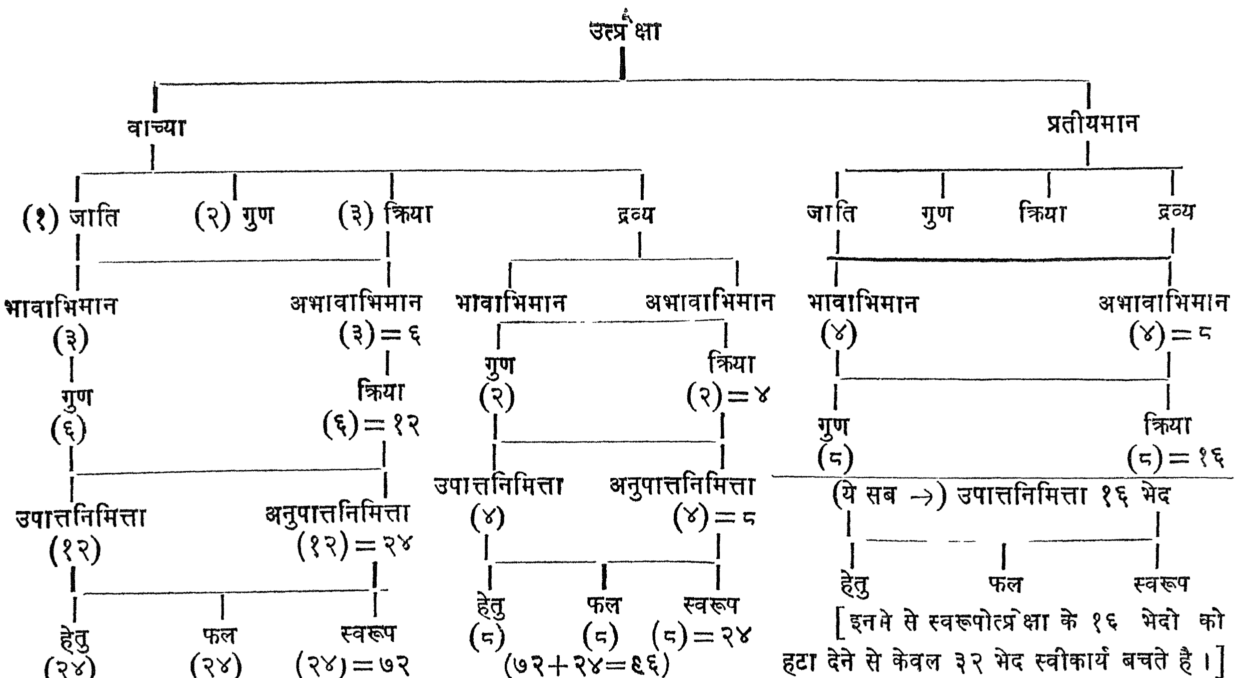
वाले इव, सा, सी आदि शब्द सम्भावना-सूचक होने के कारण उत्प्रेक्षा के वाचक-पद माने गये है।

(च) उत्प्रेक्षा मे अध्यवसान साध्य होता है अर्थात् वह सम्भावना के रूप मे रहता है। इस तथ्य की अभिव्यक्ति के लिए उत्प्रेक्षा-लक्षण मे सम्भावना, कल्पना, तर्क, ऊहा, अध्यवसान, साध्याध्यवसाय आदि पदो का प्रयोग हुआ है। अन्य हेतु आदि के आरोप के भाव को व्यक्त करने के लिए आरोप-पद का भी प्रयोग हुआ है। सम्भावना-पद अधिक प्रिय रहा है। वस्तुतः, वह अध्यवसान आदि पारिभाषिक पदो की अपेक्षा अधिक बोधगम्य भी है। एक वस्तु, फल एव हेतु मे अन्य की सम्भावना उत्प्रेक्षा का सरल लक्षण है।

उत्प्रेक्षा के भेद

आचार्य उद्भट ने भाव एव अभाव के आधार पर उत्प्रेक्षा के दो भेद कर उनके वाच्य एव प्रतीयमान भेदों की कल्पना की थी। रुद्रट ने औपम्य-गर्भ उत्प्रेक्षा के तीन एव अतिशयगर्भ के दो रूपो का निरूपण किया। कुन्तक के अनुसार सम्भाव्य के अनुमान से, सादृश्य (काल्पनिक एव वास्तव) से तथा दोनो के सम्मिलित रूप से उत्प्रेक्षा होती है। इस प्रकार वे उसके तीन भेद कर चौथे भेद मे क्रिया-हीन वस्तु मे किसी क्रिया के प्रति कर्तृत्व की कल्पना कर लेते है।

रुय्यक ने उत्प्रेक्षा के अनेक भेदोपभेदों की कल्पना कर ली है। रुय्यक-सम्मत उत्प्रेक्षा के भेदो की सख्या के सम्बन्ध में विद्वानो मे मतभेद रहा है। अप्पय्य दीक्षित ने 'चित्रमीमांसा मे यह मन्तव्य व्यक्त किया है कि रुय्यक की वाच्योत्प्रेक्षा पचपन प्रकार की तथा गम्योत्प्रेक्षा चालीस प्रकार की है। इस प्रकार उत्प्रेक्षा के कुल पञ्चानबे भेद होते है। 'सञ्जीवनी' के अनुसार रुय्यक की वाच्या उत्प्रेक्षा छियानबे प्रकार की है, किन्तु द्रव्योत्प्रेक्षा के फलमूलक और हेतुमूलक सोलह भेदों को इस सख्या से निकाल भी दिया जा सकता है। कारण यह है कि रुय्यक द्रव्य का केवल स्वरूपोत्प्रेक्षण ही मानते है। अत, फल और हेतु की द्रव्य से उत्प्रेक्षा मानने मे कोई युक्ति नही है। इस प्रकार रुय्यक के मतानुसार अस्सी वाच्योत्प्रेक्षा-भेदों का ही सद्भाव स्वीकार किया जाना चाहिए। गम्योत्प्रेक्षा में अनुपात्तनिमित्ता को छोड केवल उपात्तनिमित्ता के छियालीस भेद ही स्वीकार्य है। रुय्यक की उत्प्रेक्षा का सञ्जीवनी-समर्थित विभाग निम्न तालिका मे प्रस्तुत है :—


उत्प्रेक्षा
वाच्या
प्रतीयमान
(१) जाति
(२) गुण
(३) क्रिया
द्रव्य
भावाभिमान
(३)
अभावाभिमान
(३) = ६
गुण
(६)
क्रिया
(६) = १२
उपात्तनिमित्ता
(१२)
अनुपात्तनिमित्ता
(१२) = २४
हेतु
(२४)
फल
(२४)
स्वरूप
(२४) = ७२
भावाभिमान
अभावाभिमान
गुण
(२)
क्रिया
(२) = ४
उपात्तनिमित्ता
(४)
अनुपात्तनिमित्ता
(४) = ८
हेतु
(८)
फल
(८)
स्वरूप
(८) = २४
(७२+२४=९६)
[इनमे द्रव्य के केवल स्वरूपगत ८ भेदों को स्वीकार करने वाले इसके ८० ही भेद मानते है ।]
जाति
गुण
क्रिया
द्रव्य
भावाभिमान
(४)
अभावाभिमान
(४) = ८
गुण
(८)
क्रिया
(८) = १६
(ये सब →) उपात्तनिमित्ता १६ भेद
हेतु
फल
स्वरूप
[इनमे से स्वरूपोत्प्रेक्षा के १६ भेदो को हटा देने से केवल ३२ भेद स्वीकार्य बचते है ।]

उक्त तालिका को देखने से सञ्जीवनीकार के मतानुसार उत्प्रेक्षा के भेदोपभेद स्पष्ट हो जाते है। उनके अनुसार उत्प्रेक्षा के मुख्य दो भेद है—वाच्या और गम्या। वाच्या केछियानबे भेद है। उसके प्रथम चार भेद होते है—जाति, गुण, क्रिया तथा द्रव्य की उत्प्रेक्षा। इन चारो में से प्रत्येक के चौबीस उपभेद हो जाते है। इन सब के भावाभिमान तथा अभावाभिमान दो भेद होते है, फिर दोनो के गुणनिमित्ता तथा क्रियानिमित्ता भेद से चार प्रकार हो जाते है। पुनः चारो उपात्तनिमित्ता और अनुपात्तनिमित्ता भेद से आठ प्रकार के हो जाते है। इन आठो के तीन-तीन-भेद हेतु, स्वरूप तथा फल की उत्प्रेक्षा की दृष्टि से हो जाते है। इस प्रकार वाच्योत्प्रेक्षा के जाति, गुण, क्रिया एव द्रव्य-भेदों मे से प्रत्येक के चौबीस-चौबीस भेद होते है; किन्तु द्रव्योत्प्रेक्षा के आठ ही भेद लोग मानते है, चूँकि उसकी स्वरूप-मात्र मे ही उत्प्रेक्षा सम्भव है, हेतु और फल मे नही। अत", स्थूल दृष्टि से वाच्योत्प्रेक्षा के अस्सी भेद ही मान्य हुए है। प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा के भेदों का विभाजन भी इसी पद्धति पर होता है, पर उसमे केवल उपात्तनिमित्ता के अडतालीस भेदो का सद्भाव मान्य है। अनुपात्तनिमित्ता प्रतीयमाना सम्भव ही नही। प्रतीयमाना मे स्वरूपोत्प्रेक्षा नही होती। अत, स्वरूपोत्प्रेक्षा के सोलह भेदो को कम कर देने से प्रतीमाना उत्प्रेक्षा के केवल बत्तीस भेद बच रहते है।

जयदेव और अप्पय्य दीक्षित ने वस्तूत्प्रेक्षा, हेतूत्प्रेक्षा तथा फलोत्प्रेक्षा-इन उत्प्रेक्षा-भेदों का सद्भाव स्वीकार कर प्रत्येक के इवादि पद से वाच्य होने पर वाच्या तथा उसके अभाव मे गूढा या गम्या; दो भेद माने है। विद्यानाथ ने रुय्यक के उत्प्रेक्षा-जाल से प्रमुख बत्तीस भेद लेकर उनका विवेचन किया है। उनके अनुसार वाच्या और गम्या उत्प्रेक्षा मे से प्रत्येक जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य-भेदो से चार-चार प्रकार की होती है। पुनः, भाव एव अभाव के भेद से उनके आठ-आठ भेद हो जाते है। गुणनिमित्ता और क्रियानिमित्ता होने से वे सोलह-सोलह प्रकार की होती है। इस प्रकार सोलह वाच्या और उतनी ही गम्या उत्प्रेक्षा होती है। विश्वनाथ ने भी उत्प्रेक्षा के बत्तीस भेद ही माने थे।

उत्प्रेक्ष्य वस्तु आदि के आधार पर किये गये उक्त वर्गीकरण के अतिरिक्त श्लिष्टशब्दनिमित्तकोत्प्रेक्षा, उपमोपक्रमोत्प्रेक्षा, सापह्नवोत्प्रेक्षा आदि उत्प्रेक्षा-भेदो की भी कल्पना कुछ आचार्यों ने की है; पर इन्हें उत्प्रेक्षा

का भेदोपभेद मानना समीचीन नही जान पडता। इनमें श्लेष, उपमा, अपह्नुति आदि अलग-अलग अलङ्कारो के साथ उत्प्रेक्षा की अवस्थिति का सङ्केत-मात्र मिलता है। अत, वहाँ उत्प्रेक्षा के साथ अन्य अलङ्कार की संसृष्टि या सङ्कर का ही विचार होना चाहिए।

उत्प्रेक्षा के सर्वाधिक भेदो की कल्पना रुय्यक ने ही की थी। 'अलङ्कार-सूत्र' पर टीका करते हुए रुय्यक के टीकाकार जयरथ ने उत्प्रेक्षा के अतिशय-मूलक भेदो को गिन कर उसके भेदो की सख्या और भी बढा दी है। उत्प्रेक्षा की सादृश्यमूलकता के साथ उसके अतिशयगर्भ होने की मान्यता आचार्य रुद्रट प्रकट कर चुके थे। उत्प्रेक्षा के औपम्य-गर्भ स्वरूप के साथ उसके अतिशयमूलक-भेद भी स्वीकार्य है।

अपह्नुति

अपह्नुति उक्ति मे अपह्नव की कला पर आधृत अलङ्कार है। निषेध-मुखेन विधान मे जो विधि की व्यञ्जना होती है, वह निस्सन्देह आकर्षक होती है। ऐसी उक्ति-भङ्गी मे अलङ्कारत्व असन्दिग्ध है। पीछे चल कर अपह्नव पर आश्रित अनेक उक्ति-भङ्गियो मे अनेक अलङ्कार की कल्पना अलङ्कार-शास्त्र मे की गयी है। अपह्नुति के स्वरूप की कल्पना ही अपह्नवमूलक समग्र अलङ्कार-प्रपञ्च की कल्पना का उत्स है। प्रस्तुत सन्दर्भ मे हम अपह्नुति के स्वरूप का विकास-क्रम की दृष्टि से अध्ययन करेगे।

सर्वप्रथम भामह के 'काव्यालङ्कार' मे अपह्नुति का स्वरूप-निरूपण मिलता है। भामह से पूर्व मिथ्याध्यवसाय लक्षण के स्वरूप मे अपह्नव की धारणा निहित थी। भामह ने उपमान-उपमेय की धारणा के साथ मिथ्या-ध्यवसाय के तत्त्व का मिश्रण कर अपह्नुति अलङ्कार के स्वरूप की कल्पना की।[१] इस प्रकार भामह के मतानुसार प्रस्तुत का अपह्नव और उसके स्थान पर अप्रस्तुत का स्थापन अपह्नुति का स्वरूप बना। भामह ने अपह्नुति में उपमानोपमेय-सम्बन्ध आवश्यक माना। उन्होने स्पष्टत. कहा कि अपह्नुति में उपमा किञ्चित् अन्तर्गता होती है।[२]

---

१. मिथ्याध्यवसायेनापह्नुतिः।—अभिनव, अभिनव भारती, पृ० ३२१

२. अपह्नुतिरभीष्टा च किञ्चिदन्तर्गतोपमा।
भूतार्थापह्नवादास्याः क्रियते चाभिधा यथा॥
—भामह, काव्यालं० ३,२१

आचार्य दण्डी ने भामह की अपह्नुति-विषयक उक्त मान्यता को स्वीकार कर उसे उपमा का एक भेद माना और उसे प्रतिषेधोपमा या उपमापह्नुति अभिधान दिया।[१] इसके साथ ही दण्डी ने अपह्नुति के स्वतन्त्र अस्तित्व की कल्पना कर उसके कुछ व्यापक स्वरूप का निरूपण किया, जिसमें उपमानोपमेय-सम्बन्ध आवश्यक नही माना गया। अपह्नुति की परिभाषा मे दण्डी ने कहा कि जहाँ वर्णनीय वस्तु के कुछ (क्रिया, गुण आदि) धर्म का अवगोपन कर अर्थात् उसका असत्यतया प्रतिपादन कर अन्य अर्थ का दर्शन अर्थात् सत्यतया स्थापन किया जाय, वहाँ अपह्नुति-नामक अलङ्कार होता है।[२] दण्डी की इस अपह्नुति-परिभाषा मे उपमानोपमेय-भाव की धारणा जोडने का प्रयास टीकाकार नृसिंहदेव ने किया है। उन्होने अन्यार्थदर्शन की व्याख्या 'अप्रस्तुत धर्मान्तरस्य दर्शनम्' की है।[३] किन्तु, उपमापह्नुति से स्वतन्त्र अपह्नुति की सत्ता की कल्पना की सार्थकता उपमानोपमेय-सम्बन्ध के अतिरिक्त स्थल तक अपह्नुति के क्षेत्र-विस्तार में ही है। विषयापह्नुति आदि का जो उदाहरण 'काव्यादर्श' मे दिया गया है, उसमे वर्णनीय का अपह्नव तो है; पर आवश्यक रूप से उसके उपमान का अवस्थापन नही है। स्पष्टत:, दण्डी वर्णनीय से भिन्न किसी अन्य का (वर्णनीय का अपह्नवपूर्वक) अवस्थापन अपह्नुति का लक्षण मानते थे। भामह से कुछ विस्तृत रूप अपह्नुति को दण्डी ने दिया।

भामह और दण्डी की अपह्नुति-धारणा के आधार पर परवर्ती काल में अपह्नुति-विषयक दो धारणाएँ प्रचलित हुईं। कुछ आचार्य भामह के मत का अनुमोदन करते हुए अपह्नुति के स्वरूप-विधान के लिए उपमानोपमेय भाव को आवश्यक मानते रहे, तो अन्य आचार्य दण्डी की मान्यता का अनुसरण करते हुए सादृश्येतर स्थल मे भी अपह्नुति का सद्भाव स्वीकार करते रहे। उद्भट, वामन, रुद्रट, रुय्यक, मम्मट, जगन्नाथ आदि आचार्यों ने सादृश्य को अपह्नुति का आधार माना है। भोज ने अपह्नुति के सादृश्यवती और सादृश्यरहिता; दो भेद स्वीकार कर दण्डी की मान्यता का अनुमोदन किया है। विश्वनाथ, अप्पय्य दीक्षित तथा शोभाकर आदि ने दण्डी की तरह सादृश्येतर मे भी अपह्नुति की सत्ता स्वीकार की है।

१. उपमापह्नुति: पूर्वमुपमास्वेव दर्शिता।—दण्डी, काव्याद० २, ३०९
२. अपह्नुतिरपह्नुत्य किञ्चिदन्यार्थदर्शनम्।—वही, २,३०४
३. द्रष्टव्य, काव्यादर्श की कुसुमप्रतिमा-टीका पृ० २३३

आचार्य कुन्तक भी तत्त्वतः अपह्नुति को सादृश्यमूलक अलङ्कार ही मानते है। उन्होने वर्ण्य वस्तु के स्वरूप का अप्रस्तुत रूपार्पण के लिए अपह्नव प्रस्तुत अलङ्कार का लक्षण माना है।[1] किन्तु, कुन्तक ने उत्प्रेक्षा को अपह्नुति का प्राण मानकर उसमे सम्भावना की अनिवार्य स्थिति स्वीकार की है।[2] जयदेव ने अपह्नुति-लक्षण मे अतथ्य आरोप शब्द का प्रयोग किया।[3] अतथ्य से तात्पर्य तद्भिन्नमात्र का है। विद्याधर, विद्यानाथ, अप्पय्य दीक्षित, जगन्नाथ, नरसिंह कवि, विश्वेश्वर पण्डित आदि ने भी आरोप शब्द का प्रयोग अपह्नुति की परिभाषा मे किया है। वर्ण्य का अपह्नवपूर्वक अन्य का स्थापन या वर्णनीय के स्वरूप का निषेध कर अन्य रूप का अर्पण अपह्नुति का सर्वसम्मत लक्षण है।

आचार्य केशव दास ने मन की बात छिपाकर कहने मे अपह्नुति का सद्भाव माना है। अपह्नव की धारणा को उन्होने कुछ अस्पष्ट कर दिया। रघुनाथ कवि सच्ची बात छिपाकर झूठी बात का आरोप अपह्नुति का लक्षण मानते हैं। दास सच्चे धर्म को छिपाकर अन्य धर्म की (झूठे या अर्धसत्य धर्म की) स्थापना को अपह्नुति का लक्षण मानते हैं। गोकुल के अनुसार सत्य को झूठ और झूठ को सत्य बना कर कहना अपह्नुति है। स्पष्टतः, रीतिकाल में परम्परा का ही प्रकारान्तर से अनुमोदन हुआ है।

आचार्यों की अपह्नुतिविषयक मान्यता का सार निम्नलिखित है—

(क) अपह्नुति मे प्रस्तुत का निषेध तथा अप्रस्तुत की प्रतीति या उसका विधान होता है।

(ख) इसमे वर्णनीय का निषेध कर किसी अन्य का (उपमान भिन्न का) अवस्थापन भी हो सकता है।

(ग) वर्ण्य का निषेध कर प्रकारान्तर से उसी (वर्ण्य की ही) की प्रतीति मे अपह्नुति नही होती, वैसे स्थल मे रूपक होता है। अत. उपमेयतावच्छेदक और उपमानतावच्छेदक की असामानाधिकरण्येन प्रतीति अपह्नुति मे आवश्यक है।

---

१. अन्यदर्पयतु रूप वर्णनीयस्य वस्तुन ।
स्वरूपापह्नवो यस्यामसावपह्नुतिर्मता ॥
—कुन्तक, वक्रोक्तिजी० ३,४३

२. पूर्ववदुत्प्रेक्षामूलत्वमेव जीवितमस्याः ॥—वही, वृत्ति, पृ० ४७५

३. जयदेव, चन्द्रालोक, ५,२४

अपह्नुति के भेदोपभेद

अपह्नुति के अनेक भेदोपभेदो की कल्पना तत्तद् आधारो पर की गयी है। अपह्नुति के स्वरूप के दो प्रमुख विधायक-तत्त्वो—अपह्नव तथा अन्यारोप—के पौर्वापर्य के आधार पर अपह्नुति के दो भेद कल्पित हुए—(क) निषेधपूर्वक आरोप तथा (ख) आरोपपूर्वक निषेध। कही निषेधवाक्य पहले रहता है और विधिवाक्य पीछे, पर इसके विपरीत, कही विधि-वाक्य ही पहले रह सकता है और निषेध-वाक्य पीछे। इस प्रकार उक्त दो भेद अपह्नुति के हो जाते है। विधिवाक्य और निषेधवाक्य जहाँ अलग-अलग न रहे और छल, व्याज, नञ् आदि के प्रयोग के द्वारा एक ही वाक्य से अपह्नव का तत्त्व निर्दिष्ट होता हो और केवल आरोप का विधान होता हो, वह अपह्नुति का तीसरा भेद है।[१]

शोभाकर ने अपह्नव के शाब्द एव आर्थ होने के आधार पर अपह्नुति के दो भेद स्वीकार किये है। उनके अनुसार जहाँ नञ् आदि के द्वारा साक्षात् निषेध होता है, वहाँ अपह्नुति शाब्दी होती है और जहाँ छल, व्याज आदि शब्दों का प्रयोग कर प्रकारान्तर से निषेध होता है, वहाँ आर्थी अपह्नुति होती है।[२]

हम देख चुके है कि अपह्नुति की सादृश्यमूलकता तथा सादृश्येतरमूलकता को लेकर दो मत रहे है। दण्डी ने उसके दोनो स्वरूपो को स्वीकृति दी थी—एक को उपमा-भेद के रूप मे तथा दूसरे को शुद्ध अपह्नुति के रूप मे। भोज ने इस आधार पर अपह्नुति के दो भेद स्वीकार किये—औपम्यवती और अनौपम्या। सादृश्य के वाच्य तथा प्रतीयमान होने के आधार पर अपह्नुति के पुन दो उपभेद माने गये। अनौपम्या के दो उपभेद कल्पित हुए—पूर्व एव अपूर्व।[३]

जयदेव ने अपह्नुति के पर्यस्तापह्नुति, भ्रान्तापह्नुति, छेकापह्नुति तथा कैतवापह्नुति भेदो का निरूपण किया।[४] पण्डितराज जनन्नाथ ने पर्यस्ता-

---

१. द्रष्टव्य, रुय्यक, अलङ्कार-सर्वस्व, पृ० ४६

२. द्रष्टव्य, शोभाकरकृत अलङ्कार-रत्नाकर, पृ० ४०

३. द्रष्टव्य, भोजकृत सरस्वतीकण्ठाभरण ४, ४१-४३

४. द्रष्टव्य, जयदेवकृत चन्द्रालोक ५, २५-२६

पह्नुति को अपह्नुति का भेद नही मानकर रूपक माना है।[१] किन्तु, पर्यस्तापह्नुति मे निषेधपूर्वक आरोप होने के कारण उसे अपह्नुति-भेद मानना ही समीचीन जान पडता है।

विश्वनाथ ने अपह्नवपूर्वक आरोप तथा आरोपपूर्वक अपह्नव, इन दो भेदों को स्वीकार कर श्लेषमूला तथा अश्लेषमूला अपह्नुतियो की भी कल्पना की।[२] अप्पय्य दीक्षित ने 'कुवलयानन्द' मे तो जयदेव की मान्यता ही स्वीकार की, पर 'चित्रमीमांसा' मे वाक्य के आधार पर अपह्नुति की वाक्यभेदवती तथा वाक्याभेदवती विधाओ की भी कल्पना की है।[३]

पण्डितराज ने अपह्नुति के सावयव एव निरवयव-भेद भी माने है।[४]

इस भेद-विवेचन से स्पष्ट है कि अपह्नुति के कुछ भेदो की कल्पना उसके मूल मे निहित सादृश्य तथा सादृश्येतर-सम्बन्ध के आधार पर, कुछ की उसके विधायक-तत्त्व अपह्नव और आरोप के आधार पर; कुछ की निषेध-वाक्य एव आरोप वाक्य की एकता-अनेकता के आधार पर तथा कुछ की अन्य अलङ्कारो के साथ अपह्नुति के मेल के आधार पर की गयी है। औपम्यवती और अनौपम्यापह्नुति क्रमशः सादृश्य तथा सादृश्येत्तर-सम्बन्ध पर आधृत है। अपह्नवपूर्वक आरोप तथा आरोपपूर्वोऽपह्नव भेद अपह्नव और आरोप के पौर्वापर्य-क्रम पर अवलम्बित है। वाक्यभेदवती तथा अनेक वाक्यगा अपह्नुति की कल्पना निषेध तथा आरोप वाक्य की एकता-अनेकता पर आश्रित है। भ्रान्तापह्नुति, श्लेषमूलापह्नुति आदि क्रमशः भ्रान्तिमान्, श्लेष आदि के साथ अपह्नुति की अवस्थिति की कल्पना के फल है।

निषेध तथा आरोप के साक्षात् या वाच्य तथा असाक्षात् या गम्य होने के आधार पर भी वाच्या तथा प्रतीयमाना अपह्नुतियो की कल्पना की गयी है। पर्यस्तापह्नुति, छेकापह्नुति, हेत्वपह्नुति, कैतवापह्नुति आदि अपह्नुति-भेदो की कल्पना का आधार अपह्नव एव आरोप की उक्तियो की विचित्रता है।

परिणाम

परिणाम अलङ्कार की उद्भावना बहुत पीछे चल कर हुई है, पर उद्भूत होने के उपरान्त यह अलङ्कार प्रायः सर्वसम्मत रहा है। रुय्यक के 'अलङ्कार-

१. जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ४४२-४३
२. द्रष्टव्य, विश्वनाथ का साहित्यदर्पण पृ० ६४४-४६
३. द्रष्टव्य, अप्परयदीक्षित, चित्रमीमांसा, पृ० ६९
४. द्रष्टव्य, जगन्नाथ, रसगङ्गाधर पृ० ४३९

सूत्र' में सर्वप्रथम परिणाम का स्वरूप-निरूपण मिलता है। रुय्यक के पूर्व रूपक के स्वरूप मे ही परिणाम समाविष्ट था। 'काव्यप्रकाश' के कुछ टीकाकारो ने इस बात का सङ्केत दिया है कि मम्मट परिणाम को रूपक का ही अङ्ग मानते थे।[1] मम्मट की रचना मे रूपक के अङ्ग के रूप मे परिणाम का स्पष्ट विवेचन नहीं मिलता। टीकाकारो की मान्यता का आधार रूपक और परिणाम का स्वरूप-साम्य है। इसमे सन्देह नही कि परिणाम के स्वरूप की सम्भावना रूपक के व्यापक स्वरूप मे ही निहित थी। प्रस्तुत पर अप्रस्तुत के आरोप को सामान्य रूप से प्राचीन आचार्यो ने रूपक की सज्ञा दी थी। परिणाम मे भी प्रस्तुत पर अप्रस्तुत का आरोप होता है। इस दृष्टि से परिणाम रूपक के व्यापक रूप मे व्याप्य है। रूपक से परिणाम के स्वतन्त्र अस्तित्व की स्थापना के लिए एक विभाजक तत्त्व की कल्पना की गयी है। रूपक जहाँ प्रकृत पर अप्रकृत के आरोप के बाद विरत हो जाता है, वहाँ परिणाम प्रकृत पर अप्रकृत का आरोप तो करता ही है, आरोप्यमान का प्रकृतार्थ मे उपयोग भी दिखाता है। इस प्रकार प्रकृत के व्यवहार पर अप्रकृत के व्यवहार का भी आरोप हो जाता है और अप्रकृत प्रकृतोपयोगी हो जाता है। स्पष्ट है कि परिणाम की रूप-रचना मे रूपक और समासोक्ति के तत्त्वो ने योग दिया है; पर साथ ही अप्रकृत की प्रकृतोपयोगिता की धारणा मिलाकर रुय्यक ने इस नवीन अलङ्कार की उद्भावना की है।

रुय्यक ने परिणाम को परिभाषित करते हुए कहा है कि जहाँ आरोप्यमान की प्रकृतार्थ मे उपयोगिता वर्णित हो, वहाँ परिणाम अलङ्कार होता है।[2] परिणाम का रूपक से भेद बताते हुए रुय्यक ने वृत्ति मे लिखा है कि रूपक मे आरोप्यमान के प्रकृतोपयोग का प्रश्न नही, अत: उसमे अप्रकृत प्रकृत पर आरोपित होकर उसका (प्रकृत का) उपरञ्जन-मात्र कर विरत हो जाता है; पर परिणाम मे प्रस्तुत पर आरोपित अप्रस्तुत प्रस्तुत का उपरञ्जन तो करता ही है, साथ ही वह प्रकृत की तरह उपयोगी भी होता है। परिणाम नाम की सार्थकता इसीमें है कि इसमे प्रकृत या उपमेय अप्रकृत या उपमान के रूप मे

१. द्रष्टव्य, काव्यप्रकाश, नागेश्वरी-टीका, पृ० २४०

२. आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः।

—रुय्यक, अलं० सर्वस्व, सूत्र सं० १६

परिणत हो जाता है।[१] रूपक मे प्रकृत के केवल रूप पर अप्रकृत के रूप का समारोप होता है, पर परिणाम मे रूप के साथ व्यवहार का भी समारोप हो जाता है । इसीलिए परिणाम को 'व्यवहारान्त आरोप' कहा गया है।[२] और भी स्पष्ट करने के लिए कहे, तो 'अलङ्कार-सूत्र' के टीकाकार जयरथ के शब्दो में कह सकते है कि परिणाम मे प्रकृत या उपमेय अप्रकृत या उपमान के व्यवहार से युक्त हो जाता है।[३]

परिणाम का जो लक्षण रुय्यक ने दिया है, उस लक्षण-सूत्र की व्याख्या के क्रम मे टीकाकारों ने दो प्रकार की मान्यताएँ व्यक्त की हैं। कुछ टीकाकारो के अनुसार आरोप्यमाण या अप्रकृत ही प्रकृत के रूप में परिणत होकर प्रकृतार्थ में उपयोगी होता है। इस धारणा के विपरीत अन्य टीकाकारो ने यह मन्तव्य प्रकट किया है कि प्रकृत ही अप्रकृत के रूप में परिणत होकर अर्थात् अप्रकृत का व्यवहार लेकर प्रकृत कार्य मे उपयोगी होता है। उक्त दोनों मतो की पुष्टि रुय्यक के सूत्र की वृत्ति से हो जाती है। रुय्यक ने वृत्ति मे कहा है कि परिणाम में आरोप्यमाण का प्रकृत-रूप मे उपयोग होता है; अतः इसमे प्रकृत आरोप्यमाण के रूप मे परिणत होता है।[४] 'प्रकृतात्मतयारोप्यमाण-स्योपयोग' इस वाक्याश का सहारा लेकर यह मत व्यक्त किया गया है कि आरोप्यमाण या अप्रकृत ही प्रकृत के रूप मे परिणत होकर प्रकृत-कार्य मे उपयोगी होता है। पर, 'प्रकृतमारोप्यमाणरूपत्वेन परिणमति' इस वाक्य-खण्ड में स्पष्टतः कहा गया है कि प्रकृत ही अप्रकृत के रूप मे परिणत होता है। प्रकृत का परिणाम मानने वाले इस वाक्याश को प्रमाण के रूप मे उद्धृत करते है।

परवर्ती आचार्यो में विद्याधर, शोभाकर आदि ने प्रकृत की अप्रकृत के रूप में परिणति को परिणाम का लक्षण माना है, पर विश्वनाथ, विद्यानाथ, अप्पय्यदीक्षित तथा पण्डितराज जगन्नाथ ने परिणाम मे अप्रकृत का प्रकृत के रूप में परिणाम स्वीकार किया है।

---

१. आरोप्यमाणं रूपके प्रकृतोपयोगित्वाभावात् प्रकृतोपरञ्जकत्वेनैव केवलेनान्वयं भजते। परिणामे तु प्रकृतात्मतयारोप्यमाणस्योपयोग इति प्रकृतमारोप्यमाणरूपत्वेन परिणमति।—रुय्यक, अलं० सर्व० पृ० ३८

२. अतो व्यवहारान्तमारोपः ...।—अल० सर्वस्व, सजीवनी-टीका पृ० ५८

३. प्रकृतमप्रकृतव्यवहारविशिष्टतयावतिष्ठते।

—अलं० सर्वस्व, विमर्शिनी-टीका पृ० ५१

४. परिणामे तु प्रकृतात्मतयारोप्यमाणस्योपयोग इति प्रकृतमारोप्यमाण-रूपत्वेन परिणमति।—रुय्यक, अलं० सर्वस्व, पृ० ३८

उत्तरकाल मे परिणाम की परिभाषा मे विकास की स्थितियाँ बहुत कम आयी। प्रकृत तथा अप्रकृत के अन्य रूप मे परिणत होने का प्रश्न लेकर जो दो मत चल पडे थे, उन्ही को लेकर परिणाम-परिभाषा की दो धाराएँ प्रचलित हुई। एक में विद्याधर, शोभाकर आदि आचाय आते है और दूसरी मे विश्वनाथ, विद्यानाथ, जयदेव अप्पय्य दीक्षित एव जगन्नाथ आदि।

परिणाम, विषयक उक्त दो मान्यताएँ आपातत परस्पर विरोधिनी लगती है; किन्तु स्पष्टत दोनो का स्रोत एक ही है। दोनो रुय्यक की मान्यता की पृथक्-पृथक् व्याख्या के परिणाम है। एक उत्स के दो स्रोत होने के कारण दोनो मे समन्वय-बिन्दु का निर्धारण सम्भव है। परिणाम का यह लक्षण मानने मे तो सभी एकमत है कि इसमे प्रस्तुत पर अप्रस्तुत के रूप एवं व्यवहार का आरोप होता है। जब प्रस्तुत अप्रस्तुत के व्यवहार से युक्त होता है तो वह एक प्रकार से अप्रस्तुत के रूप मे परिणत हो ही जाता है, भले ही वह अपने स्वरूप का उत्सर्ग नही करता हो। अप्रस्तुत के प्रकृत-कार्य मे उपयोगी होने की धारणा भी परिणाम मे सर्वसम्मत है। प्रकृत-कार्य से साक्षात् सम्बन्ध प्रस्तुत का ही होता है। अप्रस्तुत प्रकृतार्थ मे तभी उपयोगी हो सकता है, जब वह प्रस्तुत के रूप मे परिणत हो। अत, परिणाम में अप्रस्तुत प्रस्तुतात्मना परिणत होकर प्रकृत कार्य मे उपयोगी होता है। निष्कर्ष यह कि प्रस्तुत पर अप्रस्तुत के व्यापार-समारोप की दृष्टि से प्रस्तुत का अप्रस्तुत के रूप मे परिणत होने का सिद्धान्त भी सङ्गत है और अप्रस्तुत की प्रकृतार्थोपयोगिता की दृष्टि से अप्रस्तुत के प्रस्तुत-रूप मे परिणाम का मत भी समीचीन है।

इस प्रकार परिणाम के स्वरूप के दो अपरिहार्य विधायक है—

(क) प्रस्तुत पर अप्रस्तुत का व्यवहारान्त समारोप अर्थात् अप्रस्तुत के रूप एव व्यापार का आरोप और (ख) अप्रस्तुत का प्रस्तुतात्मना परिणत होकर प्रकृत कार्य मे उपयोगी होना।

हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यो ने जयदेव एवं अप्पय्य दीक्षित की धारणा का अनुसरण करते हुए अप्रकृत का प्रकृत के रूप मे परिणत होकर प्रकृतोपयोगी होना परिणाम का लक्षण माना है। याकूब ने परिणाम का सम्बन्ध नायिका-भेद से जोडा है;[१] पर यह विशेष महत्त्वपूर्ण कल्पना नही है।

१. करै काज परिनाम, उपमेय जो उपमान ह्वै।
सो परकीया वाम करै केलि परपुरुष सो॥
—याकूब खाँ, रसभूषण, पृ० ७

परिणाम-विषयक परम्परागत धारणा का ही अनुमोदन हिन्दी अलङ्कार-शास्त्र मे हुआ है ।

व्यतिरेक

व्यतिरेक का स्वरूप-निरूपण सर्वप्रथम भामह के 'काव्यादर्श' मे मिलता है। तबसे प्राय सभी आचार्यो ने व्यतिरेक की सत्ता स्वीकार कर उसका विवेचन किया है। भामह ने उपमान से उपमेय का आधिक्य-वर्णन व्यतिरेक का लक्षण माना था।[1] सामान्यत उपमेय की अपेक्षा उपमान मे गुणाधिक्य की धारणा निहित रहती है। उपमान की कल्पना अर्थात् अप्रस्तुत-योजना का उद्देश्य ही प्रस्तुत का उपरञ्जन है। प्रस्तुत का उपरञ्जक होने के कारण अप्रस्तुत मे गुणाधिक्य की पूर्वमान्यता अन्तर्निहित रहती है। उपमा आदि भेदाभेद-प्रधान अलङ्कार मे अप्रस्तुत सादृश्य से प्रस्तुत का उपरञ्जन करता है। रूपक आदि अभेद-प्रधान अलङ्कार मे वह प्रस्तुत पर आरोपित होकर अभेद-प्रतीति के द्वारा प्रस्तुत का उपरञ्जन करता है, पर व्यतिरेक मे वह भेद-प्रतीति से प्रकृत का उपरञ्जन करता है। व्यतिरेक का उपमा, रूपक आदि से तात्विक भेद यह है कि जहाँ उपमा भेदाभेदप्रधान तथा रूपक अभेद-प्रधान अलङ्कार है, वहाँ व्यतिरेक भेद-प्रधान अलङ्कार है।

यह प्रश्न किया जा सकता है कि व्यतिरेक मे जब उपमान और उपमेय के बीच सादृश्य भेद-प्रधान रहता है तो उपमान से उपमेय का उपरञ्जन कैसे होता है ? उपरञ्जक और उपरञ्ज्य मे या तो अभेद रहना चाहिए या भेदाभेद। इस प्रश्न का उत्तर सरल है। व्यतिरेक मे उपमेय और उपमान के सादृश्य का निषेध कर जो दोनो के बीच भेद-कथन होता है, वह कथन स्वय ही दोनो के बीच सादृश्य-प्रतीति के लिए अलम् है। निषेध प्राप्त का ही होता है, अप्राप्त का नही। अत, सादृश्य का निषेध सादृश्य के प्राप्त होने का भी प्रमाण है। दण्डी ने व्यतिरेक की परिभाषा मे इस तथ्य का सङ्केत दिया है कि जब उपमान और उपमेय के बीच सादृश्य गम्य या वाच्य रहता है, तभी दोनो के बीच भेद-कथन व्यतिरेक का स्वरूप-विधान करता है।[2]

---

१. उपमानवतोऽर्थस्य यद्विशेषनिदर्शनम् ।
व्यतिरेकं तमिच्छन्ति विशेषापादनाद्यथा ॥—भामह, काव्याल० २, ७५

२. शब्दोपात्ते प्रतीते वा सादृश्ये वस्तुनोर्द्वयोः ।
तत्र यद्भेदकथनं व्यतिरेकः स कथ्यते ॥—दण्डी, काव्यादर्श २, १८०

भामह के व्यतिरेक का स्वरूप अपेक्षाकृत सीमित था। उसमे पीछे चल कर थोडा विस्तार हो गया है। भामह ने उपमान से उपमेय के आधिक्य-कथन-मात्र को व्यतिरेक का लक्षण माना था। उनकी दृष्टि मे इस अलङ्कार का चमत्कार इस बात मे होगा कि इसमे अप्रस्तुत के उत्कृष्ट-गुण-विशिष्ट होने की सामान्य धारणा को मानने पर भी कवि उपमेय को उससे भी बढकर उत्कर्षवान् बताकर उसकी प्रभविष्णुता बढा देता है।

आचार्य दण्डी ने भामह की व्यतिरेक-विषयक मूल धारणा से सहमत होने पर भी लक्षण मे व्यतिरेक को किञ्चित् विस्तृत रूप दिया। उन्होने दो वस्तुओ मे (प्रस्तुत एव अप्रस्तुत मे) सादृश्य के वाच्य या प्रतीयमान होने पर दोनो मे भेद-कथन व्यतिरेक का लक्षण माना। यह भेद-कथन तीन रूपो मे हो सकता है :—

१. दोनो मे विद्यमान सादृश्य के निषेध के रूप मे,

२ उपमान से उपमेय के उत्कर्ष-वर्णन के रूप मे तथा

३. उपमेय से उपमान के उत्कर्ष-वर्णन के रूप मे।

इस प्रकार लक्षण मे व्यतिरेक के स्वरूप को विस्तार देने पर भी दण्डी ने उसके उदाहरण मे उपमान से उपमेय का उत्कर्ष-वर्णन मात्र दिखाया है। यह सम्भवत परम्परा के दुर्निवार प्रभाव का अनिवार्य परिणाम था। दण्डी के व्यतिरेक के लक्षण मे 'प्रस्थान' है तो उदाहरण मे 'अनुगमन'।

परवर्ती काल मे व्यतिरेक के सम्बन्ध में दो प्रकार की मान्यताएँ प्राप्त होती है। कुछ आचार्य अप्रस्तुत से प्रस्तुत के उत्कर्ष-वर्णन-मात्र को व्यतिरेक-लक्षण मानते है। यह मान्यता इस युक्ति पर आद्धृत है कि उपमान मे तो उपमेय की अपेक्षा गुणोत्कर्ष की धारणा अन्तर्निहित ही है, फिर उपमेय की अपेक्षा उपमान के उत्कर्ष-वर्णन मे क्या चमत्कार होगा ? पर, कुछ आचार्यों ने दण्डी के मत को स्वीकार करते हुए उपमान की अपेक्षा उपमेय के गुणाधिक्य-वर्णन के साथ उपमेय से उपमान के गुणाधिक्य-वर्णन मे भी व्यतिरेक अलङ्कार का सद्भाव माना है। इन मतो के औचित्य की परीक्षा हम यथास्थान करेगे। एक वस्तु की अपेक्षा दूसरी वस्तु के गुणोत्कर्ष-वर्णन की धारणा के विपरीत एक वस्तु से दूसरी वस्तु के अपकर्ष-वर्णन को भी परवर्ती कुछ आचार्यों ने व्यतिरेक-लक्षण मे समाविष्ट कर लिया है। यह कोई नवीन धारणा नही है। एक का अन्य की अपेक्षा गुणोत्कर्ष-वर्णन-आक्षेप से अन्य का अपकर्ष सूचित करता ही है। एक का सापेक्ष उत्कर्ष-वर्णन कर आक्षेप से अन्य का अपकर्ष सूचित करने तथा एक के आपेक्षिक अपकर्ष-

वर्णन से अन्य का उत्कर्ष सूचित करने मे वर्णन-पद्धति-मात्र का भेद है—दोनो का फल समान है ।

आचार्य उद्भट ने व्यतिरेक को परिभाषित करते हुए कहा है कि 'उपमान और उपमेय का विशेषापादन अर्थात् उत्कर्ष-वर्णन व्यतिरेक है ।'[१] तिलक ने 'विवृति' मे इस कथन की व्याख्या करते हुए उद्भट की व्यतिरेक-विषयक मान्यता को भामह की तद्विषयक मान्यता से अभिन्न सिद्ध करने का आयास किया है । उनके अनुसार उपमेय का उत्कर्ष तथा उपमान का अपकर्ष उद्भट-सम्मत व्यतिरेक-लक्षण है ।[२] तिलक की यह व्याख्या पूर्वाग्रहपूर्ण जान पडती है । 'उपमानोपमेययो. विशेषापादनम्', इस कथन से 'उपमान का अपकर्ष और उपमेय का उत्कर्ष' अर्थ निकालना कल्पना-विलास-सा लगता है, जिस पर भामह की मान्यता की छाप स्पष्ट है । इन्दुराज ने लघुवृत्ति-टीका मे उद्भट के उक्त कथन का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि 'उसमे (व्यतिरेक मे) उपमान से उपमेय का अथवा उपमेय से उपमान का आधिक्य वर्णित होता है; इसलिए उसका व्यतिरेक व्यपदेश है ।'[३] स्पष्टत: उद्भट की व्यतिरेक-धारणा पर आचार्य दण्डी का पुष्कल प्रभाव है ।

वामन ने व्यतिरेक का केवल एक रूप—'उपमान से उपमेय का गुणाधिक्य-वर्णन-रूप'—स्वीकार किया है ।[४] रुद्रट ने स्पष्ट शब्दों मे व्यतिरेक के दो रूपो का उल्लेख किया है । एकत्र उन्होने व्यतिरेक में उपमेय के गुण के प्रतिपन्थी दोष का उपमान में उल्लेख वाञ्छनीय माना है और अपरत्र उसमें उपमान के गुण के प्रतिपन्थी दोष का उपमेय मे निर्देश अपेक्षित बताया है ।[५] पहला उपमेयाधिक्य-वर्णन-रूप व्यतिरेक है और दूसरा उपमानाधिक्य-

---

१. विशेषापादनं यत्स्यादुपमानोपमेययोः ।
—उद्भट, का० अ० सा० सं० २,१२

२. स च उपमेयोत्कर्षोपमाननिकर्षरूपव्यतिरेकनिमित्तस्योपादाने उत्कर्षनिकर्षोभयनिमित्ताना पर्यायेणानुपादाने च भवतीति चतुर्भेदः ।
—वही, विवृति, पृ० २५

३. तत्र ह्युपमानादुपमेयस्योपमेयादुपमानस्य वा केनचिद् विशेषणातिरेक आधिक्य ख्याप्यते तस्माद् व्यतिरेकः ।—लघुवृत्ति, पृ० ३५

४. उपमेयस्य गुणातिरेकित्व व्यतिरेकः ।—वामन का० अ० सू० ४,३,२२
तथा वृत्ति—उपमेयस्य गुणातिरेकित्वं गुणाधिक्यं यद् अर्थादुपमानात् स व्यतिरेकः ।

५. यो गुण उपमेये स्यात् तत्प्रतिपन्थी च दोष उपमाने ।
× × × ×
यो गुण उपमाने वा तत्प्रतिपन्था च दोष उपमेये ।
—रुद्रट, काव्यालं० ७,८६-८६

तुलना मे कवि का उद्देश्य उपमेय का उत्कर्ष-साधन रहता है। यह उद्देश्य उपमेय के आधिक्य-वर्णन मे प्रत्यक्षत सिद्ध होता है, पर उपमान का उत्कर्ष तथा उपमेय की उससे हीनता बताकर भी कवि प्रकारान्तर से उपमेय का गुणोत्कर्ष-साधन कर लेता है। यह कवि की उक्ति की विलक्षणता होती है कि वह शब्दत. उपमेय से उपमान को उत्कृष्ट कहकर या उपमेय को उपमान से हीन कहकर भी उपमेय का गुणोत्कर्ष प्रकारान्तर से सिद्ध कर लेता है। व्यतिरेक के इस रूप मे उपमेय की हीनता शाब्द होती है तथा उसका उत्कर्ष आक्षिप्त। वर्ण्य को प्रत्यक्षत हीन कहकर भी उसके उत्कर्ष-साधन की चमत्कारपूर्ण उक्ति मे अलङ्कारत्व मानना उचित ही है। इस प्रकार उपमान और उपमेय का सादृश्य बताकर सादृश्य का निषेध, उपमान से उपमेय का आधिक्य वर्णन; उपमेय से उपमान का आधिक्य-वर्णन, उपमान से उपमेय की हीनता का वर्णन तथा उपमेय से उपमान की हीनता का वर्णन—ये व्यतिरेक के स्वरूप है।

व्यतिरेक-भेद

आचार्य दण्डी ने व्यतिरेक के शब्दोपात्त तथा प्रतीयमान भेदों की कल्पना कर श्लेष तथा अश्लेष के आधार पर भी उसके भेदोपभेद स्वीकार किये।[१] परवर्ती काल मे व्यतिरेक की भेद-कल्पना के ये आधार स्वीकृत रहे है। उपमान और उपमेय मे से एक के उत्कर्ष तथा दूसरे के अपकर्ष के कथित तथा अकथित होने के आधार पर भी व्यतिरेक के भेदोपभेदो की कल्पना हुई है। भोज ने व्यतिरेक के मुख्य छह भेद माने है और उनके अनेक उपभेदो की कल्पना की है।[२] विश्वनाथ ने अपने पूर्ववर्ती सभी आचार्यो के व्यतिरेक-विभाग के आधारो को समन्वित रूप से स्वीकार कर व्यतिरेक के अडतालीस भेद किये है।[3] विश्वनाथ के बाद प्रस्तुत अलङ्कार के नवीन भेदों की कल्पना

१. दण्डी के अनुसार व्यतिरेक के—एकव्यतिरेक, उभयव्यतिरेक, सश्लेष-व्यतिरेक, साक्षेपव्यतिरेक, सहेतुकव्यतिरेक, प्रतीयमानसादृश्यव्यतिरेक शाब्दसादृश्यसदृशव्यतिरेक, प्रतीयमानसादृश्यसदृशव्यतिरेक तथा सजाति-व्यतिरेक भेद होते है। —द्रष्टव्य, काव्यादर्श २, १८०-९८

२. द्रष्टव्य, भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण, ३,३३-१०२

३. व्यतिरेक एक उक्ते हेतौ नोक्ते स च त्रिधा।
चतुर्विधोऽपि साम्यस्य बोधनाच्छब्दतोऽर्थत ॥
आक्षेपाच्च द्वादशधा श्लेषेऽपीति त्रिरष्टधा।
प्रत्येकं स्यान्मिलित्वाष्टचत्वारिंशद्विधः पुनः ॥
—विश्वनाथ, साहित्यद० १०,७१

नही हुई है। विश्वनाथ ने आचार्य मम्मट के व्यतिरेक-भेदो को भी स्वीकार किया है। मम्मट केवल उपमेय के आधिक्य-वर्णन मे व्यतिरेक का सद्भाव मानते थे। उन्होने उसके चौबीस भेद किये थे। वे भेद निम्नलिखित है—

(१) जिसमे उपमेय के उत्कर्ष एव उपमान के अपकर्ष का हेतु उक्त हो। हेतु के अनुक्त होने के तीन प्रकार—उत्कर्ष के हेतु का अनुक्त होना, अपकर्ष के हेतु का अनुक्त होना, तथा दोनो का अनुक्त होना—के आधार पर अनुक्त निमित्त के तीन भेद। ये चारो सादृश्य के शाब्द, आर्थ तथा आक्षिप्त होने के आधार पर तीन-तीन प्रकार के हो जाते है। पुन:, श्लिष्ट तथा अश्लिष्ट-भेद से ये बारह प्रकार के व्यतिरेक चौबीस प्रकार के हो जाते है। विश्वनाथ ने—मम्मट के द्वारा कल्पित व्यतिरेक के उक्त चौबीस भेदो को स्वीकार किया है। वे उपमान के आधिक्य-वर्णन मे भी व्यतिरेक मानते थे। अत., उपमानाधिक्य-रूप व्यतिरेक के भी उक्त आधार पर ही चौबीस भेद उन्होने माने है। इस प्रकार उनके अनुसार उपमेयाधिक्य-रूप व्यतिरेक तथा उपमानाधिक्य-रूप व्यतिरेक के चौबीस-चौबीस भेद हो जाते है। नीचे की तालिका मे व्यतिरेक के भेदोपभेद स्पष्ट किये जा सकते है—

व्यतिरेक— [उक्तहेतु (१) / अनुक्त हेतु → { अनुक्तउत्कर्ष हेतु (२) / अनुक्तापकर्ष हेतु (३) / अनुक्त उभय हेतु (४) }]

{ शाब्द सादृश्य (४) / आर्थ सादृश्य (४) / आक्षिप्त सादृश्य (४) = १२ }

{ श्लिष्ट (१२) / अश्लिष्ट (१२) = २४ }

{ उपमेयाधिक्य (२४) / उपमानाधिक्य (२४) = ४८ }

दृष्टान्त

दृष्टान्त अलङ्कार का निरूपण सर्वप्रथम उद्भट ने किया। उन्होने इसे काव्य दृष्टान्त व्यपदेश दिया था। दृष्टान्त के साथ काव्य शब्द के प्रयोग का उद्देश्य न्याय आदि में प्रचलित दृष्टान्त से दृष्टान्त अलङ्कार की धारणा का भेद-निरूपण था। उद्भट के परवर्ती आचार्यो मे से वामन को छोड, प्राय: सभी आचार्यो ने दृष्टान्त का अस्तित्व स्वीकार कर उसका लक्षण-निरूपण किया है। पर उन आचार्यो ने नाम के साथ काव्य का प्रयोग अनावश्यक समझ कर केवल दृष्टान्त नाम का प्रयोग किया है। वस्तुत:, अलङ्कार के नाम के साथ काव्य शब्द का उल्लेख आवश्यक नही है। अलङ्कार का क्षेत्र केवल काव्यात्मक उक्ति है। अत:, काव्य शब्द का प्रयोग न करने पर भी शास्त्रीय

दृष्टान्त तक दृष्टान्त अलङ्कार की अतिव्याप्ति की प्राप्ति नही होती और अप्राप्त अतिव्यप्ति के निषेध के लिए अलङ्कार की संज्ञा के साथ अतिरिक्त शब्द-प्रयोग अनावश्यक है।

आचार्य उद्भट ने दृष्टान्त अलङ्कार का मूलाधार प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत का बिम्बप्रतिबिम्ब-सम्बन्ध माना था। दृष्टन्त की परिभाषा मे उन्होने कहा था कि जहाँ इष्ट अर्थ अर्थात् प्रस्तुत के प्रतिबिम्ब का स्पष्ट निदर्शन हो, वहाँ दृष्टान्त अलङ्कार होता है। बिम्ब का यह प्रतिबिम्ब-निदर्शन 'यथा', 'इव' आदि सादृश्यवाचक शब्दों से रहित होता है।[१] इस अलङ्कार मे धर्मी और धर्म का पूर्ण चित्र बिम्ब बन कर उभडता है और कवि अन्य प्रतिविम्ब से उसकी एकता का बोध कराना चाहता है। इस प्रकार बिम्बप्रतिबिम्ब-भाव धर्म तथा धर्मी दोनों का हो सकता है। इसमें अप्रस्तुत की योजना का उद्देश्य प्रस्तुत की स्पष्ट प्रतीति कराना है। दोनों के बीच उपमानोपमेय-भाव शाब्द नही होता, गम्य रहता है। कवि वर्ण्य का वर्णन कर उसकी स्पष्ट प्रतीति के लिए उसके समान वृत्तान्त का निदर्शन प्रस्तुत कर देता है। इसीलिए उद्भट ने इसे 'यथा', 'इव' आदि सादृश्यवाचक शब्दों से शून्य कहा है।

आचार्य रुद्रट ने दृष्टान्त-लक्षण मे 'बिम्बप्रतिबिम्ब-भाव', इस पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग न कर उसी तथ्य को शब्दान्तर से और स्पष्ट रूप मे प्रस्तुत किया है। उनकी दृष्टान्त-परिभाषा इस प्रकार है—जहाँ प्रस्तुत एव अप्रस्तुत अर्थविशेषो में से कोई अर्थविशेष जिस धर्म से युक्त होकर पहले वर्णित हो उसी के सदृश धर्म से युक्त अन्य वस्तुविशेष का न्यास किया जाय, वहाँ दृष्टान्त अलङ्कार होता है।[२] 'अर्थविशेष' शब्द के उपादान की सार्थकता अर्थान्तरन्यास से भेद-ख्यापन मे बतायी गयी है, जिसमें सामान्य और विशेष मे से एक उपमेय और दूसरा उपमान होता है। दृष्टान्त मे विशेष अर्थ ही उपमेय और उपमान होता है। उभयन्यास का सत्सामान्यत्व उसे दृष्टान्त से अलग करता है अर्थात् उभयन्यास मे दो अर्थों मे सामान्य

१. इष्टस्यार्थस्य विस्पष्टप्रतिबिम्बनिदर्शनम्।
यथेवादिपदैः शून्यं बुधैर्दृष्टान्त उच्यते॥
—उद्भट, काव्यालङ्कारसारसंग्रह, ६, १६

२. अर्थविशेषः पूर्वं यादृङ्न्यस्तो विवक्षितेतरयोः।
तादृशमन्य न्यस्येद्यत्र पुनः सोऽत्र दृष्टान्तः॥
—रुद्रट, काव्यालङ्कार, ८, ९४

विद्यमान रहता है; पर दृष्टान्त मे सामान्य विद्यमान नही रहता। यही बिम्बप्रतिबिम्ब-भाव का वस्तुप्रतिवस्तु-भाव से तात्त्विक भेद है। बिम्बप्रति-बिम्ब-भाव मे दो पदार्थों के धर्मो मे तात्त्विक अभेद न रहने पर भी अभेद का अध्यवसाय या प्रतिपत्ता को अभेद की प्रतीति होती है, जब कि वस्तुप्रतिवस्तु भाव मे तत्त्वत. अभिन्न धर्म का शब्द-भेद से दो बार उपादान होता है। पारिभाषिक शब्दावली की दुर्बोधता के सरलीकरण का आयास रुद्रट ने दृष्टान्त के लक्षण मे किया है। रुद्रट ने दृष्टान्त के दो उदाहरण दिये है। एक मे प्रस्तुत का पहले उल्लेख कर उसी के सदृश धर्म वाले अप्रस्तुत का न्यास दिखलाया गया है तथा दूसरे मे अप्रस्तुत का निर्देश कर उसके सदृश प्रस्तुत का न्यास दिखाया गया है। स्पष्टत , रुद्रट ने दृष्टान्त के दो रूप माने है—(१) प्रस्तुत का पूर्व-निर्देश कर उसके सदृश धर्म वाले अप्रस्तुत का न्यास तथा (२) अप्रस्तुत का पूर्व-निर्देश कर उसके सदृश प्रस्तुत का न्यास।

कुन्तक ने आचार्य रुद्रट की ही तरह दृष्टान्त की परिभाषा मे बिम्बप्रतिबिम्ब पद का उल्लेख न कर कहा कि जहाँ वस्तुओ के (दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक के) सादृश्य के कारण वर्ण्य वस्तु से भिन्न अन्य वस्तु का अर्थात् उपमान का प्रदर्शन होता हो, वहाँ दृष्टान्त अलङ्कार होता है।[1] स्पष्टत , यह धारणा रुद्रट आदि की दृष्टान्त-धारणा से अभिन्न है।

आचार्य मम्मट ने उद्भट की तरह दृष्टान्त-लक्षण मे प्रतिबिम्ब शब्द का प्रयोग किया। उनके अनुसार उपमान, उपमेय तथा साधारण धर्म आदि सभी का प्रतिबिम्बन अर्थात् बिम्बप्रतिबिम्ब-भाव दृष्टान्त मे अपेक्षित है। मम्मट ने दृष्टान्त सज्ञा की सार्थकता दो धर्मियो या धर्मो मे सादृश्य के कारण होने वाले अभेद-बोध मे मानी है। बिम्बप्रतिबिम्ब-भाव मे धर्म तत्त्वत: भिन्न-भिन्न रहते है पर सादृश्य के कारण अभिन्न-से प्रतीत होते है और उनका दो बार उपादान होता है। अन्त या निश्चय (दो मे अभिन्नता की निश्चयात्मक प्रतीति) के दृष्ट होने के कारण इसे दृष्टान्त कहते है।[2]

---

१. वस्तुसाम्य समाश्रित्य यदन्यस्य प्रदर्शनम्।
दृष्टान्तनामालङ्कार:··· ·॥—कुन्तक, वक्रोक्ति जी० ३, ३८

२. दृष्टान्त: पुनरेतेषां सर्वेषा प्रतिबिम्बनम्॥ तथा—एतेषा साधारण-धर्मादीना दृष्टोऽन्तो निश्चयो यत्र स दृष्टान्त:।
—मम्मट, काव्यप्र० १०,१५५ तथा उसकी वृत्ति पृ० २५२

रुय्यक की दृष्टान्त-परिभाषा मम्मट की उक्त परिभाषा से अभिन्न है। उन्होने उपमान और उपमेय के साथ साधारण धर्म का भी बिम्बप्रतिबिम्बतया निर्देश दृष्टान्त का स्वरूप माना है।[1] इस प्रकार धर्मी और धर्म, दोनो को लेकर दृष्टान्त का विधान मम्मट, रुय्यक आदि को अभीष्ट है।

परवर्ती आचार्यो ने दृष्टान्त का यही स्वरूप स्वीकार किया है। पण्डितराज जगन्नाथ ने इस तथ्य को स्पष्ट किया है कि दृष्टान्त मे धर्म के साथ धर्मी का भी दो बार उपादान होता है।[2] आचार्यो की दृष्टान्तविषयक मान्यता का निष्कर्ष निम्नलिखित है—

(क) दो वस्तुओ मे बिम्बप्रतिबिम्ब भाव दिखाना दृष्टान्त अलङ्कार है।

(ख) बिम्बप्रतिबिम्ब-भाव उपमान, उपमेय और धर्म का भी होता है।

(ग) विम्बप्रतिबिम्ब का कारण सादृश्य होता है। दूसरे शब्दो में, इसमें तत्त्वतः भिन्न धर्म के होने पर भी दोनो के सादृश्य के कारण अभेद-प्रत्यायन के लिए दो बार उपादान होता है।

(घ) साधर्म्य और वैधर्म्य, दोनो से बिम्बप्रतिबिम्ब-भाव हो सकता है।

दृष्टान्त भेद

दृष्टान्त के अधिक भेदोपभेद की कल्पना नही की गयी है। धर्म तथा धर्मी के बिम्बप्रतिबिम्ब-भाव-प्रदर्शन के आधार पर इसके दो भेद माने जा सकते है। बिम्बप्रतिबिम्ब-भाव साधर्म्य तथा वैधर्म्य, दोनों से होता है। इस प्रकार साधर्म्य और वैधर्म्य के भेद से उक्त दो भेद के चार उपभेद हो जाते है।

निदर्शना

सर्वप्रथम आचार्य भामह के 'काव्यालङ्कार' मे निदर्शना अलङ्कार का स्वरूप-निरूपण मिलता है। भामह ने इसे परिभाषित करते हुए कहा है कि 'जहाँ क्रिया के द्वारा ही यथा, इव आदि के प्रयोग के बिना विशिष्ट अर्थ का

---

१. तस्यापि बिम्बप्रतिबिम्बतया निर्देशे दृष्टान्तः। तथा—तस्यापि, न केवलमुपमानोपमेययोः। तच्छब्देन सामान्यलक्षणो धर्मः प्रत्यवमृष्टः।
—रुय्यक, अलङ्कार सर्वस्व सूत्र २६ तथा उसकी वृत्ति पृ० ७८

२. द्रष्टव्य, जगन्नाथ, रसगंगा० पृ० ५३२-३३

उपदर्शन होता है, वहाँ निदर्शना नामक अलङ्कार होता है।'[१] अभिप्राय यह कि किसी क्रिया के वर्णन से अन्य विशिष्ट अर्थ का निदर्शन निदर्शना है। उदाहरणार्थ, सूर्य का कान्तिहीन होकर अस्तोन्मुख होना अभ्युदय के बाद पतन का बोध कराता है। इसी तरह प्रभात काल मे सूर्य का उदित होना पराभव के उपरान्त अभ्युदय की सूचना देता है। ऐसे कथन मे—किसी विशेष क्रिया से विशिष्ट अर्थावबोध के कथन मे—भामह के अनुसार निदर्शना होती है।

आचार्य दण्डी ने निदर्शना को कुछ नवीन रूप मे परिभाषित किया है। उनके अनुसार किसी कार्यान्तर मे प्रवृत्त होने पर उसके अनुरूप किसी अच्छे या बुरे फल का निदर्शन निदर्शना अलङ्कार का स्वरूप है।[२] स्पष्टत, दण्डी की निदर्शना-परिभाषा मे एक कार्य से अन्य अर्थ के निदर्शन की धारणा भामह की निदर्शना-धारणा के समान है; पर दण्डी ने सत् एव असत् (अच्छे तथा बुरे) फल के निदर्शन का तत्त्व निदर्शना मे जोड दिया है। तात्त्विक दृष्टि से दण्डी की निदर्शना का स्वरूप भामह-कल्पित निदर्शना के स्वरूप से भिन्न नही। एक क्रिया से अन्य कार्य का निदर्शन निदर्शना मे दोनो आचार्यों को अभीष्ट है। एक क्रिया अपने समान उत्कृष्ट या निकृष्ट अर्थ का निदर्शन बन सकती है। भामह ने निदर्शना का जो उदाहरण दिया था, वह असत्-फलनिबन्धना निदर्शना का उदाहरण था, जिसमे अस्तोन्मुख सूर्य के निस्तेज होकर उदय के उपरान्त पतन की सूचना देने का वर्णन है। भामह की निदर्शना के सामान्य स्वरूप में सत्फल-निबन्धना की भी सम्भावना निहित थी। दण्डी ने उसके दोनो रूपों का स्पष्ट विवेचन किया। यही उनका श्रेय है।

उद्भट ने अपने पूर्ववर्ती भामह तथा दण्डी; दोनो की निदर्शना-परिभाषा को अस्वीकार कर उसे नवीन रूप मे परिभाषित किया है। उनकी मान्यता है कि 'जहाँ दो वस्तुओ का सम्बन्ध—चाहे वह उपपन्न हो या अनुपपन्न—उपमानोपमेय-भाव मे पर्यवसित होता है—वहाँ निदर्शना होती है।'[३]

---

१. क्रिययैव विशिष्टस्य तदर्थस्योपदर्शनात्।
ज्ञेया निदर्शना नाम यथेववतिभिर्विना॥—भामह, काव्यालं० ३,३

२. अर्थान्तरप्रवृत्तेन किञ्चित् तत्सदृशं फलम्।
सदसद्वा निदर्श्येत यदि तत्स्यान्निदर्शनम्॥
—दण्डी, काव्यादर्श, २,३४८

३, अभवन्वस्तुसम्बन्धो भवन्वा यत्र कल्पयेत्।
उपमानोपमेयत्व कथ्यते सा निदर्शना॥
—उद्भट, काव्याल० सारसं० ५,१८

वस्तु-सम्बन्ध अन्वय के अभाव मे अनुपपन्न होता है और अन्वय रहने पर उपपन्न। उद्भट दोनो ही स्थितियो मे सम्बन्ध के उपमा मे पर्यवसान होने पर निदर्शना अलङ्कार का सद्भाव मानते है।

वामन ने भामह की निदर्शना-धारणा को स्वीकार कर सूत्रबद्ध किया है। उनका कथन है कि 'जहाँ शुद्ध क्रिया से ही एक वस्तु विशिष्ट अर्थ से (अर्थान्तर से) अपना सम्बन्ध निदर्शित करती हो, वहाँ निदर्शना होती है।[1] इस प्रकार भामह तथा उद्भट की निदर्शना-धारणा अलग-अलग विकसित हो रही थी। भामह के अनुयायी क्रिया से एक अर्थ का विशिष्ट अर्थ से सम्बन्ध-ख्यापन निदर्शना का लक्षण मान रहे थे। दूसरी ओर उद्भट के अनुयायी दो वस्तुओ के सम्भव अथवा असम्भव सम्बन्ध का उपमानोपमेय भाव मे पर्यवसित होना उसका लक्षण मानते थे। आचार्य मम्मट ने उक्त दोनों मतो को समन्वित रूप मे स्वीकार किया। उन्होने उद्भट के निदर्शना-लक्षण को अशतः ही ग्राह्य समझा। वस्तु-सम्बन्ध के असम्भव होने-मात्र के स्थल मे दोनो के बीच उपमानोपमेय का प्रकल्पन उनके अनुसार निदर्शना का लक्षण है।[2] स्पष्टत, उन्होंने उद्भट की निदर्शना का एक ही भेद—अभवद्वस्तुसम्बन्धा भेद—स्वीकार किया है। उन्होने वामन की निदर्शना-परिभाषा को, जो भामह की मान्यता पर आधृत है, स्वीकार कर उसे निदर्शना का एक स्वीकार्य प्रकार माना है।[3] परवर्ती आचार्यों मे शोभाकर ने मम्मट के मत का अनुसरण करते हुए केवल असम्भवद्वस्तुसम्बन्धा निदर्शना का ही अस्तित्व स्वीकार किया है।[4]

आचार्य रुय्यक ने उद्भट की निदर्शना-धारणा का प्रभूत प्रभाव ग्रहण किया है। उन्होने उद्भट की 'निदर्शना-परिभाषा' मे प्रयुक्त 'उपमानोपमेयत्व' के स्थान पर 'प्रतिबिम्बकरण' शब्द का प्रयोग किया है।[5] इस प्रकार रुय्यक

---

१. क्रिययैव स्वतदर्थान्वयख्यापन निदर्शनम्।

—वामन, काव्यालं० सू० ४,३,२०

निदर्शना·········

२. अभवन्वस्तुसम्बन्ध उपमापरिकल्पकः।—मम्मट, काव्यप्र० १०, १४९

३. स्वस्वहेत्वन्वयस्योक्तिः क्रिययैव च साऽपरा।—वही, १०, १५०

४. असति सम्बन्धे निदर्शना।—शोभाकर, अलङ्कार रत्नाकर, सूत्र १८

५. सम्भवतासम्भवता वा वस्तुसम्बन्धेन गम्यमान प्रतिबिम्बकरण निदर्शना।

—रुय्यक, अलङ्कार-सूत्र स० २७

के अनुसार दो वस्तुओ का सम्भव या असम्भव सम्बन्ध जहाँ विम्बप्रतिबिम्ब की प्रतीति कराता हो, वहाँ निदर्शना अलङ्कार होता है।' बिम्बप्रतिबिम्ब मे दो वस्तुओ के बीच सादृश्य का अनुभव वाञ्छनीय होता है। इससे स्पष्ट है कि रुय्यक उद्भट की ही तरह निदर्शना को सादृश्यमूलक मानते है। विश्वनाथ ने रुय्यक की तरह वस्तु-सम्बन्ध के सम्भव होने तथा असम्भव होने पर दोनों के बीच बिम्बप्रतिबिम्ब की कल्पना को निदर्शना का स्वरूप माना है।[१] अप्पय्य दीक्षित ने निदर्शना के सम्बन्ध मे पूर्वप्रचलित प्राय: सभी मान्यताओ को स्वीकार कर उन्हे पृथक्-पृथक् निदर्शना-प्रकार के रूप मे परिभाषित किया है।[२] पण्डितराज जगन्नाथ की निदर्शना-परिभाषा रुय्यक की परिभाषा से मिलती-जुलती है।[३]

विभिन्न आचार्यो की निदर्शना-धारणा का सार निम्नलिखित है :—

(क) एक क्रिया का दूसरे विशिष्ट अर्थ के निदर्शन के रूप में वर्णन निदर्शना है। क्रिया सत् और असत्, दोनो प्रकार के अर्थो का निदर्शन हो सकती है।

(ख) दो वस्तुओं के सम्बन्ध के असम्भव होने पर उनके बीच उपमानोपमेय-भाव या बिम्बप्रतिबिम्ब-भाव की कल्पना निदर्शना है।

(ग) दो वस्तुओ के सम्भव सम्बन्ध होने पर भी उनमे उपमानोपमेय या बिम्बप्रतिबिम्ब की कल्पना मे कुछ आचार्य निदर्शना मानते है।

निदर्शना-भेद

निदर्शना के एकवाक्यगत तथा अनेक वाक्यगत होने के आधार पर क्रमश: उसके पदार्थवृत्ति या एकवाक्यगा भेद और वाक्यार्थवृत्ति या अनेकवाक्यगा भेद माने गये है। फिर माला और शृङ्खला भेद से निदर्शना के दो और भेद कल्पित हैं। साधारण धर्म की अनुगामिता (उपमानोपमेय-भाव), वस्तुप्रतिवस्तु-भाव एवं बिम्बप्रतिबिम्ब-भाव के आधार पर निदर्शना के तीन भेदो की कल्पना की गयी है। वस्तुसम्बन्ध के सम्भव तथा असम्भव होने के आधार पर निदर्शना के दो भेद किये गये है। असम्भवद्वस्तुसम्बन्धा-निदर्शना मे वस्तु-

---

१ द्रष्टव्य, विश्वनाथ, साहित्यद० १०, ७०

२. द्रष्टव्य, अप्पय्य दीक्षित, कुवलया० ५३, ५६

३. उपात्तयोरर्थयोरार्थाभेद औपम्यपर्यवसायी निदर्शना।

—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर पृ० ५३६ तुलनीय रुय्यक, अलङ्कार सू० २७

सम्बन्ध की अनुपपत्ति भाव-रूप मे भी हो सकती है और आक्षिप्त रूप में भी। इस आधार पर असम्भवद्वस्तुसम्बन्धा निदर्शना के दो भेद सम्भव है। उपमेय मे उपमान-वृत्त के असम्भव होने तथा उपमान-वृत्त मे उपमेय-वृत्त के असम्भव होने के आधार पर उनके दो-दो उपभेद माने जा सकते है।

प्रतिवस्तूपमा

आचार्य भामह ने उपमा के एक भेद के रूप मे प्रतिवस्तूपमा का स्वरूप-निरूपण किया था। पीछे चलकर प्रतिस्तूपमा का उपमा से स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकृत हुआ। आचार्य दण्डी ने भी भामह की तरह ही इसे उपमा का एक भेद मानकर उपमा-प्रपञ्च मे इसका विवेचन किया है। उद्भट ने सर्वप्रथम प्रतिवस्तूपमा का स्वतन्त्र अस्तित्व प्रतिपादित किया। उन्होने इससे मिलते-जुलते स्वरूप वाले दृष्टान्त आदि से इसका सूक्ष्म भेद भी स्पष्ट कर दिया। किन्तु, प्रस्तुत अलङ्कार के उपमा से स्वतन्त्र अस्तित्व के सम्बन्ध मे विवाद शमित नही हुआ। उद्भट के उत्तरवर्ती आचार्य वामन ने उद्भट की मान्यता को अस्वीकार कर भामह और दण्डी की तरह प्रतिवस्तूपमा को उपमा का ही एक भेद माना है। इस प्रकार अलङ्कारशास्त्र मे इस विषय मे दो मत प्रचलित रहे है। रुद्रट ने प्रतिवस्तूपमा अभिधान का प्रयोग न कर प्रस्तुत अलङ्कार को उभयन्यास व्यपदेश दिया है। उनका उभयन्यास पूर्वाचार्यो के प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार से अभिन्न है।

मम्मट, रुय्यक, विद्यानाथ, विश्वनाथ, जयदेव, अप्पय्यदीक्षित तथा जगन्नाथ ने प्रतिस्तूपमा को स्वतन्त्र अलङ्कार मानकर उसका स्वरूप-निरूपण किया है।

प्रतिवस्तूपमा के लक्षण मे विशेष विकास नही हुआ है। भामह से लेकर रीतिकालीन हिन्दी-आचार्यो तक इसका समान स्वरूप ही विवेचित होता रहा है। भामह ने 'समान वस्तु का न्यास' प्रतिवस्तूपमा मे अपेक्षित माना था। उनके अनुसार इसमे सादृश्यवाचक 'यथा' 'इव' आदि शब्दो का उपादान न होने पर भी गुण की साम्य-प्रतीति होती है।[१] अभिप्राय यह कि प्रतिवस्तूपमा मे औपम्य गम्य होता है। एक वाक्य मे वस्तु-विशेष का निर्देश कर दूसरे वाक्य मे उसके समान अन्य वस्तु का न्यास प्रतिवस्तूपमा का लक्षण है।

---

१. समानवस्तुन्यासेन प्रतिवस्तूपमोच्यते।
यथेवानभिधानेऽपि गुणसाम्यप्रतीतितः॥—भामह, काव्यालं० २,३४

इसमे दो वाक्यो मे सामान्य का पृथक्-पृथक् निर्देश होता है। प्रतिवस्तूपमा का यही स्वरूप सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है। कुछ आचार्यों ने दो वाक्यार्थों मे एक सामान्य धर्म के सद्भाव को प्रतिवस्तूपमा का लक्षण माना है तो कुछ ने उसी तथ्य को वाक्यार्थों के बीच वस्तु-प्रतिवस्तु-सम्बन्ध पर बल देकर स्वीकार किया है।[१]

स्पष्टीकरण के लिए आचार्यो की प्रतिवस्तूपमा-धारणा का विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है :—

(क) प्रतिवस्तूपमा का स्वरूप-सङ्घटन दो स्वतन्त्र वाक्यों से होता है।

(ख) एक वाक्य मे निर्दिष्ट किसी वस्तु के समान वस्तु का न्यास दूसरे वाक्य से किया जाता है।

(ग) दो वाक्यो मे अलग-अलग साधारण धर्म का निर्देश किया जाता है।

(घ) यह निर्देश वस्तुप्रतिवस्तुभाव से अर्थात् एक ही धर्म का शब्दान्तर से उल्लेख होता है। साधारण धर्म के लिए दो वाक्यो मे पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग इसका वैशिष्ट्य है।

(ङ) इसमें 'यथा' 'इव' आदि सादृश्यवाचक शब्दों का प्रयोग नहीं होता। अत:, दो वाक्यो के बीच औपम्य गम्य रहता है।

(च) साधर्म्य तथा वैधर्म्य, दोनो से औपम्य गम्य हो सकता है

तुल्ययोगिता

आचार्य भामह ने तुल्ययोगिता अलङ्कार को परिभाषित करते हुए कहा था कि जहाँ न्यून अर्थात् उपमेय का विशिष्ट अर्थात् उपमान से गुण-साम्य विवक्षित रहता है तथा कार्य और क्रिया का समान योग रहता है, वहाँ तुल्ययोगिता नामक अलङ्कार होता है।[२] इस प्रकार भामह की तुल्ययोगिता मे दो बातें अपेक्षित मानी गयी है—(क) न्यून का विशिष्ट से अर्थात् उपमेय का उपमान

---

१. मम्मट, रुय्यक आदि ने दो वाक्यों मे एक ही समान धर्म के दो बार उल्लेख पर बल दिया है। इस तथ्य के लिए जगन्नाथ ने पारिभाषिक शब्द 'वस्तु-प्रतिवस्तु' का प्रयोग किया है। वस्तुतः, अभिन्न धर्म का शब्दभेद से दो वाक्यो में दो बार प्रयोग वस्तुप्रतिवस्तुभाव कहलाता है।

२. न्यूनस्यापि विशिष्टेन गुणसाम्यविवक्षया।
तुल्यकार्यक्रियायोगादित्युक्ता तुल्ययोगिता ॥

—भामह, काव्यालं० ३, २७

से गुण-साम्य विवक्षित होना तथा (ख) कार्य-क्रिया का समान योग। ध्यातव्य है कि भामह ने न्यून शब्द का प्रयोग उपमेय के लिए किया था। कारण यह है कि उपमेय की अपेक्षा उपमान की अधिकता की मान्यता अप्रस्तुत-योजना मे अन्तर्निहित है। उपमेय मे उत्कृष्ट या निकृष्ट गुण जितना रहता है, उससे अधिक उत्कृष्ट या निकृष्ट गुण के लिए प्रसिद्ध उपमान की योजना कवि किया करता है।

आचार्य दण्डी ने भामह की इस तुल्ययोगिता-धारणा को स्वीकार अवश्य किया किन्तु उसे उपमा का एक भेद 'तुल्ययोगोपमा' माना। उनके अनुसार एक क्रिया से हीन अर्थात् उपमेय का अधिक अर्थात् उपमान के साथ साम्य-प्रदर्शन तुल्ययोगोपमा का लक्षण है।[1] तुल्ययोगोपमा का विवेचन कर दण्डी ने उससे स्वतन्त्र तुल्ययोगिता का भी अस्तित्व स्वीकार किया है। तुल्ययोगिता को उन्होने कुछ नवीन रूप मे परिभाषित किया है। यह तुल्ययोगोपमा से तुल्ययोगिता के भेद-निरूपण के लिए आवश्यक था। तुल्ययोगिता की परिभाषा मे दण्डी ने कहा कि प्राकरणिक के जिस गुण का—चाहे वह स्तुति का हेतुभूत गुण हो या निन्दा का हेतुभूत—वर्णन अभीष्ट हो, उस गुण से अप्रस्तुत के साथ समीकृत कर प्रस्तुत की स्तुति या निन्दा करना तुल्ययोगिता है।[2] स्पष्ट है कि अप्रस्तुत के साथ प्रस्तुत के साम्य-प्रदर्शन की धारणा भामह की तुल्ययोगिता-धारणा के समान ही है, किन्तु स्तुति-निन्दा की धारणा दण्डी ने प्रस्तुत अलङ्कार की परिभाषा मे मिलायी है। विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भामह के तुल्य-योगिता-लक्षण मे स्तुति-निन्दा आदि की धारणा के लिए भी अवकाश था। भामह के मतानुसार भी उपमान के साथ उपमेय के साम्य-प्रदर्शन मे स्तुति और निन्दा की व्यञ्जना होती ही है। भामह ने जो उदाहरण दिया है, उसमे उपमेय का उपमान के साथ साम्य-प्रदर्शन उसकी स्तुति मे पर्यवसित होता है। सम्भव है, उसी उदाहरण से प्रेरणा लेकर उसके निन्दा-रूप की भी कल्पना कर ली गयी हो और इस तथ्य को परिभाषा मे स्पष्टत उल्लिखित कर दिया गया हो।

---

१. अधिकेन समीकृत्य हीनमेकक्रियाविधौ।
यद्ब्रुवन्ति स्मृता सेयं 'तुल्ययोगोपमा' यथा॥
—दण्डी, काव्यादर्श २, ४८

२. विवक्षितगुणोत्कृष्टैर्यत् समीकृत्य कस्यचित्।
कीर्त्तनं स्तुतिनिन्दार्थं सा मता तुल्ययोगिता॥ — वही, २, ३३०

आचार्य उद्भट ने पूर्ववर्ती दोनो आचार्यो की तुल्ययोगिता-धारणा को अस्वीकार कर उसे नवीन रूप मे परिभाषित किया। उन्होने दो वस्तुओ के साम्य-प्रदर्शन की धारणा तो पूर्वाचार्यो से ली; पर प्रस्तुत और अप्रस्तुत के साम्याभिधान या एक क्रिया-सम्बन्ध की धारणा के स्थान पर अनेक प्रस्तुतो के बीच तथा अनेक अप्रस्तुतो के बीच साम्य-अभिधान की धारणा प्रस्तुत की। इस प्रकार उनके मतानुसार 'उपमान और उपमेय की उक्ति से शून्य अनेक अप्रस्तुतो तथा अनेक प्रस्तुतो के बीच साम्याभिधायी वचन तुल्ययोगिता है।'[1] अभिप्राय यह कि तुल्ययोगिता मे दो या दो से अधिक प्रस्तुतो का अथवा दो या दो से अधिक अप्रस्तुतो का ही साम्य दिखाया जाता है। इसमे औपम्य अनिवार्यत गम्य ही होता है, क्योकि सादृश्य के वाचक-पद का प्रयोग इसमे नही होता। उद्भट-कल्पित यह परिभाषा ही परवर्ती काल मे बहुमान्य हुई है। तुल्ययोगिता की यह परिभाषा दीपक से तुल्ययोगिता के भेद-निरूपण की दृष्टि से भामह और दण्डी की परिभाषाओ की तुलना मे अधिक प्रौढ है। उपमेय और उपमान के बीच एक क्रिया-सम्बन्ध दीपक का क्षेत्र है, पर उपमेय-उपमेय के बीच तथा उपमान-उपमान के बीच एक धर्म का सम्बन्ध तुल्ययोगिता का क्षेत्र है।

उद्भट के उपरान्त तुल्ययोगिता के स्वरूप मे कोई परिवर्त्तन नही हुआ। वामन ने भामह आदि की एतद्विषयक मान्यता को ही सूत्रबद्ध किया है।[2] कुन्तक ने तुल्ययोगिता के इस स्वरूप को स्वीकार कर भी उसे उपमा का ही एक भेद बताया है।[3] तुल्ययोगिता को उपमा-भेद मानने मे दण्डी की तुल्ययोगोपमा-धारणा का प्रभाव जान पडता है। भोज ने आचार्य दण्डी की तरह स्तुति-निन्दा मे तुल्ययोगिता का पर्यवसान माना है। उन्होने स्तुति-निन्दा के लिए सुखद तथा दु.खद वस्तु की तुल्यता पर बल दिया है।[4] रुय्यक

१. उपमानोपमेयोक्तिशून्यैरप्रस्तुतैर्वच· ।
साम्याभिधायि प्रस्तावभाग्भिर्वा तुल्ययोगिता ॥
—उद्भट, काव्याल० सारस० ५, ११

२. विशिष्टेन साम्यार्थमेककालक्रियायोगस्तुल्ययोगिता ।
—वामन, काव्यालं० सू० ४, ३-२६

३. तथैव तुल्ययोगिता सा भवत्युपमा स्फुटा ।—कुन्तक, वक्रोक्तिजी० ३,३२

४. भोज ने दण्डी की तुल्ययोगिता-परिभाषा को शब्दश: उद्धृत कर अन्य आचार्यो के मत से सुखद तथा दु खद वस्तुओं के स्तुतिनिन्दार्थ साम्यप्रदर्शन मे तुल्ययोगिता का उल्लेख किया है।
—द्रष्टव्य, सरस्वतीकण्ठाभरण ४, ५४-५५

ने उद्भट-सम्मत तुल्ययोगिता-लक्षण को सूत्रबद्ध करते हुए कहा कि जहाँ औपम्य गम्य हो और पदार्थगत रूप मे प्रस्तुतो अथवा अप्रस्तुतो का समान धर्म से सम्बन्ध दिखाया जाय, वहाँ तुल्ययोगिता होती है।[1] उद्भट की परिभाषा के 'उपमानोपमेयोक्ति शून्य' पद की जगह रुय्यक ने 'औपम्यस्य गम्यत्वे' पद का उल्लेख किया है। 'समान धर्माभिसम्बन्ध' पद के प्रयोग पर भामह की परिभाषा मे प्रयुक्त 'तुल्यकार्यक्रियायोग' का प्रभाव है। उसका पदार्थगतत्व' पूर्ववर्ती आचार्यो को भी मान्य था।—मम्मट ने प्रस्तुतो तथा अप्रस्तुतो का एक धर्म से सम्बन्ध तुल्ययोगिता का लक्षण माना है।[2] औपम्य की गम्यता तथा तुल्ययोगिता की पदार्थगतता का उल्लेख उन्होने परिभाषा मे आवश्यक नही माना। इस प्रकार भामह, दण्डी तथा उद्भट की तुल्ययोगिता-परिभाषाओ मे तुल्ययोगिता के उपरिविवेचित तीन स्वरूप प्रस्तुत हुए। आचार्य वामन ने भामह की तुल्ययोगिताविषयक मान्यता का, भोज ने दण्डी की एतद्विषयक धारणा का तथा रुय्यक, मम्मट आदि आचार्यों ने उद्भट की तुल्ययोगिता-परिभाषा का समर्थन किया। फलत:, अनेक प्रस्तुतो अथवा अनेक अप्रस्तुतो का एकधर्माभिसबन्ध ही तुल्ययोगिता की बहुमान्य परिभाषा है। पण्डितराज जगन्नाथ, जयरथ आदि दीपक और तुल्ययोगिता का अलग-अगल अस्तित्व नही मानते।[3] रुद्रट ने भी तुल्ययोगिता का उल्लेख नही किया था। सम्भव है कि वे भी दीपक से पृथक् तुल्ययोगिता का स्वरूप-निरूपण आवश्यक नही मानते हो।

यह विचारणीय है कि दीपक से स्वतन्त्र तुल्ययोगिता की सत्ता मानी जाय या नही। हम यह देख चुके है कि दीपक से तत्त्व लेकर ही तुल्ययोगिता आविर्भूत हुई है।[4] अनेक पदार्थो का एक धर्म से सम्बन्ध दोनो का प्रधान

---

१ औपम्यस्य गम्यत्वे पदार्थगतत्वेन प्रस्तुतानामप्रस्तुताना वा समानधर्माभिसम्बन्धे तुल्ययोगिता।—रुय्यक, अल० सर्वस्व सू० स० २३

२. नियतानां सकृद्धर्म सा पुनस्तुल्ययोगिता।
—मम्मट, काव्यप्र० १०, १०४

नियताना प्राकरणिकानामेव अप्राकरणिकानामेव ॥—वही, वृत्ति।

३. परम्परा के अनुरोध से तुल्ययोगिता और दीपक को पृथक्-पृथक् परिभाषित करने पर भी जगन्नाथ ने कहा है .—तुल्ययोगितातो दीपक न पृथग्भावमर्हति। धर्ममकृद्वृत्तिमूलाया विच्छित्तेरविशेषात्।
—रसगङ्गाधर पृ० ५१५

४. द्रष्टव्य, प्रस्तुत ग्रन्थ अध्याय २

लक्षण है। फिर भी दोनो के बीच भेदक तत्वो की कल्पना होती रही है। अलङ्कार-प्रसार के मूल मे ही यह भेदीकरण की प्रवृत्ति अन्तर्निहित रही है। एक ही अलङ्कार से जीवन-रस लेकर अनेक अलङ्कार अवतरित हुए है। यदि तुल्ययोगिता और दीपक के बीच कल्पित सूक्ष्म भेद की उपेक्षा कर दोनो के अलग-अलग अस्तित्व की कल्पना को अनावश्यक माना जाय तो अलङ्कार-शास्त्र मे कल्पित अनेक अलङ्कार अपनी प्रकृति से मिलते-जुलते अलङ्कार के व्यापक स्वरूप मे ही अन्तर्भुक्त हो जायँगे। इस तर्क पर कई आचार्यो ने अलङ्कारो की सख्या को परिमित करने का आयास भी किया है; किन्तु अलङ्कारो की सख्या- स्फीति को रोकने मे वे असमर्थ रहे है। तुल्ययोगिता मे अनेक प्रस्तुतों का अथवा अनेक अप्रस्तुतो का ही एक धर्माभिसम्बन्ध दिखाया जाता है। यही दीपक से उसका भेद है।

तुल्ययोगिता-भेद

उद्भट की तुल्वयोगिता-परिभाषा में उसके दो रूप निर्दिष्ट है —(क) अनेक प्रस्तुतो का एकधर्माभिसम्बन्ध तथा (ख) अनेक अप्रस्तुतो का एक धर्माभिसम्बन्ध। इन दो भेदो के साथ दो और भेद 'कुवलयानन्द' मे उल्लिखित है। हित और अहित मे तुल्यवृत्तित्व, जो दण्डी और उनके अनुयायी भोज की मान्यता पर आधृत है और उत्कृष्ट गुण वाले के साथ समीकृत कर कथन, जिस पर भामह-अभिमत तुल्ययोगिता के स्वरूप का प्रभाव है।[1] विद्याधर ने भी तुल्य-योगिता के चार भेद स्वीकार किये है।[2] नरसिह कवि ने 'नञ्जराजयशोभूषण' में द्रव्यतद्भाव, गुणतद्भाव तथा क्रियातद्भाव के भेद से छह प्रकार के धर्मो का प्रकृतगत तथा अप्रकृतगत होने के आधार पर तुल्ययोगिता के बारह भेद बताये है।[3]

समासोक्ति

समासोक्ति, अर्थ की व्यञ्जना पर आधृत अलङ्कार है। एक के कथन से अन्य अर्थ की व्यञ्जना ही इसका स्वरूप है। समास मे—एक के कथन-मात्र

१. वर्ण्यानामितरेषां वा धर्मैक्यं तुल्योगिता। तथा
हिताहिते वृत्तितौल्यमपरा तुल्ययोगिता।
—अप्पय्यदी० कुवलया० ४४, ४६

२. विद्याधर, एकावली

३. द्रव्यतद्भाव-गुणतद्भाव-क्रियातद्भावभेदेन भिन्नाना षण्णा धर्माणा प्रत्येकं प्रकृतगतत्वाप्रकृतगतत्वभेदेन तुल्ययोगिताया द्वादशविधत्वम्।
—नरसिह कवि, नञ्जराजयशोभूषण।

से—दो अर्थो का बोध कराने के कारण इसका अभिधान अन्वर्थ है। आचार्य भामह से लेकर आधुनिक युग तक के प्राय सभी आलङ्कारिक समासोक्ति के अलङ्कारत्व के विषय मे एकमत है, किन्तु समासोक्ति के स्वरूप के सम्बन्ध मे आचार्यो में कुछ मतभेद रहा है। अर्वाचीन सभी आचार्य प्रस्तुत के वर्णन से अप्रस्तुत की व्यञ्जना मे समासोक्ति का सद्भाव मानते है। प्रस्तुत से अप्रस्तुत की व्यञ्जना दोनो मे समान रूप से लागू होने वाले विशेषणो के प्रयोग से सम्भव होती है। इस प्रकार समासोक्ति मे श्लिष्ट विशेषण का प्रयोग अपेक्षित होता है।

दण्डी आदि आचार्यो ने समासोक्ति के सम्बन्ध में जो धारणा प्रकट की थी, वह इस अर्वाचीन धारणा से भिन्न थी। प्राचीन आचार्यों ने एक की उक्ति से अन्य की व्यञ्जना की धारणा समासोक्ति के लक्षण मे व्यक्त की थी, जो कुछ परिवर्त्तन-संशोधन के साथ 'प्रस्तुत की उक्ति से अप्रस्तुत की व्यञ्जना' की धारणा के रूप मे अर्वाचीन आचार्यो के द्वारा स्वीकृत हुई है।

भामह ने सामान्य रूप से एक की उक्ति से उसके समान विशेषण वाले अन्य अर्थ की व्यञ्जना में समासोक्ति की सत्ता मानी थी।[१] उन्होने यह स्पष्ट नहीं किया था कि प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत मे से किस अर्थ का कथन होगा और कौन दूसरा अर्थ गम्य होगा। उनकी अप्रस्तुत-प्रशसा-परिभाषा को ध्यान मे रखते हुए यह जान पडता है कि प्रस्तुत की उक्ति से अप्रस्तुत की अभिव्यक्ति उन्हें समासोक्ति मे अभीष्ट होगी; क्योकि इसके विपरीत अप्रस्तुत के वर्णन (तथा उससे प्रस्तुत की प्रतीति) में वे अप्रस्तुतप्रशसा मानते है।[२]

दण्डी ने अप्रस्तुत के कथन से प्रस्तुत का व्यञ्जना से बोध समासोक्ति का लक्षण माना। उनके अनुसार जिस वस्तु का वर्णन अभिप्रेत हो, उस प्रस्तुत वस्तु के समान अन्य वस्तु का (अर्थात् अप्रस्तुत का) वर्णन समासोक्ति अलङ्कार है।[३]

१. यत्रोक्त गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानविशेषणः।
सा समासोक्तिरुद्दिष्टा सक्षिप्तार्थतया यथा॥
—भामह, काव्यालं० २, ७६

२. वही० ३, २६

३. वस्तु किञ्चिदभिप्रेत्य तत्तुल्यस्यान्यवस्तुनः।
उक्तिः सक्षेपरूपत्वात् सा समासोक्तिरिष्यते॥
—दण्डी, काव्यादर्श २, २०५

उद्भट ने समासोक्ति को परिभाषित करते हुए कहा कि जहाँ प्रस्तुतार्थ वाक्य समान विशेषणो से अप्रस्तुत अर्थ का भी अभिधान करता है, वहाँ समासोक्ति होती है।[1] इसमे विशेष्य पद प्रस्तुत अर्थ के वाचक होते है, केवल समान विशेषणो से अप्रस्तुत अर्थ का कथन होता है। भामह तथा दण्डी से स्वतन्त्र रूप मे उद्भट ने समासोक्ति को परिभाषित किया, किन्तु अप्रस्तुत की व्यञ्जना की चर्चा नही कर उन्होने समान विशेषण से अप्रस्तुत के भी कथन (अभिधा से प्रतिपादन) को वाञ्छनीय बताया। श्लेष से इसके भेद-निरूपण के लिए उन्होने 'तत्समानविशेषणैः' पद का प्रयोग किया है। इसमे विशेष्य चूँकि केवल प्रस्तुत अर्थ के वाचक होते है, इसलिए यह श्लेष से भिन्न है। प्रकृतार्थ वाक्य से अप्रस्तुत के भी कथन (अभिधया प्रतिपादन) की धारणा इस लक्षण की एक सीमा थी। प्रस्तुत के कथन से अप्रस्तुत के बोध की यह धारणा अर्वाचीन आचार्यो को मान्य है।

वामन और भोज ने दण्डी के मत का अनुकरण करते हुए अप्रस्तुत के कथन से प्रस्तुत की प्रतीति को समासोक्ति का लक्षण माना है।[2] रुद्रट ने भी इसी मत का अनुसरण करते हुए कहा कि जहाँ एक उपमान ही उपमेय के साथ घटित होने वाले साधारण विशेषणो के साथ वर्णित होने के कारण उपमेय की प्रतीति कराता है, वहाँ समासोक्ति अलङ्कार होता है।[3]

---

१. प्रकृतार्थेन वाक्येन तत्समानविशेषणैः।
अप्रस्तुतार्थकथनं समासोक्तिरुदाहृता॥
—उद्भट, काव्याल० सारस० २, २१

२. अनुक्तौ समासोक्तिः।—वामन, काव्याल० सू० ४, ३, ३ तथा—उपमेयस्यानुक्तौ समानवस्तुन्यासः समासोक्तिः। वही वृत्ति।
और—यत्रोपमानादेवैतदुपमेयं प्रतीयते।
अतिप्रसिद्धेस्तामाहुः समासोक्तिं मनीषिणः॥
—भोज, सरस्वतीकण्ठा० ४, ४६

३. रुद्रट, काव्याल० ८,६७ तथा—वामन, काव्यालङ्कार, ४,३,३
यत्रैकमुपमानमेवोपमेयेन सह सकलसाधारणविशेषणमभिधीयमानं सदुपमेय गमयेत्सा समासोक्तिः।—वही, वृत्ति, पृ० २७५
रुद्रट की समासोक्ति-परिभाषा का हिन्दी रूपान्तर करते हुए डॉ० सत्यदेव चौधरी ने भ्रमवश उसका उलटा अर्थ कर दिया है कि जहाँ कोई उपमेय उपमान से घटित होने योग्य विशेषणो से कथित होने के कारण उपमान की प्रतीति कराये, वहाँ समासोक्ति अलङ्कार होता है।
—रुद्रटप्रणीत काव्याल० हिन्दी, पृ० २७

स्पष्ट है कि मम्मट और रुय्यक के पूर्ववर्ती आचार्य अप्रस्तुत के कथन से प्रस्तुत की व्यञ्जना समासोक्ति का लक्षण मान रहे थे। इस मान्यता के विपरीत मम्मट और रुय्यक ने प्रस्तुत के वर्णन से अप्रस्तुत की व्यञ्जना को प्रस्तुत अलङ्कार का स्वरूप माना।[१] पूर्वाचार्यो की उक्त समासोक्ति-परिभाषा को अप्रस्तुतप्रशसा के स्वरूप मे समाविष्ट कर लिया गया। इस प्रकार मम्मट तथा रुय्यक के बाद प्रस्तुत से अप्रस्तुत की व्यञ्जना समासोक्ति का तथा अप्रस्तुत से प्रस्तुत की व्यञ्जना अप्रस्तुप्रशंसा का व्यवस्थित लक्षण बना। प्रस्तुत से अप्रस्तुत की व्यञ्जना समान विशेषण के प्रयोग के कारण होती है। समासोक्ति की यही परिभाषा परवर्ती आचार्यो को मान्य हुई।

मम्मट की समासोक्ति-परिभाषा की कुछ सीमाएँ है। एक तो वे श्लिष्ट-विशेषण-मात्र से अन्यार्थ अर्थात् अप्रस्तुतार्थ का बोध समासोक्ति मे मानते हैं, जब कि अश्लिष्ट विशेपण से भी प्रस्तुत मे अप्रस्तुन की प्रतीति हो सकती है, दूसरे, उन्होने परिभाषा मे 'प्रकृतार्थ-प्रतिपादक वाक्य से अप्रकृत अर्थ का अभिधान' माना है। वस्तुत , इसमे अप्रकृत का बोध व्यञ्जना-शक्ति से होता है। 'अभिधानम्' पद व्यञ्जना से प्रतीति के अर्थ को ठीक-ठीक प्रकट नही कर सकता। कहने की आवश्यकता नही कि मम्मट की समासोक्ति-परिभाषा पर उद्भट की परिभाषा का प्रभूत प्रभाव है। रुय्यक की समासोक्ति-परिभाषा, 'विशेषण-साम्य से अप्रस्तुत का गम्य होना समासोक्ति है', अधिक उपयुक्त है।

समासोक्ति-भेद

समान विशेपण के निर्देश की तीन प्रक्रियाएँ सम्भव है—(क) श्लेप के द्वारा, (ख) प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत दोनो मे साधारण (उभयार्थसाधारण) शब्द के द्वारा तथा (ग) उपमागर्भ शब्द के द्वारा। इस प्रकार क्रमश. श्लिष्ट-विशेपणा, अश्लिष्टविशेषणा तथा औपम्यगर्भविशेषणा—ये तीन प्रमुख भेद समासोक्ति के हो जाते है। अश्लिष्टविशेषणा के धर्मसमारोपा तथा कार्य-समारोपा-भेद सम्भव है। औपम्यगर्भविशेपणा के भी दो भेद—उपमागर्भ-

१. परोक्तिर्भेदकैः श्लिष्टैः समासोक्तिः।—मम्मट, काव्यप्र० १०,१४८ तथा
विशेषणसाम्यादप्रस्तुतस्य गम्यत्वे समासोक्तिः।
—रुय्यक, अलङ्कारसर्वस्व सू० सं० ३१

समासमूला तथा सङ्करसमास-मूला हो सकते है। इस प्रकार विशेषणसाम्य-निबन्धना समासोक्ति के पाँच भेद हो जाते है। रुय्यक ने समासोक्ति के प्रधान तीन भेद स्वीकार किये है—(१) शुद्धकार्यसमारोपा, (२) विशेषण-साम्य-मूला तथा (३) कार्यविशेषण साम्यमूला।[१] शोभाकर ने कार्य और विशेषण का भेद अनुचित मानकर कार्य को भी तत्त्वत. विशेषण ही माना है।[२] यह मान्यता उचित ही जान पडती है। विशेषण के व्यापक अर्थ मे कार्य भी आ जाता है। थोडे-से इस भेद की कल्पना की जा सकती है कि कार्यसमारोप मे विशेषण-साम्य उपचरित है और अपरत्र अनुपचरित। पर, यह भेद तात्त्विक नही है। कार्यविशेषणसाम्यमूला समासोक्ति के सात भेद मानकर रुय्यक ने शास्त्रीय एव लौकिक वस्तुओ के पारस्परिक व्यवहार-समारोप के आधार पर अनेक अवान्तर भेद किये है। समर्थ्य तथा समर्थक वाक्य-गत होने के आधार पर भी समासोक्ति के भेद कल्पित है। वह उत्प्रेक्षामूला भी मानी गयी है। समासोक्ति के अनन्त भेदो की सम्भावना रुय्यक ने स्वीकार की है।[३]

अप्रस्तुतप्रशसा

भामह ने अप्रस्तुतप्रशसा को परिभाषित करते हुए कहा था कि जिस वस्तु का वर्णन अभिप्रेत हो, उस वर्ण्य से भिन्न अन्य वस्तु का, अर्थात् अप्रस्तुत का वर्णन किया जाना अप्रस्तुतप्रशसा है।[४] अप्रस्तुतप्रशसा मे प्रशसा का अर्थ वर्णन-मात्र है। वर्ण्य को छोड अन्य के वर्णन की सार्थकता भी वर्ण्य की प्रतीति मे ही होगी। अतः, अप्रस्तुत का वर्णन कर प्रस्तुत का व्यञ्जना से बोध कराना भामह के अप्रस्तुतप्रशसा-लक्षण का सार है। इस अलङ्कार के लक्षण मे भामह ने वर्णन के अर्थ मे स्तुति शब्द का प्रयोग किया है।

आचार्य दण्डी ने अप्रस्तुतप्रशसा के प्रशंसा-पद का अर्थ स्तुति मानकर अप्रस्तुत की स्तुति को अप्रस्तुतप्रशसा का लक्षण माना।[५] इसका जो उदाहरण

१. द्रष्टव्य, रुय्यक, अलं० सर्वस्व पृ० ९२
२. शोभाकर, अलङ्कार रत्नाकर, पृ० ७२
३. एवमियं समासोक्तिरनन्तप्रपञ्चेत्यनया दिशा स्वयमुत्प्रेक्ष्या।
—रुय्यक, अलं०.सर्वस्व पृ० १०८
४. अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः।
अप्रस्तुतप्रशसेति सा चैव कथ्यते यथा ॥—भामह, काव्यालं० ३, २९
५. अप्रस्तुतप्रशसा स्यादप्रक्रान्तेषु या स्तुतिः।
—दण्डी, काव्यादर्श, २, ३४०

दण्डी ने दिया है, उसमे अप्रस्तुत की स्तुति का पर्यवसान प्रस्तुत की निन्दा में होना है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि दण्डी अप्रस्तुत की स्तुति से प्रस्तुत की निन्दा की प्रतीति मे अप्रस्तुतप्रशसा का सद्भाव मानते थे। प्रशसा का 'वर्णन' अर्थ (जो भामह ने माना था) छोड कर 'स्तुति' अर्थ मानना अकारण नही था। दण्डी अप्रस्तुत के वर्णन से प्रस्तुत की व्यन्जना समासोक्ति का लक्षण मानते थे। अत, यह आवश्यक था कि वे समासोक्ति से अप्रस्तुत-प्रशसा के स्वतन्त्र स्वरूप के प्रतिपादन के लिए अप्रस्तुत के वर्णन के स्थान पर अन्य अर्थ की कल्पना करते। अप्रस्तुतप्रशसा के नाम मे ही उन्हे अन्यार्थ-कल्पना का सूत्र मिल गया और प्रशसा का 'वर्णन' की अपेक्षा अधिक प्रचलित अर्थ 'स्तुति' मानकर उन्होने प्रस्तुत अलङ्कार का स्वरूप-निरूपण किया। परवर्ती काल मे दण्डी की यह मान्यता विशेष समर्थन नही पा सकी। दण्डी की अप्रस्तुतप्रशसा-परिभाषा भामह की परिभाषा से आपाततः अभिन्न जान पडती है, पर उसके स्वरूप के सम्बन्ध मे दण्डी की मान्यता भामह की मान्यता से तत्त्वतः किञ्चित् भिन्न है।

आचार्य उद्भट ने भामह के अप्रस्तुतप्रशसा-लक्षण को ही कुछ परिवर्त्तन के साथ प्रस्तुत किया है। उस परिवर्त्तन से उद्भट की परिभापा अधिक स्पष्ट हो पायी है। उन्होने भामह की तरह अप्राकरणिक का वर्णन अप्रस्तुतप्रशसा मे वाञ्छनीय माना। इसे 'प्रस्तुतार्थनिबन्धिनी' कह कर प्रस्तुत की प्रतीति के तत्त्व को उन्होने स्पष्टतया उल्लिखित किया है।[१]

वामन ने भी अप्रस्तुत की उक्ति से प्रस्तुत अर्थ का बोध ही अप्रस्तुनप्रशसा का लक्षण माना है। वे भामह तथा उद्भट की तरह प्रशसा का अर्थ वर्णन या कथन ही मानते हैं। ध्यातव्य है कि अप्रस्तुत की उक्ति से प्रस्तुत की व्यन्जना मे वामन समासोक्ति मानते हैं। अप्रस्तुतप्रशसा का समासोक्ति से भेद उन्होने केवल इस आधार पर किया है कि समासोक्ति मे उपमेय सर्वथा अनुक्त रहता है, जबकि अप्रस्तुतप्रशसा मे वह किञ्चित् उक्त अर्थात् लिङ्ग-मात्र से कथित होता है।[२]

१. अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुति ।
अप्रस्तुतप्रशसेय प्रस्तुतार्थनिबन्धिनी ॥

—उद्भट, काव्याल० सारस० ५, १४

२. उपमेयस्य किञ्चिल्लिङ्गमात्रेणोक्तौ समानवस्तुन्यासे अप्रस्तुतप्रशंसा ।
—वामन, काव्याल० सू० ४, ३, ४, की वृत्ति पृ० २२६

रुद्रट ने अप्रस्तुतप्रशसा को अन्योक्ति कहा है। उनके अनुसार इसमे उप-मान के कथन से असमान विशेषण वाले किन्तु समान इतिवृत्त वाले उपमेय की प्रतीति होती है।[१] कुन्तक ने अप्रस्तुत अर्थ का वर्णन अप्रस्तुतप्रशसा का लक्षण माना और उसकी सार्थकता प्रस्तुत के सौन्दर्योत्पादन मे मानी।[२] जो अप्रस्तुत प्रस्तुत की विच्छित्ति या उसका सौन्दर्य उत्पन्न न कर सके, उसकी काव्य मे उपादेयता ही क्या होगी ?

भोज ने अस्तोतव्य अर्थात् निन्दित की, किसी कारण, स्तुति को अप्रस्तुत-प्रशसा का लक्षण मान कर उसे हेतु से वाच्य तथा प्रतीयमान—दोनो माना। यह प्राय धर्म, अर्थ, काम मे से किसी एक की बाधा से या अपने अभिप्राय की सिद्धि से उत्पन्न होती है।[३]

मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ, जयदेव, अप्पय्य दीक्षित आदि आचार्यो ने अप्रस्तुत के वर्णन से प्रस्तुत के बोध कराये जाने मे अप्रस्तुतप्रशसा मानी है। स्पष्ट है कि दण्डी को छोड, प्राय सभी आचार्य अप्रस्तुतप्रशसा के स्वरूप के सम्बन्ध मे एकमत है। अप्रस्तुत के वर्णन से प्रस्तुत की प्रतीति अप्रस्तुतप्रशसा की स्वीकार्य परिभाषा है। रीतिकालीन हिन्दी-अचार्यो मे से कुछ ने प्रशसा का अर्थ दण्डी की तरह स्तुति मानकर अप्रस्तुत की प्रशसा या उसका गुणगान इस अलङ्कार मे अपेक्षित माना। शेष आचार्य अप्रस्तुत का वर्णन ही इसमे अपेक्षित मानते है।

अप्रस्तुतप्रशंसा-भेद

अप्रस्तुत विशेष से प्रस्तुत सामान्य की, अप्रस्तुत सामान्य से प्रस्तुत विशेष की, अप्रस्तुत कार्य से प्रस्तुत कारण की, अप्रस्तुत कारण से प्रस्तुत कार्य की तथा तुल्य अप्रस्तुत से तुल्य प्रस्तुत की प्रतीति करायी जा सकती है। इस आधार पर मम्मट, रुय्यक आदि को अप्रस्तुतप्रशसा के पाँच भेद मान्य है।[४] कर्णपूर ने प्रतीयमान के आरोपित तथा अनारोपित होने के आधार पर

---

१. असमानविशेषणमपि यत्र समानेतिवृत्तमुपमेयम्।
उक्तेन गम्यते परमुपमानेनेति साऽन्योक्तिः॥
—रुद्रट, काव्याल० ८, ७४

२. कुन्तक, वक्रोक्तिजी० ३, २३-२४

३. भोज, सरस्वतीकण्ठा० ४, ५२-५३

४. कार्ये निमित्ते सामान्ये विशेषे प्रस्तुते सति।
तदन्यस्य वचस्तुल्ये तुल्यस्येति च पञ्चधा।—मम्मट, काव्यप्र० १०, १५२

उक्त पाँच भेदों के दो-दो प्रकार स्वीकार कर अप्रस्तुतप्रशंसा के दश भेद स्वीकार किये है।[१]

सहोक्ति

सहोक्ति का अलङ्कारत्व भामह के समय से ही स्वीकृत है। सहोक्ति का अर्थ है—दो वस्तुओ की साथ-साथ उक्ति। यह अन्वर्था संज्ञा है। भामह ने सहोक्ति की परिभाषा मे कहा था कि जहाँ एक काल मे दो अलग-अलग वस्तुओं मे रहने वाली दो क्रियाओ का एक पद से कथन होता है, वहाँ सहोक्ति अलङ्कार होता है।[२] दो क्रियाओ की साथ-साथ उक्ति—एकपदेन कथन—होने के कारण भामह इसे सह-उक्ति कहेगे।

दण्डी ने भामह की सहोक्ति-धारणा को स्वीकार कर उसमे गुण के सहभाव से कथन की धारणा भी जोड़ दी। इस प्रकार उनके अनुसार गुण और कर्म का सहभाव से कथन सहोक्ति का लक्षण बना।[३] इसे और स्पष्ट रूप मे कहना चाहे तो कहेगे कि दो वस्तुओ के गुण तथा कर्म का सहभाव से कथन दण्डी-सम्मत सहोक्ति-लक्षण है। 'कर्म का सहभावेन कथन' भामह की 'क्रियाओ की सह-उक्ति' से अभिन्न है; पर गुणो का सहभावेन कथन नवीन है।

उद्भट ने भामह के सहोक्ति-लक्षण को ही कुछ शब्द-भेद से उद्धृत कर दिया है।[४] दोनो की सहोक्ति-धारणा अभिन्न है। वामन ने भी भामह के मत को स्वीकार कर उनकी सहोक्ति-परिभाषा को ही सूत्रबद्ध किया है।[५]

रुद्रट ने सहोक्ति को वास्तव तथा औपम्य, दोनो वर्गो मे रखा है। वास्तव-वर्गगत सहोक्ति को परिभाषित करते हुए उन्होने कहा है कि जो वस्तु जिस रूप मे हो अर्थात् जिस गुण से युक्त हो, उसी रूप मे अन्य वस्तु को भी कर दे और उस अन्य वस्तु के समान कथित हो तो ऐसी स्थिति मे वास्तव सहोक्ति

---

१. कर्णपूर, अलङ्कार कौस्तुभ, ८, पृ० ५६६-६७

२. तुल्यकाले क्रिये यत्र वस्तुद्वयसमाश्रये।
पदेनैकेन कथ्येते सहोक्ति सा मता यथा ॥—भामह, काव्याल० ३,३९

३. सहोक्तिः सहभावेन कथन गुणकर्मणाम्।—दण्डी, काव्यादर्श २,३५१

४. उद्भट, काव्याल० सारस० ५,२९

५. वस्तुद्वयक्रिययोस्तुल्यकालयोरेकपदाभिधान सहोक्तिः।
—वामन, काव्यालं० सू० ४,३,२८

होती है। इसमे एक अर्थ, जो कर्तृभूत होगा वह प्रधान होगा तथा दूसरा कर्मभूत अर्थ, जिसके साथ उस कर्तृभूत अर्थ का तुल्यत्व प्रतिपादित होगा वह अप्रधान होगा। रुद्रट ने अप्रधान या कर्मभूत अर्थ का प्रधान अर्थ के साथ उसी गुण या धर्म से युक्त कर सह-कथन को सहोक्ति का दूसरा प्रकार माना है। इसमे क्रियमाण का ही प्राधान्य हो जाता है और कर्त्ता का अप्राधान्य, जब कि सहोक्ति के पहले प्रकार मे कर्तृभूत अर्थ प्रधान रहता है और क्रियमाण या कर्मभूत अर्थ अप्रधान। औपम्य वर्ग की सहोक्ति मे प्रसिद्ध तथा अधिक क्रिया वाले अर्थ, अर्थात् उपमान के साथ अन्य वस्तु, अर्थात् उपमेय को समानक्रिय कहा जाना अपेक्षित माना गया है। इसके दूसरे रूप की कल्पना करते हुए रुद्रट ने कहा है कि जहाँ एक कर्त्ता तथा अनेक कर्मो वाली क्रिया का वर्णन हो और उन कर्मो में से प्रधान, अर्थात् उपमेयभूत अर्थ दूसरे उपमान-भूत कर्म के साथ कथित हो, वहाँ भी सहोक्ति होती है।[1] वास्तव-वर्गगत तथा औपम्य-वर्गगत सहोक्तियो मे यह भेद माना गया है कि पहले मे कार्यकारण-सम्बन्ध का भाव तथा औपम्य का अभाव रहता है, पर दूसरे मे इसके विपरीत औपम्य का सद्भाव और कार्य-कारण-सम्बन्ध का अभाव रहता है। नमिसाधु की मान्यता है कि वास्तव-वर्ग की सहोक्ति मे कार्य-कारण-भाव रहता है तथा औपम्य का अभाव रहता है; पर औपम्य-वर्गगत सहोक्ति मे केवल औपम्य रहता है, कार्य-कारण भाव नही।[2]

कुन्तक ने भामह की सहोक्ति-परिभाषा को अमान्य बताकर उसे नवीन रूप मे परिभाषित किया है। उनका तर्क है कि भामह-सम्मत सहोक्ति मे सौन्दर्य का कारण दो वस्तुओ के साम्य को माना गया है। अतः वह उपमा ही है।[3] कुन्तक की सहोक्ति-परिभाषा है कि जहाँ वर्णनीय अर्थ की सिद्धि के लिए एक ही वाक्य से अनेक अर्थो की एक साथ उक्ति होती है, वहाँ सहोक्ति मानी जाती है।[4] कुन्तक ने गुण या क्रिया की सह-उक्ति की जगह अर्थो के

---

१ द्रष्टव्य, रुद्रट, काव्याल० ७,१३-१७ तथा ८,९९-१०१

२. तत्र (वास्तव सहोक्तौ) कार्यकारणभाव औपम्याभावश्च समस्ति।
अस्या (औपम्य सहोक्तौ) तु तद्विपर्ययः।
—काव्याल०, नमिसाधु की टीका पृ० २८७

३. द्रष्टव्य, कुन्तक, वक्रोक्तिजी० ३, पृ० ४६१

४. यत्रैकेनैव वाक्येन वर्णनीयार्थसिद्धये।
अर्थानां युगपदुक्तिः सा सहोक्तिः सतां मता ॥—वही ३,३७

सह-कथन का उल्लेख किया तथा एक पद से कथन के स्थान पर एक वाक्य से कथन पर बल दिया।

अग्निपुराणकार ने दण्डी के महोक्ति-लक्षण को स्वीकार कर भी उनके लक्षण मे प्रयुक्त 'गुणकर्मणाम्' के स्थान पर 'तुल्यधर्मिणाम्' पद का प्रयोग किया। इस प्रकार वे धर्मियो का ही सह-कथन सहोक्ति मे अपेक्षित मानते है।[1]

रुय्यक के अनुसार उपमान और उपमेय मे से एक का प्राधान्य से तथा दूसरे का सहार्थ-सम्बन्ध से कथन सहोक्ति है। इसमे दोनो अर्थ प्राकरणिक या अप्राकरणिक होते है; पर उनमे से एक क्रिया से मुख्यतया सम्बन्ध रखने वाला कर्त्ता होता है और उसका दूसरे अर्थ के साथ कथन होता है। जिसके साथ कथन हो, वह सहार्थ की तृतीया विभक्ति से युक्त पद व्याकरण के नियमानुसार अप्रधान होता है। जिसका किसी के साथ कथन होता है, वह प्रधान अर्थ उपमेयभूत तथा जिसके साथ उसका कथन होता है, वह अप्रधान अर्थ उपमानभूत होता है।[2] इस प्रकार रुय्यक के सहोक्ति-लक्षण का सार यह है कि इसमे एक अर्थ का दूसरे अर्थ के साथ—उपमेय का उपमान के साथ—कथन होता है। ध्यातव्य है कि इसमे उपमानोपमेय-भाव नियत नहीं रहता। दोनो ही अर्थ समानकोटिक (प्राकरणिक अथवा अप्राकरणिक) होते हैं, पर सहार्थ की विभक्ति वाला अर्थ अप्रधान होने के कारण उपमान और अन्य विभक्ति वाला प्रधान होने के कारण उपमेय हो जाता है। रुय्यक ने सहोक्ति को अतिशयोक्तिमूला माना है। मम्मट के अनुसार सहोक्ति मे सहार्थ अर्थात् 'सह', 'सम', आदि शब्दो के अन्वय से एक पद दो अर्थों का वाचक होता है।[3]

विश्वनाथ, विद्यानाथ, विद्याधर, शोभाकर, अप्पय्यदीक्षित आदि आचार्यों ने रुय्यक की सहोक्ति-परिभाषा को ही स्वीकार किया है।

इस विवेचन का निष्कर्ष यह है कि सहोक्ति मे एक साथ एक पद से दो अर्थो का कथन होता है। एक अर्थ का दूसरे के साथ वर्णन होने के कारण

---

१. अग्निपुराण, अध्याय ३४४

२. उपमानोपमेययोरेकस्य प्राधान्यनिर्देशेऽपरस्य सहार्थसम्बन्धे सहोक्तिः।
—रुय्यक, अल० सर्वस्व, सूत्र स० २९

३. सा सहोक्ति सहार्थस्य बलादेकं द्विवाचकम्।
—मम्मट, काव्यप्र० १०,१७०

दोनो मे वास्तविक उपमानोपमेय-भाव नही रहने पर भी वैवक्षिक उपमानोपमेय-सम्बन्ध हो जाता है। इसमे दोनो अर्थ या तो प्राकरणिक रहते हैं या अप्राकरणिक, पर एक का दूसरे के साथ कथन होने से जिसके साथ कथन होता है, वह अप्रधान होकर उपमान मे पर्यवसित हो जाता है और जिसका किसी के साथ कथन होता है, वह प्रधान होकर उपमेय-स्थानीय हो जाता है। अभेदाध्यवसाय के कारण यह अलङ्कार अतिशयोक्तिमूलक माना जाता है।

सहोक्ति-भेद

विश्वनाथ ने सहोक्ति को अतिशयोक्तिमूला मानकर उसके अभेदाध्यवसायमूलक तथा कार्यकारणपौर्वापर्यमूलक-भेद माने है। अभेदाध्यवसायमूला सहोक्ति श्लेष तथा अश्लेष के आधार पर दो प्रकार की हो जाती है। इस प्रकार उनके मतानुसार सहोक्ति के तीन भेद मान्य है।[1] शोभाकर ने तुल्ययोगितामूला सहोक्ति का नया भेद प्रस्तुत किया।[2] क्रिया-सहोक्ति तथा गुण-सहोक्ति के रूप मे भी इसके दो भेद कल्पित हुए है। रुद्रट की सहोक्ति के दो औपम्यगत तथा दो वास्तवगत प्रकारो का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

अर्थान्तरन्यास

अर्थान्तरन्यास के अलङ्कारत्व का निरूपण सर्वप्रथम भामह ने किया था। परवर्ती काल के प्राय सभी आचार्यो ने इसका अलङ्कारत्व स्वीकार किया है। इसके स्वरूप में भी अधिक परिवर्त्तन नही हुआ है। इसे सादृश्यमूलक अलङ्कार मानने के प्रश्न पर आचार्यो मे दो मत अवश्य रहे है।

भामह ने अर्थान्तरन्यास की परिभाषा मे कहा था कि इसमें एक अर्थ का वर्णन कर उस वर्णित अर्थ से भिन्न किन्तु उससे अनुगत (सम्बद्ध) अन्य अर्थ का उपन्यास होता है।[3] अर्थान्तर के न्यास मे ही प्रस्तुत अलङ्कार के नामकरण की सार्थकता है।

---

१. द्रष्टव्य, विश्वनाथ का साहित्यद० पृ० ६९२

२. द्रष्टव्य, शोभाकरकृत, अलङ्काररत्नाकर, पृ० ७०

३ उपन्यसनमन्यस्य यदर्थस्योदितादृते।
ज्ञेय सोऽर्थान्तरन्यास पूर्वार्थानुगतो यथा॥
—भामह, काव्याल० २,७१

आचार्य दण्डी ने दो वाक्यार्थों मे समर्थ्य-समर्थक-भाव की कल्पना कर यह परिभाषा दी कि जहाँ किसी प्रकृत वस्तु को प्रस्तुत कर उसके साधन मे समर्थ अन्य अर्थ का न्यास होता है, वहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार होता है।[२] अभिप्राय यह कि अभिप्रेत अर्थ की अनुपपत्ति की सम्भावना से उसके उपपादन के लिए उसके समर्थक अन्य अर्थ का न्यास किया जाना अर्थान्तरन्यास है। वर्णनीय को प्रस्तुत कर उसके समर्थक अन्यार्थ का न्यास अर्थान्तरन्यास का सामान्य क्रम है, पर इसके विपरीत समर्थक का भी पहले कथन इसमे हो सकता है। क्रम गौण है। प्रस्तुत वाक्यार्थ का अप्रस्तुत वाक्यार्थ से समर्थन ही अर्थान्तरन्यास का प्रधान लक्षण है।

उद्भट ने अर्थान्तरन्यास के सम्बन्ध मे पूर्वाचार्यो की मान्यता को ही स्वीकार किया है, किन्तु उन्होने उसे अधिक स्पष्टता से प्रस्तुत किया है। उन्होने प्रकृत तथा अप्रकृत के बीच समर्थ्य-समर्थक-सम्बन्ध का स्पष्ट उल्लेख किया है। प्रकृत अर्थ का अन्य अर्थ से समर्थन होने के कारण ही इसे अर्थान्तरन्यास कहते है।[3] समर्थक तथा समर्थ्य मे से किसीका भी पूर्व-अपर निर्देश हो सकता है। भामह तथा दण्डी के अर्थान्तरन्यास-लक्षण मे प्रस्तुत अर्थ के साथ अन्य अर्थ के सम्बन्ध का स्पष्ट उल्लेख नही हो पाया था। भामह ने उपन्यस्त होने वाले अन्य अर्थ को पूर्व-वर्णित अर्थ का अनुगत कहा था। यह अनुगम दो अर्थों के बीच सादृश्य से भी हो सकता है और उनमें सामान्यविशेष-भाव का सूचक भी हो सकता है। दण्डी की परिभाषा में प्रयुक्त 'तत्-साधन-समर्थ' पद का अर्थ भी सन्दिग्ध है। उसका अर्थ दो पदार्थो मे साध्य-साधन-सम्बन्ध भी माना जा सकता है और समर्थ्य-समर्थक-सम्बन्ध भी। परिभाषा मे ऐसे सन्दिग्धार्थ-पदो का प्रयोग उचित नहीं माना जाता। उद्भट का लक्षण भामह-दण्डी के लक्षण से अधिक परिमार्जित है। वामन ने भी उक्त अर्थ की सिद्धि के लिए अन्य वस्तु या वाक्यार्थ का न्यास

---

२. ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासो वस्तु प्रस्तुत्य किञ्चन।
तत्साधनसमर्थस्य न्यासो योऽन्यस्य वस्तुनः॥
—दण्डी, काव्यादर्श २,१६९

३. द्रष्टव्य, उद्भट, काव्यालं० सारसं० २,६-७

अर्थान्तरन्यास का लक्षण माना। उन्होने यह स्पष्ट किया कि हेतु का न्यास अर्थान्तरन्यास का रूप-विधान नही करता।[१]

रुद्रट ने अर्थान्तरन्यास को औपम्यमूलक अलङ्कार मानकर उसकी परिभाषा मे कहा है कि जहाँ विशेष या सामान्य धर्मी अर्थ का अभिधान कर उसकी सिद्धि के लिए इतर सधर्मी का न्यास होता है, वहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार माना जाता है।[२] औपम्य-गर्भ होने के कारण दोनो अर्थों मे उपमानोपमेय-भाव-सम्बन्ध तो रहेगा ही। इस तरह उपमेय के सामान्य या विशेष धर्म का वर्णन कर उसके समर्थन के लिए इतर सधर्मी अर्थात् क्रमश विशेष या सामान्य धर्म वाले उपमान का न्यास रुद्रट के मतानुसार इस अलङ्कार का लक्षण होगा। उपमेय सामान्य होगा तो उपमान विशेष और उपमेय विशेष होगा तो उपमान सामान्य। उपमानभूत विशेष या सामान्य क्रमश उपमेयभूत सामान्य या विशेष की सिद्धि साधर्म्य एव वैधर्म्य—दोनो से कर सकता है।

कुन्तक ने दो वाक्यार्थो में पूर्वाचार्यो की तरह समर्थ्य-समर्थक-भाव नहीं कहकर समर्प्य-समर्पक-भाव कहा है। कुन्तक का 'समर्पक' उद्भट के समर्थक का पर्याय ही है। कुन्तक के अनुसार अर्थान्तरन्यास मे दो वाक्यार्थो के बीच यह समर्प्य-समर्पक-सम्बन्ध मुख्य तथा तात्पर्य के साम्य पर अवलम्बित होता है। इसमे प्रथम अर्थ मुख्य होता है और अन्य अर्थ उसका तात्पर्यार्थ होता है।[3]

भोज ने रुद्रट की तरह साधर्म्य तथा वैधर्म्य; दोनो से एक अर्थ का अर्थान्तर से समर्थन स्वीकार किया।[४] उन्होने समर्थ्य और समर्थक वाक्यार्थो

---

१. उक्तस्यार्थस्य सिद्ध्यर्थं वस्तुनो वाक्यार्थान्तरस्यैव न्यसनमर्थान्तरन्यासः। वस्तुग्रहणादर्थस्य हेतोर्न्यसनान्नार्थान्तरन्यास.।
—वामन, काव्याल० सू० वृत्ति पृ० २५९

२. धर्मिणमर्थविशेष सामान्य वाभिधाय तत्सिद्ध्यै।
यत्र सधर्मिकमितर न्यस्येत्सोऽर्थान्तरन्यास ॥
—रुद्रट, काव्यालं० ८,७९

३. वाक्यार्थान्तरविन्यासो मुख्यतात्पर्यसाम्यत.।
ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासो यः समर्पकतयाहितः ॥
—कुन्तक, वक्रोक्तिजी० ३,३९

४. भोज, सरस्वतीकण्ठा० ४,६७-६८

के पौर्वापर्य-क्रम को सर्वथा उपेक्षणीय माना। दोनो के पौर्वापर्य का व्यतिक्रम भोज के पूर्व भी मान्य हो चुका था।

आचार्य मम्मट ने भी अर्थान्तरन्यास-विषयक पूर्व-प्रचलित मान्यता का अनुमोदन करते हुए विशेष या सामान्य का क्रमश. सामान्य या विशेष से साधर्म्य अथवा वैधर्म्य के द्वारा समर्थन इस अलङ्कार का लक्षण माना है।[1]

रुय्यक ने दो अर्थो मे सामान्य-विशेष-भाव तथा समर्थ्य-समर्थक-भाव की धारणा पूर्ववर्ती आचार्यो से ली और इसके साथ ही अर्थान्तरन्यास के लक्षण मे कार्य-कारण-भाव की धारणा अपनी ओर से जोड दी। इस प्रकार उनके मतानुसार सामान्य-विशेष-भाव तथा कार्य-कारण-भाव से पूर्वनिर्दिष्ट प्रकृत का समर्थन अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है।[2] 'अलङ्कार-सूत्र' के टीकाकार जयरथ ने यह आपत्ति की है कि कार्य-कारण-भाव के स्थल मे अर्थान्तरन्यास मानने से उसका काव्यलिङ्ग से अभेद हो जायगा, क्योकि दो अर्थो मे कार्य कारण-भाव काव्यलिङ्ग का विषय है। अत , केवल सामान्य विशेष तक ही अर्थान्तर-न्यास का क्षेत्र माना जाना चाहिए। रुय्यक ने कार्य-कारण-भावाश्रित अर्थान्तरन्यास का काव्यलिङ्ग से भेद निरूपित करते हुए कहा कि काव्यलिङ्ग मे वाक्यार्थ मे हेतु का निवन्धन हेतु-रूप मे ही हाता है, उपनिबद्ध अर्थ हेतु नही बनता। उपनिबद्ध अर्थ का हेतु होना अर्थान्तरन्यास का विषय है। श्री विद्याचक्रवर्ती ने कार्य-कारण-भाव मे अर्थान्तरन्याम के सद्भाव की मान्यता का समर्थन करते हुए काव्यलिङ्ग से उसका भेद इस आधार पर किया है कि अर्थान्तरन्यास मे प्रकृत का समर्थन अर्थत: होता है; पर काव्यलिङ्ग मे शब्दत· समर्थन होता है। निष्कर्षत· रुय्यक, विद्याचक्रवर्ती आदि के मतानुसार सामान्य-विशेष के अतिरिक्त कार्य-कारण मे भी समर्थ्य-समर्थक सम्बन्ध रहने पर अर्थान्तरन्यास होता है। रुय्यक का कार्य-कारण-भावाश्रित अर्थान्तरन्यास उद्भट आदि पूर्ववर्ती आचार्यो के काव्यलिङ्ग से अभिन्न है। उद्भट काव्यलिङ्ग मे उपन्यस्त अर्थ की हेतुरूपता मानते थे।

---

१. सामान्य वा विशेपो वा तदन्येन समर्थ्यते।
यत्तु सोऽर्थान्तरन्यास· साधर्म्येणेतरेण वा॥

—मम्मट, काव्यप्र० १०,१६५

२. सामान्यविशेपकार्यकारणभावाभ्यां निर्दिष्टप्रकृतसमर्थनमर्थान्तरन्यास।

—रुय्यक, अलङ्कारसर्वस्व, सूत्र स० ३५

रुय्यक ने उसे अर्थान्तरन्यास मानकर अर्थ का हेतु रूप मे उपन्यास काव्यलिङ्ग का लक्षण माना ।

परवर्ती आचार्यों मे विश्वनाथ ने रुय्यक की तरह कार्य-कारण तथा सामान्य-विशेष के साधर्म्य और वैधर्म्य से समर्थ्य-समर्थक होने मे अर्थान्तरन्यास माना है ।[१] शोभाकर ने अर्थान्तरन्यास के क्षेत्र को और भी सीमित कर केवल सामान्य से विशेष के समर्थन को उसका विषय माना है ।[२] विशेष से सामान्य के विशदीकरण मे वे उदाहरण-अलङ्कार मानते है और कार्य-कारण-भाव को हेतु अलङ्कार का विषय मानते है । अप्पय्य दीक्षित, जगन्नाथ आदि ने मम्मट की तरह केवल सामान्य-विशेष मे अर्थान्तरन्यास की सत्ता मानी है ।[3]

अर्थान्तरन्यास के लक्षणो की परीक्षा से प्राप्त निष्कर्ष निम्नलिखित है—

(क) इसमे दो अर्थो मे सामान्य-विशेष या कार्य-कारण-सम्बन्ध रहता है ।

(ख) यह सम्बन्ध समर्थ्य-समर्थक-भाव में पर्यवसित होता है ।

(ग) इसमे प्रकृत का समर्थन होता है और अप्रकृत समर्थक होता है ।

(घ) समर्थन साधर्म्य और वैधर्म्य, दोनो से हो सकता है ।

(ङ) साधारणत इसमे समर्थ्य वाक्य पहले और समर्थक पीछे आता है; पर यह नियम नही । समर्थक पहले और समर्थ्य पीछे भी रखा जा सकता है ।

अर्थान्तरन्यास-भेद

दण्डी ने अर्थान्तरन्यास के आठ भेद—विश्वव्यापी, विशेषस्थ, श्लेषाबिद्ध, विरोधवान्, अयुक्तकारी, युक्तात्मा, युक्तायुक्त और विपर्यय—किये थे ।[४] ये भेद परवर्ती काम मे स्वीकृत नही हुए । रुय्यक ने सामान्य-विशेष तथा कार्य-कारण के पारस्परिक समर्थन के आधार पर चार भेद कर साधर्म्य तथा वैधर्म्य से समर्थन किये जाने के आधार पर चारो के दो-दो भेद माने हैं ।

---

१. द्रष्टव्य, विश्वनाथ, साहित्यद० १०,८०

२ द्रष्टव्य, शोभाकर, अलङ्कार रत्नाकर, सूत्र ७६

३. द्रष्टव्य, अप्पय्य दी०, कुवलया० १२२ तथा जगन्नाथ, रसगङ्गाधर पृ० ७४६

४. विश्वव्यापी विशेषस्थ. श्लेषाबिद्धो विरोधवान् ।
अयुक्तकारी युक्तात्मा युक्तायुक्तो विपर्ययः ।—दण्डी,काव्यादर्श २,१७०

समर्थ्य-समर्थक वाक्यो के पौर्वापर्य के आधार पर तथा 'हि' शब्द के उपादान से समर्थन के शाब्द होने और उसके अनुपादान से आर्थ होने के आधार पर भी अनेक भेदो की कल्पना की गयी है।[1]

आक्षेप

आक्षेप का अलङ्कारत्व भारतीय अलङ्कार-शास्त्र के प्रायः सभी आलङ्कारिको को मान्य है। उसकी लोकप्रियता का रहस्य उसकी चमत्कार-पूर्ण उक्तिभङ्गी मे है। इसमे अभीष्ट अर्थ का सीधा कथन न होकर प्रकारान्तर से उसका बोध कराया जाता है, निपेधमुखेन अर्थविधान किया जाता है। आपातत. निषेध तथा परिणामतः अभीप्ट-विधान कराने वाली उक्ति का सौन्दर्य असन्दिग्ध है।

आचार्य भामह ने सर्वप्रथम आक्षेप को परिभाषित करते हुए कहा था कि जहाँ अर्थ मे वैशिप्ट्य लाने के लिए अभीप्ट अर्थ का निषेध-सा किया जाता है, वहाँ आक्षेप अलङ्कार होता है।[2] यह निषेध अतात्त्विक होता है। 'प्रतिषेध' क्रिया के साथ 'इव' के प्रयोग से भामह ने इस तथ्य को स्पष्ट कर दिया है। इसमे आपाततः तो ऐसा लगता है मानो कवि अर्थविशेष का—जो उसका अभीष्ट अर्थ होता है—निषेध कर रहा हो, किन्तु, तत्त्वत उसका पर्यवसान अभीष्ट अर्थ के विधान मे होता है।

आक्षेप मे अतात्त्विक निषेध या निषेधाभास ही आचार्य दण्डी को मान्य हैं। उन्होने परिभाषा मे केवल इतना कहा है कि 'निषेध की उक्ति आक्षेप है।'[3] इसका यह अर्थ नही माना जाना चाहिए कि निषेध का कथन आक्षेप का स्वरूप है। निषेध अपने-आप मे कोई चमत्कार नही रखता। अत, वह अलङ्कार का विधायक नही माना जा सकता। 'प्रतिषेधोक्ति' को आक्षेप का लक्षण मानने मे दण्डी का अभिप्राय यह था कि जहाँ प्रतिषेध की केवल उक्ति होती है, अर्थात् प्रतिपेध कथित होने पर भी तात्त्विक नही होना, ऐसे निषेधाभास के स्थल मे आक्षेप अलङ्कार होता है।

---

१. द्रष्टव्य, रुय्यक, अलङ्कारसर्वस्व, पृ० १३०-३१

२. प्रतिषेध इवेप्टस्य यो विशेषाभिधित्सया।
आक्षेप इति ॥—भामह, काव्याल० २,६८

३. प्रतिषेधोक्तिराक्षेप. ... ।—दण्डी, काव्यादर्श २,१२०

उद्भट ने भामह के आक्षेप-लक्षण को ही किञ्चित् शब्द-भेद के साथ उद्धृत कर दिया है। विवृति मे आक्षेप के उद्देश्य का स्पष्टीकरण करते हुए कहा गया है कि इसमे निषेधाभास से अर्थ मे विशेष का प्रतिपादन होता है। वह विशेष-प्रतिपादन अभीष्ट अर्थ के अशक्य-वचनत्व आदि के रूप मे होता है।[1]

वामन ने आक्षेप को उपमानोपमेय-भाव पर आधृत मानकर उपमान के आक्षेप या प्रतिषेध को आक्षेप का स्वरूप माना है। जहाँ उपमान एव उपमेय का समान कार्य हो, वहाँ प्रस्तुत से भिन्न अप्रस्तुत की अनुपादेयता का प्रतिपादन हो सकता है। अप्रस्तुत की अनुपादेयता का कथन या उसका निषेध वामन के अनुसार आक्षेप है। उपमान का आक्षेप अर्थात् आक्षेप से अकथित उपमान की प्रतिपत्ति भी वामन के अनुसार आक्षेप का दूसरा रूप है।[2] वामन के आक्षेप का प्रथम रूप अन्य आचार्यो के उपमान के अनादर-रूप प्रतीप से तथा उसका दूसरा रूप समासोक्ति से मिलता-जुलता है। इस आक्षेप का समासोक्ति से इतना ही भेद है कि समासोक्ति मे प्रस्तुत से अप्रस्तुत अर्थ की प्रतीति व्यञ्जना से होती है और इसमे आक्षेप से।

रुद्रट के मतानुसार आक्षेप की परिभाषा है कि जहाँ वक्ता लोक मे प्रसिद्ध अथवा विरुद्ध उपमेय रूप अर्थ को कह कर उस वचन का आक्षेप करता हुआ उसकी सिद्धि के लिए उपमान का कथन करता है, वह आक्षेप है।[3] इस प्रकार रुद्रट के अनुसार आक्षेप के रूप-विधान की तीन अवस्थाएँ है—प्रसिद्ध या विरुद्ध उपमेय की उक्ति, उक्त का आक्षेप तथा उसके समर्थन मे उपमान का कथन।

---

१. द्रष्टव्य, उद्भट, काव्याल० सारस० २,२ तथा उसकी विवृति—अभिमतस्याशक्यवचनत्वादिविशेषप्रतिपादनाय य· प्रतिषेधः प्रतिषेध इव ·· ।—न तु प्रतिषेध एव।—पृ० २१

२. उपमानाक्षेपश्चाक्षेप.।—तथा—उपमानस्याक्षेप प्रतिषेधः उपमानाक्षेप·। तुल्यकार्यार्थस्य नैरर्थक्य विवक्षायाम् । उपमानस्याक्षेपत· प्रतिपत्तिरित्यपि सूत्रार्थ·।—वामन, काव्याल० सू० ४,३,२७ तथा उसकी वृत्ति पृ० २७०-७१

३. वस्तु प्रसिद्धमिति यद्विरुद्धमिति वास्य वचनमाक्षिप्य।
अन्यत्तथात्वसिद्ध्यै यत्र ब्रूयात् स आक्षेप ॥—रुद्रट, काव्याल० ८९

कुन्तक ने प्रस्तुत की सौन्दर्य-वृद्धि के लिए निषेधाभास के रूप मे उसका (उपमेय का) आक्षेप, आक्षेप अलङ्कार का लक्षण माना है। कुन्तक के अनुसार आक्षेप का अर्थ निन्दा है। इस प्रकार उपमेय के सौन्दर्य की वृद्धि के लिए उसका निषेध-सा करता हुआ जहाँ कवि उसकी निन्दा करता हो, वहाँ कुन्तक आक्षेप मानेगे।[1] अभीष्ट अर्थ के निषेधाभास या निवर्त्तन की यह धारणा भामह, दण्डी आदि की आक्षेप-धारणा से मिलती-जुलती ही है; पर कुन्तक ने उपमेय के आक्षेप का स्पष्ट उल्लेख कर आक्षेप को औपम्यगर्भ अलङ्कार स्वीकार किया है। वामन के उपमानाक्षेप के विपरीत उपमेयाक्षेप को कुन्तक ने आक्षेप का स्वरूप माना है। ध्यातव्य है कि कुन्तक ने उपमेय के निवर्तन या निषेध को तात्त्विक नही मानकर भामह आदि की तरह निषेधाभास ही माना है।

अग्निपुराणकार ने आक्षेप का दण्डी-कृत लक्षण ही उद्धृत किया है, किन्तु, इसके साथ आक्षेप का अर्थ ध्वनि मानकर श्रुति से अलभ्य अर्थ का ध्वनि से वोधगम्य होने पर बल दिया।[2] आक्षेप और ध्वनि के सूक्ष्म भेद की उपेक्षा कर दोनो को अभिन्न मानना युक्तिसङ्गत नही जान पडता।

भोज ने दण्डी आदि की तरह 'प्रतिषेधोक्ति' को आक्षेप का प्रधान लक्षण माना तथा विधिमुखेन प्रतिषेधोक्ति और निषेधमुखेन प्रतिषेधोक्ति की धारणा व्यक्त की।[3] दण्डी भी निषेधपर्यवसायी विधि या विधिमुखेन निषेधोक्ति को आक्षेप का एक प्रकार मान चुके थे। भोज की आक्षेप-धारणा पर दण्डी की धारणा का प्रभूत प्रभाव है।

मम्मट, रुय्यक आदि आचार्यो ने भामह आदि की तरह विवक्षित अर्थ मे

---

१. निषेधच्छाययाक्षेप कान्ति प्रथयितु पराम्।
आक्षेप इति स ज्ञेय. प्रस्तुतस्यैव वस्तुन.। तथा "प्रकृतस्यैव 'आक्षेप:' क्षेपकृत्।—कुन्तक, वक्रोक्ति जी० ३,४० तथा वृत्ति पृ० ४७०

२. श्रुतेरलभ्यमानोऽर्थो यस्मात् भाति सचेतन।
स आक्षेपो ध्वनि. स्यात् च ध्वनिना व्यज्यते यत:॥
—अग्निपुराण, अध्याय, ३४४

३. विधिनाथ निषेधेन प्रतिषेधोक्तिरत्र या।
शुद्धा मिश्रा च साक्षेपो रोधो नाक्षेपत: पृथक्॥
—भोज, सरस्वतीकण्ठा० ४,६४

विशेष-प्रतिपादन के लिए उसका निषेध-सा किया जाना, अर्थात् निषेधाभास आक्षेप मे अपेक्षित माना है।[1]

शोभाकर, जयदेव, अप्पय्य दीक्षित आदि ने स्वकथित का विचार के बाद प्रतिषेध आक्षेप का लक्षण माना। अप्पय्य-दीक्षित ने अन्य आचार्यों की आक्षेप-विषयक मान्यता का भी निर्देश किया है।[2] जयदेव की तरह वाग्भट, कर्णपूर, विश्वेश्वर पण्डित आदि ने प्रतिषेध को ही आक्षेप का लक्षण माना है। विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, जगन्नाथ, केशव मिश्र, नरसिंह आदि ने भामह की तरह निषेधाभास को आक्षेप माना।

आक्षेप के लक्षणो के इस अध्ययन से स्पष्ट है कि उसकी धारणा मे विकास की कई कोटियाँ आयी है। विकास के मूल मे आक्षेप शब्द के विभिन्न अर्थ रहे है। निन्दा, निवर्त्तन या निषेध, आक्षेपेण बोध आदि अर्थों के आधार पर क्रमशः उपमेयाक्षेप (कुन्तक), उक्त का निषेध (जयदेव आदि), श्रुति से अलभ्य अर्थ का आक्षेप (ध्वनि ?) से बोध (अग्निपुराण) आक्षेप अलङ्कार का लक्षण माना गया है। उक्त मतो मे से आक्षेप के निम्नलिखित रूप अनेक आचार्यों का समर्थन पाते रहे है :—

(क) निषेधाभास अर्थात् अभीष्ट अर्थ का निषेध-सा किया जाना,

(ख) कुछ कहकर पुन· विचार कर उस कहे हुए का प्रतिषेध करना तथा

(ग) विधिमुखेन निषेध किया जाना।

आक्षेप-भेद

उक्त तथा वक्ष्यमाण के आधार पर आक्षेप के दो भेद किये गये है। तीन काल के आधार पर दण्डी ने उसके तीन भेद किये है। उन्होने धर्म, कार्य, अनुज्ञा, प्रभुत्व, अनादर, आशीर्वचन, परुष, साचिव्य, यत्न, उपमा, मूर्छा, अनुक्रोश, श्लिष्ट, अनुशय, सशय तथा अर्थान्तर नामक आक्षेप-भेदो का सोदाहरण निरूपण

---

१. निषेधो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया।
वक्ष्यमाणोक्तविषय स आक्षेपो द्विधा मत· ॥

—मम्मट, काव्यप्र० १०,१६१ तथा

उक्तवक्ष्यमाणयोः प्राकरणिकयोर्विशेषप्रतिपत्त्यर्थं निषेधाभास आक्षेपः।

—रुय्यक, अलङ्कारसर्वस्व, सूत्र स० ३८

२. द्रष्टव्य, अप्पय्य दी०, कुवलया० ७३-७५

किया है।[1] प्रसिद्ध तथा विरुद्ध के आधार पर एव विधि और निषेध के आधार पर भी आक्षेप के भेद कल्पित है। वस्तु-निषेध तथा वस्तु-कथन-निषेध नामक आक्षेप-भेदो की कल्पना नरेन्द्रप्रभ सूरि के द्वारा की गयी।[2]

स्मरण

मम्मट-रुय्यक के पहले स्मरण या स्मृति को अलङ्कार के रूप मे स्वीकृति नही मिली थी। स्मृति के स्वरूप तथा कारण पर दर्शन मे बहुत पहले से विचार हो रहा था। दार्शनिकों ने ज्ञान के स्वरूप का निरूपण करते हुए स्मृतिजन्य ज्ञान, प्रत्यभिज्ञा आदि का विशद विवेचन किया था। रुय्यक और मम्मट के काल मे स्मृति-धारणा की अवतारणा अलङ्कार-क्षेत्र मे हुई। स्मरणालङ्कार मे स्मृति का स्वरूप तो दर्शन की स्मृति से ही गृहीत हुआ, किन्तु उसके सदृश वस्तु के अनुभव से सदृश वस्त्वन्तर की स्मृति को ही स्मरण अलङ्कार माना गया, स्मरण के अन्य रूपो को नही। ध्यातव्य है कि पूर्वानुभूत वस्तु की स्मृति सदृश वस्तु के अनुभव से तो हो ही आती है, अदृष्ट चिन्ता आदि से भी स्मृति उत्पन्न होती है। पूर्वानुभूत वस्तु का जिस किसी वस्तु से साहचर्य रहा हो, उसका अनुभव भी अनुभूत वस्तु की स्मृति मे सहायक होता है। राम की अँगूठी देख कर सीता राम की स्मृति से विह्वल हो उठी होगी। गोदावरी का तट राम के हृदय मे सीता के साथ बिताये क्षणो की स्मृति जगा देता है। ऐसी स्मृतियाँ सादृश्य पर नही, साहचर्य आदि पर अवलम्बित है। रुय्यक, मम्मट आदि के अनुसार केवल सादृश्यजन्य स्मृति ही स्मरणालङ्कार है।[3]

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से स्मृति की प्रक्रिया यह है कि मन मे किसी वस्तु का जो अनुभव होता है, उसका सस्कार मन पर बच रहता है। सस्कार के रूप मे मन मे स्थित अनुभूत वस्तु के समान किसी वस्तु का अनुभव करने अथवा उस वस्तु से साहचर्य आदि किसी प्रकार का सम्बन्ध रखने वाली

---

१. द्रष्टव्य, दण्डी, काव्यादर्श २,१२०-६८

२. नरेन्द्रप्रभ सूरि, अलङ्कार महोदधि, ८

३. यथानुभवमर्थस्य दृष्टे तत्सदृशे स्मृति । स्मरणम्।—मम्मट, काव्यप्र० १०,१९९ तथा

सादृश्यानुभवाद् वस्त्वन्तरस्मृति· स्मरणम्।

—रुय्यक, अलं० सर्वस्व सूत्र सं० १४

वस्तु का अनुभव करने से पूर्वानुभूत वस्तु का सस्कार जाग्रत हो जाता है। अनुभूत वस्तु के साथ सम्बन्ध रखने वाली अन्य वस्तुओ का सस्कार भी उस वस्तु के सस्कार के साथ सम्पृक्त रहता है। अत, एक सस्कार जगकर सम्बद्ध सस्कारों को भी जगा देता है। किसी वस्तु का अनुभव मन मे सस्कार के रूप मे निहित उसके सदृश अन्य वस्तु के सस्कार को जगा देता है। यही स्मृति स्मरण या स्मृति अलङ्कार का रूप-विधान करती है।

भोज ने सादृश्यजन्य स्मृति के साथ चिन्ता, सम्बन्धिज्ञान आदि से समुत्थापित स्मृति को भी स्मरण अलङ्कार का स्वरूप माना है।[१] उनके अनुसार किसी भी आधार पर पूर्वानुभूत वस्तु की होने वाली स्मृति स्मरण अलङ्कार का विषय मानी जायगी। विश्वनाथ, शोभाकर, अप्पय्य दीक्षित आदि सभी प्रमुख आलङ्कारिको ने सादृश्यमूलक स्मृति को स्मरणालङ्कार का विषय माना है। शोभाकर, अप्पय्य दीक्षित, जयरथ आदि आचार्यो ने इसे स्मृति कहा है। रुय्यक, मम्मट आदि ने इसे स्मरण नाम से अभिहित किया है।

वैधर्म्य भी स्मृति का हेतु होता है। राघवानन्द महापात्र ने वैधर्म्य से उत्पन्न स्मृति को भी सादृश्यसमुत्थित स्मृति के साथ स्मरण अलङ्कार माना था। उनके इस मत का उल्लेख साहित्यदर्पण मे मिलता है।[२]

पण्डितराज जगन्नाथ की मान्यता है कि स्मरण सादृश्यजन्य स्मृति तो है ही; पर केवल सदृश के अनुभव से उसके सदृश पूर्वानुभूत वस्तु की स्मृति तक उसके क्षेत्र को सीमित नही किया जा सकता। सदृश वस्तु की स्मृति से उससे सम्बद्ध अन्य अनुभूत वस्तु की स्मृति भी स्मरण अलङ्कार का विषय मानी जायगी।[३] अभिप्राय यह कि यदि कोई वस्तु सादृश्य सम्बन्ध से किसी वस्तु की स्मृति जगाती है और उस स्मृति से किसी प्रकार सम्बद्ध किसी अन्य वस्तु की स्मृति हो आने का वर्णन होता है तो वहाँ जगन्नाथ स्मरण

---

१. सदृशादृष्टचिन्तादेरनुभूतार्थवेदनम् ।
स्मरण प्रत्यभिज्ञान-स्वप्नावपि न तद्बहि ॥
—भोज, सरस्वतीकण्ठा० ३,४२

२. राघवानन्दमहापात्रास्तु वैसादृश्यात् स्मृतिमपि स्मरणालङ्कारमिच्छन्ति ।—विश्वनाथ, साहित्यद० पृ० ६१६

३. सादृश्यज्ञानोद्बुद्धसस्कारप्रयोज्यं स्मरण स्मरणालङ्कारः ।
—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर पृ० ३४१

अलङ्कार मानेगे। रुय्यक मम्मट आदि ने स्मरण का एक ही रूप माना था—किसी वस्तु के अनुभव से उसके सदृश वस्तु की स्मृति—पर, जगन्नाथ ने किसी वस्तु के अनुभव से उसके सदृश अन्य की स्मृति और पुन उस स्मृत वस्तु से किसी दूसरी वस्तु की स्मृति को भी स्मरण का दूसरा रूप माना। उन्होने स्मृति को परिभाषित करते हुए कहा है कि 'सादृश्य के बोध से उद्बुद्ध सस्कार के फलस्वरूप होने वाले स्मरण को स्मरणालङ्कार कहते है।'

इस प्रकार जगन्नाथ के मतानुसार स्मृति या स्मरण के रूप होगे—(क) अनुभूयमान अर्थ से उसके सदृश पूर्वानुभूत वस्तु की स्मृति, (ख) स्मर्यमाण अर्थ से उसके सदृश अनुभूत वस्तु की स्मृति और (ग) अनुभूयमान के सदृश की स्मृति से उससे किसी प्रकार सम्बद्ध अन्य वस्तु की स्मृति। निष्कर्षत, जगन्नाथ केवल अनुभूयमान के सदृश की स्मृति को ही स्मरण नहीं मानते, सादृश्य द्वारा उद्वुद्ध सस्कार के फलस्वरूप होने वाली स्मृति को वे व्यापक रूप मे स्मरण मानते है। सादृश्य अनुभूयमान तथा स्मरण होने वाली वस्तु के बीच भी रह सकता है और स्मर्यमाण तथा उससे स्मरण होने वाली वस्तु के बीच भी। सादृश्य साक्षात् हो या परम्परया, दोनों मे जगन्नाथ स्मरण मानते है। कुछ लोग जगन्नाथ के एक उदाहरण मे, जिसमे सेना को देखकर कृष्ण के मन में सादृश्य से समुद्र की स्मृति हो आती है और समुद्र के सम्बन्ध से शेषशय्या और निद्रा की, अलङ्कारत्व नही मानते, क्योकि वे इसे (निद्रा की स्मृति को) 'सदृश के ज्ञान से उद्वुद्ध सस्कार द्वारा उत्पन्न या सेना के सदृश विषय की स्मृति नही मानते।[1] किन्तु, तथ्य यह है कि सेना से समुद्र का स्मरण सदृश का ही ज्ञान है और उससे सम्बद्ध शय्या, निद्रा आदि का ज्ञान 'सदृश की स्मृति से उद्बुद्ध सस्कार से ही उत्पन्न है।' अत परम्परया वह भी सादृश्यानुभव पर ही अवलम्बित है और ऐसी स्थिति मे अलङ्कारत्व न मानने का कोई सबल आधार नही। अनुभूयमान से स्मर्यमाण के सादृश्य-विधान मे जो चमत्कार है वही स्मरण का अलङ्कारत्व है। स्मर्यमाण एव अन्य स्मर्यमाण के बीच सादृश्य-विधान मे चमत्कार को अस्वीकार नही किया जा सकता। अत., स्मृति के इस रूप को भी अलङ्कार मानना उचित ही है। जगन्नाथ ने रुय्यक के स्मरणालङ्कार-लक्षण मे स्मर्यमाण से उद्बुद्ध स्मृति का सङ्ग्रह न

१. द्रष्टव्य—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ३४२-४३ तथा उस पर नागेश की टिप्पणी।

होने के कारण उसका खण्डन करते हुए यह सुझाव दिया है कि उसमे 'सदृश के अनुभव' से स्मृति की जगह 'सदृश के ज्ञान' से स्मृति का उल्लेख होता तो वह लक्षण अव्याप्ति दोष से मुक्त हो पाता। रुय्यक स्मृति का एक ही रूप मानते थे—अनुभूयमान से सदृश की स्मृति। अत उनकी दृष्टि को स्पष्ट करने के लिए उनकी परिभाषा पूर्ण है। वे जगन्नाथ की तरह स्मरण से उद्बुद्ध स्मरण मे तो स्मरणालङ्कार मानते ही नही थे। अत, उनकी परिभाषा मे परिवर्त्तन का सुझाव कोई अर्थ नही रखता।

स्मरण अलङ्कार के सम्बन्ध मे आचार्यो की मान्यता के इस परीक्षण से निम्नलिखित बाते स्पष्ट होती है :—

(क) स्मरण सादृश्यमूलक अलङ्कार है। अत, सदृश वस्तु के ज्ञान से उद्बुद्ध स्मृति ही इसका विषय है।

(ख) सदृश वस्तु के ज्ञान से साक्षात् या परम्परया सम्बद्ध स्मृति भी वस्तुतः सादृश्यमूलक ही मानी जायगी। अत, ऐसे स्थल मे भी स्मरण अलङ्कार माना जाना चाहिए। इस प्रकार सादृश्यमूलक स्मृति या स्मरण अलङ्कार के तीन रूप हो सकते है—(१) सदृश के अनुभव से सदृश की स्मृति, (२) सदृश के अनुभव से अन्य की स्मृति होने पर उससे किसी प्रकार सम्बद्ध की स्मृति तथा (३) किसी वस्तु के ज्ञान से उसके सम्बन्धी की स्मृति और पुन स्मर्यमाण के सदृश की स्मृति। मयूरपिच्छ को देखकर सादृश्य से प्रिया के रतिविगलित केश-पाश की स्मृति प्रथम का तथा सादृश्य से केश-पाश की स्मृति होने पर उससे सम्बद्ध रगरभस की स्मृति द्वितीय का उदाहरण होगी। चातक को देख कर उसके सम्बन्धी सजल मेध की स्मृति तथा उसके सादृश्य से कृष्ण की स्मृति तृतीय का उदाहरण है।

स्मरण अलङ्कार मे विचारणीय है कि अनुभूत होने वाली वस्तु तथा उसके कारण स्मरण होने वाली वस्तु मे कौन उपमेय होती है और कौन उपमान ? रुय्यक ने दो उदाहरण देकर यह दिखाया है कि एक मे अनुभूयमान उपमेय है और दूसरे मे अनुभूयमान उपमान। अलङ्कार के क्षेत्र मे उपमान और उपमेय के बीच विभाजक रेखा नही है। एक स्थिति मे जो उपमेय रहता है वह दूसरी स्थिति मे उपमान बन जाता है। अतः, रुय्यक की यह मान्यता उचित ही है कि अनुभूयमान से स्मर्यमाण का सादृश्यविधान भी हो सकता है और स्मर्यमाण से अनुभूयमान का सादृश्यविधान भी।

स्मरण के भेद :

अप्यय्य दीक्षित, जगन्नाथ आदि ने इस सादृश्यमूलक अलङ्कार का त्रिविध भेद किया है। यह भेद-निरूपण साधारण धर्म के अनुगामितया निर्देश (जैसा उपमा आदि मे होता है), बिम्बप्रतिबिम्बभाव से (दृष्टान्त आदि की तरह) निर्देश एव वस्तुप्रतिवस्तु भाव से (प्रतिवस्तूपमा आदि की तरह) निर्देश के आधार पर है। वैधर्म्य से स्मृति भी स्मरण का एक भेद माना गया है।[1]

भ्रान्तिमान्

भ्रान्ति या भ्रान्तिमान् के अलङ्कार रूप मे कल्पित होने के पूर्व दर्शन के ज्ञान-शास्त्र मे उसके स्वरूप का निर्धारण हो चुका था। भ्रान्ति किसी वस्तु मे उससे भिन्न वस्तु का निश्चयात्मक ज्ञान है। यह ज्ञान अतात्त्विक होने पर भी निश्चयात्मक होता है। जब तक किसी वस्तु मे अन्य वस्तु की भ्रान्ति रहती है, तब तक उस यथार्थ वस्तु का आभास भी ज्ञाता के मन में नहीं रहता। भ्रम की दशा मे यथार्थ ज्ञान की तरह ही असत्य वस्तु का एक-कोटिक ज्ञान रहता है।

सादृश्य भ्रान्ति का हेतु होता है। किसी वस्तु मे उसके सदृश अन्य वस्तु का ही भ्रमात्मक ज्ञान होता है। शोक, भय, काम, उन्माद आदि से भी भ्रान्ति उत्पन्न होती है, पर ऐसी भ्रान्ति को अलङ्कार नही माना गया है। भ्रान्ति की प्रक्रिया विचारणीय है। मन मे पूर्वानुभूत असख्य वस्तुओ का सस्कार पडा रहता है। किसी वस्तु के अनुभव से सामान्यतः उसी वस्तु का पूर्वानुभूतिजन्य सस्कार जाग्रत हो जाता है। इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा सम्भव होती है, किन्तु कभी-कभी किसी वस्तु का अनुभव उसी वस्तु का सस्कार न जगाकर उसके सदृश अन्य वस्तु का सस्कार जगा देता है। परिणामतः, उस अनुभूयमान वस्तु के सदृश किसी अन्य वस्तु का मानस-प्रत्यक्ष होने लगता है। यही भ्रम कहलाता है। रास्ते पर पडी हुई रस्सी यदि रस्सी का सस्कार मन मे जगाती हो, तो उसकी प्रत्यभिज्ञा होगी; पर यदि उससे उसके सदृश साँप का मन मे सोया हुआ सस्कार जग पडे, तो उसमे अन्य वस्तु की भ्रान्ति होगी। किसी वस्तु मे जिस अन्य वस्तु की भ्रान्ति होती है उसकी पूर्वानुभूति आवश्यक है। पूर्वानुभूति-जन्य सस्कार के उद्‌बोध के अभाव में

१. द्रष्टव्य, जगन्नाथ, रसगङ्गा० पृ० २५३-५४

जगन्नाथ आदि सभी आचार्यो ने एक वस्तु मे अन्य वस्तु के भ्रमात्मक ज्ञान को भ्रान्तिमान् अलङ्कार माना है। शोभाकर ने भ्रमात्मक प्रतीति-मात्र के रमणीय वर्णन मे अलङ्कारत्व माना है। उनकी मान्यता है कि केवल सादृश्य-समुत्थ भ्रमात्मक प्रतीति मे अलङ्कारत्व मानना भ्रान्तिमान् के क्षेत्र को सीमित करना है।[1] शोक, भय, उन्माद आदि से उत्पन्न भ्रम का वर्णन भी भ्रान्तिमान् अलङ्कार का विषय माना जाना चाहिए, पर यह सिद्धान्त रुय्यक, मम्मट आदि को मान्य नही था। शोभाकर को छोड, प्राय: सभी आचार्यो ने सादृश्यमूलक भ्रान्ति मे ही भ्रान्तिमान् अलङ्कार की सत्ता मानी है। कुछ आचार्यो ने भ्रान्ति का नाममात्र उसके लक्षण मे कह दिया है। कुछ ने अलङ्कारत्व के लिए 'कवि प्रतिभा कल्पित' भ्रान्ति का होना आवश्यक माना है। आधिकाश आचार्य एक वस्तु मे अन्य वस्तु के (उपमेय मे उपमान के) सादृश्य के कारण निश्चयात्मक ज्ञान की सुन्दर कल्पना को भ्रान्तिमान् अलङ्कार मानते है। यही लक्षण अधिक ग्राह्य जान पड़ता है। कुछ आचार्यों ने इसे भ्रान्ति सज्ञा से अभिहित किया है।

भ्रान्तिमान् के भेद

जयरथ, जगन्नाथ आदि को साधारण धर्म के अनुगामितया बिम्बप्रतिबिम्ब-भावेन तथा वस्तुप्रतिवस्तुभावतया निर्देश के आधार पर इसके तीन भेद इष्ट हैं। भोज ने भ्रान्ति के अनेक भेदों की कल्पना की है।[2]

सन्देह

स्मृति तथा भ्रान्ति की तरह सन्देह की धारणा का विकास भी दर्शन के ज्ञान-विवेचन मे हुआ था। सन्देह या सशय किसी वस्तु में उस वस्तु के तथा उससे भिन्न वस्तु के अनिश्चयात्मक ज्ञान की स्थिति है। इसमे ज्ञान द्वैकोटिक तथा अनिश्चयात्मक रहता है। किसी वस्तु मे उस वस्तु के साथ अन्य वस्तु का भी अनिश्चयात्मक ज्ञान प्रधानत· उन दो वस्तुओ के बीच सादृश्य के कारण ही होता है। अत, सन्देह सादृश्यमूलक अलङ्कार माना गया है।

सन्देह और सशय पर्यायवाची शब्द हैं। अलङ्कार के रूप मे ससन्देह तथा ससशय व्यपदेश का भी प्रयोग हुआ है। इन अभिधानों के मूल में यह धारणा

---

१. द्रष्टव्य, शोभाकर, अल० रत्नाकर, पृ० ५३

२. द्रष्टव्य, भोज, सरस्वतीकण्ठा० ३,३५-३८

रही होगी कि इस अलङ्कार मे सन्देह या सशय की उक्ति रहती है, अतः इसे ससन्देह या ससशय (सन्देह या सशय की उक्ति के साथ) कहा जाना चाहिए। सन्देह और सशय नाम भी सन्देह या सशय की उक्ति का अर्थ ही व्यक्त करते है। अतः सन्देह, सशय, ससन्देह या ससशय—किसी भी सज्ञा से प्रस्तुत अलङ्कार को अभिहित किया जा सकता है।

आचार्य भामह ने सर्वप्रथम ससन्देह अलङ्कार की कल्पना कर उसका स्वरूप-निरूपण किया था। उनके अनुसार उपमान के साथ वर्ण्य का अभेद (तत्त्व) तथा भेद-कथन ससन्देह का लक्षण है।[१] स्पष्टत, भामह ने इसे सादृश्यमूलक अलङ्कार माना था। सादृश्य के कारण प्रमाता को वर्ण्य विषय मे उपमान का सशयात्मक ज्ञान होता है क्योकि उसे उपमान से उस वर्ण्य मे भेद की भी प्रतीति होती रहती है। प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत मे अभेद एवं भेद की अनिश्चयात्मक मन स्थिति का वर्णन चमत्कारपूर्ण होने से ससन्देह अलङ्कार बन जाता है।

आचार्य दण्डी ने सशय के वर्णन मे अलङ्कार की स्थिति तो मानी पर उसे उपमा से पृथक् न मानकर उसका सशयोपमा भेद स्वीकार किया।[२] सादृश्य-मूलक होने पर भी सशय की प्रकृति उपमा से अभिन्न नही है। अतः, इसे स्वतन्त्र अलङ्कार मानना ही उचित होता। दण्डी के अनुसार सादृश्य मे पर्यवसित होने वाली सशयहेतुका उपमा सुन्दर होने पर सशयोपमा अलङ्कार कहलाती है।

उद्भट ने भामहकृत ससन्देह-लक्षण को ही स्वीकार किया है। उन्होने इसे सन्देह तथा ससन्देह—दोनो कहा है।[3] वस्तुतः, सह-वाचक उपसर्ग का अर्थ-दृष्टया यहाँ कोई वैलक्षण्य नही है। राजानक तिलक की मान्यता है कि इस अलङ्कार के सन्देह तथा ससन्देह—दोनों नाम व्यवहृत है।

वामन ने उपमेय मे अतिशय या चमत्कार का आधान करने के लिए

---

१. उपमानेन तत्त्वं च भेद च वदतः पुन ।
ससन्देहं वचः स्तुत्यै ससन्देहं विदुर्यथा।—भामह, काव्याल० ३, ४३

२. द्रष्टव्य, दण्डी, काव्यादर्श २, २६

३. द्रष्टव्य, उद्भट, काव्यालं० सारस० ६, २, ५

उपमान और उपमेय का सशय अर्थात् उभयकोटिक अनिश्चयात्मक ज्ञान सन्देह अलङ्कार का लक्षण माना है।[१]

रुद्रट ने एक वस्तु मे सादृश्य के कारण प्रमाता को अनेक का सन्देह होना अनिश्चय-रूप सशय का लक्षण माना। इसके साथ ही उन्होने इस अलङ्कार के निश्चयगर्भ और निश्चयान्त रूप भी स्वीकार किये। निश्चयगर्भ मे उपमेय मे असम्भव वस्तु का सद्भाव या सम्भव वस्तु का अभाव तथा उपमान मे भी इसी तरह सम्भव का अभाव या असम्भव का सद्भाव बताया जाता है। जहाँ अन्त मे वस्तु का निश्चय हो जाय, वहाँ निश्चयान्त संशय होता है।[२] अनिश्चय रूप संशय ही सन्देह का शुद्ध रूप है; जिसमे चित्त दो वस्तु की प्रतीति की दोलाचल स्थिति मे रहता है। निश्चयगर्भ में चित्तवृत्ति शुद्ध संशय की स्थिति से वितर्क की स्थिति मे आ जाती है तथा निश्चयान्त में वह वितर्क के सहारे निश्चयात्मक ज्ञान की स्थिति मे पहुँच जाती है। निश्चयगर्भ और निश्चयान्त सन्देह को सशय अलङ्कार इसलिए माना जाता है कि इन दोनों मे चित्त में सशय की उत्पत्ति के बाद ही वितर्क तथा उसके सहारे निश्चयात्मक ज्ञान की स्थिति का वर्णन होता है। भामह के समय से ही ससन्देह मे वितर्क की स्थिति को समाविष्ट किया जाता रहा है। एक उपमेय मे दो की (उपमान तथा उपमेय की) अनिश्चयात्मक प्रतीति होने पर दोनों में भेद-निरूपण वितर्क का कार्य है। सन्देह अनिश्चयात्मक ज्ञान की एक विशेष स्थिति है तो वितर्क सन्दिग्ध वस्तु मे तत्त्व-ज्ञान का साधन। अलङ्कारशास्त्र में दोनो को सन्देह अलङ्कार मान लिया गया है।

कुन्तक के अनुसार जहाँ कवि-प्रतिभा से सम्भावित (उत्प्रेक्षित) वस्तु का स्वरूप अन्य की भी उत्प्रेक्षा के सम्भव होने के कारण सन्देह की स्थिति को प्राप्त करता है, वहाँ सन्देह अलङ्कार माना जाता है। उन्होने इसका उद्देश्य विशेष सौन्दर्य का आधान माना है।[3] मम्मट, रुय्यक, भोज, विश्वनाथ, शोभाकर, जयदेव, अप्पय्य दीक्षित, जगन्नाथ आदि सभी प्रमुख आलङ्कारिकों

---

१. उपमानोपमेययोरतिशयार्थं य क्रियते सशय· स सन्देह·।
—वामन, काव्याल० सू० वृत्ति पृ० २४४

२. द्रष्टव्य, रुद्रट, काव्याल० ८, ५९-६५

३ यस्मिन्नुत्प्रेक्षित रूप सन्देहमेति वस्तुनः।
उत्प्रेक्षान्तरसद्भावात् विच्छित्त्यै (सन्देहो मत.)॥
—कुन्तक, वक्रोक्तिजी० ३, ४२

ने सशयात्मक मन.स्थिति के चारुतापूर्ण वर्णन मे सन्देह अलङ्कार माना है। अधिकाश आचार्यो को उसके निश्चयगर्भ तथा निश्चयान्त भेद मान्य है। रुय्यक ने शुद्ध, निश्चयगर्भ तथा निश्चयान्त के साथ एक भिन्नाश्रय भेद भी माना है। साधारण धर्म के त्रिविध निर्देश के आधार पर भी सन्देह के तीन भेद माने जा सकते है।

उल्लेख

रुय्यक के 'अलङ्कार-सूत्र' मे उल्लेख अलङ्कार का प्रथम उल्लेख मिलता है। रुय्यक ने इसे परिभाषित करते हुए कहा था कि जहाँ एक वस्तु का निमित्त-भेद से अनेक रूप मे ग्रहण होता है वहाँ उल्लेख अलङ्कार होता है।[1] अभिप्राय यह कि जहाँ कवि प्रमाता के द्वारा एक वस्तु का अनेक धर्मों के योग से, अनेक रूपो मे ग्रहण किये जाने का वर्णन करता है, वहाँ उल्लेख अलङ्कार माना जाता है। इसमे एक वस्तु के बहुल रूपों का उल्लेख होता है। अत·, इसकी संज्ञा अन्वर्था है। रुचि-भेद, तात्कालिक अपेक्षा के भेद, व्युत्पत्ति-भेद आदि से एक वस्तु का अनेकधा उल्लेख सम्भव होता है। रुय्यक ने उल्लेख-लक्षण मे प्रमाता की अनेकता का उल्लेख नही किया था; पर 'अलङ्कार-सर्वस्व' मे उल्लेख का भ्रान्तिमान्, अभेद मे भेद-रूप अतिशयोक्ति आदि से भेद-निरूपण के क्रम मे यह कहा गया है कि उल्लेख मे अनेक प्रमाता होते है, जो एक वस्तु को रुचि आदि के भेद से अनेक रूपो मे ग्रहण किया करते है। एक वस्तु एक प्रमाता को उसकी रुचि आदि के अनुरूप एक रूप मे गृहीत होती है; पर दूसरा प्रमाता उसी वस्तु को दूसरे रूप मे ग्रहण करता है।

विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' मे उल्लेख के दो रूपो का सङ्केत दिया। उनके अनुसार एक वस्तु का अनेकधा उल्लेख कही प्रमाता के भेद से हो सकता है और कही विषय-भेद से। इस प्रकार विश्वनाथ के अनुसार एक वस्तु का अनेक प्रमाताओ के द्वारा अनेक रूपो मे ग्रहण होने का वर्णन उल्लेख का एक रूप होगा और एक प्रमाता के द्वारा एक वस्तु का विषय-भेद से अनेक रूपो मे ग्रहण होने का वर्णन उसका दूसरा रूप माना जायगा।[2]

---

१. एकस्यापि निमित्तवशादनेकधा ग्रहण उल्लेख.।
—रुय्यक, अलङ्कारसर्वस्व सूत्र सं० १९

२. क्वचिद्भेदाद्ग्रहीतॄणा विषयाणां तथा क्वचित्।
एकस्यानेकधोल्लेखो यः स उल्लेख इष्यते॥
—विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, १०,५३

'अलङ्काररत्नाकार' मे शोभाकर ने सामान्य रूप से 'एक वस्तु का अनेकधा कल्पन' उल्लेख का स्वरूप माना है।[1] वे विश्वनाथ के अनुयायी जान पडते है। जयदेव ने अनेक प्रमाताओ के द्वारा एक वस्तु के अनेकधा उल्लेख-मात्र को उल्लेख का लक्षण माना।[2] अप्पय्य दीक्षित ने भी 'चित्रमीमासा' मे उल्लेख का यही लक्षण माना है; पर 'कुवलयानन्द' मे उन्होने इसके साथ उल्लेख के दूसरे रूप—एक प्रमाता के द्वारा एक वस्तु का विषय-भेद से अनेकधा उल्लेख—का भी उल्लेख किया है।[3] दीक्षित के द्वारा किसी विषय मे अपनी मान्यता के साथ उस विषय मे पूर्व-प्रचलित अन्य मान्यताओ का उल्लेख किया जाना 'कुवलयानन्द' का वैशिष्ट्य है। सम्भव है, दीक्षित उल्लेख का एक ही रूप मानते हो। इतना स्पष्ट है कि उल्लेख के सम्बन्ध मे उक्त दो प्रकार की मान्यताएँ प्रचलित थी। रुय्यक के उल्लेख-लक्षण मे दोनो की सम्भावना थी। रुय्यक के उल्लेख-लक्षण-सूत्र का निमित्त-भेद से एक वस्तु का अनेक प्रमाताओं द्वारा अनेकधा ग्रहण तथा एक प्रमाता के द्वारा भी एक वस्तु का निमित्त-भेद से अनेकधा ग्रहण अर्थ निकाला जा सकता है। विद्याधर, विद्यानाथ, जगन्नाथ आदि आचार्यो ने उल्लेख में प्रमाता-भेद आवश्यक माना है। एक की अनेकधा कल्पना प्रमाता-भेद से भी सम्भव है और विषय-भेद से भी। विषय-भेद से एक वस्तु का भिन्न-भिन्न रूपों मे उल्लेख भी उल्लेख अलङ्कार का एक रूप माना जाना चाहिए। अतः, उल्लेख के निम्नलिखित दो रूप स्वीकार्य है :—

(क) जहाँ अनेक प्रमाता रुचि आदि के भेद से एक वस्तु को अनेक रूपों में ग्रहण करते हो तथा (ख) जहाँ विषय-भेद से एक वस्तु का अनेक रूपो मे उल्लेख हो।

रुय्यक आदि आचार्यो ने उल्लेख-परिभाषा मे 'ग्रहण' शब्द का प्रयोग किया था। विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, जयदेव आदि ने 'ग्रहण' के स्थान पर 'उल्लेख' शब्द तथा शोभाकर आदि ने 'कल्पन' शब्द का प्रयोग किया।

---

१. एकस्यानेकधा कल्पनमुल्लेख.।
—शोभाकर, अलङ्कार रत्नाकर, सूत्र ३४

२. बहुभिर्बहुधोल्लेखादेकस्योल्लेखिता मता।—जयदेव, चन्द्रालोक, ५,२३

३. द्रष्टव्य, अप्पय्य दी० चित्रमीमासा, पृ० ६५ तथा कुवलयानन्द, २२-२३

उक्त शब्दों के प्रयोग से उल्लेख के स्वरूप मे कोई अन्तर नही आता। सबका तात्पर्य एक ही है। रुय्यक आदि के सामने प्रमाता थे। प्रमाता के माध्यम से जब कवि उल्लेख अलङ्कार की योजना करेगा तो प्रमाताओ के द्वारा वस्तु के विभिन्न रूपो का किस प्रकार ग्रहण किया जाता है, इसी का वर्णन वह करेगा। इसलिए 'ग्रहण' शब्द का प्रयोग सार्थक है। काव्य का समग्र वर्णन कवि के द्वारा कल्पित या वर्णित होता है, अतः 'कल्पन' तथा 'उल्लेख' शब्दो का प्रयोग भा समीचीन ही है।

अतिशयोक्ति

अतिशयोक्ति को बहुत ही महत्त्वपूर्ण अलङ्कार माना गया है। भामह ने अतिशयोक्ति के स्वरूप-विवेचन-क्रम मे वक्रोक्ति अर्थात् उक्तिगत वक्रता को इसका पर्याय मानकर अतिशयोक्ति को सभी अलङ्कारो का प्राण माना था।[१] दण्डी ने भी इसे अन्य अलङ्कारो का आश्रय माना है।[२] अलङ्कार-शास्त्र मे अनेक अलङ्कारों के मूल मे अतिशयोक्ति का समान तत्त्व देखकर उन्हे अतिशयोक्तिमूलक अलङ्कार-वर्ग मे वर्गीकृत किया गया है। रुद्रट को छोड प्राय· सभी आचार्यो ने अतिशयोक्ति को एक स्वतन्त्र अलङ्कार मानकर उसका स्वरूप-निरूपण किया है। रुद्रट ने अतिशयमूलक अनेक अलङ्कारो का मूल तत्त्व अतिशयोक्ति को माना था। इसीलिए, सम्भवत, उन्होने अतिशयोक्ति को अलङ्कार-विशेष के रूप मे स्वतन्त्र सत्ता नही मानी।

आरम्भ मे अतिशयोक्ति नाम के अनुरूप सातिशय कथन को उक्त अलङ्कार का लक्षण माना जाता था। भामह ने उसकी परिभाषा मे अतिलौकिक वर्णन (लोकातिक्रान्तगोचर वचन) तथा गुणातिशय का योग अपेक्षित माना था।[3] इस अलङ्कार-विशेष के स्वरूप-निरूपण के समय भी भामह इस तथ्य से अनभिज्ञ नही थे कि उक्ति की अतिलौकिकता, गुणातिशय-वर्णन आदि प्रायः समग्र काव्योक्तियों मे वर्त्तमान रहते है। इसीलिए उन्होने अतिशयोक्ति के पर्याय वक्रोक्ति को सम्पूर्ण काव्यार्थ का विभावक और सभी अलङ्कारो का

१ सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्या कविना कार्य. कोऽलकारोऽनया विना॥
—भामह, काव्याल० २, ८५

२. द्रष्टव्य, दण्डी, काव्यादर्श २, २२०

३. द्रष्टव्य, भामह, काव्याल० २, ८१-८४

विधायक कहा था। स्पष्टत., भामह को अतिशय-उक्ति दो रूप अभीष्ट थे—(१) समग्र काव्योक्तियो के मूल मे निहित रह कर उनमे सौन्दर्य का आधान करने वाला रूप तथा (२) विशेष अलङ्कार के रूप मे वर्ण्य मे गुणातिशय का आधान करने वाला तथा अतिलौकिक वर्णन करने वाला रूप। भामह अतिशयोक्ति के सामान्य और विशेष रूप का विभाग नही कर पाये। उद्योतकार ने भामह के उक्त कथन की व्याख्या करते हुए अपना यह मन्तव्य प्रकट किया है कि उसमे वक्रोक्ति का तात्पर्य अतिशयोक्ति अलङ्कार नही हो सकता, वहाँ काव्यगत चमत्कार विवक्षित है।[1] आनन्दवर्धन ने भी लोकोत्तर चमत्कार वाली उक्ति को ही अतिशयोक्ति मानकर सर्वालङ्काररूपा कहा होगा, अलङ्कार-विशेष को नही।[2] सामान्य रूप से काव्योक्तियो मे रहने वाले अतिशय या वक्रता के तत्त्व से अतिशयोक्ति नामक अलङ्कार-विशेष के भेद-निरूपण की अवश्यकता शेष थी। दण्डी, उद्भट, आदि की अतिशयोक्ति का स्वरूप भी सामान्य और व्यापक ही रहा। दण्डी ने विशेष का अर्थात् प्रस्तुत के उत्कर्ष का अतिलौकिक वर्णन अतिशयोक्ति का लक्षण माना है। स्पष्टत. दण्डी की अतिशयोक्ति-धारणा भामह की धारणा से मिलती-जुलती ही है। उद्भट ने भामह का अतिशयोक्ति-लक्षण ही किञ्चित् शब्दभेद से उद्धृत कर दिया है। किसी निमित्त से अतिलौकिक वचन के निबन्धन को अतिशयोक्ति का लक्षण मानकर उद्भट ने उसके चार भेदो का सोदाहरण निरूपण किया है।[3]

वामन ने उद्भट के द्वारा कल्पित अतिशयोक्ति के चार भेदो मे से एक भेद 'बहिरसत सम्भावनायां निबद्ध' को ही अतिशयोक्ति का स्वरूप स्वीकार किया। उनके अनुसार सम्भाव्य अर्थ और उसके उत्कर्ष की कल्पना अतिशयोक्ति है।[4] वामन की इस अतिशयोक्ति-परिभाषा की कल्पना के मूल मे भी अतिशयोक्ति अभिधान का यौगिक अर्थ ही है। लोक मे असिद्ध अतिलौकिक अर्थ का उत्कर्षपूर्ण वर्णन वामन को अतिशयोक्ति मे अभीष्ट है।

१. उद्योतकारास्तु 'वक्रोक्ति वक्रतया गौणतया उक्ति.' इति व्याचख्यु:। .. सर्वालङ्कारबीजमेषेति भाव । अय हि भामहाशय ।—काव्यप्र०, बालबोधिनी टीका, पृ० ७४४

२ आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक, ३, ३७ तथा उसकी वृत्ति, पृ० २०७-८

३. द्रष्टव्य, उद्भट, काव्याल० सारस० २, २३-२५

४. सम्भाव्यधर्मतदुत्कर्षकल्पनाऽतिशयोक्ति ।—वामन, काव्या० ४,३,१०

कुन्तक ने दण्डी आदि की तरह वर्ण्य वस्तु के सहृदयाह्लादकारी धर्म का चमत्कार के साथ अपूर्व अतिशय वर्णन अतिशयोक्ति का लक्षण माना।[१] अग्निपुराणकार ने भी लोक-सीमा का अतिक्रमण करने वाले वस्तु-धर्म का वर्णन अतिशय का मुख्य लक्षण माना। सातिशय या अलौकिक वर्णन के भेदो का निर्देश करते हुए उन्होने गुण, जाति, क्रिया आदि का वैकल्य—(लोकप्रसिद्ध गुण, जाति, क्रिया आदि का विपर्यय) अतिशयोक्ति मे अपेक्षित माना है और इसे विशेषोक्ति कहा है। यह विशेषोक्ति-लक्षण दण्डी के विशेषोक्ति-लक्षण से अभिन्न है।[२] भोज केवल गुण तथा क्रिया का ही अतिशय-पूर्ण वर्णन अतिशयोक्ति मे अपेक्षित मानते है। उनकी मान्यता है कि जाति और द्रव्य मे अतिशय की कल्पना सम्भव ही नही। अतः अतिशयोक्ति गुण और क्रियागत ही होती है। भोज ने प्रभाव, अनुभव तथा अन्योन्य की अतिशयता को भी अतिशयोक्ति का क्षेत्र स्वीकार किया है।[3]

मम्मट के समय अतिशयोक्ति के स्वरूप मे विकास की एक निश्चित दिशा आयी। आचार्य मम्मट ने अतिशयोक्ति को विशिष्ट रूप दिया। इस तरह अतिशयोक्ति अलङ्कार को सामान्य अतिशय-पूर्ण वर्णन से भिन्न अपना स्वतन्त्र अस्तित्व मिला। मम्मट ने उद्भट के द्वारा कल्पित अतिशयोक्ति के सम्भाव्यमान अर्थ-निबन्धन तथा कार्य-कारण-पौर्वापर्य-विपर्यय भेदो को स्वीकार किया है, जो अलौकिक वर्णन के दो रूप है, किन्तु परिभाषा मे 'प्रस्तुत और अप्रस्तुत के बीच अध्यवसान' (आहार्याभेदनिश्चय) का उल्लेख मम्मट की विशेषता है। उनके अनुसार उपमान के द्वारा उपमेय का निगरण कर (उपमान से पृथक् उपमेय का निर्देश न कर) उपमेय का अध्यवसान अर्थात् आहार्य अभेद-ज्ञान कराना अतिशयोक्ति का एक रूप है, प्रस्तुत का अन्यत्त्र रूप से वर्णन उसका दूसरा रूप है, 'यदि' अर्थ की कल्पना से सम्भाव्य अर्थ का निबन्धन तथा

---

१. यस्यामतिशय कोऽपि विच्छित्त्या प्रतिपाद्यते।
वर्णनीयस्य धर्माणां तद्विदाह्लाददायिनाम्।
—कुन्तक, वक्रोक्तिजी० ३, २९

२. अग्निपुराण, ३४४, २५-२६, तुलनीय—दण्डी काव्यादर्श, २, ३२३

३. द्रष्टव्य, भोज, सरस्वतीकण्ठा० ४, ८१-८४

कार्यकारण के पौर्वापर्य का विपर्यय उसके और दो रूप है।[1] उपमान से उपमेय के अध्यवसान की कल्पना मौलिक है। प्रस्तुत के अन्य-प्रकारेण वर्णन की कल्पना का आधार उद्भट की 'भेद में अभेद तथा अभेद मे भेद' की कल्पना है। 'काव्यप्रकाश' की 'नागेश्वरी' टीका मे अतिशयोक्ति के प्रथम भेद—उपमान से उपमेय के अध्यवसानरूप—के उदाहरण-श्लोक मे 'भेद मे अभेद' का अध्यवसाय दिखा कर उक्त भेद को उद्भट के 'भेदेनान्यत्व' रूप अतिशयोक्ति से अभिन्न बताने का प्रयास किया गया है। पर इस तथ्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती कि मम्मट का अतिशयोक्ति-लक्षण विकास की दृष्टि से पूर्ववर्ती आचार्यों के लक्षण से अग्रिम चरण है।

रुय्यक ने मम्मट के मत का अनुसरण करते हुए अध्यवसित के प्राधान्य के स्थल मे अतिशयोक्ति की सत्ता स्वीकार की।[2] उपमान के द्वारा उपमेय का निगरण होने से अध्यवसाय का स्वरूप बनता है। इस में उपमेय तो सदा गौण ही रहता है। अतः, प्रधानता या तो अध्यवसाय रूप क्रिया की हो सकती है या उपमान की। अध्यवसान साध्य हो तो क्रिया की प्रधानता होगी, जो उत्प्रेक्षा का विधान करेगी। अतिशयोक्ति मे अध्यवसान सिद्ध होता है। अतः, प्रधानता उपमान की रहती है। अध्यवसित के प्राधान्य मे अतिशयोक्ति मानने वाला यह मत मम्मट के 'परेण (उपमान से) प्रकृतस्य निगीर्याध्यवसान' के मत से अभिन्न है।

विश्वनाथ ने मम्मट, रुय्यक आदि की अतिशयोक्ति-धारणा का ही अनुगमन किया है। उन्होने अतिशयोक्ति की परिभाषा मे कहा है कि 'अध्यवसाय का सिद्ध होना' अतिशयोक्ति अलङ्कार है।[3] शोभाकर, जयदेव, अप्पय्य, दीक्षित, विद्याधर, विद्यानाथ, जगन्नाथ आदि आचार्यो ने मम्मट-रुय्यक-विश्वनाथ-सम्मत अतिशयोक्ति-लक्षण ही अपनाया है। जगन्नाथ के

---

१. निगीर्याध्यवसानन्तु प्रकृतस्य परेण यत्।
प्रस्तुतस्य यदन्यत्व यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम्।
कार्यकारणयोर्यश्च पौर्वापर्यविपर्ययः।
विज्ञेयातिशयोक्तिः सा—मम्मट, काव्यप्र० १०,१५३

२. अध्यवसितप्राधान्ये त्वतिशयोक्तिः।
—रुय्यक, अलं० सर्वस्व सूत्र स० २२

३. सिद्धत्वेऽध्यवसायस्यातिशयोक्तिर्निगद्यते।
—विश्वनाथ, साहित्यद० १०,६४

अनुसार उपमान के द्वारा उपमेय का निगरण (जो अध्यवसाय का स्वरूप है) ही अतिशयोक्ति है ।[१] अप्पय्य दीक्षित ने निगीर्याध्यवासन-रूप अतिशयोक्ति को रूपकातिशयोक्ति सज्ञा दी है।[२] उन्होने सापह्नवातिशयोक्ति की भी कल्पना की है। कार्य-कारण-पौर्वापर्य के व्यत्यय को लेकर चपला, अत्यन्ता आदि अतिशयोक्ति विधाएँ उन्होने मानी है।[3]

अतिशयोक्ति-भेद

उद्भट के पूर्व अतिशयोक्ति के भेदोपभेदों का निरूपण सैद्धान्तिक रूप मे तो नही हुआ था, पर दण्डी ने अतिशयोक्ति के सशय, निर्णय तथा आश्रयाधिक्य रूपो के उदाहरण दिये थे।[४] उद्भट ने उसके चार रूप माने है—(१) भेद मे अभेद, (२) अभेद मे भेद, (३) वस्तुत असत् का सम्भावना मे निबन्धन तथा (४) कार्य और कारण के पौर्वापर्य का विपर्यय।[५] मम्मट ने भी अतिशयोक्ति के चार रूप स्वीकार किये–(१) उपमान से उपमेय का निगरणपूर्वक अध्यवसान, (२) प्रस्तुत का अन्यत्व, (३) 'यदि' के अर्थ की कल्पना या सम्भावना से निबन्धन तथा (४) कार्यकारणपौर्वापर्यविपर्यय।[६] रुय्यक ने भेद मे अभद, अभेद मे भेद, सम्बन्ध मे असम्बन्ध-रूप भेद माना है। इसके विपरीत असम्बन्ध मे सम्बन्ध भेद होता है। कार्यकारणपौर्वापर्य विपर्यय की जगह रुय्यक ने 'कार्यकारणपौर्वापर्यविध्वस' कहा है। कार्य और कारण के स्वाभाविक क्रम का ध्वस कार्य का कारण से पूर्व-भाव तथा सहभाव दिखाने से हो सकता है। इस प्रकार रुय्यक के अनुसार कार्यकारण पौर्वापर्यध्वस के दो रूप है।[७] जयरथ ने इस ध्वंस के पाँच रूप माने है। उनके अनुसार दो प्रकार से कार्यकारण का ध्वस दिखाया जा सकता है और तीन प्रकार

---

१. विषयिणा विषयस्य निगरणमतिशयोक्तिः...... ''। जगन्नाथ, रसगगा० पृ० ४७६

२. रूपकात्तिशयोक्ति स्यान्निगीर्याध्यवसानत· ।
—अप्पय्यदी०, कुवलया० ३६

३. वही, ३७-४३

४. द्रष्टव्य, दण्डी, काव्यादर्श, २, २१७-१९

५. द्रष्टव्य, उद्भट, काव्यालं० सारस० २,२३-२५

६. मम्मट, काव्यप्र० १०,१५३

७ रुय्यक, अलं० सर्वस्व पृ० ६६-८९

से कार्यकारण के पौर्वापर्य का ध्वस। प्रसिद्ध कारण को कार्य तथा कार्य को कारण कहना कार्यकारण के ध्वस के दो रूप है। कार्य का कारण से पूर्व-भाव, सह-भाव तथा प्रसिद्ध कार्यों मे क्रमविपर्यय दिखाना उसके पौर्वापर्य के ध्वस के तीन रूप है।[१] जयदेव तथा अप्पय्य दीक्षित ने उक्त भेदो को समीकृत कर स्वीकार किया है। इस प्रकार उनके अनुसार 'भेद मे अभेद' या उपमान से उपमेय का निगरण कर अध्यवसान रूपकातिशयोक्ति है। भेद मे अभेद, अभेद मे भेद, सम्बन्ध मे असम्बन्ध, असम्बन्ध मे सम्बन्ध, कार्यकारण-पौर्वापर्य-विपर्यय के चञ्चलातिशयोक्ति, अत्यन्तातिशयोक्ति, चपलातिशयोक्ति आदि भेद अप्पय्य को मान्य है।[२]

प्रतीप

प्रतीप का उत्स उपमा है। उसे स्वतन्त्र अलङ्कार के रूप में स्वीकृति मिलने के पूर्व उपमा के ही एक प्रकार के रूप मे उसके स्वरूप का विवेचन हो रहा था। प्रतीप सज्ञा की अन्वर्थता भी उपमा से उसके स्वरूप के विपर्यय की कल्पना मे ही है। उपमा के स्वरूप मे विपर्यय की निम्नलिखित प्रक्रियाएँ सम्भव है—(क) प्रसिद्ध उपमान को उपमेय के रूप मे कल्पित कर उपमेय के साथ उसकी तुलना करना और (ख) उपमेय की तुलना मे उपमान को उससे अधिक उत्कर्षवान् न पाकर उस पर अनुकम्पा या उसकी निन्दा करना। उपमान की उपमेय के साथ तुलना करते हुए उसका उपमानत्व अनिष्पन्न बताना तथा उपमान के प्रयोजन का अभाव बताना आदि भी इसके अन्य रूप हो सकते है। उपमा मे उपमेय की उपमान के साथ तुलना करने का सीधा क्रम है। प्रतीप मे उस क्रम का विपर्यय हो जाता है। उपमा-योजना के मूल मे उपमेय की अपेक्षा उपमान के गुणाधिक्य की धारणा निहित रहती है। प्रतीप मे उस धारणा का विपर्यय होता है। उपमान मे गुणाधिक्य का अभाव मानकर या तो उस उत्कर्षाभाव के लिए उस पर दया प्रकट की जाती है या उसकी निन्दा की जाती है। कुछ आचार्यों ने उपमेय से उपमान की हीनता की कल्पना कर उसके समान होने के कारण उपमेय की दुरवस्था पर दया या निन्दा का भाव प्रकट करना प्रतीप का स्वरूप माना है। इसमे भी प्रसिद्ध उपमान के गुणोत्कर्ष की धारणा का विपर्यय स्वीकृत है। दण्डी ने

१. जयरथ, विमर्शिनी पृ० ८७

२. अप्पय्यदी०, कुवलया० ३६-४३

उपमा के भेद-निरूपण-क्रम में उसके विपर्यय पर आधृत विपर्यासोपमा का सोदाहरण विवेचन किया था, जिसमे प्रसिद्ध उपमान की उपमेय के रूप मे कल्पना दिखायी गयी थी।[१] वामन इसे कल्पिता उपमा से अभिन्न मानेगे।[२] उनके अनुसार लोक-प्रसिद्ध उपमान को उपमेय बना देना कवि की कल्पना का व्यापार है; अतः यह कल्पिता उपमा है। वामन के परवर्ती आचार्य रुद्रट ने प्रतीप को स्वतन्त्र अलङ्कार के रूप मे स्वीकार किया। तब से उसका स्वतन्त्र अस्तित्व माना जाता रहा है। जयदेव ने प्रतीप के एक रूप 'उपमान के उपमेयत्व-प्रकल्पन' को प्रतीपोपमा कहकर उपमा से उसके निकट सम्बन्ध का सङ्केत किया है।[३] अस्तु।

ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वप्रथम रुद्रट ने प्रतीप को स्वतन्त्र अलङ्कार मानकर उसका स्वरूप-निरूपण किया था। उन्होने प्रतीप को परिभाषित करते हुए कहा कि जहाँ उपमेय की अतिशय स्तुति के लिए उसे उपमान के समान होने के कारण उसकी दुरवस्था पर अनुकम्पा या निन्दा प्रकट की जाय, वहाँ प्रतीप होता है।[४] सामान्यत, उपमेय को उपमान के सदृश कहने मे उसका (उपमेय का) गुणोत्कर्ष व्यक्त होता है; पर प्रतीप में कवि यह मान लेता है कि उपमेय के उपमान के समान होने से उसके गुण का अपकर्ष हो गया। अतः वह उपमेय पर अनुकम्पा करता है या उसकी निन्दा करता है। परिणामतः, इस प्रकार की कल्पना मे उपमेय की स्तुति ही व्यञ्जित होती है। उपमेय इतना उत्कृष्ट है कि दूसरी कोई भी वस्तु (उपमान) उसकी समता कर ले, यह उसकी दुरवस्था का सूचक है। कवि की अनुकम्पा या निन्दा से उपमेय के उत्कर्ष की सिद्धि मे ही अलङ्कारत्व है।

आचार्य मम्मट ने रुद्रट की प्रतीप-धारणा को अस्वीकार कर उसके दो रूपो को स्वतन्त्र रूप से परिभाषित किया। उनके अनुसार उपमान का आक्षेप (निन्दा या निषेध) प्रतीप का एक रूप है तथा उसके (उपमान के)

---

१. द्रष्टव्य, दण्डी, काव्यादर्श २,१७

२. इयमेव (विपर्यासोपमामेव) कल्पिता' इत्याह वामनः।
—काव्यादर्श, कुसुमप्रतिमा टीका पृ० ७९

३. द्रष्टव्य, जयदेव, चन्द्रालोक, ५, १४

४. यत्रानुकम्प्यते सममुपमाने निन्द्यते वापि।
उपमेयमतिस्तोतु दुरवस्थमिति प्रतीप स्यात्॥
—रुद्रट, काव्यालं० ८,७६

अनादर के लिए उसे उपमेय के रूप मे कल्पित कर लेना प्रतीप का दूसरा रूप है।[1] मम्मट भी उपमान के अनादर तथा उपमान के उपमेयत्व की कल्पना का उद्देश्य उपमेय का उत्कर्ष-साधन ही मानते है। मम्मट के प्रतीप का दूसरा रूप (उपमान का उपमेयत्व प्रकल्पन-रूप) दण्डी की विपर्यासोपमा के रूप से अभिन्न है। उपमान का आक्षेप उनकी नवीन कल्पना है। रुद्रट ने उपमेय की स्तुति के लिए उसी की निन्दा या उस पर अनुकम्पा प्रतीप का लक्षण माना था। मम्मट ने उपमेय के उत्कर्ष के लिए उपमान का आक्षेप अपेक्षित माना। यही मत अधिक समीचीन जान पड़ता है। उपमेय की स्तुति के लिए उपमान से सादृश्य के कारण उस उपमेय की ही निन्दा व्याजस्तुति का क्षेत्र हो जायगी। रुय्यक ने मम्मट की प्रतीप-धारणा को ही सूत्रबद्ध किया है।[2] विश्वनाथ, शोभाकर, जयदेव, अप्पय्यदीक्षित जगन्नाथ, आदि आचार्यो ने मम्मट-रुय्यक की प्रतीप-धारणा को ही स्वीकार कर परिभाषित किया है। निष्कर्षत', प्रतीप के दो प्रमुख रूप स्वीकृत है—(क) उपमान की उपमेय के रूप मे कल्पना तथा (ख) उपमेय को ही उपमान के कार्य का निष्पादक मानकर उपमान का आक्षेप।

प्रतीप के भेद

प्रतीप के उपरिलिखित दो भेदो के और भी उपभेद कल्पित हुए है। मम्मट, रुय्यक आदि की उपमान के आक्षेप की धारणा के कई रूप सम्भव है—(क) 'यह उपमेय तो है ही, फिर उपमान का क्या काम ?' इस उक्ति से उपमान का न्यग्भाव या उसकी व्यर्थता; (ख) उपमेय के सामने उपमान की निन्दा, तथा (ग) वर्ण्य के साथ अन्य उपमान की अनिष्पत्ति का कथन। अप्पय्य दीक्षित ने 'अन्य उपमेय के प्राप्त होने पर वर्ण्य के अनादर' को भी प्रतीप का एकभेद माना है। अन्य का लाभ होने पर ही वर्ण्य का यह अनादर अलङ्कार बनता है।[3] उक्त आधार पर पण्डितराज जगन्नाथ को भी प्रतीप के पाँच भेद मान्य है।[4]

१. आक्षेप उपमानस्य प्रतीपमुपमेयता।
तस्यैव यदि वा कल्प्या तिरस्कारनिबन्धनम्॥
—मम्मट, काव्यप्र० १०,२०१

२, उपमानस्याक्षेप उपमेयताकल्पन वा प्रतीपम्॥
—रुय्यक, अलं० सर्वस्व, सूत्र स० ६९

३. द्रष्टव्य, अप्पय्य दीक्षित, कुवलया० १२-१६

४. द्रष्टव्य, जगन्नाथ, रसगंगा० पृ० ७८४

विनोक्ति

विनोक्ति अलङ्कार की कल्पना अलङ्कार-शास्त्र मे बहुत पीछे चलकर हुई। मम्मट के पूर्ववर्ती आलङ्कारिको ने इसकी सत्ता की कल्पना नही की थी। मम्मट ने विनोक्ति का सर्वप्रथम विवेचन किया। इसकी कल्पना सहोक्ति के वैपरीत्य के आधार पर की गयी है। सहोक्ति मे एक के साथ दूसरे का कथन होता है, इसके विपरीत विनोक्ति मे एक के बिना दूसरे मे शोभा अथवा अशोभा का अभाव वर्णित होता है। इसीलिए 'अलङ्कार सर्वस्व' मे विनोक्ति को सहोक्ति का प्रतिभट कहा गया है।[१]

मम्मट ने विनोक्ति की परिभाषा मे यह धारणा प्रकट की है कि जहाँ अन्य के बिना अन्य का अशोभन होना या शोभन होना वर्णित हो, वहाँ विनोक्ति अलङ्कार होता है।[२] विनोक्ति का स्वरूप निषेध-प्रधान है। परिभाषा मे उसके विधि-रूप का निर्देश नही किया गया है। मम्मट की विनोक्ति-परिभाषा का सरलार्थ यह होगा कि विनोक्ति मे एक के अभाव मे दूसरी वस्तु (वर्ण्य-वस्तु) का शोभन या अशोभन न होना कहा जाय। किन्तु, मम्मट ने विनोक्ति के दूसरे रूप का जो उदाहरण दिया है, उसमे अशोभन न होने का निषेध-मुखेन उल्लेख न कर विधिमुखेन शोभन होने का—'सुन्दराशय' होने का उल्लेख किया गया है। मम्मट ने विनोक्ति की परिभाषा-परक कारिका की व्याख्या करते हुए उसकी वृत्ति मे स्वय 'सत् न' का अर्थ अशोभन तथा 'न इतर' का अर्थ शोभन माना है। इस तरह किसी वस्तु के बिना किसी के शोभन न होने का निषेध-मुखेन वर्णन हो या अशोभन होने का विधिमुखेन उल्लेख हो तथा इसके विपरीत किसी वस्तु के अभाव मे किसी के अशोभन न होने का निषेधमुखेन वर्णन हो या शोभन होने का विधिमुखेन उल्लेख हो; इन सभी स्थितियो मे विनोक्ति अलङ्कार का सद्भाव माना जायगा। परिभाषा मे शोभन न होने तथा अशो-भन न होने—जैसे निषेधात्मक शब्दों का प्रयोग विचारणीय है। यह प्रश्न किया जा सकता है कि जब एक के अभाव मे दूसरे की सुन्दरता या कुरूपता का विधिमुख से वर्णन भी विनोक्ति मे हो सकता है तो, परिभाषा मे निषेध-

---

१, सहोक्ति प्रतिभटभूता विनोक्ति लक्षयति।

—रुय्यक, अल०सर्वस्व पृ० ८६

२. विनोक्ति. सा विनाऽन्येन यत्रान्य: सन्न नेतर।

— मम्मट, काव्यप्र० १०,१७१

परक शब्दो के प्रयोग का क्या उद्देश्य था ? इस प्रश्न के उत्तर में अलङ्कार सर्वस्वकार ने कहा है कि विनोक्ति मे एक के अभाव का दूसरे के अभाव से प्रयुक्त होने का भाव स्पष्ट करने के लिए परिभाषा मे अभाव-वाची शब्दो का प्रयोग किया गया है।[1] आचार्य रुय्यक ने मम्मट की विनोक्ति-धारणा को ही सूत्रबद्ध करते हुए कहा है कि किसी वस्तु के विना अन्य के शोभनत्व या अशोभनत्व का अभाव कहना विनोक्ति अलङ्कार है।[2] दूसरे शब्दो मे कहा जा सकता है कि किसी वस्तु के अभाव मे अन्य वस्तु के अशोभन या शोभन होने का वर्णन विनोक्ति है।

विश्वनाथ ने मम्मट तथा रुय्यक की विनोक्ति-सम्बन्धी मान्यता को ही स्वीकार किया है। उन्होने 'सत्' के स्थान पर शोभन के लिए 'साधु' शब्द का प्रयोग किया है। साधु तथा असाधु शब्दो के अर्थ का स्पष्टीकरण उन्होने शोभन और अशोभन शब्दो से किया है।[3] मम्मट और रुय्यक ने भी वृत्ति में शोभन-अशोभन शब्दो का ही प्रयोग किया था। स्पष्टतः, मम्मट से विश्वनाथ के समय तक विनोक्ति के स्वरूप मे कोई विकास नही हुआ।

जयदेव, अप्पय्य दीक्षित आदि ने विनोक्ति का भावात्मक स्वरूप निरूपित किया। उनके अनुसार किसी वस्तु के विना प्रस्तुत को (विधिमुख से) हीन कहना विनोक्ति है। किसी के अभाव मे प्रस्तुत को रम्य कहना भी विनोक्ति अलङ्कार माना जाता है।[4] इस परिभाषा मे प्राचीन आचार्यों के 'अन्य' शब्द की जगह 'प्रस्तुत' का उल्लेख इसका वैशिष्ट्य है। कवि किसी वस्तु के अभाव मे वर्णनीय वस्तु की ही हीनता या रमणीयता का वर्णन करता है। हीनता या रमणीयता के विधिमुख से वर्णन पर बल देना भी इस परिभाषा की विशेषता है। इससे मम्मट आदि की विनोक्ति-धारणा से अप्पय्य की धारणा मे कोई मौलिक अन्तर तो नही आया, पर जिस बात को मम्मट,

१. अत्राशोभनशोभनत्वसत्तायामेव वक्तव्यायामसत्तामुखेनाभिधानमन्य-निवृत्तिप्रयुक्ता तन्निवृत्तिरिति ख्यापनार्थम्।
—रुय्यक अल०सर्वस्व पृ० ८९

२. विना किञ्चिदन्यस्य सदसत्त्वाभावो विनोक्तिः।
—वही, सूत्र स० ३०

३. द्रष्टव्य, विश्वनाथ, सहित्यद० १०, तथा उसकी वृत्ति पृ० ६९४

४. विनोक्तिश्चेद्विना किञ्चित्प्रस्तुत हीनमुच्यते।
तच्चेत् किञ्चिद्विना रम्य विनोक्ति. सापि कथ्यते।
—अप्पयदी० कुवलया० ५९, ६०

रुय्यक, विश्वनाथ आदि प्रकारान्तर से (शोभनत्व-वर्णन को अशोभनत्वाभाव वर्णन तथा अशोभनत्व-वर्णन को शोभनत्वाभाव-वर्णन के रूप मे) कह रहे थे, उसे अप्पय्य ने सरल रूप मे प्रस्तुत किया है। अप्पय्य दीक्षित के बाद विनोक्ति-धारणा मे कोई परिवर्त्तन नही हुआ।

निष्कर्षत., विनोक्ति के निम्नलिखित दो रूप सामने आते है :—

(१) किसी वस्तु के अभाव मे दूसरी (वर्ण्य) वस्तु के अशोभन या हीन होने का कथन तथा (२) किसी वस्तु के अभाव मे दूसरी (वर्ण्य) वस्तु के शोभन या रम्य होने का वर्णन।

एक के अभाव मे दूसरी वस्तु की रमणीयता तथा अरमणीयता का उल्लेख भावात्मक तथा अभावात्मक; दोनो रूपो मे हो सकता है।

अन्योक्ति

अन्योक्ति को अलङ्कार के रूप मे सस्कृत-अलङ्कार-शास्त्र में विशेष गौरव प्राप्त नही हो सका। हिन्दी रीति-शास्त्र मे उसे अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व प्राप्त हुआ है। काव्य के क्षेत्र मे अन्योक्तियाँ बहुत लोकप्रिय हुई है। सस्कृत तथा हिन्दी में अन्योक्ति पर आधृत अनेक रचनाएँ उपलब्ध है। इस प्रकार अन्योक्ति काव्य की एक विशेष शैली ही बन गयी है। विशेष अलङ्कार के रूप मे अन्योक्ति का स्वरूप-निरूपण सर्वप्रथम आचार्य रुद्रट ने किया था। उन्होने अन्योक्ति की परिभाषा मे कहा था कि इसमे उपमान का कथन होता है और उससे असमान विशेषण वाले (कही-कही समान विशेषण वाले भी), किन्तु समान इतिवृत्त वाले उपमान की प्रतीति हो जाती है।[1] उपमान के सम्पूर्ण व्यापार का वर्णन कवि कर देता है और उसके समान व्यापार वाले वर्ण्य की व्यञ्जना हो जाती है। कवि को जिस वस्तु का वर्णन अभिप्रेत रहता है, उसका प्रत्यक्षत: कथन न कर वह उसके समान इतिवृत्त वाले अप्रस्तुत का वर्णन करता है। इतिवृत्त की समता ही अप्रस्तुत से प्रस्तुत के बोध मे कारण होती है। रुद्रट ने अप्रस्तुत के कथन से प्रस्तुत की प्रतीति को समासोक्ति का भी स्वरूप माना था; किन्तु उनकी समासोक्ति से अन्योक्ति का भेद यह है कि

---

१. असमानविशेषणमपि यत्र समानेतिवृत्तमुपमेयम्।
उक्तेन गम्यते परमुपमानेनेति साऽन्योक्ति.॥

—रुद्रट, काव्याल० ८, ७४

समासोक्ति में जहाँ अप्रस्तुत से प्रस्तुत की प्रतीति का हेतु विशेषण-साम्य होता है, वहाँ अन्योक्ति में उसका हेतु इतिवृत्त का साम्य होता है।

रुद्रट के पूर्ववर्ती आचार्यों ने अप्रस्तुतप्रशसा का स्वरूप-निरूपण किया था, जिसमे प्रस्तुत अर्थ का बोध कराने वाले अप्रस्तुत के कथन की धारणा व्यक्त की गयी थी। रुद्रट ने उस अप्रस्तुतप्रशसा का उल्लेख न कर अन्योक्ति का विवेचन किया है। सम्भव है कि उन्होने अप्रस्तुतप्रशसा के पर्याय के रूप में अन्योक्ति शब्द का प्रयोग किया हो। सस्कृत के समर्थ आलङ्कारिक अन्योक्ति को अप्रस्तुतप्रशंसा का ही अपर पर्याय मानते रहे। इसीलिए रुद्रट के अन्योक्ति-निरूपण के उपरान्त भी किसी समर्थ आचार्य ने अन्योक्ति को स्वतन्त्र अलङ्कार नही माना। हेमचन्द्र तथा वाग्भट (द्वितीय)-जैसे कुछ गौण महत्त्व के आचार्यों ने ही सस्कृत में अन्योक्ति का स्वरूप-निरूपण किया है। इन आचार्यों ने अन्योक्ति के स्वरूप के सम्बन्ध मे कोई नवीन कल्पना नही की। हेमचन्द्र ने मम्मट आदि के अप्रस्तुतप्रशसा अलङ्कार को ही सभेद सूत्रबद्ध कर दिया है।[1] उन्होने अन्योक्ति को अप्रस्तुतप्रशंसा का ही दूसरा नाम माना है। अत, उन्होने अन्योक्ति से पृथक् अप्रस्तुतप्रशंसा का विवेचन नही किया है।

हिन्दी रीति-साहित्य मे केशव ने अन्योक्ति का स्वरूप-निरूपण किया है। उनकी अन्योक्ति प्राचीन आचार्यों की अप्रस्तुतप्रशसा ही है।[2] भिखारीदास ने अन्योक्ति को अप्रस्तुतप्रशसा का पर्याय तो नही माना; पर अप्रस्तुतप्रशसा का विधायक मूलतत्त्व अवश्य माना। उन्होने अन्योक्ति को विशेष अलङ्कार न मानकर अप्रस्तुतप्रशसा, समासोक्ति, पर्यायोक्त आदि का समान मूलतत्त्व माना है। उनके अनुसार छह अलङ्कार अन्योक्तिमूलक है।[3] हिन्दी के कुलपति,

---

१. सामान्यविशेषे कार्ये कारणे प्रस्तुते तदन्यस्य तुल्ये तुल्यस्य चोक्तिरन्योक्तिः।
—हेमचन्द्र, काव्यानु० ६ पृ० ३०७

तुलनीय—मम्मट का अप्रस्तुतप्रशसा-लक्षण एवं भेद।
—काव्यप्र० १०, ११-५२

२. औरहि प्रति जु बखानिये कछु और को बात।
अन्य उक्ति तेहि कहत हैं, बरनत कवि न अघात॥
—केशव, कविप्रिया पृ० २४२

३. अप्रस्तुत परसस औ प्रस्तुत अकुर लेखि।
सँमासोक्ति, व्याजस्तुत्यो, आक्षेपै अबरेखि॥
परजाजोक्ति-सँमेत किय षट भूषँन इक ठौर।
जाँनि सकल अन्योक्ति मे, सुँनो सुकबि सिर-मौर॥
—भिखारीदास, काव्यनिर्णय, १२, १-२ पृ० २६७

सोमनाथ, आदि आचार्यों ने भी अन्योक्ति को अप्रस्तुतप्रशंसा से अभिन्न माना है।

निष्कर्षत., अन्योक्ति सारूप्य-निबन्धन-रूप अप्रस्तुतप्रशसा का ही पर्याय मानी गयी है। यह अन्योक्ति या अप्रस्तुतप्रशसा के स्वरूप का चमत्कार है कि उसे काव्य की एक विशेष शैली का रूप प्राप्त हो गया है। अन्योक्ति के इस महत्त्व तथा उसकी लोकप्रियता को देखते हुए ही कुछ विद्वानों ने अन्योक्ति का अप्रस्तुतप्रशसा अलङ्कार से स्वतन्त्र अस्तित्व मानने का सुझाव दिया है। पर, अन्योक्ति की प्रसिद्धि को देखते हुए उसे उसके अपने ही मूल रूप से पृथक् मान लेने में कोई युक्ति नही।

साम्य

सर्वप्रथम आचार्य रुद्रट ने साम्य को स्वतन्त्र अलङ्कार मानकर उसके स्वरूप का निरूपण किया। उन्होने इसे औपम्यमूलक अलङ्कार मानकर उपमा से इसके स्वरूप मे कुछ वैशिष्ट्य का आधान करना चाहा। जैसा कि साम्य के नाम से स्पष्ट है, इसमे उपमान और उपमेय की समानता का उल्लेख होता है। दोनो का साम्य या साधर्म्य तो उपमा मे भी प्रदर्शित होता है, फिर साम्य का उपमा से भेद क्या होगा? रुद्रट ने दोनो के भेद-निरूपण के लिए साम्य की परिभाषा मे कुछ व्यावर्त्तक तत्त्व जोडे है। उनके अनुसार उपमान तथा उपमेय के बीच साधारण रूप से रहने वाले गुण, क्रिया, सस्थान आदि से प्रयोज्य अर्थ-क्रिया से जहाँ उपमेय उपमान की समता प्राप्त कर लेता है, वहाँ साम्य अलङ्कार होता है।[1] उपमान के साथ उपमेय का ऐसा साम्य कि उपमेय उपमान का-सा कार्य सम्पादित कर दे, साम्य अलङ्कार का स्वरूप है। उसके दूसरे प्रकार की कल्पना करते हुए रुद्रट ने कहा है कि जहाँ उपमेय और उपमान में सर्वथा साम्य दिखा कर भी कवि उपमेय के उत्कर्ष-द्योतन के लिए उनमे वैशिष्ट्य बतावे, वहाँ भी साम्य अलङ्कार होता है।[2] इस द्वितीय साम्य का स्वरूप भामह आदि के व्यतिरेक के समान है। परवर्ती आचार्यों ने भी ऐसे स्थल मे व्यतिरेक ही माना है।

---

१. अर्थक्रियया यस्मिन्नुपमानस्यैति साम्यमुपमेयम्।
तत्सामान्यगुणादिककारणया तद्भवेत्साम्यम्॥
—रुद्रट, काव्यालं० ८,१०५

२. सर्वाकारं यस्मिन्नुभयोरभिधातुमन्यथा साम्यम्।
उपमेयोत्कर्षकरं कुर्वीत विशेषमन्यत्तत्॥—वही, ८,१०७

भोज ने साम्य को स्वतन्त्र अलङ्कार मान कर उसका विवेचन किया है। उन्होने साम्य के सम्बन्ध मे रुद्रट की धारणा को ही स्वीकार किया है; पर उसमे उन्होने दृष्टान्तोक्ति, प्रतिवस्तूक्ति आदि अलङ्कारो को अन्तर्भुक्त मान लिया है।[1]

सस्कृत-अलङ्कारशास्त्र के अन्य आचार्यो ने साम्य का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार नही किया है।

प्रत्यनीक

प्रत्यनीक अलङ्कार का स्वरूप-निरूपण सर्वप्रथम रुद्रट ने किया था। उन्होने इसे औपम्यगर्भ अलङ्कार माना था। उनकी मान्यता थी कि जहाँ कवि प्रस्तुत के उत्कर्ष-साधन के लिए उसके विजिगीषु के रूप मे अप्रस्तुत की योजना करेगा, वहाँ प्रत्यनीक नामक अलङ्कार होगा। उपमान उपमेय से स्पर्द्धा करता हुआ उसे जीतने की इच्छा से उसका विरोधी बने, यह वर्णन परिणामत. उपमेय का उत्कर्ष ही प्रमाणित करेगा। सामान्यत', उपमान उपमेय की अपेक्षा अधिक उत्कर्षशाली माना जाता है; पर जहाँ उपमेय के गुणोत्कर्ष को देख कर उपमान भी उसे गुणो से जीतने की कामना करने लगे और उसका विरोधी बन जाय, वहाँ विशेष भङ्गी से उपमेय के उत्कर्ष का प्रतिपादन होने से अलङ्कारत्व होगा ही। ऐसे अलङ्कार को रुद्रट प्रत्यनीक कहेगे। रुद्रट ने प्रत्यनीक मे तीन बाते आवश्यक मानी है—(क) इसमे उपमान को उपमेय का विरोधी कहा जाता है, (ख) उपमान अपने गुणों से उपमेय को जीतने की इच्छा से उसका विरोधी बना हुआ बताया जाता है तथा (ग) उपमान को उपमेय का विजिगीषु या विरोधी बताने मे कवि का उद्देश्य उपमेय की उत्तमता का प्रतिपादन होता है।[2]

मम्मट के समय प्रत्यनीक के लक्षण मे थोडा विकास हुआ। मम्मट ने प्रस्तुत अलङ्कार के नाम का यौगिक अर्थ दृष्टि मे रखते हुए उसके स्वरूप का व्याख्यान किया। उन्होने प्रत्यनीक के सम्बन्ध मे रुद्रट की मूल धारणा को स्वीकार करने पर भी उसे कुछ स्वतन्त्र रूप से परिभाषित किया है।

---

१. द्रष्टव्य, भोज, सरस्वतीकण्ठा० पृ० ३६६-७६।

२. वक्तुमुपमेयमुत्तममुपमान तज्जिगीषया यत्र।
तस्य विरोधीत्युक्त्या कल्प्येत प्रत्यनीकं तत्॥
—रुद्रट, काव्यालं० ८,६२

रुद्रट की तरह मम्मट ने भी इस अलङ्कार का उद्देश्य वर्णनीय अर्थ की स्तुति या उसका उत्कर्ष-प्रतिपादन माना है। वर्ण्य से अन्य का हीनता-बोध, जो उसे वर्ण्य का विरोधी बनाता है, मम्मट को भी मान्य है। इस अश मे रुद्रट से सहमत होकर भी मम्मट ने यह कल्पना की है कि वर्ण्य से अपने मे गुण की हीनता की अनुभूति से अपमान का प्रतिशोध तो विरोधी लेना चाहता है; पर वर्ण्य से प्रतिशोध लेने मे असमर्थ होने पर वह उसके आश्रित का तिरस्कार करता है। ऐसे वर्णन के स्थल मे प्रत्यनीक अलङ्कार होता है। प्रत्यनीक शब्द सैन्य-प्रतिनिधि का बोधक है। जैसे कोई अपने प्रतिद्वन्द्वी से प्रतिशोध लेने मे असमर्थ होकर उसके आश्रित या प्रतिनिधि का तिरस्कार कर प्रतिशोध लेता हो, वैसे ही प्रत्यनीक अलङ्कार मे वर्ण्य से प्रतिशोध लेने मे अशक्त विरोधी के द्वारा उसके आश्रित का तिरस्कार वर्णित होता है। इस वर्णन से वर्ण्य की अप्रतिभटता व्यञ्जित होती है। मम्मट की प्रत्यनीक-परिभाषा इस प्रकार है '—प्रतिपक्ष के उत्कर्ष-साधन के लिए जहाँ किसी के द्वारा उसके प्रतिकार मे असमर्थ होने पर उसके सम्बन्धी का तिरस्कार किया जाना वर्णित हो, वहाँ प्रत्यनीक अलङ्कार होता है।[1] रुय्यक ने प्रत्यनीक का यही स्वरूप सूत्रित किया है।[2] मम्मट और रुय्यक ने प्रत्यनीक-परिभाषा मे उपमानोपमेय-भाव का उल्लेख नही किया। प्रबल शत्रु के प्रतिकार मे असमर्थ होकर किसी के द्वारा उस शत्रु के आश्रित या उसके सदृश अन्य का तिरस्कार किया जाना प्रत्यनीक-विधान के लिए पर्याप्त माना गया।

विश्वनाथ, विद्यानाथ, अप्पय्य दीक्षित, नरसिह कवि आदि ने मम्मट की प्रत्यनीक-धारणा को ही स्वीकार किया है। विद्यानाथ ने इसे लोकन्याय पर आधृत अलङ्कार कहा है। उन्होने प्रतिपक्ष के 'सम्बन्धी' का अर्थ उसके 'सदृश' मानकर यह अर्थ किया है कि प्रत्यनीक मे बलवान शत्रु के प्रतिकार मे असमर्थ होकर उसका विपक्षी उसके सदृश अन्य का तिरस्कार करता है।[3]

पण्डितराज जगन्नाथ ने भी मम्मट आदि के मतानुसार ही प्रत्यनीक

---

१ प्रतिपक्षमशक्तेन प्रतिकर्तुं तिरस्क्रिया।
या तदीयस्य तत्स्तुत्यै प्रत्यनीक तदुच्यते ॥—मम्मट, काव्यप्र० १०,१९६

२. प्रतिपक्षप्रतीकाराशक्तौ तदीयतिरस्कारः प्रत्यनीकम्।
—रुय्यक, अलं० सर्वस्व, सूत्र स० ६८

३. अत्र सादृश्यहेतुक तदीयत्वमित्यलंकारत्वम्।
—विद्यानाथ, प्रतापरुद्रयशोभूषण पृ० ४६३

को परिभाषित किया है। वे प्रत्यनीक का अर्थ अनीक (प्रतिपक्षी) के सदृश मानते है। उनके अनुसार प्रतिपक्षी के सम्बन्धी से तात्पर्य उसके उपजीव्य, उपजीवक, मित्र आदि का है। अत., प्रतिपक्षी से प्रतिशोध लेने मे असमर्थ विपक्षी के द्वारा उसके आश्रित, आश्रयदाता, मित्र तथा उसके सदृश अन्य का तिरस्कार किये जाने मे जगन्नाथ के अनुसार प्रत्यनीक होगा। पण्डितराज जगन्नाथ ने प्रत्यनीक को गम्यमाना हेतूत्प्रेक्षा मे गतार्थ बताया है। उन्होने प्रत्यनीक के उदाहरणो को हेतूत्प्रेक्षा के भी उदाहरण सिद्ध किये है।[1] हेतूत्प्रेक्षा के गम्यमाना भेद मे प्रत्यनीक का अन्तर्भाव मानने के पक्ष मे प्रस्तुत पण्डितराज की युक्तियो के उत्तर मे कहा जा सकता है कि प्रतिपक्षी के साक्षात् प्रतिकार का वर्णन तो हेतूत्प्रेक्षा मे गतार्थ हो जाता; पर प्रतिपक्षी के सम्बन्धी का प्रतिकार प्रत्यनीक का वैशिष्ट्य है। यही मत 'कुवलयानन्द' की अलङ्कार-चन्द्रिका टीका मे व्यक्त किया गया है।[2]

निष्कर्ष यह कि प्रत्यनीक एक स्वतन्त्र अलङ्कार है। इसमे वर्ण्य को सबल बताकर अन्य वस्तु का उसके प्रतिकार मे असमर्थ होकर उसके सम्बन्धी (आश्रय, मित्र आदि तथा उसके सदृश किसी वस्तु) से प्रतिशोध लेना वर्णित होता है। स्पष्टत', इस वर्णन मे वर्ण्य का उत्कर्ष-प्रतिपादन कवि का उद्देश्य होता है। प्रत्यनीक नाम की अन्वर्थता इस बात मे है कि इसमे प्रतिकार किसी के प्रतिनिधि या उसके सदृश का किया जाता है। प्रत्यनीक शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है प्रतिनिधि या किसी वस्तु के सदृश वस्तु।[3]

स्वभावोक्ति

वस्तु-स्वभाव के यथारूप वर्णन का काव्य मे महत्त्व अनुपेक्षणीय है। इसके अभाव मे काव्य मे अर्थबोध या बिम्बग्रहण ही सन्दिग्ध पड जायगा। अतः, वस्तुस्वभाव का यथानुरूप वर्णन काव्य की सफलता की प्रथम आवश्यक शर्त्त है। वर्णन की दृष्टि से समग्र वर्णनीय पदार्थो के दो वर्ग माने जा सकते

---

१. प्रतिपक्षसम्बन्धिनस्तिरस्कृतिः प्रत्यनीकम्।
सम्बन्धी च तदुपजीव्योपजीवकमित्रादिभेदादनेकविधः।
जगन्नाथ, रसगगा० पृ०७८२। उत्प्रेक्षा से प्रत्यनीक के सम्बन्ध-निरूपण के लिए देखे रसगंगा० पृ० ७८३-८४

२. द्रष्टव्य, अप्पय्य दी०, कुवलया०, अल० चन्द्रिका टीका पृ० १३५

३. द्रष्टव्य—रुय्यक, अल० सर्वस्व, पृ० २०५ तथा
जगन्नाथ, रसगङ्गा० पृ० ७८२

हैं—यथारूप वर्णित तथा अतिशयया वक्रता के साथ वर्णित। किसी वस्तु के स्वभाव, रूप, क्रिया आदि का यथारूप वर्णन स्वभावोक्ति है। इस प्रकार के वर्णन के सौन्दर्य को दृष्टि मे रखते हुए आचार्यो ने अलङ्कार, गुण आदि के क्षेत्र मे इसके स्वरूप पर विचार किया है। वामन आदि आचार्यों ने काव्य मे वस्तु-स्वभाव के स्फुट वर्णन को काव्य का सौन्दर्याधायक गुण माना तो दण्डी आदि आचार्यों ने इसे काव्य का शोभावर्धक अलङ्कार स्वीकार किया। भामह को सम्भवत: स्वभावोक्ति की अलङ्कार के रूप मे स्वीकृति अभिमत नही थी। कारण अज्ञात है। अनुमानत वक्रोक्ति या अतिशयोक्ति को अलङ्कार मात्र का प्राण मानने के कारण भामह ने उसके अभाव मे स्वभावोक्ति का अलङ्कारत्व अग्राह्य माना होगा। भामह ने स्वभावोक्ति के अलङ्कारत्व के सम्बन्ध मे, एक प्रश्नचिह्न-सा लगा दिया था। आगे चलकर वक्रोक्तिवादी कुन्तक ने सबल युक्तियो से वस्तु-स्वभाव-वर्णन को अलङ्कार मानने वाले मत का खण्डन किया। उस खण्डन मे कुन्तक का आधार सर्वथा मौलिक है। उनकी मान्यता है कि काव्य मे अलङ्कार और अलङ्कार्य का भेद स्पष्ट होना चाहिए। अलङ्कार का कार्य अलङ्कार्य को अलङ्कृत करना है। काव्य की वर्ण्यवस्तु, जिसके सौन्दर्य-सवर्धन के लिए अलङ्कार की योजना होती है, अलङ्कार्य मानी जाती है। स्वभावोक्ति मे वस्तु के स्वभाव का वर्णन अपेक्षित है। वह काव्य के वर्ण्य से—अलङ्कार्य से—अभिन्न है। यदि उस अलङ्कार्य या काव्य की वर्णनीय वस्तु को भी अलङ्कार मान लिया गया तो फिर अलङ्कार्य क्या बच रहेगा ? वह अलङ्कार किसे अलङ्कृत करेगा ? अत:, कुन्तक का निष्कर्ष यह है कि वस्तु-स्वभाव-वर्णन अलङ्कार से भिन्न अलङ्कार्य है। इस प्रकार स्वभावोक्ति के सम्बन्ध में निम्नलिखित मत सामने आते है—

(१) स्वभावोक्ति को काव्य का अलङ्कार मानने वाला मत, (२) उसे काव्य का गुण मानने वाला मत तथा (३) उसके अलङ्कारत्व का खण्डन कर उसे अलङ्कार्य मानने वाला मत। स्वभावोक्ति-विषयक इन मान्यताओ को दृष्टि मे रखते हुए उसके स्वरूप-विकास तथा उसके अलङ्कारत्व का परीक्षण वाञ्छनीय है।

सर्वप्रथम आचार्य भामह ने स्वभावोक्ति के स्वरूप का उल्लेख करते हुए कहा कि कुछ लोग स्वभावोक्ति को अलङ्कार मानते है।[1] स्पष्ट है कि भामह

---

१. स्वभावोक्तिरलङ्कार इति केचित् प्रचक्षते।—भामह, काव्यालं० २, ९३

के समय तक स्वभावोक्ति अलङ्कार के रूप मे प्रतिष्ठित हो चुकी थी। उक्त कथन से यह भी स्पष्ट है कि भामह उसे अलङ्कार नही मानते थे, क्योकि अपने पूर्ववर्ती आचार्यो के उपमा, रूपक, दीपक आदि अलङ्कारो के लक्षण-निरूपण-क्रम मे उन्होने उन्हे 'कुछ लोगो के द्वारा मान्य' नही कहा। आचार्यों की यह शैली रही है कि जो अलङ्कार उन्हे मान्य है, उनका लक्षण देने के क्रम मे वे किसी पूर्ववर्ती आचार्य के मत का निर्देश करना आवश्यक नही मानते, पर जिस अलङ्कार का अलङ्कारत्व उन्हे सन्दिग्ध जान पड़ता है या जिसके अलङ्कारत्व के सम्बन्ध मे आचार्यो मे मतभेद रहता है उसके लक्षण का निरूपण भी आचार्य-धर्म का पालन करने के लिए कर देते है और ऐसे स्थल पर यह निर्देश कर देते है कि इसे भी कुछ लोग अलङ्कार मानते है। भामह के उक्त कथन से यह तो अनुमान होता ही है कि उन्हे स्वभावोक्ति का अलङ्कारत्व इष्ट नही था, यह भी अनुमान किया जा सकता है कि भामह के पूर्व भी उसे कुछ आचार्य अलङ्कार मानते होगे और कुछ आचार्य उसके अलङ्कारत्व को अमान्य सिद्ध करते होगे। इसीलिए भामह ने इस तथ्य की ओर सङ्केत कर सन्तोष कर लिया होगा। यदि भामह के पूर्व स्वभावोक्ति सर्वसम्मत अलङ्कार हो गयी होती तो भामह अलङ्कार के रूप में उसकी सत्ता का युक्तियो से खण्डन करते या; यदि उन्हे भी उसका अलङ्कारत्व मान्य होता तो, 'केचित् प्रचक्षते' का उल्लेख किये बिना केवल उसका लक्षण-उदाहरण दे देते। अस्तु! भामह ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यो के द्वारा स्वीकृत स्वभावोक्ति का स्वरूप इस प्रकार दिया है —'वस्तु की अवस्था का यथारूप वर्णन अर्थात् उसके स्वभाव का वर्णन स्वभावोक्ति है।'[१]

भामह के उत्तरवर्ती आचार्य दण्डी ने न केवल स्वभावोक्ति का अलङ्कारत्व स्वीकार किया, वरन् उसे 'आद्यालङ्कृति' कहकर अलङ्कारों में प्रधान माना। उन्होंने स्वभावोक्ति को ही अलङ्कार-प्रकरण मे प्रथम विवेच्य समझा। स्वभावोक्ति का दूसरा नाम उनके अनुसार 'जाति' है। दण्डी ने स्वभावोक्ति के स्वरूप के सम्बन्ध मे पूर्वप्रचलित मान्यता को ही स्वीकार किया है। उनके अनुसार विभिन्न अवस्थाओ मे पदार्थो (जाति, गुण, क्रिया तथा द्रव्य) के स्वरूप के स्फुट वर्णन को स्वभावोक्ति कहते है।[२] शास्त्र आदि मे

१. अर्थस्य तदवस्थत्व स्वभावोऽभिहितो यथा।—भामह, काव्यालं २, ९३

२. नानावस्थ पदार्थाना रूपं साक्षाद्विवृण्वती।
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालङ्कृतिर्यथा॥—दण्डी, काव्यदर्श २,८

भी वस्तुस्वरूप का स्फुट वर्णन होता है। जहाँ ऐसे वर्णन कविप्रतिभा से किये जाते है, वहाँ स्वभावोक्ति अलङ्कार की सत्ता मानी जाती है। निष्कर्षत', विभिन्न अवस्थाओ मे वस्तुस्वभाव का विच्छित्तिपूर्ण वर्णन स्वभावोक्ति का लक्षण है।

उद्भट ने स्वभावोक्ति के यौगिक अर्थ-मात्र के आधार पर उसकी परिभाषा नही दी और न उन्होने पूर्वाचार्यो के मत का अविचारित अनुमोदन ही किया। उनके मतानुसार क्रिया मे सलग्न मृगशावक आदि के हेवाक (इच्छा आदि मानसिक चेष्टा) का वर्णन स्वभावोक्ति अलङ्कार है।[1] उद्भट के स्वभावोक्ति-लक्षण मे अनुगमन नही, प्रस्थान है। पूर्ववर्ती आचार्यो के लक्षण से उद्भट के लक्षण मे स्वभावोक्ति के सम्बन्ध मे कई बाते नवीन है—एक तो यह कि उद्भट क्रिया-प्रवृत्त अर्थात् साध्यावस्था मे रहने वाले पदार्थ का वर्णन ही इसमे अपेक्षित मानते है, जब कि पूर्ववर्ती आचार्य वस्तु के सिद्ध और साध्य का विवेक स्वभावोक्ति मे नही करते थे। दूसरी बात यह कि क्रिया मे संलग्न पदार्थ की केवल शारीरिक चेष्टाओ का यथारूप या स्फुट वर्णन ही उद्भट के अनुसार स्वभावोक्ति के रूप-विधान के लिए पर्याप्त नही है, उसमे उस वर्ण्य की इच्छा, उत्कण्ठा आदि मानसिक क्रिया का वर्णन भी अपेक्षित है और इसी से सम्बद्ध तीसरी बात यह कि जहाँ पूर्ववर्ती आचार्य निर्जीव पदार्थों के स्वरूप के स्फुट वणन में भी स्वभावोक्ति का सद्भाव मानते थे, वहाँ उद्भट केवल सजीव पदार्थो के वर्णन मे ही स्वभावोक्ति मानेगे, क्योकि सजीव के ही हेवाक का वर्णन सम्भव है। इस प्रकार स्वभावोक्ति का वस्तु-स्वरूप या वस्तु-स्वभाव के स्फुट वर्णन-मात्र से विशिष्ट लक्षण उद्भट ने दिया है।

वामन ने वस्तु-स्वभाव के स्फुट वर्णन को काव्य के अर्थव्यक्ति नामक गुण से अभिन्न मानकर अलङ्कार-रूप मे उसका पृथक् विवेचन आवश्यक नही समझा। रुद्रट ने जाति या स्वभावोक्ति के सम्बन्ध मे उद्भट की मान्यता को छोड़ भामह और दण्डी के मत का अनुगमन किया है। उनके अनुसार जिस वस्तु का सस्थान अर्थात् स्वाभाविक रूप, अवस्थान तथा व्यापार जैसा हो उसका वैसा ही वर्णन जाति है। उसमे बालक, मुग्ध युवती, कातर,

---

१. क्रियाया सप्रवृत्तस्य हेवाकाना निबन्धनम्।
कस्यचिन्मृगडिम्भादेः स्वभावोक्तिरुदाहृता ॥
—उद्भट, काव्याल० सार स० ३, ८

पक्षी, सम्भ्रान्त, हीन आदि पात्रो की काल-विशेष तथा अवस्था-विशेप में विशेष प्रकार की चेष्टा का वर्णन रमणीय होता है। ऐसा ही वर्णन रुद्रट के मत से स्वभावोक्ति अलङ्कार है।[१] उद्भट के लक्षण से इस लक्षण की इतनी समता अवश्य है कि इसमे भी सजीव पदार्थो—मनुष्य, पशु, पक्षी—की ही चेष्टा का वर्णन अपेक्षित माना गया है, पर उद्भट की तरह रुद्रट ने मानसिक चेष्टा का वर्णन आवश्यक नही माना है। प्राणियो की केवल शारीरिक चेष्टाओ के सजीव वर्णन मे भी रुद्रट स्वभावोक्ति मानेगे। भामह-दण्डी की तरह जड वस्तु के वर्णन मे रुद्रट अलङ्कार नही मानेगे। भामह और दण्डी ने भी स्वभावोक्ति के उदाहरणों मे प्राणियो के ही स्वभाव का वर्णन दिखाया था; पर उनकी स्वभावोक्ति-परिभाषा का क्षेत्र-विस्तार जड़ वस्तु के स्वरूप-वर्णन तक भी था। सम्भव है, प्राणियो के चेष्टा-वर्णन का उदाहरण देखते हुए रुद्रट ने वही तक स्वभावोक्ति का क्षेत्र सीमित कर दिया हो।

भोज ने दण्डी की तरह जाति या स्वभावोक्ति को अर्थालङ्कारो मे मुख्य माना है। दण्डी ने उपमा आदि से भी अधिक महत्त्व स्वभावोक्ति को दिया था। भोज उपमा आदि को उभयालङ्कार मानते है और जाति को अर्थालङ्कारो में मुख्य। अत, इस विषय मे निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि वे उपमा आदि से भी जाति को अधिक महत्त्व देते थे या नही। अर्थालङ्कारो मे जाति को मुख्य मानने मे भोज की युक्ति यह है कि सभी अर्थालङ्कार वस्तु के स्वरूप पर आश्रित रहते है और जाति मे वस्तु के स्वरूप का स्फुट वर्णन होता है। जाति के लक्षण मे भोज ने रुद्रट की तरह नाना अवस्थाओं मे वस्तु के जायमान रूप का वर्णन अपेक्षित माना। वह जायमान रूप वस्तु के स्वभाव से ही उत्पन्न होना चाहिए।[२] इस प्रकार

---

१. सस्थानावस्थानक्रियादि यद्यस्य यादृश भवति।
लोके चिरप्रसिद्धं तत्कथनमनन्यथा जातिः॥
शिशुमुग्धयुवतिकातरतिर्यक्सभ्रान्तहीनपात्राणाम्।
सा कालावस्थोचितचेष्टासु विशेषतो रम्या॥
—रुद्रट, काव्याल० ७, ३०-३१

२. नानावस्थासु जायन्ते यानि रूपाणि वस्तुन।
स्वेभ्यः स्वेभ्योनिसर्गेभ्यस्तानि जाति प्रचक्षते॥
—भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण ३, ४

जाति को परिभाषित कर भोज ने अर्थव्यक्ति गुण से उसका भेद-निरूपण किया है। उनके अनुसार दोनों का भेद यह है कि अर्थव्यक्ति मे वस्तु के सार्वकालिक स्वरूप का वर्णन होता है, पर जाति मे वस्तु के अवस्था-विशेष मे जायमान रूप का वर्णन किया जाता है।[१]

मम्मट ने उद्भट की तरह शिशु आदि की विशिष्ट क्रिया या रूप का वर्णन स्वभावोक्ति का लक्षण माना।[२] क्रिया-प्रवृत्त प्राणियों के स्वरूप-वर्णन मे ही स्वभावोक्ति अलङ्कार माना गया है। रुय्यक ने स्वभावोक्ति-लक्षण मे 'सूक्ष्म' शब्द जोड कर यह धारणा व्यक्त की कि वस्तु-स्वभाव का वर्णन-मात्र अलङ्कार नही है, वह तो अलङ्कार्य है। वस्तु-स्वभाव का वर्णन काव्य का शरीर ही है, जिसे अलङ्कार अलङ्कृत करते है। अत, कवि-प्रतिभा से वस्तु-स्वभाव का सूक्ष्म तथा यथारूप वर्णन स्वभावोक्ति का लक्षण है।[3] रुय्यक का यह लक्षण अर्थ-व्यक्ति गुण मे भी अतिव्याप्त है। विश्वनाथ ने रुय्यक तथा मम्मट के स्वभावोक्ति-लक्षण के आधार पर स्वभावोक्ति की परिभाषा दी है। रुय्यक से सूक्ष्म की धारणा लेकर उसके बदले उन्होने 'दुरूहार्थ' (कवि-प्रतिभा-वेद्य) का प्रयोग किया। 'स्वक्रियारूपवर्णन' की धारणा और पदावली उन्होने मम्मट से ली है।[४] अप्पय्य दीक्षित ने जाति, क्रिया आदि मे वस्तु-स्वभाव का वर्णन स्वभावोक्ति का लक्षण माना है।[५]

इस विवेचन का निष्कर्ष यह है कि अवस्था-विशेष मे वस्तु के जायमान रूप का, क्रिया-सलग्न अर्थ के स्वरूप का विच्छित्तिपूर्ण एवं यथार्थ वर्णन स्वभावोक्ति अलङ्कार है। अत, काव्य के सामान्यत वर्ण्य से इसका स्वरूप

---

१. भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण, ३, ५

२. स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनम्।
—मम्मट, काव्यप्र०, १०. १६८

३. सूक्ष्मवस्तुस्वभावस्य यथावद् वर्णनं स्वभावोक्तिः।—रुय्यक, अलं० सर्वस्व सूत्र सं० ७८। तथा—इह वस्तुस्वभाववर्णनमात्रं नालङ्कारः। तत्त्वे सर्वं काव्यमलङ्कारि स्यात्। नहि तत् काव्यमस्ति, यत्र वस्तुस्वभाववर्णन-मात्रं न विद्यते। तदर्थं सूक्ष्मग्रहणम्।—वही, वृत्ति पृ० २२०

४. स्वभावोक्तिर्दुरूहार्थस्वक्रियारूपवर्णनम् ।—विश्वनाथ, साहित्यद० १०, १२१ तथा—दुरूहयोः कविमात्रवेद्ययोः। वही, वृत्ति पृ० ७७६

५. स्वभावोक्तिः स्वभावस्य जात्यादिस्थस्य वर्णनम्।
—अप्पय्य दी० कुवलया० १६०

विशिष्ट है। यह अर्थव्यक्ति गुण से भी इस दृष्टि से स्वतन्त्र है कि जहाँ अर्थव्यक्ति मे वस्तु के सिद्ध या सार्वकालिक स्वरूप का स्फुट वर्णन होता है, वहाँ स्वभावोक्ति मे अवस्था-विशेष मे जायमान वस्तु का स्फुट वर्णन होता है। अलङ्कार्य तथा गुण से किञ्चित् विशिष्ट स्वभाव का होने के कारण ही प्रस्तुत अलङ्कार कुन्तक के तर्क-कुठार से खण्डित नही हुआ। कुन्तक के बाद भी उसे अलङ्कार-शास्त्र की सुदीर्घ परम्परा मे काव्य के अलङ्कार-विशेष के रूप मे स्वीकृति मिलती रही। डॉ० नगेन्द्र की यह मान्यता तर्कपूर्ण है कि स्वभावोक्ति मे भी विशिष्टता का सद्भाव रहता है। वक्रता या विशिष्टता के सद्भाव के कारण स्वभावोक्ति अलङ्कार है।[१] स्वभावोक्ति प्रकृत कथन या लोक-वार्त्ता से निश्चय ही भिन्न है। अतः, उसे अलङ्कार मानने मे कोई अनुपपत्ति नही।

समुच्चय

रुद्रट ने सर्वप्रथम समुच्चय अलङ्कार की उद्भावना कर एकत्र अनेक वस्तुओ का एक साथ सद्भाव-कथन इसका लक्षण माना। उनके अनुसार एक आधार मे अनेक सुखावह आदि वस्तुओ का वर्णन समुच्चय है। रुद्रट के टीकाकार नमिसाधु ने सुखावह के साथ प्रयुक्त 'आदि' शब्द से दु.खावह का अभिप्राय माना है। इस तरह एक आधार मे अनेक सुखद अथवा अनेक दुःखद वस्तुओ का वर्णन समुच्चय अलङ्कार का सामान्य लक्षण होगा। अनेक सुखावह तथा दु खावह वस्तुओ का भी एक साथ एकत्र वर्णन हो सकता है। इन तीनो स्थितियो के आधार पर समुच्चय के तीन प्रकार स्वीकार किये गये है— (क) अनेक सुन्दर पदार्थो का एकत्र योग-वर्णन, (ख) अनेक असुन्दर वस्तुओ का एकत्र योग वर्णन तथा (ग) अनेक सुन्दर और असुन्दर वस्तुओ के एकत्र योग का वर्णन। औपम्य-गर्भ समुच्चय के सम्बन्ध मे कहा गया है कि इसमे अनेक उपमानोपमेय-भूत अर्थ एक क्रिया आदि से सम्बद्ध रहते है।[२]

भोज ने समुच्चय की इस मूल धारणा को स्वीकार कर भी उसे कुछ नवीन रूप से परिभाषित किया है। उनके अनुसार अनेक द्रव्य, क्रिया, गुण आदि का एकत्र क्रिया, द्रव्य, गुण आदि मे निवेश समुच्चय है।[3] इस प्रकार

१. हिन्दी वक्रोक्ति जी० की भूमिका पृ० १३८

२. द्रष्टव्य—रुद्रट, काव्यालं० ७, १९, २७ तथा ८, १०३

३. द्रव्यक्रियागुणादीना क्रियाद्रव्यगुणादिषु।
निवेशनमनेकेषामेकतः स्यात्समुच्चयः॥—भोज, सरस्वतीकण्ठा० ४, ६०

अनेक द्रव्यो का एक क्रिया से योग रूप समुच्चय, अनेक क्रियाओं का एक द्रव्य समुच्चय, अनेक गुणो का एक क्रियासमुच्चय आदि रूपों की कल्पना की जा सकती है। रुद्रट ने अनेक सत्-असत् पदार्थों के एकत्र योग की कल्पना समुच्चय में की थी। भोज ने अनेक द्रव्य, क्रिया, गुण आदि के एक क्रिया, द्रव्य आदि से योग की कल्पना समुच्चय मे की।

आचार्य मम्मट की समुच्चय-धारणा नवीन है। उन्होने समुच्चय अभिधान के यौगिक अर्थ को दृष्टि मे रखते हुए एकत्र अनेक के योग की धारणा अवश्य प्रकट की है, किन्तु समुच्चय का यह स्वतन्त्र लक्षण दिया है कि जहाँ प्रस्तुत कार्य के एक साधक के रहते हुए अन्य साधक के भी होने का वर्णन हो, वहाँ समुच्चय अलङ्कार होता है।[1] स्पष्ट है कि मम्मट समुच्चय का तात्पर्य एक कार्यविशेष के अनेक साधको का समुच्चय मानते थे। कार्य का एक प्रधान साधक तो रहता ही है, उसके साथ अन्य साधकों का भी योग वर्णित होने पर समुच्चय अलङ्कार होता है। गुण-क्रिया के युगपत् सद्भाव को भी मम्मट ने समुच्चय का दूसरा रूप माना है।[2] उनकी यह समुच्चय-धारणा भोज की धारणा से अशत मिलती-जुलती है। उन्होने इसके तीन भेद माने है—(क) गुणो का समुच्चय, (ख) क्रियाओ का समुच्चय और (ग) गुण एवं क्रिया का एक साथ समुच्चय। रुय्यक ने मम्मट की समुच्चय धारणा को ही स्वीकार किया है।[3]

विश्वनाथ ने रुय्यक के मत का अनुसरण करते हुए समुच्चय के उक्त दोनो रूप स्वीकार किये है। उन्होने एक कार्य के साधक के साथ अन्य साधक के योग का सत्, असत् आदि के आधार पर भेद-निरूपण किया है। साधक सभी सुन्दर भी हो सकते है, असुन्दर भी और दोनो मिले-जुले भी।[4] अप्पय्य दीक्षित भी अनेक वस्तुओ के युगपद्भाव तथा एक कार्य के साधन मे अनेक साधको के आ जुटने मे समुच्चय मानते है।[5] जगन्नाथ को भी पदार्थों

---

१. तत्सिद्धिहेतावेकस्मिन् यत्रान्यत्तत्कर भवेत्। समुच्चयोऽसौ………।
—मम्मट, काव्यप्र० १०, १७८

२. स त्वन्यो युगपत् या गुणक्रिया:।—वही, १०, १७९

३. गुणक्रियायौगपद्यं समुच्चय:। तथा एकस्य सिद्धिहेतुत्वेऽन्यस्य तत्करत्वं च।—रुय्यक अल० सर्वस्व, सूत्र ६५, ६६

४. द्रष्टव्य—विश्वनाथ, साहित्यदर्पण १०, ११०

५. द्रष्टव्य—अप्पय्य दीक्षित, कुवलयानन्द ११५-१६

का युगपद् अन्वय समुच्चय मे अभीष्ट है। एक कार्य के सम्पादन मे अनेक साधको का आ जाना भी समुच्चय का लक्षण वे मानते है।[1] इस प्रकार मम्मट तथा रुय्यक के बाद उन्ही की समुच्चय-विषयक मान्यता स्वीकृत हुई। निष्कर्षत, समुच्चय के निम्नलिखित रूप स्वीकृत है—

(१) अनेक गुण-क्रिया का युगपद्भाव या एक साथ कथन जिसके तीन रूप सम्भव है—अनेक गुणो का, अनेक क्रियाओ का तथा अनेक गुण-क्रियाओ का समन्वित रूप से एकत्र योग।

(२) एक कार्य की सिद्धि के लिए अनेक साधको का आ जाना।

समुच्चय-भेद

गुण-क्रिया आदि के पृथक्-पृथक् तथा समन्वित योग के आधार पर तथा कार्य-साधक के सत्, असत् तथा सदसत् होने के आधार पर समुच्चय के अनेक भेद किये जा सकते है।

यथासंख्य

यथासख्य शब्द-गुम्फ के विशेष क्रम की धारणा पर आधृत अलङ्कार है। एक क्रम से कथित अर्थो का उसी क्रम से अन्वय इसकी मूल धारणा रही है। आचार्य भामह ने इसे परिभाषित करते हुए कहा था कि जहाँ पूर्व-निर्दिष्ट अनेक असधर्म अर्थो का क्रमश अनुनिर्देश किया जाय, वहाँ यथासख्य अलङ्कार होता है।[2] इसमें एक बार अनेक अर्थो का निर्देश तथा पुन: उन अर्थो का क्रमिक अनुनिर्देश होता है। पूर्व-निर्दिष्ट अर्थो मे जो क्रम रहता है उसी क्रम से उनके पुन: निर्देश मे जो चमत्कार रहता है, वही इसके अलङ्कारत्व का हेतु है। अर्थो का निर्देश तथा अनुनिर्देश अपने आप मे अलङ्कार नही, अलङ्कारत्व है निर्दिष्ट तथा अनुनिर्दिष्ट अर्थो के समान क्रम मे। क्रम में सौन्दर्य होने के कारण इसे 'क्रम' संज्ञा से भी अभिहित किया गया है। दण्डी ने क्रम के साथ सख्यान अभिधान का भी प्रयोग प्रस्तुत अलङ्कार के लिए किया है। भामह ने यथासख्य और उत्प्रेक्षा; इन दो अलङ्कारों का नाम्ना निर्देश कर उन्हे मेधावी के द्वारा निरूपित बताया है। उनका कथन है कि

---

१. द्रष्टव्य—जगन्नाथ, रसगंगाधर, पृ० ७७६-७७

२. भूयसामुपदिष्टानामर्थानामसधर्मणाम्।
क्रमशो योऽनुनिर्देशो यथासंख्य तदुच्यते।—भामह, काव्यालं० २,८९

मेधावी ने उत्प्रेक्षा को सख्यान भी कहा है। यह कथन सदोष जान पडता है। भामह सम्भवत यह कहना चाहते होगे कि यथासख्य और उत्प्रेक्षा के लिए आचार्य मेधावी ने सख्यान और उत्प्रेक्षा अभिधान का प्रयोग किया है। हो सकता है कि अपपाठ के कारण भामह का वह अभीष्ट अर्थ स्पष्ट नहीं हो पा रहा हो। दण्डी की यह मान्यता उचित जान पडती है कि यथासख्य का ही दूसरा नाम सख्यान है। दण्डी ने आचार्य भामह की यथासख्य-धारणा को स्वीकार कर उसकी परिभाषा इस प्रकार दी है—उद्दिष्ट अर्थात् पूर्व-उक्त पदार्थों का उसी क्रम से पीछे कहे हुए अर्थो के साथ अन्वय यथासख्य, सख्यान या क्रम अलङ्कार है।[१]

उद्भट ने भामह के यथासख्य-लक्षण को अक्षरश. स्वीकार कर लिया है।[२] वामन सभी अलङ्कारो को औपम्य-गर्भ या उपमा-प्रपञ्च मानते थे। अत: क्रम या यथासख्य मे भी उन्होने उपमानोपमेय भाव की कल्पना की है। वामन को भी क्रम मे भामह, दण्डी आदि की तरह निर्दिष्ट तथा अनुनिर्दिश्यमान अर्थो के क्रमबद्ध सम्बन्ध की धारणा मान्य है। इसके साथ उपमान और उपमेय की धारणा को मिलाकर वामन ने यह परिभाषा दी है कि उपमेयो तथा उपमानो का क्रम-सम्बन्ध क्रम अलङ्कार है। उनके अनुसार एक क्रम से अनेक उपमेयो का कथन कर उसी क्रम से अनेक उपमानो की सम्बन्ध-योजना क्रम अलङ्कार का लक्षण है।[३] वामन के उत्तरवर्ती आचार्यों ने निर्दिष्ट और अनुनिर्देश्य अर्थो मे उपमानोपगेय-सम्बन्ध की कल्पना आवश्यक नही मानी। उपमानोपमेय-भाव के अभाव मे भी अर्थों का क्रम इस अलङ्कार का स्वरूप-विधान कर सकता है।

रुद्रट ने निर्दिष्ट तथा निर्दिश्यमान अर्थो के बीच उपमानोपमेय-भाव की जगह विशेषण-विशेष्य-भाव-सम्बन्ध की कल्पना की है। उनकी मान्यता मूलत: पूर्ववर्ती आचार्यो की क्रम-विषयक मान्यता से अभिन्न है। जिस परिपाटी या क्रम से विविध अर्थो का निर्देश किया गया हो उसी परिपाटी

१. उद्दिष्टाना पदार्थानामनूद्देशो यथाक्रमम्।
यथासंख्यमिति प्रोक्त सख्यानं क्रम इत्यपि ॥

—दण्डी, काव्यादर्श २, २७३

२. द्रष्टव्य—उद्भट, काव्याल० सार स० ३,२

३. उपमेयोपमानाना क्रमसम्बन्ध: क्रम: ।—वामन, काव्याल० सू० ४,३,१७

से उन अर्थों से प्रतिबद्ध अर्थों का निर्देश (अर्थात् उन अर्थों के अनुयायी अर्थों का उसी क्रम से विशेषण-विशेष्य-भाव से कथन) यथासख्य अलङ्कार है।[1]

आचार्य कुन्तक ने यथासख्य के अलङ्कारत्व का खण्डन किया है। उनकी युक्ति है कि यथासख्य मे उक्ति-वैचित्र्य का अभाव रहता है; अत उसे अलङ्कार नही माना जाना चाहिए।[2]

'अलङ्कारसूत्र' के टीकाकार जयरथ ने कुन्तक के मत का अनुसरण करते हुए यथासख्य का अलङ्कारत्व अस्वीकार किया है।[3] इसमे उक्ति-वैचित्र्य न होने पर भी शब्दो के निर्देश के क्रम मे निहित सौन्दर्य के आधार पर ही इसे अलङ्कार माना जाता रहा है।

अग्निपुराणकार ने यथासख्य या क्रम का स्वरूप तो पूर्ववर्ती आचार्यों के मतानुसार ही निरूपित किया; किन्तु उसे अलङ्कार के रूप मे परिगणित नही कर, गुण के रूप मे स्वीकार किया।[4] परम्परा से अलङ्कार के रूप मे स्वीकृत क्रम को गुण मानने मे कोई सबल युक्ति नही।

भोज ने क्रम को उभयालङ्कार मान कर शब्द, अर्थ तथा शब्दार्थ-युगल का परिपाटी से अर्थात् क्रम से निर्देश-क्रम का लक्षण माना।[5] परिपाटी या क्रम को इस अलङ्कार का मूल लक्षण मानने मे पूर्ववर्ती आचार्यों के मत की स्वीकृति है। शब्द, अर्थ तथा शब्दार्थ विभाग की धारणा कुछ नवीन है। यह विभाग बडा ही स्थूल है। क्रम की मूल धारणा मे कोई नवीनता भोज नहीं ला सके है।

मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ आदि आचार्यो ने भामह की तरह क्रम से कथित वस्तुओ के साथ उसी क्रम से वस्तुओ का अन्वय दिखाया जाना यथासख्य का लक्षण माना है। जयदेव ने यथासख्य के लक्षण मे कारक-पद तथा क्रिया-पद के क्रमिक निर्देश पर बल दिया है। इस प्रकार उनकी धारणा यह

---

१. निर्दिश्यन्ते यस्मिन्नर्था विविधा ययैव परिपाट्या।
पुनरपि तत्प्रतिबद्धास्तयैव यत्स्याद्यथासख्यम्॥
—रुद्रट, काव्यालं० ७,३४

२. द्रष्टव्य—कुन्तक, वक्रोक्तिजी० पृ० ४७८-८०

३. द्रष्टव्य—अलङ्कासूत्र पर जयरथ की अलङ्कारविमर्शिनी टीका, पृ० १४९

४. द्रष्टव्य, अग्निपुराण, ३४६, २२

५. शब्दस्य यदि वार्थस्य द्वयोरप्यनयोरथ।
भणन परिपाट्या यत् क्रमः स परिकीर्तितः॥
—भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण ४,७९

है कि एक निश्चित क्रम से कथित कारक-पदो या क्रिया-पदों का उसी क्रम से कारक-पदो या क्रिया-पदों के साथ अन्वय दिखाना यथासख्य अलङ्कार है।[1]

अप्पय्य दीक्षित ने आचार्य मम्मट का यथासख्य-लक्षण 'कुवलयानन्द' मे उद्धृत कर दिया है। जगन्नाथ भी निर्देश-क्रम से अर्थों का सम्बन्ध यथासंख्य का लक्षण मानते है।[2]

इस विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि कुन्तक आदि के खण्डन के प्रयास के उपरान्त भी काव्य-शास्त्र में यथासख्य अलङ्कार के रूप मे स्वीकृत रहा है।

प्रस्तुत अलङ्कार के स्वरूप के सम्बन्ध मे सभी आचार्यो की मूल धारणा समान है। इसमे एक बार कुछ अर्थों का कथन होता है और उस कथन मे अर्थो का जो क्रम रहता है, उसी क्रम से पीछे कहे जाने वाले अर्थों के साथ उन अर्थो का अन्वय होता है। उदाहरणार्थ, पूर्व-कथित अर्थो मे से प्रथम का पीछे कहे जाने वाले अर्थो के प्रथम के साथ, द्वितीय का द्वितीय के साथ और तृतीय का तृतीय के साथ अन्वय होगा। जिस अर्थ का अन्वय दिखाना हो तथा जिसके साथ अन्वय अभीष्ट हो, दोनों का समान क्रम ही क्रम या यथासख्य का रूप-विधान करता है। पूर्व निर्दिष्ट तथा पश्चात् निर्दिष्ट पदार्थों में उपमानोपमेय-भाव, विशेषण-विशेष्य-भाव आदि सम्बन्ध भी हो सकते है; किन्तु उन्हे यथासख्य का आवश्यक लक्षण नही माना जा सकता। ऐसा करना उसके क्षेत्र को सीमित करना होगा।

यथासंख्य के भेद

समास तथा असमास से पदों का समान क्रम से अन्वय दिखाने के आधार पर यथासख्य के आर्थ और शाब्द भेद किये गये है। कारक-पदों तथा क्रिया-पदो के क्रमिक अन्वय के आधार पर भी दो भेद किये जा सकते है। दो या तीन निर्दिष्ट पदों का क्रमश: दो या तीन पदों के साथ अन्वय दिखाये जाने के आधार पर—अन्वित होने वाले पदार्थों की सख्या के आधार पर—भी यथासख्य

---

१. यथासंख्य द्विधार्थाश्चेत् क्रमादेकैकमन्विता।
—जयदेव, चन्द्रालोक, ५, ९२ (द्विधार्थाः क्रियाकारकरूपा···द्विविधा अर्थाः।) वही रमा टी० पृ० ६७

२. उपदेशक्रमेणार्थाना सम्बन्धो यथासख्यम्।—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ७५६

के द्विपद, त्रिपद आदि भेद माने गये है। भोज ने शब्द, अर्थ तथा शब्दार्थ के अन्वय के आधार पर तीन भेद कर पुन तीनो के दो-दो भेद किये है। उनके अनुसार क्रम के निम्नलिखित छह भेद हैं—(१) पद से शब्द-परिपाटी, (२) वाक्य से शब्द-परिपाटी, (३) काल से अर्थ-परिपाटी, (४) देश से अर्थ-परिपाटी, (५) शब्दप्रधाना शब्दार्थोभय-परिपाटी तथा (६) अर्थप्रधाना शब्दार्थोभय-परिपाटी।[१]

पर्याय

आचार्य रुद्रट ने सर्वप्रथम पर्याय अलङ्कार की कल्पना की। उनके अनुसार पर्याय अलङ्कार का एक रूप वह है, जिसमे विवक्षित वस्तु के प्रतिपादन मे समर्थ, किन्तु उसके असदृश तथा उसके साथ उत्पाद्य या उत्पादक सम्बन्ध नही रखने वाले पदार्थ का कथन होता है।[२] अभिप्राय यह कि जहाँ विवक्षित वस्तु का सीधा कथन न हो, पर उसका बोध कराने के लिए किसी अन्य वस्तु का, जो न तो उस विवक्षित अर्थ के सदृश हो और न उसका उत्पाद्य या उत्पादक हो, कथन किया जाय, वहाँ पर्याय का एक रूप होता है। सदृश से सदृश का बोध समासोक्ति और अन्योक्ति मे होता है। इसमे असदृश वस्तु से विवक्षित अर्थ का बोध कराया जाता है। स्पष्ट है कि पर्याय का यह प्रकार पूर्ववर्ती आचार्यो की पर्यायोक्ति-अलङ्कार धारणा पर आधृत है। भामह, दण्डी, उद्भट आदि आचार्य पर्यायोक्ति के स्वरूप का निरूपण कर चुके थे। रुद्रट ने उसे पर्याय कहा और पर्याय के एक स्वतन्त्र रूप की भी उद्भावना उन्होने की। पीछे चलकर पर्याय के ये दो रूप अलग-अलग अलङ्कारो के रूप मे स्वीकृत हुए। पर्याय के जिस स्वरूप की उद्भावना रुद्रट ने की थी, वही पर्याय अभिधान से पीछे के आचार्यो को मान्य हुआ। पूर्वाचार्यो की पर्यायोक्ति, जिसे रुद्रट ने पर्याय का एक प्रकार कहा था, पर्याय से स्वतन्त्र पर्यायोक्ति संज्ञा से ही स्वीकृत हुई। पर्याय के दूसरे भेद की परिभाषा मे रुद्रट ने कहा है कि जहाँ अनेक आधारो मे एक वस्तु का अथवा एक आधार मे अनेक वस्तुओं का क्रम से होना वर्णित हो, वहाँ पर्याय का दूसरा प्रकार होता

---

१. द्रष्टव्य, भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ० ४५३-५७

२. वस्तु विवक्षितवस्तुप्रतिपादनशक्तमसदृश तस्य।
यदजनकमजन्यं वा तत्कथन यत्स पर्यायः॥

—रुद्रट, काव्यालं०, ७, ४२

है। वस्तु सुखद अथवा दुःखद प्रकृति की हो सकती है।[१] भोज ने पर्याय अभिधान से पर्यायोक्ति अलङ्कार का स्वरूप-निरूपण किया है।[२]

आचार्य मम्मट ने पर्यायोक्ति तथा पर्याय का परस्पर स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार कर, दोनो का अलग-अलग विवेचन किया है। उन्होने पर्याय के स्वरूप का निरूपण रुद्रट के पर्याय के द्वितीय प्रकार के आधार पर किया है। उनके अनुसार एक वस्तु का क्रम से अनेक आधारो मे होना या किया जाना पर्याय है। अनेक वस्तुओ का भी क्रम से एक आधार मे होना या किया जाना पर्याय का दूसरा प्रकार है।[3] यह धारणा रुद्रट की पर्याय-धारणा से अभिन्न है। यही धारणा रुय्यक ने भी 'अलङ्कारसूत्र' मे व्यक्त की है।[४]

मम्मट तथा रुय्यक के उत्तरवर्ती विश्वनाथ, अप्पय्य दीक्षित, जगन्नाथ आदि आचार्यो ने उनकी मान्यता के अनुरूप ही पर्याय अलङ्कार को पर्यायोक्ति से स्वतन्त्र मान कर परिभाषित किया है। उनके पर्याय-लक्षण रुद्रट के पर्याय-लक्षण से अभिन्न है। रुद्रट ने पर्याय के जिस द्वितीय रूप की उद्भावना की थी उसके स्वरूप मे कोई परिवर्त्तन नही हुआ। इतना अवश्य हुआ कि रुद्रट ने जहाँ पूर्ववर्ती आचार्यो की पर्यायोक्ति के एक अङ्ग के रूप मे पर्याय के इस स्वरूप की कल्पना की थी वहाँ उत्तरवर्ती आचार्यो ने पर्याय को पर्यायोक्ति से स्वतन्त्र अस्तित्व दे दिया। रुद्रट ने पर्यायोक्ति या पर्यायोक्त के ही सक्षिप्त-रूप पर्याय व्यपदेश का प्रयोग किया था। उनकी दृष्टि में पर्यायोक्त और पर्याय अभिन्न थे, पर पीछे चलकर वे अलग-अलग अलङ्कार के अभिधान बने। पर्यायोक्ति की जगह पर्याय शब्द का प्रयोग कर रुद्रट ने अनजाने ही अलङ्कार-शास्त्र को अलङ्कार की एक नवीन सज्ञा दे दी और पर्याय के एक नवीन प्रकार की कल्पना कर उन्होने एक स्वतन्त्र अलङ्कार की सृष्टि कर दी।

कारणमाला

कारणमाला कारणो की शृङ्खला की धारणा पर आधृत अलङ्कार है।

---

१. यत्रैकमनेकस्मिन्नेकमेकत्र वा क्रमेण स्यात्।
वस्तु सुखादिप्रकृति क्रियेत वान्यः स पर्यायः॥—रुद्रट, काव्याल० ७, ४४

२. द्रष्टव्य, भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण ४, ८०

३. एक वस्तु क्रमेणानेकस्मिन्भवति क्रियते वा स पर्यायः।······
अनेकमेकस्मिन् क्रमेण भवति क्रियते वा सोऽन्यः।
—मम्मट, काव्यप्र० वृत्ति पृ० २७३-७४

४. द्रष्टव्य, रुय्यक, अल० सर्वस्व सूत्र स ६०

किसी कार्य के एक या अनेक हेतुओ का निर्देश अलङ्कार नही होता, किन्तु जहाँ एक हेतु से कोई कार्य उत्पन्न हो और पुन वह कार्य ही अन्य कार्य का कारण बन जाय, उस कारण से उत्पन्न कार्य फिर अन्य कार्य का कारण बने और इस तरह जहाँ प्रत्येक पूर्ववर्ती के अपने उत्तरवर्ती के प्रति कारण बनने से उक्ति मे कारणो की एक शृङ्खला बन जाय, वहाँ चमत्कार-विशेष के कारण अलङ्कार माना जाता है। इसकी प्रकृति के अनुरूप इसे कारणमाला कहा जाता है।

रुद्रट ने कारणमाला अलङ्कार की कल्पना कर उसके स्वरूप का निरूपण करते हुए कहा था कि जहाँ अर्थो मे पूर्ववर्ती अर्थ परवर्ती अर्थ का हेतु बन जाता है और यह क्रम समग्र रूप से चलता है, अर्थात् एक पूर्ववर्ती अर्थ अपने उत्तरवर्ती अर्थ का हेतु बनता है, फिर वह उत्तरवर्ती अर्थ भी अपने उत्तरवर्ती का हेतु बनता है और प्रत्येक पूर्ववर्ती का अपने उत्तरवर्ती के प्रति हेतु बनने का यह क्रम शृङ्खला के रूप मे समग्र उक्ति तक चलता रहता है, वहाँ कारणमाला अलङ्कार माना जाता है।[१]

मम्मट, रुय्यक एव विश्वनाथ ने कारणमाला का यही स्वरूप स्वीकार किया है। रुय्यक ने कहा है कि इसमे कार्य और कारण का जो क्रम रहता है, वही इसके सौन्दर्य का कारण है।[२] इस प्रकार रुद्रट से विश्वनाथ तक कारणमाला के सम्बन्ध मे यह समान धारणा प्रचलित रही कि इसमें हर पूर्ववर्ती अपने उत्तरवर्ती के प्रति कारण बनता चले और इस तरह कारणो की एक शृङ्खला बन जाय।

अप्पय्य दीक्षित ने कारणमाला के इस स्वरूप को देखते हुए उसके एक और रूप की कल्पना की। प्रत्येक उत्तरवर्ती का अपने पूर्ववर्ती के प्रति हेतु बनने का क्रमबद्ध वर्णन भी कारणमाला का एक रूप माना गया।[३] इस प्रकार उनके अनुसार उत्तर-उत्तर के प्रति पूर्व-पूर्व का तथा पूर्व-पूर्व के प्रति उत्तर-उत्तर का हेतु बनने का क्रमबद्ध वर्णन कारणमाला है। वस्तुत कारणमाला

---

१ कारणमाला सेय यत्र यथापूर्वमेति कारणताम्।
अर्थाना पूर्वार्थाद्भवतीद सर्वमेवेति॥
—रुद्रट, काव्याल० ७, ८४

२. कार्यकारणक्रम एवात्र चारुत्वहेतुः।—रुय्यक, अलङ्कारसर्वस्व, पृ० १७३

३. उत्तरोत्तरकारणभूतपूर्वपूर्वैः पूर्वपूर्वकारणभूतोत्तरोत्तरैर्वा वस्तुभिः कृतो गुम्फः कारणमाला।—अप्पय्य दी० कुवलया० वृत्ति पृ० १२५

का अलङ्कारत्व कार्यकारण की शृङ्खला मे निहित है। कार्य-वाक्य या कारण-वाक्य का पूर्ववर्ती या परवर्ती होना विशेष महत्त्व नहीं रखता। यदि प्रत्येक पूर्ववर्ती का अपने से उत्तरवर्ती के प्रति हेतु बनने का क्रमबद्ध वर्णन कारणमाला अलङ्कार है तो प्रत्येक उत्तरवर्ती का पूर्ववर्ती के प्रति हेतुत्व वर्णन भी कारण-माला का ही उदाहरण माना जाना चाहिए। दोनों मे कार्यकारण की माला समान रूप से रहती है, भेद केवल कार्य तथा कारण के पूर्व भाव तथा परभाव का है। पण्डितराज जगन्नाथ ने भी शृङ्खलामूलक इस अलङ्कार के दोनों भेद स्वीकार किये है। प्रत्येक पूर्ववर्ती कारण हो और प्रत्येक उत्तरवर्ती कार्य, यह एक प्रकार की कारणमाला है। प्रत्येक पूर्ववर्ती कार्य और प्रत्येक उत्तर-वर्ती कारण हो, यह दूसरी कारणमाला है।[1] अप्पय्य दीक्षित और जगन्नाथ के बाद कारणमाला के ये दोनो रूप स्वीकृत हुए है। निष्कर्षत', कारणमाला अलङ्कार के निम्नलिखित दो रूप मान्य हैं—

(१) जिस उक्ति मे आरम्भ से अन्त तक प्रत्येक पूर्ववर्ती का अपने उत्तर-वर्ती के प्रति हेतु बनने का क्रमबद्ध वर्णन हो और (२) जहाँ प्रत्येक उत्तरवर्ती का अपने-अपने पूर्ववर्ती के प्रति हेतु बनने का क्रमबद्ध वर्णन हो। कारणो का क्रमबद्ध वर्णन या उनकी शृङ्खला ही इस अलङ्कार का प्राण है।

एकावली

करणमाला की तरह एकावली भी माला या शृङ्खला की धारणा पर आधृत अलङ्कार है। इसकी उद्भावना भी सर्वप्रथम रुद्रट के 'काव्यालङ्कार' मे हुई है। रुद्रट की धारणा है कि जहाँ उत्तरोत्तर उत्कर्षशाली अर्थों की परम्परा इस रूप मे रखी जाती है कि प्रत्येक उत्तरवर्ती अर्थ पूर्ववर्ती अर्थ का विशेषण बन जाय, वहाँ एकावली मानी जाती है। इसमें कही विधि रूप से तथा कही अपोह अर्थात् अन्यव्यवच्छेद (या निषेध) रूप से वर्णन होता है।[2] इसमे अर्थों के विशेषण-विशेष्य-भाव के क्रम का सौन्दर्य निहित रहता है। भोज ने इसे परिकर अलङ्कार में अन्तर्भुक्त मान लिया है। इसीलिए उन्होंने इसका पृथक् निरूपण नही किया।[3]

---

१. तत्र पूर्वं पूर्वं कारण परं परं कार्यमित्येका (कारणमाला)। पूर्वं पूर्वं कार्यं परं परं कारणमित्यपरा।—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ७३१

२. एकावलीति सेय यत्रार्थपरम्परा यथालाभम्।
आधीयते यथोत्तरविशेषणा स्थित्यपोहाभ्याम्॥
—रुद्रट, काव्यालं० ७, १०९

३. द्रष्टव्य, भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण ४, ७६

मम्मट, रुय्यक आदि आचार्यों ने एकावली का यही स्वरूप स्वीकार किया है।[1] कारणमाला और एकावली के विकास-क्रम में पर्याप्त समता है। रुद्रट ने करणमाला तथा एकावली के जिस स्वरूप की कल्पना की, वही मम्मट, रुय्यक और विश्वनाथ के काल तक मान्य रहा, पर अप्पय्य दीक्षित ने दोनों ही अलङ्कारों की धारणा को समान रूप से विस्तार दिया। एकावली मे केवल उत्तरवर्ती अर्थ के पूर्ववर्ती के प्रति विशेषणभाव की कल्पना रुद्रट ने की थी। मम्मट और रुय्यक को यही मान्य था। रुय्यक इसके विपरीत पूर्ववर्ती का उत्तरवर्ती अर्थ के प्रति विशेषण बनने की शृङ्खला मे मालादीपक मानते थे, पर अप्पय्य दीक्षित ने पूर्व-पूर्व के प्रति उत्तर-उत्तर के विशेषण बनने के साथ उत्तर-उत्तर के प्रति पूर्व-पूर्व के विशेषण बनने में भी एकावली अलङ्कार ही माना है। उनके अनुसार 'गृहीतमुक्तरीति' से अर्थो की परम्परा का वर्णन एकावली का लक्षण है। गृहीत-मुक्तरीति का अर्थ है, उत्तर-उत्तर का पूर्व-पूर्व के प्रति विशेषण-भाव तथा पूर्व-पूर्व का उत्तर-उत्तर के प्रति विशेषण-भाव।[2] इस प्रकार उक्त दोनो ही स्थितियो में एकावली का सद्भाव अप्पय्य-दीक्षित को मान्य है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने एकावली और कारणमाला की मूल प्रकृति में अभेद बताते हुए कारणमाला की तरह इसके भी दो रूप स्वीकार किये है। उनकी मान्यता अप्पय्य दीक्षित की एकावली-धारणा से अभिन्न है। उन्होने कहा है कि जहाँ पूर्व-पूर्व उत्तर-उत्तर के प्रति या तो विशेष्य बनता हो या विशेषण, दोनो स्थितियो में एकावली अलङ्कार होता है।[3]

---

१. स्थाप्यतेऽपोह्यते वापि यथापूर्वं परं परम्।
विशेषणतया यत्र वस्तु सैकावली द्विधा॥
—मम्मट, काव्यप्र०, १० १९८ तथा—
यथापूर्व परस्य विशेषणतया स्थापनेऽपोहने वैकावली।
—रुय्यक, अल०सर्वस्व, सूत्र स० ५४

२. गृहीतमुक्तरीत्यार्थश्रेणिरेकावलिर्मता। तथा—
उत्तरोत्तरस्य पूर्वपूर्वविशेषणभावः पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरविशेषणभावो वा गृहीतमुक्तरीति।
—अप्पय्यदी०, कुवलया० १०५ तथा उसकी वृत्ति पृ० १२६

३. सैव शृङ्खला ससर्गस्य विशेष्यविशेषणभावरूपत्वे एकावली।
सा च पूर्वस्योत्तरोत्तर प्रति विशेष्यत्वे विशेषणत्वे चेति द्विधा।
—जगन्नाथ, रसगगा० पृ० ७३४

से अन्त मे आने वाले मे सर्वाधिक गुणोत्कर्ष दिखाया जाता है। आरम्भ से अन्त तक गुण के उत्कर्ष का क्रम होना सार मे आवश्यक है।

मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ आदि ने भी सार का यही स्वरूप निरूपित किया है। मम्मट के अनुसार परावधि अर्थात् अन्त तक वस्तु के उत्तरोत्तर उत्कर्ष का वर्णन सार है।[1] रुय्यक ने पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तर-उत्तर की उत्कृष्टता का निबन्धन सार का लक्षण दिया है।[2] विश्वनाथ ने वस्तु के उत्तरोत्तर उत्कर्ष-वर्णन को सार कहा।[3] स्पष्ट है कि इन आचार्यो की सार-धारणा अभिन्न है। इनके सार का स्वरूप रुद्रट के सार से भी मूलतः अभिन्न है, पर रुद्रट की अपेक्षा मम्मट आदि का सार-लक्षण अधिक सरल है। समुदाय और उसके एक-एक देश के उत्तरोत्तर उत्कर्ष की चर्चा न कर मम्मट-रुय्यक आदि ने आरम्भ से अन्त तक वस्तुओ मे पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तर-उत्तर मे अधिक गुणोत्कर्ष की धारणा पर बल दिया। इस तरह मम्मट, रुय्यक आदि की सार-परिभाषा अधिक सुबोध बन पायी।

अप्पय्य दीक्षित ने सार की परिभाषा देने मे तो पूर्ववर्ती आचार्यो के मत का ही अनुमोदन किया है; पर उन्होंने सार के तीन भेदो की कल्पना की है। उत्तरोत्तर उत्कर्ष सार का लक्षण है। वह उत्कर्ष श्लाघ्य गुण का भी हो सकता और अश्लाघ्य गुण का भी। दोनो को मिलाकर उभय गुण का उत्तरोत्तर उत्कर्ष भी दिखाया जा सकता है। सार मे गुणोत्कर्ष का अर्थ है गुण का आधिक्य। अतः, उत्तरोत्तर वस्तुओं में गुण का उत्कर्ष या आधिक्य दिखाना सार माना जायगा।[4]

पण्डितराज जगन्नाथ ने पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तर-उत्तर के उत्कर्ष के साथ पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर के अपकर्ष-वर्णन मे भी सार का सद्भाव माना है। उत्तरोत्तर के अपकर्ष-वर्णन की धारणा अप्पय्य दीक्षित की उत्तरोत्तर में अश्लाघ्य गुणोत्कर्ष की धारणा से मिलती जुलती है। अश्लाघ्य गुण

---

१. उत्तरोत्तरमुत्कर्षो भवेत्सारः परावधिः।—मम्मट, काव्यप्र० १०,१९०

२. उत्तरोत्तरमुत्कर्षः सारः।—रुय्यक, अल०सर्वस्व, सूत्र स० ५६

३. उत्तरोत्तरमुत्कर्षो वस्तुनः सार उच्यते।
—विश्वनाथ, साहित्यद० १०,१०२

४. उत्तरोत्तरमुत्कर्षः सार इत्यभिधीयते।
—अप्पय्यदी० कुवलया० १०८ तथा उसकी वृत्ति द्रष्टव्य, पृ० १२७-२८

के उत्कर्ष को गुण का क्रमिक अपकर्ष भी कहा जा सकता है। जगन्नाथ ने एक विषय तथा अनेक विषय के आधार पर भी सार के दो-दो भेद माने है।[१]

निष्कर्षत, उत्तरोत्तर क्रम से वस्तुओ के (श्लाघ्य या अश्लाघ्य या दोनो प्रकार के) गुणो का उत्कर्ष दिखाया जाना सार का एक रूप तथा वस्तुओं का उत्तरोत्तर गुणापकर्ष दिखाना उसका दूसरा रूप है।

सार-भेद

अप्पय्य ने गुणों के श्लाघ्य, अश्लाघ्य तथा उभय रूप के आधार पर सार के तीन भेद किये थे। पण्डितराज ने गुणोत्कर्ष तथा गुणापकर्ष-रूप—दो भेद मानकर एक विषय तथा अनेक विषय के आधार पर दोनो के दो-दो भेद माने है।

अन्योन्य

अन्योन्य अलङ्कार के मूल मे दो पदार्थों के पारस्परिक उपस्कार या उपकार की धारणा रही है। दोनों एक दूसरे के लिए समान क्रिया करते है। इसलिए दोनो मे परस्पर क्रिया का एक कारक-भाव रहता है। रुद्रट ने अन्योन्य की परिभाषा मे कहा है कि जहाँ दो पदार्थो मे परस्पर क्रिया से वैशिष्ट्य लाने वाला एक कारक-भाव हो, वहाँ अन्योन्य अलङ्कार होता है।[२] अभिप्राय यह कि दो पदार्थ एक दूसरे के लिए यदि समान क्रिया करते हो और उस क्रिया से उनके वैशिष्ट्य की पुष्टि होती हो तो अन्योन्य अलङ्कार होगा। स्पष्टत अन्योन्य अन्वर्था सज्ञा है।

भोज ने अन्योन्य का विस्तृत विवेचन किया। उन्होने अन्योन्य की मूल धारणा में कोई परिवर्त्तन नही कर रुद्रट की धारणा को अपेक्षाकृत सरल रूप मे प्रस्तुत किया। उनके अनुसार अन्योन्य का लक्षण है परस्पर एक दूसरे का उपकार। रुद्रट मे भी समान क्रिया में दो पदार्थो के एक कारक-भाव का

---

१. सैव संसर्गस्य उत्कृष्टापकृष्टभावरूपत्वे सारः।
तत्रापि पूर्वपूर्वापेक्षयोत्तरोत्तरस्योत्कर्षापकर्षाभ्या द्वैविध्यम्।
...इमं चालङ्कारमेकानेकविषयत्वेन पुनर्द्विविधमामनन्ति।
—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ७३७

२. यत्र परस्परमेकः कारकभावोऽभिधेययोः क्रियया।
सजायेत स्फारिततत्त्वविशेषस्तदन्योन्यम्॥—रुद्रट, काव्यालं० ७,९१

उद्देश्य परस्पर विशेषार्पण (वैशिष्ट्य की वृद्धि) या पारस्परिक उपकार ही माना था। भोज ने अन्योन्य मे परस्पर उपकार की धारणा प्रकट कर उसके वाच्य, प्रतीयमान तथा उभयात्मक; ये तीन भेद माने हैं। उन्होंने अन्योन्य के तीन और नवीन रूपों की कल्पना की है—(क) अन्योन्य चूलिका, (ख) अन्योन्य भ्रान्ति तथा (ग) अन्योन्य एकता।[1] अन्योन्य चूलिका मे दो पदार्थों का पारस्परिक उपकार दिखाकर समन्वित रूप से दोनो का अन्योपकार करना दिखाया जाता है। चन्द्रमा से रात्रि और रात्रि से चन्द्रमा का सुशोभित होना दो वस्तुओ—चन्द्रमा और रात्रि—के पारस्परिक उपकार का उदाहरण है। अब यदि रात्रि और चन्द्रमा का परस्पर उपकार दिखाते हुए यह कहा जाय कि 'उन दोनो से गगन सुशोभित है' तो इसमें भोज अन्योन्य चूलिका मानेंगे। अन्योन्य भ्रान्ति में दो अलङ्कारो का चमत्कार है—योन्य तथा भ्रान्तिमान का। काले भौरे को जामुन का पका फल समझकर शुक का उसे खाने के लिए उन्मुख होना और फिर शुक के चञ्चु को किंशुक कुसुम समझ कर भौरे का उस ओर आकृष्ट होना अन्योन्य भ्रान्ति का उदाहरण माना गया है। इस उदाहरण मे अन्योन्य की अपेक्षा भ्रान्ति का चमत्कार अधिक है। अतः, इसे भ्रान्तिमान का ही एक भेद मानना अधिक युक्तिसङ्गत जान पड़ता है। अन्योन्य-एकता मे दो पदार्थों की परस्पर एकता की स्थापना की धारणा व्यक्त की गयी है।

मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ, अप्पय्य दीक्षित, जगन्नाथ आदि प्रायः सभी आचार्यो ने एकमत से अन्योन्य मे दो वस्तुओ के परस्पर उपकार की धारणा व्यक्त की है। मम्मट तथा रुय्यक ने एक क्रियामुखेन दो वस्तुओं के परस्पर कारण या जनक होने की बात अन्योन्य-लक्षण मे कही है।[2] दो मे सामान्यतः कार्यकारण या जन्यजनक-भाव रहता है; किन्तु इसमे चमत्कार यह है कि दो

---

१. अन्योन्यमुपकारो यस्तदन्योन्यं त्रिधा च तत्।
वाच्यं प्रतीयमानं च तृतीयमुभयात्मकम्॥
अन्योन्यचूलिकान्योन्यभ्रान्तिरन्योन्यमेकता।
अन्योन्यालंकृतेरन्तस्त्रयमेतदिहेष्यते॥
—भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण ३, २७-२८

२. क्रियया तु परस्परम्। वस्तुनोर्जनोऽन्योन्यम्
—मम्मट, काव्यप्र० १०, १८७ तथा
परस्परं क्रियाजननेऽन्योन्यम्।—रुय्यक, अलं० सू०, सं० ४९

पदार्थ परस्पर एक दूसरे के कारण बताये जाते है। पहले के सौन्दर्य का जनक दूसरा और दूसरे का पहला, यह अन्योन्य का सौन्दर्य है। कारण या जनक शब्द का प्रयोग रुद्रट के विशेष तथा भोज आदि के उपकार के लिए हुआ है। विश्वनाथ का लक्षण रुद्रट के लक्षण से मिलता-जुलता है।[१] इसे अप्पय्य दीक्षित ने अन्योन्य का उपकार तथा जगन्नाथ ने अन्योन्य का विशेषाधान कहा है।[२] इस प्रकार अन्योन्य के सम्बन्ध मे आचार्य प्राय: एकमत रहे है। सभी आचार्यों के मत का सार यह है कि जहाँ दो पदार्थ समान क्रिया से एक दूसरे का उपकार या उत्कर्षाधान करते हुए वर्णित हो, वहाँ अन्योन्य अलङ्कार होता है।

परिवृत्ति

परिवृत्ति भामह के समय ही अलङ्कार रूप मे स्वीकृत हो चुकी थी। पीछे के आचार्यो ने भी उसका अलङ्कारत्व स्वीकार किया है। परिवृत्ति के स्वरूप पर विचार करने से उसमे विशेष चमत्कार नही जान पड़ता। उसमे पदार्थो के विनिमय की धारणा प्राय सभी आचार्यो ने व्यक्त की है। अर्थो के पारस्परिक विनिमय के आधार पर परिवृत्ति अन्वर्थ अभिधान है। भामह ने छोटी-सी चीज के बदले विशिष्ट वस्तु का आदान परिवृत्ति का लक्षण माना था। उन्होने उसे अर्थान्तरन्यासवती कहकर उसमे अर्थान्तरन्यास का तत्त्व भी अपेक्षित माना था।[3] दण्डी ने परिवृत्ति को परिभाषित करते हुए उसे कुछ व्यापक स्वरूप दिया। उन्होने अन्य वस्तु देकर केवल विशिष्ट वस्तु के आदान तक ही उसका क्षेत्र सीमित नही रखा। सामान्य रूप से अर्थों के विनिमय को उन्होने परिवृत्ति का लक्षण माना।[४] विनिमय के तीन रूप सम्भव है—(१) समान से समान का विनिमय, (२) न्यून से अधिक का विनिमय तथा (३) अधिक से न्यून का विनिमय। दण्डी की परिवृत्ति-परिभाषा की व्याप्ति विनिमय के उक्त तीनो रूपो मे है, फिर भी उन्होने परिवृत्ति का जो उदाहरण दिया है वह न्यून देकर अधिक के आदान का ही उदाहरण है।[५]

१. द्रष्टव्य—विश्वनाथ, साहित्यद० १०, ९५
२. द्रष्टव्य—अप्पय्य दी०, कुवलया० ९८ तथा जगन्नाथ, रसगङ्गा० पृ० ७२१
३. विशिष्टस्य यदादानमन्यापोहेन वस्तुन:।
अर्थान्तरन्यासवती परिवृत्तिरसौ यथा॥—भामह, काव्याल० ३,४१
४. अर्थाना यो विनिमय: परिवृत्तिस्तु सा स्मृता।
—दण्डी, काव्यादर्श २,३५१
५ द्रष्टव्य—परिवृत्ति का उदाहरण, काव्यादर्श २,३५६

दण्डी की दृष्टि मे भामह की परिवृत्ति का उदाहरण रहा होगा। सम्भव है, इसीलिए उन्होने न्यून देकर अधिक के ग्रहण का उदाहरण दे दिया हो। दण्डी के उस उदाहरण को देखकर यह नही माना जाना चाहिए कि दण्डी भी भामह की तरह केवल न्यून से अधिक के विनिमय मे ही परिवृत्ति मानते थे। दण्डी ने स्वय यह कहा है कि परिवृत्ति के किञ्चित् रूप का ही उदाहरण दिया जा रहा है। स्पष्टत, उदाहृत रूप के अतिरिक्त अन्य रूपो की भी कल्पना दण्डी के मन मे थी; पर उन्होने सब को उदाहृत करना आवश्यक नही समझा।

उद्भट ने परिवृत्ति मे अर्थो के विनिमय की मूल धारणा को ही स्वीकार किया; पर उन्होने स्पष्टीकरण के लिए विनिमय के तीनो सम्भव रूपो का परिभाषा मे उल्लेख करते हुए कहा कि सम, न्यून तथा विशिष्ट से किसी वस्तु का परिवर्त्तन, जो अर्थस्वभाव तथा अनर्थस्वभाव का होता है, परिवृत्ति है। न्यून देकर अधिक का आदान अर्थस्वभाव, अधिक देकर न्यून का ग्रहण अनर्थस्वभाव तथा सम से सम का विनिमय प्रसज्यप्रतिषेधरूप अर्थाभाव रूप है। इन तीनो स्थितियो मे परिवृत्ति मानी जाती है।[1] स्पष्ट है कि दण्डी की परिवृत्ति-परिभाषा को ही कुछ परिष्कृत रूप मे उद्भट ने प्रस्तुत किया है।

आचार्य वामन का कहना है कि कुछ लोग उपमेयोपमा को ही परिवृत्ति मान लेते है, जो उचित नही। समान अथवा असमान अर्थ से अर्थ का परिवर्त्तन परिवृत्ति का लक्षण है।[2] विसदृश के विनिमय मे न्यून से अधिक तथा अधिक से न्यून; दोनो के परिवर्त्तन की धारणा निहित है। स्पष्ट है कि वामन ने दण्डी, उद्भट आदि की ही परिवृत्ति-धारणा को स्वीकार किया है। वामन सभी अलङ्कारो को उपमा-प्रपञ्च मानते है, पर परिवृत्ति मे अर्थ-परिवर्त्तन मे सार्वत्रिक रूप से उपमानोपमेय भाव नही दिखाया जा सकता। उनकी परिवृत्ति-धारणा अलङ्कार के सम्बन्ध मे उनकी मूल धारणा पर ऐसा प्रश्न चिह्न छोड जाती है, जिसका कोई युक्तिसङ्गत उत्तर नही।

---

१. समन्यूनविशिष्टैस्तु कस्यचित् परिवर्त्तनम्।
अर्थानर्थस्वभाव यत् परिवृत्तिरभाणि सा॥
—उद्भट, काव्याल० सारस० ५,३१। उसपर तिलक की विवृति भी द्रष्टव्य, पृ० ४८

२. समविसदृशाभ्या परिवर्त्तन परिवृत्तिः।
—वामन, काव्याल० सू० ४,३,१६

रुद्रट के अनुसार एक ही साथ वस्तु का आदान-प्रदान परिवृत्ति है। यह कभी-कभी तात्त्विक आदान-प्रदान के अभाव मे भी उपचार से हो सकती है।[१] उदाहरणार्थ; 'विरहोत्कण्ठा देकर चित्त का हरण', इस कथन मे तात्त्विक प्रदान नही है, केवल उपचार से दान और ग्रहण की कल्पना है। वामन के उदाहरण मे भी औपचारिक विनिमय की धारणा प्रकट की गयी थी। स्पष्ट है कि वामन, रुद्रट आदि सभी आचार्य तात्त्विक विनिमय या कुछ देकर कुछ लेने मे तो परिवृत्ति मानते ही थे, उपचार से जहाँ वस्तुओं के विनिमय या पारस्परिक परिवर्त्तन का बोध होता हो, वहाँ भी वे परिवृत्ति का सद्भाव मानते थे।

भोज ने परिवृत्ति के लक्षण मे वस्तुओं के विनिमय तथा व्यत्यय की धारणा प्रकट की है। इस प्रकार उनके अनुसार वस्तुओ का विनिमय अर्थात् एक वस्तु देकर दूसरी वस्तु का ग्रहण, परिवृत्ति अलङ्कार का एक रूप और वस्तुओ का व्यत्यय अर्थात् एक स्थान से अन्यत्र अपसरण, उसका दूसरा रूप होगा। व्यत्यय तथा विनिमय को मिलाकर उभयरूपात्मक परिवृत्ति बनती है। इन तीनो के मुख्य और अमुख्य (गौणी वृत्ति) भेद से छह भेद हो जाते है।[२] अर्थ के व्यत्यय मे—प्रसिद्ध स्थान से अन्यत्र अपसरण में—परवर्ती किसी भी आचार्य ने परिवृत्ति नही मानी है। वैसी उक्ति के स्वरूप पर पर्याय आदि मे विचार किया गया है। अर्थव्यत्यय तक परिवृत्ति के क्षेत्र को खीच कर ले जाना उचित नही जान पड़ता।

मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने एकमत से उद्भट की तरह सम, न्यून तथा विशिष्ट अर्थ से क्रमश सम, विशिष्ट और न्यून अर्थ के विनिमय मे परिवृत्ति अलङ्कार की सत्ता मानी है।

अप्पय्य दीक्षित ने न्यून और अधिक का परस्पर परिवर्त्तन परिवृत्ति का क्षेत्र माना है। उन्होने उसके जो दो उदाहरण दिये है, उनमे न्यून देकर

---

१. युगपद्दानादाने अन्योन्य वस्तुनोः क्रियेते यत्।
क्वचिदुपचर्यते वा प्रसिद्धितः सेति परिवृत्तिः॥

—रुद्रट, काव्याल० ७,७७

२ व्यत्ययो वस्तुनो यस्तु यो वा विनिमयो मिथः।
परिवृत्तिरिहोक्ता सा·······॥—भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण ३, २९

परिवृत्ति भेद के लिए द्रष्टव्य वही ३,३०

विशिष्ट का ग्रहण ही दिखाया गया है।[1] इससे जान पडता है कि भामह की तरह अप्पय्य दीक्षित भी केवल न्यून देकर अधिक के ग्रहण मे ही चमत्कार मानकर वही तक परिवृत्ति का क्षेत्र मानते होगे। इस प्रकार सम्भवतः उनके 'विनिमय. न्यूनाभ्यधिकयोर्मिथ' कथन का तात्पर्य न्यून से अधिक के विनिमय (न्यून देकर अधिक ग्रहण) का रहा होगा।

पण्डितराज जगन्नाथ ने सम और विषम, दोनो प्रकार के विनिमय मे परिवृत्ति मानी है। परिवृत्ति के लिए जगन्नाथ ने यह आवश्यक माना है कि एक वस्तु का समर्पण कर अन्य वस्तु के ग्रहण मे ही परिवृत्ति होगी, दूसरे के ग्रहण के लिए एक का त्याग मात्र ही परिवृत्ति मे पर्याप्त नही। इसी आधार पर जगन्नाथ ने 'अलङ्कारसर्वस्व' के परिवृत्ति-लक्षण मे दोष निकालना चाहा है, जिसमे यह कहा गया है कि एक वस्तु का त्याग कर दूसरी का ग्रहण परिवृत्ति है। विनिमय मे कुछ लेने के लिए कुछ का केवल त्याग ही नही, उसका अर्पण अपेक्षित होता है।[2]

निष्कर्षतः, परिवृत्ति के सम्बन्ध मे दो प्रधान धारणाएँ प्रचलित रही है—(क) न्यून वस्तु देकर विशिष्ट वस्तु का ग्रहण और (ख) सम, न्यून तथा अधिक वस्तुओ का क्रमश. सम, अधिक एव न्यून के साथ परिवर्त्तन। सम का सम से न्यून का अधिक से तथा अधिक का न्यून से परिवर्त्तन दिखाने मे परिवृत्ति मानने के पक्ष में ही अधिकाश आचार्य रहे है। वस्तुतः विनिमय की विवक्षा परिवृत्ति का प्राण है। उसके सम्भव तीनो रूपो मे परिवृत्ति मानी जानी चाहिए।

आचार्य केशव ने भ्रमवश विषादन के स्वरूप को परिवृत्ति का लक्षण बना दिया है। उनके अनुसार जहाँ प्रयत्न कुछ और के लिए हो और फल कुछ और ही हो जाय, वहाँ परिवृत्ति होती है।[3] चिन्तामणि, कुलपति आदि ने

---

१. परिवृत्तिर्विनिमयो न्यूनाभ्यधिकयोर्मिथ.।
जग्राहैक शर मुक्त्वा कटाक्षात्स रिपुश्रियम्॥
—अप्पय्य दी०, कुवलया० ११२

२. परकीययत्किञ्चिद्वस्त्वादानविशिष्ट परस्मै स्वकीययत्किञ्चिद्वस्तुसमर्पणं परिवृत्ति.।—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ७६३
रुय्यक की परिवृत्ति-परिभाषा की समीक्षा के लिए द्रष्टव्य वही पृ० ७६५

३. जहाँ करत कछु और ही, उपजि परति कछु और।
तासो परिवृत्ति जानियौ·······।—केशव, कविप्रिया १३-२९

मम्मट आदि की तरह सम तथा असम के विनिमय मे परिवृत्ति मानी है। मतिराम, कुमारमणि, आदि ने अप्पय्य दीक्षित की तरह न्यून और अधिक के विनिमय मे ही परिवृत्ति का सद्भाव माना है। न्यून तथा अधिक के विनिमय का अर्थ कुछ आचार्य केवल न्यून देकर अधिक का आदान मानते है और कुछ लोग न्यून से अधिक का तथा अधिक से न्यून का परिवर्त्तन।

परिवृत्ति-भेद

जगन्नाथ ने सम से सम के विनिमय के दो भेद माने है—दोनो सुन्दर तथा दोनो असुन्दर का विनिमय। न्यून से अधिक तथा अधिक से न्यून, ये दो भेद असम विनिमय के स्वीकृत है। मुख्य या उपचार से विनिमय के आधार पर प्रत्येक के दो-दो भेद सम्भव है।

परिसंख्या

अलङ्कार के रूप मे परिसख्या का निरूपण सर्वप्रथम रुद्रट ने किया है। वैशेषिक दर्शन मे परिसख्या के स्वरूप का विस्तृत-विवेचन हो चुका था।[1] गुण, क्रिया तथा जाति-रूप वस्तु की एकत्र स्थापना तथा अपरत्र मुख्य या गौणीवृत्ति से उसका निषेध परिसख्या का स्वरूप है। वैयाकरण परिसख्या का अर्थ नियम मानते है। ध्यातव्य है कि निषेध प्राप्त का ही होता है। अत, जिस गुण, जाति, क्रिया आदि की अनेकत्र प्राप्ति हो, उसे किसी एक नियत आधार मे ही विद्यमान कहा जाय, जिससे अपरत्र उसका अभाव प्रतीत हो तो यह परिसख्या का स्वरूप होगा। वस्तु की एकत्र स्थापना कर अपरत्र उसका अभाव, वाच्य या प्रतीयमान किसी भी रूप मे बताया जा सकता है। वस्तु की एकत्र स्थापना तथा अपरत्र उसका निषेध, प्रश्न किये जाने पर भी किया जा सकता है और प्रश्ननिरपेक्ष रूप मे भी। रुद्रट ने विधि-निषेध की इस उक्ति-भङ्गी को किञ्चित् परिष्कार के साथ अलङ्कार के रूप मे स्वीकर किया है। जहाँ अनेकत्र प्राप्त किसी वस्तु की एकत्र स्थापना की जाय और अपरत्र उसका अभाव प्रतीत हो, वहाँ रुद्रट परिसख्या अलङ्कार मानेगे। अभाव का वाच्य होना इसमे उन्हे अभीष्ट नही। परिसख्या को परिभाषित करते हुए उन्होने कहा कि जहाँ प्रश्नपूर्वक अथवा बिना प्रश्न के अनेकत्र समान रूप से रहने वाली

---

१. 'ऋग्वेद भाष्य' की भूमिका मे सायण ने उसके स्वरूप का विस्तृत विवेचन किया है।

गुण, क्रिया या जाति-रूप वस्तु का कहीं सद्भाव कहा जाय और अन्यत्र उसका अभाव प्रतीत हो, वहाँ परिसख्या होती है।[1] साराश यह कि—(१) परिसख्या प्रश्नपूर्वक भी होती है और अप्रश्नपूर्वक भी (२) इसमे एक आधार मे वस्तु की स्थापना वाच्य होती है; पर दूसरे आधारो मे उसका निषेध प्रतीयमान और (३) जिन आधारो मे साधारण रूप से जो वस्तु रहा करती है उन्ही आधारो में से एकत्र उस वस्तु का सद्भाव तथा अपरत्र उसका अभाव शब्दत· दिखाया जाता है।

भोज ने परिसख्या को उक्ति नामक शब्दालङ्कार का एक भेद परिसंख्योक्ति मान लिया है। उन्होने विधि-निषेध से शेष का ज्ञान परिसख्या का लक्षण माना है।[2] स्पष्ट है कि परिसख्या के सम्बन्ध मे उनकी धारणा रुद्रट की धारणा से अभिन्न है। इसे शब्दालङ्कार मानना उचित नहीः क्योकि विधि-निषेध से अन्य का परिज्ञान अर्थसापेक्ष होता है।

मम्मट ने रुद्रट की परिसख्या-विषयक मान्यता को स्वीकार कर उसके क्षेत्र को थोड़ा और विस्तृत कर दिया। उन्होने निषेध के वाच्य होने मे भी परिसख्या का सद्भाव माना। परिसख्या की परिभाषा मे उन्होने अन्यत्र वस्तु के अभाव की 'प्रतीति' का उल्लेख नहीं कर 'तादृगन्य-व्यपोह' का उल्लेख किया। अभाव की प्रतीति की अपेक्षा व्यपोह का अर्थ व्यापक है। व्यपोह या निषेध प्रतीयमान भी हो सकता है और वाच्य भी। मम्मट ने परिसख्या की परिभाषा मे कहा है कि जहाँ पूछे जाने पर या बिना पूछे कोई वस्तु शब्दतः कथित होकर अपने समान अन्य वस्तु के निषेध में पर्यवसित होती है, वहाँ परिसख्या होती है। वृत्ति मे उन्होने अपोह्यमान वस्तु के प्रतीयमान तथा वाच्य होने के आधार पर परिसख्या के दो भेद किये है। पृष्ट तथा अपृष्ट भेद के उक्त दो-दो भेद होने से परिसंख्या के चार भेद उन्हे मान्य है।[3]

---

१. पृष्टमपृष्ट वा सद्गुणादि यत्कथ्यते क्वचित्तुल्यम्।
अन्यत्र तु तदभाव प्रतीयते सेति परिसख्या॥
—रुद्रट, काव्याल० ७, ७९

२. द्रष्टव्य—भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ० १४८

३ किञ्चित् पृष्टमपृष्ट वा कथित यत्प्रकल्प्यते।
तादृगन्यव्यपोहाय परिसख्या तु सा स्मृता॥
तथा—अत्र च कथन प्रश्नपूर्वक तदन्यथा च परिदृष्टम्, तथोभयत्र व्यपोह्यमानस्य प्रतीयमानता वाच्य चेति चत्वारो भेदा:।
—मम्मट, काव्यप्र० १०, १८५ तथा उसकी वृत्ति पृ० २७७

रुय्यक ने मम्मट के चारो परिसंख्या-भेदो को स्वीकार किया है। उनकी परिसख्या-परिभाषा अपेक्षाकृत अधिक सरल है। उन्होने कहा है कि एक वस्तु की अनेकत्र प्राप्ति होने पर उसका एकत्र नियमन परिसख्या है।[१] एकत्र नियमन से ही अपरत्र उसका निषेध प्रतीत होता है; कही-कही निषेध वाच्य भी होता है। स्पष्ट है कि मम्मट और रुय्यक की परिसंख्या-धारणा समान है। विश्वनाथ ने भी इसी मान्यता को स्वीकार किया है।

अप्पय्य दीक्षित ने निषेध के शाब्द और आर्थ होने के आधार पर परिसख्या के दो भेद माने है। पृष्ट-अपृष्ट का उल्लेख उनकी परिभाषा में नही है। दोनों उदाहरण अपृष्ट के ही दिये गये है। परिसख्या के सम्बन्ध में उनकी मूल धारणा पूर्ववर्ती आचार्यो की धारणा से अभिन्न है। एक वस्तु का निषेध कर दूसरे (आधार) मे वस्तु के नियमन को वे भी परिसख्या का लक्षण मानते हैं।[२]

पण्डितराज जगन्नाथ ने मम्मट, रुय्यक आदि की तरह परिसख्या के चार भेद स्वीकार किये है—प्रश्नपूर्वक, तथा अप्रश्नपूर्वक परिसंख्या-भेदो के शाब्द निषेध और आर्थ निषेध-भेद। परिसख्या का सामान्य स्वरूप भी उन्होने पूर्ववर्ती आचार्यों के मतानुसार ही दिया है।[३] निष्कर्ष यह कि परिसख्या के उक्त चार भेद बहुमान्य है। उसके इस सामान्य रूप को मानने में सभी आचार्य एकमत है कि अनेकत्र समान रूप से प्राप्त वस्तु का एकत्र स्थापन तथा अन्यत्र शाब्द या प्रतीयमान निषेध परिसख्या है।

मालादीपक

मालादीपक के स्वरूप पर दीपक से स्वतन्त्र रूप मे विचार होता रहा है। उपमा, रूपक आदि अनेक अलङ्कारों के माला-रूप की कल्पना उसके भेद के रूप मे होती रही है; पर मालादीपक ने दीपक से अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बना लिया है। इसका मूल तत्त्व दीपक से निश्चय ही अभिन्न है।

---

१. एकस्यानेकत्रप्राप्तावेकत्र नियमन परिसख्या।

—रुय्यक, अलङ्कार सू० ६२

२. परिसख्या निषिध्यैकमेकस्मिन्वस्तुयन्त्रणम्।

—अप्पय्यदी० कुवलया० ११३

३. द्रष्टव्य—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर पृ० ७६५-६६

एक क्रिया आदि से अनेक का अन्वय इसमे भी दीपक की तरह ही अपेक्षित माना गया है. पर इसमे एकावली की तरह उत्तर-उत्तर का पूर्व-पूर्व से गुणोत्कर्ष पाने की धारणा भी व्यक्त की गयी है। यही कारण है कि कुछ आचार्यों ने इसकी स्वतन्त्र परिभाषा नही देकर इसे दीपक और एकावली का योग-मात्र कहा है। दो अलङ्कारो के योग से नवीन अलङ्कार की कल्पना होने लगे तो अलङ्कार की सख्या अनन्त हो जाय। इसलिए कुछ आचार्य इसे स्वतन्त्र अलङ्कार नहीं मानकर दीपक मे ही इसका अन्तर्भाव मानते है। यही उचित भी है। यहाँ मालादीपक के स्वरूप तथा उसे स्वतन्त्र अलङ्कार मानने के सम्बन्ध मे आचार्यों की धारणा का ऐतिहासिक अध्ययन वाञ्छनीय है।

आचार्य दण्डी ने मालादीपक को दीपक का एक भेद मानकर पूर्व-पूर्व वाक्य की अपेक्षा रखने वाले उत्तर-उत्तर वाक्य की माला की कल्पना की। इसमें सभी वाक्यो का एक पद से अन्वय होता है। अतः, मूलतः यह दीपक ही है।[1] पूर्व-पूर्व की अपेक्षा रखने वाले उत्तर-उत्तर वाक्य की माला की कल्पना के कारण इसे मालादीपक कहते हैं। भोज ने भी दण्डी की तरह मालादीपक को दीपक का ही भेद माना है।[2]

मम्मट ने दीपक से पृथक् मालादीपक की परिभाषा दी। उन्होने माला-दीपक को दीपक-सापेक्ष मानकर ही दीपक की परिभाषा के ठीक बाद उसे परिभाषित किया। उनके अनुसार जहाँ पूर्व-पूर्व वस्तु उत्तर-उत्तर वस्तु का उपकार करे अर्थात् उसका उत्कर्ष-साधन करे, वहाँ मालादीपक अलङ्कार होता है।[3] ध्यातव्य है कि मम्मट स्वय भी इसे अपने-आप मे पूर्ण परिभाषा नही मानते थे। उन्होंने मालादीपक का जो उदाहरण दिया है, उसमें वाक्यो की माला में एक क्रिया का सर्वत्र सम्बन्ध दिखाया गया है। यह मालादीपक को दीपक का ही एक रूप प्रमाणित करता है। दीपक-निरूपण के सन्दर्भ में मालादीपक का विवेचन भी यही सिद्ध करता है कि मम्मट के समय तक दीपक-धारणा से मालादीपक की धारणा अलग नही हुई थी।

---

१. इत्यादि दीपकत्वेऽपि पूर्वपूर्वव्यपेक्षिणी।
वाक्यमाला प्रयुक्तेति तन्मालादीपक मतम्॥

—दण्डी, काव्यादर्श २, १०८

२. द्रष्टव्य—सरस्वतीकण्ठाभरण पृ० ४५२

३, मालादीपकमाद्य चेद्यथोत्तरगुणावहम्।

—मम्मट, काव्यप्र० १०, १५७

रुय्यक ने मालादीपक को सर्वथा स्वतन्त्र अस्तित्व देकर उसमे एक पद से अन्वय के चमत्कार की अपेक्षा माला का चमत्कार प्रधान माना। इसीलिए माला या शृङ्खला के सौन्दर्य पर आधृत एकावली, कारणमाला आदि के विवेचन-क्रम मे उन्होने मालादीपक का निरूपण किया। एकावली मे पूर्व-पूर्व के प्रति उत्तर-उत्तर का उत्कर्ष-हेतु होना माला के रूप मे दिखाकर रुय्यक ने उसके विपरीत उत्तर-उत्तर के प्रति पूर्व-पूर्व का गुणाधायक होना और इस प्रकार उसकी माला की कल्पना मालादीपक का स्वरूप माना।[1] स्पष्ट है कि रुय्यक ने मालादीपक की परिभाषा पूर्ववर्ती आचार्यो के मतानुसार ही दी है।

अप्पय्यदीक्षित ने मालादीक का स्वतन्त्र रूप से विवेचन करते हुए उसके लक्षण मे दीपक और एकावली का योग माना है।[2] एक पद से अनेक वाक्य का अन्वय होने के कारण इसमे दीपक का तथा 'गृहीतमुक्तरीति' अर्थात् पूर्व-पूर्व का उत्तर-उत्तर के प्रति और उत्तर-उत्तर का पूर्व-पूर्व के प्रति विशेषण-भाव के कारण एकावली का योग रहता है। अप्पय्य ने जिस प्रकार मम्मट, रुय्यक आदि की एकावली के स्वरूप को विस्तार दिया था, उसी प्रकार मालादीपक का क्षेत्र भी उन्होने विस्तृत किया। मम्मट, रुय्यक आदि केवल उत्तर-उत्तर के प्रति पूर्व-पूर्व का विशेषणभाव या गुणाधायक होना मालादीपक मे अपेक्षित मानते थे; पर अप्पय्य दीक्षित गृहीतमुक्तरीति से इस रूप के साथ पूर्व-पूर्व के प्रति उत्तर-उत्तर का विशेषणभाव भी मालादीपक का दूसरा रूप मानते है। इन दोनो प्रकार के विशेषणभाव की माला मे एक पद से अनेक वाक्य का अन्वय होने पर मालादीपक का रूप-विधान होता है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने मालादीपक को स्वतन्त्र अलङ्कार नहीं मानकर एकावली का एक भेद माना है।[3] इसमें रुय्यक की तरह जगन्नाथ को भी

---

१. पूर्बपूर्वस्योत्तरोत्तरगुणावहत्वे मालादीपकम्।
—रुय्यक, अलङ्कारसूत्र, ५५

२. दीपकैकावलीयोगान्मालादीपकमिष्यते।
—अप्पय्यदीक्षित, कुवलयानन्द, १०७

३. अस्मिश्चैकावल्या द्वितीये भेदे पूर्व-पूर्वैः परस्परस्योपकारः क्रियमाणो यद्येकरूप. स्यात्तदाऽयमेव मालादीपकशब्देन व्यवह्रियते प्राचीनैः।
—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ७१६

मालागत चमत्कार का आधिक्य मान्य है। जगन्नाथ दीपक को सादृश्यगर्भ मानते है। मालादीपक मे सादृश्यमूलकता आवश्यक नही। अत, वे इसे दीपक का भेद मानने के पक्ष मे नही है।[१] यह जगन्नाथ का अपना दृष्टिकोण है। हम देख चुके है कि दीपक मे सभी आचार्य सादृश्यमूलकता आवश्यक नही मानते। अत, मालादीपक को दीपक-भेद मानने मे कोई अनुपपत्ति नही। वस्तुत., मालादीपक को दीपक और एकावली से स्वतन्त्र अलङ्कार नही माना जाना चाहिए। यह दोनो का समन्वित रूप है।

हेतु, सूक्ष्म और लेश

हेतु, सूक्ष्म तथा लेश पृथक्-पृथक् स्वरूप वाले परस्पर स्वतन्त्र अलङ्कार है, फिर भी इनके अलङ्कारत्व के विधि-निषेध का प्रतिपादन कुछ आचार्यो ने एक साथ किया है। अत, इन तीनो के सम्बन्ध मे आचार्यों की धारणा के विकास-क्रम का एकत्र अध्ययन अपेक्षित होगा। भामह ने हेतु, सूक्ष्म तथा लेश के अलङ्कारत्व का निषेध किया है। उनकी युक्ति है कि इनमे वक्रोक्ति का अभाव है और वक्रोक्ति के बिना काव्य या काव्यालङ्कार की कल्पना ही नही की जा सकती।[२] वक्रता के अभाव में उक्ति केवल वार्त्ता हो सकती है, काव्य नही। भामह के इस निषेध-प्रयत्न से यह प्रमाणित है कि उनके पूर्व कुछ आचार्य हेतु, सूक्ष्म और लेश को काव्य के अलङ्कार मान चुके थे। इसीलिए भामह को उस मत का खण्डन आवश्यक जान पडा होगा। भामह ने हेतु, सूक्ष्म तथा लेश को परिभाषित करना भी आवश्यक नही समझा।

भामह के उत्तरवर्ती आचार्य दण्डी ने हेतु, सूक्ष्म और लेश को न केवल काव्य के अलङ्कार के रूप में स्वीकार किया, अपितु उन्हे वाणी के उत्तम भूषण भी कहा।[३] एक आचार्य जिसे अलङ्कार भी न माने उसे दूसरा

---

१. एव च दीपकालकारप्रकरणे प्राचीनैरस्य लक्षणाद्दीपकविशेषोऽयमिति न भ्रमितव्य, तस्य सादृश्यगर्भताया· सकलालङ्कारिकसिद्धान्तात्।
—वही, पृ० ७३६

२. हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालङ्कारतया मत।
समुदायाऽभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः॥
—भामह, काव्यालङ्कार, २,८६

३. हेतुश्च सूक्ष्मलेशौ च वाचामुत्तमभूषणम्।
—दण्डी, काव्यादर्श, २,२३५

आचार्य उत्तम अलङ्कार माने, यह साहित्य के सम्बन्ध में दो आचार्यों के मौलिक दृष्टि-भेद का परिणाम है। दण्डी ने तीनों अलङ्कारो का पृथक्-पृथक् निरूपण किया है। उन्होने कारक तथा ज्ञापक—दो हेतुओ की चर्चा कर दोनो के अनेक भेदो का सोदाहरण विवेचन किया है।[1] सूक्ष्म की परिभाषा मे उन्होने कहा है कि इङ्गित तथा आकार से जहाँ अर्थ का अनुमान किया जा सके, वहाँ सूक्ष्म अलङ्कार होता है।[2] इङ्गित से तथा आकृति के विकार से आन्तरिक या बाह्य अर्थ का अनुमान केवल चतुर व्यक्ति ही कर पाते हैं। अतः, वह सूक्ष्म कहलाता है। कमल-दल को सङ्कुचित कर इङ्गित से सन्ध्या के समय मिलन की सूचना देना तथा कपोल पर छायी हुई लाली से हृदय के राग का अनुमान करना क्रमश' इङ्गित और आकार से अर्थ के अनुमान के उदाहरण माने जा सकते है। लेश की परिभाषा मे दण्डी ने कहा है कि अल्प रूप से प्रकट वस्तु के स्वरूप को छिपाना लेश है।[3] पीछे चलकर रुय्यक आदि ने लेश के इस स्वरूप को व्याजोक्ति अलङ्कार कहा।[4] अप्पय्य दीक्षित की छेकापह्नुति के स्वरूप की कल्पना का आधार भी दण्डी का यह लेश अलङ्कार ही है। दण्डी ने लेश के सम्बन्ध में कुछ आचार्यों के मत का निर्देश करते हुए कहा था कि कुछ लोग व्याज से की जाने वाली निन्दा और स्तुति को भी लेश कहते है।[5] परवर्ती काल मे लेश का यह स्वरूप व्याजस्तुति के रूप मे स्वीकृत हुआ है।

आचार्य उद्भट ने भामह के मत का अनुसरण करते हुए इन तीनो का अलङ्कारत्व अस्वीकार कर दिया। उन्होने उन अलङ्कारो की चर्चा ही नहीं की।

रुद्रट ने हेतु की परिभाषा देते हुए कार्य के साथ कारण के अभेद से कथन

---

१. कारकज्ञापकौ हेतू तौ चानेकविधौ यथा।

—वही २,२३५। हेतु-भेद के लिए द्रष्टव्य वही २,२३६-५९

२. इङ्गिताकारलक्ष्योऽर्थः सौक्ष्म्यात् सूक्ष्म इति स्मृतः। वही २,२६०

३. लेशो लेशेन निर्भिन्न-वस्तुरूपनिगूहनम्।—वही, २,२६५

४. उद्भिन्नवस्तुनिगूहन व्याजोक्तिः।—रुय्यक, अलङ्कार सू० ७६

५. लेशमेके विदुर्निन्दां स्तुतिं वा लेशतः कृताम्।

—दण्डी, काव्यादर्श २,२६८

पर बल दिया।[१] उनकी हेतु-धारणा अशतः पूर्ववर्ती आचार्यों की धारणा के समान है, पर हेतु तथा हेतुमान के अभेद की धारणा नवीन है। दण्डी आदि के अनुसार हेतुमान के तुल्य हेतु का कथन-मात्र हेतु का लक्षण था। रुद्रट ने सूक्ष्म को नवीन रूप से परिभाषित किया है। उनका कथन है कि जहाँ शब्द प्रतिपाद्य अर्थ को बताने में युक्तिविहीन हो जाता है; पर अपने उस अर्थ से सम्बद्ध युक्तियुक्त अन्य अर्थ का बोध करा देता है, वहाँ सूक्ष्म अलङ्कार माना जाता है।[२] लेश की रुद्रट-कृत परिभाषा भी नवीन है। उन्होने गुण में दोषत्व तथा दोष मे गुणत्व की कल्पना को लेश का लक्षण माना।[3] दण्डी के द्वारा निर्दिष्ट लेश के एक रूप पर—व्याज से निन्दा या स्तुति पर—यह दोष मे गुण तथा गुण मे दोष की कल्पना आधृत है।

वक्रोक्तिवादी कुन्तक ने हेतु, सूक्ष्म और लेश में वक्रोक्ति का अभाव होने के कारण उनके अलङ्कारत्व का खण्डन किया है।[४] किन्तु, भामह और कुन्तक के खण्डन के आयास के बाद भी हेतु, सूक्ष्म और लेश को अधिकाश आलङ्कारिकों ने अलङ्कार के रूप मे स्वीकार किया है।

भोज ने हेतु (विभावनान्तर्गत) एवं सूक्ष्म को अर्थगत तथा लेश को शब्दार्थोभयगत अलङ्कार मानकर अलग-अलग सन्दर्भ मे उनका निरूपण किया है। उनकी सूक्ष्म-धारणा दण्डी की सूक्ष्म-धारणा से अभिन्न है। वे भी इङ्गित और आकार से अर्थ के अनुमेय होने में सूक्ष्म का सद्भाव मानते है। उन्होंने वाच्य तथा प्रतीयमान के आधार पर सूक्ष्म के दो भेद किये है। लेश को भोज ने रुद्रट के मतानुसार दोष मे गुणी-भाव तथा गुण में दोषी-भाव की कल्पना पर अवलम्बित माना।[५] निन्दा के व्याज से की जाने वाली स्तुति को भोज ने लेश मे ही अन्तर्भुक्त माना है। उनके अनुसार गुण में दोषभाव बताना और

---

१. हेतुमता सह हेतोरभिधानमभेदकृद्भवेद्यत्र।
सोऽलङ्कारो हेतु……। —रुद्रट, काव्यालङ्कार ७,८२

२. यत्रायुक्तिमदर्थो गमयति शब्दो निजार्थसम्बद्धम्।
अर्थान्तरमुपपत्तिमदिति तत्सजायते सूक्ष्मम्।—वही, ७,९८

३. दोषीभावो यस्मिन् गुणस्य दोषस्य वा गुणीभावः।
अभिधीयते तथा-विधकर्मनिमित्तः स लेशः स्यात्।—वही, ७,१००

४. द्रष्टव्य—कुन्तक, वक्रोक्तिजीवित, पृ० ४८१

५. द्रष्टव्य, भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण पृ०, २७३, २८५ तथा ४०७

निन्दा के व्याज से (अर्थात् दोष दिखाते हुए) स्तुति करना या गुण बताना एक ही है। किन्तु, व्याजस्तुति और लेश का उक्त स्वरूप अभिन्न नही। दोनों का उक्तिभङ्गी मे भेद होता है और उस अलग-अलग उक्तिभङ्गियो मे अलग-अलग चमत्कार है। अतः, दोनो को एक नही माना जा सकता। अप्पय्य दीक्षित ने लेश के गुण मे दोषत्व तथा दोष मे गुणत्व-प्रकल्पन-रूप को स्वीकार करने पर भी व्याजस्तुति तथा उसके दूसरे रूप—व्याजनिन्दा को लेश से स्वतन्त्र अलङ्कार माना है।

मम्मट ने रुद्रट के हेतु का अलङ्कारत्व अस्वीकार कर काव्यलिङ्ग मे ही हेतु का चमत्कार स्वीकार किया है। उन्होने सूक्ष्म के सम्बन्ध मे दण्डी आदि की ही धारणा को स्वीकार किया है।[१] लेश अलङ्कार की सत्ता उन्हें मान्य नही। प्रकट हो गये रूप को व्याज से छिपाने मे व्याजोक्ति का लक्षण मान लेने के कारण ही सम्भवतः उन्हे लेश के स्वतन्त्र अस्तित्व की कल्पना की आवश्यकता नही जान पडी होगी। लेश के सम्बन्ध मे जो दूसरी धारणा प्रचलित थी और जिसकी ओर दण्डी ने निर्देश किया था, वह धारणा व्याजस्तुति के रूप मे मम्मट के समय तक स्वीकृत हो गयी थी। इस प्रकार मम्मट के काल तक लेश-विषयक दो प्रकार की प्राचीन मान्यताएँ क्रमशः व्याजोक्ति तथा व्याजस्तुति को जन्म देकर स्वय लुप्तप्राय हो गयी थी। प्रस्तुत अलङ्कारो के सम्बन्ध मे रुय्यक की धारणा मम्मट से मिलती-जुलती ही है।

विश्वनाथ ने हेतु अलङ्कार की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार कर उसे रुद्रट की मान्यता के अनुसार परिभाषित किया है।[२] उनकी सूक्ष्म-धारणा दण्डी आदि की धारणा से अभिन्न है।[३]

अप्पय्य दीक्षित ने फिर से लेश का अलङ्कार के रूप में अस्तित्व स्वीकार किया। दण्डी-कृत लेश-परिभाषा के आधार पर व्याजोक्ति कल्पित हुई, उनके द्वारा निर्दिष्ट लेश-लक्षण व्याजस्तुति के लक्षण के रूप मे गृहीत हुआ। अब रुद्रट की लेश-परिभाषा 'गुण मे दोषत्व तथा दोष मे गुणत्व की कल्पना' ही बच रही थी। अप्पय्य दीक्षित ने लेश की यही परिभाषा स्वीकार की।[४]

---

१. द्रष्टव्य—मम्मट, काव्यप्रकाश १०, १८६
२. अभेदेनाभिधा हेतुर्हेतोर्हेतुमता सह।—विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, १०, ८३
३. वही, १०, ११६
४. लेशः स्याद्दोषगुणयोर्गुणदोषत्वकल्पनम्।—अप्पय्यदी० कुवलया० १३८

सूक्ष्म का प्राचीन रूप ही 'कुवलयानन्द' मे परिभाषित हुआ है।[1] हेतु के सम्बन्ध मे प्राचीन आचार्यो की यह धारणा अप्पय्य को मान्य है कि 'कार्य के साथ कारण का कथन हेतु है।' उन्होने रुद्रट के मत का उल्लेख करते हुए कहा है कि 'कुछ लोग कार्य-कारण के ऐक्य मे हेतु मानते है।'[2]

पण्डितराज ने रुद्रट के लेश को स्वीकार कर गुण के अनिष्ट-साधन होने तथा दोष के इष्ट-साधन होने के वर्णन मे लेश अलङ्कार माना है।[3] परवर्ती आचार्यो ने उक्त आचार्यों के मतों का ही किसी-न-किसी रूप मे अनुमोदन किया है।

निष्कर्षतः, हेतु के दो रूप कल्पित हुए है—हेतुमान के साथ हेतु का कथन तथा हेतुमान और हेतु का अभेदेन कथन।

सूक्ष्म के स्वरूप के सम्बन्ध मे प्राय: आचार्य एकमत रहे है। सूक्ष्म का यह लक्षण बहुमान्य रहा है—आकृति या इङ्गित से अर्थ के अनुमेय होने का वर्णन सूक्ष्म है। रुद्रट ने कुछ नवीन रूप से उसे परिभाषित किया; पर उनकी यह मान्यता कि 'प्रतिपाद्य अर्थ मे युक्तिविहीन शब्द जहाँ अपने अर्थ से सम्बद्ध युक्तियुक्त अन्य अर्थ का बोध कराता हो, वहाँ सूक्ष्म अलङ्कार होता है', अन्य आचार्यों का समर्थन नहीं पा सकी।

लेश के सम्बन्ध मे तीन धारणाएँ प्रकट की गयी—

(१) प्रकट हो गई वस्तु को व्याज से छिपाना, (२) व्याज से स्तुति या निन्दा किया जाना तथा (३) गुण मे दोषत्व या अनिष्ट-साधकत्व तथा दोष मे गुणत्व या इष्ट-साधकत्व की कल्पना। इन तीन रूपो में से प्रथम व्याजोक्ति अलङ्कार तथा द्वितीय व्याजस्तुति अलङ्कार के रूप मे स्वीकार कर लिया गया है। अत., तीसरा रूप ही लेश का रूप माना जाना चाहिए।

परिकर

रुद्रट ने परिकर को स्वतन्त्र अलङ्कार मान कर उसके स्वरूप का सर्वप्रथम निरूपण किया। उनके परवर्ती प्रायः सभी मान्य आचार्यों ने परिकर का

---

१. सूक्ष्मं पराशयाभिज्ञेतरसाकूतचेष्टितम्।—अप्पय्य, कुवलया० १५१

२. हेतोर्हेतुमता सार्धं वर्णनं हेतुरुच्यते।—वही, १६७ तथा
हेतुहेतुमतोरैक्यं हेतुं केचित्प्रचक्षते।—वही, १६८

३. गुणस्यानिष्टसाधनतया दोषत्वेन दोषस्येष्टसाधनतया गुणत्वेन च वर्णनं लेशः।—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ८१०

अलङ्कारत्व स्वीकार कर उसे परिभाषित किया है। रुद्रट ने परिकर को परिभाषित करते हुए कहा था कि जहाँ वस्तु को विशेष अभिप्राय से युक्त विशेषणो से विशेषित किया जाय, वहाँ परिकर अलङ्कार होता है। वस्तु के चार भेद—द्रव्य, गुण, क्रिया तथा जाति—के आधार पर परिकर के चार भेद होते है।[१] अभिप्राय यह कि द्रव्य-रूप वस्तु के साभिप्राय विशेषणों का प्रयोग परिकर का एक भेद, गुण-रूप वस्तु के साभिप्राय विशेषणो का प्रयोग उसका दूसरा भेद, क्रिया-रूप वस्तु के साभिप्राय विशेषणों का प्रयोग उसका तीसरा तथा क्रिया-रूप वस्तु के साभिप्राय विशेषणो का प्रयोग उसका चौथा भेद है। द्रव्य आदि के आधार पर परिकर का निरूपण बाह्य और स्थूल है। रुद्रट की परिभाषा का निष्कर्षार्थ है—वस्तु के साभिप्राय विशेषणो का प्रयोग परिकर का लक्षण है।

कुन्तक ने परिकर को स्वतन्त्र अलङ्कार के रूप में तो स्वीकार नहीं किया पर विशेषण-वक्रता पर विस्तार से विचार किया है। उनके अनुसार जहाँ विशेषण के माहात्म्य से क्रिया या कारक का लावण्य प्रस्फुटित हो, वहाँ विशेषण की वक्रता मानी जाती है।[२] उन्होने प्रस्तुतौचित्य के अनुसार इस विशेषण-वक्रता को समग्र उत्तम काव्य का प्राण कहा है।[३] परिकर में साभिप्राय विशेषण के प्रयोग पर रुद्रट तथा परवर्ती आचार्यों ने जो विचार किया है, उससे कुन्तक की विशेषण-वक्रता की धारणा बहुत कुछ मिलती-जुलती है। हाँ, कुन्तक उसे एक अलङ्कार नही मान कर उत्तम काव्य का प्राणभूत तत्त्व मानेगे, क्योंकि विशेषणो का वक्रतापूर्ण प्रयोग क्रिया तथा कारक का लावण्य प्रकट करता है।

भोज ने विस्तार के साथ परिकर का सभेद निरूपण किया है। इस

१. साभिप्रायैः सम्यग्विशेषणैर्वस्तु यद्विशिष्येत।
द्रव्यादिभेदभिन्न चतुर्विध परिकरः स इति ॥
—रुद्रट, काव्यालङ्कार ७, ७२

२. विशेषणस्य माहात्म्यात् क्रियायाः कारकस्य वा।
यत्रोल्लसति लावण्य सा विशेषणवक्रता ॥
—कुन्तक, वक्रोक्तिजीवित, २, १५

३. एतदेव विशेषणवक्रत्व नाम प्रस्तुतौचित्यानुसारि सकलसत्काव्य-जीवितत्वेन लक्ष्यते। —वही, वृत्ति, पृ० २३६

अलङ्कार के सम्बन्ध में उनकी मूल धारणा रुद्रट की धारणा के सामान ही है। परिभाषा मे उन्होने कहा है कि जहाँ क्रिया तथा कारक-सम्बन्धी साध्य या दृष्टान्त-भूत वस्तु का क्रिया-पद आदि से उपस्कार हो, वहाँ परिकर होता है।[१] निष्कर्ष के रूप में टीकाकार जगद्धर ने साभिप्राय विशेषण के साथ विशेष्य के कथन को भोज-सम्मत परिकर-लक्षण माना है।[२] परिकर के सम्बन्ध में अन्य आचार्यो के मत का उल्लेख करते हुए भोज ने लिखा है कि उपमा, रूपक आदि अलङ्कारो का शब्द, अर्थ तथा शब्दार्थोभय भङ्गी से साधर्म्य दिखाना कुछ लोगों के अनुसार परिकर है।[3] ऐसा परिकर-लक्षण किसी मान्य आलङ्कारिक द्वारा नही दिया गया है। सम्भव है कि भोज ने अपने समय के किसी गौण आचार्य का मत उद्धृत कर दिया हो, जिसका मत अलङ्कारशास्त्र मे महत्त्व ही नहीं पा सका है। भोज एकावली का भी परिकर मे अन्तर्भाव मानते है।[४] यह मान्यता उचित नही। एकावली में परिकर की तरह केवल विशेषण-विशेष्य-भाव का चमत्कार नही रहता, उसमें विशेषण-विशेष्य की माला का—उसकी निश्चित क्रम-बद्ध योजना का—सौन्दर्य रहता है। अत:, दोनों अलग-अलग अलङ्कार है।

मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ, अप्पय्य दीक्षित, जगन्नाथ आदि सभी परवर्ती आचार्य साभिप्राय विशेषण के साथ विशेष्य के कथन को परिकर का लक्षण मानने मे एकमत है। स्पष्ट है कि परिकर के स्वरूप में विकास की स्थितियाँ नही आयी हैं। उसका स्वरूप रुद्रट से लेकर मौलिक अलङ्कारशास्त्रीय चिन्तन के उत्तर काल तक एक-सा ही रहा है।

परिकर-भेद

वस्तुओं के द्रव्य, गुण, जाति तथा क्रिया रूपों के आधार पर परिकर के चार भेद रुद्रट ने किये थे। भोज ने विशेषित होने वाली वस्तु तथा विशेषण

---

१. क्रियाकारकसम्बन्धिसाध्यदृष्टान्तवस्तुषु।
क्रियापदाद्युपस्कारमाहुः परिकरं बुधा.॥
—भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण, ४, ७२

२. साभिप्रायविशेषणेन विशेष्योक्तिः परिकर इति लक्षणम्।
—वही, जगद्धर की टीका, पृ० ४३३

३. द्रष्टव्य—वही ४, ७५

४. द्रष्टव्य—वही, पृ० ४४६

के अनेक रूपो के आधार पर परिकर के निम्नलिखित भेदो की कल्पना की है—क्रियापरिकर, कारकपरिकर, सम्बन्धिपरिकर, साध्यपरिकर, दृष्टान्त-परिकर, वस्तुपरिकर, कृत्तद्धित आदि से क्रियापरिकर, अव्ययपरिकर, कृत् या कृदर्थरूप क्रिया-विशेषणपरिकर, सम्बोधनपरिकर, लक्षणपरिकर, हेतु-परिकर, सहार्थपरिकर, तादर्थ्यपरिकर, तथा उपपदपरिकर। यदि शब्दादिभङ्गी से अलङ्कारो के साधर्म्य-प्रतिपादन मे भी परिकर माने तो उसके असख्य भेद हो जाते है। एकावली को परिकर मे अन्तर्भुक्त मान कर भोज ने शब्द-एकावली, अर्थ-एकावली तथा उभय-एकावली भेद किये है।[1] एकावली के इन रूपो को परिकर-भेद नही माना जाना चाहिए।

परिकराङ्कुर

परिकर के स्वरूप के आधार पर ही परिकराङ्कुर अलङ्कार के स्वरूप की कल्पना की गयी है। परिकर मे विशेषण का साभिप्राय होना अपेक्षित माना गया था। रुद्रट, भोज आदि आचार्यों ने साभिप्राय विशेषण वाले परिकर के अनेक रूपो की कल्पना करने पर भी विशेष्य के साभिप्राय प्रयोग के चमत्कार पर विचार नही किया था। सर्वप्रथम जयदेव ने 'चन्द्रालोक' मे परिकराङ्कुर अलङ्कार की कल्पना की और साभिप्राय विशेष्य के प्रयोग को इसका लक्षण माना।[2]

अप्पय्य दीक्षित ने साभिप्राय विशेषण-रूप परिकर का निरूपण कर परिकराङ्कुर का निरूपण किया और उसमे जयदेव के अनुसार साभिप्राय विशेष्य का प्रयोग अपेक्षित माना।[3] अप्पय्य दीक्षित के परवर्ती जगन्नाथ आदि ने परिकराङ्कुर का निरूपण नही किया है। सम्भवत:, उन्हे परि-कराङ्कुर का अलङ्कारत्व मान्य नही था। परिकराङ्कुर में विशेष्य के साभिप्रायत्व का चमत्कार रहता है। अत', यदि विशेषणों के साभिप्रायत्व के चमत्कार के आधार सर परिकर को अलङ्कार माना जाता है तो विशेष्य के

---

१. द्रष्टव्य—भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ० ४३३-४८

२. साभिप्राये विशेष्ये तु भवेत् परिकराङ्कुरः।
—जयदेव, चन्द्रालोक, ५, ४०

३. साभिप्राये विशेष्ये तु भवेत् परिकराङ्कुरः।
—अप्पय्य दीक्षित, कुवलयानन्द, ६३

साभिप्राय प्रयोग के चमत्कार के आधार पर परिकराङ्कुर को भी अलङ्कार माना ही जाना चाहिए।

हिन्दी रीति-शास्त्र में जयदेव तथा अप्पय्य दीक्षित की अलङ्कार-विषयक मान्यता का अनुसरण करने वाले अनेक आचार्यों ने परिकराङ्कुर का लक्षण-निरूपण किया है। महाराज जसवन्त सिंह, मतिराम, भूषण, रघुनाथ, दूलह, भिखारीदास आदि आचार्यों ने परिकराङ्कुर का विवेचन किया है, किन्तु किसी आचार्य ने परिकराङ्कुर के स्वरूप के सम्बन्ध मे कोई नवीन धारणा प्रकट नही की। 'चन्द्रालोक' तथा 'कुवलयानन्द' मे दिये गये परिकराङ्कुर-लक्षण का ही भावानुवाद हिन्दी मे होता रहा। परिकराङ्कुर के स्वरूप में एकरूपता बनी रही। साभिप्राय विशेष्य का प्रयोग उसका सर्वमान्य लक्षण स्थापित हुआ।

उत्तर

उत्तर अलङ्कार के दो रूपो की कल्पना रुद्रट ने की। उनके अनुसार जहाँ उत्तर सुनकर पूर्ववचन का अर्थात् प्रश्न का निश्चय हो, वहाँ उत्तर अलङ्कार का एक रूप और जहाँ प्रश्नपूर्वक उत्तर का उल्लेख हो, वहाँ उत्तर का दूसरा रूप होगा।[१] उत्तर सुनकर प्रश्न के उन्नयन मे हेतुहेतुमद्भाव का निबन्धन उत्तर मे नही होता; अत. इसे अनुमान से अभिन्न मानने की भ्रान्ति नही होनी चाहिए। अनुमान अलङ्कार में हेतुहेतुमद्भाव का निबन्धन आवश्यक होता है। अब प्रश्न यह है कि उत्तर सुनकर प्रश्न के उन्नयन मे तो उक्ति की विशेष भङ्गी होने से अलङ्कारत्व माना जा सकता है; पर प्रश्न और उसके उत्तर के उल्लेख मे अलङ्कारत्व मानने में क्या युक्ति होगी? रुद्रट की उत्तर-परिभाषा को देखते हुए इस प्रश्न का उत्तर यह दिया जा सकता है कि कवि-प्रतिभा से निबद्ध प्रश्न तथा उसका उत्तर चमत्कारपूर्ण होने के कारण अलङ्कार माना जाता है। एक ही साथ प्रश्न और उत्तर के निबन्धन की विशेष भङ्गी मे रुद्रट ने उत्तर अलङ्कार का एक रूप माना है। औपम्यगर्भ-उत्तर के लक्षण मे कहा गया है कि जहाँ वक्ता उपमेयभूत वस्तु के सम्बन्ध में पूछे जाने पर उसके सदृश उपमानभूत वस्तु बतावे, वहाँ उत्तर होता है।[२]

---

१. उत्तरवचनश्रवणादुन्नयनं यत्र पूर्ववचनानाम्।
क्रियते तदुत्तरं स्यात्प्रश्नादप्युत्तरं यत्र ॥—रुद्रट, काव्याल० ७,९३

२. यत्र ज्ञातादन्यत्पृष्टस्तत्त्वेन वक्ति तत्तुल्यम्।
कार्येणानन्यसमख्यातेन तदुत्तरं ज्ञेयम् ॥—वही, ८,७२

भोज ने उत्तर के सम्बन्ध मे विलक्षण धारणा प्रकट की है। उनके अनुसार पदार्थों का सार-निर्धारण अर्थात् प्रसिद्ध वस्तुओं मे से किसीका सर्वोत्कृष्ट रूप मे निर्धारण 'उत्तर' है।[१] प्रश्न-निरपेक्ष उत्तर का यह स्वरूप उत्तर अलङ्कार नही माना जा सकता। प्रश्न के साथ यदि वस्तु का सार-निर्धारण हो अथवा कम-से-कम उस निर्धारण से उसके मूल मे किसी प्रश्न का निश्चय भी हो तो वह सार-निर्धारण उत्तर का स्वरूप माना जा सकता है। शब्दालङ्कार प्रश्नोत्तर के स्वरूप के सम्बन्ध में भोज ने यह धारणा प्रकट की है कि जहाँ पद से वक्ता के कथन में पर्यनुयोग का उद्घाटन किया जाय अर्थात् उसके कथन मे प्रयुक्त पदों से ही दोष दिखाने की चेष्टा की जाय, वहाँ प्रश्नोत्तर अलङ्कार होता है।[२]

मम्मट ने रुद्रट की उत्तर-धारणा को ही किञ्चित् परिष्कार के साथ स्वीकार किया। उत्तर से प्रश्न के उन्नयन की धारणा तो उसी रूप मे स्वीकार कर ली गयी; पर प्रश्न के साथ उत्तर के निबन्धन मे थोड़ा परिष्कार किया गया। मम्मट की मान्यता है कि एक तो उत्तर मे प्रश्न और उत्तर का असकृत् अर्थात् अनेक बार निबन्धन होना चाहिए; दूसरे, प्रश्न के साथ उसका दिया जाने वाला उत्तर भी असम्भाव्य अर्थात् विदग्ध जनोचित होना चाहिए।[3] कही एक प्रश्न तथा उसके एक उत्तर का निबन्धन हो जाय, वह बहुत चमत्कारजनक नहीं होता; पर यदि एक स्थल पर अनेक प्रश्न क्रमश: आते जाते है और उनके उत्तर भी निबन्धित होते चलते है तो उक्ति में विशेष चमत्कार आ जाता है। ऐसे ही स्थल मे मम्मट को उत्तर अलङ्कार अभीष्ट है। किसी प्रश्न को सुनकर सर्व-साधारण के मन मे जो उत्तर आ जाता है, यदि वही उत्तर कवि के द्वारा निबद्ध हो तो पाठक के मन में कोई चमत्कार उत्पन्न नहीं होगा। अत:, उत्तर का असम्भाव्य होना भी वाञ्छनीय है। रुय्यक, विश्वनाथ आदि की उत्तर अलङ्कार के सम्बन्ध मे यही मान्यता है।[४]

जयदेव, अप्पय्य दीक्षित आदि ने उत्तर के स्वरूप मे नये तत्त्व जोडे है।

---

१. पदार्थाना तु यः सारस्तदुत्तरमिहोच्यते।—भोज, सरस्वतीकण्ठा० ३,३३

२. यस्तु पर्यनुयोगस्य निर्भेदः क्रियते पदैः।
…त हि प्रश्नोत्तरं विदुः॥—वही, २,१४८

३. उत्तरश्रुतिमात्रतः। प्रश्नस्योन्नयन यत्र क्रियते तत्र वा सति।
असकृद्यदसभाव्यमुत्तरं स्यात्तदुत्तरम्॥—मम्मट, काव्यप्र० १०,१८८

४. द्रष्टव्य—रुय्यक, अलङ्कार सू० ७४ तथा विश्वनाथ, साहित्यद० १०,१०७

उनके मतानुसार किसी अभिप्राय से गूढ़ उत्तर दिया जाना उत्तर का एक रूप है। 'पथिक के द्वारा नदी पार करने के लिए उचित स्थान पूछे जाने पर नायिका का वेतस-कुञ्ज की ओर सङ्केत करना' इसका उदाहरण दिया गया है। अभिसार के उपयुक्त स्थान का उत्तर मे निर्देश साभिप्राय है। इस तरह उत्तर का साभिप्राय तथा गूढ होना अपेक्षित माना गया है। चित्रोत्तर को उत्तर का दूसरा भेद माना गया है, जिसमे प्रश्न तथा उत्तरान्तर से अभिन्न उत्तर का निबन्धन होता है।[1] इसके स्वरूप पर पूर्ववर्ती आचार्य चित्र नामक शब्दगत अलङ्कार के प्रसङ्ग मे विचार कर चुके थे। इसमे शब्द-प्रयोग के चमत्कार की प्रधानता के कारण इसे शब्दालङ्कार माना जाता रहा है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने रुद्रट आदि की तरह उन्नीत तथा निबद्ध प्रश्न वाले उत्तर को उत्तर अलङ्कार के दो भेद माने है। ये दो प्रकार के उत्तर प्रश्न तथा उत्तर मे से दोनो के अथवा एक के साभिप्राय तथा निरभिप्राय होने के आधार पर चार-चार प्रकार के होते है। इस तरह इसके आठ मुख्य भेद है। इन भेदो के और भी उपभेद कल्पित है।[2] स्पष्ट है कि जगन्नाथ ने पूर्ववर्ती सभी आचार्यो की उत्तर-धारणा को समन्वित कर स्वीकार किया है। निष्कर्षत', उत्तर के ये रूप मान्य है—(१) उत्तर सुनकर प्रश्न का उन्नयन, (२) अनेक प्रश्नों तथा उनके वैदग्ध्यपूर्ण उत्तरो का एकत्र निबन्धन तथा (३) साभिप्राय गूढ़ उत्तर। एक ही पद मे समस्त-रूप से प्रश्न तथा उत्तर का सग्रथन भी हो सकता है, जिसे चित्रोत्तर कहते है।

अनुमान

ज्ञान के प्रमाण के रूप मे अनुमान के स्वरूप पर दर्शन में विचार चल रहा था। न्याय की अनुमान-मीमासा मानव मनीषा के विस्मयजनक उत्कर्ष का निदर्शन है। दर्शन मे तर्क-वितर्क की पद्धति से अनुमान का जो स्वरूप स्थापित हुआ, उसकी काव्यात्मक परिणति उसी नाम से काव्य के एक अलङ्कार के रूप में हुई। अनुमान का रमणीय वर्णन काव्य का एक अलङ्कार स्वीकृत हुआ।

---

१. किञ्चिदाकूतसहित स्याद्गूढोत्तरमुत्तरम्। तथा—
प्रश्नोत्तरान्तराभिन्नमुत्तरं चित्रमुच्यते॥
—अप्पय्यदीक्षित, कुवलयानन्द १४९-५०

२. द्रष्टव्य—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ८२०-२४

रुद्रट ने सर्वप्रथम काव्यालङ्कार के क्षेत्र मे अनुमान की अवतारणा की। अनुमान अलङ्कार के स्वरूप का निरूपण करते हुए उन्होने कहा कि जहाँ कवि पहले परोक्ष साध्य वस्तु अर्थात् कार्य को बताकर पुन: उसके साधक अर्थात् कारण का उल्लेख करे तथा इसके विपरीत जहाँ पहले साधक या कारण का उल्लेख कर पीछे कार्य का उल्लेख करे, वहाँ अनुमान अलङ्कार होता है।[१] कार्य को देखकर उसके कारण का तथा कारण से उसके कार्य का अनुमान होता है। कवि जब उक्त रीति से साध्य-साधक का उपन्यास करता है तो वह अनुमान अलङ्कार का विधान करता है। रुद्रट ने अनुमान के एक और रूप की कल्पना कर कहा है कि जहाँ बलवान कारण को देखकर अनुत्पन्न कार्य को भी उत्पन्न अथवा भावी (उत्पद्यमान) कह दिया जाय, वहाँ भी अनुमान अलङ्कार होता है।[२] इसमे भी कार्य-कारण की रीति पूर्ववत् ही रहती है अर्थात् पहले कार्य का फिर कारण का उपन्यास; तथा पहले कारण का फिर कार्य का उपन्यास किया जाता है।

भोज ने अनुमान के अनेक भेदोपभेदो का निरूपण किया है। उन्होने अनुमान की मूल धारणा मे कोई परिवर्त्तन नही किया।[३]

मम्मट तथा रुय्यक ने साध्य तथा साधन का कथन अनुमान का मूल लक्षण माना है। प्रश्न यह हो सकता है कि अनुमान के पक्ष, साध्य, हेतु तथा दृष्टान्त; ये चार आवश्यक अङ्ग है, फिर केवल साध्य-साधन-कथन मे अनुमान कैसे होगा ? मम्मट ने यह स्पष्ट कर दिया है कि पक्ष-सत्त्व, अन्वय तथा व्यतिरेक से हेतु तीन प्रकार के होते है। हेतु के ये तीनो रूप साधन कहे जाते है। पक्ष-सत्त्व, सपक्ष-सत्त्व तथा विपक्षासत्व; इन तीन रूपो से अनुमान कराया जाता है। वह पक्ष कहलाता है। इस प्रकार पक्ष मे हेतु की वृत्ति, सपक्ष मे हेतु की अन्वय-वृत्ति तथा विपक्ष में उसकी व्यतिरेक-वृत्ति रहती है। दूसरे शब्दों मे, पक्ष मे हेतु की वृत्ति को पक्ष-धर्मत्त्व, सपक्ष मे हेतु की वृत्ति को सपक्ष-सत्त्व तथा विपक्ष में हेतु की अवृत्ति को विपक्षासत्त्व कहा

---

१. वस्तु परोक्ष यस्मिन्साध्यमुपन्यस्य साधक तस्य।
पुनरन्यदुपन्यस्येद्विपरीतं चैतदनुमानम् ॥—रुद्रट, काव्याल० ७,५६

२. यत्र बलीयः कारणमालोक्याभूतमेव भूतमिति।
भावीति वा तथान्यत्कथ्येत तदन्यदनुमानम् ॥—वही, ७,५९

३. द्रष्टव्य—भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ०, ३२५-२८

जाता है। अत, साध्य-साधन कहने से अनुमान के चारो अङ्गो का ग्रहण हो जाता है। मम्मट की मान्यता है कि साध्य-साधन के पौर्वापर्य-कथन मे कोई वैशिष्ट्य नही है। अतः, परिभाषा मे उसका उल्लेख अनावश्यक है। रुय्यक की मान्यता मम्मट की उक्त मान्यता से अभिन्न है। रुय्यक ने इस बात पर बल दिया है कि काव्य मे उक्ति की विच्छित्ति अनुमान को अलङ्कारत्व प्रदान करती है, अन्यथा काव्य और दर्शन के अनुमान मे कोई भेद ही नहीं रह जाय।[१]

विश्वनाथ ने अनुमान की परिभाषा मे भी विच्छित्ति पद का उल्लेख किया। उनके अनुसार साध्य-साधन का विच्छित्तिपूर्ण ज्ञान अनुमान अलङ्कार है।[२] अनुमान की धारणा को सर्वविदित मानकर अप्पय्य दीक्षित ने उसे परिभाषित न कर केवल उदाहृत किया है। पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार अनुमितिकरण अनुमान है।[3]

स्पष्ट है कि अनुमान के स्वरूप के सम्बन्ध मे कोई नवीन उद्भावना अलङ्कार-शास्त्र मे नही की गयी है। दर्शन की अनुमान-धारणा को ही सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है। उस अनुमान की प्रक्रिया का—साध्य-साधन के ज्ञान का—विच्छित्तिपूर्ण वर्णन अनुमान अलङ्कार माना जाता है।

मीलित

मीलित मे एक वस्तु के रूप का उसीके सदृश अन्य वस्तु के रूप मे तिरोहित हो जाने के वर्णन पर बल दिया गया है। एक के अन्य मे तिरोभाव या मीलन के आधार पर इस अलङ्कार का अन्वर्थ अभिधान किया गया है। रुद्रट की वस्तुरूप मीलन की कल्पना भाव-सापेक्ष थी। उन्होने हर्ष, कोप, भय आदि की भाव-दशा मे व्यक्ति के स्वाभाविक आङ्गिक चिह्नों का उसके समान नित्य या आगमापायी चिह्नो से तिरस्कार मीलित का लक्षण माना था।[४] प्रत्येक मनोभाव की कुछ आङ्गिक प्रतिक्रिया हुआ करती है। यदि उस

१. द्रष्टव्य—मम्मट, काव्यप्र० १० पृ० २७५-७६ तथा रुय्यक, अलङ्कार-सर्वस्व, पृ० १७९-८२

२. द्रष्टव्य—विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, १०, ८२

३. द्रष्टव्य—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ७५३

४ तन्मीलितमिति यस्मिन् समानचिह्नेन हर्षकोपादि।
अपरेण तिरस्क्रियते नित्येनागन्तुकेनापि ॥—रुद्रट, काव्याल० ७,१०६

प्रतिक्रिया या भाव-विशेष के बाह्य चिह्न का व्यक्ति के स्वभावसिद्ध या अवस्था-विशेष मे जायमान चिह्न से तिरस्कृत होने का वर्णन हो तो वहाँ मीलित अलङ्कार होगा। भाव-विशेष के बाह्य चिह्न का तिरस्कार उसके सदृश अन्य चिह्न से ही होता है। अपने समान चिह्न मे वह भावजन्य चिह्न इस तरह मिल जाता है कि उसका अस्तित्व ही नही जान पडता। अनुराग से उत्पन्न नेत्र की चञ्चलता नायिका की आँखो की चञ्चलता में इस तरह खो जाती है कि उस अनुराग-चिह्न (नेत्र-चाञ्चल्य) का पता ही नही चलता। कोप की लाली मदिरा के नशे से उत्पन्न मुख की लाली में तिरोहित हो जाती है। ऐसे वर्णन में रुद्रट क्रमशः नित्य तथा आगन्तुक धर्म से भाव-चिह्न के तिरस्कार-रूप मीलित का सद्भाव मानेंगे।

भोज ने वस्तुविशेष से वस्त्वन्तर का तिरस्कार मीलित का लक्षण माना। इस तरह रुद्रट के मीलित के विशिष्ट स्वरूप को छोडकर भोज ने उसका सामान्य और व्यापक स्वरूप प्रतिपादित कर दिया। परिणामस्वरूप, अलङ्कार-शास्त्र मे स्वतन्त्र रूप से प्रतिष्ठित तद्गुण, अतद्गुण, पिहित आदि अलङ्कार भी मीलित के क्षेत्र में समाविष्ट हो गये।[१] अभिधीयमान तथा प्रतीयमान गुण वाली वस्तु से मीलित होने के आधार पर पूर्वोक्त चार मीलित-रूपो के दो-दो भेद हो सकते है।

मम्मट ने रुद्रट की मीलित-धारणा को ही बहुलांशत स्वीकार किया है। उन्होने रुद्रट की तरह मीलित-परिभाषा मे हर्ष, कोप आदि भाव का उल्लेख नही किया। इतने भेद को छोडकर मम्मट की परिभाषा रुद्रट की मीलित-परिभाषा से मिलती-जुलती है। मम्मट की मान्यता है कि जहाँ किसी वस्तु के सहज या आगन्तुक चिह्न से सादृश्य के कारण किसी वस्तु के रूप का उस चिह्न मे तिरोधान वर्णित हो, वहाँ मीलित अलङ्कार होता है।[२] परिभाषा मे भाव-चिह्न का उल्लेख नही करने पर भी मम्मट ने दोनो उदाहरणो में अनुराग तथा भय के चिह्न का तिरोभाव ही दिखाया है। एक में अपाङ्ग

---

१. वस्त्वन्तरतिरस्कारो वस्तुना मीलित स्मृतम्।
पिहितापिहिते चैव तद्गुणातद्गुणौ च तत्॥
—भोज, सरस्वतीभण्ठाभरण ३,४१

२. समेन लक्ष्मणा वस्तु वस्तुना यन्निगूह्यते।
निजेनागन्तुना वापि तन्मीलितमिति स्मृतम्॥
—मम्मट, काव्यप्रकाश १०,१९७

की स्वभावसिद्ध तरलता से अनुराग-जन्य चिह्न का तथा दूसरे मे हिम के कारण आगन्तुक कम्प से भयजन्य कम्प का तिरस्कार दिखाया गया है।[1]

रुय्यक ने मीलित को निमीलित कहा है। उन्होने वस्तु से वस्त्वन्तर का निगूहन निमीलित का लक्षण देकर उसके स्पष्टीकरण मे सहज या आगन्तुक समान चिह्न से वस्तु का निगूहन अपेक्षित माना।[2] इसी आधार पर उन्होने सामान्य से इसका भेद-निरूपण किया है। उनकी धारणा मम्मट की धारणा के समान ही है। दोनो के उदाहरण भी समान है। रुय्यक ने इसमे उत्कृष्ट गुण से निकृष्ट गुण का तिरस्कार अपेक्षित माना है। विश्वनाथ ने भी तुल्य चिह्न वाली वस्तु से वस्तु का निगूहन मीलित का लक्षण माना है।

अप्पय्य दीक्षित ने मीलित मे भाव, तथा सहज, आगन्तुक आदि धर्म की चर्चा नही की। जहाँ सादृश्य के कारण दो वस्तुओ मे भेद ही लक्षित नही हो, वहाँ उनके अनुसार मीलित अलङ्कार होता है।[3] उन्होने सामान्य से इसका भेद केवल इस आधार पर किया है कि सामान्य मे विशेष परिलक्षित नही होता; पर इसमे दो वस्तुओं मे अभेद की प्रतीति होती है। मीलित, सामान्य, तद्गुण आदि के रूप में इतना साम्य है कि सबके बीच विभाजक तत्त्व का उल्लेख परिभाषा मे आवश्यक है। समान चिह्न वाली वस्तु मे, चाहे वह चिह्न आगन्तुक हो या सहज, अन्य वस्तु के स्वरूप के तिरोहित हो जाने का वर्णन ही मीलित का उपयुक्त लक्षण जान पडता है।

सामान्य

सामान्य अलङ्कार के स्वरूप की कल्पना सर्वप्रथम आचार्य मम्मट ने की। इसमे प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत मे समान गुण के प्रतिपादन के लिए दोनो का ऐक्य-निबन्धन अपेक्षित माना गया है। मम्मट की परिभाषा है—दो वस्तुओं मे गुण-साम्य की विवक्षा से प्रस्तुत का अप्रस्तुत के साथ ऐकात्म्य-निबन्धन अर्थात् अभेद-

---

१. द्रष्टव्य—मम्मट, काव्यप्रकाश, पृ० २८८-८९

२. वस्तुना वस्त्वन्तरनिगूहन निमीलितम्।

तथा—सहजेनागन्तुकेन वा लक्ष्मणा यद् वस्त्वन्तरेण वस्त्वन्तरं निगूह्यते, तदन्वर्थाभिधानं निमीलितम्।

—रुय्यक, अलङ्कार सूत्र ७० तथा वृत्ति पृ० २०९

३. मीलितं यदि सादृश्याद्भेद एव न लक्ष्यते।

—अप्पय्य दीक्षित कुवलयानन्द १४६

प्रतिपादन सामान्य है।[१] वस्तुओ का अलग-अलग धर्म दोनो मे वैशिष्ट्य का आधान करता है। इसके विपरीत सामान्य मे दोनो वस्तुओ के बीच वैशिष्ट्य के अभाव की विवक्षा से—गुण के साम्य की विवक्षा से—दोनो की एक रूप मे प्रतीति का वर्णन किया जाता है। रुद्रट ने इसे तद्गुण का एक रूप माना था।[२] मम्मट ने रुद्रट के तद्गुण के प्रथम रूप को सामान्य के रूप मे स्वीकार किया और द्वितीय रूप को तद्गुण माना।

रुय्यक ने सामान्य के सम्बन्ध मे ऐसी ही धारणा प्रकट की है। उन्होंने सूत्र मे 'प्रस्तुत का अन्य अर्थात् अप्रस्तुत के साथ गुण-साम्य के कारण ऐकात्म्य-प्रतीति का प्रतिपादन सामान्य का लक्षण माना है।[३] विश्वनाथ की सामान्य-धारणा मम्मट, रुय्यक आदि की धारणा से अभिन्न है।[४]

जयदेव तथा अप्पय्य दीक्षित विशेष के परिलक्षित नही होने के वर्णन मे सामान्य अलङ्कार मानते है।[५] वस्तुओ के व्यावर्त्तक विशेष का अभाव ही सामान्य की मूल धारणा रही है। इस दृष्टि से अप्पय्य दीक्षित की उक्त परिभाषा मम्मट तथा रुय्यक की परिभाषा से अभिन्न सिद्ध होती है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने सामान्य-विषयक इस मान्यता को स्वीकार करने पर भी उसकी परिभाषा के परिष्कार का प्रयत्न किया है। उनके अनुसार जहाँ वस्तु के प्रत्यक्ष रहने पर भी अन्य वस्तु के साथ उसके गुणसाम्य के कारण उससे भिन्न रूप मे उसकी (वर्ण्य वस्तु की) प्रतीति नही होती, वहाँ सामान्य अलङ्कार होता है।[६] सामान्य मे दो वस्तु प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत—

---

१. प्रस्तुतस्य यदन्येन गुणसाम्यविवक्षया ।
ऐकात्म्यं बध्यते योगात्तत्सामान्यमिति स्मृतम् ॥—मम्मट, काव्यप्र० १०,२०२

२. द्रष्टव्य—रुद्रट, काव्यालङ्कार, ६,२२

३. प्रस्तुतस्यान्येन गुणसाम्यादैकात्म्य सामान्यम् ।
—रुय्यक, अलङ्कार सू० ७१

४. द्रष्टव्य—विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, १०,११६

५. सामान्य यदि सादृश्याद्विशेषो नोपलक्ष्यते ।
—अप्पय दीक्षित, कुवलयानन्द, १४७

६. प्रत्यक्षविषयस्यापि वस्तुनो बलवत्सजातीयग्रहणकृत तद्भिन्नत्वेनाग्रहणं सामान्यम् ।
—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ८१५

प्रत्यक्ष रहते है; पर उनके बीच व्यावर्त्तक धर्म के अभाव के कारण—गुण-साम्य के कारण—दोनो का अलग-अलग ग्रहण नही होता। मीलित से इसका यह भेद है कि मीलित में एक से दूसरे का तिरोभाव हो जाने के कारण उसका प्रत्यक्ष ही नही हो पाता, पर सामान्य में दोनो का प्रत्यक्ष होता है। हाँ, दोनो मे गुण-साम्य के कारण दोनो का एक दूसरे से भिन्न रूप मे ग्रहण नही हो पाता। निष्कर्ष यह कि—

(क) सामान्य मे प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत; दोनों का प्रत्यक्ष होता है।

(ख) दोनों के बीच व्यावर्त्तक विशेष का अभाव रहता है अर्थात् गुण-साम्य रहता है। फलत:—

(ग) दोनो की एक रूप में प्रतीति होती है। दोनो का परस्पर भिन्न रूप मे ग्रहण नही होता। सामान्य अलङ्कार के स्वरूप में विकास की स्थिति नहीं आयी है। सामान्य के स्वरूप का विशद विवेचन दार्शनिको ने किया था। प्रस्तुत अलङ्कार की धारणा सामान्य-विषयक दार्शनिक चिन्तन पर ही आधृत है।

तद्गुण और अतद्गुण

तद्गुण स्वरूप-विधान का दृष्टि से मीलित, सामान्य आदि का सजातीय है। इसमे एक वस्तु का दूसरी वस्तु के गुण-ग्रहण की धारणा व्यक्त की गयी है। मीलित मे एक वस्तु दूसरी में तिरोहित हो जाती है, सामान्य में वस्तु परिलक्षित होने पर भी अपना वैशिष्ट्य खोकर दूसरी वस्तु से एक-रूप प्रतीत होने लगती है और तद्गुण मे वस्तु अपने गुण का त्याग कर अन्य वस्तु के गुण को ग्रहण कर लेती है। तद्गुण के वैपरीत्य के आधार पर पीछे चल कर अतद्गुण अलङ्कार की कल्पना की गयी है।

रुद्रट ने तद्गुण के दो रूपो की कल्पना की। एक में उन्होंने कहा कि जहाँ समान गुण वाले ऐसे पदार्थों का, जिनका योग होने पर पृथक्-पृथक् रूप लक्षित हो सके, संसर्ग होने पर अनेकत्व लक्षित न हो, वहाँ तद्गुण होता है।[1] मम्मट ने इस रूप को सामान्य संज्ञा से स्वतन्त्र अलङ्कार मान लिया। तबसे तद्गुण का यह रूप सामान्य अलङ्कार का रूप माना जाता रहा है। तद्गुण के

१. यस्मिन्नेकगुणानामर्थानां योगलक्ष्यरूपाणाम्।
ससर्गे नानात्व न लक्ष्यते तद्गुणः स इति ॥

—रुद्रट, काव्यालङ्कार, ९,२२

दूसरे रूप को परिभाषित करते हुए रुद्रट ने कहा है कि जहाँ कोई वस्तु अपने से असमान गुण वाली तथा अधिक गुण वाली वस्तु के ससर्ग मे आकर उसके गुण को ही ग्रहण कर ले, वहाँ तद्गुण होता है।[१] तद्गुण अन्वर्था सज्ञा है।

भोज ने तद्गुण को स्वतन्त्र अलङ्कार नही माना है। उन्होने मीलित अलङ्कार के स्वरूप-निरूपण के क्रम मे तद्गुण-मीलित, अतद्गुण-मीलित आदि भेदो का विवेचन किया है।[२] स्पष्ट है कि भोज तद्गुण आदि को मीलित मे ही समाविष्ट मानते होगे। तद्गुण मीलित का सजातीय अवश्य है; पर उसे मीलित से अभिन्न या उसका अङ्ग मानना उचित नही।

मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ, जयदेव, अप्पय्य दीक्षित, जगन्नाथ आदि आचार्यो ने एक मत से तद्गुण का एक ही रूप स्वीकार किया है—'जहाँ कोई न्यून गुण वाली वस्तु (प्रस्तुत) अधिक गुण वाली (अप्रस्तुत) वस्तु के सम्पर्क मे आने पर अपने गुण का त्याग कर दूसरी वस्तु के गुण को ग्रहण करती है, वहाँ तद्गुण होता है।[३] मम्मट, रुय्यक तथा विश्वनाथ ने उपमेय तथा उपमान मे अन्य के उत्कृष्ट-गुण-ग्रहण की कल्पना की है; पर अप्पय्य दीक्षित, जगन्नाथ आदि ने दो वस्तुओं में उपमानोपमेय-भाव आवश्यक नही माना है। रुद्रट भी तद्गुण मे उपमानोपमेय की आवश्यकता नही मानते थे। हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों को भी तद्गुण का यही स्वरूप मान्य रहा है। रुद्रट-कल्पित तद्गुण का प्रथम रूप, जिसे मम्मट ने सामान्य कहा था, पीछे चल कर सामान्य के रूप में ही स्वीकृत हुआ।

अतद्गुण के स्वरूप की कल्पना तद्गुण की कल्पना के उपरान्त हुई है। भोज ने मीलित के तद्गुण भेद के साथ अतद्गुण भेद का भी उल्लेख किया था।[४] तद्गुण के विपर्यय-रूप की कल्पना भोज के मन मे थी, यद्यपि वे तद्गुण तथा अतद्गुण में से किसीको भी स्वतन्त्र अलङ्कार नही मानते थे।

---

१ असमानगुण यस्मिन्नतिबहलगुणेन वस्तुना वस्तु।
ससृष्ट तद्गुणता धत्तेऽन्यस्तद्गुणः स इति ॥—रुद्रट, काव्यालं० ९,२४

२. द्रष्टव्य—सरस्वतीकण्ठाभरण, ३,४१

३. स्वमुत्सृज्य गुण योगादत्युज्ज्वलगुणस्य यत्।
वस्तु तद्गुणतामेति भण्यते स तु तद्गुणः ॥
—मम्मट, काव्यप्रकाश १०,२०४, द्रष्टव्य--रुय्यक, अलङ्कार सू० ७२
तथा अप्पय्यदीक्षित, कुवलयानन्द, १४१

४. द्रष्टव्य—सरस्वतीकण्ठाभरण ३,४१

आचार्य मम्मट ने तद्‌गुण के विपरीतधर्मा अतद्‌गुण की स्वतन्त्र सत्ता की कल्पना कर उसे परिभाषित किया। उनके अनुसार तद्‌गुण मे न्यून गुण वाली प्रस्तुत वस्तु बहुल गुण वाली अप्रस्तुत वस्तु के सम्पर्क में आने पर अपने न्यून गुण का त्याग कर दूसरी के बहुल गुण को ग्रहण कर लेती है, पर इसके विपरीत जहाँ न्यून गुण वाली वस्तु बहुल गुण वाली वस्तु के सम्पर्क मे आने पर भी अपने गुण का त्याग तथा दूसरे के गुण का ग्रहण न करे, वहाँ अतद्‌गुण अलङ्कार होता है। उनकी अतद्‌गुण-परिभाषा का यह भी तात्पर्य है कि जहाँ अप्रस्तुत वस्तु प्रस्तुत वस्तु के सम्पर्क मे आने पर भी उसका गुण ग्रहण न करे वहाँ अतद्‌गुण होता है।[१] रुय्यक, विश्वनाथ, आदि को यही मत मान्य है।

अप्पय्य दीक्षित, जगन्नाथ आदि ने प्रस्तुत-अप्रस्तुत का विचार छोडकर संसर्ग मे आने वाली वस्तु के बहुल गुण का अग्रहण अतद्‌गुण का लक्षण माना है।[२] वस्तुतः, औपम्य के अतिरिक्त स्थल मे भी एक वस्तु के द्वारा अन्य वस्तु के गुण-ग्रहण-रूप तद्‌गुण तथा इसके विपरीत गुण-ग्रहण की स्थिति होने पर भी उसके अग्रहण-रूप अतद्‌गुण का चमत्कार देखा जा सकता है। अतः, वस्तुओ मे उपमानोपमेय-भाव रहने पर भी तद्‌गुण आदि की कल्पना की जा सकती है और उसके अभाव मे भी। रुद्रट ने तद्‌गुण को औपम्यमूलक नही मानकर अतिशयमूलक माना है। यह उचित ही है।

अनुगुण

जयदेव, अप्पय्य दीक्षित आदि आचार्यों ने तद्‌गुण के सजातीय अनुगुण अलङ्कार की कल्पना की है। उनके अनुसार जहाँ कोई वस्तु दूसरी वस्तु के सम्पर्क मे आकर उत्कृष्ट गुण से अपने पूर्व-सिद्ध गुण का उत्कर्ष करे, वहाँ अनुगुण अलङ्कार होता है।[3] तद्‌गुण मे वस्तु अपने गुण का त्याग कर अन्य वस्तु का बहुल गुण ग्रहण करती है, अनुगुण में वह अपने गुण का त्याग नहीं कर दूसरे के गुणाधिक्य से अपने गुण का उत्कर्ष करती है। अन्य वस्तु के गुण

---

१. तद्रूपाननुहारश्चेदस्य तत्स्यादतद्‌गुण.।

—मम्मट, काव्यप्र० १०,२०५। उस पर वृत्ति भी द्रष्टव्य पृ० २९७

२. द्रष्टव्य—कुवलयानद, १४४ तथा—रसगङ्गाधर, पृ० ८१३

३. प्राक्सिद्धस्वगुणोत्कर्षोऽनुगुणः परसन्निधेः।

—अप्पय्य दीक्षित, कुवलयानन्द, १४५

का आदान तद्गुण की तरह अनुगुण मे भी होता है; पर इसमे अपने पूर्व-सिद्ध गुण के उत्कर्ष के लिए ही अन्य वस्तु के उत्कृष्ट गुण का ग्रहण होता है।

अप्पय्य दीक्षित के परवर्ती आचार्य जगन्नाथ ने अनुगुण का निरूपण नही किया है।

हिन्दी रीति-साहित्य मे जयदेव तथा अप्पय्य दीक्षित की अलङ्कार-विषयक मान्यता का अनुगमन करने वाले आचार्यों की एक लम्बी परम्परा रही है। अतः, हिन्दी में अनुगुण के स्वरूप का निरूपण अनेक आचार्यो ने किया है। अनुगुण के सम्बन्ध मे जयदेव तथा अप्पय्य दीक्षित के मत का ही समर्थन होता रहा। उसके किसी नवीन स्वभाव की कल्पना नही हुई।

पूर्वरूप

पूर्वरूप के दो रूपों की प्रथम-कल्पना जयदेव ने की। एक मे वस्तु के पुनः अपने गुण को प्राप्त करने की धारणा व्यक्त की गयी तथा दूसरे रूप मे वस्तु के नष्ट रूप की पुनः प्राप्ति पर बल दिया गया। तद्गुण मे वस्तु अपने गुण का त्याग कर अन्य वस्तु का गुण ग्रहण करती है। इस स्थिति के उपरान्त यदि वस्तु के पुनः अपने गुण को प्राप्त करने का वर्णन होता है तो पूर्वरूप का एक रूप माना जाता है। उदाहरण मे एक वस्तु का किसी वस्तु के सम्पर्क मे आने पर उसके गुण को ग्रहण कर लेने के उपरान्त अपने सदृश उत्कृष्ट गुण वाली अन्य वस्तु के सम्पर्क के कारण पुन· अपने गुण को प्राप्त करने का वर्णन आया है। उदाहरणार्थ, सूर्य के कृष्ण वर्ण के घोडे अरुण के सम्पर्क से लाल होकर पुन· पर्वत की नीलमणियो की कान्ति से अपना पूर्व गुण (नील वर्ण) प्राप्त कर रहा है। यह वस्तुतः तद्गुण का ही विशिष्ट रूप है, जहाँ वस्तु एक बार एक वस्तु का और फिर दूसरी बार दूसरी वस्तु का गुण ग्रहण करती है। पूर्वरूप के दूसरे रूप को परिभाषित करते हुए अप्पय्य दीक्षित ने कहा है कि वस्तु के विकृत या नष्ट होने पर भी पूर्वावस्था की अनुवृत्ति अर्थात् पुनः प्राप्ति पूर्वरूप है। उदाहरणार्थ, दीपक के बुझ जाने पर भी नायिका के आभूषणों के रत्न से प्रकाश फैलने का वर्णन पूर्वरूप का दूसरा रूप होगा।[१]

---

१. पुनः स्वगुणसप्राप्ति. पूर्वरूपमुदाहृतम्।

× × × ×

पूर्वावस्थानुवृत्तिश्च विकृते सति वस्तुनि।

—अप्पय्य दी०, कुवलयानन्द, १४२-४३

जगन्नाथ आदि परवर्ती आचार्यो ने पूर्वरूप का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार नही किया है। कारण स्पष्ट है। पूर्वरूप का प्रथम रूप तो तद्गुण का ही विशिष्ट रूप है। इस तथ्य का सङ्केत स्वय अप्पय्य दीक्षित ने भी दिया है। दूसरे रूप में वस्तु के विकृत या नष्ट होने पर अन्य वस्तु के सद्भाव से पुन: पूर्व अवस्था की अनुवृत्ति के वर्णन मे ऐसा चमत्कार नही कि उसे स्वतन्त्र अलङ्कार माना जा सके। अन्य हेतु से पूर्वावस्था की अनुवृत्ति स्वतन्त्र अलङ्कार नही। हिन्दी के अनेक रीति-आचार्यो ने अप्पय्य दीक्षित के मत का अनुसरण करते हुए पूर्वरूप का निरूपण किया है।

उन्मीलित तथा विशेषक

मीलित और सामान्य के प्रतिपक्षी रूप में उन्मीलित तथा विशेषक अलङ्कार की कल्पना की गयी है। यह ध्यातव्य है कि सामान्य-प्रतिपक्षी विशेष अलङ्कार उस विशेष अलङ्कार से भिन्न है, जिसमे प्रसिद्ध आधार के अभाव में आधेय का वर्णन आदि होता है। एक ही अभिधान के दो अलङ्कारो की सत्ता मानने से अस्पष्टता की सम्भावना हो सकती है। अतः, कुछ आचार्यो ने सामान्य के विपरीत-धर्मा अलङ्कार को विशेषक कहा है। सामान्य का प्रति-शब्द विशेष ही अधिक प्रसिद्ध है, पर उक्त कठिनाई से बचने के लिए विशेष के साथ स्वार्थिक 'क' लगा कर विशेषक अभिधान का प्रयोग अनुचित नही।

जयदेव के पूर्व मीलित तथा सामान्य की कल्पना तो हो चुकी थी, पर उन्मीलित और विशेष या विशेषक की कल्पना नही हुई थी। जयदेव के अनुसार उन्मीलित वहाँ होता है, जहाँ दो वस्तुओ का भेद प्रकट हो जाता है। इसका लक्षण मीलित-लक्षण-सापेक्ष है। मीलित की दशा के बाद उन्मीलित की दशा आती है। दो वस्तुओ के बीच भेद दिखाना अपने आपमे अलङ्कार नही। उन्मीलित का अलङ्कारत्व इस बात मे है कि दो वस्तुओ मे मीलित की दशा—भेद परिलक्षित न होने की दशा—के बाद भेद प्रकट किया जाता है। इस वर्णन मे कि 'तुम्हारे शुभ्र यश मे डूबे हुए हिमालय को देवता उसकी शीतलता से ही समझ पाते है, पहले उज्ज्वल कीर्ति तथा उज्ज्वल हिमालय मे भेद-प्रतीति का अभाव दिखा कर पुन. शीतलता के कारण उनका भेद दिखाया गया है। ऐसे वर्णन मे जयदेव, अप्पय्य दीक्षित आदि उन्मीलित अलङ्कार मानेगे।[1]

---

१. भेदवैशिष्ट्ययोः स्फूर्तावुन्मीलितविशेषकौ।
—अप्पय्य दीक्षित, कुवलयानन्द, १४८

उद्योतकार का मत है कि उन्मीलित का उक्त स्वरूप मीलित का ही विशिष्ट रूप है। वस्तुतः, उसका चमत्कार मुख्यतः दो वस्तुओ की अभेद-प्रतीति में ही है।[१]

पण्डितराज जगन्नाथ ने एक अलङ्कार के स्वभाव के प्रतिपक्षी अनेक अलङ्कारों की कल्पना अनावश्यक मानी है। अतः, उन्हे उन्मीलित का स्वतन्त्र अलङ्कार माना जाना अभीष्ट नही।[२]

विशेषक सामान्य का प्रतिपक्षी है। उसका स्वरूप सामान्य के स्वरूप की अपेक्षा रखता है। जब तक दो वस्तुओं मे ऐसी स्थिति की कल्पना नही की जाय कि दोनो के व्यावर्त्तक वैशिष्ट्य का ज्ञान न रहे, तब तक दो वस्तुओं के वैशिष्ट्य का उद्घाटन चमत्कारजनक नही होगा। सामान्य की स्थिति की कल्पना कर किसी कारण से उनके वैशिष्ट्य का उद्घाटन विशेषक माना जायगा। 'कुवलयानन्द' मे कमल-वन मे कमलमुखी के प्रविष्ट होने पर कमल और मुख के वैशिष्ट्य का परिलक्षित न होना सामान्य का उदाहरण दिया गया है। उसी उदाहरण के स्थिति-विशेष की कल्पना कर 'चन्द्रमा के उदित होने पर (कमल के मलिन हो जाने से) मुख और कमल का वैशिष्ट्य दिखाई पडना' विशेषक का उदाहरण माना गया है।[३] उद्योतकार ने जिस युक्ति से उन्मीलित को मीलित का अवस्थाविशेष सिद्ध किया है, उसी युक्ति से विशेष को भी सामान्य का ही एक विशिष्ट रूप माना जा सकता है। सामान्य-प्रतिपक्षी होने के कारण जगन्नाथ इसे स्वतन्त्र अलङ्कार नही मानते।[४]

अप्पय्य दीक्षित के मतानुयायी हिन्दी के आचार्यों ने उन्मीलित तथा विशष का लक्षण-निरूपण 'कुवलयानन्द' के अनुसार किया है। उन्मीलित तथा विशेष का जो रूप जयदेव तथा अप्पय्य दीक्षित के द्वारा कल्पित हुआ, उसमे कोई परिवर्त्तन नही हुआ।

पिहित

मीलित, तद्गुण आदि की तरह पिहित की धारणा भी वस्तुओं के गुण के पारस्परिक प्रभाव के विचार से आरम्भ हुई थी। रुद्रट ने वस्तुओ के

१. द्रष्टव्य—काव्यप्रकाश, उद्योत, उद्धृत, बालबोधिनी, पृ० ७२८

२. द्रष्टव्य—रसगङ्गाधर, पृ० ८१७

३. द्रष्टव्य—अप्पय्यदीक्षित, कुवलयानन्द, १४८

४. द्रष्टव्य—रसगङ्गाधर पृ० ८१७

गुणो पर आधृत इस अलङ्कार की कल्पना कर इसके लक्षण मे कहा है कि जहाँ एक वस्तु का प्रबल गुण अपने समान अधिकरण मे उत्पन्न, किन्तु उससे असदृश अन्य गुण को तिरोहित कर लेता है, वहाँ पिहित अलङ्कार होता है।[1] पिहित अन्वर्थ अभिधान है। एक के गुण से दूसरे का आच्छादन इसकी मुख्य प्रकृति है। इसमे रुद्रट के अनुसार निम्नलिखित बाते अपेक्षित है :—

(क) गुण से अन्य का आच्छादन, (ख) समान आधार मे रहने वाली वस्तुओं मे से ही एक के प्रबल गुण से अन्य का आच्छादन, (ग) असमान गुण का आच्छादन तथा (घ) प्रकट या आविर्भूत गुण का आच्छादन। मीलित से इसका भेद यह है कि इसमे असमान चिह्न वाली वस्तु का पिधान दिखाया जाता है, जब कि मीलित मे समान चिह्न वाली वस्तु से वस्त्वन्तर का आच्छादन होता है। समान गुण में तद्गुण सम्भव होता है। पिहित की प्रकृति तद्गुण से भिन्न है। रुद्रट के तद्गुण का एक रूप असमान गुण वाली वस्तु के गुण-ग्रहण मे भी होता है; पर पिहित इस दृष्टि से उससे भिन्न है कि इसमे गुण ग्रहण नही दिखाया जाता, गुण का पिधान दिखाया जाता है।

भोज ने पिहित को स्वतन्त्र अलङ्कार नही मानकर मीलित का एक भेद माना है।[2] उन्होने पिहित के विपरीत उसका अपिहित भेद भी माना है। मीलित, तद्गुण, अतद्गुण, सामान्य, विशेषक, अनुगुण, पूर्वरूप, उन्मीलित, पिहित आदि एक ही मूलतत्त्व पर अवलम्बित अलङ्कार है। गुण की समता, संसर्ग होने पर एक वस्तु के गुण का दूसरे पर प्रभाव आदि इन अलङ्कारो का स्वरूप-विधान करते है। अत, इनके बीच बहुत सूक्ष्म भेद ही देखा जा सकता है। हम अपरत्र इस तथ्य पर विचार कर चुके है कि प्राचीन आचार्य अलङ्कारो की मूल प्रकृति पर समन्वित रूप से विचार करते थे, पीछे थोडे-थोडे भेद से अनेक अलङ्कारो की कल्पना की प्रवृत्ति आयी।[3] समान तत्त्व पर आधृत मीलित आदि उक्त अनेक अलङ्कारों की कल्पना इसी प्रवृत्ति का परिणाम है।

---

१. यत्रातिप्रबलतया गुण समानाधिकरणमसमानम्।
अर्थान्तर पिदध्यादाविर्भूतमपि तत्पिहितम्॥
—रुद्रट, काव्यालङ्कार, ९, ५०

२. द्रष्टव्य—भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण ३, ४१

३. द्रष्टव्य—प्रस्तुत ग्रन्थ अध्याय २

मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ आदि ने पिहित अलङ्कार का निरूपण नहीं किया है। कारण स्पष्ट है। मीलित, तद्गुण आदि से रुद्रट के पिहित का स्वरूप इतना मिलता-जुलता था कि उसके स्वतन्त्र अस्तित्व की कल्पना उन्हें अनावश्यक जान पडी होगी।

जयदेव, अप्पय्य दीक्षित आदि ने पिहित को स्वतन्त्र अलङ्कार माना; पर उसके सम्बन्ध मे उन्होने रुद्रट की धारणा को सर्वथा अस्वीकार कर उसके नवीन रूप की कल्पना की। इसका सम्बन्ध वस्तु के गुण से नही मानकर उन्होने व्यक्ति की साभिप्राय चेष्टा से माना है। दूसरे के वृत्तान्त को जानने वाला जहाँ साभिप्राय चेष्टा करे, वहाँ उनके अनुसार पिहित अलङ्कार होगा।[1] 'खण्डिता नायिका प्रातःकाल प्रिय को घर आया देख उसके लिए विस्तर ठीक करने लगी।' इस वर्णन मे नायिका की यह चेष्टा साभिप्राय मानी गयी है। वह नायक का वृत्तान्त समझ चुकी है कि वह परकीया के साथ रङ्गरभस में रात बिताकर आ रहा है। अत:, उसके विश्राम के लिए वह बिछावन बिछा देती है। उसकी इस चेष्टा मे नायक के लिए जो मौन उपालम्भ छिपा है, उसीमें अलङ्कारत्व है। वह अभिप्राय छिपा रहने के कारण पिहित कहा गया है। जयदेव तथा अप्पय्य दीक्षित ने साकूत चेष्टा मे सूक्ष्म तथा पिहित—दो अलङ्कार माने है। सूक्ष्म मे दूसरे का आशय समझ कर साकूत चेष्टा का वर्णन होता है और पिहित में दूसरे के वृत्तान्त को समझ कर साकूत चेष्टा करने का वर्णन होता है। उद्योतकार ने इसीलिए इस पिहित को सूक्ष्म मे अन्तर्भूत माना है।[2] यह उचित ही है। दोनों मे सौन्दर्य साकूत अर्थात् साभिप्राय चेष्टा का ही है। अत:, आशय और वृत्तान्त के जानने के आधार पर साकूत चेष्टा में अलग-अलग अलङ्कार मानना युक्तिसङ्गत नही। इस तरह पिहित के दो रूप कल्पित हुए—(१) प्रबल गुण से समान अधिकरण वाले असमान आविर्भूत गुण का आच्छादन और (२) दूसरे का वृत्तान्त जानने वाले की साभिप्राय चेष्टा। पीछे चल कर प्रथम मीलित आदि मे तथा द्वितीय सूक्ष्म में अन्तर्भूत मान लिया गया।

विशेष

रुद्रट ने विशेष अलङ्कार के तीन रूपो की कल्पना की। उसके प्रथम रूप

---

१. पिहित परवृत्तान्तज्ञातु. साकूतचेष्टितम्।
—अप्पय्य दीक्षित, कुवलयानन्द, १५२

२. द्रष्टव्य—काव्यप्रकाश, उद्योत, उद्धृत, बालबोधिनी, पृ० ७१३

के सम्बन्ध मे उन्होने कहा कि जहाँ किसी आधेयभूत वस्तु का उसके नियत आधार के विना अर्थात् निराधार वर्णन हो और वह निराधार वस्तु-वर्णन उपपन्न हो, वहाँ विशेष अलङ्कार होता है।[1] रुद्रट के अनुसार, जहाँ एक ही वस्तु का एक साथ (पर्याय से नही) अनेक आधारों मे सद्भाव वर्णित हो, वहाँ विशेष का अन्य रूप माना जाता है।[2] विशेष के एक और रूप के सम्बन्ध मे रुद्रट ने कहा है कि जहाँ कर्त्ता कोई कार्य करता हुआ उसके साथ ही कोई ऐसा अन्य कार्य भी अनायास कर देता है, जिस कार्य को करने मे वह असमर्थ रहता है, तो ऐसे वर्णन मे विशेष अलङ्कार माना जाता है।[3]

परवर्ती काल मे रुद्रट के ये तीनो विशेष-प्रकार स्वीकृत हुए है। मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ, जयदेव, अप्पय्य दीक्षित, जगन्नाथ आदि सभी मान्य आचार्यो ने विशेष के तीनो रूपो के रुद्रट-कृत लक्षण को ही अपनाया है।[4] प्रथम रूप की परिभाषा मे केवल इतना कहा गया है कि प्रसिद्ध आधार के विना आधेय का वर्णन विशेष है। रुद्रट ने अपनी परिभाषा मे निराधार वस्तु-वर्णन के उपपन्न होने का भी उल्लेख किया था। मम्मट आदि ने इसका उल्लेख अपेक्षातिरिक्त समझ कर छोड़ दिया होगा। वर्णन के अनुपपन्न होने मे तो अलङ्कार की कल्पना ही नही की जा सकती। अलङ्कार की मूल धारणा में वर्णन के उपपन्न होने की धारणा के अन्तर्निहित होने के कारण विशेष की परिभाषा मे उसका उल्लेख आवश्यक नही। विशेष के तीन रूप मान्य रहे है। उन तीनो की प्रकृति के सम्बन्ध मे भी आचार्यो मे मतैक्य रहा है। वे तीन रूप है—

(१) प्रसिद्ध आधार के विना किसी आधेय का वर्णन,

(२) एक वस्तु का एक साथ अनेक आधारो मे सद्भाव-वर्णन तथा

(३) अन्य कार्य करने के क्रम मे कर्त्ता का दैवयोग से अन्य अशक्य कार्य सम्पादित कर देने का वर्णन।

---

१. किञ्चिदवश्याधेय यस्मिन्नभिधीयते निराधारम्।
तादृगुपलभ्यमान विज्ञेयोऽसौ विशेष इति॥—रुद्रट, काव्यालङ्कार ९,५

२. यत्रैकमनेकस्मिन्नाधारे वस्तु विद्यमानतया।
युगपदभिधीयतेऽसावत्रान्य. स्याद्विशेष इति॥—वही, ९,७

३ यत्रान्यत्कुर्वाणो युगपत्कार्यान्तर च कुर्वीत।
कर्तुमशक्य कर्त्ता विज्ञेयोऽसौ विशेषोऽन्य॥—वही ९,९

४. द्रष्टव्य—मम्मट, काव्यप्रकाश, १०, २०३, रुय्यक, अलं० सू० ५०, विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, १०, ९६, जगन्नाथ, रसगाङ्गधर पृ० ७२४, अप्पय्य दीक्षित, कुवलयानन्द ९९-१०१

होना वर्णित हो, वहाँ विभावना अलङ्कार होता है।[१] क्रियाप्रतिषेध मे फलोत्पत्ति की असङ्गति का परिहार अपेक्षित है। जिस फल की उत्पत्ति मे जो क्रिया हेतुभूत होती है उस क्रिया का प्रतिषेध होने पर भी फलोत्पत्ति का वर्णन और ऐसे वर्णन मे असङ्गति का परिहार विभावना का भामह-सम्मत स्वरूप है।

दण्डी के अनुसार जहाँ प्रसिद्ध कारण का अभाव दिखाकर किसी अन्य कारण या स्वभावसिद्धत्व का भावन किया जाता हो, वहाँ विभावना मानी जाती है।[२] अभिप्राय यह कि किसी उत्पन्न कार्य के प्रसिद्ध हेतु का निषेध करते हुए उसके अन्य गूढ कारण का अथवा अन्य कारण की उपलब्धि नही होने पर उस कार्य के स्वभाव-जन्यत्व का निश्चय करना विभावना है। दण्डी की विभावना की प्रकृति मूलत. भामह की विभावना की प्रकृति से मिलती-जुलती है। दोनों को किसी कार्य के प्रसिद्ध हेतु का निषेध विभावना मे अभीष्ट है। प्रसिद्ध हेतु का निषेध होने पर कार्योत्पत्ति की सङ्गति दिखाने के लिए या तो कारणान्तर की कल्पना की जा सकती है या उस कार्य के स्वभावसिद्ध होने की कल्पना की जा सकती है। भामह की परिभाषा मे 'समाधौ सुलभे सति' के उल्लेख से फलोत्पत्ति की सङ्गति के लिए अन्य हेतु या स्वभाव-जन्यत्व आदि की कल्पना की ओर सङ्केत किया गया था। दण्डी ने उस तथ्य को स्पष्ट करते हुए परिभाषा में प्रसिद्ध हेतु का व्यावर्त्तन कर उत्पन्न कार्य के अन्य हेतु या स्वभावजन्यत्व की कल्पना पर बल दिया। भामह ने जहाँ फल की प्रसिद्ध कारणभूत क्रिया का निषेध कहा था, वहाँ दण्डी ने कारण-मात्र का निषेध कहा। भामह ने क्रिया का निषेध किये जाने पर फलोत्पत्ति का वर्णन अपेक्षित माना था; पर दण्डी ने उत्पन्न फल के हेतु का व्यावर्त्तन तथा अन्य हेतु या स्वभावसिद्धत्व की कल्पना पर बल दिया। यह भेद शब्द-मात्र का है। फलोत्पत्ति के प्रसिद्ध हेतु का निषेध, फिर भी किसी अन्य गूढ हेतु से या स्वाभाविक रूप से फलोत्पत्ति का वर्णन विभावना का मुख्य स्वभाव है और यह दोनो आचार्यों को मान्य है।

---

१. क्रियाया. प्रतिषेधे या तत्फलस्य विभावना।
ज्ञेया विभावनैवासौ समाधौ सुलभे सति ॥
—भामह, काव्यालङ्कार २, ७७

२. प्रसिद्धहेतुव्यावृत्त्या यत् किञ्चित् कारणान्तरम्।
यत्र स्वाभाविकत्व वा विभाव्य सा विभावना ॥
—दण्डी, काव्यादर्श २, १६६

उद्भट ने भामह-कृत विभावना-लक्षण को ही शब्दतः उद्धृत कर दिया है।[3] वामन ने भी भामह के द्वारा कल्पित तथा उद्भट के द्वारा स्वीकृत परिभाषा को सूत्रबद्ध किया है। उन्होने विभावना के परिभाषा-सूत्र मे केवल इतना कहा है कि क्रिया का प्रतिषेध होने पर भी उस क्रिया के प्रसिद्ध फल की उत्पत्ति का वर्णन विभावना है।[4] समाधि अर्थात् परिहार के सुलभ होने की चर्चा अपेक्षातिरिक्त मानकर छोड़ दी गयी है। वह तो अलङ्कार का अनिवार्य तत्त्व ही है। एक हेतु का निषेध होने पर फलोत्पत्ति की असङ्गत कल्पना तो अलङ्कार मे की नही जाती; उसकी सङ्गति के लिए अन्य हेतु की या फल की स्वभावजन्यता आदि की कल्पना उसमे अन्तर्निहित रहती है। अतः, विभावना का इतना ही लक्षण पर्याप्त है कि प्रसिद्ध हेतु का निषेध तथा उसके फल की उत्पत्ति का वर्णन (सङ्गत वर्णन) विभावना है।

रुद्रट ने विभावना के तीन रूप स्वीकार किये। जहाँ उपलभ्यमान अर्थ का उसके वास्तविक कारण के विना होना कहा जाय, वहाँ विभावना का एक रूप, जहाँ जिस कारण से वस्तु मे विकार हो उस कारण के विना ही विकार का होना कहा जाय, वहाँ उसका दूसरा रूप और जहाँ वस्तु-विशेष का जो धर्म लोकप्रसिद्ध है, उस धर्म को उस वस्तु से भिन्न वस्तु का भी धर्म बताया जाय, वहाँ उसका तीसरा भेद माना गया है।[5] अन्य वस्तु का धर्म अन्य मे बताकर उसके द्वारा अन्य के कार्य का सम्पादन विभावना के इस भेद का रहस्य है। प्रथम तथा द्वितीय भेद का स्वरूप मिलता-जुलता ही है। प्रसिद्ध हेतु के व्यावर्त्तन से कार्य की उत्पत्ति तथा प्रसिद्ध विकार-हेतु के व्यावर्त्तन से विकारोत्पत्ति की पृथक्-पृथक् कल्पना आवश्यक नही। विभावना के तृतीय भेद की कल्पना कुछ नवीन है। इसमे भी मूलतः वास्तविक कारण का निषेध कर उस कारण के धर्म को अन्यत्र दिखाकर उस अन्य कारण से कार्योत्पत्ति (प्रसिद्ध कारण के विना कार्योत्पत्ति) दिखाये जाने पर बल दिया गया है। अतः, इसका भी समावेश 'कारण के अभाव में कार्योत्पत्ति' इस परिभाषा मे हो जाता है। इसे विभावना की प्राचीन परिभाषा के आधार पर कल्पित उसका एक विशिष्ट भेद माना जा सकता है।

---

३. द्रष्टव्य—उद्भट, काव्यालङ्कारसारसग्रह २, १९

४. क्रियाप्रतिषेधे प्रसिद्धतत्फलव्यक्तिर्विभावना।
—वामन, काव्यालङ्कार सूत्र ४, ३, १३

५. द्रष्टव्य—रुद्रट, काव्यालङ्कार ९, १६-१८-२०

कुन्तक ने विभावना के विषय मे भामह आदि प्राचीन आचार्यों की धारणा का ही अनुमोदन किया है। उनके अनुसार जहाँ किसी विशेषता के कारण, सौन्दर्य की सिद्धि के लिए वर्णनीय कार्य-रूप वस्तु का अपने कारण के बिना ही होना वर्णित हो, वहाँ विभावना होती है।[1]

भोज ने आचार्य दण्डी के विभावना-लक्षण को ही उद्धृत कर दिया है। उन्होने विभावना के शुद्धा, चित्रा, विचित्रा तथा विविधा भेदो का सोदाहरण विवेचन किया है। उन्होने इसी सन्दर्भ मे हेतु का भी निरूपण किया है।[2] उनकी विभावना-विषयक मूल धारणा प्राचीन आचार्यों की धारणा से अभिन्न है।

मम्मट ने भामह, उद्भट आदि की तरह कारणभूत क्रिया का प्रतिषेध होने पर भी फल के प्रकट होने का वर्णन विभावना का लक्षण माना है।[3] रुय्यक ने 'अलङ्कार-सूत्र' मे कारण के अभाव मे कार्य की उत्पत्ति का वर्णन विभावना का लक्षण माना है। उन्होंने यह स्पष्टीकरण दिया है कि कारण-रहित कार्य की कल्पना तो की ही नही जा सकती; पर प्रसिद्ध कारण का निषेध कर अन्य (अप्रसिद्ध) कारण आदि से कार्योत्पत्ति दिखाना चमत्कार-जनक होने के कारण विभावना अलङ्कार का स्वरूप-विधान करता है।[4] इस प्रकार रुय्यक की विभावना-धारणा दण्डी की धारणा से अभिन्न है। विश्वनाथ की विभावना-परिभाषा रुय्यक की परिभाषा से मिलती-जुलती ही है।[5]

जयदेव तथा अप्पय्य दीक्षित ने विभावना के छह रूपों की कल्पना की है। उनके अनुसार बिना कारण के कार्य की उत्पत्ति दिखाना विभावना का प्रथम रूप, अपूर्ण हेतु से कार्योत्पत्ति दिखाना उसका दूसरा रूप; प्रतिबन्धक के रहने पर कार्योत्पत्ति दिखाना उसका तीसरा रूप; जो कार्य-विशेष का कारण नही हो, उस अकारण से कार्य-विशेष की उत्पत्ति दिखाना उसका चौथा रूप; विरुद्ध कारण से कार्य की उत्पत्ति उसका पाँचवाँ रूप और कार्य से

---

१. वर्णनीयस्य केनापि विशेषेण विभावना।
स्वकारणपरित्यागपूर्वकं कान्तिसिद्धये ॥—कुन्तक, वक्रोक्तिजी० ३,४१

२. द्रष्टव्य—भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण पृ० २७१-७५

३. क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना।—मम्मट, काव्यप्र० १०,१६२

४. कारणाभावे कार्यस्योत्पत्तिर्विभावना।—रुय्यक, अलं० सू० ४१ तथा उसकी वृत्ति भी द्रष्टव्य पृ० १५२

५. द्रष्टव्य—विश्वनाथ, साहित्यदर्पण १०,८७

कारण का जन्म उसका छठा रूप है।[१] इन रूपो पर समग्रता से विचार करने से सबमे मूल रूप से प्रसिद्ध हेतु का व्यतिरेक दीख पडता है। अतः, कारण के अभाव मे कार्योत्पत्ति को विभावना का लक्षण मानकर उसके अवान्तर-भेदों की कल्पना की जा सकती है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने कारण के व्यतिरेक के होने पर भी कार्योत्पत्ति का वर्णन विभावना का लक्षण माना है। भामह, उद्भट आदि के विभावना-लक्षण की ओर सङ्केत करते हुए पण्डितराज ने कहा है कि उन्होने क्रिया के प्रतिषेध के साथ फलोत्पत्ति को जो विभावना का लक्षण कहा है, उसमें क्रिया-प्रतिषेध से तात्पर्य कारण (प्रसिद्ध कारण) के प्रतिषेध का है।[२] परवर्ती आचार्यो ने कारण-व्यतिरेक से कार्योत्पत्ति का वर्णन ही विभावना का लक्षण माना है।

निष्कर्ष यह कि प्रसिद्ध कारण के विना कार्य की उत्पत्ति के वर्णन मे विभावना अलङ्कार मानने मे प्रायः सभी आचार्य एक मत रहे है। इस परिभाषा के आधार पर विभावना के निम्नलिखित रूप कल्पित हुए है—

(क) कारण के विना कार्योत्पत्ति-वर्णन,
(ख) असमग्र कारण से कार्योत्पत्ति-वर्णन,
(ग) कार्योत्पत्ति के बाधक के होने पर भी कार्योत्पत्ति-वर्णन,
(घ) अकारण से कार्योत्पत्ति-वर्णन,
(ङ) विरुद्ध कारण से कार्योत्पत्ति-वर्णन,
(च) कार्य से कारणोत्पत्ति-वर्णन तथा
(छ) वस्तुविशेष के धर्म को अन्य वस्तु का भी धर्म कहा जाना (रुद्रट)। इस तरह प्रसिद्ध कारण के विना भी वैसे धर्म वाले अन्य कारण से कार्योत्पत्ति का वर्णन।

'कुवलयानन्द' मे निरूपित प्रथम छह विभावना-रूपो को हिन्दी के भी अनेक आचार्यों ने स्वीकार किया है।

---

१. द्रष्टव्य—अप्पय्यदीक्षित, कुवलयानन्द, ७७-८२

२. कारणव्यतिरेकसामानाधिकरण्येन प्रतिपाद्यमाना कार्योत्पत्तिर्विभावना। यदुक्तम्। क्रियायाः प्रतिषेधे......। क्रियाशब्देनात्र कारण विवक्षितम्।
—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ६८५

विभावना-भेद

भोज के द्वारा निर्दिष्ट विभावना-भेदो का उल्लेख किया जा चुका है। प्रसिद्ध हेतु का व्यावर्त्तन होने पर अन्य हेतु से या स्वभावसिद्ध रूप मे कार्य दिखाया जा सकता है। इस आधार पर विभावना के दो भेद माने जा सकते है। (अन्य) हेतु के उक्त तथा अनुक्त होने के आधार पर भी विभावना के दो भेद किये गये है।[1]

विशेषोक्ति

विशेषोक्ति विभावना का विपर्यय-रूप मानी गयी है। विभावना मे कारण के विना भी कार्य की उत्पत्ति दिखायी जाती है, तो विशेषोक्ति में कार्योत्पत्ति के सम्पूर्ण कारण के रहने पर भी कार्य की उत्पत्ति नही होने का वर्णन होता है।

भामह ने विशेषोक्ति की परिभाषा में कहा था कि जहाँ वैशिष्ट्य दिखाने के लिए वस्तु के एक देश के विगत होने पर उसमें दूसरे गुण का सद्भाव दिखाया जाय, वहाँ विशेषोक्ति होती है।[2] भामह का यह विशेषोक्ति-लक्षण तो परवर्ती आचार्यों के द्वारा स्वीकृत नही हुआ; पर उक्त रूप मे विशेषोक्ति को परिभाषित कर भामह ने जो उसका उदाहरण दिया था, उसे परवर्ती आचार्यो ने भी विशेषोक्ति का उदाहरण माना है। इसका कारण यह है कि जब समग्र हेतु के रहने पर भी कार्य की अनुत्पत्ति की धारणा विशेषोक्ति में स्वीकृत हुई तो उस धारणा से भामह की विशेषोक्ति-परिभाषा का यह आंशिक साम्य था कि फल के कारण के रहने पर भी फलाभाव में वस्तु के गुणान्तर का सद्भाव भामह को मान्य था।

दण्डी ने विशेषोक्ति के सम्बन्ध मे कहा कि जहाँ विशेष-दर्शन के लिए अर्थात् उत्कर्ष-साधन के लिए जाति, गुण, क्रिया आदि का वैकल्य दिखाया जाय (अर्थात् गुण, जाति आदि का अनपेक्षित होना दिखाया जाय), वहाँ

---

१. उक्तानुक्तनिमित्तत्वात् द्विधा सा परिकीर्त्तिता।

—विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, १०, ८७

२. एकदेशस्य विगमे या गुणान्तरसंस्थितिः।
विशेषप्रथनायासौ विशेषोक्तिर्मता यथा॥

—भामह, काव्यालङ्कार ३,२३

विशेषोक्ति होती है।[१] परवर्ती आचार्यों ने असमग्र या विकल हेतु से कार्योत्पत्ति दिखाना विभावना का ही एक रूप माना है। दण्डी का यह विशेषोक्ति-लक्षण भी बहुमान्य नही हुआ है।

आचार्य उद्भट ने सर्वप्रथम विभावना के विपर्यय-रूप मे विशेषोक्ति की कल्पना कर उसकी परिभाषा मे विशेष का बोध कराने के लिए अविकल अर्थात् पूर्ण कारण के रहने पर भी कार्य की अनुत्पत्ति दिखाना' विशेषोक्ति का स्वरूप माना।[२] यही मत अधिकाश आचार्यो को मान्य है।

वामन ने सभी अलङ्कारो को औपम्यमूलक माना है। अत., विशषोक्ति मे भी प्रस्तुत-अप्रस्तुत की समता की कल्पना करते हुए उन्होने उसे इस रूप मे परिभाषित किया है—'एक गुण की हानि की कल्पना करने पर शेष गुणो से प्रस्तुत-अप्रस्तुत की समता का निर्धारण विशेषोक्ति है।' उन्होने इसे प्रायश. 'रूपक' कहा है।[३] स्पष्ट है कि रूपक से विशेषोक्ति का विशिष्ट स्वरूप वामन की दृष्टि मे नही था। पीछे चलकर रुय्यक, पण्डितराज जगन्नाथ आदि ने वामन की विशेषोक्ति को रूपक मे ही अन्तर्भुक्त सिद्ध किया है। वस्तुत:, दो अलङ्कारो के विशिष्ट स्वरूप का पृथक्-पृथक् अस्तित्व निर्धारित नही होने पर अलग-अलग अलङ्कारो की कल्पना का कोई अर्थ नही। रुद्रट, कुन्तक आदि ने विभावना का तो अलङ्कारत्व स्वीकार किया; पर विशेपोक्ति अलङ्कार का उल्लेख नही किया। कुन्तक का तर्क है कि भामह-निरूपित विशेषोक्ति कही-कही अन्य अलङ्कार मे अन्तर्भूत हो जाती है और कही वह अलङ्कार्य ही हो जाती है; अत· वह स्वतन्त्र अलङ्कार नही। भामह के 'काव्यालङ्कार' मे उद्धृत विशेषोक्ति-उदाहरण को उन्होंने कामदेव का स्वभाव-वर्णन होने के कारण अलङ्कार्य का उदाहरण माना है। रुद्रट ने व्याघात का स्वरूप-निरूपण करते हुए उसे उद्भट की विशेषोक्ति के समान स्वभाव का बना दिया। अत:, उन्हे व्याघात से स्वतन्त्र विशेषोक्ति की कल्पना आवश्यक नही जान पड़ी।

---

१. गुणजातिक्रियादीना यत्तु वैकल्यदर्शनम्।
विशेषदर्शनायैव सा विशेषोक्तिरिष्यते ॥—दण्डी, काव्यादर्श, २,३२३

२. यत्सामग्र्येऽपि शक्तीना फलानुत्पत्तिबन्धनम्।
विशेषस्याभिधित्सातस्तद्विशेषोक्तिरिष्यते ॥
—उद्भट, काव्यालङ्कार-सार सं० ५,५.

३. एकगुणहानिकल्पनाया साम्यदार्ढ्यं विशेषोक्तिः।···रूपक चेदं प्रायेण।
—वामन, काव्यालङ्कार सू० ४,३,२३ तथा वृत्ति, पृ० २६४

भोज ने दण्डी की विशेषोक्ति-परिभाषा को ही अक्षरश उद्धृत कर दिया है।[1] मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ, जयदेव, अप्पय्य दीक्षित, जगन्नाथ आदि समर्थ आचार्यो ने उद्भट की विशेषोक्ति-धारणा को ही स्वीकार किया है। प्रसिद्ध कारण के समग्रत: या पुष्कल-रूप मे रहने पर भी कार्य की अनुत्पत्ति के वर्णन मे विशेषोक्ति मानने में ये आचार्य एकमत है।[2] पुष्कल, समग्र आदि विशेषणो का प्रयोग कारण के साथ इसलिए किया गया है कि कारण की न्यूनता, अपूर्णता आदि होने पर कार्य की अनुत्पत्ति स्वाभाविक ही है। वैसे वर्णन मे विशेष चमत्कार नही। समग्र हेतु के रहने पर कार्य की अनुत्पत्ति का वर्णन विशेष का बोध कराता है। अत: वह अलङ्कार है।

नरेन्द्रप्रभ सूरि ने 'अलङ्कार-महोदधि' में उद्भट के विशेषोक्ति-लक्षण के आधार पर उसका एक रूप तथा वामन की विशेषोक्ति-परिभाषा के आधार पर उसका दूसरा रूप माना है।[3] इस प्रकार विशेषोक्ति के सम्बन्ध में चार मत आये—(१) भामह का मत—एक देश के विगत होने पर गुणान्तर का सद्भाव, (२) दण्डी आदिका मत—गुण आदि का वैकल्य दिखाना, (३) वामन आदि का मत—एक गुण की हानि से अन्य गुणो के आधार पर साम्य-प्रदर्शन तथा (४) उद्भट आदि का मत—कारण की समग्रता रहने पर भी कार्य-उत्पत्ति का अभाव-वर्णन। दण्डी की धारणा, विशेषोक्ति का विभावना से व्यावर्त्तन नही कर पाती। अत, वह विभावना-भेद के रूप मे ही स्वीकृत हुई। वामन की विशेषोक्ति-धारणा रूपक-धारणा से अभिन्न सिद्ध हुई। उद्भट आदि का यह मत ही मान्य है—पूर्ण कारण के रहने पर भी कार्योत्पत्ति का अभाव-वर्णन विशेषोक्ति है। इस मान्यता मे भामह के मत का भी समाहार हो जाता है।

विशेषोक्ति-भेद

मम्मट ने विशेषोक्ति के इस स्वीकृत रूप के तीन भेद माने है। वे हैं—(१) उक्त-निमित्ता (१) अनुक्त-निमित्ता (३) अचिन्त्य-निमित्ता।[1] रुय्यक ने उक्त-

---

१. द्रष्टव्य—भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण ,४,७०

२. द्रष्टव्य—मम्मट, काव्यप्रकाश १०,१६३ रुय्यक, अलङ्कारसू० ४२; विश्वनाथ, साहित्यदर्पण १०,८८। अप्पय्यदीक्षित, कुवलयानन्द; ८३, जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ६९४,

३. द्रष्टव्य—नरेन्द्रप्रभसूरि, अलङ्कार महोदधि ८,५२-५३

निमित्ता तथा अनुक्तनिमित्ता भेद कर अनुक्तनिमित्ता के चिन्त्य तथा अचिन्त्य निमित्ता भेद किये हैं।[२]

अधिक तथा अल्प

अधिक तथा अल्प अलङ्कार आधाराधेय-भाव-सम्बन्ध पर आधृत है। सामान्यतः, आधेय की अपेक्षा आधार अधिक विस्तृत होता है; पर जहाँ इसके विपरीत आधार से आधेय की दीर्घता का चमत्कारपूर्ण वर्णन होता है, वहाँ अधिक नामक अलङ्कार माना जाता है। वर्ण्य आधेय की अतिशय दीर्घता की विवक्षा से उसे बडे आधार से भी बड़ा कहा जाता है। आधेय के महत्त्व की स्थापना के लिए आधार की भी दीर्घता का निरूपण किया जाता है। छोटे आधार से बडा कहने से आधेय की गुरुता की व्यञ्जना नही हो सकती। अतः, अधिक अलङ्कार मे आधार की दीर्घता का निर्देश करते हुए आधेय का उससे भी अधिक बताया जाना अपेक्षित माना गया है। इसके साथ ही पृथुल आधेय का वर्णन करते हुए उससे भी आधार का आधिक्य-वर्णन अधिक का दूसरा रूप माना गया है। यो तो आधेय से आधार मे आधिक्य की धारणा निहित ही रहती है; पर आधेय की अतिदीर्घता के निर्देश के साथ उसकी अपेक्षा भी आधार की अधिक दीर्घता के वर्णन मे अतिशय का तत्त्व रहता है। अतः, उसे भी अलङ्कार माना जाता है।

आचार्य दण्डी ने अधिक अलङ्कार की स्वतन्त्र सत्ता नही मानी थी, फिर भी उन्होंने अतिशयोक्ति के एक भेद के रूप मे आश्रयाधिक्य के स्वरूप का निरूपण किया था। उसमे आधेय के महत्त्व की विवक्षा से आधार की विपुलता का वर्णन अपेक्षित माना गया था।[३]

रुद्रट ने अधिक को अतिशयोक्तिमूलक स्वतन्त्र अलङ्कार माना और उसके स्वरूप का निरूपण स्वतन्त्र रूप से किया। उन्होने अधिक के दो रूपो की कल्पना की—(१) जहाँ एक कारण से परस्पर विरुद्ध दो वस्तुएँ उत्पन्न हो तथा जहाँ एक कारण से परस्पर विरुद्ध बल वाली क्रियाओ से युक्त दो वस्तुएँ उत्पन्न हों, वहाँ अधिक अलङ्कार होता है। (२) जहाँ विशाल आधार

१. मम्मट, काव्यप्रकाश, पृ० २६०
२. रुय्यक, अलङ्कारसर्वस्व, पृ० १५६
३. द्रष्टव्य—दण्डी, काव्यादर्श, २,२१९

में अवस्थित छोटी वस्तु के भी किसी कारण उसमे समा न सकने का वर्णन हो, वहाँ अधिक अलङ्कार होता है।[१] भोज ने अतिशयोक्ति के महत्त्वातिशय आदि भेद में अधिक को अन्तर्भूत मानकर उसका पृथक् निरूपण नहीं किया है।

रुय्यक ने अधिक की परिभाषा मे कहा है कि आश्रय तथा आश्रयी अर्थात् आधार और आधेय की अननुरूपता अधिक है।[२] यह अननुरूपता दो रूपो में हो सकती है—(क) आश्रय के विपुल होने पर भी आश्रयी के परिमित होने से तथा (ख) आश्रित के विपुल होने पर भी आश्रय के परिमित होने से। विश्वनाथ ने भी आश्रय तथा आश्रयी में से एक का दूसरे की अपेक्षा अधिक होना अधिक का लक्षण माना है।[३] जयदेव तथा अप्पय्य दीक्षित भी पृथुल आधार की अपेक्षा आधेय की अधिक पृथुलता का तथा पृथुल आधेय की अपेक्षा आधार की अधिक पृथुलता का वर्णन; ये दो रूप अधिक के मानते हैं।[४] जगन्नाथ का कथन है कि आधार या आधेय में से किसी एक को अत्यन्त वृहत् बताने के लिए उसकी तुलना मे दूसरे को बहुत छोटा बताना अधिक है।[५] जो वस्तुतः छोटा नहीं हो उसे भी किसी की अपेक्षा बहुत छोटा बताने से अन्य वस्तु की अतिशय गुरुता का बोध होता है। किसी छोटी वस्तु को अन्य की तुलना मे छोटी कहने से अन्य का महत्त्व नही बढता। अतः, जगन्नाथ की मान्यता का भी सार यह है कि जहाँ आश्रय का अतिशय आधिक्य बताने के लिए आश्रित गुरु वस्तु को भी आश्रय की तुलना मे बहुत

---

१. यत्रान्योन्यविरुद्धं विरुद्धबलवत्क्रियाप्रसिद्धं वा।
वस्तुद्वयमेकस्माज्जायत इति तद्भवेदधिकम् ॥ तथा—
यत्राधारे सुमहत्याधेयमवस्थित तनीयोऽपि।
अतिरिच्येत कथंचित्तदधिकमपरं परिज्ञेयम् ॥
—रुद्रट, काव्यालङ्कार ९,२६-२८

२. आश्रयाश्रयिणोरनानुरूप्यमधिकम्।—रुय्यक, अलङ्कार सू० ४८

३. आश्रयाश्रयिणोरेकस्याधिक्येऽधिकमुच्यते।
—विश्वनाथ, साहित्यदर्पण १०,९४

४. अधिकं पृथुलाधारादाधेयाधिक्यवर्णनम्। तथा—
पृथ्वाधेयाद्यदाधाराधिक्यं तदपि तन्मतम्।
—अप्पय्यदीक्षित, कुवलयानन्द ९५-९६

५. आधाराधेययोरन्यतरस्यातिविस्तृतत्वसिद्धिफलकमितरस्यातिन्यूनत्वकल्पनमधिकम्।—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर पृ० ७१९

लघु कहा कहा जाय और इसी तरह आश्रयी अर्थात् आधेय की अतिशय गुरुता की विवक्षा से वस्तुतः गुरु आधार को भी उसकी तुलना में बहुत लघु बताया जाय, वहाँ अधिक अलङ्कार होता है। निष्कर्ष यह कि आधार और आधेय मे से किसी एक को दूसरे की अपेक्षा अधिक कहना अधिक अलङ्कार है। गुरु आधार की अपेक्षा आधेय को अधिक बडा कहना तथा गुरु आधेय से आधार को बडा कहना अधिक के दो रूप है। इस वर्णन की दो पद्धतियाँ सम्भव हैं—गुरु आधार से आधेय को अधिक गुरु कहने की सीधी पद्धति तथा आधेय की अधिकता के बोध के लिए उसकी तुलना में गुरु आधार को भी बहुत छोटा कहने की पद्धति। इसी प्रकार आधार के आधिक्य-वर्णन की भी उक्त दो पद्धतियाँ हो सकती है। फलतः अधिक अलङ्कार की योजना के ये चार रूप सम्भव हैं—

(१) पृथुल आधार से आधेय का आधिक्य-वर्णन,
(२) गुरु आधेय से आधार को बहुत छोटा कहना,
(३) पृथुल आधेय से आधार को अधिक कहना तथा
(४) आधार की पृथुलता के सामने आधेय की तुच्छता का वर्णन।

अधिक अलङ्कार के विपर्यय के रूप मे जयदेव तथा अप्पय्य दीक्षित ने अल्प अलङ्कार की कल्पना की है और सूक्ष्म आधेय से भी आधार की सूक्ष्मता का वर्णन इसका स्वरूप माना है।[1]

विषम तथा सम

रुद्रट ने वास्तवमूलक तथा अतिशयमूलक विषम अलङ्कारो की कल्पना की। वास्तव-वर्गगत विषम के अनेक रूपों की कल्पना उन्होने की। जहाँ वस्तुओ के बीच सम्बन्ध के न रहने पर भी वक्ता दूसरो के द्वारा उनके बीच सम्बन्ध-कल्पना की सम्भावना कर उसका (उस सम्भावित असत् सम्बन्ध का) खण्डन करता हो, वहाँ वास्तवमूलक विषम का एक रूप; जहाँ अर्थो के बीच विद्यमान सम्बन्ध का अनौचित्य दिखाया जाय अथवा जहाँ असम्भाव्य वस्तु की सत्ता का वर्णन हो, वहाँ विषम का अन्य रूप होता है। विषम के चार और भेद माने गये है—(क) जहाँ किसी कारण कर्त्ता छोटा-सा भी कार्य न करे, (ख) जहाँ वह कारणवश बड़ा काम भी कर दे, (ग) जहाँ वह हीन या अशक्त

१. अल्पं तु सूक्ष्मादाधेयाद्यदाधारस्य सूक्ष्मता।—अप्पय्यदी० कुवलया० ९७

होने पर भी कार्य-सम्पादन कर दे तथा (घ) जहाँ वह कारणवश सशक्त होने पर भी कार्य नही करे। एक और रूप की कल्पना कर कहा गया है कि जहाँ कार्य का नाश हो जाने से न केवल कर्त्ता को कर्म-फल ही न मिले वरन् अनर्थ भी हो जाय, वहाँ भी विषम होता है।[१] रुद्रट के द्वारा कल्पित वास्तव-वर्ग के विषम के उक्त रूपो पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस अलङ्कार की स्वरूप-कल्पना के मूल मे पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध की विरूपता की धारणा निहित है। अतिशयमूलक विषम की परिभाषा मे रुद्रट ने कहा है कि जहाँ कार्य-कारण-सम्बन्ध वाले पदार्थों के गुणो या क्रियाओ मे परस्पर विरोध दिखाया जाय, वहाँ विषम अलङ्कार होता है। अभिप्राय यह कि कारण के गुण से उसके कार्य के गुण का तथा कारण की क्रिया से उसके कार्य की क्रिया मे विरोध की स्थिति मे विषम अलङ्कार होगा।[२] विषम के उक्त सभी रूपों मे वस्तुओं के सम्बन्ध की अननुकूलता या विषमता की धारणा व्यक्त की गयी है। वस्तु-सम्बन्ध के विरोध को दृष्टि मे रखते हुए भोज ने विषम को विरोध का ही एक भेद माना है।

मम्मट ने विषम के चार प्रकार स्वीकार किये है—(१) जहाँ सम्बन्धियो के वैधर्म्य के कारण उनका सम्बन्ध अनुपपन्न प्रतीत हो, (२) कर्त्ता को अपनी क्रिया का फल तो नही ही मिले, अनर्थ की भी प्राप्ति हो जाय, (३) कार्य के गुण से कारण के गुण का विरोध हो तथा (४) कार्य की क्रिया का कारण की क्रिया से विरोध हो।[३] इन सभी रूपो मे समता का विपर्यय रहने से सभी विषम के रूप है। स्पष्ट है कि रुद्रट की विषम-धारणा को ही मम्मट ने प्रायश. स्वीकार किया है। रुद्रट के द्वारा कल्पित असत् सम्बन्ध का भी खण्डन तथा वस्तुओ के सम्बन्ध का अनौचित्य मम्मट के विषम के प्रथम रूप से अभिन्न है। अन्य के द्वारा वस्तुओ के सम्वन्ध की कल्पना की सम्भावना कर असत् वस्तु-

---

१. द्रष्टव्य—रुद्रट, काव्यालङ्कार ७,४७-५४

२. कार्यस्य कारणस्य च यत्र विरोधः परस्परं गुणयोः।
तद्वत्क्रिययोरथवा सञ्जायेतेति तद्विषमम् ॥—वही, ९, ४५

३. क्वचिद्यदतिवैधर्म्यान्न श्लेषो घटनामियात्।
कर्त्तुः क्रियाफलावाप्तिर्नैवानर्थश्च यद्भवेत् ॥
गुणक्रियाभ्या कार्यस्य कारणस्य गुणक्रिये।
क्रमेण च विरुद्धे यत्स एष विषमो मतः ॥
—मम्मट, काव्यप्रकाश १०, १९४

सम्बन्ध के खण्डन तथा वस्तुओ के सम्भव-सम्बन्ध के खण्डन में तात्त्विक भेद नही है, भेद केवल कथन के ढग का है। अत, दोनो को एक साथ इस रूप में परिभाषित करना ही अधिक समीचीन है कि 'वस्तुओ के सम्बन्ध की अनुपपत्ति का वर्णन विषम का एक रूप है।' मम्मट के विषम का दूसरा रूप भी रुद्रट के वास्तव विषम के एक रूप से अभिन्न है। रुद्रट के अतिशयमूलक विषम की अवतारणा मम्मट ने अपने विषम के तीसरे और चौथे रूप में की है। अशक्त कर्त्ता का बडा काम भी कर देने, सशक्त कर्त्ता का छोटा काम भी न कर पाने आदि के वर्णन मे रुद्रट ने जो विषम माना था, उसे मम्मट ने अलङ्कार के स्वतन्त्र प्रकार के रूप मे स्वीकार नही किया।

रुय्यक ने विषम के तीन प्रकार स्वीकार किये—(१) कारण से विरूप कार्य की उत्पत्ति, (२) किसी कार्य के साधन मे उद्यत कर्त्ता के कार्य से उद्दिष्ट फल की जगह अनर्थ की प्राप्ति तथा अननुरूप या विरूप वस्तुओ की सङ्घटना। अननुरूप वस्तुओ का ससर्ग विषम का प्रधान लक्षण माना गया है।[1] स्पष्टत: रुय्यक की धारणा मम्मट की विषम-धारणा से अभिन्न है। रुय्यक के विरूप कार्योत्पत्ति-रूप विषम-भेद मे मम्मट के गुण-विरोध तथा क्रिया-विरोध भेदो का समाहार है। विश्वनाथ, जयदेव, अप्पय्य दीक्षित आदि ने मम्मट, रुय्यक की विषम-धारणा को ही स्वीकार किया है।[2] जगन्नाथ ने रुय्यक की तरह अननुरूप वस्तुओ के ससर्ग को विषम का प्रधान लक्षण मान कर मम्मट, रुय्यक आदि के द्वारा कल्पित विषम के सभी रूपो को उसका भेद माना है।[3] निष्कर्ष यह कि विरूप या अननुरूप वस्तुओ का सम्बन्ध विषम अलङ्कार है। इसके सम्भव रूप है—(क) विरूप वस्तुओ की सङ्घटना अथवा सङ्घटित वस्तुओ के सम्बन्ध का अनुचित या अनुपपन्न होना (ख) कारण से विपरीत धर्म वाले कार्य की उत्पत्ति तथा (ग) आरब्ध कार्य से इष्ट फल की प्राप्ति न होकर उलटे अनर्थ की प्राप्ति।

सम के विपर्यय-रूप को रुय्यक आदि ने विषम कहा है। अत., विषम के

---

१. विरूपकार्यानर्थयोरुत्पत्तिर्विरूपसङ्घटना च विषमम्।—रुय्यक, अलं० सू० ४५—भेद के लिए सूत्र ४५ की वृत्ति द्रष्टव्य—पृ० १६१

२. द्रष्टव्य—विश्वनाथ, साहित्यदर्पण १०-६१ तथा—
अप्पय्य दीक्षित, कुवलयानन्द ८८, ६०

३. द्रष्टव्य—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर पृ० ७०४-५

विपरीतधर्मा सम अलङ्कार के स्वरूप की कल्पना में अननुरूप वस्तु-ससर्ग-रूप विषम के विपरीत अनुरूप वस्तुओ का संसर्ग-वर्णन अपेक्षित माना गया है। सम का स्वतन्त्र अलङ्कार के रूप मे निरूपण सर्वप्रथम मम्मट ने किया। उनके पूर्व विषम के स्वरूप की स्थापना हो चुकी थी। मम्मट ने अनुकूल वस्तुओं का योग सम का प्रधान स्वरूप माना। अनेक सत् का तथा अनेक असत् का परस्पर योग इसमे दिखाया जा सकता है।[1] सम-सम्बन्धी इस मूल धारणा को सभी परवर्ती आचार्यों ने स्वीकार किया है। जयदेव तथा अप्पय्य ने विषम के उपरिलिखित तीन स्वीकृत रूपो के विपर्यय-रूप मे सम के भी तीन रूप माने है—(क) अनुरूप वस्तुओ की सङ्घटना, (ख) कारण से कार्य की अनुरूपता तथा (ग) आरब्ध कार्य के अनुकूल, विना किसी अनिष्ट के फल-प्राप्ति।[2] जिस प्रकार विषम के उक्त तीन रूप स्वीकार्य है, उसी प्रकार उनके विपर्यय-रूप सम के भी ये तीन भेद मान्य है।

विरोध

विरोधाभास अलङ्कार के विवेचन-क्रम में हम यह देख चुके हैं कि कुछ आचार्यों ने उसे भी विरोध सज्ञा से अभिहित किया है; किन्तु विरोधाभास से स्वतन्त्र विरोध अलङ्कार की भी कल्पना की गयी है। विरोधाभास मे वस्तुओ के विरोध का केवल आभास रहता है। आपाततः, विरुद्ध जान पडने वाली बातो में तात्त्विक अविरोध की धारणा निहित रहती है। विरोध में परस्पर विरोधी पदार्थों के ससर्ग-वर्णन की धारणा व्यक्त की गयी है। सादृश्य की तरह विरोध भी अनेक अलङ्कारों का मूलभूत तत्त्व है। अत, कुछ आचार्य विरोध-नामक स्वतन्त्र अलङ्कार की कल्पना उचित नही मानते। वे विरोध को अनेक अलङ्कारो को अनुप्राणित करने वाला तत्त्व ही मानते है। इस प्रकार कुछ आचार्यों ने विरोध का विरोधाभास के पर्याय के रूप मे प्रयोग कर दिया है। विरोधाभास के पर्याय के रूप में प्रयुक्त विरोध प्रस्तुत सन्दर्भ मे विवेच्य नही। विरुद्ध पदार्थों की घटना के रूप मे जिस विरोध को स्वीकृति मिली है तथा जिसे कुछ आचार्य सभी विरोधमूलक अलङ्कार का समान

---

१. सम योग्यतया योगो यदि सम्भावितः क्वचित्। तथा—
तत्सद्योगे, असद्योगे च।—मम्मट, काव्यप्रकाश १०, १६३ तथा वृत्ति पृ० २८४

२. द्रष्टव्य—अप्पय्य दीक्षित, कुवलयानन्द ९१, ९३

तत्त्व मानकर उसके स्वतन्त्र अलङ्कार के रूप मे स्वीकार किये जाने का विराध करते है, उसीका ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन यहाँ अभीष्ट है।

रुद्रट के पूर्ववर्ती आचार्य भामह, दण्डी तथा उद्भट ने विरोध व्यपदेश से जिस अलङ्कार का निरूपण किया था उसके लिए विरोधाभास सज्ञा अधिक अन्वर्थ होती। भामह ने विशेष चमत्कार उत्पन्न करने के लिए गुण, क्रिया आदि का विरुद्ध क्रिया से वर्णन विरोध का लक्षण माना था। वे विरोध को अतात्त्विक मानकर केवल उसका आभास ही अपेक्षित मानते थे। उद्भट ने इसी मत को स्वीकार किया था। दण्डी ने विरोध-लक्षण मे विरुद्ध पदार्थों का ससर्ग प्रदर्शन अपेक्षित माना था। इसी धारणा ने पीछे चलकर विरोधाभास से स्वतन्त्र विरोध अलङ्कार को जन्म दिया। दण्डी ने विरुद्ध पदार्थों की सङ्घटना केवल विशेष चमत्कार की सृष्टि के लिए विरोध में मानी थी। टीकाकारों ने 'विशेष-दर्शनायैव' के आधार पर दण्डी के विरोध-लक्षण का अर्थ यह माना है कि वास्तव विरोध के न होने पर भी केवल विशेष दिखाने के लिए विरुद्ध-से लगने वाले पदार्थों की सङ्घटना विरोध (वस्तुतः विरोधाभास) है। वामन ने भी विरोधाभास को ही विरोध कहा है।

रुद्रट ने सर्वप्रथम विरोधाभास या विरोधाभास-श्लेष से स्वतन्त्र विरोध अलङ्कार की कल्पना की और उसे अतिशयमूलक अलङ्कार माना। उनके अनुसार जहाँ परस्पर सर्वथा विरुद्ध पदार्थो की, एक ही समय एकत्र अवस्थिति दिखायी जाय, वहाँ विरोध अलङ्कार होता है।[१] दण्डी के विरोध से इसकी तुलना करने पर विरुद्ध पदार्थों के संसर्ग की धारणा दोनो मे समान रूप से दीख पडती है। भेद इतना ही है कि दण्डी ने केवल विशेष-दर्शन के लिए विरुद्ध पदार्थो के ससर्ग की कल्पना अपेक्षित मानी थी। इस कथन मे इस व्याख्या के लिए अवकाश था कि वे पदार्थगत विरोध को अतात्त्विक या विरोध का आभास मात्र मानते थे, पर रुद्रट ने विरोध में ससर्ग मे आने वाले पदार्थो में तात्त्विक विरोध अपेक्षित माना है।

भोज ने रुद्रट की विरोध-धारणा को स्वीकार कर अन्य आचार्यों के द्वारा स्वतन्त्र अलङ्कार के रूप मे स्वीकृत असङ्गति, प्रत्यनीक, अधिक तथा

---

१. यस्मिन् द्रव्यादीनां परस्परं सर्वथा विरुद्धानाम्।
एकत्रावस्थानं समकाल भवति स विरोधः॥
—रुद्रट, काव्यालङ्कार ९, ३०

विषम को विरोध का ही भेद मान लिया है।[1] मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ आदि ने विरोध नाम से विरोधाभास का ही अस्तित्व स्वीकार किया है। वे विषम आदि मे विरुद्ध पदार्थो की सङ्घटना का समावेश मानते है। अतः, विरोध-नामक स्वतन्त्र अलङ्कार उन्हे इष्ट नही। जयदेव, अप्पय्य दीक्षित आदि ने भी विरोध का निरूपण नही किया है। पण्डितराज जगन्नाथ ने विरोध को अनेक अलङ्कारो को अनुप्राणित करने वाला तत्त्व मानकर स्वतन्त्र अलङ्कार के रूप मे उसके अस्तित्व की कल्पना को असङ्गत बताया है। वस्तुत. विषम, असङ्गति आदि अनेक अलङ्कारो मे विरोध का तत्त्व निहित रहता है। अत., विरोध के पृथक् अस्तित्व की कल्पना आवश्यक नही। केवल रुद्रट, भोज तथा उनके कुछ अनुयायियो को विरोध का स्वतन्त्र अलङ्कारत्व मान्य है। परस्पर विरुद्ध पदार्थो की युगपत् एकत्र सङ्घटन विरोध का लक्षण है।

असङ्गति

असङ्गति विरोधमूलक अलङ्कार है। यह कार्य-कारण-सम्बन्ध की असङ्गति पर अवलम्बित है। सामान्यत', जहाँ कारण रहता है, वही उसके कार्य का जन्म होता है। दूसरे शब्दो मे, कारण तथा उसका कार्य, दोनो समान-देशीय होते है, पर काव्य मे जहाॅ कारण से भिन्न देश मे उसके कार्य की उत्पत्ति का चमत्कारपूर्ण वर्णन होता है, वहाॅ असङ्गति अलङ्कार माना गया है।

रुद्रट ने सर्वप्रथम असङ्गति अलङ्कार के स्वरूप का निरूपण किया। उन्होने इसे अतिशयमूलक अलङ्कार माना है। असङ्गति को परिभाषित करते हुए उन्होंने कहा है कि जहाँ एक ही समय कारण के अन्यत्र तथा उसके कार्य के अन्यत्र होने का स्पष्ट वर्णन हो, वहाॅ असङ्गति अलङ्कार होता है।[2]

---

१ विरोधस्तु पदार्थानां परस्परमसङ्गति'।
असङ्गतिः प्रत्यनीकमधिकं विषमश्च स ॥
—भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण ३, २४

२. विस्पष्टे समकालं कारणमन्यत्र कार्यमन्यत्र।
यस्यामुपलभ्येते विज्ञेयासङ्गतिः सेयम् ॥—रुद्रट, काव्यालङ्कार ९,४८

भोज ने असङ्गति को स्वतन्त्र अलङ्कार नही मानकर विरोध का एक भेद-मात्र स्वीकार किया है। हम इस पर तथ्य पर विचार कर चुके है कि विरोध को स्वतन्त्र अलङ्कार मानकर विषम, असङ्गति आदि को उसका भेद मानना युक्तिसङ्गत नही। विरोध को विषम, असङ्गति आदि का समान रूप से व्यावर्त्तक धर्म ही माना जाना चाहिए। अतः, असङ्गति को स्वतन्त्र अलङ्कार मानने वाले रुद्रट आदि की धारणा ही अधिक समीचीन जान पडती है। रुद्रट ने विरोध को अनेक अलङ्कारो का प्राणाधायक तत्त्व मानकर अलङ्कारो का वर्गीकरण नही किया था। इसलिए वे असङ्गति, विरोध आदि को अतिशयमूलक अलङ्कार मानते थे। पीछे चलकर जब विरोधमूलक अलङ्कारो का एक स्वतन्त्र वर्ग कल्पित हुआ तब असङ्गति को विरोध मूलक अलङ्कार-वर्ग मे परिगणित किया गया।

मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने रुद्रट की तरह कारण और कार्य का भिन्न-देशत्व ही असङ्गति का लक्षण माना है।[१]

जयदेव तथा अप्पय्य दीक्षित ने असङ्गति को थोडे परिष्कार के साथ परिभाषित किया। उनके अनुसार जहाँ हेतु तथा कार्य का भिन्नदेशत्व विरुद्ध हो, वहाँ यदि उनके भिन्नदेशत्व का निबन्धन हो तो असङ्गति अलङ्कार होगा। यदि कार्यकारण का भिन्न-देशगतत्व विरुद्ध न हो तो असङ्गति नही होगी। मेघ सजल हुए (मेघ ने विष अर्थात् जल का पान किया) और वियोगिनियाँ मूर्च्छित हुईं' इस कथन मे तो असङ्गति है, चूँकि विष पीने तथा मूर्च्छित होने; इस कारण-कार्य का भिन्न-देशत्व विरुद्ध है और उसका निबन्धन हुआ है; पर इस कथन मे कि 'वह अपनी भ्रूवल्ली को जितना वक्र बनाती है, उतना अधिक उसके कटाक्ष-वाण से मेरा हृदय घायल होता है' असङ्गति नही; क्योंकि धनुष को खीच कर टेढा करने तथा हृदय के बिद्ध होने का (कारण-कार्य का) भिन्न-देशत्व विरुद्ध नही है, वही प्रसिद्ध है। निष्कर्ष यह कि जो कार्य-कारण एक देश मे सामान्यतः रहते है, उनके भिन्न-देशत्व का रमणीय वर्णन असङ्गति अलङ्कार है। इसके अतिरिक्त असङ्गति के दो और रूपो की कल्पना जयदेव तथा अप्पय्यदीक्षित ने की है—(१) अन्यत्र करणीय कार्य को अन्यत्र कर देना

१. द्रष्टव्य, मम्मट, काव्यप्रकाश १०,१६१; रुय्यक, अलङ्कार सू० ४४; विश्वनाथ, साहित्यदर्पण १०,६०

तथा (२) अन्य कार्य को करने मे सलग्न व्यक्ति का अन्य कार्य कर बैठना।[१] इस प्रकार असङ्गति के उक्त तीन प्रकार जयदेव आदि ने माने हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ ने पूर्ववर्ती आचार्यो की असङ्गति-धारणा को स्वीकार करने पर भी उसकी परिभाषा मे परिष्कार किया है। उनके अनुसार 'हेतु और कार्य का ऐसा भिन्न-देशत्व-वर्णन जो आपातत. विरुद्ध जान पड़े, असङ्गति है।[२] वस्तुतः, भिन्न देश मे कार्य-कारण के होने मे जो विरोध असङ्गति मे जान पडता है, वह प्रातिभासिक ही होता है। यदि यथार्थं विरोध हो तो वह काव्योक्ति नही, उन्मत्तोक्ति ही होगी। जगन्नाथ ने अप्पय्य दीक्षित की असङ्गति के द्वितीय रूप 'अन्यत्र करणीय का अन्यत्र कर देना' का इसी लक्षण मे अन्तर्भाव माना है। यह उचित ही है। अन्य कार्य मे सलग्न कर्त्ता के द्वारा अन्य कार्य कर देने को जगन्नाथ विभावना का एक भेद मानते है, असङ्गति नही।[३] इस असङ्गति मे तथा 'विरुद्ध कार्य-उत्पत्ति-रूप विभावना मे थोड़ा भेद अवश्य है। कारण से विरुद्ध प्रकृति वाले कार्य की उत्पत्ति विभावना है; किन्तु अन्य कार्य मे संलग्न व्यक्ति के द्वारा इष्ट कार्य से भिन्न कार्य कर दिया जाना असङ्गति है। फिर भी दोनो के बीच भेद इतना कम है कि अप्पय्य की असङ्गति के इस रूप को विभावना का एक प्रकार मानने मे कोई असङ्गति नही जान पडती। निष्कर्ष यह कि असङ्गति में कार्य और कारण का युगपत् भिन्न-भिन्न अधिकरण मे सद्भाव दिखाया जाता है। यह भिन्न-देशत्व या वैयधिकरण्य विरुद्ध जान पडता है; पर वस्तुतः कारण-कार्य के भिन्न देशगत होने मे जान पडने वाला वह विरोध प्रातिभासिक होता है, तात्त्विक नही।

व्याघात

सर्वप्रथम रुद्रट ने व्याघात अलङ्कार की कल्पना की। इस अलङ्कार के नवीन नाम-मात्र की कल्पना रुद्रट ने की। उन्होने उद्भट की विशेषोक्ति के

---

१. विरुद्धं भिन्नदेशत्वं कार्यहेत्वोरसङ्गतिः। तथा—
अन्यत्र करणीयस्य ततोऽन्यत्र कृतिश्च सा।
अन्यत्कर्तुं प्रवृत्तस्य तद्विरुद्धकृतिस्तथा॥
—अप्पय्य दीक्षित, कुवलयानन्द ८५-८६

२. विरुद्धत्वेनापाततो भासमानं हेतुकार्ययोर्वैयधिकरण्यमसङ्गतिः।
—जगन्नाथ, रसङ्गाधर, पृ० ६९८

३. द्रष्टव्य—वही, पृ० ६९८-७०४

आधार पर ही व्याघात को परिभाषित कर दिया। सम्भवतः इसीलिए उन्होने विशेषोक्ति का निरूपण नही किया। रुद्रट के अनुसार जहाँ अन्य कारण से किसी तरह की बाधा के न होने पर कोई कारण कार्य का उत्पादन नही कर सके, वहाँ व्याघात अलङ्कार माना जाता है।[१] कारण का यदि बाधक तत्त्व नही रहे तो उससे कार्य की उत्पत्ति अवश्य होनी चाहिए। लेकिन बाधक के नही रहने पर भी कारण से कार्य की उत्पत्ति नही होने के वर्णन मे अलङ्कारत्व रहता है। रुद्रट इसे व्याघात कहेगे, पर अन्य आचार्यो ने उसे विशेषोक्ति कहा है।

मम्मट ने अबाधित कारण से भी कार्य की अनुत्पत्ति मे विशेषोक्ति का सद्भाव मानकर उससे स्वतन्त्र व्याघात के स्वरूप की कल्पना की है। उनकी मान्यता है कि जहाँ किसी कर्त्ता के द्वारा जिस उपाय से कार्यसाधन किये जाने का निर्देश हो, उसी उपाय से (उस कर्त्ता के विजिगीपु) अन्य व्यक्ति के द्वारा उस कार्य को अन्यथा करने का वर्णन व्याघात है।[२] जिस उपाय से कोई कार्य-साधन करे, उसी उपाय से दूसरा उस कार्य को अन्यथा कर दे, इस वर्णन मे अवश्य ही चमत्कार रहता है। अत. ऐसे स्थल मे व्याघात अलङ्कार का सद्भाव माना जाता है। इसमे कर्त्ता की अभीष्ट-सिद्धि के साधन से ही दूसरे के द्वारा उसके इष्ट का व्याघात या हनन होने से इसे व्याघात कहा जाता है।

मम्मट के उत्तरवर्ती प्रायः सभी आचार्यो ने उनकी व्याघात-विषयक मूल धारणा को स्वीकार किया है। रुय्यक ने मम्मट-कल्पित व्याघात-लक्षण को स्वीकार कर उसके एक रूप की कल्पना की। उन्होने मम्मट के मतानुसार किसी उपाय से साधित कार्य का अन्य के द्वारा उसी उपाय से अन्यथाकरण व्याघात का लक्षण माना। व्याघात के दूसरे रूप की कल्पना करते हुए उन्होने कहा कि किसी कार्य के सम्पादन के लिए सम्भावित कारण को जहाँ दूसरा व्यक्ति उस कार्य के विरुद्ध कार्य का निष्पादक बता दे, वहाँ भी व्याघात होता है।[३]

---

१. अन्यैरप्रतिहतमपि कारणमुत्पादनं न कार्यस्य।
यस्मिन्नभिधीयेत व्याघातः स इति विज्ञेयः॥—रुद्रट, काव्यालं० ९,५२

२. यद्यथा साधितं केनाप्यपरेण तदन्यथा।
तथैव यद्विधीयेत स व्याघात इति स्मृतः॥—मम्मट, काव्यप्र० १०,२०६

३. यथासाधितस्य तथैवान्येनान्यथाकरणं व्याघातः। तथा—
सौकर्येण कार्यविरुद्धक्रिया च॥—रुय्यक, अल० सू० ५१-५२

अभिप्राय यह है कि कर्त्ता जिस उपाय से कार्य-विशेष का साधन कर सकता हो, उस उपाय की सम्भावना कर कर्त्ता के अभिमत से विरुद्ध कार्य-साधन में उसी उपाय को सहायक बना लेने की कल्पना व्याघात का दूसरा रूप है। विश्वनाथ, जयदेव, अप्पय्य दीक्षित आदि ने व्याघात के इन दोनो रूपो को स्वीकार किया है।[१]

उक्त दोनो रूपो पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि व्याघात के दोनो रूपो मे कोई महत्त्वपूर्ण व्यावर्त्तक धर्म नही। एक मे किसी उपाय स साधित कार्य का उसी उपाय से अन्यथाकरण तथा दूसरे मे अभीष्ट कार्य-साधन के लिए प्रयोग मे लाये जाने वाले उपाय को उस कार्य से विरुद्ध कार्य का साधन प्रमाणित कर उस अभीष्ट कार्य का अन्यथाकरण वाञ्छनीय माना गया है। कर्त्ता के ही उपाय का (चाहे वह प्रयुक्त हो या उसके प्रयोग की सम्भावना हो) उसके अभीष्ट-हनन मे उपयोग व्याघात की प्रधान प्रकृति है। सम्पादित या सम्पाद्यमान कार्य के उपाय का कार्य-हनन में उपयोग के आधार पर व्याघात के दो रूपो की कल्पना आवश्यक नही थी। उन्हे व्याघात के एक लक्षण मे समाविष्ट कर उसके दो भेद मानना समीचीन होता। पण्डितराज जगन्नाथ ने इसीलिए एक व्यापक परिभाषा बनाकर व्याघात के दोनो रूपो का समाहार उसी में कर दिया। उनके अनुसार "जहाँ एक कर्त्ता जिस कारण से कोई कार्य निष्पन्न कर ले या किसी कार्य का निष्पादन करना चाहे; पर अन्य कर्त्ता उसी कारण से उसके विरुद्ध कार्य का सम्पादन कर अथवा सम्पादन करने की इच्छा से पूर्व कर्त्ता के कार्य का हनन कर दे वहाँ व्याघात अलङ्कार होता है।"[२]

निष्कर्षत, कर्त्ता जिस उपाय से कार्य-साधन कर ले उसी उपाय से दूसरे कर्त्ता के द्वारा उस कार्य का अन्यथाकरण व्याघात का एक भेद तथा जिस उपाय से वह अभीष्ट कार्य का सम्पादन करना चाहे, उस उपाय को उसके अभीष्ट कार्य के विरुद्ध कार्य का साधक बनाकर उसके उद्दिष्ट कार्य का अन्यथाकरण व्याघात का दूसरा भेद है। 'शिव की दृष्टि से जले हुए काम

---

१. द्रष्टव्य— वश्वनाथ, साहित्यदर्पण १०,९७-९८ तथा
—अप्पय्य दीक्षित कुवलयानन्द १०२-३

२. यत्र ह्येकेन कर्त्रा येन कारणेन कार्यं किञ्चिन्निष्पादितं निष्पिपादयिषतं वा तदन्येन कर्त्रा तेनैव कारणेन तद्विरुद्धकार्यस्य निष्पादनेन निष्पिपादयिषया वा व्याहन्यते स व्याघातः।—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ७२८

को युवती अपनी दृष्टि से ही जीवित कर रही है' यह कथन साधित कार्य (काम के वध) का उसी साधन (दृष्टि) से अन्यथाकरण का उदाहरण है। 'नायक परदेश जाने के समय नायिका को कोमलाङ्गी बताकर साथ जाने से रोकता है, पर उसीकी युक्ति से अपनी कोमलाङ्गिता के कारण वियोग का दु ख सहने मे अपने को असमर्थ बताकर वह नायक के उद्देश्य के विरुद्ध कार्य का साधक उसके साधन को बता देती है।' ऐसे स्थल मे व्याघात का दूसरा भेद माना जायगा।

विचित्र

मम्मट के समय तक विचित्र को स्वतन्त्र अलङ्कार के रूप मे मान्यता नहीं मिली थी। रुय्यक ने सर्वप्रथम विचित्र के स्वरूप की कल्पना की और उसे स्वतन्त्र अलङ्कार माना। उनके अनुसार जहाँ कर्त्ता अपने अभीष्ट फल के विपरीत फल के लिए प्रयत्न करता हो, वहाँ विचित्र अलङ्कार होता है।[1] उन्नति के लिए प्रभु के सामने झुकना आदि इसके उदाहरण दिये गये हैं। नमन क्रिया उन्नति के विपरीत है, फिर भी उस विपरीत का उत्साह आश्चर्य-जनक होने के कारण विचित्र अलङ्कार का उदाहरण है। ऐसे उदाहरणो पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्त्ता वस्तुत. अभीष्ट फल की प्राप्ति के लिए ही यत्न करता है, पर वह यत्न आपातत उसके उद्दिष्ट फल के विपरीत फल का यत्न-सा लगता है। उद्दिष्ट फल के विपरीतधर्मा कार्य का आरम्भ कर कर्त्ता उद्दिष्ट फल को प्राप्त करना चाहता है। वह विपरीत फल का यत्न इष्ट-सिद्धि मे सहायक ही होता है। अत , उसके प्रयत्न मे जान पडने वाला विरोध अतात्त्विक ही होता है। इष्ट फल के विपरीत प्रयास की विचित्रता के आधार पर इसका अन्वर्थ अभिधान कल्पित है।

विश्वनाथ, जयदेव, अप्पय्य दीक्षित आदि ने रुय्यक की धारणा के अनुरूप ही विचित्र को परिभाषित किया है। उन्होने इष्ट फल के लिए विरुद्ध कार्य करना विचित्र का लक्षण माना है।[2] अप्पय्य दीक्षित के विचित्र-लक्षण के दो पाठ

---

१. स्वविपरीतफलनिष्पत्तये प्रयत्नो विचित्रम्।—रुय्यक, अलङ्कारसू० ४७

२. विचित्रं यद्विरुद्धस्य कृतिरिष्टफलाय चेत्।

—विश्वनाथ, साहित्यदर्पण १०,९३ तथा—

विचित्रं तत्प्रयत्नश्चेद्विपरीतफलेच्छाया।

—अप्पय्य दीक्षित, कुवलयानन्द ९४

उपलब्ध है। एक मे फल (इष्ट फल) की इच्छा से विपरीत प्रयत्न अपेक्षित माना गया है तो दूसरे मे विपरीत फल की इच्छा से कार्य करने पर बल दिया गया है। दोनो मे शब्द-मात्र का भेद है; दोनो का तात्पर्य एक ही है। कर्त्ता जो फल चाहता है, उसके विपरीत कार्य मे सलग्न दिखाया जाता है, यही विचित्र की प्रकृति है। विचित्र का यही लक्षण पण्डितराज जगन्नाथ को भी मान्य है।[1] इष्ट-सिद्धि के लिए इष्ट-विपरीत अर्थात् प्रतिकूल आचरण को विचित्र का लक्षण मानकर जगन्नाथ ने उसके शुद्ध तथा अन्यालङ्कार-सङ्कीर्ण भेदो के उदाहरण दिये है। उन्होने इष्ट फल के अननुकूल आचरण मे तो विचित्र माना ही है, अपनी इस परिभाषा की व्याख्या के क्रम मे यह भी स्पष्ट किया है कि इष्ट फल तथा आचरण मे अनुकूलाभास के स्थल में भी विचित्र अलङ्कार होता है।[2]

इस विवेचन से स्पष्ट है कि रुय्यक के उत्तरवर्ती प्रायः सभी समर्थ आचार्यो ने रुय्यक की विचित्र-विषयक उद्भावना का स्वागत किया। रुय्यक ने विचित्र के जिस स्वरूप की कल्पना की थी, वही स्वरूप सबको मान्य हुआ। इसलिए विचित्र की प्रकृति मे एकरूपता बनी रही। कर्त्ता के इष्ट फल के प्रतिकूल कार्य करने के वर्णन मे विचित्र अलङ्कार की सत्ता स्वीकार की गयी।

अत्युक्ति

अत्युक्ति को स्वतन्त्र अलङ्कार मानने के सम्बन्ध मे दो मत हैं। जयदेव के पूर्व अत्युक्ति अलङ्कार की कल्पना नही हुई थी। अति-उक्ति अतिशय-उक्ति का पर्याय है। प्राचीन आचार्यो की अतिशयोक्ति के व्यापक स्वरूप को दृष्टि मे रखते हुए उससे स्वतन्त्र अत्युक्ति की कल्पना आवश्यक नही जान पडती। जयदेव तथा उनके अनुयायी अप्पय्य दीक्षित ने अद्भुत तथा अतथ्य शूरता, उदारता आदि के वर्णन मे अत्युक्ति अलङ्कार माना है।[3] जगन्नाथ ने अतिशयोक्ति से स्वतन्त्र अत्युक्ति की सत्ता नही मानी। हिन्दी के कुछ रीति आचार्यो ने

---

१. इष्टसिद्ध्यर्थमिष्टैषिणा क्रियमाणमिष्टविपरीताचरणं विचित्रम्।
—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर पृ० ७१८

२. द्रष्टव्य—वही, पृ० ७१८-१९

३. अत्युक्तिरद्भुतातथ्यशौर्यौदार्यादिवर्णनम्।
—अप्पय्य दीक्षित, कुवलयानन्द, १६३

'कुवलयानन्द' के आधार पर अत्युक्ति का निरूपण किया है। हिन्दी के समर्थ समीक्षक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अत्युक्ति को अतिशयोक्ति का पर्याय मानकर उससे अभिन्न माना है। हम अत्युक्ति की स्वतन्त्र सत्ता की कल्पना के औचित्य की परीक्षा अपरत्र कर चुके है।

विकास की दृष्टि से अत्युक्ति के स्वरूप मे एकरूपता बनी रही। अप्पय्य दीक्षित के परवर्ती किसी आचार्य ने उसके किसी नवीन रूप की कल्पना नही की।

व्याजोक्ति

व्याजोक्ति की स्वतन्त्र अलङ्कार के रूप मे कल्पना होने के पूर्व उसके स्वरूप पर अन्य अलङ्कार के सन्दर्भ मे विचार हो चुका था। दण्डी ने लेश अलङ्कार की परिभाषा मे कहा था कि जहाँ किसी तरह प्रकट हो गयी वस्तु को छिपाने का आयास किया जाता है, वहाँ लेश अलङ्कार होता है।[1] प्रकाशित वस्तु को किसी बहाने छिपाने के कौशल को दृष्टि मे रखकर ही दण्डी ने हेतु तथा सूक्ष्म के साथ इस लेश को भी उत्तम भूषण कहा होगा। दण्डी का लेश ही पीछे चलकर व्याजोक्ति अभिधान से अभिहित हुआ। प्रकाशित वस्तु को छिपाने के लिए व्याज-कथन का सहारा लिया जाता है, बहाना बनाकर तथ्य को छिपाया जाता है; अत दण्डी के लेश का अन्वर्थ अभिधान व्याजोक्ति माना गया।

वामन ने व्याजोक्ति सञ्ज्ञा का प्रयोग कर प्रस्तुत अलङ्कार की परिभाषा मे कहा कि व्याज अर्थात् बहाने से कही हुई बात का सत्य के साथ सारूप्य व्याजोक्ति है।[2] अभिप्राय यह कि बहाना बनाकर सत्य को छिपा लेने तथा बहाने से कही हुई बात को सत्य-सी बताने का प्रयास व्याजोक्ति है। स्पष्टतः, दण्डी के लेश-लक्षण की ही तरह वामन के व्याजोक्ति-लक्षण मे व्याज से तथ्य का निगूहन अपेक्षित माना गया है। वामन ने व्याजोक्ति के दूसरे नाम मायोक्ति का भी निर्देश किया था; पर वह नाम बहुत प्रसिद्धि नही पा सका। व्याज, छल, माया आदि पर्यायवाची शब्द है। अत., व्याजोक्ति की जगह मायोक्ति आदि सञ्ज्ञा का प्रयोग भी किया जा सकता है।

---

१. द्रष्टव्य—दण्डी, काव्यादर्श, २,२६५

२. व्याजस्य सत्यसारूप्यं व्याजोक्तिः।—वामन, काव्यालङ्कार-सूत्र ४,३,२५

मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ आदि ने दण्डी-सम्मत लेश-लक्षण को ही व्याजोक्ति-लक्षण स्वीकार किया है। प्रकट वस्तु का बहाने से गोपन उनके अनुसार व्याजोक्ति का लक्षण है।[1]

जयदेव, अप्पय्य दीक्षित आदि की व्याजोक्ति-धारणा मम्मट, रुय्यक आदि की धारणा से मूलत अभिन्न है, किन्तु जयदेव आदि ने व्याजोक्ति का क्षेत्र कुछ सीमित कर दिया है। उन्हे व्याज से केवल आकार का गोपन व्याजोक्ति मे इष्ट है।[2] पूर्ववर्ती आचार्यो के व्याजोक्ति-लक्षण में आकार का भी व्याज से गोपन लक्षित था। आकार-गोपन के भी उदाहरण मम्मट आदि ने दिये थे। सम्भव है, ऐसे उदाहरणों को देखकर ही जयदेव आदि ने केवल आकार-गोपन तक व्याजोक्ति का लक्षण सीमित कर दिया हो। व्याजोक्ति के लक्षण मे आकार-गोपन की जगह, प्रकट वस्तु-रूप के निगूहन का उल्लेख ही अधिक समीचीन जान पडता है।

निष्कर्षत., किसी प्रकार प्रकट हो गई वस्तु को किसी बहाने छिपाने का वर्णन व्याजोक्ति अलङ्कार माना जाता है।

व्याजस्तुति तथा व्याजनिन्दा

स्तुति-पर्यवसायिनी निन्दा तथा निन्दा-पर्यवसायिनी स्तुति की सुन्दर उक्ति-भङ्गी मे व्याजस्तुति अलङ्कार की कल्पना की गयी है। किसी की प्रशसा के लिए सीधे प्रशसात्मक शब्दो का प्रयोग न कर ऐसे शब्दों का प्रयोग, जिनसे आपाततः उसकी निन्दा-सी लगे; पर परिणामत. उसकी प्रशसा का बोध हो और इसके विपरीत किसी की निन्दा के अभीष्ट होने पर उसके लिए ऐसी शब्दावली का प्रयोग जिससे आपाततः तो उसकी प्रशसा जान पडे; पर परिणामतः उसकी निन्दा का बोध हो—व्याजस्तुति के ये दो रूप है। इस अलङ्कार मे स्तुति के व्याज से निन्दा तथा निन्दा के व्याज से स्तुति की जाती है। अत', व्याजस्तुति अन्वर्था संज्ञा है।

---

१. व्याजोक्तिश्छद्मनोद्भिन्नवस्तुरूपनिगूहनम्।

—मम्मट, काव्यप्रकाश १०,१८४,

उद्भिन्नवस्तुनिगूहनं व्याजोक्तिः।—रुय्यक, अलङ्कार-सूत्र ७६ तथा—
व्याजोक्तिर्गोपन व्याजादुद्भिन्नस्यापि वस्तुनः।

—विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, १०,१२०,

२. व्याजोक्तिरन्यहेतूक्त्या यदाकारस्य गोपनम्।

—अप्पय्य दीक्षित, कुवलयानन्द १५३,

भामह ने व्याजस्तुति की परिभाषा मे कहा था कि जहाँ बहुत महनीय गुण वाली वस्तु के साथ तुलना करते हुए अपेक्षाकृत कम गुणवान् होने के कारण वर्ण्य वस्तु की निन्दा की जाय, वहाँ व्याजस्तुति होती है।[1] इस प्रकार वर्ण्य की निन्दा भी उसकी प्रशसा ही व्यञ्जित करती है क्योकि उसकी निन्दा महनीय गुणवान् के साथ उसकी तुल्यता दिखाने के उद्देश्य से की जाती है। वामन ने भामह की व्याजस्तुति-धारणा को सूत्रबद्ध कर उसके स्पष्टीकरण मे कहा है कि विशिष्ट व्यक्ति के समान कर्म न कर सकने के कारण प्रस्तुत की निन्दा तो की जाती है; पर विशिष्ट के साथ उसके साम्य-सम्पादन की इच्छा से निन्दा होने के कारण वह निन्दा वस्तुतः उसकी स्तुति के लिए ही की जाती है।[2] स्पष्ट है कि भामह तथा वामन निन्दामुखेन की जाने वाली स्तुति मे व्याजस्तुति अलङ्कार मानते थे।

आचार्य दण्डी ने भी निन्दामुखेन की जाने वाली स्तुति को ही व्याजस्तुति की प्रकृति माना है।[3] उनके टीकाकार नृसिहदेव का मत है कि दण्डी के लक्षण-श्लोक में 'निन्दन्निव स्तौति' (निन्दा-सी करता हुआ जहाँ स्तुति करता है) का अर्थ प्रत्यय के व्यत्यय से 'स्तुवन्निव निन्दति' (स्तुति-सी करता हुआ निन्दा करता है) भी माना जाना चाहिए।[4] इस प्रकार मम्मट आदि के द्वारा स्वीकृत व्याजस्तुति के दो रूपो—निन्दामुखेन स्तुति तथा स्तुतिमुखेन निन्दा—को दृष्टि मे रखकर दण्डी की परिभाषा मे अव्याप्ति के मार्जन का आयास किया गया है। वस्तुतः, भामह, दण्डी, उद्भट, वामन आदि व्याजस्तुति का एक ही रूप—निन्दामुखेन स्तुति—मानते थे। अतः, उनके लक्षण मे अर्थ की खीच-तान उचित नहीं। दण्डी ने जितने उदाहरण दिये है, उन सब

---

१. दूराधिकगुणस्तोत्रव्यपदेशेन तुल्यताम्।
किञ्चिद्विधित्सोर्या निन्दा व्याजस्तुतिरसौ यथा॥
—भामह, काव्यालङ्कार, ३,३१,

२. सम्भाव्यविशिष्टकर्माकरणान्निन्दा स्तोत्रार्था व्याजस्तुतिः।
—वामन, काव्यालङ्कार-सूत्र ४,३,२४ द्रष्टव्य, उसकी वृत्ति पृ० २६६

३. यदि निन्दन्निव स्तौति व्याजस्तुतिरसौ स्मृता।
—दण्डी, काव्यादर्श, २,३४३

४. अत्र 'निन्दन्निवस्तौतीति कथनात् प्रत्ययादि व्यत्ययेन स्तुवन्निन्दतीति इत्यप्यर्थो बोध्यः तेन स्तुतिच्छलेन निन्दोक्तिरपि व्याजस्तुतिः।
—वही, कुसुमप्रतिमा-टीका पृ० २५६,

मे आपातत निन्दा तथा तत्त्वत. स्तुति का बोध होता है। उद्भट भी शब्दत. निन्दा तथा अर्थत स्तुति की प्रतीति मे व्याजस्तुति मानते थे।[1]

रुद्रट ने व्याजस्तुति को श्लेष का एक भेद माना है और उसे व्याजश्लेष कहा है। उन्होने पूर्ववर्ती आचार्यो की निन्दामुखेन स्तुति की धारणा तो स्वीकार की ही, साथ ही स्तुतिमुखेन निन्दा को भी व्याज-श्लेष का एक रूप माना।[2] निन्दा से स्तुति तथा स्तुति से निन्दा का बोध श्लिष्ट पद-प्रयोग से भी हो सकता है तथा अन्य शब्दशक्तियों द्वारा अश्लिष्ट पद-प्रयोग से भी। अत., व्याजस्तुति के इन रूपो को श्लेष का भेद न मान कर व्याजस्तुति नामक स्वतन्त्र अलङ्कार मानना ही समीचीन होता।

भोज ने व्याजस्तुति को लेश मे अन्तर्भूत मान लिया है।[3] यह युक्ति-सङ्गत नही। उनके लेश मे दोष का गुणीभाव तथा गुण का दोषीभाव अपेक्षित माना गया है। व्याजस्तुति मे दोष को गुण या गुण को दोष नही बताया जाता, ऊपर से निन्दा तथा स्तुति करने से क्रमश स्तुति तथा निन्दा की व्यञ्जना करायी जाती है। अत दोनो की प्रकृति परस्पर भिन्न है।

मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ, जयदेव, अप्पय्य दीक्षित, जगन्नाथ आदि सभी आचार्य स्तुतिपर्यवसायिनी निन्दा तथा निन्दापर्यवसायिनी स्तुति को व्याजस्तुति मानते है। ऊपर से जिसकी निन्दा या स्तुति की जाय, परिणामतः उसीकी स्तुति या निन्दा मे क्रमश उनका पर्यवसान हो, वही व्याजस्तुति मानी जानी चाहिए। जगन्नाथ ने वैयधिकरण्य मे एक की निन्दा से दूसरे की स्तुति तथा एक की स्तुति से दूसरे की निन्दा के प्रतीत होने मे व्याजस्तुति मानने वाने मत का खण्डन किया है।

व्याजस्तुति की प्रकृति के आधार पर ही जयदेव तथा अप्पय्य दीक्षित ने व्याजनिन्दा के स्वरूप की कल्पना की है। व्याजस्तुति मे निन्दा से स्तुति तथा स्तुति से निन्दा की प्रतीति होती है, व्याजनिन्दा मे निन्दा से निन्दा की

१. शब्दशक्तिस्वभावेन यत्र निन्दैव गम्यते।
वस्तुतस्तु स्तुतिश्चेष्टा व्याजस्तुतिरसौ मता॥
—उद्भट, काव्यालङ्कारसारसंग्रह ५, ६

२. यस्मिन्निन्दा स्तुतितो निन्दाया वा स्तुतिः प्रतीयेत।
अन्या विवक्षिताया व्याजश्लेषः स विज्ञेयः।
—रुद्रट, काव्यालङ्कार, १०,११

३. द्रष्टव्य—भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण ४,५६

ही प्रतीति होती है। एक निन्दा से दूसरी निन्दा के गम्य होने में व्याजनिन्दा मानी गयी है।[१] व्याजनिन्दा की सत्ता को बहुत कम आचार्यों की मान्यता प्राप्त हो सकी है।

गूढोक्ति, विवृतोक्ति तथा युक्ति

जयदेव के पूर्व गूढोक्ति की स्वतन्त्र अलङ्कार के रूप मे कल्पना, नही हुई थी; पर यह निर्विवाद है कि उसके स्वरूप पर पहले से ही अन्य अलङ्कार के सन्दर्भ में विचार हो रहा था। जयदेव, अप्पय्य दीक्षित आदि के अनुसार अन्य के उद्देश्य से अन्य को कहना गूढोक्ति है।[२] किसीको जो कुछ कहना हो, वह सीधे उसे नही कहकर अन्य को कहना तथा अन्य के कथन के माध्यम से जिसके प्रति विवक्षा हो, उसे सूचित करना गूढोक्ति है। अन्य को सूचित करने के लिए अन्य के प्रति कथन मे आशय गूढ रहा करता है। इसलिए इस प्रकार की उक्ति को गूढ-उक्ति कहा गया है। रुद्रट ने अन्य के उद्देश्य से अन्य के प्रति कही हुई बात मे अन्योक्ति अलङ्कार माना था। अन्योक्ति के स्वतन्त्र अस्तित्व की मान्यता के औचित्य पर विचार करते हुए हम यह देख चुके है कि उसका स्वरूप अप्रस्तुतप्रशसा से कितना मिलता-जुलता है। गूढोक्ति के स्वरूप का भी समावेश अप्रस्तुतप्रशसा मे सम्भव है। अप्पय्य दीक्षित ने अप्रस्तुतप्रशसा से गूढोक्ति का थोडा भेद निरूपित किया है। अप्रस्तुतप्रशसा मे कार्य, कारण, सामान्य, विशेष तथा तुल्य वस्तु मे से एक के कथन से दूसरे की प्रतीति करायी जाती है। कार्य से कारण, कारण से कार्य आदि की प्रतीति गूढोक्ति मे आवश्यक नही। यहाँ वक्ता किसी गूढ उद्देश्य से—किसी को छलने के लिए—अन्य को लक्ष्य कर अन्य व्यक्ति से कुछ कहता है।[3] स्पष्टत:, अन्योक्ति तथा अप्रस्तुतप्रशसा से गूढोक्ति का वैषम्य की अपेक्षा साम्य ही अधिक है। यदि सूक्ष्म भेद के आधार पर नवीन-नवीन अलङ्कारो की कल्पना के लोभ का सवरण किया जाय, तो गूढोक्ति के उदाहरण

---

१. निन्दाया निन्दया व्यक्तिर्व्याजनिन्देति गीयते।

—अप्पय्य दीक्षित, कुवलयानन्द, ७२

२. गूढोक्तिरन्योद्देश्यं चेद्यदन्यं प्रति कथ्यते।

—अप्पय्य दीक्षित, कुवलयानन्द, १५४

३. नेयमप्रस्तुतप्रशंसा। कार्यकारणादिव्यङ्ग्यत्वाभावात्।

—वही, वृत्ति, पृ० १७०

के रूप मे प्रस्तुत उक्ति का समावेश प्राचीन आचार्यो की अप्रस्तुतप्रशसा के क्षेत्र मे ही माना जा सकता है ।

विवृतोक्ति भी जयदेव की प्रथम कल्पना थी । इसमे गूढोक्ति की ही एक विशेष स्थिति की कल्पना की गयी है । गूढोक्ति मे वक्ता किसी गूढ अभिप्राय से अन्य को लक्ष्य कर अन्य के प्रति कुछ कहता है । यदि वक्ता के उस कथन के पीछे छिपे हुए उद्देश्य को कवि प्रकट कर देता है तो वहाँ विवृतोक्ति अलङ्कार होता है । इसमे एक तो गूढोक्ति की तरह वक्ता के अन्य के उद्देश्य से अन्य के प्रति कथन का निबन्धन होता है, दूसरे, कवि वक्ता के उस कथन के गूढ आशय का भी उद्घाटन कर देता है । अप्पय्य दीक्षित ने एक ही कथन की दो स्थितियो का उदाहरण उपरिलिखित दो अलङ्कारो के लिए प्रस्तुत किया है । परकीया के साथ रङ्गरभस मे लीन नायक का मित्र नायिका के पति को आता देख, उसे सूचित करने के उद्देश्य से वृषभ को सम्बोधित कर कहता है कि 'ऐ वृषभ ! क्षेत्र-रक्षक आ रहा है, अब तू दूर भाग जा ।' यह कथन गूढोक्ति का उदाहरण है । जब कवि यह स्पष्ट कर देता है कि नायक को सूचना देने के लिए वक्ता यह कह रहा है कि 'ऐ वृषभ ! दूसरे के क्षेत्र से भाग जाओ, तब यह कथन विवृतोक्ति का उदाहरण बन जाता है ।[1] अत. विवृतोक्ति को गूढोक्ति (अन्योक्ति या अप्रस्तुतप्रशसा) की ही एक स्थिति मानकर उसका विशिष्ट भेद माना जा सकता है ।

युक्ति के स्वरूप की कल्पना जयदेव ने प्राचीन आचार्यो की व्याजोक्ति के आधार पर की है । व्याजोक्ति मे किसी बहाने प्रकट हो गये वस्तु-रूप को छिपाने का वर्णन प्राचीन आचार्यो को अभीष्ट था । जयदेव तथा अप्पय्य दीक्षित ने व्याजोक्ति का क्षेत्र केवल आकार-गोपन तक सीमित कर दिया तथा आकार के अतिरिक्त अन्य वस्तु के स्वरूप को छल से छिपाने के वर्णन में युक्ति अलङ्कार का सद्भाव माना । इस प्रकार काम-जन्य लोमहर्ष आदि के प्रकट हो जाने पर 'शीतल वायु के स्पर्श' आदि का बहाना बनाकर उसे छिपाने के प्रयास मे तो वे व्याजोक्ति मानेगे; पर अन्य वस्तु-रूप को छिपाने के आयास का वर्णन उनके अनुसार युक्ति अलङ्कार होगा । नायिका अपने प्रिय का चित्र बना रही थी, किसी को आते देख उसने उस चित्र मे पुष्प-चाप बना दिया । अपने प्रिय के

---

१. विवृतोक्तिः श्लिष्टगुप्तं कविनाविष्कृत यदि ।
वृषापेहि परक्षेत्रादिति वक्ति ससूचनम् ।—कुवलयानन्द, १५५

स्वरूप को छिपाने के लिए काम का चित्र बनाने का बहाना युक्ति का उदाहरण हुआ ।[१] वस्तुत., युक्ति व्याजोक्ति की ही विशेष स्थिति है । भेद केवल यह है कि व्याजोक्ति मे बहाना वाणी से कहा जाता है, युक्ति मे चेष्टा, कार्य आदि से भी व्यक्त किया जा सकता है ।

पर्यायोक्ति या पर्यायोक्त

पर्याय अलङ्कार के विकास-क्रम के परीक्षण-क्रम मे हम यह देख चुके है कि पर्यायोक्ति तथा पर्याय सज्ञाओ का प्रयोग कुछ आचार्यों ने एक ही अलङ्कार के लिए किया था, पर धीरे-धीरे पर्याय तथा पर्यायोक्ति या पर्यायोक्त का अलग-अलग अस्तित्व मान लिया गया । दोनो के स्वरूप भी एक दूसरे से सर्वथा अलग हो गये । पर्याय क्रम का वाचक स्वीकृत हुआ और क्रम से एक का अनेक आश्रय मे सद्भाव अथवा अनेक का एक आश्रय मे सद्भाव दिखाना उसका स्वरूप माना गया । पर्यायोक्ति का सम्बन्ध उक्ति की विशेष भङ्गी से माना गया ।

भामह ने पर्यायोक्त को परिभाषित करते हुए कहा था कि जहाँ अन्य प्रकार से (कथन के सीधे ढग को छोडकर प्रकारान्तर से) अभिधान अर्थात् वस्तु का कथन हो, वहाँ पर्यायोक्त अलङ्कार होता है ।[२] वस्तु का अभिधा से कथन न होकर अन्य प्रकार से कथन, उनके अनुसार पर्याय है । दण्डी की पर्यायोक्त-धारणा भामह की धारणा से मिलती-जुलती ही है । उन्होंने कहा है कि अभीष्ट अर्थ को न कहकर साक्षात् उसी अर्थ की सिद्धि के लिए प्रकारान्तर से कथन पर्यायोक्त है ।[३] उद्भट ने भामह तथा दण्डी की पर्यायोक्त-धारणा को अधिक स्पष्टता के साथ परिभाषित किया । उनके अनुसार वाक्य-वृत्ति (योग्यता, आकाक्षा, सन्निधि आदि से वस्तुओ के ससर्ग-बोध की वृत्ति) तथा वाचक-वृत्ति (अर्थात् अभिधा शक्ति) के विना जहाँ अवगम व्यापार से अर्थात् व्यञ्जना-व्यापार से वस्तु का अभिधान किया जाय, उस प्रकारान्तर से कथन मे पर्यायोक्त अलङ्कार होता है ।[४]

---

१. युक्तिः परातिसन्धान क्रियया मर्मगुप्तये ।
त्वामालिखन्ती दृष्ट्वान्य धनुः पौष्प करेऽलिखत् ।—कुवलयानन्द, १५६

२. पर्यायोक्त यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते ।—भामह, काव्यालङ्कार ३,८

३. अर्थमिष्टमनाख्याय साक्षात् तस्यैव सिद्धये ।
यत् प्रकारान्तराख्यान पर्यायोक्त तदिष्यते ॥—दण्डी, काव्यादर्श, २,२९५

४. पर्यायोक्त यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते ।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्या शून्येनावगमात्मना ॥—काव्यालं० सारसग्रह ४,११

रुद्रट ने पर्याय के दो रूपो की कल्पना की। एक रूप तो पीछे चल कर पर्याय का रूप स्वीकृत हुआ तथा दूसरे रूप को परवर्ती आचार्यो ने पर्यायोक्त के रूप मे स्वीकार किया। रुद्रट के पर्याय का जो रूप परवर्ती आचार्यो के द्वारा पर्यायोक्त के रूप मे स्वीकृत हुआ, उसकी कल्पना भामह, दण्डी तथा उद्भट की पर्यायोक्त-धारणा के आधार पर की गयी है। रुद्रट की मान्यता है कि जो वस्तु विवक्षित वस्तु के प्रतिपादन मे समर्थ हो उसका कथन पर्याय अलङ्कार है, पर उस कथित या वाच्य वस्तु से प्रतिपाद्य वस्तु को असदृश तथा जन्यजनक-सम्बन्ध से रहित होना चाहिए।[१] समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशसा (रुद्रट की अन्योक्ति) आदि मे कथित तथा उससे प्रतीयमान अर्थ सदृश होते है, पर्याय या पर्यायोक्त मे जिस अर्थ का बोध कराना हो, उसके बोध कराने मे समर्थ, किन्तु उसके असदृश अर्थ का कथन होता है। भाव, सूक्ष्म आदि मे बोध कराने वाले अर्थ तथा बोधगम्य होने वाले अर्थ में जन्यजनक-भाव-सम्बन्ध रहता है, पर्याय मे कथित तथा प्रतीयमान अर्थ मे ऐसा सम्बन्ध नही रहता। विवक्षित अर्थ को अभिधा से न कहकर प्रकारान्तर से उसका अभिधान रुद्रट के अनुसार भी पर्याय-लक्षण का सार है।

मम्मट ने उद्भट की तरह वाच्य-वाचक के विना व्यञ्जना-व्यापार से वस्तु-प्रतिपादन पर्यायोक्त का लक्षण माना।[२] इसमे व्यङ्ग्य एवं वाच्य अर्थ अभिन्न होता है। वाच्य तथा व्यङ्ग्य अन्ततः एक ही अर्थ मे पर्यवसित होते है, भेद केवल उक्ति और प्रतीति के प्रकार मे रहता है। इस तथ्य को निर्विकल्पक तथा सविकल्पक ज्ञान के उदाहरण से स्पष्ट किया गया है। जिस प्रकार दोनो का विषय एक होने पर भी उनकी प्रतीति के प्रकार मे भेद होने से दोनो को भिन्न माना जाता है, उसी प्रकार यहाँ वाच्य एवं व्यङ्ग्य अर्थ के एक होने पर भी उसकी प्रतीति के प्रकार में वृत्ति-भेद के कारण भेद होता है। रुय्यक के अनुसार गम्य अर्थात् व्यङ्ग्य का विशेष भङ्गी से अभिधान (शब्दतः कथन) पर्यायोक्त है।[3] इसमे जो अर्थ गम्य होता है, उसी का अभिधान भी होता है। विश्वनाथ ने रुय्यक के पर्यायोक्त-लक्षण को ही स्वीकार किया

१. द्रष्टव्य—रुद्रट, काव्यालङ्कार ७,४२

२. पर्यायोक्तं विना वाच्यवाचकत्वेन यद्वचः।
—मम्मट, काव्यप्रकाश १०,१७५

३. गम्यस्यापि भङ्ग्यन्तेरणाभिधान पर्यायोक्तम्।
—रुय्यक, अलङ्कार-सूत्र ३६

है। जयदेव, अप्पय्य दीक्षित आदि ने रुय्यक की तरह गम्य अर्थ का भङ्ग्यन्तर से अभिधान पर्यायोक्त का लक्षण माना है।[१]

पण्डितराज जगन्नाथ ने भामह, दण्डी आदि की तरह विवक्षित अर्थ का भङ्ग्यन्तर से प्रतिपादन पर्यायोक्त का लक्षण माना है।[२] निष्कर्षत:, विवक्षित अर्थ का अभिधा से कथन न कर भङ्ग्यन्तर से अभिधान या व्यङ्ग्य अर्थ का अभिधा से प्रतिपादन पर्यायोक्त का लक्षण माना गया। अभिधा वृत्ति को छोड भङ्ग्यन्तर से कथन तथा व्यङ्ग्य के अभिधान की धारणा मिलती-जुलती ही है। भामह से लेकर जगन्नाथ तक प्राय: एक-सी ही मान्यता पर्यायोक्त के सम्बन्ध मे व्यक्त की गयी है।

प्रश्न यह है कि व्यङ्ग्य का अभिधान या शब्दत: कथन सम्भव कैसे होगा ? व्यङ्ग्य-अर्थ की प्रतीति तो वाच्य-अर्थ के बोध के बाद (वच्यार्थ के अतिरिक्त) होती है। जगन्नाथ ने इसके उत्तर मे कहा है कि एक ही अर्थ प्रकार-भेद से वाच्य भी हो सकता है और व्यङ्ग्य भी। पर्यायोक्त मे यह कथन की भङ्गी का वैशिष्ट्य है कि जो अर्थ व्यङ्ग्य हो, उसी का प्रकारान्तर से अभिधान कर दिया जाय। अत, पर्यायोक्त का लक्षण है अभिधा-व्यापार को छोड अवगम-व्यापार से अभीष्ट अर्थ का प्रतिपादन अथवा व्यङ्ग्य-अर्थ का अभिधान या शब्दत: कथन।

प्रस्तुताङ्कुर

प्रस्तुताङ्कुर अलङ्कार की कल्पना जयदेव के पूर्व नही हुई थी। जयदेव तथा उनके मतानुयायी अप्पय्य दीक्षित को छोड अन्य आचार्यों ने इस अलङ्कार का अस्तित्व स्वीकार भी नही किया है। इसके स्वरूप की कल्पना के बाद जगन्नाथ आदि आचार्यो ने अलङ्कार-निरूपण किया है; पर, उन्होने प्रस्तुताङ्कुर का निरूपण नही किया। अप्पय्य दीक्षित के अनुयायी हिन्दी के रीति-आचार्यो ने उन्ही के मतानुसार प्रस्तुताङ्कुर को परिभाषित किया है। फलत:, प्रस्तुताङ्कुर के स्वरूप मे एकरूपता ही रही है।

अप्पय्य दीक्षित ने प्रस्तुत से अन्य प्रस्तुत के गम्य होने मे प्रस्तुताङ्कुर अलङ्कार माना है।[3] पीछे इसी लक्षण का हिन्दी मे रूपान्तर होता रहा।

१. पर्यायोक्त तु गम्यस्य वचो भङ्ग्यन्तराश्रयम्।—कुवलयानन्द, ६८

२. विवक्षितस्यार्थस्य भङ्ग्यन्तरेण प्रतिपादन पर्यायोक्तम्।
—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर पृ० ६४९-५०

३. प्रस्तुतेन प्रस्तुतस्य द्योतने प्रस्तुताङ्कुर:।—अप्पय्य दी० कुवलयानन्द, ६७

प्रस्तुताङ्कुर की स्थिति अप्रस्तुतप्रशसा तथा समासोक्ति के बीच की है। अप्रस्तुतप्रशसा मे अप्रस्तुत के कथन से प्रस्तुत की प्रतीति होती है। समासोक्ति मे प्रस्तुत के वर्णन से अप्रस्तुत की व्यञ्जना होती है। प्रस्तुताङ्कुर मे प्रस्तुत के वर्णन से दूसरे प्रस्तुत की ही प्रतीति होती है। इसमे कथित तथा उससे गम्य, दोनो अर्थ प्रस्तुत ही होते है। स्पष्ट है कि इसकी प्रकृति अप्रस्तुतप्रशसा तथा समासोक्ति से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। एक अर्थ के वर्णन से अन्य अर्थ की प्रतीति, उक्त तीनो की प्रकृति है।

काव्य मे एक वर्णित वस्तु तथा उससे व्यञ्जित अन्य वस्तु मे से कौन प्रस्तुत है तथा कौन अप्रस्तुत, यह निर्णय भी आसान नही। काव्य मे कोई अर्थ न तो सार्वत्रिक रूप से प्रस्तुत कहा जा सकता है न अप्रस्तुत। यहाँ तक कि कवि-परम्परा मे जो वस्तुएँ अप्रस्तुत के रूप मे रूढ हो गयी है वे भी प्रस्तुत हो सकती है। कमल बहुधा आँख, हाथ, पाँव, मुख आदि प्रस्तुत वस्तुओ के वर्णन-क्रम मे अप्रस्तुत के रूप मे वर्णित होता है; पर जहाँ कमल के ही सौन्दर्य पर मुग्ध होकर कवि उसका वर्णन करने लगे, वहाँ वह कमल प्रस्तुत हो जायगा। कवि चाहे तो कमल के तरल सौन्दर्य की तुलना रमणी की सुन्दर आँखो से भी कर सकता है। ऐसी स्थिति मे आँख ही अप्रस्तुत हो जायगी। अतः, वस्तु के प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत होने का निर्णय प्रसङ्ग आदि को देखते हुए कवि की विवक्षा के अनुमान के आधार पर ही किया जा सकता है। अस्तु ! यदि शब्दतः वर्णित तथा उससे गम्यमान; दोनो अर्थ कवि-विवक्षित प्रस्तुत हो तो अप्पय्य दीक्षित आदि के अनुसार प्रस्तुताङ्कुर अलङ्कार होगा।

ललित

ललित अलङ्कार की कल्पना भी जयदेव के पूर्व नही हुई थी। इसकी रूप-कल्पना का आधार निदर्शना आदि अलङ्कार का स्वरूप रहा है। अप्पय्य दीक्षित के अनुसार जहाँ प्रस्तुत धर्मी का जो वृत्तान्त वर्णनीय हो, उसका वर्णन न कर कवि उसके प्रतिबिम्ब-रूप किसी अप्रस्तुत वृत्तान्त का वर्णन करे, वहाँ ललित अलङ्कार होता है।[1] अभिप्राय यह कि प्रस्तुत के प्रतिबिम्ब का वर्णन कर उस प्रस्तुत का बोध कराना ललित अलङ्कार है। यह निदर्शना से बहुत मिलता-जुलता अलङ्कार है।

---

१. वर्ण्ये स्याद्वर्ण्यवृत्तान्तप्रतिबिम्बस्य वर्णनम्। ललितम्...... ..॥
—अप्पय्य दीक्षित, कुवलयानन्द १२८

पण्डितराज जगन्नाथ ने ललित अलङ्कार का निरूपण करते हुए कुछ परिष्कृत रूप से उसे परिभाषित किया है। उनके अनुसार प्रकृत धर्मी के प्रकृत व्यवहार का उल्लेख न कर निरूप्यमाण अप्रकृत के व्यवहार से उसका सम्बन्ध निरूपित करना ललित है।[१] स्पष्टत, जगन्नाथ की ललित-धारणा अप्पय्य दीक्षित की धारणा से तत्त्वत. अभिन्न है। उन्होने अप्पय्य की परिभाषा मे शब्द-मात्र का सशोधन किया है। वे ललित के निदर्शना के साथ निकट सम्बन्ध के तथ्य से परिचित थे।[२] निष्कर्ष यह कि प्रस्तुत के प्रतिबिम्ब अर्थात् उसके समान व्यवहार वाले अन्य का वर्णन कर प्रस्तुत का बोध कराना ललित का लक्षण माना गया है।

रसवत् आदि

भामह के समय से ही रसवत् आदि अलङ्कारो का विवेचन होता रहा है। रस-सम्प्रदाय के आचार्यों ने भी रस आदि को काव्य की आत्मा मान कर रस आदि के गौण हो जाने के स्थल पर रसवदादि अलङ्कार का सद्भाव स्वीकार किया है। रसादि ध्वनि को काव्य की आत्मा मानने वालो ने रस के साथ भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि तथा भाव-शबलता को रसादि कहकर प्रतिपादित किया है। इस प्रकार रसादि से तात्पर्य रस, भाव, रस-भाव के आभास, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता आदि का माना जाता है। अलङ्कार के क्षेत्र मे भी रसवदादि अलङ्कार मे रसवत् के साथ भाव, रस एव भाव के आभास, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता पर आश्रित अलङ्कार परिगणित है। अनेक आचार्यों ने रसाश्रित अलङ्कार को रसवत्, भावाश्रित अलङ्कार को प्रेय, रसाभास तथा भावाभास पर अवलम्बित अलङ्कार को ऊर्जस्वी, रस तथा भाव के प्रशम (रस-भाव-शान्ति) पर आधृत अलङ्कार को समाहित माना है। प्रेय, ऊर्जस्वी तथा समाहित की धारणा भावादि से निरपेक्ष रूप मे भी विकसित हुई है, पर अनेक आचार्यो के द्वारा रसवदादि अलङ्कार के प्रसङ्ग मे उन अलङ्कारो का निरूपण होने के कारण हम रसवत् के साथ ही प्रेय, ऊर्जस्वी तथा समाहित के भी ऐतिहासिक विकास का अध्ययन करेगे।

---

१. प्रकृतधर्मिणि प्रकृतव्यवहारानुल्लेखेन निरूप्यमाणोऽप्रकृतव्यवहारसम्बन्धो ललितालङ्कारः। —जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ७९२

२. द्रष्टव्य—वही, पृ० ७९२-९३,

रसवत् अलङ्कार मे भामह ने शृङ्गार आदि रसो का स्पष्ट दर्शन अपेक्षित माना था।[1] अभिप्राय यह कि रसमय वाक्य को वे रसवत् अलङ्कार का उदाहरण मानेगे। दण्डी ने भी भामह के मत को स्वीकार कर रसपेशल वाक्य को रसवत् अलङ्कार माना।[2] उद्भट ने भामह के रसवत्-लक्षण को ही अधिक स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया। उन्होंने रसोत्पत्ति की प्रक्रिया का भी निरूपण रसवत् अलङ्कार के सन्दर्भ मे कर दिया है।[3] इस प्रकार भामह, दण्डी तथा उद्भट रसवत् शब्द की व्युत्पत्ति रस शब्द से मतुप् प्रत्यय के योग से मानते थे। उनके अनुसार रसवत् अलङ्कार का अर्थ था रसयुक्त या रसमय अलङ्कार।

जब रस या रसध्वनि की प्रतिष्ठा काव्य की आत्मा के रूप मे हुई, तब रस-मात्र को अलङ्कार मानने मे अनुपपत्ति जान पडी। काव्य का वह प्रधान तत्त्व अलङ्कार-विशेष के रूप मे सीमित नही किया जा सकता था। अतः, आनन्दवर्धन ने रसवत् अलङ्कार के क्षेत्र की व्यवस्था करते हुए कहा कि जहाँ किसी अन्य अर्थ की प्रधानता हो और रस उसका अङ्ग हो, वहाँ रसवत् अलङ्कार होता है।[4] अभिप्राय यह कि रस अप्रधान हो जाने पर अलङ्कार-मात्र में पर्यवसित हो जाता है और रसवत् अलङ्कार कहलाता है।

कुन्तक ने रसमय वाक्य मे रसवत् अलङ्कार मानने वाले मत का खण्डन किया। वे भामह आदि के रसवत् अलङ्कार को (रसमय कथन को) अलङ्कार नही मानते। ऐसे वाक्य उनके अनुसार अलङ्कार्य होते है, अलङ्कार नही। उनकी युक्ति है कि रस अलङ्कार्य है; अतः अलङ्कार उससे भिन्न होना चाहिए। यदि भामह आदि रस को ही अलङ्कार मानते थे तो उदाहरण मे रस से भिन्न कुछ अलङ्कार्य दिखाया जाना चाहिए था, जिसे रस अलङ्कृत करे, पर भामह, उद्भट आदि के रसवत्-उदाहरण मे रस से भिन्न कुछ और अलङ्कार्य नहीं दिखाई पडता। अतः, भामह आदि का रसवत्-लक्षण अमान्य है। रसपेशल या रससश्रय को भी अलङ्कार मानना उचित नही (जैसा कि

---

१. रसवद् दर्शितस्पष्टशृङ्गारादिरस यथा।—भामह, काव्यालङ्कार ३,६
२. ...... रसवद्रसपेशलम्॥—दण्डी, काव्यादर्श, २,२७५
३. द्रष्टव्य—उद्भट, काव्यालङ्कारसारसग्रह, ४,४-५
४. रसादिरूपव्यङ्ग्यस्य गुणीभावे रसवदलङ्कारविषयः ......।
—आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक, पृ० ४९७ उसके द्वितीय उद्योत की २७वी कारिका भी द्रष्टव्य

दण्डी आदि ने माना है। कुन्तक ने आनन्दवर्धन के रसवत्-लक्षण का भी खण्डन करने का प्रयास किया है। उनका तर्क 'रसवत् अलङ्कार' शब्द के व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ पर आधृत है। उनकी मान्यता है कि षष्ठी समास से रसवान का अलङ्कार रसवत् को मान सकते है। विशेपण या कर्मधारय समास से रसवत् अलङ्कार का अर्थ होता है रसयुक्त अलङ्कार। अत, रसवत् काव्य मे प्रयुक्त सभी अलङ्कार रसवत् अलङ्कार कहे जा सकते है। उन्होने रसवत् को सभी अलङ्कारो का प्राण माना है और उसके सम्बन्ध मे यह मान्यता प्रकट की है कि जो अलङ्कार रस-तत्त्व के विधान से रस के समान ही आह्लादकारी हो, वह रस के तुल्य अलङ्कार रसवत् होता है।[1] स्पष्ट है कि कुन्तक रसवत् अलङ्कार को विशिष्ट स्वरूप नही दे पाये। उनके मतानुसार किसी भी अलङ्कार को रसतुल्य आनन्ददायक मानकर रसवत् कहा जा सकता है। मम्मट ने रसवत्-नामक विशिष्ट अलङ्कार की सत्ता स्वीकार नही कर, ध्वनि-निरूपण के प्रसङ्ग मे, वस्तु तथा अलङ्कार की प्रधानता के स्थल मे वस्तु, ध्वनि तथा अलङ्कार-ध्वनि का सद्भाव स्वीकार किया है। कोई भी अलङ्कार प्रधान होकर ध्वनित हो सकता है। कुन्तक ऐसे ही सरस अलङ्कार को रसवत् मानते थे।

रुय्यक ने रस के निबन्धन मे रसवत् अलङ्कार माना है।[2] इस प्रकार वे भामह आदि की तरह सरस वाक्य मे रसवत् अलङ्कार का सद्भाव स्वीकार करते हैं। अलङ्कारवादी होने के कारण रस-जैसे तत्त्व को भी विशेष अलङ्कार के रूप मे स्वीकार कर लेना रुय्यक के लिए अस्वाभाविक नही था।

विश्वनाथ ने रस के गौण हो जाने मे रसवत् अलङ्कार माना।[3] उनकी धारणा आनन्दवर्धन की रसवत्-धारणा से अभिन्न है। अप्पय्य दीक्षित ने विश्वनाथ की ही तरह रस का अन्य वस्तु का अङ्ग हो जाना रसवत् का लक्षण माना है।[4] मम्मट की तरह जगन्नाथ ने रसवत् का अलङ्कारत्व ही

---

१. द्रष्टव्य—कुन्तक, वक्रोक्तिजीवित, पृ० ३३८-६५

२. रस··········निबन्धे रसवत्···· ···।—रुय्यक, अलङ्कार सूत्र, ८२

३. रसभावौ तदाभासौ भावस्य प्रशमस्तथा।
गुणीभूतत्वमायान्ति यदालङ्कृतयस्तदा ॥
रसवत् प्रेय ऊर्जस्वि समाहितमिति क्रमात् ॥
—विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, १०,१२४

४. द्रष्टव्य—अप्पय्य दीक्षित, कुवलयानन्द, पृ० १८३,८४

स्वीकार नही किया है। वे रसवत् को विशिष्ट अलङ्कार मानना आवश्यक नही समझते। जहाँ रस की प्रधानता होगी, वहाँ रसध्वनि होगी। जहाँ रस अप्रधान हो जायगा, वहाँ वस्तु या किसी भी अलङ्कार की ध्वनि हो सकती है।

अलङ्कारवादी आचार्यों ने रसमय वाक्य को रसवत् अलङ्कार मानकर रस को विशेष अलङ्कार मे सीमित कर दिया है। आनन्दवर्धन, विश्वनाथ आदि आचार्यो ने रस की अप्रधानता मे रसवत् अलङ्कार माना है। यही लक्षण अप्पय्य दीक्षित को भी मान्य है। रस-मात्र को अलङ्कार मानना उचित नही। अतः, भामह, दण्डी, उद्भट तथा रुय्यक की रसवत्-परिभाषाओ की अपेक्षा आनन्दवर्धन, विश्वनाथ तथा अप्पय्य दीक्षित की परिभाषाएँ ही ग्राह्य है। रस के गौण हो जाने पर रसवत् अलङ्कार होता है।

प्रेय

प्रेय अलङ्कार को परिभाषित नही कर भामह ने उसका केवल उदाहरण दिया था।[1] दण्डी ने प्रिय कथन मे प्रेय अलङ्कार माना।[2] भामह के प्रेय के उदाहरण मे भी प्रियोक्ति ही दिखलायी गयी थी। अतः, प्रिय उक्ति को भामह-सम्मत प्रेय-लक्षण माना जा सकता है।

उद्भट ने प्रेय का सम्बन्ध भाव (रति आदि स्थायी, सञ्चारी तथा अनुभाव आदि) मे जोड़ा।[3] भामह तथा दण्डी रस-निबन्धन में रसवत् अलङ्कार मान चुके थे। भाव आदि के निबन्धन में अलङ्कार के स्वरूप का स्पष्ट प्रतिपादन नही हुआ था। उद्भट ने भाव के निबन्धन में प्रेय अलङ्कार माना। आनन्दवर्धन के अनुसार भाव का गौण होना प्रेय है।[4] चाटूक्तियो मे राजा आदि विषयक रति की प्रधानता रहने से आनन्दवर्धन प्रेय नहीं मानते।

कुन्तक ने प्रियतर कथन-रूप प्रेय को अलङ्कार्य मानकर उसके अलङ्कारत्व का खण्डन किया है। रसवत् की तरह भाव-निबन्धन-रूप प्रेय को भी वे

---

१. द्रष्टव्य—भामह, काव्यालङ्कार, ३,५

२. प्रेयः प्रियतराख्यानम्……।—दण्डी, काव्यादर्श, २,२७५

३. रत्यादिकानां भावानामनुभावादिसूचने।
यत्काव्यं बध्यते सद्भिस्तत्प्रेयस्वदुदाहृतम्॥
—उद्भट, काव्यालङ्कारसारस० ४,२

४. द्रष्टव्य—आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक, २,२७

अलङ्कार नही मानते। मम्मट ने रसवत् की तरह प्रेय का भी स्वतन्त्र अलङ्कार के रूप मे अस्तित्व स्वीकार नही किया।

रुय्यक ने रस-निबन्धन मे रसवत् मानकर भाव-निबन्धन मे प्रेय अलङ्कार माना।[1] विश्वनाथ ने आनन्दवर्धन के मत का अनुसरण करते हुए भाव के गौण होने मे प्रेय अलङ्कार माना है।[2] प्रेय का यही लक्षण अप्पय्य दीक्षित को भी मान्य है। उन्होने कहा है कि इसे ही भाव (रुद्रट) अलङ्कार भी कहा जाता है।[3] निष्कर्षत, प्रेय के दो रूप सामने आते है—(क) प्रियतर कथन—यह चाटूक्ति भी हो सकती है तथा प्रियजन के प्रति हार्दिक उद्गार भी तथा (ख) भाव—देवता, गुरु आदि विषयक रति, जो भाव मे परिणत होती है तथा अन्य स्थायी, सञ्चारी आदि भाव—का अन्य अर्थ के प्रति गौण हो जाना।

ऊर्जस्वी

ऊर्जस्वी की भी भामह ने कोई परिभाषा नही दी थी। उन्होने उसके उदाहरण मे ओजस्वी वाणी का निबन्धन दिखाया था।[4] दण्डी ने ऐसे कथन मे, जिसमे अहङ्कार प्रकट हो, ऊर्जस्वी अलङ्कार माना।[5] उद्भट ने ऊर्जस्वी का सम्बन्ध अनौचित्य-प्रवर्तित रस-भाव से अर्थात् रसाभास एव भावाभास से जोडा। उनके अनुसार रस तथा भाव के आभास का निबन्धन ऊर्जस्वी का लक्षण है।[6]

ऊर्जस्वी अलङ्कार मे आनन्दवर्धन को रसाभास तथा भावाभास का अङ्ग हो जाना अभीष्ट है। अलङ्कारवादी रुय्यक ने उद्भट की तरह रसाभास तथा भावाभास के निबन्धन मे ऊर्जस्वी अलङ्कार माना है।[7] विश्वनाथ

---

१. '' 'भाव निबन्धे प्रेय ' ।—रुय्यक, अलङ्कार-सूत्र, ८२
२. द्रष्टव्य—विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, १०,१२४
३ द्रष्टव्य—अप्पय्य दीक्षित, कुवलयानन्द, पृ० १८४
४ द्रष्टव्य—भामह, काव्यालङ्कार, ३,७
५. ऊर्जस्वि रूढाहङ्कारम् ''।—दण्डी, काव्यादर्श, २,२७५
६. अनौचित्यप्रवृत्ताना कामक्रोधादिकारणात्।
भावाना च रसाना च बन्ध ऊर्जस्वि कथ्यते ॥
—उद्भट, काव्यालङ्कारसारस० ४,६
७. द्रष्टव्य—रुय्यक, अलङ्कार-सू० ८२

तथा अप्पय्य दीक्षित को आनन्दवर्धन का ही मत मान्य है।[१] रस, भाव, रसाभास आदि के स्वतन्त्र काव्य-तत्त्व के रूप मे स्वीकृत हो जाने पर रसादि के गौण होने पर ही अलङ्कारत्व माना जा सकता है। अत, रसाभास-निबन्धन तथा भावाभास-निबन्धन को ऊर्जस्वी अलङ्कार नही मानकर रसाभास तथा भावाभास की अप्रधानता मे ही ऊर्जस्वी अलङ्कार माना जाना चाहिए। इस प्रकार ऊर्जस्वी के दो रूप बच रहते है—(१) रूढाहङ्कारत्व अर्थात् अहङ्कार-पूर्ण उक्ति तथा (२) रसाभास तथा भावाभास का अन्य के प्रति अङ्ग हो जाना। रूढाहङ्कारत्व को कुछ आचार्यों ने काव्य का गुण (और्जित्य) भी माना है।

समाहित

भामह ने अपने अपरिभाषित समाहित का जो उदाहरण दिया है, उसमे अभीष्ट-सिद्धि के सहायक की अनायास उपलब्धि दिखलायी गयी है।[२] दण्डी ने इसी आशय को परिभाषित करते हुए कहा है कि जहाँ किसी कार्य को आरम्भ करने वाले को दैवयोग से उस कार्य के साधन मे सहायक आ जाते है, वहाँ समाहित अलङ्कार होता है।[३] वाग्भट ने समाहित के सम्बन्ध मे दण्डी के इसी मत को स्वीकार किया है।[४] जयदेव ने दण्डी-सम्मत इस समाहित को समाधि अलङ्कार कहा है। अप्पय्य दीक्षित ने समाधि तथा समाहित को पृथक्-पृथक् अलङ्कार स्वीकार किया है। उन्होने भामह, दण्डी तथा वाग्भट आदि के समाहित-लक्षण का—कार्यारम्भ करने वाले को सहायक की प्राप्ति से कार्य की सुगमता होने का—उपयोग समाधि की परिभाषा मे किया है तथा उद्भट एव उनके मत को कुछ परिष्कार के साथ स्वीकार करने वाले आनन्दवर्धन आदि के मतानुसार समाहित को परिभाषित किया है।

उद्भट तथा रुय्यक ने रस-भाव के प्रशम या शान्ति के निबन्धन मे समाहित अलङ्कार माना है।[५] आनन्दवर्धन ने रस-भाव के प्रशम के गौण होने

---

१. द्रष्टव्य—विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, १०, १२४ तथा—
—अप्पय्य दीक्षित, कुवलयानन्द, पृ० १८५

२. द्रष्टव्य—भामह काव्यालङ्कार, ३ १०

३. द्रष्टव्य—दण्डी, काव्यादर्श, २,२९८

४. द्रष्टव्य—वाग्भटालङ्कार, ४,११०

५. द्रष्टव्य—उद्भट, काव्यालङ्कारसारसं० ४,१४ तथा—
रुय्यक, अलं० सू० ८२

चाहिए कि वर्णित अर्थ पाठक की कल्पना-दृष्टि के सामने प्रत्यक्ष हो उठे। जैसे योगी काल की सीमा तोडकर भूत और भावी अर्थ का साक्षात्कार कर लेते है, उसी प्रकार क्रान्तदर्शी कवि भी भूत और भावी अर्थ का साक्षात्कार कर पाठक की कल्पना-दृष्टि के सामने उसे प्रत्यक्ष कर देते है।[१] भामह ने भाविकत्व या वर्णित भूत-भावी अर्थ के प्रत्यक्षायमाणत्व के तीन साधको का उल्लेख किया है। वे है—(१) अर्थ का विचित्र, उदात्त तथा अद्भुत होना, (२) कथा में स्वविनीतता या सुबोधता का होना तथा (३) शब्द का अनाकुल होना।[२] स्वविनीतता का अर्थ 'जयमङ्गला' मे सुबोधता माना गया है।[३] शब्द की अनाकुलता का अर्थ शब्द की स्पष्टार्थता है।[४] इस प्रकार अर्थ की उदात्तता, अद्भुतता, कथा की सुबोधता तथा शब्द की अनाकुलता से भूत और भावी अर्थ का प्रत्यक्षवत् वर्णन भाविक माना गया है। भामह ने यद्यपि भाविक को प्रबन्ध का गुण कहा है तथापि इस तथ्य को अस्वीकार नही किया जा सकता कि वे भाविक को अलङ्कार मानते थे। अलङ्कार-विवेचन के सन्दर्भ मे भाविक का स्वरूप-निरूपण इसका प्रमाण है। यही नही, उन्होंने स्वयं कहा है कि भाविक को काव्य का अलङ्कार माना जाता है।[५]

आचार्य दण्डी ने भी भाविक को प्रबन्धगत गुण ही माना है, पर भाविक के स्वरूप के सम्बन्ध मे उनकी धारणा भामह की धारणा से भिन्न है। दण्डी ने भाविक का सम्बन्ध कवि के भाव अर्थात् अभिप्राय से जोडकर सम्पूर्ण काव्य में कवि के अभिप्राय की स्पष्ट अभिव्यञ्जना के गुण को भाविक कहा

---

१. अविद्याबीजविध्वंसादयमार्षेण चक्षुषा।
कालौ भूतभविष्यन्तौ वर्त्तमानमवीविशत्॥—अनर्घराघव, २,३४

२. चित्रोदात्ताद्भुतार्थत्वं कथायाः स्वविनीतता (स्वभिनीतता?)।
शब्दानाकुलता चेति तस्य हेतुं प्रचक्षते॥
—भामह, काव्यालङ्कार, ३,५३

३. स्वविनीतता सुबोधता शब्दानाकुलता चेत्येतदुभय कथायामेव मन्त्रनिर्णयाख्याया द्रष्टव्यम्। —भट्टिकाव्य, जयमङ्गला, पृ० ३०७

४. तत्र वाचामनाकुलता व्यस्तसम्बन्धरहितलोकप्रसिद्धशब्दोपनिबन्धनात् झगित्यर्थप्रतीतिकारिता।
—उद्भट, काव्यालङ्कारसारसंग्रह, प्रतिहारेन्दुराज-कृत टीका, पृ० ७९

५. भाविकत्वं च निजगुरलङ्कारं सुमेधसः।
—भामह, काव्यालङ्कार, ३,४

है। रचना की समाप्ति तक कवि का भाव-विशेष व्यञ्जित होता रहता है। कथावस्तु आदि सभी काव्याङ्ग कवि के उस विशेष अभिप्राय को व्यक्त करने मे सहायक होते है। इसीलिए सम्पूर्ण रचना के गुण-भूत भाविक के लिए दण्डी ने यह अपेक्षित माना है कि रचना मे आने वाली आधिकारिक तथा प्रासङ्गिक कथा-वस्तुएँ अङ्गाङ्गिभाव से एक दूसरे का उपकार करती हो, व्यर्थ विशेषणो का प्रयोग न हो, विषयो का अस्थान-वर्णन नही हो अर्थात् प्रकृत मे उपयोगी वस्तुओ का ही वर्णन हो, अर्थप्रतिपादन-समर्थ पद-विन्यास से गम्भीर अर्थ की भी सरल अभिव्यक्ति होती हो। ये सब कवि के अभिप्राय को प्रेषणीय बनाते है; अतः कवि के भावायत्त है।[१] दण्डी ने भी भामह की पद्धति पर भाविक का स्वरूप-निरूपण अलङ्कार-विवेचन के प्रसङ्ग मे ही किया है। भाव की प्रेषणीयता के इस गुण को अलङ्कार-विशेष तो नही माना जा सकता, पर सम्पूर्ण रचना के इस धर्म का सभी अलङ्कारो के साथ सङ्कर अवश्य स्वीकार किया जा सकता है। इस सन्दर्भ मे साभिप्राय विशेषण के ही प्रयोग को वाञ्छनीय मानकर दण्डी ने एक नवीन अलङ्कार की सम्भावना को जन्म दिया था, जो पीछे चलकर परिकर नामक स्वतन्त्र अलङ्कार बना। गम्भीर भाव की सरल व्यञ्जना मे सहायक उक्ति-क्रम पर बल देकर दण्डी ने सभी उक्तिभङ्गियो का समावेश इसमे कर लिया है। नाटक की कथा-वस्तु की योजना मे आधिकारिक तथा अवान्तर कथा-वस्तुओ के परस्पर उपकार्योपकारक-भाव की आवश्यकता पर विचार किया गया था। प्रबन्ध काव्य आदि मे भी कथावस्तुओ की सङ्गति आवश्यक होती है। इन सब को समन्वित रूप से दण्डी ने प्रबन्ध-गुण कहकर उसे भाविक व्यपदेश दिया। स्पष्टत, दण्डी की यह भाविक धारणा भूत और भावी अर्थ के प्रत्यक्षायमाणत्व की धारणा से भिन्न है। भोज ने दण्डी की तरह भाविक का सम्बन्ध भाव या अभिप्राय से माना है, पर कवि के अपने अभिप्राय-वर्णन के साथ अन्य की

---

१. तद् भाविकमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम्।
भावः कवेरभिप्रायः काव्येष्वासिद्धि संस्थितः॥
परस्परोपकारित्व सर्वेषा वस्तुपर्वणाम्।
विशेषणाना व्यर्थानामक्रियास्थानवर्णना॥
उक्तिक्रमबलाद् व्यक्तिर्गम्भीरस्यापि वस्तुनः।
भावायत्तमिदं सर्वमिति तद्भाविक विदुः॥
—दण्डी, काव्यादर्श २,३६४-६६,

भावना के वर्णन को और यहाँ तक कि अन्यापदेश (अन्य के उद्देश्य से अन्य के प्रति कथन) को भी भाविक का एक भेद मान लिया है।[1]

परवर्ती काल मे भामह का भाविक-लक्षण ही स्वीकृत हुआ। उनकी धारणा मे थोडा परिष्कार यह किया गया कि वाक्यालङ्कार के वर्ग में भाविक की गणना की गयी। सम्पूर्ण रचना या रचना के एकदेश के गुण की जगह भाविक को वाक्यगत अलङ्कार के रूप मे मान्यता मिली। इस प्रकार यदि एक ही पद मे कवि सद्य स्नाता के धुले हुए अञ्जन (भूत अर्थ) की पूर्व स्थिति की कल्पना करता है और स्नानोपरान्त विभिन्न आभूषणो के साथ उसके स्वरूप की कल्पना करता हुआ अपनी प्रतिभा से उस नायिका के भूत और भावी स्वरूप का बिम्ब पाठक की मानस-दृष्टि के सामने खडा कर देता है तो उसमे भाविक अलङ्कार माना जायगा।

उद्भट ने भाविकत्व की जगह भाविक शब्द का प्रयोग किया। उन्होने भाविक का लक्षण तो भामह से ही लिया, पर उन्होने उसे प्रबन्ध-गुण नही कहा। अन्य शब्दार्थगत अलङ्कारो की ही तरह उन्होने भाविक का भी स्वरूप-निरूपण अलङ्कार के ही सन्दर्भ मे किया। भाविक के साधक तत्त्वो के सम्बन्ध मे भी भामह की धारणा को उन्होने थोडे परिष्कार के साथ स्वीकार किया। अर्थ का चित्र, उदात्त तथा अद्भुत होना भामह को अभिप्रेत था, पर उद्भट ने उसकी जगह केवल अर्थ का 'अत्यद्भुत' होना आवश्यक माना। कथा की सुबोधता को भामह भाविक का एक साधक मानते थे, पर उद्भट ने उसका उल्लेख नही किया।[2] सम्भव है कि प्रबन्ध के धर्म से मुक्त कर भाविक को वाक्यालङ्कार के रूप मे प्रतिष्ठित करने के उद्देश्य से ही उद्भट ने कथा की स्वविनीतता विशेषण को उसके लक्षण से बहिष्कृत कर दिया हो। वाक्यालङ्कार के रूप मे भाविक को कथा की सुबोधता की अपेक्षा नही। शब्द की अनाकुलता की धारणा को उद्भट ने भी स्वीकार किया है।

---

१. स्वाभिप्रायस्य कथन यदि वाप्यन्यभावना।
अन्यापदेशो वा यस्तु त्रिविध भाविक विदु.॥
—भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण, ४, ८६

२. प्रत्यक्षा इव यत्रार्था दृश्यन्ते भूतभाविन।
अत्यद्भुताः स्यात्तद्वाचामनाकुल्येन भाविकम्॥
—उद्भट, काव्यालङ्कारसारसग्रह, ६, १२

उद्भट के टीकाकार प्रतिहारेन्दुराज ने वाणी की अनाकुलता का अर्थ 'झगित्यर्थप्रतीतिकारिता' अर्थात् तुरत अर्थबोध करा देने की शक्ति मान कर प्रसाद तथा अर्थव्यक्ति गुणो को भी भाविक मे समाविष्ट कर लिया है। उन्होने भामह तथा दण्डी की भाविक-धारणा की व्याख्या के क्रम मे रस के साथ भाविक का सम्बन्ध निरूपित किया है। अर्थ की तुरत प्रतीति रसानुभूति मे सहायक होती है। इस गुण के कारण भाविक कवि के अभिप्राय को भावक के हृदय मे प्रतिबिम्बित कराने में समर्थ होता है।[१]

मम्मट, रुय्यक आदि परवर्ती आचार्यों ने भामह, उद्भट आदि की तरह भूत और भावी अर्थ का प्रत्यक्षायमाणत्व भाविक का लक्षण माना है; पर उन्होंने अर्थ में चित्र, उदात्त तथा अद्भुत तत्त्व, कथा की सुबोधता का तत्त्व तथा शब्द मे अनाकुलता या झट अर्थ प्रकट कर देने का तत्त्व भाविक-लक्षण मे उल्लिखित नही किया।[२] मम्मट ने दण्डी की तरह भाविक की व्युत्पत्ति भाव या कवि के अभिप्राय से ही मानी है।[3] स्पष्टत , मम्मट ने भामह तथा दण्डी के मत को समन्वयात्मक दृष्टि से देखा है, फिर भी उन्होने भामह के भाविक-लक्षण को ही स्वीकार किया है—यह असन्दिग्ध है। अप्पय्य दीक्षित आदि ने भी यही धारणा स्वीकार की है।[४] विश्वनाथ ने अद्भुतार्थता का भी उल्लेख किया है।[५]

स्पष्ट है कि भामह के समय से ही भाविक का लक्षण प्राय. समान ही रहा है। भूत तथा भावी अर्थ का कवि-कौशल से ऐसा वर्णन कि वह प्रत्यक्ष-सा हो उठे; भाविक का यह लक्षण दण्डी को छोड प्रायः सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है। फिर भी भाविक-धारणा मे विकास का एक क्रम रहा है।

---

१. द्रष्टव्य—काव्याल० सार स०, प्रतिहारेन्दुकृत टीका पृ० ७९-८०

२. मम्मट, काव्यप्र०, १०, १७३। तथा—रुय्यक, अल० सर्वस्व सू० ७९

३. भावः कवेरभिप्रायोऽत्रास्तीति भाविकम्।
—मम्मट, काव्यप्रकाश, वृत्ति, पृ० २६८

४. भाविकं भूतभाव्यर्थसाक्षात्कारस्य वर्णनम्।
—अप्पय्य दीक्षित, कुवलयानन्द, १६१

५. अद्भुतस्य पदार्थस्य भूतस्याथ भविष्यतः।
यत् प्रत्यक्षायमाणत्व तद्भाविकमुदाहृतम्॥
—विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, १०, १२२

भामह तथा दण्डी ने उसे प्रबन्ध-गुण कहा तथा उसके लक्षण मे अनेक विशेषणों का प्रयोग किया। उद्भट ने उससे एक विशेषण 'कथा की सुबोधता' को हटाया और उमका वाक्यालङ्कार के रूप मे निरूपण किया। मम्मट ने अर्थ की अद्भुतता तथा शब्द की अनाकुलता आदि विशेषणो को भी हटाकर केवल भूत-भावी अर्थ का प्रत्यक्षायमाणत्व भाविक का लक्षण माना। यही परवर्ती आचार्यों को भी मान्य हुआ।

उदात्त तथा अवसर

उदात्त अलङ्कार का सम्बन्ध समृद्धि-युक्त वस्तु के वर्णन तथा चारित्रिक औदात्त्य के वर्णन से माना गया है। वस्तु तथा चरित्र के औदात्त्य-वर्णन से सम्बद्ध होने के कारण उदात्त नाम अन्वर्थ है।

भामह ने उदात्त के उदाहरण मे राम का चारित्रिक औदात्त्य दिखाया था। उन्होने उदात्त के सम्बन्ध मे अन्य मत का निर्देश करते हुए कहा था कि नाना प्रकार के रत्न आदि से युक्त वस्तु का वर्णन—वस्तुगत समृद्धि का वर्णन भी—उदात्त माना जाता है।[1] इस तरह चरित्रगत तथा वस्तुगत वैभव के वर्णन के आधार पर उदात्त के दो रूप मान्य हुए।

दण्डी ने उदात्त के उक्त दोनो रूपो को स्वीकार कर एक को आशय के महत्त्व का वर्णन तथा दूसरे को विभूति (ऐश्वर्य) का वर्णन कहा।[2] उद्भट की उदात्त-धारणा भामह तथा दण्डी की धारणा से अभिन्न है। उद्भट ने यह स्पष्ट किया है कि चरित्रगत औदात्त्य का वर्णन अलङ्कार तभी माना जायगा जब वह उपलक्षण के रूप मे प्रस्तुत किया जाय।[3] महाकाव्य आदि में जहाँ प्रधान रूप से चरित्र का क्रमबद्ध वर्णन किया जाता है, वहाँ सम्पूर्ण काव्य मे वर्णित चरित्र को उदात्त अलङ्कार नही कहा जा सकता। ऐसे स्थल में उद्भट के अनुसार रसवत् अलङ्कार होगा, उदात्त नही। यह मान्यता तो उचित ही है कि प्रधानतया काव्य मे किये जाने वाले चरित्र के अङ्कन को उदात्त अलङ्कार

---

१. द्रष्टव्य—भामह, काव्याल० ३,११-१२

२. आशयस्य विभूतेर्वा यन्महत्त्वमनुत्तमम्।
उदात्तं नाम तं प्राहुरलङ्कारं मनीषिणः॥—दण्डी, काव्यादर्श २,३००

३. उदात्तमृद्धिमद्वस्तु चरितं च महात्मनाम्।
उपलक्षणतां प्राप्तं नेतिवृत्तत्वमागतम्॥
—उद्भट, काव्यालङ्कारसारसग्रह ४,१७

नही माना जा सकता। जहाँ अवान्तर-रूप से किसी उदात्त चरित्र को उपलक्षण रूप मे प्रस्तुत किया जाय, वही उदात्त माना जाना चाहिए; पर उद्भट की यह मान्यता कि प्रधानतया क्रमबद्ध चरित्र-वर्णन मे रसवत् अलङ्कार होगा उचित नही। हम देख चुके हैं कि उद्भट काव्य में रस-परिपाक को रसवत् अलङ्कार मानते थे। अत, उनके अनुसार उदात्त चरित्र-वर्णन से निष्पन्न रस में रसवत् अलङ्कार होगा। हम उनकी रसवत् अलङ्कार-धारणा के क्रम मे उनकी इस मान्यता की असमीचीनता प्रमाणित कर चुके है। अस्तु, उद्भट की उदात्त-धारणा का निष्कर्ष यह है कि (१) जहाँ समृद्धियुक्त वस्तु का वर्णन हो तथा (२) जहा महान व्यक्ति का चरित्र उपलक्षण (अङ्ग) के रूप मे प्रस्तुत किया जाय, वहाँ उदात्त अलङ्कार होता है।

रुद्रट ने उदात्त अलङ्कार का निरूपण नही कर उससे मिलते-जुलते स्वभाव वाले अवसर अलङ्कार का निरूपण किया है। उनके अनुसार किसी वस्तु की उत्कृष्टता के प्रतिपादन के लिए किसी उत्कृष्ट अथवा सरस (शृङ्गारादि रस-युक्त) वस्तु को उसका उपलक्षण बनाना अवसर अलङ्कार है। एक उदाहरण मे वन की उत्कृष्टता के प्रतिपादन के लिए यह कहा गया है कि यह वही वन है, जहा उदात्तचेता राम ने निवास किया था। राम का उदात्त चरित्र उपलक्षण वन कर उस वन की उत्कृष्टता प्रतिपादित करता है। इसी प्रकार शिप्रा मे सुन्दरी मालव तरुणियो के स्नान के सरस प्रसङ्ग को उपलक्षण बना कर शिप्रा का उत्कर्ष प्रतिपादित करने का उदाहरण दिया गया है।[१] स्पष्ट है कि रुद्रट को भी अवसर में चरित्र तथा वस्तु की उदात्तता एव सरसता का वर्णन अभीष्ट है, पर वे उस वर्णन से अन्य का उत्कर्ष-प्रतिपादन आवश्यक मानते है। यह कहा जा सकता है कि रुद्रट का अवसर उद्भट के उदात्त का ही कुछ परिवर्त्तित स्वरूप है। चारित्रिक औदात्य के उपलक्षण बनाये जाने की चर्चा उदात्त-लक्षण मे उद्भट ने भी की थी।

कुन्तक ने भामह, उद्भट आदि के उदात्त के उक्त दोनो रूपो—समृद्धिमद्-वस्तु-वर्णन तथा उदात्त चरित्र-वर्णन—को अलङ्कार्य मानकर उदात्त के अलङ्कारत्व का खण्डन किया है।[२]

मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ आदि ने उद्भट की उदात्त-धारणा को ही

---

१ द्रष्टव्य—रुद्रट, काव्याल० ७,१०३-५

२. द्रष्टव्य—कुन्तक, वक्रोक्तिजीवित, पृ० ३७८-८०

स्वीकार किया है। वे वस्तु की समृद्धि का वर्णन तथा महान व्यक्ति के चरित्र का उपलक्षण या अन्य वस्तु (प्रस्तुत वस्तु) का अङ्ग होना, ये दो रूप उदात्त के मानते हैं।[१] जयदेव तथा अप्पय्य दीक्षित ने भी इसी मत को स्वीकार किया है।[२] निष्कर्ष यह कि भामह से लेकर अप्पय्य दीक्षित तक उदात्त के दो रूप समान रूप से मान्य रहे है। हिन्दी-रीति-आचार्यो ने भी उदात्त के उन्ही दो रूपो को स्वीकार किया है। रुद्रट के अवसर को भी उदात्त के दो रूपो का ही किञ्चित् परिष्कृत स्वरूप माना जा सकता है। अत , अवसर भी उदात्त का ही अङ्ग है। उदात्त के सर्वमान्य दो रूप निम्नलिखित हैं—

(१) समृद्धिमय वस्तु का वर्णन तथा (२) महान चरित्र का उपलक्षण रूप में अर्थात् अन्य वस्तु के अङ्ग के रूप मे वर्णन।

काव्यलिङ्ग

काव्यलिङ्ग कार्य-कारण-सम्बन्ध पर आश्रित अलङ्कार है। सर्वप्रथम उद्भट ने काव्यलिङ्ग अलङ्कार के अस्तित्व की कल्पना कर उसके स्वरूप का निरूपण किया। दर्शन मे हेतु या लिङ्ग के स्वरूप का निरूपण हो चुका था; पर काव्यालङ्कार के रूप मे उसकी स्वीकृति तथा स्वरूप-मीमासा उद्भट के 'काव्यालङ्कारसारसग्रह' मे ही प्रथम बार की गयी। उद्भट ने एक वस्तु से अन्य के स्मरण या अनुभव उत्पन्न कराये जाने मे काव्यलिङ्ग अलङ्कार माना था।[3] काव्यलिङ्ग का अर्थ है काव्य-हेतु। इस अलङ्कार मे एक वस्तु (वर्णित वस्तु) अन्य वस्तु की स्मृति या अनुभूति का हेतु बनायी जाती है। अत काव्यलिङ्ग इसका अन्वर्थ अभिधान है। स्मृति पूर्वानुभूत वस्तु की ही होती है। अनुभव से तात्पर्य अननुभूतपूर्व वस्तु के प्रथम ज्ञान का है। अत, उद्भट की काव्यलिङ्ग-परिभाषा का सार यह है कि जहाँ एक वस्तु का वर्णन सुनकर या पढकर श्रोता या पाठक के मन मे अन्य वस्तु का ज्ञान—यदि वह वस्तु पूर्वानुभूत हो तो उसका स्मृति-रूप ज्ञान और यदि अननुभूतपूर्व हो तो

---

१. द्रष्टव्य—मम्मट, काव्यप्र० १०,१७६-७७, रुय्यक, अल० सू० ८०-८१ तथा विश्वनाथ, साहित्यदर्पण १०,१२३

२. द्रष्टव्य—अप्पय्यदीक्षित, कुवलयानन्द, १६२

३. श्रुतमेक यदन्यत्र स्मृतेरनुभवस्य वा।
हेतुता प्रतिपद्येत काव्यलिङ्ग तदुच्यते॥
—उद्भट, काव्यालङ्कारसारस० ६,१४

उसका अनुभव-रूप ज्ञान—उत्पन्न हो (अर्थात् वह वर्णित वस्तु अन्य वस्तु की स्मृति या अनुभव का हेतु हो), वहाँ काव्यलिङ्ग अलङ्कार होता है। यह काव्यलिङ्ग दर्शन मे निरूपित व्याप्ति आदि पर अवलम्बित लिङ्ग से विलक्षण होता है। ध्यातव्य है कि उद्भट रस, भाव आदि के अनुभव मे रसवत्, प्रेय आदि अलङ्कार मानते थे। इसलिए अन्य वस्तु के अनुभव से उद्भट का तात्पर्य यह रस, भाव आदि के अनुभव का नही माना जाना चाहिए। रस भावादि को छोड (जो रसवदादि का विषय है) अन्य वस्तु के अनुभव का हेतु बनने पर ही उद्भट काव्यलिङ्ग मानेगे।

मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ आदि आचार्यो ने काव्यलिङ्ग के लक्षण में सामान्य रूप से यह धारणा प्रकट की है कि जहाँ हेतु का (किसी अर्थ के कारण का) सम्पूर्ण वाक्यार्थ से अथवा पद के अर्थ से बोध कराया जाय, वहाँ काव्यलिङ्ग अलङ्कार होता है।[१] तात्पर्य यह कि विशेष अर्थ के प्रति जहाँ वाक्य का अर्थ अथवा पद का अर्थ हेतु बनता हो, वहाँ मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ आदि के अनुसार काव्यलिङ्ग अलङ्कार होगा। मम्मट ने सम्भवत· वाक्यार्थों या पदार्थों के कार्य-कारण सम्बन्ध मे काव्यलिङ्ग अलङ्कार मानने के कारण ही अर्थान्तरन्यास अलङ्कार का केवल सामान्य-विशेष-भेद ही स्वीकार किया है। रुय्यक ने अर्थान्तरन्यास में कार्य-कारण के समर्थ्य-समर्थक रूप को भी स्वीकार किया और उससे काव्यलिङ्ग के स्वरूप को पृथक् करने के लिए उन्होने यह युक्ति दी कि काव्यलिङ्ग मे वाक्यार्थ-रीति से निबध्यमान अर्थ का हेतु-रूप में उपन्यास होता है, उपनिबद्ध अर्थ को हेतु नही बनाया जाता, पर अर्थान्तरन्यास में उपनिबद्ध अर्थ का हेतु रूप मे उपन्यास होता है।[२] अभिप्राय यह कि रुय्यक के मतानुसार काव्यलिङ्ग मे हेतु का उपन्यास हेतु रूप मे ही वाक्यार्थ मे होता है। रुय्यक के टीकाकार जयरथ की मान्यता है कि जहाँ दो अर्थों में कार्यकारण-सम्बन्ध हो, वहाँ काव्यलिङ्ग ही माना जाना चाहिए, अर्थान्तरन्यास नही।[३]

---

१. काव्यलिङ्ग हेतोर्वाक्यपदार्थता।—मम्मट, काव्यप्रकाश १०,१७४
हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गम्।—रुय्यक, अलङ्कारसूत्र ५७ तथा
हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्ग निगद्यते।
—विश्वनाथ, साहित्यदर्पण १०, ८१

२. द्रष्टव्य—रुय्यक, अलङ्कारसर्वस्व, पृ० १७६-७७

३. द्रष्टव्य—अलङ्कार सूत्र पर विमर्शिनी, पृ० १३६

श्री विद्या चक्रवर्ती ने यह मत प्रकट किया है कि काव्यलिङ्ग मे कार्य-कारण का समर्थन शब्दतः होता है, जबकि अर्थान्तरन्यास मे अर्थतः। यही दोनों का भेद है।[1] अस्तु ! अर्थान्तरन्यास में भी कारण-कार्य-भाव का उपन्यास स्वीकार्य रहा है और उससे स्वतन्त्र काव्यलिङ्ग मे वाक्यार्थ या पदार्थ का अन्य अर्थ के हेतु रूप मे उपन्यास भी स्वीकृत हुआ है। मम्मट के अनुसार हेतु और काव्यलिङ्ग अभिन्न हैं। वस्तुतः हेतु तथा काव्यलिङ्ग की पृथक्-पृथक् कल्पना आवश्यक नही। दोनो मे अर्थ के हेतु का उल्लेख ही अपेक्षित माना गया है।[2]

अप्पय्य दीक्षित ने सामान्य-विशेष-भाव में अर्थान्तरन्यास मानकर काव्यलिङ्ग का क्षेत्र समग्रतः कार्य-कारण भाव से समर्थन तक विस्तृत कर दिया। स्पष्टतः, वे मम्मट की काव्यलिङ्ग-धारणा से सहमत हैं। उनके अनुसार वाक्यार्थ को या पदार्थ को हेतु बना कर समर्थनीय अर्थ का समर्थन काव्यलिङ्ग का लक्षण है।[3] जगन्नाथ ने प्रकृतार्थ के उपपादक-रूप में सामान्य-विशेषभाव को छोड शेष अर्थ का निबन्धन काव्यलिङ्ग का लक्षण मानकर मम्मट आदि के मत का ही समर्थन किया है।[4] निष्कर्षतः, मान्य आचार्यों के द्वारा स्वीकृत काव्यलिङ्ग-लक्षण है :—सम्पूर्ण वाक्यार्थ को अथवा पदार्थ को हेतु बनाकर किसी अर्थ का उपपादन अर्थात् किसी अर्थ के प्रति सम्पूर्ण वाक्यार्थ या पदार्थ का हेतु-रूप मे उपन्यास काव्यलिङ्ग अलङ्कार है।

प्रमाणालङ्कार

अनुमान अलङ्कार के स्वरूप का विकास-क्रम हम देख चुके हैं। उस सन्दर्भ में हम इस तथ्य पर भी विचार कर चुके है कि प्रमा के साधक तत्त्वों का जिस रूप मे प्रतिपादन दर्शन-शास्त्र मे हुआ था, उसी रूप मे उसकी अवतारणा

---

१. अर्थान्तरन्यासे हि अर्थात् प्रकृतसमर्थनम्। इह (काव्यलिङ्गे) तु शब्दत इति विभाग।—सजीवनी पृ० १६६

२. द्रष्टव्य—मम्मट, काव्यप्रकाश, पृ० २६६

३ समर्थनीयस्यार्थस्य काव्यलिङ्गं समर्थनम्।
—अप्पय्य दीक्षित, कुवलयानन्द १२१

४. अनुमितिकरणत्वेन सामान्यविशेषभावाभ्यां चानालिङ्गित प्रकृतार्थोपपादकत्वेन विवक्षितोऽर्थः काव्यलिङ्गम्।
—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ७३६

काव्यालङ्कार के क्षेत्र मे भी की गयी। ॰र्शन के विभिन्न सम्प्रदायो मे प्रमाण की सख्या के सम्बन्ध मे अलग-अलग मान्यताएँ रही हैं। उन मान्यताओ में छह प्रमाण (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द या आप्तवचन, अर्थापत्ति तथा अभाव) की मान्यता अधिक लोकप्रिय हुई और उसी के आधार पर काव्य के छह प्रमाणालङ्कारो की कल्पना हुई। शास्त्रीय प्रमाण से काव्य के प्रमाण या प्रमाणालङ्कार का व्यावर्त्तक है—काव्योक्तिमात्र मे अनिवार्यत॰ रहने वाला सौन्दर्य-तत्त्व। दूसरे शब्दो मे, शुष्क तर्क पर अवलम्बित तत्तत् प्रमाण जब काव्य की उक्तियो में रमणीय रूप मे अवतरित होते है तो अपने-अपने स्वीकृत नाम से ही काव्य के अलङ्कार के रूप मे परिगणित होने लगते है।

छह प्रमाणो मे से अनुमान का अलङ्कार के रूप मे विशिष्ट स्थान रहा है। उसका अलङ्कारत्व रुद्रट तथा उनके परवर्ती प्राय॰ सभी समर्थ समीक्षको के द्वारा स्वीकृत हुआ, जबकि प्रत्यक्ष, उपमान आदि को अलङ्कार के रूप मे भोज, अप्पय्य दीक्षित जैसे कुछ आचार्यों ने ही स्वीकार किया है। कारण स्पष्ट है। अनुमान की प्रक्रिया की काव्यात्मक अभिव्यञ्जना में प्रत्यक्ष आदि प्रमाण के उल्लेख की अपेक्षा अधिक चारुता रहती है। उपमान को विशिष्ट अलङ्कार नही मानने पर भी आचार्यों ने सादृश्य-निरूपण के सन्दर्भ मे उपमान का महत्त्व स्वीकार किया ही है। अस्तु।

भोज ने छह प्रमाणो को अलङ्कार के रूप मे स्वीकार कर उनका सभेद विवेचन किया है। प्रमाणो का कोई विशिष्ट लक्षण न देकर भोज ने दर्शन के तत्तत् प्रमाण-लक्षण को ही स्वीकार किया है।[१] अप्पय्य दीक्षित ने भोज के द्वारा निरूपित छह प्रमाणालङ्कारो का निरूपण तो किया ही, आप्तवचन के अतिरिक्त श्रुति, स्मृति आदि प्रमाणालङ्कारो की भी स्वत त्र सत्ता की कल्पना उन्होने कर ली।[२] श्रुति, स्मृति आदि को आप्तवचन प्रमाण या शब्द-प्रमाण से स्वतन्त्र मान लेने पर आप्तवचन बच ही क्या रहता है? श्रुति, स्मृति आदि को स्वतन्त्र अलङ्कार मानने में कोई युक्ति नही है। इन अलङ्कारो की कल्पना अलङ्कारो की सख्या बढाने के मोह-मात्र को सूचित करती है। कवि जहाँ किसी उक्ति की पुष्टि के लिए श्रुति, स्मृति आदि की उक्ति का सहारा लेता है, वहाँ अलङ्कार-विशेष की सत्ता मानने में ही दो मत हो सकते हैं,

---

१. द्रष्टव्य—भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ० ३२५-३६

२. द्रष्टव्य—अप्पय्य दीक्षित, कुवलयानन्द, पृ० १८७-९०

शब्द प्रमाण के विभिन्न भेदो को अलग-अलग अलङ्कार के रूप मे गिनने की व्यर्थता तो अनुभवसिद्ध ही है।

निष्कर्ष यह कि छह प्रमाण को काव्य के अलङ्कार मानने मे आचार्यों में मतैक्य नही है। भोज, अप्पय्य दीक्षित आदि जिन आचार्यो ने प्रमाणो को अलङ्कार माना है, उन्होने दर्शन की तत्तत् प्रमाण-विषयक धारणा को ही स्वीकार किया है। अत उनके स्वरूप मे एकरूपता ही रही है। अनुमान को अलङ्कार के रूप मे विशेष महत्त्व मिला है। अत. उसके विकास-क्रम का अध्ययन हमने पृथक् किया है। दर्शन में प्रतिपादित तथा अलङ्कारशास्त्र में कुछ आचार्यो के द्वारा अलङ्कार के रूप मे स्वीकृत प्रत्यक्ष, उपमान, आप्तवचन अर्थापत्ति तथा अभाव के स्वरूप से भारतीय पाठको का इतना घना परिचय है कि उनके स्वरूप की परिभाषा प्रस्तुत करना अनावश्यक जान पडता है।

विकस्वर

विकस्वर का स्वरूप सामान्यविशेष-भाव की एक विशेष स्थिति के आधार पर कल्पित है। जयदेव के पूर्व विकस्वर अलङ्कार के अस्तित्व की कल्पना नही की गयी थी। अर्थान्तरन्यास अलङ्कार मे सामान्यविशेष-सम्बन्ध का प्रतिपादन हुआ था। जयदेव, अप्पय्य दीक्षित आदि ने सामान्य कथन के समर्थन के लिए विशेष का तथा विशेष के समर्थन के लिए सामान्य का उपन्यास अर्थान्तरन्यास का स्वरूप माना और सामान्यविशेष-भाव की एक विशेष स्थिति की कल्पना करते हुए कहा कि जहाँ विशेष अर्थ को प्रस्तुत कर उसके समर्थन के लिए सामान्य अर्थ का उपन्यास किया जाय और पुन· उस उपन्यस्त सामान्य के के समर्थन के लिए किसी विशेष अर्थ का उपन्यास किया जाय, वहाँ विकस्वर अलङ्कार होता है।[1] पण्डितराज जगन्नाथ ने विकस्वर को स्वतन्त्र अलङ्कार नही माना है। विशेष का सामान्य से समर्थन दिखाकर अप्पय्य दीक्षित ने एकत्र उपमा-रीति से तथा अपरत्र अर्थान्तरन्यास-रीति से उस समर्थक सामान्य का पुन. विशेष से समर्थन विकस्वर के उदाहरणो मे दिखाया था। पण्डितराज का मत है कि विशेष-सामान्य-भाव तो अर्थान्तरन्यास ही है और पुनः यदि उपमा आदि की रीति से समर्थक विशेष का प्रस्तुतीकरण होता है तो वहाँ अलङ्कारान्तर के साथ अर्थान्तरन्यास की ससृष्टि ही मानी मानी जानी चाहिए,

---

१. यस्मिन्विशेषसामान्यविशेषा· स विकस्वरः।
—अप्पय्य दीक्षित, कुवलयानन्द, १२४

स्वतन्त्र अलङ्कार की सत्ता नही। अलङ्कारो के योग से यदि नवीन-नवीन अलङ्कारो की कल्पना की जाने लगे तो अनन्त अलङ्कार हो जायेगे।[१] अस्तु ! स्वरूपविकास की दृष्टि से विकस्वर मे परिवर्तन की कोई स्थिति नही आयी है। उसका एक ही रूप कल्पित हुआ—'विशेष का सामान्य से समर्थन तथा पुन किसी विशेष से उस सामान्य का समर्थन।'

अर्थापत्ति

प्रमाणालङ्कारो के स्वरूप-विकास के परीक्षण-क्रम मे हम अर्थापत्ति की धारणा पर भी विचार कर चुके है। ध्यातव्य है कि प्रत्यक्ष, शब्द आदि प्रमाणो की अपेक्षा अर्थापत्ति को अधिक महत्त्व प्राप्त हुआ है। अनुमान को अलङ्कार मानने वाले आचार्यो की सख्या किसी भी अन्य प्रमाण को अलङ्कार मानने वाले आचार्यो से अधिक है, पर अलङ्कार के रूप मे अनुमान के बाद अर्थापत्ति को ही महत्त्व प्राप्त है। उसके स्वरूप के सम्बन्ध मे आचार्यो मे मतैक्य रहा है। दर्शन मे प्रतिपादित अर्थापत्ति का स्वरूप ही अलङ्कार के रूप मे स्वीकृत हुआ है। रुय्यक, विश्वनाथ, अप्पय्य दीक्षित आदि ने 'दण्डापूप न्याय' से अर्थ की सिद्धि मे अर्थापत्ति अलङ्कार माना है।[२] दण्डापूप न्याय का तात्पर्य यह है कि चूहे के द्वारा दण्ड के हरण का कथन होने से दण्ड मे लगे अपूप (पूआ) का हरण स्वत प्रमाणित हो जाता है। इसी प्रकार एक अर्थ का कथन जहाँ अन्य अर्थ को सिद्ध या प्रमाणित कर दे, वहाँ अर्थापत्ति अलङ्कार माना जायगा। पण्डितराज जगन्नाथ ने दण्डापूप-न्याय का उल्लेख नही कर अर्थापत्ति अलङ्कार में उसी आशय को परिभाषित किया है। उनका कथन है कि किसी अर्थ के कथन से तुल्यन्याय से अन्य अर्थ की प्राप्ति अर्थापत्ति है।[3] स्पष्ट है कि दर्शन की अर्थापत्ति-विषयक मान्यता को ही स्वीकार कर आचार्यों ने उसी नाम से काव्यालङ्कार की कल्पना की है। स्वभावतः ही अर्थापत्ति के स्वरूप मे एकरूपता ही रही है। एक अर्थ से अन्य अर्थ का साधन—दण्डापूप-न्याय या तुल्यन्याय से एक के कथन से अन्य अर्थ की सिद्धि—अर्थापत्ति अलङ्कार है।

---

१. द्रष्टव्य—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ७५२-५३

२. दण्डापूपिकयार्थान्तरापतनमर्थापत्तिः।—रुय्यक, अलङ्कार सूत्र, ६३
दण्डापूपिकयान्यार्थागमोऽर्थापत्तिरिष्यते।
—विश्वनाथ, साहित्यदर्पण पृ० १०,७६०

३. केनचिदर्थेन तुल्यन्यायत्वादर्थान्तरस्यापत्तिरर्थापत्ति।
—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ७६९

विकल्प

रुय्यक ने विकल्प की कल्पना अलङ्कार के रूप मे की। दो विरोधी विचार जब एक साथ समान बल के साथ मन मे उठते है तो उस मन.स्थिति को विकल्प की स्थिति कहते है। रुय्यक की विकल्प अलङ्कार-धारणा ऐसी ही मनोदशा—विकल्प की मनोदशा—पर आधृत है। इस अलङ्कार की परिभाषा मे रुय्यक ने कहा है कि समान बल वाले विरोधी अर्थो की (विचारो की) योजना में विकल्प अलङ्कार होता है।[1] अभिप्राय यह कि समान प्रमाण से युक्त होने के कारण तुल्यबल वाले दो पदार्थो का एक ही समय एकत्र सयोजन जिनमे से एक का चयन करना हो, विकल्प अलङ्कार है। रुय्यक ने औपम्यगर्भ होने में विकल्प की चारुता मानी है। उन्होने विकल्प को समुच्चय का प्रतिपक्षी कहा है ।

विश्वनाथ ने रुय्यक की विकल्प-धारणा को स्वीकार करते हुए उसमे कवि-चातुरी का उल्लेख किया है। इस प्रकार उनके अनुसार जहाँ कवि तुल्यबल वाले विरोधी पदार्थो का चातुरीपूर्ण निबन्धन करता हो, वहाँ विकल्प अलङ्कार होगा।[2]

अप्पय्य दीक्षित ने भी रुय्यक, विश्वनाथ आदि की विकल्प-धारणा को ही स्वीकार किया है। उन्होने विकल्प की परिभाषा मे कवि-चातुरी आदि का उल्लेख आवश्यक नही समझ कर केवल तुल्यबल वाले पदार्थो के विरोध में विकल्प अलङ्कार माना है।[3]

पण्डितराज जगन्नाथ ने भी विकल्प-विषयक प्राचीन मान्यता को ही स्वीकार किया, किन्तु उसकी परिभाषा मे थोडा परिष्कार किया। उनके अनुसार तुल्यबल वाले पदार्थो की एक ही समय एकत्र प्राप्ति तो सम्भव नही, पर विरोधी पदार्थो की पाक्षिकी प्राप्ति सम्भव है। अतः उन्होने विकल्प की परिभाषा मे कहा कि तुल्यबल वाले पदार्थो की पाक्षिकी प्राप्ति विकल्प है।[4] रुय्यक की तरह

---

१. तुल्यवलविरोधो विकल्पः।—रुय्यक, अलकारसूत्र, ६४

२. विकल्पस्तुल्यबलयोर्विरोधश्चातुरीयुत ।
—विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, १०, १०६

३. विरोधे तुल्यबलयोर्विकल्पालकृतिर्मता ।
—अप्पय्य दीक्षित, कुवलयानन्द, ११४

४. विरुद्धयो पाक्षिकी प्राप्तिर्विकल्पः ।
—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ७७३

उन्होने भी विकल्प को समुच्चय का प्रतिपक्षी या विपरीतधर्मा कहा और उसका सौन्दर्य औपम्यगर्भ होने मे माना।

निष्कर्ष यह कि ऐसी स्थिति की कल्पना, जिसमे समान बल वाले दो पदार्थों के एक साथ एकत्र प्राप्त होने पर एक पक्ष के ग्रहण का निर्णय करना हो, विकल्प का उदाहरण मानी जायगी। दो विरोधी पक्षो मे एक का बल अधिक तथा दूसरे का बल कम होने पर पक्ष-ग्रहण के निर्णय में विकल्प की स्थिति ही नही आयेगी। समान बल वाले पदार्थों में से एक के चयन मे मन अनिर्णय की स्थिति में पडता है, उसमें विकल्प की स्थिति आती है। व्यक्ति के सामने दो पदार्थ रहते है, दोनो मे समान आकर्षण या विकर्षण रहता है तथा दोनो में से एक पक्ष के ग्रहण का विकल्प उसके सामने रहता है। ऐसी ही स्थिति की कल्पना मे विकल्प अलङ्कार की सत्ता मानी गयी है। विकास की दृष्टि से विकल्प के स्वरूप में एकरूपता रही है।

असम्भव

असम्भव अलङ्कार के स्वतन्त्र अस्तित्व की कल्पना जयदेव के पूर्व नही हुई थी। जयदेव, अप्पय्य दीक्षित आदि ने इसके अस्तित्व को स्वीकार कर 'अर्थ निष्पत्ति का असम्भाव्यत्व-वर्णन' इसका लक्षण माना।[1] जगन्नाथ आदि आचार्यों ने असम्भव का अलङ्कारत्व स्वीकार नही किया है। कारण यह है कि असम्भव का स्वरूप विरोधाभास से इतना मिलता-जुलता है कि विरोधाभास मे ही असम्भव का अन्तर्भाव सम्भव है। 'कुवलयानन्द' के टीकाकार ने टिप्पणी में इस तथ्य का निर्देश किया है कि असम्भव का दिया हुआ उदाहरण विरोधाभास का भी उदाहरण है। अत', असम्भव का विरोधाभास से स्वतन्त्र अस्तित्व मानना कुछ लोग उचित नही समझते।[2] अस्तु, एक आचार्य के द्वारा कल्पित होने तथा उनके कुछ अनुयायियो के द्वारा उसी रूप मे स्वीकृत होने के कारण असम्भव का एक ही रूप मान्य रहा—'अर्थ निष्पत्ति के असम्भव होने का वर्णन।'

---

१ असम्भवोऽर्थनिष्पत्तेरसम्भाव्यत्ववर्णनम्।
—अप्पय्य दीक्षित, कुवलयानन्द, ८४

२ नेदमलकारान्तरम्, किन्तु विरोधाभास., 'अय वारामेको निलय' इत्यत्रोदाहृतपद्ये पानक्रियाया अगस्त्येन कर्त्रा समुद्रेण कर्मणा च द्रव्येण विरोध , अगस्त्यमुनेर्नाम मनुजविशेषस्य समुद्रपानक्रियाऽसभवात्; सोऽय विरोधो हि मुनेस्तपःप्रभावातिरेकेण परास्त इति विरोधाभास एवेत्यन्ये।—कुवलयानन्द, टिप्पणी, पृ० १०८

सम्भावना

सम्भावना अलङ्कार के स्वतन्त्र अस्तित्व की कल्पना पहली बार जयदेव के समय मे हुई। अप्पय्य दीक्षित ने जयदेव की सम्भावना-विषयक मान्यता को स्वीकार किया। इन आचार्यो ने यह धारणा प्रकट की कि जहाँ 'यदि ऐसा हो' की उक्ति होती है, वहाँ सम्भावना अलङ्कार होता है। 'यदि ऐसा हो' इस प्रकार की ऊहा अन्य अर्थ की सिद्धि के लिए की जाती है। अत., सम्भावना अलङ्कार का यह लक्षण माना गया कि जहाँ अन्य अर्थ की सिद्धि के लिए यह ऊहा की जाती हो कि 'यदि ऐसा होता तो यह होना सम्भव था,' वहाँ सम्भावना अलङ्कार होता है।[1] जयदेव तथा अप्पय्य दीक्षित के पूर्ववर्ती मम्मट आदि आचार्यो ने 'यद्यर्थ' की उक्ति को—'यदि ऐसा हो तो यह हो सकता है' की उक्ति की कल्पना को—अतिशयोक्ति का एक भेद माना था। अतिशयोक्ति के उस भेद को जयदेव, अप्पय्य दीक्षित आदि ने एक स्वतन्त्र अलङ्कार मान लिया और उसकी प्रकृति के अनुरूप उसे सम्भावना अभिधान दिया। पण्डितराज जगन्नाथ आदि परवर्ती आचार्यो ने भी सम्भावना का स्वतन्त्र अस्तित्व नही माना है। सम्भावना के उदाहरण को पण्डितराज अतिशयोक्ति का ही उदाहरण मानते है। अस्तु, अतिशयोक्ति के एक भेद के रूप मे कल्पित स्वरूप ही जयदेव आदि के द्वारा सम्भावना संज्ञा से स्वतन्त्र अलङ्कार मान लिया गया। उसका एक-सा ही रूप रहा—अन्य अर्थ की सिद्धि के लिए 'यदि ऐसा हो' की उक्ति की कल्पना।

मिथ्याध्यवसिति

मिथ्याध्यवसिति अलङ्कार की भी प्रथम कल्पना जयदेव के समय ही हुई। जयदेव के मतानुयायी अप्प य दीक्षित ने भी मिथ्याध्यवसिति का सोदाहरण लक्षण-निरूपण किया। इसके स्वरूप के सम्बन्ध में कहा गया है कि जहाँ किसी अर्थ का मिथ्यात्व या असम्भाव्यत्व सिद्ध करने के लिए अन्य मिथ्या या असम्भव अर्थ की कल्पना की जाती है, वहाँ मिथ्याध्यवसिति अलङ्कार होता है।[2] अप्पय्य दीक्षित ने इसका जो उदाहरण दिया है इमका आशय इस प्रकार

---

१. सम्भावना यदीत्थं स्यादित्यूहोऽन्यस्य सिद्धये।
—अप्पय्य दीक्षित, कुवलयानन्द, १२६

२. किंचिन्मिथ्यात्वसिद्ध्यर्थं मिथ्यार्थान्तरकल्पनम्।
मिथ्याध्यवसिति :........ ....॥—वही, १२७

है—'आकाश-कुसुम की माला धारण कर वह वाराङ्गना को वश मे कर रहा है।' इसमे वारवनिता को वश मे करने के असम्भाव्यत्व की सिद्धि के लिए अन्य मिथ्या अर्थ—आकाश-कुसुम की माला धारण करने के अर्थ—की कल्पना की गयी है। अत, यहाँ मिथ्याध्यवसिति की सत्ता मानी गयी है। परवर्ती आचार्यों ने मिथ्याध्यवसिति का स्वतन्त्र अलङ्कार के रूप मे अस्तित्व स्वीकार नही किया है। सम्भव है, वे असम्बन्ध मे सम्बन्ध-रूप अतिशयोक्ति से अलग मिथ्याध्यवसिति के अस्तित्व की कल्पना आवश्यक नही मानते हों। अप्पय्य दीक्षित ने अतिशयोक्ति के उक्त भेद से 'किञ्चित् मिथ्यात्व की सिद्धि के लिए मिथ्या अर्थान्तर की कल्पना' मे कुछ अलग विच्छित्ति मानी है। अस्तु ! विकास की दृष्टि से मिथ्याध्यवसिति के स्वरूप मे एकरूपता ही रही है।

समाधि

समाहित अलङ्कार के स्वरूप के विकास-क्रम का अध्ययन करने के क्रम मे हम देख चुके है कि उसके सम्बन्ध मे दो प्रकार की धारणाएँ व्यक्त हुई थी और पीछे चलकर उन दो प्रकार की धारणाओ के आधार पर दो अलङ्कारो की कल्पना सम्भव हुई। समाहित का एक रूप, जो रसभाव की शान्ति के साथ सम्बद्ध माना गया; वह तो परवर्ती काल मे भी समाहित सज्ञा से ही स्वीकृत हुआ; पर भामह, दण्डी आदि ने कारणान्तर की अनायास उपलब्धि से आरब्ध कार्य के सौकर्य की जो धारणा समाहित मे व्यक्त की थी, वह समाहित से स्वतन्त्र समाधि के नाम से स्वीकृत हुई। इस प्रकार अप्पय्य दीक्षित आदि की समाधि भामह तथा दण्डी के समाहित से अभिन्न है, पर उद्भट के रस-भाव-प्रशम रूप समाहित से भिन्न है। समाधि का लक्षण इस प्रकार दिया गया है 'कारणान्तर के योग से प्रारब्ध कार्य का सुकर होना समाधि है।'[१] जगन्नाथ को भी समाधि का यही स्वरूप मान्य है।[२] इस प्रकार विकास-क्रम की दृष्टि से भामह के 'काव्यालङ्कार' मे ही समाधि-धारणा का आरम्भ हुआ। दण्डी ने उस धारणा को परिभाषित तथा स्वीकृत किया। भामह एव दण्डी ने उसे समाहित ही कहा था।[3] उद्भट के समय से समाहित के सम्बन्ध मे भामह,

१. समाधिः कार्यसौकर्य कारणान्तरसन्निधे ।

—अप्पय्य दीक्षित, कुवलयानन्द, ११८

२. एककारणजन्यस्य कार्यस्याकस्मिककारणान्तरसमवधानाहितसौकर्य समाधिः।—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ७८०

३. द्रष्टव्य—भामह, काव्यालङ्कार, ३,१० तथा दण्डी, काव्यादर्श, २,२९८

दण्डी आदि की धारणा से भिन्न धारणा चल पडी। अब समाहित के दो रूप हो गये—भामह, दण्डी आदि के द्वारा स्वीकृत रूप तथा उद्भट आदि के द्वारा कल्पित रूप। पीछे चलकर जयदेव, अप्पय्य दीक्षित, जगन्नाथ आदि ने भामह, दण्डी आदि के समाहित को—कारणान्तर के योग से कार्य के सौकर्य-वर्णन-रूप को—समाधि के नाम से तथा उद्भट आदि के समाहित को—रस-भाव के प्रशम रूप को—समाहित के नाम से स्वीकार किया। समाधि को अभिधान तो दो मिले—समाहित तथा समाधि, पर उसका रूप एक-सा ही कल्पित है। उसका सर्वसम्मत रूप है—'अन्य कारण की अनायास उपलब्धि से आरब्ध कार्य के सुकर होने का वर्णन।'

प्रौढोक्ति

प्रौढोक्ति अलङ्कार की कल्पना जयदेव के पूर्व नही हुई थी। जयदेव तथा अप्पय्य दीक्षित ने प्रौढोक्ति को परिभाषित करते हुए कहा है कि जो वस्तुतः किसी अर्थ के उत्कर्ष का हेतु न हो, उसे उस अर्थ के उत्कर्ष-हेतु के रूप में कल्पित करना प्रौढोक्ति है।[1] पण्डितराज जगन्नाथ ने कुछ स्वतन्त्र रूप से प्रौढोक्ति की परिभाषा दी है। उनका कहना है कि किसी वस्तु मे किसी धर्म के अतिशय के प्रतिपादन के उद्देश्य से उस धर्म वाले प्रसिद्ध पदार्थ के साथ उस (वर्ण्य) वस्तु का ससर्ग दिखाना प्रौढोक्ति अलङ्कार है।[2]

जयदेव तथा अप्पय्य दीक्षित ने प्रौढोक्ति के जिस स्वरूप की कल्पना की है, वह अतिशयोक्ति का ही एक रूप—असम्बन्ध मे सम्बन्ध प्रकल्पन—माना जा सकता है। जगन्नाथ के द्वारा कल्पित प्रौढोक्ति का स्वरूप अपना स्वतन्त्र सौन्दर्य रखता है। किसी के गुणातिशय का निरूपण करने के लिए अन्य वस्तुओ के साथ, जिनमे वैसे गुण प्रसिद्ध हों, उसका ससर्ग दिखाना कवि-परम्परा मे प्रसिद्ध है। महाभारत मे भीष्म कर्ण की भर्त्सना करते हुए उसे अधर्मी प्रमाणित करने के लिए कुमारी-पुत्र बताते है। कुमारी-पुत्र का कुमारी माता के ससर्ग से अधर्मी होना स्वाभाविक ही है। चन्द्रमा को अमृत के साथ समुद्र से उत्पन्न होने के कारण अमृतमय कहकर अमृत-ससर्ग से उसकी

---

१. प्रौढोक्तिरुत्कर्षाहेतौ तद्धेतुत्वप्रकल्पनम्।
—अप्पय्य दीक्षित, कुवलयानन्द, १२५

२. कस्मिंश्चिदर्थे किंचिद्धर्मकृतातिशयप्रतिपिपादयिषया प्रसिद्धतद्धर्मवत्ता-संसर्गस्योद्भावनं प्रौढोक्ति।—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ७८८

मधुरता प्रमाणित की जाती है। जगन्नाथ के मतानुसार ऐसे स्थल मे प्रौढोक्ति मानी जानी चाहिए। निष्कर्षतः, प्रौढोक्ति के दो रूप निरूपित हुए :—

(क) जो किसी वस्तु के गुणोत्कर्ष का हेतु न हो उसे उसके उत्कर्ष का हेतु बताना तथा—

(ख) किसी के गुणोत्कर्ष-प्रतिपादन के लिए वैसे गुण वाले प्रसिद्ध पदार्थो के साथ उसक[illegible] ंसर्ग-वर्णन। प्रथम रूप को अतिशयोक्ति में अन्तर्भुक्त माना जा सकता है। [illegible] रूप ही उसे स्वतन्त्र अस्तित्व प्रदान करता है।

प्रहर्षण

जयदेव तथा अप्पय्य दीक्षित के द्वारा प्रहर्षण का स्वतन्त्र अलङ्कार के रूप मे निरूपण किया गया। प्रहर्षण के तीन रूप कल्पित हुए। जयदेव तथा अप्पय्य दीक्षित ने प्रहर्षण के तीनो रूपो को अलग-अलग परिभाषित किया। उनके अनुसार, विना प्रयत्न के ही उद्दिष्ट फल की प्राप्ति प्रहर्षण का एक रूप; वाञ्छित अर्थ से अधिक की सिद्धि उसका दूसरा रूप तथा फल-प्राप्ति के लिए किये जाने वाले यत्न से बीच मे ही, सम्पूर्ण यत्न की अपेक्षा के विना ही, साक्षात् फल का लाभ उसका तीसरा रूप है।[1]

पण्डितराज जगन्नाथ को प्रहर्षण के उक्त तीनो रूप मान्य है; पर उन्होने तीनो को पृथक्-पृथक् परिभाषित नही कर प्रहर्षण की एक व्यापक परिभाषा दी और उन तीनो रूपो को प्रहर्षण के तत्तद् भेद स्वीकार किये। उनके अनुसार, उद्देश्य-सिद्धि के यत्न के विना भी उद्दिष्ट अर्थ की साक्षात् प्राप्ति प्रहर्षण का सामान्य लक्षण है। इस प्रहर्षण के उक्त तीन रूप सम्भव हैं। तीनो रूपो में यह लक्षण सामान्य रूप से घटित होता है। प्रयत्न के विना अर्थ-लाभ तो इस लक्षण में कहा ही गया है; उद्दिष्ट से अधिक अर्थ का लाभ भी अधिकार्थ लाभ के लिए यत्न के विना ही होता है। अतः इस रूप का भी समावेश उस सामान्य प्रहर्षण-लक्षण मे हो जाता है। यत्न के बीच ही अर्थ-लाभ भी यत्न की अपेक्षा—पूर्ण यत्न की अपेक्षा—नही रखता; अतः इस

---

१. उत्कण्ठितार्थससिद्धिर्विना यत्न प्रहर्षणम्।
वाञ्छितादधिकार्थस्य ससिद्धिश्च प्रहर्षणम्। तथा—
यत्नादुपायसिद्ध्यर्थात्साक्षाल्लाभः फलस्य च।
—अप्पय्य दीक्षित, कुवलयानन्द, १२९, १३०, १३१,

रूप में भी उस लक्षण की व्याप्ति है।[१] निष्कर्षतः, जगन्नाथ की यह प्रहर्षण-परिभाषा ही समीचीन है। उद्देश्य-सिद्धि के लिए अपेक्षित यत्न के विना भी अभीष्ट अर्थ का साक्षात् लाभ प्रहर्षण का सामान्य लक्षण है। इसके तीन रूप है—

(१) विना यत्न के अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति,
२) वाञ्छित अर्थ से अधिक की प्राप्ति तथा
(३) फल-प्राप्ति के यत्न के बीच ही फल का साक्षात् लाभ।

विषादन

विषादन की भी कल्पना जयदेव के समय ही हुई। जयदेव तथा अप्पय्य दीक्षित ने अभीष्ट अर्थ के विरुद्ध अर्थ की प्राप्ति मे विषादन अलङ्कार माना था।[२] पण्डितराज जगन्नाथ ने भी विषादन का यही स्वरूप स्वीकार किया है।[3] अभीष्ट अर्थ के विरुद्ध अर्थ की प्राप्ति विषाद का हेतु होती है। इसलिए विषादन इस अलङ्कार की प्रकृति के अनुकूल सज्ञा है। विषादन के स्वरूप में विकास की कोई स्थिति नही आयी है।

'कुवलयानन्द' की टिप्पणी में इस तथ्य का सङ्केत दिया गया है कि विषादन को स्वतन्त्र अलङ्कार नही मानकर कुछ आचार्य उसे काव्यलिङ्ग में ही अन्तर्भुक्त मानते हैं। हमने इसके औचित्य पर अपरत्र विचार किया है।[४]

उल्लास

उल्लास अलङ्कार भी जयदेव तथा अप्पय्य दीक्षित की कल्पना है। एक के गुण तथा दोष से दूसरे के गुण-दोष के होने का वर्णन उनके अनुसार उल्लास का लक्षण है।[५] किसी के गुण से दूसरे का गुण-वर्णन, किसी के गुण से दूसरे का

---

१. साक्षादुद्देश्यकयत्नमन्तरेणाप्यभीष्टार्थस्य लाभः प्रहर्षणम्। इद च सामान्यलक्षण त्रिविधप्रहर्षणसाधारणम्।—जगन्नाथ, रसगङ्गा०, पृ० ७९८

२. इष्यमाणविरुद्धार्थसम्प्राप्तिस्तु विषादनम्।
—अप्पय्य दीक्षित, कुवलयानन्द, १३२

३ अभीष्टार्थविरुद्धलाभो विषादनम्।—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ८०१

४ द्रष्टव्य—प्रस्तुत ग्रन्थ अध्याय २

एकस्य गुणदोषाभ्यामुल्लासोऽन्यस्य तौ यदि।
—अप्पय्य दीक्षित, कुवलयानन्द, १३३

दोष-वर्णन, किसी के दोष से दूसरे का गुण-वर्णन तथा किसी के दोष से दूसरे का दोष-वर्णन उल्लास के चार सम्भव रूप है। जगन्नाथ को भी दूसरे के गुण-दोष से दूसरे मे गुण-दोष का आधान अर्थात् अन्य के गुण-दोष से अन्य के गुण-दोषत्व का बोध उल्लास का लक्षण मान्य है। उन्होने भी उल्लास के उक्त चार भेद स्वीकार किये हैं।[1] स्पष्ट है कि उल्लास के जिस स्वरूप की कल्पना जयदेव के समय हुई, वही पीछे भी स्वीकृत हुई। अत , उल्लास-धारणा मे एकरूपता रही है।

अवज्ञा

अवज्ञा अलङ्कार उल्लास का विपरीतधर्मा है। उल्लास मे एक के गुण-दोष से अन्य के गुण-दोष का वर्णन होता है। इसके विपरीत जहाँ एक के गुण-दोष से अन्य के गुण-दोष का लाभ नही करना वर्णित हो, वहाँ अवज्ञा अलङ्कार माना जाता है। 'छोटा पात्र समुद्र मे जाकर भी थोडा ही जल ले पाता है' ऐसे कथन मे समुद्र की विशालता का क्षुद्र जलपात्र के द्वारा प्राप्त न किये जा सकने का वर्णन अवज्ञा का उदाहरण होगा।

अवज्ञा अलङ्कार की कल्पना जयदेव के पूर्व नही हुई थी। जयदेव एवं अप्पय्य दीक्षित ने अवज्ञा की परिभाषा मे कहा है कि जहाँ एक के गुण-दोष से दूसरे के गुण-दोष के अलाभ का वर्णन हो, वहाँ अवज्ञा अलङ्कार होता है।[2] पण्डितराज जगन्नाथ ने अवज्ञा की स्वतन्त्र परिभाषा नही देकर उल्लास को परिभाषित करने के उपरान्त कहा है कि उल्लास का विपर्यय अवज्ञा है।[3] स्पष्ट है कि जगन्नाथ की अवज्ञा-धारणा जयदेव तथा अप्पय्य दीक्षित की धारणा से अभिन्न है। इस प्रकार अवज्ञा की धारणा मे एकरूपता ही रही है।

---

१. अन्यदीयगुणदोषप्रयुक्तमन्यस्य गुणदोषयोराधानमुल्लास. । तच्च गुणेन गुणस्य दोषस्य वा दोषेण गुणस्य दोषस्य वेति चतुर्धा।
—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ८०३

२. ताभ्या तौ यदि न स्यातामवज्ञालङ्कृतिस्तु सा।
—अप्पय्य दीक्षित, कुवलयानन्द, १३६

३. तद्विपर्ययोऽवज्ञा। तस्योल्लासस्य विपर्ययोऽभावः ········।
—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ८०५

जगन्नाथ ने अवज्ञा के विशेषोक्ति में अन्तर्भाव की सम्भावना का सङ्केत दिया है। कुछ आचार्य विशेषोक्ति से पृथक् अवज्ञा की सत्ता की कल्पना आवश्यक नही मानते।

अनुज्ञा

जयदेव तथा अप्पय्य दीक्षित ने अनुज्ञा अलङ्कार की कल्पना कर उसके स्वरूप के सम्बन्ध मे यह धारणा प्रकट की है कि जहाँ दोष मे ही गुण देखकर उस दोष की प्राप्ति की इच्छा प्रकट की जाय, वहाँ अनुज्ञा होती है।[१] किसी भक्त का यह उद्गार कि, मै सदा दीन ही बना रहना चाहता हूँ, जिस अवस्था में दीनबन्धु-जैसे मित्र प्राप्त होते है' अनुज्ञा का उदाहरण माना जायगा, चूँकि इसमे दीनता-जैसे दोष मे गुण (ईश्वर के अनुराग-रूप-गुण) की कल्पना कर उस दोष की ही अभ्यर्थना की गयी है।

पण्डितराज को भी अनुज्ञा का यही रूप मान्य है। उनके अनुसार किसी उत्कृष्ट वैशिष्ट्य के लाभ की लालसा से दोष के रूप मे प्रसिद्ध वस्तु की प्रार्थना अनुज्ञा है।[२] लेश के एक रूप—दोष में गुण तथा गुण में दोष प्रकल्पन-रूप—से अनुज्ञा का बहुत सूक्ष्म भेद यह है कि लेश में दोष को केवल गुण बताया जाता है, पर अनुज्ञा मे दोष के रूप मे प्रसिद्ध वस्तु को गुण मान कर उसी की प्राप्ति की इच्छा की जाती है। ऐतिहासिक दृष्टि से अनुज्ञा का एक ही रूप रहा है—उत्कृष्ट-विशेष की लालसा से लोक-प्रसिद्ध दोष को गुण मानकर उसे प्राप्त करने की इच्छा का वर्णन।

तिरस्कार

तिरस्कार पण्डितराज जगन्नाथ की उद्भावना है। उन्होने अनुज्ञा के आधार पर ही तिरस्कार अलङ्कार के स्वरूप की कल्पना की है। अनुज्ञा के स्वरूप की स्थापना पण्डितराज के पूर्व हो चुकी थी, जिसमे लोक-प्रसिद्ध दोष में गुण की कल्पना कर दोष की प्राप्ति की इच्छा अपेक्षित मानी गयी है। जगन्नाथ ने लोक-प्रसिद्ध गुण मे दोष की कल्पना कर उस गुण की प्राप्ति की अनिच्छा

---

१ दोषस्याभ्यर्थनानुज्ञा तत्रैव गुणदर्शनात्।
—अप्पय्य दीक्षित, कुवलयानन्द, १३७

२. उत्कृष्टविशेषलालसया दोषत्वेन प्रसिद्धस्यापि वस्तुनः प्रार्थनमनुज्ञा।
—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ८०७

अर्थात् गुण के तिरस्कार में तिरस्कार अलङ्कार माना है।[१] दैन्य को भगवद्भक्ति के अनुकूल मानकर दोष-रूप मे प्रसिद्ध दैन्य की अभ्यर्थना अनुज्ञा का उदाहरण है तो समृद्धि को ईशभक्ति मे बाधक समझ कर गुण-रूप मे प्रसिद्ध समृद्धि की प्राप्ति की अनिच्छा तिरस्कार अलङ्कार का उदाहरण है। तिरस्कार अन्वर्था सज्ञा है। स्वरूप-विकास की दृष्टि से पण्डितराज की तिरस्कार-धारणा मे परिवर्त्तन की कोई स्थिति नही आयी है।

मुद्रा

भोज ने मुद्रा को शब्दालङ्कार मानकर उसके स्वरूप का निरूपण किया था। उनके अनुसार वक्ता के साभिप्राय वचन का वाक्य में विनिवेश मुद्रा है।[२] अभिप्राय यह कि जहाँ कोई पद, पदाश तथा वाक्य अपने अर्थ का बोध कराने के साथ वक्ता के विशेष अभिप्रेत अर्थ की भी सूचना देते हो, वहाँ मुद्रा अलङ्कार होगा।

जयदेव तथा अप्पय्य दीक्षित ने मुद्रा के इसी रूप को स्वीकार कर उसे अर्थालङ्कार माना है। उनके अनुसार प्रकृत अर्थ का बोध कराने वाले पदो से सूच्य अर्थ को सूचित करना मुद्रा है।[३]

नाटको मे प्रकृतार्थपरक पद से किसी विशेष अर्थ की सूचना देने की परिपाटी रही है। उस पद्धति को मुद्रा नाम से ही अभिहित किया जाता रहा है। उस नाट्य-तत्त्व को भोज ने शब्दालङ्कार के रूप में तथा अप्पय्य दीक्षित आदि ने अर्थालङ्कार के रूप में स्वीकार किया है। मुद्रा के स्वरूप की धारणा मे एकरूपता ही रही है।

रत्नावली

रत्नावली की स्वतन्त्र अलङ्कार के रूप में सत्ता, केवल जयदेव तथा उनके मतानुयायी अप्पय्य दीक्षित को मान्य है। इस अलङ्कार की परिभाषा में

१ एव दोषविशेषानुबन्धाद्गुणत्वेन प्रसिद्धस्यापि द्वेषस्तिरस्कार.।
—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ८०७.

२ साभिप्रायस्य वाक्ये यद्वचसो विनिवेशनम्।
मुद्रा ता मुत्प्रदायित्वात्काव्यमुद्राविदो विदुः॥
—भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण, २, ४०

३. सूच्यार्थसूचन मुद्रा प्रकृतार्थपरैः पदै।
—अप्पय्य दीक्षित, कुवलयानन्द, १३९

कहा गया है कि प्रकृत अर्थो का क्रमिक विन्यास रत्नावली है।[१] अर्थात्, प्रसिद्ध सहपाठ वाले पदार्थो का क्रम से विनिवेश रत्नावली का लक्षण है। अप्पय्य दीक्षित ने एक जगह यह कहा है कि प्रसिद्ध सहपाठ वाले पदार्थो का प्रसिद्ध क्रम से विनिवेश भी रत्नावली है।[२] इससे स्पष्ट है कि प्रसिद्ध सहपाठ के प्रसिद्ध क्रम से विनिवेश के अतिरिक्त स्थल में भी रत्नावली हो सकती है। अत:, 'कुवलयानन्द' के टीकाकार का यह निष्कर्ष उचित ही है कि प्रसिद्ध सहपाठ वाले पदार्थो का न्यास ही रत्नावली का लक्षण है।[३] ऐसे पदार्थों के क्रम से विन्यास तथा अक्रम-विन्यास के आधार पर रत्नावली के दो भेद माने जा सकते है। उदाहरण के लिए ईश्वर के दश अवतार का सहपाठ प्रसिद्ध है। पुराणों मे वर्णित अवतार-क्रम से सभी अवतारो का एकत्र विन्यास भी हो सकता है औ , क्रम के भी। दोनो को रत्नवली का उदाहरण माना जायगा।

उद्योतकार ने रत्नावली के स्वतन्त्र अस्तित्व का खण्डन करते हुए कहा है कि उसके उदाहरण मे वर्ण्य का उपस्कार प्रसिद्ध सहपाठ का क्रम-विन्यास नहा करता, वह उपस्कार रूपक आदि अन्य अलङ्कारो से होता है। अतः, ऐसे उदाहरण में रत्नावली नामक स्वतन्त्र अलङ्कार की कल्पना आवश्यक नही है।[४] पण्डितराज जगन्नाथ आदि को भी रत्नावली का स्वतन्त्र अस्तित्व मान्य नही है। अस्तु, स्वरूप-विकास की दृष्टि से उसका एक ही रूप कल्पित हुआ है, जिसकी परीक्षा ऊपर की जा चुकी है।

लोकोक्ति

जयदेव तथा अप्पय्य दीक्षित ने लोकोक्ति को भी एक स्वतन्त्र अलङ्कार माना है। इस अलङ्कार के लक्षण मे कहा गया है कि जहाँ लोकवाद अर्थात् लोक-प्रचलित उक्ति का अनुकरण काव्य मे हो, वहाँ लोकोक्ति अलङ्कार होता

१. क्रमिक प्रकृतार्थाना न्यास रत्नावली विदु ।—कुवलयानन्द, १४०

२ प्रसिद्धसहपाठाना प्रसिद्धक्रमानुसरणेऽप्येवमेवालङ्कारः ।
—वही, वृत्ति, पृ० १५६

३. प्रसिद्धसहपाठानामर्थाना न्यसन रत्नावलीति सामान्यलक्षणम् ।
—वही, टीका, पृ० १५६

४. उद्योतकार का यह मत काव्यप्रकाश की वालबोधिनी टीका मे
—उद्धृत, पृ० ७४१

है।[१] यह सर्वविदित तथ्य है कि लोक-जीवन में ऐसी असख्य उक्तियाँ प्रचलित रहती है, जो अपनी अकृत्रिमता मे ही प्रभावोत्पादक हुआ करती हैं। कवि लोक-जीवन का चित्रण करने के क्रम में ऐसी बहुत-सी उक्तियो का उपयोग करते हैं। जयदेव, अप्पय्य दीक्षित आदि लोक-प्रवाद की अनुकृति मे लोकोक्ति अलङ्कार मानते है।

पण्डितराज जगन्नाथ आदि ने लोकोक्ति का अलङ्कारत्व स्वीकार नही किया है। लोकोक्ति अलङ्कार की सत्ता स्वीकार करने मे एक कठिनाई यह है कि लोक-उक्ति तथा कवि की उक्ति मे भेद करना सरल नही। कवि लोक-प्रवाद का अनुकरण करता है, लोक-प्रचलित मार्मिक उक्तियो का काव्य में उपयोग करता है, तो असख्य कवि-कल्पित उक्तियाँ भी—सूक्तियो के रूप में—लोक में चल पडती हैं। यह आदान-प्रदान सनातन रूप से चलता रहता है। अतः काव्योक्ति तथा लोकोक्ति का विभाग कठिन है। काव्य मे प्रयुक्त प्रत्येक उक्ति (भले ही वह कभी लोकोक्ति रही हो) काव्योक्ति होती है। उसे अलङ्कार-विशेष मानना युक्तिसङ्गत नही जान पडता। ऐसी उक्तियाँ अलङ्कार्य ही होंगी। अस्तु, एक ही सम्प्रदाय के आचार्यो के द्वारा स्वीकृत होने के कारण लोकोक्ति की धारणा एक-सी ही रही है।

छेकोक्ति

छेकोक्ति का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ होता है विदग्ध उक्ति; परन्तु अलङ्कार-विशेष के रूप मे उसका स्वरूप लोकोक्ति के सन्दर्भ में निरूपित हुआ है। लोक-प्रचलित उक्ति की अनुकृति (जो लोकोक्ति है) यदि अर्थान्तरगर्भ हो, अर्थात् ऐसी उक्तियो से यदि अर्थान्तर को भी व्यञ्जना होती हो तो जयदेव, अप्पय्य दीक्षित आदि के अनुसार छेकोक्ति अलङ्कार होगा।[२]

जगन्नाथ आदि परवर्ती आचार्यो ने लोकोक्ति की तरह छेकोक्ति को भी स्वतन्त्र अलङ्कार के रूप मे स्वीकार नही किया है। विकास की दृष्टि से छेकोक्ति का एक ही रूप कल्पित हुआ है।

निरुक्ति

जयदेव तथा अप्पय्य दीक्षित ने निरुक्ति को स्वतन्त्र अलङ्कार माना है। उनकी धारणा है कि जहाँ व्युत्पत्ति से विशिष्ट अर्थ का प्रतिपादन करने वाले सञ्ज्ञा-पद

१. लोकप्रवादानुकृतिर्लोकोक्तिरिति भण्यते।
—अप्पय्य दीक्षित, कुवलयानन्द, १५७

२. छेकोक्तिर्यत्र लोकोक्तेः स्यादर्थान्तरगर्भिता।—वही, १५८

आदि का अन्य अर्थ भी प्रकाशित कराया जाता है, वहाँ निरुक्ति अलङ्कार होता है।[1] निरुक्ति का अर्थ है शब्द का निर्वचन या उसके व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ का निर्देश। इस अलङ्कार मे नाम की व्युत्पत्ति के आधार पर उसके प्रसिद्ध अर्थ के साथ अन्यार्थ प्रकाशन की धारणा व्यक्त की गयी है। उदाहरण के लिए कनिष्ठिका के ठीक बाद रहने वाली अनामिका उँगली के यौगिक अर्थ (जिस पर कोई नाम नही आ सके) को दृष्टि मे रखकर जहाँ यह कल्पना की गयी कि कवि-गणना के प्रसङ्ग मे कभी कनिष्ठिका पर कालिदास का नाम गिना गया; पर आज तक भी उनके समकक्ष गिने जाने वाले दूसरे कवि का नाम नही मिलने से कनिष्ठिका के आगे की उँगली अनामिका का नाम सार्थक है, वहाँ अप्पय्य दीक्षित आदि निरुक्ति मानेगे; क्योकि उसमे अनामिका अपने प्रसिद्ध नाम के साथ अन्य योगार्थ का भी प्रकाशन करती है। जगन्नाथ आदि ने इसका स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार नही किया है। निरुक्ति-धारणा मे एक-रूपता ही रही है। निरुक्ति के उदाहरणो में अन्यार्थ प्रकाशन श्लेष-महिमा से माना जा सकता है। अतः निरुक्ति को श्लेष का ही एक रूप माना जा सकता है।

प्रतिषेध

प्रतिषेध अलङ्कार मे प्रसिद्ध अर्थात् सर्वविदित निषेध का अनुकीर्तन अपेक्षित माना गया है।[2] ज्ञात निषेध का प्रतिपादन अपने आप मे कोई अर्थ नही रखता, उसकी सार्थकता इस बात में होती है कि विदित निषेध का प्रदर्शन करने मे वक्ता का कोई गूढ आशय छिपा रहता है। महाभारत युद्ध मे शकुनी के प्रति यह उक्ति कि 'यह युद्ध द्यूत-क्रीडा नही है' प्रतिषेध अलङ्कार का एक उदाहरण है। युद्ध में द्यूत का निषेध अपने आप मे कोई अर्थ नही रखता। युद्ध द्यूत नही है, यह तथ्य तो विदित ही है। निषेध प्राप्त का होता है। युद्ध मे द्यूतत्व की प्राप्ति ही नही होती। अत, अप्राप्त का निषेध होने के कारण उक्त कथन व्यर्थ पडकर वक्ता के एक विशेष आशय को प्रकट करता है। वक्ता का आशय यह है कि तुम्हारा कौशल द्यूत-क्रीडा तक ही है; युद्ध-क्षेत्र मे तुम्हारा कौशल नही चलेगा। अतः प्रतिषेध लक्षण का सार यह है कि

---

१. निरुक्तिर्योगतो नाम्नामन्यार्थत्वप्रकल्पनम्।
—अप्पय्यदीक्षित कुवलयानन्द १६४

२ प्रतिषेधः प्रसिद्धस्य निषेधस्यानुकीर्तनम्। —वही, १६५

किसी गूढ आशय से ज्ञात निषेध का प्रतिपादन अर्थात् अप्राप्त का निषेध प्रतिषेध अलङ्कार है। इस अलङ्कार का चमत्कार निषेध मे नही, निषेध से प्रकट होने वाले गूढ आशय में है। जगन्नाथ आदि परवर्ती आचार्यों ने प्रतिषेध का अलङ्कारत्व स्वीकार नही किया है। जयदेव तथा अप्पय्य के द्वारा प्रतिषेध के उक्त एक ही रूप की कल्पना की गयी है।

विधि

विधि को शोभाकर, जयदेव, अप्पय्य दीक्षित आदि ने स्वतन्त्र अलङ्कार माना है। विधि निषेध का विपरीतधर्मा है। ज्ञात का ही विधान विधि का स्वरूप माना गया है।[१] ज्ञात का विधान किसी विशेष आशय को प्रकट करता है; अन्यथा वह व्यर्थ ही होगा। राम का यह कथन कि 'मै राम हूँ' सिद्ध अर्थ का विधान है। यह कथन राम के व्यक्तित्व के विशिष्ट गुणो के निर्देश में सार्थक है, अन्यथा वे राम हैं; इस सिद्ध अर्थ के विधान का क्या प्रयोजन होता? निष्कर्ष यह कि जहाँ सिद्ध अर्थ का विधान वक्ता के किसी विशेष आशय को उद्घाटित करे, वहाँ जयदेव, अप्पय्य दीक्षित आदि के अनुसार विधि अलङ्कार होगा। विधि का भी एक ही रूप कल्पित हुआ। जगन्नाथ आदि परवर्ती आचार्यो ने इस अलङ्कार का निरूपण नही किया।

असम

असम शोभाकर मित्र के द्वारा कल्पित अलङ्कार है। वर्ण्य विषय को अद्वितीय बताने के लिए जहाँ कवि यह कल्पना करता है कि उसके समान कोई अन्य अर्थ नही है, वहाँ शोभाकर, जगन्नाथ आदि असम अलङ्कार मानते है।[२] वर्ण्य का उत्कर्ष-साधन अलङ्कार-योजना का एक प्रमुख उद्देश्य है। वर्ण्य को सर्वोत्कृष्ट प्रमाणित करने के लिए अनन्वय आदि की उक्तिभङ्गी पर प्राचीन आचार्यो ने भी विचार किया था। असम मे भी वर्ण्य की सर्वोत्कृष्टता का प्रतिपादन कवि का लक्ष्य रहता है; पर अनन्वय आदि से उसकी उक्ति-भङ्गी थोडी भिन्न होती है। असम मे कवि वर्ण्य की अन्य वस्तु से उपमा का सर्वथा निषेध करता है। निष्कर्षत:, जहाँ वर्ण्य के समान किसी अन्य वस्तु को न

---

१. सिद्धस्यैव विधानं यत्तमाहुर्विध्यलंकृतिम्।—अप्पय्य० कुवलया० १६६,

२. सर्वथैवोपमानिषेधे असमाख्योऽलङ्कारः।

—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ३३२,

पाकर कवि किसी भी अन्य वस्तु के साथ वर्ण्य की तुलना का निषेध करता है, वहाँ जगन्नाथ के अनुसार असम अलङ्कार होता है। वर्ण्य के समान किसी अन्य के न होने का वर्णन होने असम से अन्वर्थ अभिधान है। असम के स्वरूप मे, पीछे चल कर भी कोई विकास नहीं हुआ।

संसृष्टि और सङ्कर

ससृष्टि एव सङ्कर मे एकाधिक अलङ्कारो के एकत्र सन्निवेश की विभिन्न प्रक्रियाओ पर विचार किया गया है। यद्यपि इनकी गणना भी स्वतन्त्र अलङ्कार के रूप मे होती रही है; पर वस्तुतः ये स्वतन्त्र अलङ्कार नही, तत्तद् अलङ्कारो का एकत्र विनिवेश होने पर उनके पारस्परिक सम्बन्ध के दो अलग-अलग रूप है। दो या अधिक अलङ्कार एकत्र परस्पर सापेक्ष रूप मे—अङ्गाङ्गिभाव आदि से—भी रह सकते है और परस्पर निरपेक्ष रूप में भी। दूसरे शब्दों मे, वे दूध और पानी की तरह भी मिले हुए रह सकते हैं और तिल तथा चावल की तरह भी। इन दो प्रक्रियाओं पर क्रमशः सङ्कर और ससृष्टि अलङ्कारों में विचार किया गया है। दूध और पानी की तरह एक दूसरे से मिलकर या अङ्गाङ्गिभाव से परस्पर सापेक्ष होकर जहाँ दो या अधिक अलङ्कार रहे, वहाँ सामान्यतः सङ्कर तथा तिल और चावल की तरह एक दूसरे से मिले रहने पर भी परस्पर स्वतन्त्र रूप मे परिलक्षित होने वाले दो या अधिक अलङ्कार जहाँ रहे, वहाँ सामान्यत ससृष्टि मानी जाती है। किन्तु, यह अर्वाचीन धारणा है। ससृष्टि और सङ्कर का यह भेद आरम्भ से नहीं था। दण्डी आदि आचार्यो ने अलङ्कारो के पारस्परिक सम्बन्ध के उक्त दोनो रूपो को सङ्कीर्ण या संसृष्टि ही कहा है तथा दो रूपो के आधार पर संसृष्टि के दो भेद स्वीकार किये है। अस्तु, ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर सर्वप्रथम भामह के 'काव्यालङ्कार' मे ससृष्टि की सूचना मिलती है। भामह ने सङ्कर का स्वतन्त्र अस्तित्व नही माना था। उनके परवर्ती दण्डी ने ससृष्टि के दो रूप स्वीकार किये, जिनमे से एक रूप पीछे चलकर सङ्कर के रूप मे स्वीकृत हुआ। दण्डी की ससृष्टि के व्यापक स्वरूप मे ही परवर्ती आचार्यों के द्वारा कल्पित सङ्कर की सम्भावना निहित थी। अनेक अलङ्कारों की ससृष्टि को दण्डी ने सङ्कीर्ण भी कहा है। उनके अनुसार सङ्कीर्ण या ससृष्टि के दो रूप हैं—(१) परस्पर अङ्गाङ्गिभाव से अवस्थिति तथा (२) सभी अलङ्कारो की समकक्षता। प्रथम मे अनेक अलङ्कारो मे से एक अलङ्कार प्रधान या अङ्गी

के रूप मे रहता है और अन्य अलङ्कार उसके अङ्ग हो जाते है। दूसरे मे न कोई अङ्गी रहता है न कोई अङ्ग; न कोई प्रधान रहता है न कोई अप्रधान, सभी समकक्ष रहते है।[1]

उद्भट ने दण्डी के सङ्कीर्ण के उक्त दो भेदो को अलग-अलग कर ससृष्टि तथा सङ्कर नामक दो अलङ्कार माने। सङ्कर की ससृष्टि से स्वतन्त्र सत्ता की उद्भावना उद्भट ने की। उनके पूर्व सङ्कर का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकृत नही हुआ था, यद्यपि सङ्कर के स्वरूप की कल्पना पहले ही हो चुकी थी। उद्भट ने केवल सङ्कर के नाम तथा उनके पृथक् अस्तित्व की कल्पना की। उसके स्वरूप की धारणा उन्होने दण्डी की सङ्कीर्ण या ससृष्टि-धारणा से ही ली। सङ्कर के चार भेदो की कल्पना भी उद्भट ने ही प्रथम बार की। उद्भट के अनुसार सङ्कर तथा ससृष्टि के पृथक्-पृथक् रूप इस प्रकार है :—

अनेक अलङ्कारों का ऐसा उल्लेख कि उनका एक होने का ज्ञान न हो, सङ्कर है। जहाँ दो अलङ्कार मिलकर एक बन जाते है, वहाँ सङ्कर नही माना जाता (श्लेषोपमा, उपमारूपक आदि को सङ्कर नही माना जा सकता)। उद्भट ने सन्देह-सङ्कर (जहाँ दो अलङ्कारो के निर्णय मे सन्देह की स्थिति हो), शब्दार्थालङ्कार-सङ्कर (दो भेद, शब्द तथा अर्थ के अलङ्कारो का सङ्कर तथा केवल अर्थालङ्कारो का सङ्कर) और अङ्गाङ्गिभाव-सङ्कर के उदाहरण दिये है। अङ्गाङ्गिभाव-सङ्कर मे सभी अलङ्कार एक दूसरे का उपकार करते है।[2]

अनेक शब्दार्थालङ्कारों का परस्पर निरपेक्ष भाव से एकत्र सन्निवेश ससृष्टि है।[3] सङ्कर मे अलङ्कारो का परस्पर सापेक्ष होना तथा ससृष्टि मे परस्पर निरपेक्ष होना—दोनो का व्यावर्तक है।

रुद्रट ने वास्तव, औपम्य, अतिशय तथा श्लेष वर्ग के सभी अलङ्कारो के सङ्कीर्ण रूप को सामान्य रूप से सङ्कर सज्ञा से अभिहित कर उसके तिल-तण्डुल-न्याय से (परस्पर निरपेक्ष भाव से) तथा नीर-क्षीर-न्याय से (परस्पर सापेक्ष भाव से) अवस्थान के आधार पर दो भेद किये हैं। ये दो भेद उद्भट के ससृष्टि तथा सङ्कर से अभिन्न है। रुद्रट ने दण्डी की पद्धति पर सङ्कीर्णालङ्कार

---

१. द्रष्टव्य—दण्डी, काव्यादर्श, २, ३५९-६०

२. द्रष्टव्य—उद्भट, काव्यालङ्कारसारसग्रह, ५, २०, २६

३. वही ६, ९, ११

को एक ही मानकर उसके दो भेद स्वीकार किये हैं, पर ध्यातव्य है कि जहाँ दण्डी ने सङ्कीर्ण के लिए 'नानालङ्कारससृष्टि' पद का प्रयोग किया था, वहाँ रुद्रट ने 'सङ्कर' शब्द का प्रयोग किया।[1] दण्डी के द्वारा प्रयुक्त ससृष्टि तथा रुद्रट के द्वारा प्रयुक्त सङ्कर पर्यायवाची हैं। दण्डी तथा रुद्रट के बीच उद्भट के द्वारा सङ्कीर्णालङ्कार के लिए ससृष्टि और सङ्कर, इन दो सज्ञाओ की कल्पना हो चुकी थी, पर रुद्रट ने सम्भवतः उसे अनावश्यक माना।

भोज ने दण्डी की तरह ससृष्टि का व्यापक स्वरूप मानकर उसीमे सङ्कर को अन्तर्भुक्त मान लिया। अलङ्कारो की परस्पर निरपेक्षता तथा सापेक्षता पर उसके भेद के रूप मे विचार किया गया।[2]

मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ, जयदेव, अप्पय्य दीक्षित आदि आचार्यो ने उद्भट की तरह ससृष्टि तथा सङ्कर का परस्पर स्वतन्त्र रूप में निरूपण किया। उन्होने उद्भट की ससृष्टि-सङ्कर-परिभाषा को ही स्वीकार भी किया। स्पष्ट है कि ससृष्टि और सङ्कर के स्वरूप के सम्बन्ध मे आचार्यो की मान्यता में एकरूपता रही है। अलङ्कारो का परस्पर निरपेक्ष भाव से एकत्र अवस्थान ससृष्टि का तथा उनका परस्पर सापेक्ष भाव से एकत्र अवस्थान सङ्कर का सर्वमान्य लक्षण है।[3]

सङ्कर और ससृष्टि के नाम तथा उनके अस्तित्व के सम्बन्ध मे निम्न-लिखित तीन मत व्यक्त हुए है :—

(१) अलङ्कारो का सङ्कीर्ण रूप ससृष्टि कहलाता है तथा ससृष्टि के दो रूप है—अनेक अलङ्कारो का परस्पर सापेक्ष तथा निरपेक्ष रूप से एकत्र सयोजन होना।

(२) अलङ्कार के सङ्कीर्ण रूप को सङ्कर कहते हैं और उसके उपरि-लिखित दो रूप है। और

(३) ससृष्टि तथा सङ्कर अलग-अलग हैं। अलङ्कारो की परस्पर निरपेक्ष भाव से एकत्र योजना ससृष्टि है तथा उनकी परस्पर सापेक्ष योजना सङ्कर है।

---

१ योगवशादेतेषा तिलतण्डुलवच्च दुग्धजलवच्च।
व्यक्ताव्यक्ताशत्वात्सङ्कर उत्पद्यते द्वेधा॥
—रुद्रट, काव्यालङ्कार, १०, २५

२. द्रष्टव्य,—भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण, ४, ८८-९०

३ द्रष्टव्य—मम्मट, काव्यप्रकाश, १०, २०७-८, रुय्यक, अलङ्कार-सूत्र, ८४-८५, विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, १०, १२६-२८

वस्तुत., ससृष्टि एव सङ्कर को स्वतन्त्र अलङ्कार नही मानकर अलङ्कारो की सङ्कीर्णता के दो अलग-अलग रूप माना जाना चाहिए। अत, उनके पृथक्-पृथक् अस्तित्व का प्रश्न विशेष महत्त्व नही रखता। सुविधा के लिए अलङ्कारो की परस्पर निरपेक्ष तथा सापेक्ष स्थिति को ससृष्टि और सङ्कर सज्ञा से पृथक्-पृथक् अभिहित किया जा सकता है।

सङ्कीर्ण-भेद

सङ्कीर्ण का एक भेद ससृष्टि है तथा दूसरा सङ्कर। सङ्कर के सन्देह-सङ्कर तथा अङ्गाङ्गिभाव-सङ्कर, इन दो भेदो के साथ उद्भट ने शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार के सङ्कर के आधार पर दो और भेद (शब्दालङ्कार+अर्थालङ्कार तथा अर्थालङ्कार+अर्थालङ्कार) माने थे। पीछे चलकर समप्रधान एकवचनानुप्रवेश तथा सङ्कर-सङ्कर भेदो की भी कल्पना हुई। इस प्रकार सङ्कर के निम्नलिखित भेदो की कल्पना की गयी —(१) सन्देहसङ्कर, (२) अङ्गाङ्गि-भाव सङ्कर, (३) समप्रधान सङ्कर, (४) एकवचनानुप्रवेश सङ्कर तथा (५) सङ्कर-सङ्कर। इनके अतिरिक्त शब्दालङ्कार का अर्थालङ्कार के साथ तथा अर्थालङ्कार का अर्थालङ्कार के साथ सङ्कर के आधार पर भी उसके दो भेद मान्य हुए हैं।

अन्य अलङ्कार

दो अलङ्कारो के मिश्रित रूप से भी कुछ आचार्यो ने नवीन अलङ्कार का सद्भाव माना है। उपमा-रूपक आदि ऐसे ही अलङ्कार हैं, पर अलङ्कारो के मिश्रण से नवीन अलङ्कार की कल्पना से उसकी सख्या अनन्त हो जायगी। इसीलिए साहित्यशास्त्र मे ऐसी कल्पना का स्वागत नही हुआ। ऐसे अलङ्कारों के विकास-क्रम का अध्ययन आवश्यक नही जान पडता।

अलङ्कारों का पारस्परिक भेद

हम देख चुके हैं कि भारतीय अलङ्कार-शास्त्र मे एक अलङ्कार से धीरे-धीरे अनेक अलङ्कार उत्पन्न हुए है। एक अलङ्कार के व्यापक स्वरूप के आधार पर एकाधिक अलङ्कारो के स्वरूप की कल्पना के लिए उन अलङ्कारो में कुछ व्यावर्तक धर्म की कल्पना कर ली गयी है। कुछ अलङ्कारो का रूपगत भेद तो इतना सूक्ष्म है कि अपातत. वे अभिन्न ही जान पडते हैं। दो या दो से अधिक समान दीखने वाले अलङ्कारों का पारस्परिक भेद-निरूपण किसी अलङ्कार के विशिष्ट स्वरूप के स्पष्टीकरण की दृष्टि से आवश्यक है। मिलते-जुलते स्वरूप वाले अन्य अलङ्कार से एक अलङ्कार के अभिन्न होने या उसमें अन्तर्भूत होने के सम्भावित भ्रम का निराकरण करने के लिए कुछ आचार्यों ने तत्तद् अलङ्कारो के बीच भेदक तत्त्व का विवेचन किया है। ध्यातव्य है कि सभी आचार्य सभी अलङ्कारो के स्वरूप के सम्बन्ध में एक-मत नही है। कुछ अलङ्कारो के सम्बन्ध मे तो एक आचार्य की धारणा दूसरे आचार्य की धारणा के ठीक विपरीत है।[1] एक आचार्य के किसी एक अलङ्कार का स्वरूप अन्य आचार्य के द्वारा निरूपित किसी अन्य अलङ्कार के स्वरूप से अभिन्न है।[2]

---

१. वामन, रुद्रट आदि आचार्यो ने अप्रस्तुत के कथन से प्रस्तुत की व्यञ्जना को समासोक्ति का लक्षण माना था, पर इसके विपरीत आधुनिक आचार्य—मम्मट, रुय्यक आदि—प्रस्तुत कथन में अप्रस्तुत की व्यञ्जना को समासोक्ति मानते हैं।

२. लेश से उद्भिन्न वस्तु के छिपाने मे दण्डी लेश अलङ्कार मानते थे पर रुय्यक आदि ने उसे व्याजोक्ति माना है। ऐसे अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं।

ऐसी स्थिति में किसी आचार्य के द्वारा निरूपित अलङ्कार-विशेष का उसी आचार्य के द्वारा स्वीकृत तथा निरुपित अन्य अलङ्कार से भेद की परीक्षा करने से स्वस्थ निष्कर्ष प्राप्त हो सकता है। एक आचार्य के विशेष अलङ्कार के स्वरूप का अन्य आचार्य के किसी अन्य अलङ्कार से अभेद उस अलङ्कार-विशेष की स्वतन्त्र सत्ता का अपलाप नही कर सकता। परीक्षणीय यह है कि किसी आचार्य ने अपने एक अलङ्कार से अन्य अलङ्कार का भेद कितनी स्पष्टता से प्रतिपादित किया है। प्रस्तुत अध्याय मे मिलते-जुलते स्वभाव वाले अलङ्कारो का पारस्परिक भेद-निरूपण अभीष्ट है।

उपमा तथा रूपक

उपमा तथा रूपक दो प्राचीनतम उपलब्ध सादृश्यमूलक अलङ्कार है। आचार्य भरत ने दोनो के स्वरूप को परिभाषित तथा उदाहृत किया था। तब से इन दोनो अलङ्कारो के प्राय वैसे ही स्वरूप स्वीकृत होते रहे हैं। दो वस्तुओ मे—प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत मे—सादृश्य दिखाकर प्रस्तुत की प्रभाव-वृद्धि उपमा तथा रूपक, दोनो मे कवि का उद्देश्य रहता है। उद्देश्य की इस समता के होने पर भी उपमा और रूपक की स्वरूप-योजना मे भेद है। उपमा मे उपमेय तथा उपमान का परस्पर भेद दिखाते हुए—दोनो की पृथक्-पृथक् सत्ता का प्रतिपादन करते हुए—दोनो के बीच धर्म की समता दिखायी जाती है; पर रूपक मे धर्म-साम्य के कारण उपमेय पर ही उपमान का आरोप कर दिया जाता है, जिससे दोनो का भेद मिट-सा जाता है। आचार्यो ने उपमा तथा रूपक के रूपगत-भेद का निर्देश स्थल-स्थल पर किया है। हम यहाँ उनकी मान्यताओ का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करेंगे।

आचार्य दण्डी ने रूपक की परिभाषा मे उपमा से रूपक के साम्य-वैषम्य का स्पष्ट सङ्केत दिया है। उनके अनुसार उपमा से रूपक का केवल इतना भेद है कि जहाँ उपमा मे उपमान और उपमेय का भेद स्पष्ट रहता है, वहाँ रूपक में दोनों के बीच का भेद तिरोहित रहता है।[१] भामह आदि ने भी रूपक में उपमान के साथ उपमेय के 'तत्त्व' अर्थात् 'ताद्रूप्यरूपण' की चर्चा कर प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत के बीच भेद के तिरोधान का ही सङ्केत दिया था।[२]

---

१. उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते।—दण्डी, काव्यदर्श, २,६६

२ द्रष्टव्य—भामह, काव्यालङ्कार, २, २१

उद्भट ने रूपक-लक्षण मे गौणी वृत्ति (लक्षणा शक्ति) की चर्चा कर रूपक तथा उपमा के लक्षणा तथा अभिधा के आधार पर भेद-निरूपण की सम्भावना को जन्म दिया।[१] रूपक में दो भिन्न वस्तुओ—उपमेय तथा उपमान—का अभेद-प्रतिपादन लक्षणा शक्ति से सम्भव होता है। सादृश्यमूलक होने के कारण रूपक मे गौणी लक्षणा रहती है। निष्कर्षत, रूपक गौणी लक्षणा पर आधृत अलङ्कार है। उपमा मे दो वस्तुओ के बीच साधर्म्य वाच्य रहता है। अत:, उपमा अभिधा शक्ति पर आश्रित अलङ्कार है। उपमा में साधर्म्य वाच्य तथा रूपक मे व्यङ्ग्य होता है।

रुद्रट ने समासरूपक तथा समासोपमा का भेद इस आधार पर निरूपित किया है कि समासरूपक मे उपमेय अप्रधान होता है; पर इसके विपरीत समासोपमा मे उपमान अप्रधान होता है।[२] 'मुख-चन्द्र' समास रूपक तथा समासोपमा, दोनों का उदाहरण हो सकता है। 'मुखं चन्द्र इव' ऐसा विग्रह होने पर उपमित समास होगा और वह उपमा का उदाहरण होगा; पर 'मुखं चन्द्र एव' विग्रह मे रूपक अलङ्कार होगा। उक्त दो विग्रहो मे समास के लिए व्याकरण-शास्त्र मे पृथक्-पृथक् व्यवस्था है—(क) उपमित व्याघ्रादिभि: सामान्याप्रयोगे तथा (ख) मयूरव्यसकादयश्च। उपमित समास उपमा अलङ्कार का तथा मयूरव्यसकादि समास रूपक का निर्णायक है। प्रयोग के अर्थ के आधार पर उपमा तथा रूपक का निर्णय किया जाता है। 'मुखचन्द्र प्रकाशित हो रहा है' ऐसे प्रयोग मे प्रकाशित होना चन्द्रमा का धर्म होने से चन्द्रमा प्रधान होगा, अत. वहाँ रूपक माना जायगा। उस स्थल मे विग्रह होगा—'मुख चन्द्र एव'। 'मुखचन्द्र का चुम्बन' ऐसे प्रयोग मे मुख का ही चुम्बन सम्भव होने से मुख की प्रधानता होगी; अत. वहाँ उपमा अलङ्कार माना जायगा। वहाँ विग्रह होगा—'मुख चन्द्र इव'। स्पष्ट है कि उपमान के प्रधान तथा उपमेय के उपसर्जन होने के स्थल मे समास-रूपक तथा उपमेय के प्रधान और उपमान के उपसर्जन होने के स्थल मे समासोपमा अलङ्कार माना जाता है। वामन ने 'मुखचन्द्र' आदि मे सार्वत्रिक रूप से उपमा ही

---

१ द्रष्टव्य—उद्भट, काव्यालङ्कार सारसग्रह, १,२१ तथा उसकी विवृति पृ० ७, ८

२ समासोपमाया रूपकत्वनिवृत्त्यर्थमाह—उपसर्जनमप्रधानमुपमेयं यत्र। ... ...समासोपमाया तूपमानमुपसर्जनम्।

—रुद्रट, काव्यालङ्कार, पृ० २६२

मानी है,[1] पर यह उचित नही। ऐसे प्रयोग मे उपमेय तथा उपमान मे से एक के प्रधान तथा दूसरे के गौण होने के आधार पर क्रमश उपमा तथा रूपक का सद्भाव माना ही जाना चाहिए।

आचार्य रुय्यक ने उपमा-लक्षण मे 'भेदाभेदतुल्यत्व' का तथा रूपक-लक्षण मे 'अभेदप्राधान्य' का उल्लेख कर दोनो का भेद-निरूपण इस आधार पर किया है कि जहाँ उपमा मे भेदाभेद का तुल्य रूप से प्राधान्य रहता है, वहाँ रूपक में अभेद का प्राधान्य रहता है। इस भेद को छोड उपमा और रूपक मे कोई अन्य भेद नही।[2] उन्होंने स्पष्टत· दण्डी के मत का अनुसरण किया है। दो वस्तुओ मे कुछ सामान्य तथा कुछ विशेष रहने पर ही सादृश्य सम्भव होता है। उपमा मे उपमेय तथा उपमान के बीच भेद तथा अभेद की प्रतीति समान रूप से होती है; पर रूपक मे उपमेय पर उपमान का अभेदारोप हो जाने के कारण अभेद का प्राधान्य हो जाता है। रूपक मे भी भेद तो रहता ही है; पर अभेद-प्रतीति का प्राधान्य हो जाता है। इस तरह उपमा में प्रस्तुत-अप्रस्तुत के बीच भेद तथा अभेद की समान रूप से प्रधानता तथा रूपक मे अभेद की प्रधानता रहती है।

रुय्यक के टीकाकार जयरथ की मान्यता है कि रुय्यक ने अपने ग्रन्थ 'अलङ्कारानुसारिणी'[3] मे सादृश्येतर सम्बन्ध से होने वाले आरोप मे भी रूपक का सद्भाव माना है। उपमा सादृश्य पर अवलम्बित है। यदि सादृश्येतर सम्बन्ध में भी रूपक माना जाय तो यह भी उपमा तथा रूपक के बीच एक भेदक तत्त्व माना जायगा। रुय्यक ने 'अलङ्कारसर्वस्व' मे स्पष्ट शब्दो में 'साधर्म्य त्वनुगतमेव' कहकर रूपक को सादृश्य-सम्बन्ध तक ही सीमित माना है। उनके अनुपलब्ध ग्रन्थ में जिस मान्यता की चर्चा की गयी है वह 'अलङ्कार सर्वस्व' की इस मान्यता के विरोध मे पडती है। प्रमाण के उपलब्ध नही होने के कारण इस सम्बन्ध मे कुछ निर्णय देना उचित नही

---

१. मुखचन्द्रादीनान्तूपमासमासान्न चन्द्रादीनां रूपकत्व युक्तमिति।
—वामन, काव्यालङ्कार-सूत्र-वृत्ति, पृ० २३०

२. ····अभेदप्राधान्यं रूपकवत्। द्वयोस्तुल्यत्वं यथास्याम्।
—अलङ्कारसर्वस्व, पृ० २३ तुलनीय उपमालक्षण, अलङ्कारसूत्र, ११ तथा रूपक-लक्षण सूत्र १५

३. यह ग्रन्थ उपलब्ध नही।

होगा। 'अलङ्कार-भाष्य' तथा 'अलङ्काररत्नाकर' मे रूपक को सादृश्य सम्बन्ध तथा सादृश्येतर सम्बन्ध—दोनो पर आधृत माना गया है। स्पष्ट है कि इन ग्रन्थो मे उपमा की अपेक्षा रूपक का क्षेत्र अधिक विस्तृत माना गया है। पण्डितराज जगन्नाथ ने 'रसगङ्गाधर' मे इस मत का खण्डन किया और यह सिद्धान्त स्थापित किया कि सादृश्य के आधार पर होने वाला आरोप ही रूपक अलङ्कार का विषय है। उनके अनुसार केवल गौणी सारोपा लक्षणा ही आरोप का आधार होगी। शुद्धा लक्षणा तक रूपक की व्याप्ति नही मानी जा सकती।[1]

विश्वनाथ ने उपमा तथा रूपक का भेद दिखाते हुए कहा है कि उपमा मे प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत का साम्य वाच्य होता है, पर रूपक मे वह साम्य व्यङ्ग्य होता है।[2] उपमा मे सादृश्य-वाचक शब्दो से, क्यङ् आदि प्रत्ययो से तथा समासोपमा मे उपमित आदि समास से सादृश्य का स्पष्ट प्रतिपादन होता है। रूपक मे उपमान का उपमेय पर आरोप होने से उपमेय के उपमान से अभेद की प्रतीति—सारोपा लक्षणा से—होती है और दोनो के बीच का साधर्म्य व्यङ्ग्य होता है। अप्पय्य दीक्षित ने भी सादृश्य के वाच्य तथा व्यङ्ग्य होने के आधार पर उपमा और रूपक के विभाग का मत स्वीकार किया है। अत, उपमा की परिभाषा की व्याख्या मे उन्होने उपमा मे सादृश्य का स्पष्ट या निर्व्यङ्ग्य होना अपेक्षित बताया है।[3]

पण्डिराज जगन्नाथ ने व्यङ्ग्या उपमा का उदाहरण देकर अप्पय्य दीक्षित आदि की इस मान्यता का खण्डन किया है कि उपमा मे साम्य केवल वाच्य होता है।[4] पण्डितराज को उपमा के भेदाभेद-तुल्यप्रधान होने के आधार

---

१. सादृश्यमूलकमेव च तादात्म्य रूपकमामनन्ति।
—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ३५५

२ साम्य वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमा द्वयोः।
तथा—रूपकादिषु साम्यस्य व्यङ्ग्यत्वम्। इत्यस्या भेदः।
—विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, १०,१७ तथा उसकी वृत्ति पृ० ५६६-६७

३. यत्रोपमानोपमेययो सहृदयहृदयाह्लादकत्वेन चारुसादृश्यमुद्भूतत-योल्लसति व्यङ्ग्यमर्यादा विना स्पष्ट प्रकाशते तत्रोपमालङ्कारः।
—अप्पय्यदीक्षित कुवलयानन्द, वृत्ति पृ० ३

४. क्वचिद्व्यङ्ग्यापि चेयमुपमालङ्कार.। एतेनाप्पय्यदीक्षितैरुपमालक्षणे दत्तमव्यङ्ग्यत्वविशेषणमयुक्तमेव।—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० २८३,

पर अभेदप्रधान रूपक आदि से तथा भेदप्रधान प्रतिवस्तूपमा आदि से भेद-निरूपण मान्य है।[१] निष्कर्ष यह कि उपमा और रूपक, दोनो मे समान रूप से प्रस्तुत और अप्रस्तुत के बीच सादृश्य-निरूपण से प्रस्तुत का उपस्कार होता है। दोनो मे भेद यह है कि—

(क) उपमा मे दो भिन्न वस्तुओ का सादृश्य-निरूपण होने के कारण दोनो के भेद और अभेद की तुल्यरूप से प्रधानता रहती है, पर रूपक में प्रस्तुत पर अप्रस्तुत का अभेदारोप होने के कारण अभेद की प्रधानता रहती है।

(ख) उपमा मुख्यतः अभिधा शक्ति पर आश्रित है; पर रूपक गौणीवृत्ति अर्थात् लक्षणा पर।

(ग) समासोपमा और समासरूपक मे प्रयोग की समता होने पर अलङ्कार-विशेष का निर्णय इस आधार पर होता है कि उपमेय की प्रधानता रहने पर उपमा और उपमान की प्रधानता रहने पर रूपक होता है। उपमित समास मे उपमेय की प्रधानता रहने से उपमा तथा मयूरव्यसकादि समास मे उपमान की प्रधानता रहने से रूपक अलङ्कार होता है।

(घ) सादृश्य के वाच्य होने पर उपमा और व्यङ्ग्य होने पर रूपक मानकर भी दोनों का भेद-निरूपण हुआ है, पर व्यङ्ग्या उपमा के उदाहरण देकर जगन्नाथ ने इस विभाजक आधार को अशक्त सिद्ध कर दिया है।[२]

उपमा और उत्प्रेक्षा

आचार्य दण्डी ने सर्वप्रथम उत्प्रेक्षा और उपमा के पारस्परिक भेद का विशद निरूपण किया।[३] इसकी आवश्यकता उन्हे इसलिए जान पडी होगी कि कुछ शब्द समान रूप से उपमा तथा उत्प्रेक्षा, दोनो के वाचक है। मन्ये, शङ्के, मानो आदि तो केवल उत्प्रेक्षा के वाचक है; किन्तु, इव, सा, आदि सादृश्यवाचक शब्द उत्प्रेक्षा और उपमा दोनो के वाचक है। क्रिया के साथ इव आदि सादृश्यवाचक पदो का प्रयोग सम्भावना का सूचक होता है। अतः, क्रिया-पद के साथ इव आदि का प्रयोग उत्प्रेक्षा का तथा क्रियातिरिक्त सज्ञा विशेषण आदि पदो के साथ इव आदि सादृश्यवाचक पदो का प्रयोग उपमा का स्वरूप-विधान करता है।

---

१ एवमभेप्रधानेष्वपि रूपकापह्नुतिपरिणामभ्रान्तिमदुल्लेखादिषु……… नास्त्युपमालङ्कृतित्वम्।—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० २४८-४९

२. वही, पृ० २८३

३. दण्डी, काव्यादर्श, २, २२६-३४

उपमा में उपमान सिद्ध तथा उत्प्रेक्षा में उपमान असिद्ध होता है। सिद्ध होने का तात्पर्य है उसका लिङ्ग, सख्या और कारक से युक्त होना। जो पद लिङ्ग, सख्या तथा कारक से अन्वित नही हो, उसका अर्थ साध्य माना जाता है। अतः क्रिया सार्वत्रिक रूप से साध्य मानी गयी है। क्रिया मे आकाक्षा अन्तर्निहित (अपूर्ण) रहती है। अत वह पदार्थ की साध्यावस्था का बोध कराती है। 'वाक्य-पदीय' में यह मान्यता प्रकट की गयी है कि क्रिया सिद्ध या असिद्ध वस्तु का साध्यरूप में अभिधान करती है।[२] क्रिया के साध्य होने के कारण उसके साथ इव आदि का प्रयोग कर उपमा अलङ्कार का विधान नही हो सकता। वैसे स्थल में उत्प्रेक्षा की ही योजना होगी, चूँकि साध्य क्रिया के साथ प्रयुक्त इव आदि पद सम्भावना-मात्र के वाचक होगे। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर महाभाष्यकार ने कहा था कि तिङन्त अर्थात् क्रियापद के अर्थ का उपमान होना (सिद्ध उपमान होना) सम्भव नही।[3] आचार्य कैयट ने उक्त कथन की व्याख्या करते हुए कहा है कि क्रिया साध्य स्वभाव की होती है। उसका स्वरूप अनिष्पन्न रहता है। उपमान सिद्ध पदार्थ ही हो सकता है। क्रिया-पद का अर्थ साध्य होने से वह उपमान नही हो सकता।[४]

विद्या चक्रवर्ती का मत है कि उपमा मे उपमान लोक-प्रसिद्ध या तात्त्विक होता है और उत्प्रेक्षा मे कविकल्पित तथा लोक मे असिद्ध।[५] इस आधार पर उपमा और उत्प्रेक्षा का भेद-निरूपण करने मे दो प्रकार की आपत्तियाँ उठायी जा सकती है। एक तो यह कि उपमा मे भी कविकल्पित उपमान की योजना हो सकती है। उपमा का कल्पितोपमा भेद लोक में असिद्ध, कवि-कल्पना से प्रसूत उपमान पर ही आधृत है। दूसरे, लोक-सिद्ध उपमान से

---

१. यावत् सिद्धमसिद्ध वा माध्यत्वेनाभिधीयते।
आश्रितक्रमरूपत्वात् सा क्रियेत्यभिधीयते।
—भर्तृहरि, वाक्यपदीय, ३, ८, १

२. न वै तिङन्तेनोपमानमस्ति।
—पतञ्जलि, महाभाष्य, पाणिनि सूत्र, ३, १, ७

३. उक्तश्चाभियुक्तै —सिद्धस्यैव समानार्थमुपमान विधीयते।
तिङन्तार्थस्तु साध्यत्वादुपमान न जायते।

४ ····उपमानाशश्चेल्लोकत. सिद्धस्तदोपमैव द्वयोस्सिद्धत्वादिवशब्दः साधर्म्यद्योतकः। यदा तु कविकल्पित तदोत्प्रेक्षैव।
—अलङ्कारसर्वस्व पर विद्याचक्रवर्ती की सजीवनी टीका पृ० ७२

दिखाया जाता है। जब कवि को वर्ण्य वस्तु के समान अन्य कोई वस्तु नही मिल पाती, जिसे वह वर्ण्य का उपमान बना सके तब वह वर्ण्य वस्तु को ही—उपमेय को ही—उसका उपमान भी कल्पित कर लेता है। अनन्वय में जो उपमेय होता है, वही अपना उपमान भी होता है। इस प्रकार उपमा और अनन्वय मे सादृश्य-निरूपण की प्रक्रिया की समानता होने पर भी दोनो मे कवि का उद्देश्य अलग-अलग रहता है। उपमा मे वर्ण्य वस्तु का अन्य वस्तु (उपमान) के साथ सादृश्य विवक्षित रहता है पर अनन्वय में वर्ण्य वस्तु के अन्य किसी भी वस्तु के साथ सादृश्य के अभाव की प्रतीति विवक्षित रहती है। वर्ण्य का अन्य वस्तु के साथ सादृश्य-व्यवच्छेद दिखाने के लिए ही कवि उपमेय को ही एक मात्र उसके (उपमेय के) समान बताता है। पण्डितराज जगन्नाथ की मान्यता है कि कल्पितोपमा मे भी असत् उपमान की कल्पना से प्रकारान्तर से सत् उपमान का निषेध सूचित होता है। इस प्रकार अन्य सादृश्य-व्यवच्छेद—सत् उपमान-व्यवच्छेद—कल्पितोपमा और अनन्वय में समान रूप से विवक्षित रहता है। अत, कल्पितोपमा से अनन्वय का व्यवच्छेदक उसमे उपमान तथा उपमेय की एकता ही है।[1]

प्रश्न यह है कि सादृश्य दो या अनेक वस्तुओ के बीच ही सम्भव होता है। वह दो या दो से अधिक वस्तुओ के बीच रहने वाला धर्म है, फिर एक ही वस्तु मे सादृश्य-निरूपण की क्या युक्ति होगी? अप्पय्य दीक्षित आदि कुछ आचार्यो ने अनन्वय सज्ञा की सार्थकता अन्यसादृश्य-व्यवच्छेद के अतिरिक्त अपने मे अपने सादृश्य के अन्वय के अभाव मे भी मानी है। किसी वस्तु का अन्य वस्तु के साथ सादृश्य ही अन्वित होता है। उस वस्तु का उसी के साथ सादृश्य दिखाने मे अन्वय का अभाव रहता है। अत, उन आचार्यो के अनुसार अनन्वय अन्वर्थ अभिधान है।[2] लेकिन अनन्वित कल्पना को काव्यालङ्कार का स्वरूप मानना समस्या का सन्तोषजनक समाधान नही है। समुद्रबन्ध ने उक्त

---

१. कल्पितोपमायामतिप्रसङ्गवारणायैकोपमानोपमेयकमिति। अत्रासत उपमानस्य कल्पनया सदुपमान नास्तीति द्वितीय-सदृशव्यवच्छेदस्यास्ति प्रतीति।—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ३२३

२ धर्मैक्ये हि स्वस्य स्वेनोपमा नान्वेतीत्यनन्वय इत्यन्वर्थं नाम। —अप्पय्यदीक्षित, चित्रमीमासा पृ० ४६। तथा—एकस्यैव सिद्ध-साध्यरूपेणोपमानोपमेयत्वेनाविद्यमानोऽन्वय सम्बन्धो यत्र स तथोक्त। —विमर्शिनी, पृ० ३८

प्रश्न के उत्तर मे कहा है कि यद्यपि अनन्वय मे उपमेय और उपमान एक ही वस्तु होती है, पर उसका शब्दत दो बार उल्लेख होता है। एक ही वस्तु का शब्दत. दो बार उल्लेख हो तो वस्तु के भिन्न-भिन्न होने का आभास मिलता है। तात्त्विक अभिन्नता होने पर भी वस्तु की विभिन्नता की प्रतीति हो जाती है तथा भिन्न प्रतीत होती हुई वस्तु दूसरी वस्तु (वस्तुत उसी वस्तु) के सदृश समझ ली जाती है। अत 'अर्जुन अर्जुन के ही समान थे' यह कहने मे अर्जुन का दूसरे शब्द से अभिहित, अत भिन्न प्रतीत अर्जुन के साथ सादृश्य अन्वित हो जाता है।[१] विद्याचक्रवर्त्ती ने इस तथ्य को और भी स्पष्ट शब्दों मे प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार अनन्वय में उपमेय के लिए प्रयुक्त शब्द का वाच्य अर्थ ग्रहण होता है और उपमान के रूप में प्रयुक्त उसी शब्द का व्यङ्ग्य अर्थ ग्रहण होता है। एक अर्थ वाच्य तथा दूसरा व्यङ्ग्य होने से परस्पर भिन्न होता है और इस प्रकार दोनो में (तत्त्वतः एक में ही) सादृश्य-निरूपण सम्भव होता है।[२] निष्कर्ष यह कि उपमा और अनन्वय मे सादृश्य निरूपण की बहुत कुछ समता होने पर भी दोनो मे निम्नलिखित भेद हैं—

(क) उपमा मे भिन्न-भिन्न वस्तुओ मे उपमानोपमेय-भाव की कल्पना कर उपमेय का उपमान से सादृश्य-निरूपण होता है।

अनन्वय में एक ही वस्तु मे—वस्तु का दो बार शब्दतः उल्लेख कर—उपमानोपमेय-भाव की कल्पना कर उस वस्तु का उसी से सादृश्य-निरूपण होता है।

(ख) उपमा मे प्रस्तुत वस्तु का अन्य वस्तु से सादृश्य विवक्षित होता है; पर अनन्वय मे प्रस्तुत वस्तु का अन्य सादृश्य-व्यवच्छेद दिखाना अभीष्ट होता है। किसी वस्तु को केवल अपने सदृश कहने का तात्पर्यार्थ उसके समान किसी अन्य वस्तु के नही होने का होता है। कल्पितोपमा में भी अन्य-सादृश्य-

---

१ एक एवार्थ. शब्देन द्विरभिहितो भिन्नवदवभासते। तस्मादर्जुनोऽर्जुन इवेत्यादौ एकस्यैवार्जुनशब्दस्य शब्द-वाच्याकारपर्यालोचनेन भेदावभासात् पूर्वनिर्दिष्टस्य साधर्म्यादिरूपस्यानुगमः सम्बन्धो वेदितव्यः।
—समुद्रबन्ध, पृ० २६

२. पूर्वरूपमुपमेयत्वम्। तदनुगमो वाच्याभिप्रायेण यत् पुनरपूर्वरूपमुपमानत्वं तदनुगमो व्यङ्ग्यभिप्रायेण। —अलङ्कार सूत्र, सजीवनी, पृ० ४३

व्यवच्छेद इष्ट होता है; पर उससे अनन्वय का भेद यह है कि अनन्वय मे उपमान तथा उपमेय एक ही होता है जबकि कल्पितोमा मे अलग-अलग।

(ग) रशनोपमा मे एक वाक्य का उपमेय उत्तरवर्ती वाक्य मे उपमान बनता चलता है। एक ही उपमेय का उपमानत्व वाक्य-भेद से होने के कारण रशनोपमा अनन्वय से भिन्न है। अनन्वय मे एक ही वाक्य मे जो उपमेय रहता है, उसे अपना ही उपमान कल्पित किया जाता है। रशनोपमा मे उपमेय उपमान तो बनता है, पर वाक्य-भेद से अपना नही, अन्य का। यही अनन्वय और रशनोपमा का भेद है।

उपमा और उपमेयोपमा

उपमेयोपमा को भी कुछ आचार्यों ने उपमा का एक भेद माना है तो अन्य आचार्यों ने उसकी गणना स्वतन्त्र अलङ्कार के रूप मे की है। उपमा मे प्रसिद्ध उपमान के साथ वर्ण्य वस्तु की उपमा दी जाती है। उपमेयोपमा मे भी प्रसिद्ध उपमान के साथ वर्ण्य अर्थात् उपमेय की उपमा दी जाती है, पर इसके साथ ही उसमें वर्ण्य वस्तु के साथ उपमान की भी उपमा दी जाती है। इस प्रकार उपमेयोपमा की रूप-योजना की प्रथम प्रक्रिया—उपमान के साथ उपमेय का सादृश्य-निरूपण—उपमा के समान है; पर उसकी दूसरी प्रक्रिया इसके प्रतीप रूप मे—उपमेय के साथ उपमान के सादृश्य-निरूपण के रूप मे—होती है। वर्ण्य का उपमान के साथ तथा उपमान का वर्ण्य के साथ सादृश्य-निरूपण होने के कारण उपमेयोपमा को अन्योन्योपमा अभिधान से भी अभिहित कर कुछ आचार्यो ने उपमा का ही एक भेद स्वीकार किया है।[१]

उपमा मे वर्ण्य का किसी उपमान से सादृश्य-प्रतिपादन अन्य उपमान से उसके सादृश्य की सम्भावना का निषेध नही करता; पर उपमेयोपमा मे दो वस्तुओ—उपमेय तथा उपमान—के बीच पारस्परिक सादृश्य का नियमन उन दोनो के तृतीय-वस्तु-सादृश्य-व्यवच्छेद मे परिणत होता है। 'यह वर्ण्य वस्तु अमुक उपमान के सदृश है तथा वह उपमान इस उपमेय के सदृश है' इस कथन का तात्पर्य यह होता है कि वर्ण्य के सदृश उस उपमान के अतिरिक्त

---

१. आचार्य दण्डी की अन्योन्योपमा परवर्ती आचार्यों की उपमेयोपमा से अभिन्न है।

अन्य कोई वस्तु नही। उद्भट, रुद्रट तथा पण्डितराज जगन्नाथ ने उपमेयोपमा की परिभाषा मे 'तृतीयसादृश्य-व्यवच्छेद' का उल्लेख भी किया है।[1] जहाँ 'तृतीय-सादृश्य-व्यवच्छेद' विवक्षित नही हो, वहाँ तो उपमा मानी जायगी, जिसे परस्परोपमा आदि सज्ञा दी जा सकती है; पर 'तृतीय सादृश्य-व्यवच्छेद' विवक्षित होने पर उपमेयोपमा मानी जायगी।[2] अतः, उद्भट, रुद्रट, जगन्नाथ आदि के मतानुसार 'तृतीय-सादृश्य-व्यवच्छेद' को उपमेयोपमा का व्यवच्छेदक धर्म माना जाना चाहिए। निष्कर्षत', उपमा और उपमेयोपमा मे भेद यह है कि —

(क) उपमा मे उपमेय का उपमान के साथ सादृश्य बताया जाता है। उपमेयोपमा मे उपमेय और उपमान का परस्पर सादृश्य दिखाया जाता है। उपमेय को उपमान के सदृश कह देना उपमा के रूप-विधान के लिए पर्याप्त है; पर उपमेय को उपमान के सदृश कहकर पुनः उपमान को उपमेय के सदृश कहना उपमेयोपमा के विधान के लिए अपेक्षित है।

(ख) उपमेयोपमा में उपमेय तथा उपमान का परस्पर सादृश्य दिखाने के लिए दो वाक्यो का प्रयोग आवश्यक होता है। एक वाक्य मे उपमेय को उपमान के सदृश तथा दूसरे वाक्य मे उपमान को उपमेय के सदृश बताया जाता है। उपमा मे उपमेय का उपमान के साथ सादृश्य-निरूपण एक ही वाक्य मे हो सकता है।

(ग) उपमेयोपमा में दो वस्तुओ—उपमेय और उपमान—का परस्पर सादृश्य-निरूपण तृतीय वस्तु के सादृश्य के निषेध मे परिणत होता है; पर उपमा मे एक वस्तु का दूसरी वस्तु के साथ—उपमेय का उपमान के साथ—सादृश्य-निरूपण अन्य वस्तु के सादृश्य की सम्भावना का निषेध नही करता।

उपमा और प्रतिवस्तूपमा

प्रतिवस्तूपमा को भामह, दण्डी आदि आचार्यों ने उपमा का ही एक भेद माना है; पर अधिकाश आलङ्कारिको ने उसे स्वतन्त्र अलङ्कार माना है। प्रतिवस्तूपमा औपम्य-गर्भ अलङ्कार तो है; पर उपमा से अभिन्न नही। उसके

---

१. द्रष्टव्य - उद्भट, काव्यालङ्कार, ५,२७, रुद्रट, काव्यालङ्कार, ८,६ (उभयोपमा) तथा जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ३०६

२. द्रष्टव्य—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ३०९-१०

विशेषाधायक अनेक तत्त्वो का निर्देश उपलब्ध है। उद्भट ने दो वाक्यार्थो मे सादृश्य-निरूपण की दृष्टि से प्रतिवस्तूपमा को उपमा के समान मानकर दोनों के दो भेदक तत्त्वो का सङ्केत दिया है—(१) प्रतिवस्तूपमा मे उपमेय और उपमान, दोनो के साथ—उपमेय वाक्य तथा उपमान वाक्य; दोनों मे—साधारण धर्म का उपादान होता है, जब कि उपमा मे साधारण धर्म का एक ही बार निर्देश पर्याप्त माना जाता है। (२) प्रतिवस्तूपमा में उपमावाची शब्द का प्रयोग नही होता, उपमा में 'इव' आदि वाचक शब्दों का प्रयोग होता है (लुप्तोपमा मे भले समास आदि के कारण वह वाचक शब्द लुप्त रहे)।[1] वामन ने भी वाक्यार्थोपमा से प्रतिवस्तूपमा का भेद-निरूपण उद्भट की पद्धति पर ही किया है। उनकी मान्यता है कि प्रतिवस्तूपमा मे दो वाक्यार्थ रहते है, जिनमे से एक उपमेय होता है और दूसरा उपमान; पर वाक्यार्थोपमा मे उपमेय और उपमान—उपमेय वाक्य और उपमान वाक्य—अर्थ की दृष्टि से एक ही वाक्य बनते है। अतः, वाक्यार्थोपमा मे एक वाक्यार्थ मे उपमानोपमेय-भाव की कल्पना होती है, पर प्रतिवस्तूपमा में दो वाक्यार्थो मे उपमानोपमेय-भाव कल्पित होता है, यह दोनो का पारस्परिक भेद हैं।[2] उद्योतकार ने इस तथ्य को ही स्पष्ट शब्दो मे कहा है कि उपमा मे वाक्यार्थो के बीच साधारण धर्म इव आदि वाचक शब्द से कथित होता है; पर प्रतिवस्तूपमा मे वस्तु-प्रतिवस्तु-भावापन्न वाक्यार्थो मे औपम्य सदा गम्य ही होता है। यह दोनो का भेद है।[3] मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ, जयदेव, अप्पय्य दीक्षित आदि उपमा और प्रतिवस्तूपमा के स्वरूप के सम्बन्ध मे एकमत है। जगन्नाथ ने प्रतिवस्तूपमा के भेदप्रधान तथा उपमा के भेदाभेद-तुल्यप्रधान होने के आधार पर भी दोनो का भेद-निरूपण किया है।[4] उपमा तथा प्रति-

---

१. द्रष्टव्य—उद्भट, काव्यालङ्कार सारसग्रह, १, ५१-५२ तथा उसकी विवृति पृ० १९

२ अत्र (प्रतिवस्तूपमाया) द्वौ वाक्यार्थौ, एको वाक्यार्थ उपमायामिति भेदः।—वामन, काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति, पृ० २२३

३ न च ... वाक्यार्थोपमायामतिव्याप्तिरिति वाच्यम् वस्तुप्रतिवस्तु-भावापन्नसाधारणधर्मक वाक्यार्थयोर्गम्यमौपम्यमित्यस्य विवक्षितत्वात् तत्र तु इवशब्देन वाच्यमेवेत्यदोषात्।—काव्यप्रकाश की उद्योतटीका, बालबोधिनी टीका में उद्धृत, पृ० ६३४

४. द्रष्टव्य—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० २४८-४९

वस्तूपमा के सर्वसम्मत स्वरूप पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर दोनों के बीच निम्नलिखित भेदक तत्त्व उपलब्ध होते है :—

(१) उपमा मे औपम्य पदार्थगत होता है, पर प्रतिवस्तूपमा मे वाक्यार्थगत। प्रतिवस्तूपमा मे दो वाक्यार्थों के बीच ही सादृश्य-निरूपण होता है। उपमा मे औपम्य की विश्रान्ति पद के अर्थ मे ही होती है।

(२) उपमा मे एक वाक्य होता है, पर प्रतिवस्तूपमा मे दो वाक्यो—उपमेय वाक्य तथा उपमान वाक्य—का रहना आवश्यक है। वाक्यार्थोपमा मे भी दो वाक्य रहते अवश्य है, पर वे अन्योन्याश्रित होने के कारण एक ही वाक्य माने जाते है। प्रतिवस्तूपमा के दोनो वाक्य स्वतन्त्र रहते है।

(३) उपमा मे साधारण धर्म का सकृत् उपादान होता है पर प्रतिवस्तूपमा मे उसका असकृत् उपादान होता है। प्रतिवस्तूपमा मे उपमेय तथा उपमान वाक्यो मे समान धर्म का शब्दभेद से पृथक्-पृथक् निर्देश आवश्यक है, पर उपमा मे एक ही बार साधारण धर्म का निर्देश होता है।

(४) उपमा मे 'इव' आदि उपमावाची शब्दो का उपादान होता है। प्रतिवस्पूपमा मे वाचक शब्द का उपादान नही होता।

(५) उपमा मे भेदाभेद की तुल्य रूप से प्रधानता रहती है। प्रतिवस्तूपमा भेद-प्रधान अलङ्कार है।

उपमा और व्यतिरेक

उपमान की अपेक्षा उपमेय का गुणोत्कर्ष-वर्णन सभी आचार्य व्यतिरेक का लक्षण मानते है। कुछ आचार्यो ने व्यतिरेक के इस स्वरूप के साथ-साथ उपमेय की अपेक्षा उपमान के गुणोत्कर्ष-वर्णन को भी व्यतिरेक का एक रूप माना है। एक की अपेक्षा दूसरे का अपकर्ष-वर्णन भी व्यतिरेक का एक रूप माना गया है, क्योकि परिणामत. ऐसे वर्णन में भी एक का दूसरी वस्तु की अपेक्षा उत्कर्ष सिद्ध होता है। उपमान मे गुणोत्कर्ष की धारणा निहित ही रहती है। इसीलिए तो उसके साथ तुलना कर उपमेय का उत्कर्ष-साधन किया जाता है। इस युक्ति पर कुछ आचार्य उपमानोत्कर्ष-वर्णन में व्यतिरेक अलङ्कार नही मानते। उपमा के साथ व्यतिरेक के तुलनात्मक अध्ययन से यह तथ्य स्पष्ट है कि उपमा मे प्रस्तुत का अप्रस्तुत से सादृश्य बताया जाता है, पर व्यतिरेक मे प्रस्तुत का अप्रस्तुत से आधिक्य बताया जाता है। उपमानाधिक्य-वर्णन-रूप

व्यतिरेक का उपमा से यह भेद है कि उपमा मे अलङ्कार-योजना के मूल मे उपमान के गुणाधिक्य की धारणा निहित रहने पर भी उसका उपमेय की अपेक्षा आधिक्य वर्णित नही होता, अपितु उपमान के समान ही उपमेय को भी गुणवान बताया जाता है, पर व्यतिरेक में उपमान का आधिक्य भी स्पष्टतः प्रतिपादित होता है। एक का दूसरे की अपेक्षा अपकर्ष-वर्णन कर के भी व्यतिरेक की रूप-योजना होती है, क्योकि उससे एक का दूसरे से आधिक्य—व्यतिरेक—सूचित होता है। अतः, व्यतिरेक मे प्रत्यक्ष रूप से या प्रकारान्तर से एक वस्तु की अपेक्षा दूसरी वस्तु का (उपमान तथा उपमेय मे से किसी एक की अपेक्षा दूसरे का) आधिक्य-वर्णन होता है; पर उपमा मे उपमान, तथा उपमेय का सादृश्य निरूपित होता है। विश्वनाथ ने दोनो का एक भेदक तत्त्व यह माना है कि व्यतिरेक वैधर्म्य से भी होता है; पर उपमा मे विरुद्ध धर्म का अभाव आवश्यक है।[1] अप्पय्य दीक्षित के अनुसार उपमान और उपमेय का विशेष या वैलक्षण्य-वर्णन व्यतिरेक का लक्षण है।[2] इस दृष्टि से उपमा से व्यतिरेक का यह भेद स्पष्ट है कि जहाँ उपमा मे उपमान और उपमेय का सादृश्य दिखाया जाता है, वहाँ व्यतिरेक मे दोनो का वैलक्षण्य निरूपित होता है।

उपमा और प्रतीप

प्रतीप उपमा का विपरीतधर्मा अलङ्कार है। इसीमे प्रतीप नाम की सार्थकता है। दण्डी ने उपमानोपमेय-भाव की प्रसिद्धि के वैपरीत्य को प्रतीप नामकरण का हेतु माना है। उपमा मे प्रस्तुत वस्तु की अप्रस्तुत वस्तु से उपमा देने का जो प्रसिद्ध क्रम है, उसके विपरीत प्रतीप मे प्रस्तुत के साथ ही अप्रस्तुत की उपमा दी जाती है; अर्थात् इसमें प्रसिद्ध उपमान को उपमेय के रूप मे कल्पित कर लिया जाता है। इस वैपरीत्य की प्रकृति को दृष्टि मे रखकर ही दण्डी ने प्रतीप को विपर्यासोपमा नाम से उपमा का एक भेद माना है।[3]

प्रतीप मे उपमेय की उपमान के रूप मे कल्पना का उद्देश्य वर्ण्य वस्तु का अप्रस्तुत की अपेक्षा आधिक्य-निरूपण होता है। हम इस तथ्य पर विचार कर

---

१ साम्य वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमा द्वयोः। तथा ··व्यतिरेके च वैधर्म्यस्याप्युक्तिः। इत्यस्या (उपमाया) भेदः।
—विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, १०,१७ तथा उसकी वृत्ति, पृ० ५९७

२. व्यतिरेको विशेषश्चेदुपमानोपमेययो.।—अप्पय्य दी० कुवलया०, ५७

३. द्रष्टव्य—दण्डी, काव्यादर्श, २,१७

चुके है कि सामान्यत उपमान मे उपमेय की अपेक्षा अधिक गुण की धारणा निहित रहती है। प्रतीप मे जब वर्ण्य वस्तु को ही उपमान बना कर उसके साथ अप्रस्तुत की उपमा दी जाती है, तब पाठक को उपमान की अपेक्षा उपमेय मे गुणोत्कर्ष का बोध हो जाता है। अत., उपमा से प्रतीप का एक भेदक तत्त्व यह भी माना जा सकता है कि जहाँ उपमा मे कवि का उद्देश्य उपमेय का उपमान के साथ सादृश्य-निरूपण कर उपमेय का उपस्कार करना होता है, वहाँ प्रतीप मे उपमान का उपमेय के साथ सादृश्य-निरूपण कर उपमान की अपेक्षा उपमेय के गुणाधिक्य का बोध कराना इष्ट होता है। मम्मट, रुय्यक आदि आचार्यो ने प्रतीप की परिभाषा मे ही उसके उक्त व्यावर्तक धर्म का उल्लेख कर दिया है। उपमान का आक्षेप—निन्दा या निषेध—तथा उसके तिरस्कार के लिए उपमेय के रूप मे उसकी कल्पना, उनके अनुसार प्रतीप के दो रूप है। इन दोनों रूपों मे परिणामत· उपमान की अपेक्षा उपमेय के आधिक्य का बोध होता है।[1] अप्पय्य दीक्षित के पाँचो प्रतीप-भेदो में उपमेय के उत्कर्ष पर बल दिया गया है।[2] निष्कर्ष यह कि :—

(क) प्रतीप रूप-विधान की दृष्टि से उपमा का विपरीतधर्मा है, क्योकि इसमे प्रसिद्ध उपमान को उपमेय के रूप मे कल्पित किया जाता है।

(ख) दोनो अलङ्कारो की योजना मे कवि के उद्देश्य मे यह भेद होता है कि उपमा मे कवि दो वस्तुओ—उपमेय और उपमान—मे सादृश्य दिखाकर प्रस्तुत का उपस्कार करना चाहता है; पर प्रतीप मे वह उपमान की अपेक्षा वर्ण्य वस्तु को अधिक उत्कृष्ट प्रमाणित करना चाहता है।

उपमा और परिणाम

परिणाम मे रूपक की तरह प्रकृत पर अप्रकृत का आरोप होने से दोनों की अभेदप्रतीति होती है। अत., रूपक की तरह परिणाम भी अभेदप्रधान अलङ्कार है। उपमा मे प्रकृत का अप्रकृत के साथ सादृश्य-निरूपण होने से दोनो

---

१. ''उपमानतया प्रसिद्धस्य उपमानान्तरविवक्षयाऽनादरार्थमुपमेयभावः कल्प्यते''।—मम्मट, काव्यप्रकाश, १०,१३३ की वृत्ति तथा उपमानस्याक्षेप उपमेयताकल्पन वा प्रतीपम्।—रुय्यक, अलङ्कार सूत्र, ६९

२. द्रष्टव्य—अप्पय्य दीक्षित, कुवलयानन्द, १२-१६

के बीच भेद और अभेद की तुल्यप्रधानता रहती है। इस प्रकार उपमा भेदाभेदतुल्यप्रधान और परिणाम अभेदप्रधान अलङ्कार है।[1]

उपमा और उभयन्यास

आचार्य रुद्रट ने उभयन्यास अलङ्कार का निरूपण करते हुए उपमा से उसके साम्य-वैषम्य का सङ्केत दिया है। यह ध्यातव्य है कि उभयन्यास का नाम-मात्र नवीन है; उसका स्वरूप अन्य आचार्यों के प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार से अभिन्न है। अतः, उपमा से उभयन्यास को व्यावर्तित करने वाले वे ही तत्त्व है, जिन तत्त्वो पर प्रतिवस्तूपमा के व्यावर्तक के रूप में विचार किया जा चुका है। नमिसाधु ने उपमा तथा उभयन्यास के प्रधान भेद का निर्देश करते हुए कहा है कि उपमा मे उपमान तथा उपमेय के बीच साधारण धर्म का तथा 'इव' आदि सादृश्यवाचक शब्दो का निर्देश होता है; पर उभयन्यास में उनका उल्लेख नही होता।[2] इस सन्दर्भ में उपमा और प्रतिवस्तूपमा का भेद द्रष्टव्य है।

उपमा और साम्य

रुद्रट, भोज आदि ने उपमा से पृथक् साम्य अलङ्कार का अस्तित्व स्वीकार किया है। उपमा में दो वस्तुओं में सादृश्य निरूपित होता है, पर साम्य में दो वस्तुओ के बीच साधारण रूप से रहने वाले गुण-क्रिया-सस्थान आदि के कारण उपमेय का उपमान के साथ अर्थक्रिया से सर्वात्मना साम्य दिखाया जाता है। समान गुण आदि के कारण जहाँ उपमेय के द्वारा ही उपमान का कार्य किये जाने का वर्णन हो, वहाँ साम्य होगा। इस प्रकार रूप-विधान की दृष्टि से उपमा और साम्य के प्रथम रूप मे यह भेद है कि उपमा मे कवि उपमेय और उपमान के बीच केवल सादृश्य दिखाता है, पर साम्य में दोनो के बीच सादृश्य के कारण उपमेय के द्वारा उपमान का कार्य किये जाने का वर्णन करता है। 'मुख चन्द्रमा-सा कान्तिमान है' यह कथन तो उपमा का उदाहरण होगा; पर 'अपनी कान्ति से मुख ही चन्द्रमा का काम (प्रकाश) कर रहा है',

---

१. एवमभेदप्रधानेष्वपि रूपकापह्नुतिपरिणामभ्रान्तिमदुल्लेखादिषु ······ नास्त्युपमानङ्कृतित्वम्।—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० २४८,४९

२. उपयाया हि सामान्यस्येवादेश्च प्रयोगः इह (उभयन्यासे) तु नैवेत्यर्थः।
—रुद्रट, काव्यालङ्कार, ८,८५ पर नमिसाधु की वृत्ति, पृ० २८२

यह साम्य का उदाहरण होगा; क्योंकि इसमें अर्थ-क्रिया से उपमेय का उपमान से सर्वात्मना साम्य दिखाया गया है। साम्य का एक रूप वह भी है, जिसमे उपमेय के उत्कर्ष के सूचक विशेष को छोड शेष बातो मे उपमेय और उपमान का सर्वात्मना साम्य दिखाया जाता हो। भोज ने उपमा और साम्य मे केवल रूप-विधान का भेद माना है।[1] दो वस्तुओ का सादृश्य उपमा और साम्य; दोनो में विवक्षित होता है। साम्य मे दो वस्तुओ का सर्वात्मना साम्य दिखाने के लिए एक के द्वारा दूसरे के कार्य-सम्पादन की कल्पना की जाती है। परवर्ती आचार्यो ने साम्य का स्वतन्त्र अस्तित्व ही स्वीकार नही किया है। सम्भव है कि उपमा, रूपक आदि से पृथक साम्य के स्वरूप की कल्पना उन्हे अनावश्यक जान पड़ी हो।

उपमा और समुच्चय

रुद्रट ने औपम्य गर्भ-समुच्चय मे उपमानोपमेय-भूत अनेक अर्थो का एक धर्माभिसम्बन्ध अपेक्षित माना था। अनेक अर्थो का एक साधारण धर्म से युक्त होना समुच्चय का व्यावर्तक लक्षण है। समुच्चय मे जिन अनेक अर्थो का एक सामान्य-सम्बन्ध दिखलाया जाता हो, उनमे उपमानोपमेय भाव होना आवश्यक माना गया है। अनेक अर्थो मे उपमानोपमेय-भाव की कल्पना होने से समुच्चय के उपमा से भेदक तत्त्व का निर्देश आवश्यक जान पडा। इस लिए रुद्रट ने समुच्चय की परिभाषा मे 'अनिवादि' पद का उल्लेख किया है। उपमा में सादृश्य के वाचक 'इव' आदि का प्रयोग होता है, पर समुच्चय मे 'इव' आदि वाचक का प्रयोग नही होता।[2] निष्कर्षत, उपमा और औपम्य वर्गगत समुच्चय मे मुख्य दो भेद है—

(१) समुच्चय मे अनेक अर्थो (दो से अधिक) का एक साधारण धर्म से सम्बन्ध दिखाना आवश्यक है, जब कि उपमा मे दो वस्तुओ—उपमेय

---

१. द्रष्टव्य—भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण, ४-३४ तथा उसपर जगद्धर की टीका—'यद्यपि त्रिषु (साम्योपमारूपकेषु) सादृश्यमस्ति तथापि प्रकारकृतो भेद इति भाव.।—सरस्वती कण्ठाभरण, पृ० ३६७

२. सोऽयं समुच्चयः स्याद्यत्रानेकोऽर्थ एकसामान्यः।
अनिवादिर्द्रव्यादिः सत्युपमानोपमेयत्वे ॥—उपमायाः समुच्चयत्वनिवृत्यर्थमाह—अनिवादिः। उपमायामिवादि-शब्द-प्रयोग इत्यर्थः।—रुद्रटः काव्यालङ्कार, ८,१०३ तथा उसकी नमिसाधुकृत, टिप्पणी पृ० २८८

और उपमान—के बीच किसी साधारण धर्म का निर्देश पर्याप्त होता है।

(२) उपमा मे 'इव' आदि वाचक शब्द का प्रयोग होता है (वाचकलुप्ता उपमा मे भले वह लुप्त हो); पर समुच्चय मे 'इव' आदि वाचक शब्द का प्रयोग नही होता।

रूपक और साम्य

साम्य मे उपमेय का उपमान से सर्वात्मना साम्य दिखाने के लिए उपमेय के द्वारा ही उपमान का कार्य सम्पादित किये जाने का वर्णन होता है। अतः, रूपक से साम्य की समता इस बात मे है कि साम्य मे उपमान के कार्य का उपमेय पर आरोप हो जाता है। भोज ने उपमा और रूपक से साम्य की स्वरूपगत समता को दृष्टि मे रखते हुए साम्य-लक्षण में 'उपमारूपकान्यत्वे' का उल्लेख किया है। टीकाकार जगद्धर ने उक्त पद के व्याख्यान-क्रम मे कहा है क यद्यपि तीनो मे (उपमा, रूपक और साम्य मे) सादृश्य है, फिर भी उनमे रचना-प्रकार का भेद है।[1] रूपक मे एक वस्तु पर अन्य वस्तु का—प्रस्तुत पर अप्रस्तुत का—आरोप किया जाता है, साम्य मे उपमेय और उपमान के बीच समान गुण आदि के कारण उपमेय का उपमान से अर्थ-क्रिया से समता दिखायी जाती है।

रूपक और समुच्चय

औपम्य-वर्गगत समुच्चय मे रूपक की सम्भावना का निवारण करने के लिए रुद्रट ने उपमानोपमेय-भाव की आवश्यकता पर बल दिया है।[2] रूपक मे अभेद की प्रधानता होती है, पर औपम्यगर्भ समुच्चय उपमा आदि की तरह भेदाभेद-तुल्य-प्रधान अलङ्कार है।

रूपक और अतिशयोक्ति

रूपक के भेद मे अपह्नव-रहित अभेद का निरूपण होता है, अर्थात् परस्पर भिन्न उपमेय और उपमान मे से उपमेय पर उपमान का आरोप कर

---

१ यद्यपि त्रिषु सादृश्यमस्ति तथापि प्रकारकृतो भेद इति भावः।
—सरस्वतीकण्ठाभरण, ४-३४ की टीका पृ० ३६७

२. द्रष्टव्य—रुद्रट, काव्यालङ्कार, ८, १०३ तथा उसपर नमिसाधुकृत टिप्पणी—एवमपि रूपकत्व स्यादित्यत आह—सत्युपमानोपमेयत्व इति। रूपके ह्यभेद एव हेतुभेदः।—नमिसाधु-टिप्पणी, पृ० २८८

दोनो को अभिन्न रूप मे प्रस्तुत किया जाता है। अतिशयोक्ति (रूपकातिशयोक्ति) मे वर्ण्य वस्तु का निगरण कर अन्य वस्तु के साथ उसका आहार्य अभेद दिखाया जाता है। विषय का निगरण-पूर्वक अध्यवसान—विषय का उल्लेख न कर या उसे गौण बनाकर विषयी के साथ अभेद-प्रतिपादन—अतिशयोक्ति का स्वरूप है। अतः उसमे उपमेय का उपमेयगत धर्म के रूप मे उल्लेख नही होता। उपमान के उल्लेख से ही उपमेय के धर्म का तथा उपमान और उपमेय के अभेद का निश्चय कराया जाता है। इस प्रकार रूपक से अतिशयोक्ति का मुख्य भेद यह है कि रूपक में उपमेय और उपमान; दोनो का उल्लेख (उपमेय पर उपमान का आरोप करने के लिए) होता है। पर, अतिशयोक्ति मे दोनो के अभेदाध्यवसान के लिए उपमेय का निगरण अर्थात् केवल उपमान का उल्लेख होता है। जगन्नाथ ने रूपक मे उपमेय का 'पुरस्कार' आवश्यक मानकर उन्होने अतिशयोक्ति से यह भेद किया है कि अध्यवसाना लक्षणामूलक अतिशयोक्ति में उपमेय का पुरस्कार नही होता।[१]

रूपक और परिणाम

रूपक मे प्रस्तुत वस्तु पर अप्रस्तुत का आरोप कर अप्रस्तुत के धर्म की प्रस्तुत मे अभेदेन सादृश्यप्रतीति करायी जाती है। इस अभेदेन सादृश्य-प्रतीति या ताद्रूप्यप्रतीति से प्रस्तुत वस्तु का उपस्कार होता है। परिणाम अलङ्कार मे आरोप्यमाण अर्थात् अप्रस्तुत वस्तु ताद्रूप्यप्रतीति से प्रस्तुत वस्तु का उपस्कार तो करती ही है; साथ ही इस अलङ्कार मे उसकी (अप्रस्तुत की) प्रकृत अर्थ मे उपयोगिता भी दिखायी जाती है। इस प्रकार प्रस्तुत पर अप्रस्तुत का आरोप रूपक और परिणाम—दोनो में समान रूप से होता है; पर दोनो का भेद यह है कि जहाँ रूपक मे प्रस्तुत पर अप्रस्तुत के आरोप का उद्देश्य केवल प्रस्तुत अर्थ का उपरञ्जन होता है, वहाँ परिणाम मे अप्रस्तुत के आरोप से प्रस्तुत अर्थ का उपरञ्जन करने के साथ प्रस्तुत का अप्रस्तुत के व्यवहार से युक्त होना भी दिखाया जाता है। 'अलङ्कार-सर्वस्व' के टीकाकार श्री चक्रवर्ती

---

१. उपमेयतावच्छेदकपुरस्कारेणोपमेये शब्दान्निश्चीयमानमुपमानतादात्म्यं रूपकम्।····उपमेयतावच्छेदकपुरस्कारेणेति विशेषणादपह्नुतिभ्रान्तिमदतिशयोक्तिनिदर्शनाना निरास ।··· ··· अतिशयोक्तिनिदर्शनयोश्च साध्यवसानलक्षणामूलकत्वादुपमेयतावच्छेदकस्य नास्ति पुरस्कारः।
—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ३५४-५५

ने परिणाम को 'व्यवहारान्त आरोप' कहा है।[1] इसी तथ्य को दृष्टि मे रख कर दूसरे टीकाकार जयरथ ने प्रकृत अर्थ का अप्रकृत अर्थ के व्यवहार से विशिष्ट होना परिणाम का स्वभाव माना है।[2] रूपक मे प्रस्तुत वस्तु के रूप पर अप्रस्तुत के रूप का आरोप-मात्र होता है। यह रूप-समारोप परिणाम मे भी होता है, साथ ही इसमे प्रकृत पर अप्रकृत के व्यवहार का भी समारोप होता है। रूपक मे अप्रस्तुत प्रस्तुत को अपने रूप से सर्वथा रूपित कर लेता है। अतः उसमे प्रस्तुत गौण होकर अप्रस्तुत के रूप में खो जाता, है पर परिणाम मे प्रस्तुत की भी उपयोगिता शेष रहती है। अप्पय्य दीक्षित तथा पण्डितराज जगन्नाथ के शब्दो मे परिणाम मे विषयी विषयात्मतया ही प्रकृत कार्य मे उपयोगी होता है। अतः, आरोप्यमाण की ही विषय के साथ तादृरूप्य-प्रतीति होती है।[3] नागेश भट्ट के अनुसार रूपक मे उपमान-प्रतियोगिक अभेद तथा परिणाम मे उपमेय-प्रतियोगिक अभेद दिखाया जाता है।[4] फलतः, प्रस्तुत अपना स्वरूप नही खोता। नेत्रकमल रूपक का उदाहरण है। इसमे उपमान कमल उपमेय नेत्र को अपने रूप से रूपित कर लेता है। नेत्र-कमल के रूप में अपना अस्तित्व मिला देता है, पर परिणाम की इस उक्ति मे—'नयन-कमल से देख रही है'—देखना क्रिया मे नयन की उपयोगिता शेष रहती है। अतः, कमल से रूपित होने पर भी नयन (अपनी उपयोगिता के कारण) कमल मे खो नही जाता। इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए उद्योतकार ने कहा है कि परिणाम में आरोप्यमाण विषयी विषयात्मतया ही प्रकृत कार्य मे उपयोगी होता है, स्वतन्त्र रूप से नही। पर, रूपक मे ऐसी बात नही होती।[5]

---

१. अतो व्यवहारान्तमारोपः, न तु रूपकन्यायेन रूपसमारोपमात्रम्···।
—चक्रवर्ती, सञ्जीवनी-टीका, पृ० ५८

२. प्रकृतमप्रकृतव्यवारविशिष्टतयावतिष्ठते।—जयरथ, विमर्शिनी पृ० ५१

३. परिणामः क्रियार्थश्चेद्विषयी विषयात्मना।—अप्पय्य दीक्षित, कुवलयानन्द, २१ तथा—उपरञ्जकतामाहार्यताद्रूप्यनिश्चयगोचरतामेतीत्यनेन सन्देहोत्प्रेक्षासमासोक्तिपरिणामभ्रान्तिमत्स्वनिव्याप्तिनिरासः। ··समासोक्तिपरिणामयोर्विषयताद्रूप्यस्यागोचरत्वात्···इत्याहुः।
—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ३५७-५८

४. उपमानप्रतियोगिकाभेदो रूपकम्। उपमेयप्रतियोगिकाभेदः परिणामः प्रतीपवत्।—रसगङ्गाधर, नागेश की टीका, पृ० ३६२

५. यत्तु आरोप्यमाणो यत्र विषयात्मतयैव प्रकृतकार्योपयोगी न स्वातन्त्र्येण स परिणामः। अत्र च विषयाभेदः आरोप्यमाणे उपयुज्यते, रूपके तु नैवमिति विशेषः।—काव्यप्र० उद्योत से बालबोधिनी में उद्धृत, पृ० ५६४

उक्त दोनों अलङ्कारो में रूप-समारोप की समता को दृष्टि मे रखते हुए 'काव्यप्रकाश' के कुछ टीकाकारो ने यह मन्तव्य प्रकट किया है कि मम्मट को रूपक मे ही परिणाम का अन्तर्भाव अभीष्ट था,[१] पर मम्मट ने स्पष्टत ऐसा कही नही कहा है। मम्मट के पूर्ववर्ती आचार्यो ने परिणाम के अस्तित्व की कल्पना नही की थी। सम्भव है, वे रूपक के व्यापक स्वरूप मे परिणाम की उक्तिभङ्गी को भी समाविष्ट मानते रहे हो। पर, मम्मट के समकालीन तथा परवर्ती रुय्यक, जगन्नाथ आदि ने रूपक और परिणाम की पृथक्-पृथक् सत्ता प्रमाणित करने के लिए दोनो के भेदक तत्त्वों का निर्देश किया है। उन आचार्यो के भेदनिरूपण का निष्कर्ष निम्नलिखित है—

(१) रूपक मे प्रकृत पर अप्रकृत का केवल रूप-समारोप होता है; पर परिणाम मे रूप-समारोप के साथ व्यवहार-समारोप भी आवश्यक है। प्रस्तुत के ऊपर अप्रस्तुत के रूप का आरोप कर प्रस्तुत को अप्रस्तुत के कार्य से युक्त दिखाना अथवा अप्रस्तुत को प्रस्तुत-कार्य-विशिष्ट बताना परिणाम का स्वरूप है। 'मुख-चन्द्र से ताप शमन' मे मुख को चन्द्र के कार्य से युक्त तथा 'नयन-कमल से देखना' मे कमल को नयन के कार्य से युक्त कहा जाता है। दोनो परिणाम के उदाहरण है। एक में प्रकृत का अप्रकृत-व्यवहार-विशिष्ट होना कहा गया है। इसे ही जयरथ ने परिणाम का लक्षण माना था। दूसरे में, अप्रकृत का प्रकृतात्मतया उपयोग दिखाया गया है। अप्पय्य दीक्षित तथा जगन्नाथ के अनुसार परिणाम का यही लक्षण है।

(२) रूपक मे प्रस्तुत अप्रस्तुत के रूप से रूपित होकर गौण हो जाता है और अपना स्वरूप खो देता है, पर परिणाम मे उसका उपयोग शेष रहता है। अतः, वह अपना स्वरूप नही खोता।

(३) रूपक मे विषय का आरोप्यमाण के साथ तादूरूप्य दिखाया जाता है; पर परिणाम में आरोप्यमाण का ही विषय से ताद्रूप्य-रूपण होता है।

रूपक और अपह्नुति

रूपक मे प्रकृत वस्तु पर अप्रकृत का आरोप किया जाता है। अपह्नुति मे प्रकृत का निषेध कर उसकी जगह अप्रकृत की स्थापना की जाती है। अन्य अर्थात् अप्रकृत वस्तु का आरोप या स्थापन दोनो अलङ्कारो मे होता है।

---

१. परिणामालङ्कारस्तु रूपके एवान्तर्भवतीति दिक्।
—काव्यप्रकाश, नागेश्वरी टीका, पृ० २४०

दोनो का मुख्य भेद यह है कि रूपक में प्रकृत तथा अप्रकृत; दोनों का उपस्थापन होता है; पर अपह्नुति मे प्रकृत का निषेध होने के कारण उसका उपस्थापन नही होता। पण्डितराज जगन्नाथ ने रूपक की परिभाषा में प्रकृत के 'पुरस्कार' का उल्लेख कर अपह्नुति, अतिशयोक्ति तथा भ्रान्तिमान् अलङ्कारो से रूपक का भेद स्पष्ट कर दिया है। अपह्नुति मे उपमेय का स्वेच्छा से निषेध किये जाने के कारण उसका पुरस्कार नही किया जाता; अतिशयोक्ति मे उपमेय का निगरण होने से (अभेदाध्यवसान-प्रधान होने के कारण) पुरस्कार नही होता; निदर्शना मे भी अध्यवसानमूलकता के कारण उपमेय का पुरस्कार नही होता और भ्रान्तिमान् में उपमेय का ज्ञान नहीं होने से उसका पुरस्कार नही होता। रूपक मे उपमेय और उपमान; दोनों को प्रस्तुत कर कवि उपमेय पर उपमान का आरोप करता है।[1] रूपक का अपह्नुति आदि से यही भेद है। इस तथ्य को 'प्रदीप' में इस रूप में व्यक्त किया गया है—रूपक में अनपह्नुत वस्तुओं का अभेद विवक्षित होता है, अतः वह अपह्नुति से भिन्न है; क्योंकि अपह्नुति में अपह्नवपूर्वक अभेद विवक्षित रहता है।[2]

रूपक और भ्रान्तिमान्

हम देख चुके है कि पण्डितराज जगन्नाथ ने उपमेय के पुरस्कार तथा उसके पुरस्काराभाव के आधार पर रूपक और भ्रान्तिमान् का भेद-निरूपण किया है। रूपक में प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत, दोनो का उल्लेख होता है और प्रस्तुत पर अप्रस्तुत का रूप-समारोप होता है, पर भ्रान्तिमान् में उपमेय मे उपमान की ही प्रतीति होती है। जब तक भ्रान्ति-ज्ञान रहता है तब तक प्रस्तुत मे उससे भिन्न अप्रस्तुत का ही निश्चयात्मक ज्ञान रहता है। उस समय प्रस्तुत के अपने स्वरूप का ज्ञान ज्ञाता को नही

---

१. उपमेयतावच्छेदकपुरस्कारेणेति विशेषणादपह्नुतिभ्रान्तिमदतिशयोक्तिनिदर्शनानां निरासः। अपह्नुतौ स्वेच्छया निषिध्यमानत्वाद् भ्रान्तिमति च तज्जनकदोषणैव प्रतिबध्यमानत्वात् उपमेयतावच्छेदकस्य नास्ति पुरस्कारः। —जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ३५४-५५

२ अभेदश्चात्र (रूपके) अनपह्नुतभेदयोर्विवक्षित इति नापह्नुतावतिव्याप्तिः।
—काव्यप्रकाश प्रदीप टीका, बालबोधिनी में उद्धृत, पृ० ५९,३

रहता। भ्रान्तिदशा मे प्रस्तुत के ज्ञान के अभाव को दृष्टि मे रखकर ही जगन्नाथ ने भ्रान्तिमान् मे उपमेय के पुरस्कार का अभाव कहा है। मम्मट ने भी दोनो का भेद इस आधार पर किया था कि रूपक में वास्तविक भ्रम नही रहता। उसमे एक वस्तु पर अन्य का स्वेच्छा से आरोप किया जाता है, पर भ्रान्तिमान् मे प्रमाता को केवल अयथार्थ । ान ही रहता है।[१]

रूपक और अभेद

रूपक तथा अभेद अलङ्कारो का पारस्परिक भेद बताते हुए शोभाकर ने कहा है कि रूपक मे आरोप-विषय तथा आरोप्यमाण का अभेद-मात्र प्रतीत होता है; पर अभेद अलङ्कार मे विषयी के नियत धर्म की हानि बताकर विषय के साथ उसके सर्वथा अभेद की प्रतीति करायी जाती है। अत॰, रूपक मे अभेदमात्र की प्रतीति और अभेद में सर्वथा अभेद-प्रतीति; दोनो का व्यावर्तक है।[२] रूपक मे प्रस्तुत पर अप्रस्तुत का आरोप-मात्र होता है, जिससे प्रस्तुत और अप्रस्तुत का अभेद प्रतीत होता है; पर अभेद मे अप्रस्तुत के उन गुणो की, जो प्रस्तुत से उसका भेद करते है, हानि की कल्पना कर प्रस्तुत के साथ अप्रस्तुत के सर्वथा अभेद की प्रतीति करायी जाती है।

रूपक और उल्लेख

आचार्य दण्डी ने हेतु-रूपक के जिस स्वरूप का निरूपण किया था, उसे परवर्ती आचार्यो ने उल्लेख नाम दिया है।[३] विषय-भेद से—हेतु-भेद से—एक वस्तु पर अनेक का आरोप दण्डी के अनुसार हेतुरूपक है। विश्वनाथ, अप्पय्य दीक्षित आदि अर्वाचीन आचार्य विषय-भेद से एक वस्तु के अनेकधा उल्लेख अर्थात् ग्रहण (एक वस्तु पर अनेक के आरोप) मे उल्लेख अलङ्कार

---

१. नचैष (भ्रान्तिमान्) रूपक'' '' 'तत्र वस्तुतो भ्रमस्याभावात् इह च अर्थानुगमनेन सञ्ज्ञाया' प्रवृत्ते तस्य स्पष्टमेव प्रतिपन्नत्वात् ।
—मम्मट, काव्यप्रकाश, १०,१३२; की वृत्ति पृ० २९१

२. नियतधर्महानावारोप्यमाणस्यातिसाम्यमभेद' ।
—शोभाकर, अलङ्कार-रत्नाकर सूत्र, २७ तथा उसकी वृत्ति, द्रष्टव्य

३. द्रष्टव्य—दण्डीकृत हेतुरूपकलक्षण, काव्यादर्श, २,८५-८६ तथा उस पर कुसुमप्रतिमा-टीका—विश्वनाथप्रभृतयस्तु एतादृशस्थले उल्लेखालङ्कारमाहु. । – वही, पृ० ११८

मानते है। स्पष्ट है कि दण्डी के हेतु रूपक से परवर्ती आचार्यों का वह उल्लेख-भेद, जिसमे विषय-भेद से एक वस्तु का अनेकधा उल्लेख होता है, आविर्भूत है। 'काव्यप्रकाश' की उद्योत टीका मे उल्लेख के स्वतन्त्र अलङ्कारत्व का खण्डन कर रूपक, भ्रान्तिमान्, अतिशयोक्ति तथा श्लेष आदि मे ही उसे अन्तर्भुक्त बताया गया है।[१] एक वस्तु का अनेक ज्ञाता के द्वारा अनेकधा ग्रहण-रूप उल्लेख तो दण्डी के उक्त रूपक-भेद हेतु रूपक से भिन्न है; पर जिस उल्लेख-प्रकार मे एक ही ज्ञाता एक वस्तु को अनेक हेतुओ से अनेक रूप मे ग्रहण करता है, उसका स्वरूप हेतुरूपक से मिलता-जुलता ही है। पण्डितराज जगन्नाथ की मान्यता है कि मालारूपक से उल्लेख का भेदक उसमें प्रमाता की अनेकता है। उल्लेख में अनेक ज्ञाता को एक वस्तु का अनेक रूप में ग्रहण होता है; पर मालारूपक में एक ही प्रमाता किसी एक वस्तु पर अनेक विषयी का आरोप करता है।[२]

रूपक और उत्प्रेक्षा

उत्प्रेक्षा में उत्कट कोटि का सशय होता है अर्थात् किसी वस्तु में असत् की सम्भावना की जाती है; पर रूपक में किसी वस्तु पर अन्य के रूप का समारोप होता है। इस प्रकार रूपक में तत्त्व का अवधारण होता है; पर उत्प्रेक्षा में उत्कटकोटिक सशय होने के कारण तत्त्व के अवधारण का अभाव रहता है। वामन ने उत्प्रेक्षा के लक्षण मे रूपक से उसके व्यावर्तक धर्म का स्पष्ट उल्लेख किया है। उनके अनुसार उत्प्रेक्षा मे वस्तु का जो रूप नही है, उस (अन्यथा) रूप की सम्भावना की जाती है। पारिभाषिक शब्दावली में उत्प्रेक्षा मे अतद्रूप वस्तु का अपने स्वाभाविक रूप से भिन्न रूप में अध्यवसान होता है, पर रूपक मे एक वस्तु के रूप पर अन्य वस्तु के रूप का आरोप होता है।[3] निष्कर्षत, वामन के अनुसार किसी वस्तु के वास्तविक

---

१. काव्यप्रकाश की उद्योत टीका मे व्यक्त यह मत वामन झलकीकर-कृत बालबोधिनी-टीका मे उद्धृत है।—द्रष्टव्य पृ० ६३१

२. 'धर्मस्यात्मा भागधेय क्षमाया' इत्यादि मालारूपकेऽतिप्रसङ्गवारणायानेकैर्ग्रहीतृभिरित्यविवक्षितबहुत्वक ग्रहण-विशेषणम्।
—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ४२८

३. अतद्रूपस्यातत्स्वभावस्य, अन्यथाऽतत्स्वभावतया, अध्यवसानमध्यवसायः। न पुनरध्यारोपो लक्षणा वा।—वामन, काव्यालङ्कार सूत्र ४-३-९ की वृत्ति पृ० २३९

स्वरूप से भिन्न स्वरूप की सम्भावना उत्प्रेक्षा है तथा अन्य वस्तु पर अन्य का रूप-समारोप रूपक। रुद्रट ने सामान्य के विवक्षित होने तथा अविवक्षित होने के आधार पर उत्प्रेक्षा तथा रूपक का भेद किया है। उत्प्रेक्षा मे छल, व्याज, छद्म आदि साधारण धर्म के वाचक पदो का उल्लेख होता है; पर रूपक में साधारण धर्म के रहने पर भी वह विवक्षित नही रहता।[१] पण्डितराज जगन्नाथ ने रूपक की परिभाषा मे 'शब्दान्निश्चीयमानमुपमानतादात्म्यम्' का उल्लेख कर उत्प्रेक्षा से रूपक का यह भेद किया है कि रूपक मे उपमेय मे उपमान का आरोप करता हुआ कवि उसमे उपमान का निश्चयात्मक रूप से तादात्म्य दिखाता है, जब कि उत्प्रेक्षा मे वस्तु के यथार्थ स्वरूप से भिन्न की केवल सम्भावना या अनिश्चयात्मक प्रतीति करायी जाती है।[२] निष्कर्ष रूप मे उत्प्रेक्षा और रूपक के भेदक तत्त्व निम्नलिखित है :—

(क) रूपक में अन्य वस्तु पर अन्य वस्तु के रूप का अध्यारोप होता है; पर उत्प्रेक्षा मे किसी वस्तु के यथार्थ रूप या स्वभाव से भिन्न रूप या स्वभाव का अध्यवसान होता है।

(ख) रूपक में एक वस्तु पर अन्य की निश्चयात्मक प्रतीति करायी जाती है, पर उत्प्रेक्षा मे अध्यवसान अनिश्चयात्मक या सम्भावना के रूप मे होता है।

(ग) रूपक मे सामान्य के रहने पर भी वह विवक्षित नही रहता; पर उत्प्रेक्षा में (सम्भावना के वाचक मानो, जानो आदि पदो से) सामान्य विवक्षित रहता है।

दीपक और प्रतिवस्तूपमा

दीपक के पदावृत्ति-भेद में धर्म की एक ही शब्द से आवृत्ति होती है। अत, उसका स्वरूप प्रतिवस्तूपमा से स्पष्टतः भिन्न है। अर्थावृत्ति दीपक मे

---

१ उत्प्रेक्षायामप्यभेदो विद्यते, ततस्तन्निरासार्थमाह—अविवक्षितसामान्येति। सदप्यत्र सामान्य न विवक्ष्यते। 'सिहो देवदत्त'इति। उत्प्रेक्षाया तु छलछद्मव्याजव्यपदेशादिभिः शब्दैरुपमानोपमेययोरभेदो भेदश्च विवक्षित इति। परमार्थतस्तूभयत्राभेद एवेति।—रुद्रट, —काव्यालङ्कार ८-३८ की वृत्ति पृ० २६१

२ द्रष्टव्य-जगन्नाथकृत रूपकपरिभाषा पृ० ३५४ तथा—निश्चीयमानमिति विशेषणात्सम्भावनात्मनो नूनं मुख चन्द्र इत्याद्युत्प्रेक्षाया व्यावृत्तिः।—रसगङ्गाधर, पृ० ३५५

भिन्न-भिन्न शब्दो से एक ही धर्म की आवृत्ति होती है। इस प्रकार इसका स्वरूप प्रतिवस्तूपमा से कुछ मिलता-जुलता है। अतः अर्थावृत्ति दीपक से प्रतिवस्तूपमा का भेद-निरूपण आवश्यक है। प्रतिवस्तूपमा मे भिन्न-भिन्न शब्दो से एक ही धर्म की आवृत्ति होती है और इस प्रकार प्रस्तुत वाक्यार्थ एव अप्रस्तुत वाक्यार्थ मे सादृश्य की प्रतीति करायी जाती है। अर्थावृत्ति दीपक मे दोनो ही वाक्यार्थ या तो प्रस्तुत रहते है या अप्रस्तुत। अप्पय्य दीक्षित ने इस तथ्य को दृष्टि मे रखकर अर्थावृत्ति दीपक तथा प्रतिवस्तूपमा का एक व्यावर्तक लक्षण यह माना था कि अर्थावृत्ति केवल प्रस्तुत वाक्यार्थों मे हो सकती है अथवा केवल अप्रस्तुत वाक्यार्थों मे, पर प्रतिवस्तूपमा प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत वाक्यार्थो मे होती है। दूसरे शब्दों मे प्रतिवस्तूपमा मे एक वाक्यार्थ प्रस्तुत रहता है, दूसरा अप्रस्तुत, पर प्रतिवस्तूपमा मे या तो दोनो वाक्यार्थ प्रस्तुत रहते है या दोनो ही अप्रस्तुत रहते है। अप्पय्य दीक्षित के अनुसार उक्त अलङ्कारो मे दूसरा भेदक धर्म यह है कि आवृत्ति दीपक केवल साधर्म्य-मूलक ही होता है। वैधर्म्य से आवृत्तिदीपक की कल्पना नही की जा सकती; पर प्रतिवस्तूपमा साधर्म्यमूलक भी हो सकती है और वैधर्म्यमूलक भी।[1] 'काव्यप्रकाश' के टीकाकार वामन झलकीकर ने कहा है कि विवरणकार के अनुसार एक धर्म की दो बार आवृत्ति प्रतिवस्तूपमा का व्यावर्तक धर्म है। दीपक मे एक धर्म की दो बार आवृत्ति नही होती।[2] इस प्रकार अर्थावृत्ति दीपक तथा प्रतिवस्तूपमा मे निम्नलिखित दो भेद है—

(क) अर्थावृत्ति दीपक अनेक प्रस्तुत वाक्यार्थो में अथवा अनेक अप्रस्तुत वावयार्थो मे ही सम्भव है, प्रतिवस्तूपमा प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत वाक्यार्थो मे सम्भव होती है। अभिप्राय यह कि अर्थावृत्ति मे या तो सभी वाक्यार्थ प्रस्तुत रहते है या सभी अप्रस्तुत, पर प्रतिवस्तूपमा मे प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दोनो ही वाक्यार्थों का रहना आवश्यक है।

---

१. अर्थावृत्तिदीपक प्रस्तुतानामप्रस्तुताना वा; प्रतिवस्तूपमा तु प्रस्तुता-प्रस्तुतानामिति विशेषः। अय चापरो विशेषः। आवृत्तिदीपकं वैधर्म्येण न सम्भवति, प्रतिवस्तूपमा तु वैधर्म्येणापि दृश्यते।
—अप्पय्य, कुवलयानन्द वृत्ति, पृ० ५५-५६,

२. उक्तं च विवरणकरैरपि। 'एकस्यापि धर्मस्य द्विरवृत्तेः वाक्यद्वयस्या-भावेन च न प्रतिवस्तूपमादृष्टान्तौ।—काव्यप्रकाश की वामन झलकीकरकृत टीका मे उद्धृत, पृ० ६३९.

(ख) अर्थावृत्ति दीपक केवल साधर्म्य से सम्भव है, वैधर्म्य से नही; पर प्रतिवस्तूपमा साधर्म्य तथा वैधर्म्य—दोनो से सम्भव है।

(ग) दीपक मे धर्म का सकृत् उपादान होता है, पर प्रतिवस्तूपमा मे समान धर्म का वस्तुप्रतिवस्तुभाव से दो बार उपादान होता है।

दीपक और उपमा

दीपक मे भी प्रकृत तथा अप्रकृत के सजातीय धर्म-सम्बन्ध का पर्यवसान उपमा मे होता है; पर उपमा से दीपक का यह भेद है कि दीपक मे सादृश्य-वाचक शब्द का प्रयोग नही होता। अत, उसमे उपमा सदा व्यङ्ग्य ही होती है। उद्योतकार का मत है कि दीपक मे जो उपमा व्यङ्ग्य होती है वह वाच्य का उपकारक होती है। अत', वह गुणीभूत व्यङ्ग्य ही होती है, ध्वनि नही।[1] इस प्रकार उपमा से दीपक का स्पष्ट भेद है। विवरण में भी इसी आधार पर उपमा और दीपक का भेद-निरूपण किया गया है।[2]

उत्प्रेक्षा और अपह्नुति

रुद्रट ने उत्प्रेक्षा और अपह्नुति अलङ्कारों मे इस आधार पर भेद किया है कि उत्प्रेक्षा मे व्याज, छल, आदि शब्दो से उपमेय की सत्ता भी स्वीकार की जाती है; पर अपह्नुति मे उपमेय का सर्वथा अपह्नव अर्थात् उसकी सत्ता का सर्वथा निषेध होता है। उत्प्रेक्षा मे प्रकृत मे अप्रकृत की सम्भावना के लिए प्रकृत का सर्वथा निषेध आवश्यक नही, पर अपह्नुति मे अनिवार्यत. प्रकृत का निषेध कर अप्रकृत का स्थापन होता है।[3] रुय्यक के अनुसार अपह्नुति आरोपगर्भ अलङ्कार है और उत्प्रेक्षा अध्यवसाय-गर्भ।[4] इस आधार पर भी उत्प्रेक्षा

---

१. ''सा चोपमा व्यङ्ग्यैव, वाचक (इवादिशब्द) विरहात्। व्यङ्ग्याया अप्यस्या वाच्योपकारकत्वात् गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमेव न तु ध्वनित्वम्। अतोऽत्र नोपमाशङ्केत्युद्योते स्पष्टम्।
—उद्योत से बालबोधिनी मे उद्धृत, पृ० ६३९

२. प्रथमप्रभेदस्थले उपमाप्रतीति विना वाक्यार्थस्य पर्यवसानात् नोपमा प्रथम बोध्यते कि तु व्यज्यते इति नात्रोपमा।—काव्यप्रकाश, विवरण से उद्धृत, वही, पृ० ६३९

३. उत्प्रेक्षाया व्याजादिशब्दैरुपमेयस्य सत्त्वमप्युच्यते, इह (अपह्नुतौ) तु सर्वथैवापह्नव इति विशेष।—रुद्रट, काव्यालङ्कार, ८, ५७ की टीका पृ० २७१

४. आरोपप्रस्तावादारोपविषयापह्नुतावारोप्यमाणप्रतीतावपह्नुत्याख्योऽलङ्कारः। तथा अध्यवसाये व्यापारप्राधान्ये उत्प्रेक्षा।
—रुय्यक, अलङ्कार सूत्र, २० की वृत्ति तथा सूत्र २१

और अपह्नुति का भेद-निरूपण किया जा सकता है। अपह्नुति मे प्रकृत का निषेध कर उसपर अप्रकृत का आरोप किया जाता है। अतः वह आरोपगर्भ अलङ्कार है। उत्प्रेक्षा में विषय का निगरण कर विषयी से उसके अभेद की प्रतीति—साध्याध्यवसाय के रूप मे—करायी जाती है। अत उत्प्रेक्षा अध्यवसायगर्भ अलङ्कार है।

उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति

उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति दोनो ही अध्यवसायगर्भ अलङ्कार है। दोनों मे विषय का निगरण कर विषयी के साथ उसकी अभेद-प्रतीति करायी जाती है। दोनो मे मुख्य भेद अध्यवसाय (अर्थात् विषय का निगरण कर विषयी के साथ अभेद प्रतीति) के सिद्ध तथा साध्य होने का है। अतिशयोक्ति में अध्यवसाय सिद्ध होता है, पर उत्प्रेक्षा में वह साध्य या सम्भावना के रूप मे रहता है।[3]

उत्प्रेक्षा और भ्रान्तिमान्

उत्प्रेक्षा मे भी किसी वस्तु मे उससे भिन्न किसी वस्तु की सम्भावना की जाती है और भ्रान्तिमान् मे भी किसी वस्तु में उससे भिन्न वस्तु का ज्ञान होता है, पर दोनो मे भेद यह है कि उत्प्रेक्षा मे एक वस्तु में अन्य वस्तु की सम्भावना आहार्य होती है, जबकि भ्रान्तिमान् में किसी वस्तु में अन्य वस्तु की प्रतीति अनाहार्य होती है। वामन ने भ्रान्तिमान् से उत्प्रेक्षा के भेद-निरूपण के लिए उत्प्रेक्षा के लक्षण मे 'अतिशयार्थ' पद का उल्लेख किया है।[४] उत्प्रेक्षा में विशेष चमत्कार उत्पन्न करने के लिए किसी वस्तु में अन्य की सम्भावना की जाती है। वक्ता वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानता हुआ चमत्कार के लिए उसमे अन्य वस्तु की सम्भावना करता है। भ्रान्तिमान् में वस्तु के यथार्थ रूप का ज्ञान नही होता। उसमें अन्य वस्तु की एककोटिक निश्चयात्मक प्रतीति होती है। उत्प्रेक्षा में एक वस्तु में अन्य की सम्भावना (उत्कट कोटि का सशय) होती है। अत. इसमे सम्भावना की आधारभूत वस्तु

---

१. अध्यवसाये व्यापारप्राधान्ये उत्प्रेक्षा। तथा—
अध्यवसितप्राधान्ये त्वतिशयोक्तिः।
—रुय्यक, अलङ्कारसूत्र २१ और २२

२ अतद्रूपस्यान्यथाध्यवसानमतिशयार्थमुत्प्रेक्षा।
—वामन, काव्यालङ्कार, सूत्र ४, ३, ९

तथा साम्भव्यमान वस्तु, इन दोनो का ज्ञान वक्ता को रहता है। विश्वनाथ ने भी इसी आधार पर उत्प्रेक्षा और भ्रान्तिमान् का भेद किया है कि उत्प्रेक्षा मे सम्भावना करने वाले को विषय तथा विषयी; दोनो का ज्ञान रहता है, पर भ्रान्तिमान् मे भ्रान्त व्यक्ति को विषय का ज्ञान नही रह जाता।[1]

उत्प्रेक्षा सादृश्यमूलक अलङ्कार है। अत उपमा की तरह (वाच्या) उत्प्रेक्षा को भी 'इव' आदि सादृश्यवाचक शब्द द्योतित करते है। दण्डी ने 'मन्ये' 'शङ्के' आदि उत्प्रेक्षा-वाचक शब्दो का स्पष्ट उल्लेख किया था। कुन्तक ने भी इवादि को उत्प्रेक्षा का प्रकाशक कहा है।[2] भ्रान्तिमान् का भी आधार सादृश्यातिशय पर आश्रित भ्रमात्मक ज्ञान ही है, पर उसमे अन्य वस्तु मे अन्य वस्तु का एककोटिक निश्चयात्मक ज्ञान वर्णित होता है, दो वस्तुओ के बीच सादृश्य-ज्ञान नही। अत. भ्रान्तिमान् मे 'इव' आदि वाचक पदो का प्रयोग नही होता। इस विवेचन के निष्कर्ष के रूप मे उत्प्रेक्षा और भ्रान्तिमान् के बीच निम्नलिखित दो भेदक तत्त्व उपलब्ध होते है।

(क) उत्प्रेक्षा मे सम्भावना करने वाले को प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दोनों का ज्ञान रहता है, फिर भी वह अतिशयार्थ उपमेय मे उपमान की सम्भावना करता है, पर भ्रान्तिमान् मे वक्ता भ्रमवश उपमेय को ही निश्चयात्मक रूप से उपमान समझ लेता है। उसे उपमेय का ज्ञान नही होता।

(ख) वाच्योत्प्रेक्षा मे 'इव' 'मन्ये' 'शङ्के' आदि वाचक पक्षों का प्रयोग होता है, पर भ्रान्तिमान् मे अन्य वस्तु मे अन्य का निश्चयात्मक या एककोटिक ज्ञान होने के कारण सादृश्य आदि के वाचक का प्रयोग नही होता।

उत्प्रेक्षा और (वामन कल्पित) वक्रोक्ति

आचार्य वामन ने सादृश्य के आधार पर की जाने वाली लक्षणा मे

---

१ भ्रान्तिमदलङ्कारे 'मुग्धा दुग्धधिया'—इत्यादौ भ्रान्ताना वल्लवादीना विषयस्य चन्द्रिकादेर्ज्ञानमेव नास्ति, तदुपनिबन्धनस्य कविनैव कृतत्वात्। इह (उत्प्रेक्षाया) तु सभावनाकर्त्तुर्विषयस्यापि ज्ञानमिति द्वयोर्भेदः।—विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, वृत्ति पृ० ६६४

२ द्रष्टव्य—दण्डी, काव्याद० २, २३४ तथा कुन्तक, वक्रोक्तिजी० ...... कैर्वाक्यै-रुत्प्रेक्षा प्रकाश्यते इत्याह—इवादिभिः। पृ० ४२५

वक्रोक्ति अलङ्कार माना है।[1] इसका स्वरूप उत्प्रेक्षा से कुछ मिलता-जुलता है। अतः इस वक्रोक्ति से उत्प्रेक्षा का भेद-निरूपण अपेक्षित है। अन्य आचार्यो की वक्रोक्ति का स्वरूप वामन की वक्रोक्ति से सर्वथा भिन्न है। वे अन्य व्यक्ति के अन्य अर्थ मे कथित वाक्य का श्रोता के द्वारा अन्य अर्थ लगाकर उत्तर देने की वक्र शैली मे वक्रोक्ति मानते है। इस वक्रोक्ति का उत्प्रेक्षा से कुछ भी स्वरूप-साम्य नही। अत. वामन की वक्रोक्ति-परिभाषा को ही दृष्टि में रख कर हम उत्प्रेक्षा से उसका भेद-विवेचन करेगे।

सादृश्य से लाक्षणिक प्रयोग मे, अर्थात् वक्रोक्ति मे, एक वस्तु के लिए अन्य वस्तु का निश्चयात्मक प्रयोग होता है। मनुष्य को जब सिंह या गदहा कहा जाता है तो यह कथन निश्चयात्मक ही हुआ करता है। ध्यातव्य है कि ऐसी उक्ति मे वक्ता मनुष्य तथा सिंह या गदहा आदि के भेद से भी अवगत रहता है। दोनो के भेद का ज्ञान रहने पर भी गुण-सादृश्य से अन्य (मनुष्य) के लिए अन्य (सिंह, गदहा आदि) का प्रयोग किया जाता है। इसी तरह उत्प्रेक्षा मे भी अतिशयार्थ किसी वस्तु मे उसके अपने यथार्थ रूप से भिन्न रूप का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार किञ्चित् रूपगत साम्य होने पर भी उत्प्रेक्षा और सादृश्य-लक्षणा-रूपा वक्रोक्ति मे भेद यह है कि उत्प्रेक्षा मे अन्य वस्तु-रूप में अन्य का प्रयोग सम्भावना के रूप मे (उत्कटैककोटिक सन्देह अतः अनिश्चय के रूप में) होता है पर वामन की वक्रोक्ति मे (लाक्षणिक प्रयोग मे) निश्चयात्मक रूप मे।

उत्प्रेक्षा और सन्देह

उत्प्रेक्षा मे अन्य वस्तु मे अन्य वस्तु की सम्भावना की जाती है अर्थात् उपमेय मे उपमान की सम्भावना की जाती है। सन्देह मे किसी वस्तु मे अनिश्चयात्मक द्वैकोटिक ज्ञान होता है। इसमे दोनो ही वस्तुओ के ज्ञान मे समान बल रहता है। वर्ण्य मुख मे 'मुख है या कमल' इस प्रकार का द्वैकोटिक ज्ञान रहता है और दोनो मे से किसी ज्ञान मे दूसरे की अपेक्षा कम या अधिक बल नही रहता। उत्प्रेक्षा और सन्देह का मुख्य भेद यह है कि उत्प्रेक्षा मे उपमेय मे उपमान का ज्ञान उत्कट कोटि का होता है, जब कि सन्देह मे उपमेय और उपमान का ज्ञान समान कोटि का

---

१. सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः।—वामन, काव्यालङ्कार, सूत्र ४, ३, ८

रहता है। उत्प्रेक्षा को इसीलिए उत्कटैककोटिक सशय कहा गया है। जब उपमेय के स्वरूप में उपमान के स्वरूप की सम्भावना की जाती है तो उपमेय और उपमान; दोनो का ज्ञान रहता है पर उपमान का ज्ञान उत्कट कोटि का होता है। उसमे उपमेय के ज्ञान की अपेक्षा अधिक बल रहता है। विश्वनाथ ने इस तथ्य का स्पष्ट उल्लेख किया है।[१] कुन्तक ने सन्देह के सभी भेदों को अनिवार्यत. उत्प्रेक्षामूलक ही माना है।[२] पण्डितराज जगन्नाथ ने सन्देह के लक्षण मे उसके व्यावर्तक धर्म 'समबल' का उल्लेख किया है।[३] दो विषयो के समबल ज्ञान में सन्देह अलङ्कार होता है। अत, सन्देह उत्कटैककोटिक ज्ञान वाली उत्प्रेक्षा से भिन्न है। उत्प्रेक्षा और सन्देह का यही भेद सर्वमान्य है।

समासोक्ति और अप्रस्तुतप्रशंसा

समासोक्ति एव अप्रस्तुतप्रशंसा; दोनों में एक अर्थ के कथन से अन्य अर्थ व्यञ्जित होता है। प्रस्तुत अर्थ के वर्णन से अप्रस्तुत अर्थ के व्यञ्जित होने में समासोक्ति अलङ्कार माना जाता है। हम देख चुके है कि वामन, रुद्रट, भोज आदि आचार्यों ने अप्रस्तुत के कथन से प्रस्तुत के गम्य होने में समासोक्ति अलङ्कार माना था; पर पीछे चलकर समासोक्ति और अप्रस्तुतप्रशंसा का क्षेत्र निर्धारित कर दिया गया। प्रस्तुत के कथन से अप्रस्तुत के व्यञ्जित होने में समासोक्ति तथा इसके विपरीत अप्रस्तुत के कथन से प्रस्तुत के व्यञ्जित होने में अप्रस्तुतप्रशसा अलङ्कार माना गया। अप्रस्तुतप्रशसा का कुछ आचार्यों के द्वारा सुझाया गया लक्षण—अप्रस्तुत की प्रशंसा अर्थात् गुणगान—भी मान्य नही हुआ। इस प्रकार काव्यशास्त्र मे समासोक्ति और अप्रस्तुतप्रशसा का जो स्वीकृत स्वरूप है, उसमें मुख्य भेद यह है कि समासोक्ति मे प्रस्तुत अर्थ का

---

१. सन्देहे तु समकक्षतया कोटिद्वयस्य प्रतीति, इह (उत्प्रेक्षाया) तु उत्कटा सम्भाव्यभूतैका कोटि.।

—विश्वनाथ, साहित्यदर्पण वृत्ति, पृ० ६६४

२. यस्मिन्नुत्प्रेक्षित रूप सन्देहमेति वस्तुन ।
उत्प्रेक्षान्तरसद्भावात् विच्छित्त्यै सन्देहो मत: ॥

—कुन्तक, वक्रोक्तिजी, ३,४२

३. उत्प्रेक्षाव्यावृत्तये समबलेति ।—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ४०६

वर्णन होता है और उससे (विशेषण आदि के वैशिष्ट्य से) अप्रस्तुत अर्थ की व्यञ्जना होती है, पर इसके विपरीत अप्रस्तुतप्रशंसा में अप्रस्तुत अर्थ का वर्णन किया जाता है और उससे प्रस्तुत अर्थ व्यञ्जित होता है। रुय्यक, मम्मट, विश्वनाथ आदि अर्वाचीन आचार्यों की यही मान्यता है और आधुनिक काल में यही सर्वमान्य है।

समासोक्ति और प्रस्तुताङ्कुर

समासोक्ति में प्रस्तुत अर्थ के वर्णन से किसी अप्रस्तुत अर्थ की व्यञ्जना होती है; पर प्रस्तुताङ्कुर में प्रस्तुत अर्थ के वर्णन से दूसरे प्रस्तुत अर्थ की ही व्यञ्जना होती है। समासोक्ति की तरह प्रस्तुताङ्कुर में भी दो अर्थ होते है—एक वाच्य तथा दूसरा व्यङ्ग्य, पर दोनो का मुख्य भेद यह है कि जहाँ समासोक्ति मे वाच्य अर्थ प्रस्तुत और व्यङ्ग्य अर्थ अप्रस्तुत होता है, वहाँ प्रस्तुताङ्कुर मे वाच्य और व्यङ्ग्य, दोनों अर्थ प्रस्तुत ही होते है। प्रस्तुत के वर्णन से अन्य प्रस्तुत की व्यञ्जना कराने वाले प्रस्तुताङ्कुर का अप्रस्तुतप्रशंसा से भी भेद स्पष्ट है।

समासोक्ति और परिणाम

परिणाम व्यवहारान्त आरोप है। इसमे प्रस्तुत अर्थ को अप्रस्तुत अर्थ के व्यवहार से विशिष्ट बताया जाता है। इस तरह इसमें प्रस्तुत पर अप्रस्तुत के रूप का आरोप तो होता ही है, उसके व्यवहार का भी आरोप होता है। समासोक्ति अलङ्कार मे भी प्रस्तुत पर अप्रस्तुत के व्यवहार का आरोप होता है। विश्वनाथ ने समासोक्ति-लक्षण मे प्रस्तुत पर अन्य वस्तु के व्यवहार-समारोप पर बल दिया है,[1] पर परिणाम से समासोक्ति का यह भेद है कि जहाँ परिणाम मे प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनो का उपादान कर अप्रस्तुत को प्रस्तुत अर्थ मे उपयोगी बताया जाता है, वहाँ समासोक्ति में अप्रस्तुत का उपादान नहीं होता है। उनमे केवल प्रस्तुत का उपादान होता है और अप्रस्तुत व्यङ्ग्य

---

१. समासोक्तिः समैर्यत्र कार्य्य-लिङ्ग-विशेषणैः।
व्यवहारसमारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुनः॥
—विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, १०,७४

होता है। अलङ्कारसर्वस्वकार ने इसी आधार पर समासोक्ति और परिणाम का भेद किया है।[1]

समासोक्ति और प्रतिवस्तूपमा

वामन ने समासोक्ति तथा प्रतिवस्तूपमा का भेद-निरूपण करते हुए कहा था कि उपमेय का कथन न कर समान वस्तु का न्यास समासोक्ति है और उपमेय के कथन के साथ समान वस्तु का न्यास प्रतिवस्तूपमा।[2] वामन का यह समासोक्ति-लक्षण पीछे चलकर अप्रस्तुतप्रशसा के लक्षण के रूप मे स्वीकृत हुआ है। अत, उक्त आधार पर प्रतिवस्तूपमा और अप्रस्तुतप्रशसा या अन्योक्ति का भेद-निरूपण तो सम्भव है; पर समासोक्ति और प्रतिवस्तूपमा का नही। पीछे चलकर समासोक्ति का जो स्वरूप स्वीकृत हुआ, उसमें उपमेय का कथन तो होता ही है, उपमान प्रतीयमान होता है। इस स्वीकृत समासोक्ति से प्रतिवस्तूपमा के भेदक तत्त्व निम्नलिखित है—

(क) प्रतिवस्तूपमा मे परस्पर निरपेक्ष दो वाक्य विवक्षित रहते है—एक उपमेयस्थानीय तथा दूसरा उपमान स्थानीय; पर समासोक्ति मे केवल उपमेय वाक्य ही कथित होता है और उससे विशेषण-साम्य के कारण उपमानभूत अर्थ व्यञ्जित होता है।

(ख) प्रतिवस्तूपमा में दोनो वाक्यो मे साधारण धर्म का अलग-अलग उल्लेख होता है, जो साधारण धर्म वस्तुप्रतिवस्तु भाव से—अर्थदृष्टचा अनेक किन्तु वस्तुदृष्टया एक—रहते है; पर समासोक्ति मे एक ही अर्थ का—प्रस्तुत अर्थमात्र का—कथन होने से साधारण धर्म के पृथक्-पृथक् निर्देश की आवश्यकता नही होती। उसमे विशेषण के विशिष्ट प्रयोग के कारण प्रस्तुत अर्थ के वर्णन से अप्रस्तुत अर्थ की व्यञ्जना होती है।

---

१. अत एव तत्र (समासोक्तौ) व्यवहारसमारोपः, न तु रूपसमारोप। एवमिहापि (परिणामेऽपि) ज्ञेयम्। केवलं तत्र विषयस्यैव प्रयोगः। विषयिणो गम्यमानत्वात्। इह तु द्वयोरप्यभिधानं, तादात्म्यात् तु तयोः परिणामित्वम्।—अलङ्कारसर्वस्व, पृ० ४०

२. उपमेयस्य उक्तौ समानवस्तुन्यासः प्रतिवस्तु।—वामन, काव्यालङ्कार सूत्र ४,३,२ तुलनीय—अनुक्तौ समासोक्तिः। तथा—उपमेयस्यानुक्तौ समानवस्तुन्यासः समासोक्तिः।—वही, सूत्र ४,३-३ तथा उसकी वृत्ति।

समासोक्ति और आक्षेप

समासोक्ति तथा आक्षेप का जो स्वरूप अर्वाचीन आचार्यो को मान्य है, उनका पारस्परिक भेद अत्यन्त स्फुट है। अत., उनके बीच भेद-निरूपण की आवश्यकता नही। वामन ने उपमान की उक्ति से उपमेय की व्यञ्जना को समासोक्ति कहा था और इसके विपरीत आक्षेप से उपमान के ज्ञान में आक्षेप का एक रूप माना था।[१] आक्षेप का यह रूप अर्वाचीन आचार्यों के द्वारा समासोक्ति के रूप मे तथा वामन की समासोक्ति का रूप अप्रस्तुतप्रशसा के रूप में स्वीकृत हुआ है। अस्तु ! वामन की समासोक्ति (आधुनिक अप्रस्तुत-प्रशसा) तथा उनके आक्षेप के एक रूप—उपमानस्याक्षेपत· प्रतिपत्ति. (आधुनिक समासोक्ति)—मे वही भेद है, जो अर्वाचीन आचार्यों की समासोक्ति और अप्रस्तुतप्रशसा मे है। इन दो अलङ्कारो के भेदक तत्त्व पर विचार किया जा चुका है।

समासोक्ति और भाव

रुद्रट ने भाव अलङ्कार का जो स्वरूप निरूपित किया था वह परवर्ती काल मे अलङ्कार के रूप में स्वीकृत नही हुआ। उसे मम्मट आदि आचार्यो ने ध्वनि के क्षेत्र में समाविष्ट कर लिया है। यह समीचीन ही है। भाव के एक रूप के सम्बन्ध मे रुद्रट की मान्यता थी कि इसमें वक्ता का वाक्य अभिधेय अर्थ को बताकर इससे भिन्न गुण-दोष अर्थात् विधि-निषेध-युक्त अभिप्राय का बोध कराता है।[२] तात्पर्य यह कि यदि विधि अभिधेय हो तो उससे निषेध की प्रतीति होगी और निषेध अभिधेय हो तो विधि गम्य होगी। भाव के इस स्वरूप के साथ समासोक्ति के स्वरूप की तुलना करने से दोनों का यह भेद स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि एक वाच्य से दूसरे प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति दोनो मे होती है; पर भाव मे जहाँ वक्ता के वाच्य अर्थ से विपरीत

---

१. उपमेयस्यानुक्तौ समानवस्तुन्यास समासोक्ति. ।—वामन, काव्यालं० सू० ४,३,३ की वृत्ति तथा 'उपमाक्षेपश्चाक्षेप' ''उपमानस्याक्षेपत: प्रतिपत्तिरित्यपि सूत्रार्थ: ।—वही सू० ४,३,२७ तथा उसकी वृत्ति ।

२. अभिधेयमभिदधान तदेव तदसदृशसकलगुणदोषम् ।
अर्थान्तरमवगमयति यद्वाक्य सोऽपरो भाव: ॥

—रुद्रट, काव्यालङ्कार ७-४०

तात्पर्यार्थ प्रतीत होता है, वहाँ समासोक्ति मे वाच्य से, समान विशेषण आदि से, उसके सदृश ही अन्य अर्थ (उपमेय वाच्य से उपमानभूत व्यङ्ग्य अर्थ, रुद्रट के अनुसार इसके विपरीत उपमानभूत वाच्य अर्थ से उपमेयभूत व्यङ्ग्य अर्थ) प्रतीत होता है।

समासोक्ति और पर्यायोक्ति

समासोक्ति मे दो अर्थ होते है—एक वाच्य तथा दूसरा व्यङ्ग्य। प्रस्तुत अर्थ वाच्य होता है और उससे अन्य अप्रस्तुत अर्थ की व्यञ्जना होती है, पर पर्यायोक्त में एक ही अर्थ रहता है। उसमे व्यङ्ग्य अर्थ का ही भङ्ग्यन्तर से कथन होता है। अभीष्ट अर्थ को साक्षात् अभिधा शक्ति से न कह कर प्रकारान्तर से कहना पर्यायोक्त का स्वरूप है। इस प्रकार पर्यायोक्त मे एक ही अर्थ गम्य भी होता है और विशेष भङ्गी से कथित भी।

समासोक्ति और सहोक्ति

समासोक्ति मे एक अर्थ वाच्य होता है और दूसरा व्यङ्ग्य, पर सहोक्ति में दोनो अर्थ वाच्य ही होते हैं। समासोक्ति मे वाच्य अर्थ उपमेय होता है और व्यङ्ग्य अर्थ उपमान, पर सहोक्ति मे वर्णित दोनो अर्थ प्रस्तुत या अप्रस्तुत हो सकते है।

समासोक्ति और श्लेष

समासोक्ति मे विशेषण-साम्य से प्रस्तुत वाच्य अर्थ से अप्रस्तुत अर्थ व्यञ्जित होता है। श्लेष अलङ्कार में जहाँ केवल प्रकृत अर्थों का अथवा केवल अप्रकृत अर्थो का वर्णन अभीष्ट हो, वहाँ श्लिष्ट विशेषण तथा श्लिष्ट विशेष्य से दो वाच्य-अर्थों का बोध कराया जाता है। जहाँ प्रकृत तथा अप्रकृत दोनो का बोध अभिप्रेत हो, वहाँ विशेषण तो श्लिष्ट होते है; पर विशेष्य अश्लिष्ट। कारण यह है कि ऐसी स्थिति मे विशेष्य के श्लिष्ट होने पर अप्रकृत अर्थ व्यङ्ग्य हो जायगा, पर श्लेष मे दोनो अर्थो का वाच्य होना आवश्यक है। निष्कर्ष यह कि श्लेष अलङ्कार में या तो विशेषण और विशेष्य दोनों श्लिष्ट होते है या कम-से-कम विशेषण श्लिष्ट अवश्य रहता है, जब कि समासोक्ति में श्लिष्ट विशेष्य का प्रयोग तो नहीं ही होता है विशेषण भी सदा श्लिष्ट नहीं रहता है। उद्भट ने समासोक्ति की परिभाषा मे 'तत्समानविशेषणैः' पद

का प्रयोग कर श्लेष से उसका भेद बताते हुए कहा है कि समासोक्ति में विशेष्य कभी श्लिष्ट नही होता वह केवल प्रस्तुत अर्थ का ही अभिधान करता है।[१] रुय्यक ने भी केवल विशेषण-साम्य मे समासोक्ति तथा विशेष्य और विशेषण दोनो के साम्य मे श्लेष मानकर दोनो का विषय-विभाग किया है।[२] यह धारणा विश्वनाथ आदि परवर्ती आचार्यों को भी मान्य हुई। जगन्नाथ की मान्यता है कि यदि विशेषण-मात्र का ही श्लेष दोनो मे रहे तो दोनो का भेद यह होगा कि श्लेष मे प्रकृत-अप्रकृत दोनो का उपादान होगा, पर समासोक्ति मे केवल प्रकृत का उपदान होगा, अप्रकृत व्यङ्ग्य होगा।[3] समासोक्ति मे विशेषण का दो अर्थो का उपपादक होना अपेक्षित है। वह साधारण शब्द से भी दो अर्थो का उपपादन कर सकता है, उपमागर्भ समास से भी और श्लेष से भी। इस प्रकार श्लेष और समासोक्ति मे मुख्य रूप से दो भेदक धर्म हैं—

(क) श्लेष मे दोनो अर्थ वाच्य होते हैं, पर समासोक्ति में एक वाच्य और दूसरा व्यङ्ग्य।

(ख) श्लेष मे यदि दोनो प्रकृत या दोनो अप्रकृत अर्थों का वर्णन अभीष्ट हो तो विशेषण और विशेष्य; दोनो का श्लिष्ट प्रयोग होता है। जहाँ एक प्रकृत तथा दूसरा अप्रकृत अर्थ विवक्षित हो, वहाँ विशेष्य तो श्लिष्ट नही होता; पर विशेषण आवश्यक रूप से श्लिष्ट होता है। समासोक्ति मे श्लिष्ट विशेष्य का प्रयोग कभी नही होता। श्लिष्ट विशेषण का प्रयोग भी आवश्यक नही। उसमे श्लिष्ट विशेषण का भी प्रयोग हो सकता और उसके विना समान

---

१. प्रकृतार्थेन वाक्येन तत्समानविशेषणैः ।
अप्रस्तुतार्थकथनं समासोक्तिरुदाहृता ॥ तथा—नन्वेव श्लेषता प्राप्तेत्याह —तत्समानविशेषणैः, विशेष्यपद तु प्रस्तुतार्थाभिधाय्येव ।—उद्भट, काव्यालं० सारस० २-२१ तथा उसकी विवृति पृ० २७

२. केवलविशेषणसाम्यं समासोक्तावुक्तम् ।…तत्र द्वयोः प्राकरणिकयोः अप्राकरणिकयोः प्राकरणिकाप्राकरणिकयोर्वा श्लिष्टपदोपनिबन्धे श्लेषः ।
—अलङ्कारसर्वस्व, पृ० ११०

३. विशेषणमात्रश्लिष्टतायामपि प्रकृताप्रकृतधर्मिणोरुपादान एव श्लेषः । प्रकृतधर्मिमात्रस्योपादाने तु समासोक्तिरेव विषयः ।
—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ६२०

विशेषण, उपमितसमासान्त पद आदि से भी वर्णित अर्थ से अप्रस्तुत अर्थ की व्यञ्जना करायी जा सकती है।[1]

दृष्टान्त और प्रतिवस्तूपमा

दृष्टान्त अलङ्कार मे समान धर्म वाली वस्तुओ की बिम्बप्रतिबिम्ब-भाव से योजना होती है; पर प्रतिवस्तूपमा मे वस्तुधर्मों की वस्तुप्रतिवस्तु-भाव से योजना की जाती है। इस प्रकार इन दो अलङ्कारो मे एक भेद तो यह है कि जहाँ दृष्टान्त मे धर्म तथा धर्मी, दोनो का बिम्बप्रतिबिम्ब-भाव दिखाया जाता है, वहाँ प्रतिवस्तूपमा मे केवल धर्मों का ही सम्बन्ध (वस्तुप्रतिवस्तु-सम्बन्ध) दिखाया जाता है। दूसरा भेद बिम्बप्रतिबिम्बभाव तथा वस्तुप्रतिवस्तु भाव सम्बन्ध का है। प्रसङ्गात् दोनो पदो के अर्थ का स्पष्टीकरण अपेक्षित है। वस्तुत:, भिन्न जिन दो धर्मों (या धर्मियों) मे सादृश्य के कारण अभिन्नता जान पडती हो, उनका दो बार उपादान बिम्बप्रतिबिम्बभाव कहलाता है, इसके विपरीत एक ही धर्म का सम्बन्धी के भेद से शब्दभेद से दो बार उपादान वस्तुप्रतिवस्तुभाव माना जाता है। दूसरे शब्दों मे, तत्त्वत भिन्न; पर सादृश्य के कारण अभिन्न प्रतीत होने वाले धर्मों का दो बार उल्लेख बिम्बप्रतिबिम्ब-भाव है पर, तत्त्वत अभिन्न (एक ही) धर्म का शब्दभेद से दो बार उपादान वस्तुप्रतिवस्तुभाव।

दोनों अलङ्कारों की योजना मे कवि के उद्देश्य को दृष्टि मे रख कर जयरथ ने कहा है कि प्रतिवस्तूपमा मे प्रस्तुत अर्थ का सादृश्य बताने के लिए अप्रस्तुत अर्थान्तर का उपादान होता है। फलत, दोनों मे उपमानोपमेयभाव सम्बन्ध घटित हो जाता है, पर दृष्टान्त मे अप्रस्तुत-योजना का उद्देश्य प्रस्तुत अर्थ की स्पष्ट प्रतीति करना होता है। अत:, जयरथ के अनुसार प्रतिवस्तूपमा मे कवि का उद्देश्य उपमानोपमेय-भाव-मात्र दिखाना रहता है और दृष्टान्त मे प्रकृत अर्थ की प्रतीति को विशद करना। इसीलिए रुय्यक ने प्रतिवस्तूपमा को औपम्याश्रय कहा है। यह विवेचन बहुत सारपूर्ण नही है। बिम्बप्रतिबिम्बभाव मे भी सादृश्य की प्रतीति होती ही है और इस तरह

---

१. विश्वनाथ ने तीन प्रकार से विशेषण-साम्य के प्रयोग का उल्लेख किया है—"विशेषणसाम्यन्तु श्लिष्टतया, साधारण्येन, औपम्यगर्भत्वेन च त्रिधा।"—विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, पृ० ६९७

उपमानोपमेयभाव की किसी-न-किसी रूप मे प्रतीति हो जाती है। वस्तु-प्रतिवस्तुभाव मे भी औपम्य का जो बोध होता है, उसकी सफलता प्रतिपत्ता की प्रतीति को विशद बनाने मे ही होगी। अत , प्रतीति के विशदीकरण को दृष्टान्त का व्यावर्तक तथा उपमानोपमेयभाव को प्रतिवस्तूपमा का व्यावर्तक मानना युक्तिपूर्ण नही जान पडता। प्रतिवस्तूपमा तथा दृष्टान्त—दोनो में औपम्य गम्य होता है।[१] पण्डितराज जगन्नाथ ने विमर्शिनीकार के उक्त मत का खण्डन इसी आधार पर किया है। पण्डितराज की मान्यता है कि दृष्टान्त मे धर्म भी प्रतिबिम्बित होता है जब कि प्रतिवस्तूपमा मे वह धर्म शुद्ध सामान्य रूप मे रहता है।[२]

उद्भट के काव्यालङ्कारसार की विवृति मे दृष्टान्त और प्रतिवस्तूपमा का भेद-निरूपण करते हुए कहा गया है कि दृष्टान्त मे इष्ट अर्थ का प्रतिबिम्ब दिखाया जाता है, जो सादृश्य-वाचक इवादि पद से रहित होता है; पर प्रति वस्तूपमा मे साधारण धर्म का उपमेय वाक्य तथा उपमान वाक्य, दोनो मे उल्लेख होता है।[3] विश्वनाथ ने प्रतिस्तूपमा से दृष्टान्त का भेद स्पष्ट करने के लिए दृष्टान्त-लक्षण मे प्रयुक्त 'सधर्म' विशेषण का औचित्य प्रतिपादित किया है।[४] उस विशेषण की व्याख्या मे उन्होने कहा है कि सधर्म से वस्तु-धर्म का सादृश्य

१. विमर्शिनीकारस्तु प्रतिवस्तूपमायामप्रकृतार्थोपादान तेन सह प्रकृतार्थस्य सादृश्यप्रतिपत्त्यर्थं, दृष्टान्ते तु तदुपादानमेतादृशोऽर्थोऽन्यत्रापि स्थित इति प्रकृतार्थप्रतीतेर्विशदीकरणमात्रार्थं न तु सादृश्यप्रतिपत्त्यर्थमतः सादृश्य-प्रतीत्यप्रतीतिभ्यामनयोरलङ्कारयोर्भेद इत्याह। तन्न प्रकृताप्रकृत-वाक्यार्थयोरुपादानस्यालङ्कारद्वय ऽप्यविशिष्टत्वादेकत्र सादृश्यप्रत्ययोऽन्यत्र नेत्यस्याज्ञामात्रत्वात्। वैपरीत्यस्यापि सुवचत्वाच्च। एतदृशोयोऽन्यत्रापि स्थित इति प्रकृतार्थप्रतीतिविशदीकरणस्य त्वदभिहितस्य सादृश्यापरपर्यायित्वाच्च।—जगन्नाथ, रसग०, पृ० ५३३

२. अस्य (दृष्टान्त) चालङ्कारस्य प्रतिवस्तूपमया सह भेदकमेतदेव यत्तस्या धर्मो न प्रतिबिम्बितः। किन्तु शुद्धसामान्यात्मनैव स्थितः, इह तु प्रतिबिम्बितः।—वही, पृ० ५३२-३३

३. ······प्रतिवस्तूपमाया च साधारणधर्म उपमानोपमेययोरुभयोरपि निगदो भवति।··· ··इह तु सर्वात्मना प्रतिबिम्बोपन्यास ।

—काव्यालङ्कारसारसग्रह, विवृति, पृ० ५२

४. सधर्मस्येति प्रतिवस्तूपमाव्यच्छेदः।

—विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, १०, ६६ की वृत्ति वही पृ० ६८०

विवक्षित है। सादृश्य मे भेद का अर्थ अन्तर्निहित रहता है। अतः प्रतिवस्तू-पमा से दृष्टान्त का यह भेद स्पष्ट हो जाता है कि दृष्टान्त मे तत्त्वतः भिन्न धर्म वाली (सदृश धर्म वाली) वस्तुएँ रहती है, जब कि प्रतिवस्तूपमा मे अभिन्न अर्थात् एक ही धर्म का दो बार उपादान होता है। 'काव्यप्रकाश' के टीकाकार झलकीकर ने भी प्रतिवस्तूपमा-परिभाषा में एक साधारण धर्म के उल्लेख का उद्देश्य दृष्टान्त से उसके भेद का स्पष्टीकरण ही माना है। प्रतिवस्तूपमा मे एक ही साधारण धर्म वस्तुप्रतिवस्तुभाव से दो बार कथित होता है पर दृष्टान्त मे वस्तुत. दो धर्मों मे बिम्बप्रतिबिम्बभाव रहता है।[१] निष्कर्षत., दृष्टान्त और प्रतिवस्तूपमा का व्यावर्तक क्रमश. बिम्बप्रतिबिम्बभाव तथा वस्तुप्रतिवस्तु-भाव ही है। बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव धर्म तथा धर्मी; दोनों का सम्भव है। अत, दृष्टान्त मे धर्मो या धर्मियो का बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव वर्णित होता है, पर वस्तु-प्रतिवस्तु-भाव केवल धर्मो मे ही सम्भव होता है, धर्मियो मे नही। अत, प्रतिवस्तूपमा मे धर्मों का ही वस्तु-प्रतिवस्तुभाव (एक धर्म का शब्दभेद से दो बार उपादान) दिखाया जाता है।

दृष्टान्त और प्रतिवस्तूपमा के विषय-विभाग के सम्बन्ध मे कुछ आचार्यो के मत का निर्देश करते हुए डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी ने कहा है कि "कुछ आचार्य दृष्टान्त मे प्रकृत और अप्रकृत में समर्थ्य और समर्थक-भाव होता है इस आधार पर इसका प्रतिवस्तूपमा से भेद करते है।" डॉ० द्विवेदी की आपत्ति है कि यदि दृष्टान्त में भी प्रकृत-अप्रकृत मे समर्थ्य-समर्थक भाव मान लिया जाय तो, अर्थान्तरन्यास से उसका भेद नही रह जायगा।[२] यह तर्क सबल नही है। दृष्टान्त में समर्थ्य-समर्थक-भाव मानने पर भी अर्थान्तरन्यास से उसका यह भेद रह जाता है कि उसमें सामान्य का सामान्य से और विशेष का विशेष से ही समर्थन होता है। जबकि अर्थान्तरन्यास मे समर्थन सामान्य का विशेष से और विशेष का सामान्य से होता है। बिम्बप्रतिबिम्बभाव से अन्य अर्थ के उपन्यास में उद्देश्य मूलत. प्रकृत का समर्थन ही तो होता है।

---

१. ··· एकस्येत्यनेन दृष्टान्तव्युदासः तत्र साधारणधर्मस्य बिम्बप्रतिबिम्ब-भावेन निर्देशेनैकत्वविरहात्।

—काव्यप्रकाश झलकीकरकृत टीका पृ० ६३४

२. द्रष्टव्य—डॉ० रामचन्द्र द्वि०, अलं० मी०, पृ० ३३२

दृष्टान्त और अर्थान्तरन्यास

दृष्टान्त मे दो वस्तुओं मे बिम्बप्रतिबिम्ब-भाव रहता है और अर्थान्तरन्यास मे समर्थ्य-समर्थक-भाव। उद्भट ने दृष्टान्त से अर्थान्तरन्यास का भेद बताते हुए कहा था कि अर्थान्तरन्यास मे प्रकृत अर्थ का अन्य अर्थ से समर्थन होता है। अतः, यह दृष्टान्त से भिन्न है। दृष्टान्त मे बिम्बप्रतिबिम्ब रूप मे ही एक वस्तु के समीप अन्य वस्तु का उपन्यास होता है।[1] रुद्रट की मान्यता है कि अर्थान्तरन्यास मे प्रकृत अर्थ (सामान्य या विशेष) उपमेय होता है और उसके समर्थन के लिए उपन्यस्त अप्रकृत अर्थ (प्रकृत सामान्य के समर्थन के लिए उपन्यस्त विशेष अथवा प्रकृत विशेष के समर्थन के लिए उपन्यस्त सामान्य) उपमान होता है। इन दोनो में से एक आवश्यक रूप से सामान्य और दूसरा विशेष रहता है। यदि समर्थ्य प्रकृत विशेष हो तो समर्थक अप्रकृत सामान्य ही हो सकता हैं, और इसके विपरीत यदि समर्थ्य प्रकृत सामान्य हो, तो समर्थक अप्रकृत विशेष ही हो सकता है, पर दृष्टान्त अलङ्कार मे बिम्बप्रतिबिम्बभाव से दोनो विशेष अर्थो का ही उपस्थापन होता है। इसलिए दृष्टान्त की परिभाषा मे रुद्रट ने 'अर्थ विशेषः' पद का उल्लेख किया है। सक्षेपतः, रुद्रट के अनुसार उक्त दो अलङ्कारो का भेद यह है कि अर्थान्तरन्यास मे समर्थ्य-समर्थक रूप मे सदा एक विशेष तथा दूसरे सामान्य अर्थ का उपन्यास होता है, पर दृष्टान्त में बिम्बप्रतिबिम्ब रूप में सदा दो विशेष अर्थों का ही उपन्यास होता है, सामान्य अर्थ का नही।[2] मम्मट आदि परवर्ती आचार्यो ने सामान्य अर्थो के बिम्बप्रतिबिम्ब-भाव में भी दृष्टान्त माना है। इस मत को दृष्टि मे रखते हुए 'काव्यप्रकाश' की 'नागेश्वरी' टीका में यह मन्तव्य प्रकट किया गया है कि समान्य का विशेष से तथा विशेष का सामान्य से समर्थन अर्थान्तरन्यास का क्षेत्र है और विशेष का विशेष से समर्थन तथा सामान्य का सामान्य से समर्थन दृष्टान्त का।[3] उद्योतकार ने भी इसी आधार पर दोनो का भेद-निरूपण किया है।[4]

---

१. उद्भट—काव्यालं० सार सं०, २, ७ तथा उसकी विवृति पृ० २४
२. द्रष्टव्य—रुद्रट, काव्याल० ८, ९४ तथा उसकी नमिसाधुकृत टीका पृ० २८५
३. द्रष्टव्य—काव्य प्र० नागेश्वरी टीका पृ० २६१
४. काव्य प्र० उद्योत से झलकीकर द्वारा बालबोधिनी मे उद्धृत पृ० ६६१

निष्कर्षत:, दृष्टान्त मे दो वस्तुओ का बिम्बप्रतिबिम्ब-भाव तथा अर्थान्तरन्यास मे समर्थ्य-समर्थक भाव दोनों का मुख्य व्यावर्तक है।

दृष्टान्त मे विशेष की पुष्टि विशेष से तथा सामान्य की सामान्य से ही होती है, पर अर्थान्तरन्यास मे विशेष का समर्थन सामान्य से तथा सामान्य का समर्थन विशेष से होता है।

दृष्टान्त और निदर्शना

आचार्य रुय्यक ने सर्वप्रथम दृष्टान्त और वाक्यार्थवृत्ति निदर्शना का विषय-विभाग व्यवस्थित किया। उनके अनुसार वस्तुओ का वाच्य बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव दृष्टान्त का विषय है, किन्तु गम्यमान बिम्बप्रतिबिम्बभाव निदर्शना का क्षेत्र है। निदर्शना मे वस्तु-सम्बन्ध के सम्भव होने पर भी वस्तु सम्बन्ध के वैशिष्ट्य से बिम्बप्रतिबिम्बभाव का बोध हो सकता है और वस्तु-सम्बन्ध के बाधित हो जाने पर भी वस्तु-सम्बन्ध से बिम्बप्रतिबिम्बभाव का आक्षेप हो सकता है। इन दोनो ही स्थितियों में वस्तुओ का बिम्बप्रति-बिम्बभाव गम्य ही होता है।[१] इस तथ्य को उद्भट, मम्मट आदि ने वस्तु-सम्बन्ध का औपम्य में पर्यवसित होना कहा था।[२] प्रकृत अप्रकृत के बीच उपमानोपमेय-भाव के पर्यवसित होने को ही रुय्यक ने गम्य बिम्बप्रतिबिम्ब-भाव कहा है। दृष्टान्त के वाच्य बिम्बप्रतिबिम्बभाव तथा निदर्शना के गम्य बिम्बप्रतिबिम्बभाव के स्वरूप पर विचार करने से दोनो अलङ्कारो का स्वरूपगत भेद स्पष्ट हो जाता है। दृष्टान्त मे (वाच्य बिम्बप्रतिबिम्बभाव मे) दो परस्पर निरपेक्ष वाक्य रहते है। दोनो वाक्यार्थो मे बिम्बप्रतिबिम्बभाव सम्बन्ध दिखाया जाता है अर्थात् दोनो के तत्त्वत: भिन्न होने पर भी सादृश्य के कारण दोनो में अभेद की प्रतीति करायी जाती है। निदर्शना में एक ही वाक्य से प्रकृत अर्थ का उपन्यास होता है और (समान विभक्ति से, समान अधिकरण से) वस्तुसम्बन्ध से अन्य वाक्यार्थ का उस पर अध्यारोप कर लिया जाता है। यदि वाक्य दो भी हो तो दोनो वाक्यार्थ परस्पर सापेक्ष होते है।

---

१. तस्यापि बिम्बप्रतिबिम्बतया निर्देशे दृष्टान्त:। तुलनीय—सम्भवता-सम्भावता वा वस्तुसम्बन्धेन गम्यमानं प्रतिबिम्बकरण निदर्शना।
—रुय्यक, अलङ्कारसूत्र, २६ तथा २७

२. द्रष्टव्य—उद्भट, काव्यालङ्कारसारसं०, ५,१८ तथा—
—मम्मट, काव्यप्रकाश, १०,९७

वस्तु-सम्बन्ध के सम्भव या असम्भव होने पर सादृश्य की प्रतीति मे पर्यवसान होने के कारण बिम्बप्रतिबिम्बभाव का गम्य होना कहा गया है। ध्यातव्य है कि मम्मट आदि वस्तुसम्बन्ध के बाधित होने पर ही उपमा मे उस सम्बन्ध का पर्यवसान निदर्शना का लक्षण मानते हैं, पर रुय्यक वस्तुसम्बन्ध के सम्भव होने तथा असम्भव होने पर, दोनो ही स्थितियों मे सादृश्य का आक्षेप होना निदर्शना का लक्षण मानते है। मम्मट आदि के अनुसार 'अभवन्वस्तु-सम्बन्ध' अर्थात् सम्बन्ध-प्रतीति का अभाव निदर्शना का एक व्यावर्तक होगा। उद्योतकार ने परस्पर निरपेक्ष वाक्यार्थो में बिम्बप्रतिबिम्बभाव को दृष्टान्त का तथा परस्पर सापेक्ष वाक्यार्थों मे बिम्बप्रतिबिम्बभाव को निदर्शना का व्यवच्छेदक मान कर दोनो के भेद निरूपण के सिद्धान्त का विवेचन किया है।[1]

विश्वनाथ की मान्यता है कि असम्भवद्वस्तुसम्बन्धा निदर्शना मे बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव की कल्पना किये विना वाक्यार्थ की विश्रान्ति ही नही हो सकती, पर दृष्टान्त में पूर्ण वाक्यार्थ से अन्य वाक्यार्थ के साथ बिम्बप्रति-बिम्बभाव दिखाया जाता है।[2] दूसरे शब्दो में, निदर्शना मे वाक्यार्थ अपनी पूर्णता के लिए सादृश्य-कल्पना की अपेक्षा रखता है, पर दृष्टान्त मे वाक्यार्थ अन्य-निरपेक्ष और अपने आप मे पूर्ण रहता है।

निष्कर्ष यह कि दृष्टान्त और वाक्यार्थवृत्ति निदर्शना मे मुख्य भेद बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव के वाच्य और गम्य होने की दृष्टि से है। दृष्टान्त मे परस्पर निरपेक्ष वाक्यो में बिम्बप्रतिबिम्बभाव की कल्पना की जाती है, पर निदर्शना में एक ही वाक्यार्थ मे अन्य वाक्यार्थ का आक्षेप से अध्यारोप होता है या परस्पर सापेक्ष वाक्यार्थ में बिम्बप्रतिबिम्बभाव लक्षित होता है। अभवन्वस्तुसम्बन्धा वाक्यवृत्तिगता निदर्शना मे तो वस्तु-सम्बन्ध के बाधित रहने के कारण तब तक वाक्यार्थ का पर्यवसान ही नही होता जब तक उस वाक्यार्थ के लिए

---

१. 'अभवन्वस्तुसम्बन्धः' इत्युक्तत्वादेव प्रतीतिपर्यवसानाभावादस्य दृष्टान्ततो भेदः। परस्परनिरपेक्षयोर्वाक्यार्थयोर्दृष्टान्तालङ्कारः, इयं (निदर्शना) पुनः सापेक्षयोरिति भेद इत्यन्ये इत्युद्योते स्पष्टम्।
—काव्यप्रकाश, झलकीकर की टीका, पृ० ६१४

२. इह (निदर्शनाया) बिम्बप्रतिबिम्बताक्षेप विना वाक्यार्थपर्य्यवसानम्, दृष्टान्ते पर्य्यवसितेन वाक्यार्थेन सामर्थ्याद्बिम्बप्रतिबिम्बताप्रत्यायनम्।
—विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, पृ० ६८६

बिम्बप्रतिबिम्बभाव की कल्पना न कर ली जाय, पर दृष्टान्त मे वाक्यार्थ पर्यवसित ही रहता है।

अर्थान्तरन्यास और अप्रस्तुतप्रशंसा

आचार्य उद्भट के टीकाकार तिलक ने एक उदाहरण को दृष्टि में रखते हुए यह प्रश्न उठाया है कि अप्रस्तुतप्रशंसा मे भी वाच्य विशेष से गम्य सामान्य समर्थित होता है, और विशेष से सामान्य का समर्थन अर्थान्तरन्यास का भी लक्षण है, फिर अर्थान्तरन्यास और अप्रस्तुतप्रशंसा में क्या अन्तर है ? हम इस प्रश्न का स्पष्टीकरण कर लें। अप्रस्तुतप्रशसा में केवल अप्रकृत का कथन होता है और प्रकृत उससे गम्य होता है। यदि किसी विशेष अप्रकृत के वर्णन से किसी सामान्य प्रकृत अर्थ की प्रतीति होती हो—जैसा कि एक उदाहरण मे विवृतिकार ने दिखाया है—तो उस वाच्य विशेष अर्थ मे और गम्य सामान्य अर्थ मे समर्थ्य-समर्थक भाव माना ही जायगा, क्योंकि अप्रकृत विशेष के कथन की सार्थकता उससे गम्यमान प्रकृत सामान्य अर्थ के समर्थन में ही होगी। इस प्रकार अप्रस्तुतप्रशसा मे भी सामान्य और विशेष में समर्थ्य-समर्थक सम्बन्ध होने से सामान्य-विशेष के समर्थ्य-समर्थक सम्बन्ध पर आश्रित अर्थान्तरन्यास से अप्रस्तुतप्रशसा का भेद ही क्या रह जायगा ? इस सम्भावित प्रश्न का उत्तर उद्भट ने यह कह कर दे दिया था कि अर्थान्तरन्यास में प्रकृत अर्थ का अन्य अर्थ से समर्थन होता है। अतः यह अप्रस्तुतप्रशंसा से भिन्न है।[1] तात्पर्य यह कि अर्थान्तरन्यास मे चूँकि अर्थ के अनुपपन्न होने की सम्भावना से उसके समर्थन के लिए अन्य अर्थ का न्यास किया जाता है, इसलिए उसमें समर्थ्य वाक्यार्थ—विशेष या सामान्य—अन्य वाक्यार्थ की अपेक्षा रखता है। उसमे समर्थ्य तथा समर्थक दोनो अर्थो का उपादान होता है, पर अप्रस्तुतप्रशसा में एक ही अर्थ (केवल अप्रस्तुत अर्थ) का उपादान होता है। निष्कर्षतः, समर्थ्य-समर्थक सामान्य-विशेष अर्थो का उपादान अर्थान्तरन्यास का तथा उनमें से केवल अप्रस्तुत सामान्य या विशेष अर्थ का उपादान कर उससे गम्य विशेष या सामान्य अर्थ का समर्थन अप्रस्तुतप्रशसा का व्यावर्तक है।

---

१. ×   ×   ×   प्रकृतार्थसमर्थनात्।
अप्रस्तुतप्रशसाया दृष्टान्ताच्च पृथक् स्थितः॥

—उद्भट, काव्यालङ्कारसारसंग्रह, २,७

रुय्यक को भी उद्भट का मत मान्य है। उन्होने अप्रस्तुतप्रशंसा के पाँच भेदों मे से चार के सम्बन्ध मे कहा है कि यदि सामान्य-विशेष और कार्य-कारण वाच्य हों, तो अर्थान्तरन्यास अलङ्कार होता है और सामान्य-विशेष तथा कार्य-कारण के युग्मो मे से जहाँ एक (अप्रस्तुत) वाच्य और अन्य (प्रस्तुत) गम्य हो, वहाँ अप्रस्तुतप्रशसा अलङ्कार माना जाता है।[१] अप्पय्य दीक्षित, जगन्नाथ आदि की भी यही मान्यता है कि अर्थान्तरन्यास मे सामान्य-विशेष दोनों ही समर्थ्य-समर्थक के रूप में वाच्य होते है। इसी प्रकार कार्य-कारण मे भी समर्थ्य-समर्थकभाव रहने पर दोनो वाच्य रहते है, पर अप्रस्तुतप्रशसा मे केवल अप्रस्तुत ही (चाहे वह विशेष हो, सामान्य हो, कार्य हो या कारण हो) वाच्य होता है अन्य गम्य।[२] समर्थ्य-समर्थक—सामान्य-विशेष या कार्यकारण—मे से दोनो अङ्गों का वाच्य होना तथा एक अङ्ग का—अप्रस्तुत का—वाच्य और दूसरे—प्रस्तुत का—गम्य होना अर्थान्तरन्यास तथा अप्रस्तुतप्रशंसा का मुख्य भेदक धर्म है।

अर्थान्तरन्यास और काव्यलिङ्ग

आचार्य दण्डी आदि प्राचीन आचार्य सामान्य का विशेष से अथवा विशेष का सामान्य से समर्थन अर्थान्तरन्यास का विषय मानते थे। कारण का कार्य से समर्थन अथवा कार्य का कारण से समर्थन उनके अनुसार अर्थान्तरन्यास के क्षेत्र में समाविष्ट नही था। इसी आधार पर 'काव्यादर्श' के टीकाकार नृसिहदेव ने काव्यलिङ्ग और अर्थान्तरन्यास का विषय-विभाग किया है कि कार्य का कारण से समर्थन तथा कारण का कार्य से समर्थन काव्यलिङ्ग का विषय है और सामान्य का विशेष से समर्थन तथा विशेष का सामान्य से

---

१. तदत्र सामान्यविशेषत्वेन कार्यकारणत्वेन सारूप्येण च यद् भेदपञ्चकमुद्दिष्टं, तत्रो द्वयोः सामान्यविशेषयोः कार्यकारणयोश्च यदा वाच्यत्वं भवति, तदा अर्थान्तरन्यासाविर्भावः। ···अप्रस्तुतस्य वाच्यत्वे प्रस्तुतस्य गम्यत्वे सर्वत्राप्रस्तुतप्रशसेति निर्णयः।

—रुय्यक, अलङ्कारसर्वस्व, पृ० १२९-३०

२. द्रष्टव्य—अप्पय्य दीक्षित, कुवलयानन्द, १२२-२२ की वृत्ति पृ० १४०-४१ तथा—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ६४८

का समर्थन होने पर काव्यलिङ्ग और निरपेक्ष का भी प्रतीतिवैशिष्ट्य से समर्थन होने पर अर्थान्तरन्यास माना जायगा, वह सबल नही है; क्योंकि इस नियम के विपरीत निरपेक्ष के समर्थन में भी काव्यलिङ्ग तथा सापेक्ष के समर्थन में भी अर्थान्तरन्यास के उदाहरण उपलब्ध है। अतः दोनों के विषय-विभाग के लिए यह आवश्यक है कि कारण-कार्य मे समर्थ्य-समर्थक भाव के स्थल मे काव्यलिङ्ग और सामान्य-विशेष मे समर्थ्य-समर्थक भाव के स्थल मे अर्थान्तरन्यास माना जाय।[१]

पण्डितराज जगन्नाथ ने भी अर्थान्तरन्यास का क्षेत्र केवल सामान्यविशेष के समर्थन को स्वीकार किया है। उनके अनुसार काव्यलिङ्ग और अर्थान्तरन्यास का मुख्य भेद यह है कि काव्यलिङ्ग मे हेतु सदा गम्यमान ही होता है, पर अर्थान्तरन्यास मे यह नियम नही। काव्यलिङ्ग मे हेतु-हेतुमद्भाव सदा अर्थगत होता है, पर अर्थान्तरन्यास मे समर्थ्य-समर्थक-भाव शाब्द तथा आर्थ, दोनो हो सकता है।[२] इस विवेचन के निष्कर्ष रूप मे रुय्यक की मान्यता के अनुसार सामन्य विशेष के साथ कारण-कार्य के समर्थ्य-समर्थक भाव को भी अर्थान्तरन्यास मानने मे कोई अनुपपत्ति नही जान पडती। ऐसा मानने पर भी काव्यलिङ्ग से अर्थान्तरन्यास का भेद रह ही जायगा—उपनिबद्ध वाक्यार्थ से समर्थन अर्थान्तरन्यास का तथा हेतु रूप मे वाक्यार्थ-निबन्धन काव्यलिङ्ग का व्यावर्तक होगा। दूसरे, काव्यलिङ्ग में हेतु का सार्वत्रिक रूप से आर्थ होना तथा अर्थान्तरन्यास मे उसका शाब्द तथा आर्थ होना भी दोनो का व्यवच्छेदक धर्म माना जा सकता है।

---

१. ....तस्मादुभयतो व्यभिचारात्समर्थनापेक्षसमर्थने काव्यलिङ्गं तन्निरपेक्षसमर्थनेऽर्थान्तरन्यास इति न विभागः, किन्तु समर्थ्य-समर्थकयो. सामान्यविशेषसम्बन्धेऽर्थान्तरन्यासः। तदितरसम्बन्धे काव्यलिङ्गमित्येव व्यवस्थावधारणीया।

—अप्पय्य दीक्षित, कुवलयानन्द वृत्ति, पृ० १४२-३

२. यत्र कारणेन कार्यस्य कार्येण वा कारणस्य समर्थनमित्यपिभेद-द्वयमर्थान्तरन्यासस्यालङ्कारसर्वस्वकारो न्यरूपयत्, तन्न। तस्य काव्य-लिङ्गविषयत्वात्।—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ७५१। तथा—अस्मिन्नलङ्कारे (अर्थान्तरन्यासालङ्कारे) समर्थ्यसमर्थकभाव आर्थः शाब्दश्चालङ्कारताप्रयोजक। न तु काव्यलिङ्गं हेतुहेतुमद्भाव इवार्थ एव। —वही, पृ० ७४८, पृष्ठ ७५१-५२ भी द्रष्टव्य

विभावना और विशेषोक्ति

विभावना और विशेषोक्ति एक दूसरे का विपरीतधर्मा है। विभावना मे कारण के विना ही कार्य की उत्पत्ति का वर्णन होता है, पर इसके विपरीत विशेषोक्ति में समग्र या अबाधित कारण के रहने पर भी फल की उत्पत्ति न होने का वर्णन होता है। अल्ङ्कारसर्वस्वकार ने दोनो के स्वभाव का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि विभावना मे हेतु का प्रत्यक्षत. निषेध रहता है; पर वस्तुत' वह हेतु का अभाव फलोत्पत्ति की बाधा मे ही परिणत होता है, यद्यपि प्रत्यक्षतः हेतु के विना फलोत्पत्ति कथित रहती है। इसके विपरीत विशेषोक्ति में प्रत्यक्षतः तो समग्र हेतु का सद्भाव, फिर भी फलोत्पत्ति का अभाव वर्णित होता है; पर तत्त्वतः वह फलाभाव कारण-समग्रता की बाधा के रूप मे ही प्रतीत होता है।[1] विभावना और विशेषोक्ति का परस्पर विपरीत स्वभाव सर्वसम्मत है।

अप्रस्तुतप्रशंसा और अपह्नुति

अप्रस्तुतप्रशसा मे प्रस्तुत का उपादान नही होता। अप्रस्तुत के कथन से ही प्रस्तुत की प्रतीति करायी जाती है, पर अपह्नुति मे प्रस्तुत का निषेध और उसकी जगह अप्रस्तुत की स्थापना की जाती है।

अप्रस्तुतप्रशंसा और पर्यायोक्त

'अलङ्कारसर्वस्व' मे यह प्रश्न उठाया गया है कि यदि कार्य के वर्णन से कारण की प्रतीनि मे भी अप्रस्नुतप्रशसा मानी जाती है (जैसा कि रुय्यक आदि ने माना है) तो पर्यायोक्त मे जहाँ किसी व्यक्ति के कार्य का वर्णन कर कारणभूत अर्थ की प्रतीति करायी जानी है, उसमें भी अप्रस्तुतप्रशंसा ही मानी जाने लगेगी। दोनो का भेदक क्या रह जायगा ? इस शङ्का का समाधान यह कह कर किया गया है कि कार्य से कारण की प्रतीति तो उक्त दोनों अलङ्कारों में होती है, पर दोनों का भेद यह है कि पर्यायोक्त मे कार्यमुखेन कारणभूत अर्थ

---

१. कारणाभावेन चेह (विभावनाया) उपक्रान्तत्वाद् बलवता कार्यमेव बाध्यमानत्वेन प्रतीयते, न तु तेन तत्र कारणाभाव। 'विशेषोक्तौ कार्याभावेन कारणसत्ताया एव बाध्यमानत्वमुन्नेयम्।—रुय्यक, अल० सर्वस्व पृ० १५२ तथा—विभावना लक्षयित्वा तद्विपर्ययस्वरूपा विशेषोक्ति लक्षयति।—वही, पृ० १५५

का ही भङ्ग्यन्तर से कथन होता है, इसलिए उसमें कार्य भी कारण की तरह वर्ण्य होने से प्रस्तुत ही रहता है, जब कि अप्रस्तुतप्रशसा में वर्णित कार्य अप्रस्तुत होता है और उससे प्रतीत होने वाला कारणभूत अर्थ ही प्रस्तुत होता है।[1] पण्डितराज जगन्नाथ ने उक्त विभाग को अस्वीकार कर दोनों में इस आधार पर भेद-निरूपण किया है कि अप्रस्तुतप्रशसा में वाच्यार्थ व्यङ्ग्यार्थ की प्रतिपत्ति मे सहायक होता है; पर पर्यायोक्त में इसके विपरीत व्यङ्ग्यार्थ ही वाच्यार्थ की प्रतिपत्ति मे सहायक होता है।[2] यही मत अधिक स्पष्ट तथा युक्तिपुष्ट जान पडता है।

अप्रस्तुतप्रशंसा और अतिशयोक्ति

अतिशयोक्ति मे विषय का निगरण होने से उसका उपादान नहीं होता और अप्रस्तुत से ही प्रस्तुत का बोध कराया जाता है। रूपकातिशयोक्ति में केवल विषयी का ही उपादान होता है। अप्रस्तुतप्रशंसा मे भी अप्रस्तुत का ही वर्णन होता है और उससे प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति होती है, पर दोनो में मुख्य भेद यह है कि अतिशयोक्ति मे अप्रस्तुत का कथन होने पर लक्षणा शक्ति से अन्य प्रस्तुत अर्थ का बोध होता है, जब कि अप्रस्तुतप्रशसा में अप्रस्तुत अर्थ के कथन से व्यञ्जना-वृत्ति से प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति होती है। अतिशयोक्ति मे अप्रस्तुत वाच्य और प्रस्तुत लक्ष्य होता है; पर अर्थान्तरन्यास में अप्रस्तुत वाच्य और प्रस्तुत व्यङ्ग्य। 'धरनी पर यह चन्द्रमा है' अतिशयोक्ति के इस उदाहरण मे चन्द्रमा का धरती पर होना अर्थ अनुपपन्न होकर सादृश्यमूला गौणी लक्षणा से 'मुख' अर्थ का बोध कराता है। अप्रस्तुतप्रशसा मे कथित अप्रस्तुत अर्थ अपने आप में पूर्ण तथा उपपन्न रहता है और उससे व्यञ्जना-वृत्त्या अन्य (प्रस्तुत) अर्थ की भी प्रतीति होती है। पण्डितराज जगन्नाथ ने इसी आधार पर उक्त अलङ्कारो का भेद-निरूपण किया है।[3]

---

१ एवञ्च यत्र वाच्योऽर्थोऽर्थान्तर तादृशमेव स्वोपस्कारकत्वेनागूरयति, तत्र पर्यायोक्तम्। यत्र पुन स्वात्मानमेवाप्रस्तुतत्वात् प्रस्तुतमर्थान्तर प्रति समर्पयति तत्राप्रस्तुतप्रशसेति निर्णय।—रुय्यक, अल० सर्व० पृ० १२६

२. अस्मिश्चालङ्कारे (पर्यायोक्तालङ्कारे) व्यङ्ग्य वाच्यपरम्, अप्रस्तुत-प्रशसाया तु वाच्य व्यङ्ग्यपरम्..।—जगन्नाथ, रसगङ्गा० पृ० ६५७

३ तत्र (अतिशयोक्तौ) हि वाच्यतावच्छेदकरूपेण लक्ष्यस्य प्रतीतिरिह (अप्रस्तुतप्रशसाया) तु वाच्यताटस्थ्येनार्थान्तरस्येति विशेषात्।.... किचाप्रस्तुतप्रशंसाया प्रस्तुतं व्यङ्ग्यमिति निर्विवादम्। निगीर्याध्यवसाने तु लक्ष्यं स्यात्।—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ६४८-४९

अन्योक्ति और भाव

रुद्रट ने अप्रस्तुतप्रशसा की जगह अन्योक्ति का निरूपण किया है। दोनों तत्त्वत: एक ही है। इस अन्योक्ति या अप्रस्तुतप्रशसा से रुद्रट के द्वितीय भाव का भेद-निरूपण वाञ्छनीय है। भाव के द्वितीय रूप मे रुद्रट के अनुसार कोई वाक्य वाच्यार्थ का बोध कराने के साथ उस वाच्यार्थ के असदृश गुण-दोष रूप अन्य अर्थ की प्रतीति कराता है।[१] तात्पर्य यह कि यदि वाक्य का वाच्य अर्थ विधि रूप हो तो उससे निषेध की व्यञ्जना होगी और इसके विपरीत निषेध वाच्य होने पर विधि की व्यञ्जना होगी। अन्योक्ति या अप्रस्तुतप्रशसा रुद्रट के अनुसार औपम्यगर्भ अलङ्कार है। उसमे कथित वाक्यार्थ से उसके सदृश ही अन्य वाक्यार्थ—उपमेयभूत समान इतिवृत्त—व्यञ्जित होता है।[२] इस प्रकार भाव मे असदृश अर्थ की प्रतीति (गुण से दोष तथा दोष से गुण; विधि से निषेध तथा निषेध से विधि की प्रतीति) तथा अन्योक्ति मे कथित अर्थ से समान इतिवृत्त की प्रतीति दोनो का भेदक है। परवर्ती आचार्यो ने भाव को व्यञ्जना आदि मे समाविष्ट माना है, अलङ्कार नही।

अन्योक्ति और पर्याय

पर्याय मे विवक्षित वस्तु की व्यञ्जना के लिए उसके असदृश तथा उससे कार्यकारण-सम्बन्ध से रहित वस्तु का कथन होता है। इस प्रकार अन्योक्ति या अप्रस्तुतप्रशसा से रुद्रट के इस पर्याय का भेद यह है कि अन्योक्ति मे कथित अप्रस्तुत अर्थ से उसके सदृश अन्य अर्थ की प्रतीति होती है और पर्याय मे कथित अर्थ से उसके असदृश अर्थ का बोध होता है।[3]

---

१. अभिधेयमभिदधान तदेव तदसदृशसकलगुणदोषम्।
अर्थान्तरमवगमयति यद्वाक्यं सोऽपरो भाव: ॥—रुद्रट, काव्याल०, ७, ४०

२. द्रष्टव्य—वही, ८,७४; नमिसाधु ने दोनो के भेदक तत्त्व के सम्बन्ध मे कहा है कि असदृश अर्थ की प्रतीति भाव को अन्योक्ति से पृथक् करती है—'एतेन चान्योक्तिसमासोक्त्योर्भावत्व निषिद्धम्। तत्र (अन्योक्तौ) हीतिवृत्तसादृश्य वर्तते। औपम्यभेदात्तयोरिति।
—वही, नमिसाधुकृत टीका, पृ० २१४

३. समासोक्त्यन्योक्त्यो: पर्यायत्वनिवृत्त्यर्थमाह—असदृश तस्य। तस्य वाच्यस्य वस्तुनोऽसदृशमतुल्यम्।
—वही, ७,४२ पर नमिसाधुकृत टीका, पृ० २१५

पर्याय और भाव

पर्याय और भाव के स्वरूपगत भेद के सम्बन्ध में रुद्रट की मान्यता है कि भाव में वस्तुओ में—कथित तथा व्यञ्जित अर्थों मे—जन्य-जनक-सम्बन्ध रहता है; पर पर्याय में दोनो मे जन्य-जनक सम्बन्ध का अभाव रहता है। प्रथम भाव मे व्यक्ति के शरीर का विकार उसके विशेष अभिप्राय की प्रतीति कराता है। ऐसी स्थिति मे विकार कार्य होता है और भाव उस विकार का कारण। कार्य से कारणभूत अर्थ की प्रतीति होनी है। इस प्रकार गम्य अर्थ—भाव विशेष जो विकार रूप कार्य का कारण है—का गमक अर्थ (विकार) के साथ जन्य-जनक सम्बन्ध रहता है। द्वितीय भाव में एक वस्तु का बोध अन्य वस्तु की प्रतीति का जनक होता है। पर्याय मे एक अर्थ का अर्थान्तर के साथ जन्य-जनक सम्बन्ध नही रहता। इसमे वही अर्थ पर्याय से (भङ्ग्यन्तर से) कथित होता है। अभिप्राय-रूप अर्थान्तर की प्रतीति इसमे नही होती। जो प्रतीत होता है वही भङ्ग्यन्तर से कथित भी।[1]

पर्याय और सूक्ष्म

सूक्ष्म मे एक वस्तु का ज्ञान वस्त्वन्तर की प्रतीनि का कारण होता है। इसमे प्रतिपाद्य अर्थ मे युक्तिहीन अर्थ वाला शब्द अपने अर्थ से सम्बद्ध युक्तियुक्त अन्य अर्थ का बोध कराता है, पर पर्याय में एक ही अर्थ रहता है, जो प्रतीत भी होता है और पर्याय से कथित भी। अत उसमे दो अर्थो मे जन्य-जनक सम्बन्ध नही रहता।[2]

परिकर और परिकराङ्कुर

इन दोनो अलङ्कारो का स्वरूप साभिप्राय पद-प्रयोग की धारणा पर आधृत है। दोनो का मुख्य भेद यह है कि परिकर मे साभिप्राय विशेषण का प्रयोग

---

१ भावसूक्ष्मयोः पर्यायोक्तनिवृत्यर्थमाह—अजनकमजन्य वेति। अयमर्थः प्रथमभावे विकारलक्षणेन कार्येण विकारवतोऽभिप्रायो यथा गम्यते तथा स्वजनकेन सह प्रतिबन्धश्चेति गमकस्य जन्यतास्ति।…इह (पर्याये) तु विवक्षितवस्तुप्रतिपादक वस्तु न तथाभूतम्। वाच्यवाचकभावशून्य-मित्यर्थः। द्वितीयभावे हि वक्तुरभिप्रायरूपमर्थान्तर वाक्येन गम्यते।… इह तु स एवार्थः पर्यायेणोच्यते। न त्वभिप्रायरूपमर्थान्तरप्रतीतिरिति। —रुद्रट, काव्यालङ्कार, ७,४२ पर नमिसाधु की टीका, पृ० २१५,

२. ··सूक्ष्मे तु युक्तिमदर्थोऽपि शब्दोऽर्थान्तरमुपत्तिमद् गमयति। इह तु स एवार्थः पर्यायेणोच्यते। —वही, पृ० २१५

होता है और परिकराङ्कुर में साभिप्राय विशेष्य का। साभिप्राय पद-प्रयोग को दोनो की समान प्रकृति मानने के कारण ही मम्मट आदि ने दोनों को अलग-अलग नही मान कर एक ही अलङ्कार माना होगा। उद्योतकार ने मम्मट के परिकर-लक्षण मे प्रयुक्त विशेषण शब्द को उपलक्षण मान कर साभिप्राय विशेष्य मे भी परिकर ही स्वीकार किया है और परिकराङ्कुर नामक अलङ्कार की कल्पना को युक्तिहीन बताया है।[1] पर, सूक्ष्म भेद के आधार पर स्वतन्त्र अलङ्कार की कल्पना होती रही है और विशेषण तथा विशेष्य के साभिप्राय प्रयोग के आधार पर उक्त अलङ्कारो का भी भेद-निरूपण असङ्गत नही।

मीलित और सामान्य

मीलित में एक वस्तु समान लक्षण वाली अन्य वस्तु को अपने मे तिरोहित कर लेती है। अतः, उसमे एक ही वस्तु की प्रतीति होती है। सामान्य मे प्रकृत वस्तु का अप्रकृत वस्तु के साथ तादात्म्य दिखाया जाता है। अत., उसमे दोनों वस्तुओं की एकरूपतया प्रतीति रहती है। उसमे दोनो वस्तुएँ प्रत्यक्ष विषय होती हैं; पर एक का दूसरे से अभिन्न रूप मे बोध होता है। अलङ्कार-सर्वस्वकार तथा उद्योतकार ने मीलित और सामान्य का भेद-निरूपण इसी आधार पर किया है। अप्पय्य दीक्षित, जगन्नाथ आदि ने भी इसी आधार पर उक्त अलङ्कारो का भेद-निरूपण किया है।[2]

---

१. अत्र (परिकरे) विशेषणैरित्युपलक्षण विशेष्यस्यापि। तेन साभिप्राये विशेष्येऽप्ययम्। .....एतेन साभिप्राये विशेष्ये परिकराङ्कुरनामा भिन्नोऽलङ्कार इत्यपास्तमित्युद्योते स्पष्टम्।—काव्यप्रकाश,झलकीकरकृत टीका पृ० ६९९। झलकीकर ने सुधासागरकार का भी मत उद्धृत किया है, जो उद्योतकार के मत से अभिन्न है। —द्रष्टव्य, वही, पृ० ६९९

२. न चायं (निमीलितम्) सामान्यालङ्कारः। तस्य (सामान्यस्य) हि साधारणगुणयोगाद् भेदानुपलक्षणं रूपम्। अस्य (मीलितस्य) तूत्कृष्ट-गुणेन निकृष्टगुणस्य तिरोधानमिति महान्‌भयोर्विशेषः।—रुय्यक,अलङ्कार सर्वस्व, पृ० २०९, ऐकात्म्यमित्यनेन मीलिताद्भेदः, तत्र (मीलिते) बलवत्सजातीयग्रहणकृताग्रहणम् अत्र तु पृथक्त्वेनाग्रहणमिति विशेषात्। —काव्यप्र०, १०,१३४ पर उद्योत टीका। अप्पय्य दीक्षित, कुवलयानन्द, १४७ की वृत्ति, पृ० १६४ तथा जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ८१५-१६ भी द्रष्टव्य।

मीलित और व्याजोक्ति

मीलित मे किसी वस्तु के समान चिह्न वाली अन्य वस्तु से वस्तु के तिरोधान का वर्णन होता है; पर व्याजोक्ति मे वस्तु के प्रकट स्वरूप को किसी बहाने छिपाने का वर्णन होता है। अत, दोनो अलङ्कारो की प्रकृति परस्पर भिन्न है। विवरणकार ने दोनो के भेदक तत्त्व के सम्बन्ध मे कहा है कि व्याजोक्ति मे वस्तु का तिरोधान वस्तुस्वभाव से नही होता, बल्कि उद्भिन्न वस्तु को वक्ता किसी बहाने छिपाने का प्रयास करता है; पर मीलित मे वस्तु का तिरोधान वास्तविक रूप मे विवक्षित होता है। उसमें वस्तु का रूप उद्भिन्न ही नही होता। वह स्वभावतः ही अन्य वस्तु के रूप मे तिरोहित हो जाता है।[1]

मीलित और अपह्नुति

मीलित मे दो वस्तुओ की रूपगत समता के कारण एक वस्तु के दूसरी वस्तु मे तिरोहित हो जाने का वर्णन होता है, पर अपह्नुति में प्रकृत का अपह्नव (निषेध) कर अप्रकृत की स्थापना की जाती है। दोनो का एक भेद यह भी है कि अपह्नुति में उपमानोपमेयभाव रहता है; पर मीलित मे उपमानोपमेय भाव आवश्यक नही। अपह्नुति मे निषेधपूर्वक स्थापन होता है, पर मीलित मे ऐसा नही होता।[2]

मीलित और उन्मीलित

अप्पय्य दीक्षित ने दोनो को स्वतन्त्र अलङ्कार माना है। समान चिह्न के कारण एक वस्तु अन्य वस्तु मे तिरोहित हो जाती है, फिर अन्य चिह्न की उपलब्धि से दोनो वस्तुओ का भेद स्पष्ट हो जाता है। पहली (तिरोधान की) स्थिति मीलित की स्थिति है और दूसरी (अन्य चिह्न के लाभ से भेद स्पष्ट होने की) स्थिति उन्मीलित की। उन्मीलित के रूप-विधान के लिए पहले

---

१. व्याजोक्तौ तिरोधान न वस्तुस्वभावजनित किंतु कथञ्चिदुद्भिन्न वस्तु कश्चित् तिरोधातु यतते इति विवक्षितम्। इह (मीलिते) तु वस्तु नोद्भिन्नम् तस्यापि च तिरोधान वास्तविकतया विवक्षितमिति भेद इति विवरणे स्पष्टम्।

—काव्यप्रकाश झलकीकरकृत टी०, पृ० ७२७-२८

२. न चापह्नुत्यतिव्याप्ति उपमानोपमेयभावाभावादिति विस्तारिकाया-मुक्तम्। वस्तुनस्तु अपह्नुतौ निषेधसहित व्यवस्थापनम्, अत्र (मीलिते) तु न तथेति ततो भेद। —वही० पृ० ७२८

मीलित की स्थिति की कल्पना आवश्यक है। इस आधार पर दोनो मे बहुत थोडा भेद मानकर उद्योतकार ने दोनो को एक ही अलङ्कार माना है।[१] यह ठीक है कि उन्मीलित की कल्पना का आधार मीलित का स्वरूप है और उसकी पूर्वदशा भी मीलित की ही दशा है, पर उन्मीलित मे मीलित से एक आगे की दशा की कल्पना की जाती है। जब थोडे-थोडे भेद से स्वतन्त्र अलङ्कारो की सत्ता स्वीकार की गयी है, तब मीलित और उन्मीलित के स्वभावगत कथित भेद के आधार पर दोनो की परस्पर स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करना उचित ही जान पडता है।

मीलित और तद्गुण

अलङ्कारसर्वस्वकार के अनुसार मीलित और तद्गुण का भेद यह है कि मीलित मे वस्तु का रूप समान चिह्न वाली अन्य वस्तु के रूप मे तिरोहित हो जाता है और तद्गुण मे हीन गुण वाली वस्तु अपने गुण का त्याग कर अन्य वस्तु के गुण को ग्रहण करती है।[२] दोनो की प्रकृति पर दृष्टि रखते हुए प्रदीपकार ने उनके पारस्परिक भेद के सम्बन्ध मे कहा है कि मीलित में अन्य वस्तु से आच्छादित वस्तु का बोध होता है, पर तद्गुण मे वस्तु अन्य वस्तु मे तिरोहित नही होती, उससे अनाच्छादित रहकर ही उसके गुण को ग्रहण कर लेती है।[३]

---

१ अत्राहुरुद्योतकारा "स्फुटमुपलभ्यमानस्य कस्यचिद्वस्तुनो लिङ्गैरति-साम्यात् भिन्नत्वेनागृह्यमाणाना वस्त्वन्तरलिङ्गाना स्वकारणानु-मापकत्व मीलितम्। एव च 'हिमाद्रि त्वद्यशोमग्न सुरा शीतेन जानते' इत्यादावपि इदमेव (मीलितमेव), शीतेन तज्ज्ञानेऽपि यश· साधारणलिङ्गै· श्वैत्यादिभिस्तदनुमानाभावात्, शीतेन जानते इत्यने-नापि मीलनस्यैव दाढ्र्य न त्वन्येनेति प्रतीते। एतेनात्रोन्मीलित पृथगलङ्कार इति अपास्तम्।"

—काव्यप्रकाश, बालबोधिनी टीका, पृ० ७२८

२. न चेद मीलितम्। तत्र हि प्रकृत वस्तु वस्त्वन्तरेणाच्छादितत्वेन प्रतीयते। इह (तद्गुणे) त्वनपह्नुतस्वरूपमेव प्रकृत वस्तु वस्त्वन्तर-गुणोपरक्ततया प्रतीयत इत्यस्त्यनयोर्भेद।

—रुय्यक, अलङ्कारसर्वस्व, पृ० २११

३. मीलिते वस्त्वन्तरेणाच्छादितस्य तस्यैव वस्तुन प्रतीति, अत्र (तद्गुणे) त्वनाच्छादितस्वरूपस्यैव वस्त्वन्तरगुणापत्तिरिति ततो भेद इति प्रदीपः।

—काव्यप्रकाश, बालबोधिनी, पृ० ७४६

पण्डितराज जगन्नाथ की भी यही मान्यता है।[1] उद्योतकार के अनुसार दोनो का एक भेद यह भी है कि मीलित मे धर्मी भी तिरोहित हो जाता है, पर तद्गुण मे केवल गुण (धर्म) का ही तिरस्कार होता है। धर्मी अपने गुण-मात्र का त्याग कर अन्य के गुण को ग्रहण करता है। अत, धर्मी का तिरस्कार नही होता। उसकी स्वतन्त्र सत्ता अवभासित ही रहती है।[2]

सामान्य और तद्गुण

सामान्य मे वस्तु अपने गुण का त्याग नही करती। उसके गुण की अन्य वस्तु के गुण से केवल एकात्मतया प्रतीति होती है। वैशिष्ट्याधायक गुण के अभाव मे उसके गुण की पृथक् प्रतीति नही होती, अन्य वस्तु के गुण के साथ सामान्यतया प्रतीति होती है, पर तद्गुण मे वस्तु अपने गुण का त्याग कर अन्य वस्तु के गुण को ग्रहण करती है, यही 'काव्यप्रकाश' के टीकाकार वामन झलकीकर के अनुसार उक्त दो अलङ्कारो का भेद है।[3]

सामान्य और भ्रान्तिमान्

भ्रान्तिमान् मे स्मर्यमाण वस्तु का आरोप होता है, पर सामान्य मे अनुभूयमान वस्तु का—यह दोनो का भेद है।[4] भ्रान्ति मे किसी वस्तु को देखकर सस्कार-रूप में मन मे स्थित वस्तु की स्मृति जाग्रत होकर उस वस्तु पर आरोपित हो जाती है, पर सामान्य मे वस्तु का गुण अन्य वस्तु के गुण से अविशिष्टतया अनुभूत होता है। मम्मट ने भ्रान्ति मे किसी वस्तु मे अप्राकरणिक

---

१ द्रष्टव्य—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ८१४,

२. मीलिते धर्मिणोऽपितिस्कार. इह (तद्गुणे) तु गुणमात्रस्यैव तिरस्कार. धर्मिणश्च पृथगवभास इति भेद.।
—काव्यप्रकाश, उद्योत टीका, बालबोधिनी में उद्धत, पृ० ७४६

३. सूत्रे (मम्मटकृतसामान्यालङ्कारलक्षणसूत्रे) प्रस्तुतस्येत्यस्य 'अपरित्यक्तनिजगुणस्य' इत्यपि विशेषण विवक्षितमित्यत आह अपरित्यक्तनिजगुणमेवेति। तेन वक्ष्यमाणात्तद्गुणालङ्काराद्भेद. तत्र निजगुणपरित्यागात्।—काव्यप्रकाश, झलकीकरकृत टीका, पृ० ७३६

४. न च भ्रान्तिमता सङ्कर, तत्र स्मर्यमाणस्य आरोपाऽत्र (सामान्ये) अनुभूयमानस्येति विशेषात्।—काव्यप्रकाश, झलकीकर की टीका पृ० ७३६

का ज्ञान अपेक्षित माना है। यह सामान्य से इसका भेद स्पष्ट कर देता है।[1] पण्डितराज जगन्नाथ ने सामान्य से भ्रान्तिमान् का भेद स्पष्ट करने के लिए भ्रान्तिमान् की परिभाषा मे सदृश धर्मी मे अन्य धर्मी के ज्ञान पर बल दिया है।[2] भ्रान्तिमान् मे किसी धर्मी मे उससे भिन्न धर्मी का निश्चयात्मक ज्ञान होता है; पर सामान्य मे दो धर्मियों का धर्म निर्विशिष्ट रूप मे ग्रहण होता है।

सामान्य और रूपक

उद्योतकार के अनुसार रूपक में उपमेय मे उपमान के तादात्म्य की शब्दतः प्रतीति होती है, पर सामान्य मे प्रस्तुत के धर्म का अप्रकृत के धर्म से तादात्म्य-निबन्धन शब्दत प्रतीत नही होता। रूपक मे उपमेय की उपमानतया प्रतीति होती है, पर सामान्य मे प्रस्तुत और अप्रस्तुत की एकरूपतया प्रतीति होती है, इस आधार पर भी कुछ विद्वानों ने सामान्य और रूपक का भेद-निरूपण किया है।[3]

सामान्य और अतिशयोक्ति

रूपकातिशयोक्ति मे उपमान के ही कथन से उपमेय की भी प्रतीति होती है; पर सामान्य मे दोनो वस्तुओ का कथन होता है। अतिशयोक्ति मे उपमेय की उपमान-रूप मे प्रतीति होती है, पर सामान्य मे दो वस्तुओ की एकरूपतया प्रतीति होती है। उद्योतकार ने इसी आधार पर दोनो का भेद-निरूपण किया है।[4]

---

१ " तस्य तथाविधस्य दृष्टौ सत्या यत् अप्राकरणिकतया सवेदनम् स भ्रान्तिमान्।—मम्मट, काव्यप्रकाश, १०, १३२ की वृत्ति तथा उसपर बालबोधिनी टीका, पृ० ७३३

२. लक्षणे (भ्रान्तिलक्षणे) मीलितसामान्यतद्गुणवारणाय धर्मिग्रहणद्वयम्।
—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ४२१

३. "नापि रूपकप्रथमातिशयोक्तिभ्यां (सामान्यस्य सङ्कर.) उपमेये उपमानतादात्म्यस्य शब्दादप्रतीते रूपकाभावात् उपमानतावच्छेदक-रूपेणाप्रतीयमानत्वान्नातिशयोक्ति 'इति उद्योते स्पष्टम्। रूपक-प्रथमातिशयोक्त्योश्च उपमेयस्य उपमानतया प्रतीति अत्र (सामान्ये) तु एकरूपतया प्रतीतिरिति ततो भेद इत्यपि केचिद्वदन्ति।
—काव्यप्रकाश, झलकीकरकृत टीका, पृ० ७३९

४. वही

तद्गुण और भ्रान्तिमान्

तद्गुण मे कोई वस्तु अपने गुण का त्याग कर अन्य वस्तु के उत्कृष्ट गुण का ग्रहण करती है। दूसरे शब्दो मे, एक वस्तु पर अन्य वस्तु के गृह्यमाण गुण का आरोप होता है, जब कि भ्रान्तिमान् मे प्रकृत वस्तु पर स्मर्यमाण अन्य वस्तु का आरोप होता है। इस आधार पर उद्योतकार ने तद्गुण और भ्रान्तिमान् का भेद-निरूपण किया है।[1] जगन्नाथ ने भी भ्रातिमान् की परिभाषा मे धर्मी मे धर्म्यन्तर के ज्ञान का उल्लेख कर तद्गुण से उसका भेद इसी आधार पर निरूपित किया है।[2]

विषम और असङ्गति

विषम के एक भेद मे कार्य के गुण से कारण के विरुद्ध गुण का तथा दूसरे मे कार्य की क्रिया से कारण की विरुद्ध क्रिया का योग दिखाया जाता है। कार्य और कारण में विरुद्ध गुण और क्रिया का योग ही उसका सौन्दर्य है, पर असङ्गति मे कार्य और कारण की भिन्नदेशता के वर्णन का चमत्कार रहता है। सामान्यतः, कार्य और कारण मे समान गुण-क्रिया ही देखी जाती है, पर इस सामान्य नियम के विरुद्ध कार्य और कारण मे विरोधी गुण-क्रिया का वर्णन विषम है। सामान्यतः, जहाँ कारण हो वही कार्य की भी उत्पत्ति देखी जाती है, पर कारण का एकत्र और कार्य का अपरत्र दिखाया जाना—दोनो का भिन्नदेशत्व-वर्णन—असङ्गति है। झलकीकर ने इसी तथ्य को स्वीकार कर कहा है कि विषम का चमत्कार कार्य और कारण की विरोधी गुण-क्रिया के योग मे रहता है, जब कि असङ्गति का चमत्कार एकदेशतया प्रसिद्ध कार्य-कारण की भिन्नदेशता के वर्णन में रहता है।[3]

---

१. अप्राकरणिकतादात्म्येनेत्युक्तेर्मीलितसामान्यतद्गुणवारणम्। वही, पृ० ७३३ तथा—भ्रान्तिमति स्मर्यमाणस्यारोप अत्र (तद्गुणे) गृह्यमाणस्येति भेद भ्रान्तेर्निबद्धत्वाभावाच्च।—काव्यप्रकाश उद्योत से बालबोधिनी मे उद्धृत, पृ० ७४६

२. द्रष्टव्य—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ४२१

३. द्वितीयभेदद्वये (विषमस्य भेदद्वये) च कार्यकारणयोर्विरुद्धगुणक्रियायोग एव चमत्कारी ···असङ्गत्यलङ्कारे एकदेशकयोर्भिन्नदेशकत्वमेव चमत्कारीति भेद।—काव्यप्रकाश, झलकीकरकृत टीका पृ० ७१९

विषम और विरोध

विरोध मे विरोधी पदार्थो की एकत्र सङ्घटना होती है। जो विरोधी पदार्थ स्वभावत भिन्नदेश मे रहते है उनका एकदेशत्व दिखाना विरोध है। विषम में कार्य और कारण के परस्पर विरोधी गुण और क्रिया का वर्णन होता है। यह दोनो अलङ्कारो का पारस्परिक भेद है। कारण और कार्य की परस्पर विरोधी गुण-क्रिया के योग-रूप विषम से विरोध का भेद स्पष्ट करते हुए वामन झलकीकर ने भी कहा है कि उक्त विषम भेद मे कार्य तथा कारण की विरोधी गुण-क्रिया का योग दिखाने मे ही चमत्कार रहता है, जब कि विरोध मे भिन्नदेशतया प्रसिद्ध वस्तुओ की एकदेश मे घटना का चमत्कार रहता है।[1]

विरोध और असङ्गति

विरोध मे भिन्न देश मे रहने वाले पदार्थों का एकदेशत्व वर्णित होता है, पर असङ्गति मे साधारणत एकदेश मे रहने वाले पदार्थो (कारण और कार्य) की भिन्नदेशता दिखायी जाती है। आचार्य मम्मट ने दोनो के इस भेद का निर्देश किया है।[2] वामन झलकीकर ने इस तथ्य का स्पष्टीकरण किया है कि विरोधाभास का विषय समान्य रूप मे विरोध है,[3] पर, असङ्गति का विषय कार्य-कारण की भिन्नदेशता-रूप विशेष प्रकार का विरोध ही।[4] विमर्शिनीकार

---

१ द्वितीयभेदद्वये च कार्यकारणयोर्विरुद्धगुणक्रियायोग एव चमत्कारी विरोधालङ्कारे तु भिन्नदेशकयोरेकदेशकत्वम् ।
—काव्यप्रकाश, बालबोधिनी टीका, पृ० ७१९

२ एषा च विरोधवाधिनी न विरोधः भिन्नाधारतयैव द्वयोरिह विरोधिताया. प्रतिभासात् विरोधे तु विरोधित्व एकाश्रयनिष्ठमनुक्तमपि पर्यवसितम्··· । मम्मट, काव्यप्रकाश १०,१२४ की वृत्ति ।

३ द्रष्टव्य—काव्यप्रकाश, झलकीकरकृत टीका, पृ० ७१६

४. यत्तु विरोधालङ्कारे ह्येकस्मिन्नधिकरणे द्वयो सम्बन्धाद्विरोधप्रतिभानमसङ्गतौ त्वधिकरणद्वयम् इति तस्मादस्य वैलक्षण्यमिति विमर्शिनीकार आह। तदसत्। इहापि तत्तत्कार्यतावच्छेदकधर्मात्तत्कारणवैयधिकरण्यरूपयोर्धर्मयोरेकस्मिन्कार्यरूपेऽधिकरणे सम्बन्धादेव विरोधप्रतिभानोत्पत्तेः। तस्माद्विरोधालङ्कारे उत्पत्तिविमर्श विनैव विरोधप्रतिभानमिह तूत्पत्तिविमर्शपूर्विकैव विरोधप्रतिभोत्पत्तिरिति वैलक्षण्य मिति। वस्तुनस्तु व्यधिकरणत्वेन प्रसिद्धयोः समानाधिकरणत्वेनोपनिबन्धने विरोधालङ्कार। समानाधिकरणत्वेन प्रसिद्धयोर्वैयधिकरण्येनोपनिबन्धनेऽसङ्गतिः।—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ७००-१

ने इसी आधार पर दोनो का विषय-विभाग किया था। पण्डितराज जगन्नाथ ने विमर्शिनीकार के मत के खण्डन मे यह युक्ति दी है कि विरोध मे एक अधिकरण में दो का सम्बन्ध तथा असङ्गति मे भिन्नाधिकरणत्व के आधार पर जो भेद-निरूपण किया गया है, वह युक्तिसङ्गत नही है, क्योकि असङ्गति मे भी विरोधी कार्य-कारण का एक ही कार्यरूप अधिकरण होता है। एक ही कार्य के कारण का वैयधिकार्य असङ्गति का अलङ्कारत्व है। यह युक्ति केवल युक्ति के लिए है। जगन्नाथ ने भी निष्कर्ष-रूप मे यही स्वीकार किया है कि जिन पदार्थो का अलग-अलग अधिकरण मे रहना प्रसिद्ध है उनका एक अधिकरण मे होना विरोध है और इसके विपरीत जिनका समान अधिकरण मे रहना प्रसिद्ध है, उनका भिन्नाधिकरणत्व-निबन्धन असङ्गति है।

विरोध और विरोधाभास

इन दो अलङ्कारो के नाम मे ही दोनो का भेद निर्दिष्ट है। विरोध मे तत्त्वत विरोधी पदार्थो की एकत्र घटना होती है; पर विरोधाभास मे विरोध तात्त्विक नही होता, उसका आभास-मात्र रहता है। आपातत जान पडने वाले विरोध का जहाँ विचार करने पर परिहार हो जाता है, वही विरोधाभास अलङ्कार होता है।

विषम और विषादन

विषम के एक भेद मे कर्त्ता के अभीष्ट फल की प्राप्ति की जगह अनिष्ट की प्राप्ति का वर्णन होता है। अर्थात् कर्त्ता इष्ट फल तो नही ही पाता, उलटे उसे अनिष्ट की प्राप्ति हो जाती है। अप्पय्य दीक्षित आदि के विषादन का विषम से थोडा-सा भेद यह है कि कर्त्ता के अभीष्ट फल के ठीक विरुद्ध फल की प्राप्ति विषादन मे दिखायी जाती है। विषम मे अनिष्ट की प्राप्ति तथा विषादन मे इष्ट-विरुद्ध फल की प्राप्ति—दोनो का भेदक है। इन दोनो मे इतना कम भेद है कि कुछ विद्वान दोनो की अलग-अलग सत्ता की कल्पना अनावश्यक मानते है। पण्डितराज जगन्नाथ ने उपरिनिर्दिष्ट आधार पर ही दोनो मे भेद माना है।[१]

---

१ द्रष्टव्य—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ८०१-३

कारणमाला और सार

कारणमाला मे पदो का ग्रथन इस रूप मे होता है कि प्रत्येक पूर्ववर्ती पद अपने उत्तरवर्ती का कारण बनता जाता है। इस प्रकार कारणो की एक शृङ्खला बन जाती है, पर सार में पदो की सङ्घटना इस रूप मे की जाती है कि प्रत्येक उत्तरवर्ती पद पदार्थ के अधिकाधिक उत्कर्ष का बोध कराता चलता है। जगन्नाथ के अनुसार कारणमाला का अलङ्कारत्व शृङ्खला-मात्र मे है, पर सार का क्रमश. एक से दूसरे अर्थ के वैशिष्ट्य प्रतिपादन मे।[1]

कारणमाला और मालादीपक

मालादीपक मे प्रत्येक पूर्ववर्ती अर्थ को अपने-अपने उत्तरवर्ती अर्थ का उपकारक बताया जाता है, जबकि कारणमाला में पूर्व-पूर्व उत्तर-उत्तर के प्रति हेतु रूप मे प्रस्तुत किया जाता है। कारणमाला से उसका भेद यह भी है कि उसमे सभी पदो का एक क्रिया से अन्वय दिखाया जाता है (जैसा कि अप्पय्य दीक्षित आदि ने स्वीकार किया है) पर कारणमाला मे एक क्रिया का अन्वय नही होता। मम्मट के टीकाकार वामन झलकीकर का कथन है कि माला-दीपक का व्यवच्छेदक उसका एक क्रियान्वय ही है।[2]

कारणमाला और एकावली

कारणमाला मे उत्तर-उत्तर के प्रति पूर्व-पूर्व का कारणत्व रहता है, पर एकावली मे उत्तर-उत्तर के प्रति पूर्व-पूर्व का अथवा पूर्व-पूर्व के प्रति उत्तर-उत्तर का विशेषणत्व रहता है।

एकावली और मालादीपक

रुय्यक, मम्मट आदि आचार्यो ने मालादीपक में प्रत्येक पूर्ववर्ती पदार्थ का अपने उत्तरवर्ती पदार्थ के प्रति गुणावह होना अपेक्षित माना है। इस प्रकार उनके मतानुसार एकावली से मालादीपक का भेद यह होगा कि एकावली में

---

१. 'तस्मात्कारणमालादिर्यथा शृङ्खलैकविषयो न तथा सारः शक्यो वक्तुम्। ''गुणस्वरूपाभ्या पूर्व-पूर्व—वैशिष्ट्य-सार इति तु लक्षणं सारस्य युक्तम्। —जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ७३८

२. मालादीपके उत्तरोत्तर प्रति पूर्वपूर्वस्यार्थस्य हेतुत्वेऽपि सर्वेषामेक-क्रियान्वय· अत्र (कारणमालाया) तु न तथेति ततो भेदः। —काव्यप्रकाश, झलकीकरकृत टीका, पृ० ७०६

पूर्व-पूर्व के प्रति उत्तर-उत्तर विशेषण बनता जाता है और मालादीपक मे पूर्व-पूर्व उत्तर-उत्तर के प्रति गुणावह होता जाता है। गुणावह होना विशेषण होने से तत्त्वत. भिन्न नही है। अतः दोनो का व्यावर्तक धर्म यह है कि एकावली मे पूर्व-पूर्व पदार्थ के प्रति उत्तर-उत्तर पदार्थ विशेषण बनता चलता है, जबकि मालादीपक मे पूर्व-पूर्व पदार्थ उत्तर-उत्तर पदार्थ का उपकारक बताया जाता है। जयदेव, अप्पय्य दीक्षित आदि ने एकावली मे 'गृहीतमुक्तरीति' से उत्तर-उत्तर के प्रति पूर्व-पूर्व के विशेषणभाव तथा पूर्व-पूर्व के प्रति उत्तर-उत्तर के विशेषणभाव; दोनो को स्वीकार किया है। उनके अनुसार पूर्व-पूर्व के प्रति उत्तर-उत्तर का तथा उत्तर-उत्तर के प्रनि पूर्व-पूर्व का विशेषणभाव मालादीपक और एकावली की समान प्रकृति है। उन्होने एकावली से मालादीपक का भेद करने के लिए मालादीपक मे दीपक की प्रकृति का योग कर दिया है।[1] मालादीपक मे पदो का एक क्रिया से अन्वय आवश्यक माना गया है, जबकि एकावली मे एक क्रियान्वय आवश्यक नही। मालादीपक मे पूर्व-पूर्व का उत्तर-उत्तर के प्रति तथा उत्तर-उत्तर का पूर्व-पूर्व के प्रति विशेषणभाव एकावली की प्रकृति के समान है और पदो का एक क्रियान्वय दीपक की प्रकृति के समान। इस तथ्य को दृष्टि मे रखते हुए अप्पय्य दीक्षित ने मालादीपक की परिभाषा ही इन शब्दो मे की है—दीपक और एकावली के योग से मालादीपक बनता है। पण्डितराज जगन्नाथ की मान्यता है कि मालादीपक मे सौन्दर्य एकावली की तरह पूर्व-पूर्व के प्रति उत्तर-उत्तर के अथवा इसके विपरीत उत्तर-उत्तर के प्रति पूर्व-पूर्व के विशेषण-विशेष्य-भाव मे ही रहता है, दीपक की तरह एकपदान्वय मे नही। अतः, मालादीपक एकावली से अभिन्न है। इसी आधार पर उन्होने अप्पय्य की मालादीपक-परिभाषा को अस्वीकार किया है।[2] हम मालादीपक तथा एकावली के भेदक तत्त्व का निर्देश कर चुके है। उस भेद की उपेक्षा कर दोनों को अभिन्न मानना दुराग्रहपूर्ण जान पडता है।

हेतु और काव्यलिङ्ग

हेतु की अलङ्कार के रूप मे सत्ता विवादास्पद रही है। मम्मट आदि ने

---

१. दीपकैकावलीयोगात् मालादीपकमिष्यते।—अप्पय्य, कुवलया० १०७

२. उत्तरोत्तरस्मिन्पूर्वपूर्वस्योपकारकताया मालादीपकम्।' वस्तुतस्त्वेतद्दीपकमेव शक्य वक्तुम्। सादृश्यसम्पर्काभावात् किं त्वेकावलीप्रभेद इति वक्ष्यते।—जगन्नाथ, रसग०, पृ० ५१८, पृ० ७३६ भी द्रष्टव्य

काव्यलिङ्ग में ही हेतु को अन्तर्भुक्त मान लिया था;[१] किन्तु जयदेव-अप्पय्य दीक्षित आदि के अनुसार दोनो एक दूसरे से अपना-अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखते है। दोनो मे भेद यह है कि जहाँ काव्यलिङ्ग मे हेतु का उपस्थापन वाक्यार्थ या पदार्थ के रूप में होता है, वहाँ हेतु मे हेतुमान् के साथ हेतु का वर्णन आवश्यक माना जाता है। हेतुमान् और हेतु का साथ-साथ कथन हेतु अलङ्कार का तथा हेतु का वाक्यार्थ अथवा पदार्थ-रूप मे उपस्थापन, काव्यलिङ्ग का व्यावर्तक धर्म है।

सन्देह और भ्रान्तिमान्

इन दोनों अलङ्कारो का स्वरूप दो प्रकार के ज्ञान की धारणा पर आधृत है। सन्देह मे किसी वस्तु मे अन्य वस्तु का अनिश्चयात्मक ज्ञान होता है। यह ज्ञान द्वैकोटिक होता है, क्योंकि प्रमाता के मन मे उस प्रकृत का तथा सादृश्य के कारण अप्रकृत का अनिश्चयात्मक ज्ञान होता रहता है। उसका मन दो वस्तुओ के ज्ञान मे दोलाचल स्थिति मे रहता है। भ्रम मे किसी वस्तु मे उससे भिन्न, किन्तु उसके सदृश अन्य वस्तु का निश्चयात्मक ज्ञान होता है। अतः, भ्रम-दशा मे असत्य, किन्तु एककोटिक ज्ञान होता है। इस प्रकार ज्ञान का एक-कोटिक या निश्चयात्मक होना भ्रान्तिमान् का तथा ज्ञान का द्वैकोटिक या अनिश्चयात्मक होना सन्देह का व्यावर्तक है। पण्डितराज ने अपने भ्रान्तिमान्-लक्षण मे 'निश्चय' शब्द के उल्लेख की सार्थकता अनिश्चयात्मक ज्ञान पर आश्रित सन्देह से उसके भेद-निरूपण मे ही मानी है।[२]

सन्देह और वितर्क

अनेक आचार्यो ने तो वितर्क का सन्देह के ही स्वरूप में अन्तर्भाव मानकर केवल सन्देह का ही निरूपण किया था; पर पीछे चलकर कुछ आचार्यो ने वितर्क को सन्देह से स्वतन्त्र अलङ्कार मान लिया। वस्तुतः, सन्देह और वितर्क में थोडा अन्तर है। सन्देह अनिश्चयात्मक ज्ञान है तो वितर्क यथार्थ ज्ञान का साधन। सन्देह के स्थल मे वितर्क से निश्चयात्मक यथार्थ ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। अत, जहाँ प्रमाता सन्देह होने पर वितर्क से वस्तु के यथार्थ

---

१. अयं काव्यलिङ्गालङ्कार एव हेत्वलङ्कार इत्युच्यते।
—काव्यप्रकाश, झलकीकर की टीका, पृ० ६७७

२. ····सशयवारणाय निश्चय इति।—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ४२१

स्वरूप का निश्चय करना चाहता है या कर लेता है, वहाँ निश्चयगर्भ या निश्चयान्त सन्देह मानने की अपेक्षा वितर्क मानना ही युक्तिसङ्गत जान पडता है। शुद्ध सन्देह तो किसी वस्तु में दो वस्तुओ के ज्ञान की अनिश्चयात्मक दशा को ही कहा जा सकता है। सन्देह की दशा मे ही वितर्क से तत्त्व-निर्णय किया जाता है। अतः, सन्देह वितर्क का अनुप्राणक है। इसीलिए कुछ आचार्यो ने वितर्क का सौन्दर्य भी सन्देह मे ही मानकर वितर्क को सन्देह मे अन्तर्भुक्त माना है। थोडे-थोडे भेद के आधार पर नवीन-नवीन अलङ्कारो की कल्पना यदि ग्राह्य हो तो वितर्क को भी सन्देह से स्वतन्त्र अलङ्कार माना जा सकता है। डॉ० राघवन ने वितर्क को सन्देह से अभिन्न माना है।[१] यह युक्ति-सङ्गत नहीं।

अनन्वय और असम

वर्ण्य विषय को अद्वितीय प्रतिपादित करने के लिए उसके अन्य उपमान का अभाव अनन्वय और असम, दोनो में दिखाया जाता है। दोनो अलङ्कारो में कवि का उद्देश्य समान है, पर रूप-विधान की दृष्टि से दोनो में भेद यह है कि अनन्वय मे अन्य उपमान का अभाव बताने के लिए उपमेय को ही उसका उपमान बता दिया जाता है; अर्थात् उसमे जो वस्तु उपमेय होती है, वही अपना उपमेय भी होती है। इस तरह अन्य उपमान का व्यवच्छेद प्रतीत होता है; पर असम मे वर्ण्य के अन्य सम्भावित उपमान का निषेध किया जाता है। इस प्रकार उपमानान्तर का अभाव सूचित करने के लिए उपमेय को ही उसका —अपना ही—उपमान (एक ही वस्तु को उपमेय तथा उपमान) कल्पित करना अनन्वय का तथा उपमेय की अन्य वस्तु के साथ उपमा का सर्वथा निषेध करना असम का व्यवच्छेदक है। अनन्वय मे अन्य सादृश्य का व्यवच्छेद व्यङ्ग्य होता है, असम मे वाच्य।

श्लेष और वक्रोक्ति

श्लेष में एक पद के अनेक अर्थ निकलते है। वक्रोक्ति मे (श्लेष-वक्रोक्ति में) भी वक्ता के एक विशेष अर्थ मे प्रयुक्त वाक्य का श्लेष के सहारे उसके विवक्षित अर्थ से भिन्न अर्थ लगा लिया जाता है। इसमें वाक्य का एक

१. Vitarka is the old Samsaya or Sasandeha.

—Dr. Raghavan, Bhoja's Sringara Prakash, पृ० ३८७

अर्थ वक्ता को विवक्षित होता है और श्लेष से श्रोता दूसरे अर्थ की योजना कर लेता है। अतः, इस वक्रोक्ति में वाक्य के अनेक अर्थ की योजना के लिए श्लेष का सहारा आवश्यक है। इस अंश में श्लेष से श्लेष-वक्रोक्ति की समता है; पर दोनों का भेद यह है कि जहाँ श्लेष मे वक्ता को सभी अर्थ विवक्षित रहते है, वहाँ वक्रोक्ति में उसे कुछ और अर्थ विवक्षित रहता है और उसके अभिमत अर्थ से भिन्न अर्थ की योजना श्रोता कर लेता है।

स्मरण और भ्रान्तिमान्

भ्रान्ति मे भी यथार्थ वस्तु पर उसके सदृश स्मर्यमाण अन्य वस्तु का आरोप हो जाता है। स्मृति में एक वस्तु को देखकर सादृश्य आदि के कारण अन्य वस्तु की स्मृति हो आती है। दोनो में भेद यह है कि भ्रान्ति में केवल स्मर्यमाण का एककोटिक ज्ञान रहता है, पर स्मरण मे प्रकृत वस्तु का भी यथार्थ ज्ञान रहता है और स्मर्यमाण वस्तु का भी। दूसरा भेद यह है कि स्मरण सादृश्येतर सम्बन्ध से भी हो सकता है पर भ्रम केवल सादृश्य से ही सम्भव होता है। (ध्यातव्य है कि कुछ आचार्यों ने केवल सादृश्यमूला स्मृति को ही स्मरणालङ्कार माना है; पर अन्य आचार्य सादृश्येतर सम्बन्ध मे भी स्मरण मानते है)।

तुल्ययोगिता और दीपक

तुल्ययोगिता तथा दीपक; दोनो मे अनेक पदार्थों का एक धर्म से अन्वय दिखाया जाता है; पर दोनो में अन्तर यह है कि तुल्ययोगिता मे या तो अनेक वर्ण्य पदार्थों का एक धर्माभिसम्बन्ध दिखाया जाता है या अनेक अप्रस्तुत पदार्थो का; जबकि दीपक मे प्रस्तुत और अप्रस्तुत पदार्थों का परस्पर एक धर्माभिसम्बन्ध दिखाया जाता है। तुल्ययोगिता में या तो सभी पदार्थ प्रस्तुत रहते है या सभी अप्रस्तुत, पर दीपक मे कुछ प्रस्तुत और कुछ अप्रस्तुत पदार्थ रहते है। तुल्ययोगिता से दीपक का भेद स्पष्ट करने के लिए उद्भट ने दीपक-लक्षण मे 'अन्तर्गतोपमाधर्मा' का उल्लेख किया है।[1] तिलक ने विवृति में यह स्पष्ट किया है कि तुल्ययोगिता मे या तो सभी प्राकरणिक रहते है या सभी

---

१. आदिमध्यान्तविषयाः प्राधान्येतरयोगिनः।
अन्तर्गतोपमाधर्मा यत्र तद्दीपकं विदुः॥—उद्भट, काव्यालं० सार सं० १,२८

अप्राकरणिक; पर दीपक मे प्रकारणिक और अप्राकरणिक दोनो रहते है।[1] दण्डी आदि आचार्यों की दीपक-परिभाषा तथा तुल्ययोगिता-परिभाषा को दृष्टि मे रखकर विचार करने से इन दोनो के भेद के सम्बन्ध मे उनका अभिमत यह जान पडता है कि दीपक मे वाक्यान्तर मे स्थित पद अनुषङ्ग आदि से वाक्यान्तर के अर्थ का भी प्रकाशन करता है; पर तुल्ययोगिता में स्तुतिनिन्दा के लिए—केवल प्रकृत अथवा केवल अप्रकृत का—एक धर्म से अन्वय दिखाया जाता है। अप्पय्य दीक्षित आदि परवर्ती आचार्यो को उद्भट का ही मत मान्य है। रुय्यक, मम्मट आदि ने भी केवल प्रस्तुतो अथवा केवल अप्रस्तुतो के एकधर्माभिसम्बन्ध में तुल्ययोगिता तथा प्रस्तुत और अप्रस्तुत के एकधर्माभिसम्बन्ध मे दीपक मानकर दोनो का भेद स्पष्ट किया है।[2] पण्डितराज जगन्नाथ ने भी दोनो अलङ्कारो के लक्षण मे दोनों के इसी भेदक धर्म पर बल दिया है। उन्होने इस तथ्य का भी उल्लेख किया है कि दोनो मे विशेष तात्त्विक भेद नही। दोनो का सौन्दर्य अनेक पदार्थो के एकधर्मान्वय मे ही है। यह होने पर भा प्रकृत तथा अप्रकृत अर्थो के एकान्वय तथा केवल प्रकृत या केवल अप्रकृत अर्थों के एकान्वय के थोडे-से भेद के आधार पर दो स्वतन्त्र अलङ्कारो की सत्ता स्वीकार की गयी है।[3]

तुल्ययोगिता और सहोक्ति

वामन ने तुल्ययोगिता और सहोक्ति का भेद बताते हुए कहा है कि तुल्ययोगिता में भी दो पदार्थों का एक क्रिया से अन्वय रहता है, पर उसमें अर्थो में न्यूनाधिक भाव विवक्षित रहता है। सहोक्ति मे अर्थो का न्यूनाधिक भाव

---

१. द्रष्टव्य—उद्भट, काव्यालङ्कार सारसं० १,२८ पर तिलक की विवृति पृ० ११

२. द्रष्टव्य—रुय्यक, अल० सर्वस्व, सू० सं० २३ तथा २४ और मम्मट, काव्यप्रकश, १०,१०३ तथा १०४

३. तुल्ययोगितातो दीपक न पृथग्भावमर्हति। धर्मसकृद्वृत्तिमूलाया विच्छित्तेरविशेषात्।…एव च प्राचीनाना तुल्ययोगितातो दीपकस्य पृथगलङ्कारतामाचक्षण नः दुराग्रहमात्रमिति तु नव्या.।—जगन्नाथ, रसगङ्गा० पृ० ५१५-१६।…कस्यचित्प्रकृतत्वे दीपकमन्यथा तुल्ययोगितैव। —वही पृ० ५१०

विवक्षित नही रहता। यह सहोक्ति और तुल्ययोगिता का भेद है।[१] मम्मट, रुय्यक आदि ने तुल्ययोगिता के सम्बन्ध मे वामन आदि से भिन्न धारणा व्यक्त की है। उनके अनुसार प्राकरणिको अथवा अप्राकरणिको का एक गुण, क्रिया आदि से अन्वय तुल्ययोगिता है। इस तुल्ययोगिता से सहोक्ति का स्पष्ट भेद यह है कि सहोक्ति में सहार्थ-वाचक सह, सार्धं आदि का—जिससे एक वस्तु का दूसरी वस्तु के साथ होना कथित हो—उल्लेख रहता है। इस प्रकार एक वस्तु प्रधान और दूसरी गौण होती है। जिस वस्तु के साथ अन्य वस्तु का होना कथित हो वह वस्तु प्रधान और उसके साथ जो वस्तु कथित हो वह गौण होगी। पर, तुल्ययोगिता मे सहार्थ का कथन नही होने से प्रधान और गौण सम्बन्ध नही रहता। गौण-प्रधान सम्बन्ध होने से सहोक्ति मे एक ही समय दोनो वस्तुओ के साथ एक क्रिया का अन्वय होता है; पर तुल्ययोगिता में सभी वस्तुओ के प्रधान होने के कारण एक क्रिया का सभी पदो के साथ अलग-अलग अन्वय होता है। एक पद के अर्थ से विश्रान्त होकर क्रिया दूसरे पद का अर्थ-बोध करती है।

सहोक्ति और समुच्चय

सहोक्ति मे वर्णित दो वस्तुओ मे से एक प्रधान और दूसरी गौण होती है। जिसके साथ तृतीया विभक्ति के प्रयोग से अन्य का होना कहा जाय वह प्रधान और अन्य गौण होता है। समुच्चय में सभी वस्तुएँ प्रधान ही रहती है। सहोक्ति शाब्द और आर्थ; दोनों हो सकती है; पर समुच्चय केवल शाब्द ही होता है। यही दोनो का भेद है। एकपदान्वय दोनो मे समान रूप से होता है, पर सहोक्ति मे सहार्थ पद के प्रयोग से शब्दतः और अर्थतः (प्रथमा विभक्ति का प्रयोग होने पर सहार्थ शाब्द तथा तृतीयान्त पद-प्रयोग होने पर आर्थ होता है) प्रधान एव गौण पदार्थों का एकान्वय होता है और समुच्चय मे शब्दतः समान रूप से प्रधान पदो का ही एकान्वय होता है। 'प्रदीप' तथा 'उद्योत' मे सहोक्ति और समुच्चय के इस भेदक तत्त्व की मीमासा की गयी है।[२]

१. तुल्ययोगितायाः सहोक्तेर्भेदमाह···अत्रार्थयोर्न्यूनत्वविशिष्टत्वे न स्तः। इति नेयं तुल्ययोगिता।
—वामन, काव्यालङ्कार सू० ४, ३, २८ की वृत्ति पृ० २७४

२. एव च यत्र गुणप्रधानभावावच्छिन्नयोः शाब्दार्थमर्यादया एकधर्मसम्बन्ध-स्तत्रायमलङ्कारः (सहोक्ति अलङ्कारः)। वक्ष्यमाणे समुच्चये तूभयत्र प्राधान्यं शाब्द एव चैकान्वय इति ततो भेदः।···इति प्रदीपोद्योतयोः स्पष्टम्।
—काव्यप्रकाश, झलकीकरकृत टीका पृष्ठ ६७२

पिहित और मीलित

रुद्रट के पिहित में एक वस्तु के गुण से समान अधिकरण वाली किन्तु उस वस्तु से असमान वस्तु के गुण को आच्छादित कर लिये जाने का वर्णन अपेक्षित माना गया है। इस पिहित का मीलित से थोडा-सा भेद यह है कि मीलित में समान चिह्न वाली वस्तु से अन्य वस्तु का आच्छादन वर्णित होता है और पिहित मे वस्तु असमान चिह्न वाली वस्तु का अपने गुण से पिधान करती है।[१]

पिहित और तद्गुण

रुद्रट के पिहित का उनके प्रथम तद्गुण (परवर्ती आचार्यों का सामान्य) से भेद यह है कि तद्गुण मे समान गुण वाली वस्तु का संसर्ग होने पर नानात्व के लक्षित न होने का वर्णन होता है। पिहित मे असमान गुण वाली वस्तु से अन्य का पिधान वर्णित होता है। दूसरे, तद्गुण में एक वस्तु का दूसरी वस्तु से गुण-ग्रहण दिखाया जाता है, पर पिहित में एक वस्तु का दूसरी वस्तु को अपने रूप में मिला लेना। अतः, रुद्रट के दोनो तद्गुण-रूपो से उनके पिहित का भेद स्पष्ट है।[२]

पिहित और सूक्ष्म

जयदेव, अप्पय्य दीक्षित आदि ने पिहित का सम्बन्ध गूढ चेष्टा से जोडकर उसे सर्वथा नवीन रूप दिया है। सूक्ष्म से उनके पिहित का स्वरूप बहुत कुछ मिलता-जुलता है। भेद केवल इतना है कि सूक्ष्म मे किसी के आशय को समझ कर किसी व्यक्ति के साभिप्राय चेष्टा करने का वर्णन रहता है तो पिहित में किसी के वृत्तान्त को समझ कर किसी के द्वारा साभिप्राय चेष्टा किये जाने का वर्णन होता है।[3]

---

१. मीलितात्तर्हि कोऽस्य (पिहितस्य) भेद । उच्यते—असमानचिह्नत्वमेव । तत्र हि समानचिह्नेन वस्तुना हर्षकोपादि तिरस्क्रियत इति.... ।
—रुद्रट, काव्यालङ्कार, ९,५० पर नमिसाधु की टीका, पृ० ३०७

२ असमानग्रहणेन प्रथमात्तद्गुणालङ्काराद्विशेष ख्याप्यते, तत्रह्येकगुणानामर्थाना ससर्गे नानात्व न लक्ष्यत इत्युक्तम् । द्वितीयात्तर्हि कोऽस्य विशेषः । उच्यते—तत्रासमानगुण वस्तु वस्त्वन्तरेण प्रबलगुणेन संसृष्टं तद्गुणता प्राप्यते न तद्विधीयत इति ।—वही, पृ० ३०७

३ सूक्ष्म पराशयाभिज्ञेतरसाकूतचेष्टितम् । तुलनीय—पिहितं परवृत्तान्तज्ञातु. साकूतचेष्टितम् ।—अप्पय्य, कुवलयानन्द, १५१-१५२

शब्दश्लेष और अर्थश्लेष

श्लेष शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार, दोनो रूपो में स्वीकृत है। प्राचीन आचार्यों ने श्लेष का शब्दार्थगत भेद स्पष्ट नही किया था। दण्डी ने अभङ्गपद श्लेष तथा सभङ्गपद श्लेष का उल्लेख किया था। एक प्रयत्न से उच्चरित होने वाले पद कही अभङ्ग रह कर ही अनेक अर्थ का बोध करा सकते है और कही पदभङ्ग कर अनेक अर्थ निकाले जा सकते है। उद्भट के काव्यालङ्कार की विवृति में अभङ्ग श्लेष को अर्थश्लेष तथा परस्पर छायानुकारी सभङ्गपद श्लेष को शब्दश्लेष माना गया है। विवृतिकार का मत है कि अभङ्गपद श्लेष मे पद के एक होने पर भी अनेक अर्थ के कारण उन्हे श्लिष्ट, किन्तु अनेक पद माना जाता है। अर्थभेद शब्दभेद का हेतु होता है। अतः, ऐसी दशा मे अर्थश्लेष होता है। सभङ्ग श्लेष में शब्द के भङ्ग के कारण अनेक अर्थों का बोध होता है। अतः, सभङ्ग श्लेष को शब्दश्लेष माना जाना चाहिए।[१] सभङ्ग श्लेष में भिन्न प्रयत्न से उच्चरित होने वाले शब्दो का यतु-काष्ठ-न्याय से श्लेष होता है और अभङ्ग श्लेष मे 'एकवृन्तगत फलद्वय-न्याय' से एक शब्द में दो अर्थ जुडे रहते है। इस आधार पर प्राचीन आचार्य सभङ्ग श्लेष को शब्दश्लेष तथा अभङ्ग श्लेष को अर्थश्लेष मानते थे।

आधुनिक आचार्यों को शब्दश्लेष तथा अर्थश्लेष के विषय-विभाग का यह आधार समीचीन नहीं जान पडता। मम्मट ने शब्दश्लेष के भी सभङ्ग श्लेष और अभङ्ग श्लेष भेद स्वीकार किये है। अर्थश्लेष के भी उक्त दोनो भेद सम्भव है। अत', मम्मट ने अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर शब्दगत श्लेष तथा अर्थगत श्लेष का विषय-विभाग स्वीकार किया है। अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर जहाँ शब्दविशेष का उसके पर्यायवाची शब्द से परिवर्तन सम्भव नही हो, अर्थात् किसी शब्द की जगह उसके पर्यायवाची शब्द को रख देने से श्लेष अलङ्कार की सत्ता ही समाप्त हो जाय, वहॉ शब्दश्लेष अलङ्कार और जहॉ शब्द का पर्यायपरिवर्तन सम्भव हो, वहाँ अर्थश्लेष माना जायगा।[२] मम्मट आदि आचार्यों के इसी सिद्धान्त को परवर्ती आचार्यों ने स्वीकार किया है। निष्कर्षतः, जहाँ पर्यायपरिवर्तन होने पर भी श्लेष अलङ्कार की सत्ता रहे, वहाँ

---

१. द्रष्टव्य—उद्भट, काव्यालङ्कारसारसंग्रह, ४,२३-२४ पर विवृति पृ० ३७-३८

२. द्रष्टव्य—मम्मट, काव्यप्रकाश, ९,८४ की वृत्ति, पृ० २११-१२

अर्थश्लेष तथा जहाँ पर्यायपरिवर्तन सम्भव न हो, वहाँ शब्दश्लेष माना जायगा। 'पर्यायपरिवर्तनासहत्त्व' शब्दश्लेष का तथा 'पर्यायपरिवर्तन सहत्त्व' अर्थश्लेष का व्यावर्तक है।

संसृष्टि और सङ्कर

एकाधिक अलङ्कारो की एकत्र अवस्थिति दो रूपो में सम्भव है—परस्पर निरपेक्ष रूप मे तथा परस्पर सापेक्ष या अङ्गाङ्गिभाव रूप मे। प्रथम अवस्थिति को तिलतण्डुलन्याय से अवस्थिति कहते है और द्वितीय को नीरक्षीरन्याय से। परस्पर निरपेक्ष रूप से अर्थात् तिलतण्डुलन्याय से अलङ्कारो की एकत्र स्थिति को अलङ्कार-ससृष्टि तथा अङ्गाङ्गिभाव से अर्थात् नीरक्षीरन्याय से अलङ्कारों की स्थिति को अलङ्कार-सङ्कर कहा जाता है।[1] इस प्रकार ससृष्टि और सङ्कर का भेद स्पष्ट है।

आक्षेप और अपह्नुति

आक्षेप मे अभीष्ट अर्थ का ही प्रतिषेध-सा किया जाता है। वह निषेध तात्त्विक नही होता। निषेधमुखेन अभीष्ट अर्थ का विधान किया जाता है। उसमे एक ही अर्थ होता है, जिसका आपातत प्रतिषेध किया जाता है और तत्त्वतः उसीका स्थापन किया जाता है। अपह्नुति मे दो अर्थ रहते है—एक प्रस्तुत और दूसरा अप्रस्तुत। इसमें प्रस्तुत का निषेध और अप्रस्तुत का स्थापन होता है। इसमे प्रस्तुत अर्थ का निषेध तात्त्विक होता है। संक्षेप मे दोनों का भेद निम्नलिखित है :—

(१) आक्षेप मे एक ही अर्थ का आपाततः निषेध और तत्त्वतः स्थापन होता है; पर अपह्नुति मे दो अर्थों मे से प्रस्तुत अर्थ का निषेध और अप्रस्तुत का स्थापन होता है।

(२) आक्षेप मे प्रतिषेध प्रातिभासिक होता है; पर अपह्नुति मे प्रकृत का प्रतिषेध तात्त्विक।

समासोक्ति और रूपक

समासोक्ति में प्रकृत अर्थ के कथन से विशेषण के महात्म्य से अप्रकृत अर्थ की प्रतीति करायी जाती है। इस प्रकार उसमे प्रकृत के व्यवहार पर अप्रकृत

---

१. सेष्टा ससृष्टिरेतेषां भेदेन यदिह स्थितिः। तथा—
अविश्रान्तिजुषामात्मन्यङ्गाङ्गित्व तु सङ्करः।
—मम्मट, काव्यप्रकाश, १०,१३९-४०

के व्यवहार का आरोप कर दिया जाता है, पर रूपक मे प्रकृत के स्वरूप पर—जो प्रकृत विशेष्य होता है—अप्रकृत से स्वरूप का आरोप किया जाता है। पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार दोनो का मुख्य भेद यह है कि समासोक्ति में व्यवहारमात्र का समारोप होता है, विषय पर विषयी के ताद्रूप्य की प्रतीति नही होती, पर रूपक मे विषय पर विषयी का आहार्य ताद्रूप्य दिखाया जाता है।[1] रुय्यक ने भी इसी आधार पर दोनो का विषय-विभाग किया था।[2]

निदर्शना और गम्या उपमा

निदर्शना मे दो सम्भव या असम्भव सम्बन्ध वाले वाक्यार्थो का औपम्य मे पर्यवसान होता है। प्रश्न किया जा सकता है कि निदर्शना को गम्या उपमा ही क्यो न माना जाय? उत्तर यह है कि दोनो में औपम्य के गम्य होने की समता होने पर भी दोनो में अलग-अलग चमत्कार है। अत दोनों को अभिन्न नही माना जा सकता। निदर्शना का चमत्कार दो वाक्यार्थो के बीच अभेद-प्रतीति में—कल्पित औपम्य में दो वाक्यार्थों के पर्यवसान मे है। उपमा का चमत्कार सादृश्य-प्रत्यायन-मात्र मे रहता है। अतः, उपमा से—गम्यौपमा से—निदर्शना स्वतन्त्र अलङ्कार है। चमत्कार के अलग-अलग होने के आधार पर ही उद्योतकार ने दोनो को परस्पर स्वतन्त्र अलङ्कार स्वीकार किया है।[3]

श्लेष और अप्रस्तुतप्रशंसा

अप्रस्तुतप्रशसा में अप्रकृत अर्थ के कथन से प्रकृत अर्थ का भी बोध हो जाता है। श्लेष मे विशेषण तथा विशेष्य; सभी के वाचक शब्द दो अर्थों के वाचक होते है। इस प्रकार विशेषण तथा विशेष्य के श्लिष्ट प्रयोग से दो या अधिक अर्थो का बोध श्लेष का तथा अप्रकृत के कथन से प्रकृत का आक्षेप

---

१ उपरञ्जकतामाहार्यताद्रूप्यनिश्चयगोचरतामित्यनेन सन्देहोत्प्रेक्षा-समासोक्ति ··भ्रान्तिमत्स्वतिव्याप्तिनिरास.।·· ····समासोक्ति-परिणामयोर्विषयिताद्रूप्यस्यागोचरत्वात्, समासोक्तौ व्यवहारमात्र-समारोपात् ···तस्यानाहार्यत्वादित्याहुः।

—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ३५७-५८

२. द्रष्टव्य—रुय्यक, अलङ्कारसर्वस्व, पृ० ६२

३. न च निदर्शनाविषये व्यङ्ग्योपमयैवास्तु चमत्कार इति वाच्यम् अत्राभेदप्रतीतिकृतचमत्कारस्यैव सत्त्वात् कल्पितौपम्यमूलिकया पर्यवसन्नया तयैव चमत्कार इत्याशयात्। तदुक्तम् 'उपजीव्यत्वेन भेदात्' इति। इत्युद्योतः।—काव्यप्रकाश, बालबोधिनी, पृ० ६१५

अप्रस्तुतप्रशसा का व्यवच्छेदक है। विद्याचक्रवर्ती के अनुसार श्लेष और अप्रस्तुतप्रशसा का भेद यह है कि श्लेष में कथित दोनो अर्थ या तो प्रकृत होते है या दोनो ही अप्रकृत, पर अप्रस्तुतप्रशसा मे कथित अर्थ अप्रकृत और उससे आक्षिप्त अर्थ प्रकृत—इस प्रकार एक अप्रकृत और एक प्रकृत—होता है।[1]

अतिशयोक्ति और उल्लेख

उल्लेख में एक वस्तु का अनेक व्यक्तियो के द्वारा अनेक रूप मे ग्रहण वर्णित होता है। तात्त्विक अभेद मे भेद-कथन-रूप अतिशयोक्ति से इस उल्लेख का स्वरूप कुछ मिलता-जुलता अवश्य है; पर दोनो को अभिन्न मानने का भ्रम नही होना चाहिए। दोनो मे भेद यह है कि उल्लेख मे एक वस्तु के अनेकधा ग्रहण के लिए प्रमाता की अनेकता अथवा विषय आदि की अनेकता आवश्यक होती है, पर अतिशयोक्ति मे यह भेद आवश्यक नही है। अभेद मे भेद की कल्पना-मात्र अतिशयोक्ति के स्वरूप-विधान के लिए पर्याप्त है। इसी आधार पर अलङ्कार-सर्वस्वकार ने प्रमाता तथा विपय आदि की अनेकता को उल्लेख का अतिशयोक्ति से भेदक धर्म माना है।[2]

अतिशयोक्ति और भ्रान्तिमान्

अतिशयोक्ति मे विषय का निगरण-पूर्वक अध्यवसान होता है। अध्यवसान का तात्पर्य है प्रकृत में अप्रकृत के तादात्म्य का आरोप। प्रकृत में अप्रकृत के अभेद का यह निश्चय सदा आहार्य होता है। अत, भ्रान्तिमान् से निगीर्याध्यवसान-रूप अतिशयोक्ति का स्पष्ट भेद है। भ्रान्तिमान् में प्रमाता को अन्य वस्तु मे अन्य का ज्ञान आहार्य नही, तात्त्विक होता है।[3]

---

१ श्लेषसमासोक्ती तदाभासरूपे अप्रकृतात्प्रकृताक्षेपे (अप्रस्तुतप्रशंसायां) तयोरविषयत्वात् अप्रकृतयो प्रकृतयोर्वार्थयो. श्लेषविषयत्वात्' 'इति। —काव्यप्रकाश, बालबोधिनी टीका मे उद्धृत, पृ० ६२२

२ यद्येवमभेदे भेद इत्येवरूपातिशयोक्तिरत्रास्तु। नैष दोप.। ग्रहीतृ-भेदाख्येन विपयविभागेनानेकधात्वोट्टङ्कनात्, तस्य च विच्छित्यन्तर-रूपत्वात् सर्वथा नास्यान्तर्भाव शक्यक्रिय इति निश्चय.।·· · · इयांस्तु विशेष—पूर्वत्र ग्रहीतृभेदेनानेकधात्वोल्लेख. इह तु विषय-भेदेन।—रुय्यक, अलङ्कारसर्वस्व, पृ० ४६,४७

३. न च रूपके निगीर्याध्यवसानरूपायामतिशयोक्तौ चातिव्याप्ति तत्र (अतिशयोक्तौ) वस्तुतो भ्रमाभावेऽप्यध्यवसानमात्रस्वीकारात्। इह (भ्रान्तिमति) त्वर्थानुगमेन सज्ञाप्रवृत्तेर्भ्रमोपगमस्य स्पष्टमेवोपगमात्। —गोविन्द ठक्कुर, काव्यप्रदीप, पृ० ३८२

अतिशयोक्ति और सन्देह

अतिशयोक्ति में प्रकृत में अप्रकृत के तादात्म्य का आहार्य निश्चय होता है, जबकि सन्देह मे ज्ञान अनिश्चयात्मक तथा द्विकोटिक रहता है।[१] एक वस्तु में अन्य वस्तु के तादात्म्य का आहार्य निश्चय अतिशयोक्ति का तथा दो वस्तुओं में सशयात्मक ज्ञान सन्देह का व्यवच्छेदक है।

अतिशयोक्ति और असङ्गति

कार्यकारणपौर्वापर्य-विपर्यय-रूप अतिशयोक्ति और असङ्गति में भेद यह है कि अतिशयोक्ति मे कार्य और कारण के पौर्वापर्य-विपर्यय (अर्थात् कारण के पूर्व कार्य की स्थिति) का वर्णन होता है और असङ्गति में कार्य और कारण का वैयधिकरण्य दिखाया जाता है। कारण और कार्य की भिन्नदेशता असङ्गति का तथा कार्य और कारण के स्वाभाविक क्रम का विपर्यय अतिशयोक्ति का वैशिष्टयाधायक है।

प्रतिवस्तूपमा और निदर्शना

प्रतिवस्तूपमा मे दो वाक्यार्थ वस्तु-प्रतिवस्तु-भाव से प्रस्तुत किये जाते है। निदर्शना में भी दो वाक्यार्थ प्रस्तुत किये जाते है, जिनके बीच औपम्य का पर्यवसान होता है। दोनो मे एक भेद यह है कि निदर्शना मे साधारण धर्म का उपन्यास नही होता, पर प्रतिवस्तूपमा मे वस्तुप्रतिवस्तु-भाव से—वस्तुतः, अभिन्न साधारण धर्म का शब्द-भेद से अलग-अलग वाक्यो में उल्लेख कर—साधारण धर्म का उपन्यास किया जाता है। दूसरा भेद यह है कि निदर्शना मे दोनो वाक्यार्थ परस्पर सापेक्ष रहते है; पर प्रतिवस्तूपमा मे दोनो अपने-आप मे पूर्ण; अतः परस्पर निरपेक्ष रहते है।[२]

---

१. अध्यवसानम् अप्रकृततादात्म्यारोपः स च भेदप्रतिपत्त्यसहकृताहार्य-निश्चयरूपः। तेन रूपकस्य सन्देहोत्प्रेक्षयोश्च व्यवच्छेदः…… अन्ययोश्च संशयत्वात्…… ।—काव्यप्रकाश, सारबोधिनी, से बालबोधिनी टीका में उद्धृत, पृ० ६२९

२. निदर्शनाया साधारणधर्मस्यानुपन्यासः वाक्यार्थयोः स्वस्वार्थे सापेक्षत्वं च अत्र (प्रतिवस्तूपमाया) तु साधारणधर्मस्य वस्तुप्रतिवस्तुभावेन निर्देशः वाक्यार्थयो. स्वस्वार्थे निरपेक्षत्वं चेत्यनयोः परस्पर भेदः।……
—काव्यप्रकाश, झलकीकरकृत टीका पृ० ६३४

प्रतिवस्तूपमा और अर्थान्तरन्यास

प्रस्तुत अलङ्कारो मे मुख्य भेद यह है कि प्रतिवस्तूपमा मे दो वाक्यार्थों में उपमानोपमेयभाव रहता है, जबकि अर्थान्तरन्यास मे दो वाक्यार्थो मे समर्थ्य-समर्थक-सम्बन्ध रहता है।[1] पण्डितराज जगन्नाथ ने इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहा है कि प्रतिवस्तूपमा मे भी सामान्य-विशेष-भाव-युक्त वाक्यार्थ रहते है और अर्थान्तरन्यास मे भी, पर प्रतिवस्तूपमा में सामान्य-विशेष-भावापन्न वाक्यार्थो मे औपम्य गम्य होता है, जबकि अर्थान्तरन्यास मे सामान्य-विशेष-भावापन्न वाक्यार्थो मे समर्थ्य-समर्थक-भाव रहता है।[2]

दृष्टान्त और उपमा

उपमा से दृष्टान्त का मुख्य भेद यह है कि दृष्टान्त मे बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव से दो वाक्यार्थ प्रस्तुत किये जाते है। दृष्टान्त में उपमा की तरह सादृश्य-वाचक 'इव' आदि पदों का प्रयोग नही किया जाता। 'अलङ्कारसर्वस्व' मे इस तथ्य का स्पष्टीकरण इस रूप मे किया गया है कि उपमा में 'इव' आदि का प्रयोग तथा साधारण धर्म का सकृत् निर्देश होता है; पर दृष्टान्त मे इवादि के प्रयोग के विना ही बिम्बप्रतिबिम्ब भाव से साधारण धर्म का असकृत् निर्देश होता है।[3]

दृष्टान्त और दीपक

दृष्टान्त मे धर्म का बिम्बप्रतिबिम्बभाव से वाक्यो मे दो बार उपादान होता है; पर दीपक मे धर्म का सकृत् उपादान होता है। दृष्टान्त मे दो वाक्यार्थ आवश्यक रूप से रहते है; पर दीपक एक वाक्यगत भी हो सकता है। दीपक मे अनेक पदो का एकपदान्वय-मात्र अपेक्षित है।

---

१ अर्थान्तरन्यासे तु समर्थ्यसमर्थकभावो विवक्षितः अत्र (प्रतिवस्तूपमाया) पुनरुपमानोपमेय भाव इति ततोऽस्या भेदः।
—काव्यप्रकाश, झलकीकरकृत टीका पृ० ६३४

२. इय (प्रतिवस्तूपमा) च वाक्यार्थयोः सामान्यविशेषभावापन्नयोर्भवति। तत्र वौपम्यस्य गम्यत्वात्। सामान्यविशेषयोस्त्वौपम्याप्रतीतेः समर्थ्यसमर्थकयोरर्थारन्तरन्यासो वक्ष्यते।
—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ५२५

३. तत्र सामान्यधर्मस्येवाद्युपादाने सकृन्निर्देशे उपमा। 'असकृन्निर्देशे तु शुद्धसामान्यरूपत्व बिम्बप्रतिबिम्बभावो वा।'' ·····द्वितीयप्रकाराश्रयेण दृष्टान्तो वक्ष्यते।—रुय्यक, अलङ्कारसर्वस्व, पृ० ७७

विभावना और विरोधाभास

विभावना मे विना कारण के ही कार्योत्पत्ति का वर्णन किया जाता है और विरोधाभास मे आपातत. दीख पडने वाले विरोध का परिहार हो जाने के कारण विरोध का आभास-मात्र वर्णित होता है। यह प्रश्न किया जा सकता है कि विभावना मे भी कारण के अभाव मे कार्योत्पत्ति के वर्णन से प्रातिभासिक विरोध प्रतीत होता है और प्रसिद्ध कारण से भिन्न किसी अन्य कारण से उस कार्य की उत्पत्ति की कल्पना से विरोध का परिहार हो जाता है, फिर विभावना को विरोधाभास से अभिन्न क्यो नही मान लिया जाय ? इस प्रश्न की सम्भावना कर अलङ्कारसर्वस्वकार ने कहा है कि विरोधाभास मे परस्पर विरोधी जान पडने वाली वस्तुओ मे परस्पर बाधकता रहती है; पर विभावना मे कारणाभाव के वर्णन से कार्य ही बाधित-सा प्रतीत होता है, कारण नही। अत: अन्योन्यबाधकता विरोधाभास को विभावना से पृथक् करती है।[१] उद्योतकार ने दोनो अलङ्कारो के पारस्परिक भेद का निर्देश करते हुए कहा है कि विरोधाभास मे समान बल वाली दो वस्तुओ का पारस्परिक विरोध दिखाया जाना आवश्यक होता है, जबकि विभावना मे कारण के अभाव मे केवल कार्य ही बाध्यतया प्रतीत होता है, कारणाभाव की बाध्यतया प्रतीति नही होती।[२] तात्पर्य यह कि विरोधाभास मे दोनो ही पदार्थ—परस्पर विरोधी जान पडने के कारण—परस्पर बाध्यतया प्रतीत होते है ; पर, विभावना मे केवल कार्य ही बाध्यतया प्रतीत होता है। कारण का अभाव तो कही नञ् समास से तथा कही कारण-विरोधी उक्ति से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप मे प्रतिपादित ही रहता है। अत:, विभावना का विरोधाभास से स्वतन्त्र अस्तित्व माना ही जाना चाहिए।

---

१. कारणाभावेन चेहोपक्रान्तत्वाद् बलवता कार्यमेव बाध्यमानत्वेन प्रतीयते, न तु तेन तत्र कारणाभाव.। इत्यन्योन्यबाधकत्वानुप्राणिताद् विरोधालङ्काराद्भेद:।—रुय्यक, अलङ्कारसर्वस्व, पृ० १५२

२. ननु कारणाभावे कार्योत्पत्तौ स्फुरितस्य विरोधस्य प्रसिद्धातिरिक्तेन कारणेन परिहाराद्विरोधाभास एवायमिति चेन्न। समबलयो परस्पर-विरोधे तत्स्वीकरात् इह तु (विभावनाया तु) कारणविरहेण कार्यमेव बाध्यत्वेन गम्यते न तु तेन कारणविरह इति विशेषात्।—काव्यप्रकाश उद्योत, बालबोधिनी मे उद्धृत पृ० ६५६

अर्थान्तरन्यास और अनुमान

अनुमान मे कविनिबद्ध प्रमाता के अनुमान का वर्णन होता है। उसमे साध्य, हेतु आदि अनुमान के अङ्गो का भी उल्लेख होता है; पर अर्थान्तरन्यास मे अनुमान के अङ्गभूत हेतु आदि का उल्लेख न कर केवल सामान्य-विशेष आदि में से किसी एक का कथन कर उसका अन्य विशेष-सामान्य आदि उक्ति से समर्थन किया जाता है।[1] इस प्रकार दोनो का भेद स्पष्ट है।

अर्थान्तरन्यास और विकस्वर

अर्थान्तरन्यास में सामान्य का विशेष से अथवा विशेष का सामान्य से समर्थन होता है, विकस्वर में विशेष का सामान्य से समर्थन कर पुनः उस समर्थक सामान्य का विशेष से समर्थन किया जाता है। विशेष का सामान्य से समर्थन करने की स्थिति तो अर्थान्तरन्यास के ही समान है; पर पुनः समर्थक का समर्थन विकस्वर का वैशिष्ट्य है। अर्थान्तरन्यास की-सी पूर्व-स्थिति को देखते हुए उद्योतकार ने विकस्वर को अर्थान्तरन्यास का ही एक रूप मान कर उसके स्वतन्त्र अस्तित्व का खण्डन किया है।[2] यह समीचीन नही जान पडता। जब थोडे-थोडे भेद से पृथक्-पृथक् अलङ्कारो की कल्पना स्वीकृत हुई तो अर्थान्तरन्यास से विकस्वर के उक्त वैशिष्ट्य को ध्यान में रखते हुए दोनो का स्वतन्त्र अस्तित्व भी स्वीकार किया ही जाना चाहिए। मम्मट के परवर्ती जयदेव, अप्पय्य दीक्षित आदि ने विकस्वर का स्वतन्त्र अस्तित्व माना है,; पर पण्डितराज जगन्नाथ को विकस्वर का अर्थान्तरन्यास, उदाहरण आदि से पृथक् अस्तित्व अमान्य है।[3] प्रस्तुत पक्तियो के लेखक को अप्पय्य दीक्षित का मत ही समीचीन जान पड़ता है।

व्याजस्तुति और अप्रस्तुतप्रशंसा

व्याजस्तुति में निन्दामुखेन स्तुति या स्तुतिमुखेन निन्दा की जाती है। अप्रस्तुतप्रशसा में अप्रस्तुत के वर्णन से प्रस्तुत की व्यञ्जना होती है। दोनों मे

---

१. (अर्थान्तरन्यासस्य) साक्षाद्व्याप्त्यादेरनभिधानादनुमानतो भेदः। कविनिबद्धप्रमात्रान्तरनिष्ठानुमितेरेवानुमानालकार.वषयत्वाच्च।
—काव्यप्रकाश, बालबोधिनी, पृ० ६६१

२. एतेन "यस्मिन् विशेषसामान्यविशेषाः स विकस्वरः" यथा अनन्तेति इति विकस्वरालङ्कारोऽय पृथगित्यपास्तमिति उद्योते स्पष्टम्।
—काव्यप्रकाश, झलकीकरकृत टीका, पृ० ६६२

३. द्रष्टव्य—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ७५२-५३

एक भेद यह है कि अप्रस्तुतप्रशसा में अप्रस्तुत अर्थ वाच्य तथा प्रस्तुत व्यङ्ग्य होता है; पर व्याजस्तुति में स्तुतिमुखेन की जाने वाली निन्दा अथवा निन्दा-मुखेन की जाने वाली स्तुति का शुद्ध व्यङ्ग्य होना आवश्यक नही। दूसरा भेद यह है कि अप्रस्तुतप्रशसा मे कार्य प्रस्तुत रहने पर कारण का, कारण प्रस्तुत रहने पर कार्य आदि का कथन होता है; पर व्याजस्तुति में कार्य-कारण-भाव-सम्बन्ध का अभाव रहता है। तीसरे, स्तुति से निन्दा तथा निन्दा से स्तुति का सौन्दर्य भी व्याजस्तुति का व्यवच्छेदक है। उद्योतकार ने व्याजस्तुति के एक उदाहरण का विवेचन करते हुए कहा है कि उसमें अप्रस्तुतप्रशंसा मानने की भ्रान्ति नही होनी चाहिए; क्योकि उन दोनों अलङ्कारों का सौन्दर्य अलग-अलग है।[१]

काव्यलिङ्ग और अनुमान

मम्मट आदि आचार्यो ने काव्यलिङ्ग तथा हेतु को अभिन्न माना है। टीकाकारो ने उनके काव्यलिङ्ग या हेतु से अनुमान का भेद-निरूपण किया है। उद्योतकार के अनुसार व्याप्ति आदि का निर्देश अनुमान अलङ्कार का काव्यलिङ्ग से भेदक है।[२] काव्यलिङ्ग मे व्याप्ति आदि अनुमान के अङ्गो का निर्देश नही होता। कमलाकर भट्ट ने इस आधार पर भी दोनो अलङ्कारो का भेद किया है कि अनुमान अलङ्कार में ज्ञापक-हेतु रहता है और काव्यलिङ्ग में कारक-हेतु।[३] पण्डितराज जगन्नाथ का मत उद्योतकार के मत से मिलता-जुलता ही है।[४]

काव्यलिङ्ग और परिकर

काव्यलिङ्ग मे पदार्थ या वाक्यार्थ ही हेतु के रूप मे उपन्यस्त होता है; पर परिकर में पदार्थ के बल से अथवा वाक्यार्थ के बल से प्रतीयमान अर्थ हेतु

---

१. ··न चात्राप्रस्तुतप्रशसैवास्त्विवति वाच्यम् स्तुतिनिन्दात्मकतया विच्छित्तिविशेषात् कार्यकारणभावादिसम्बन्धाभावाच्च शुद्धव्यञ्जनाविषयत्वाभावाच्च।—काव्यप्रकाश, उद्योत, उद्धृत, बालबोधनी पृ० ६७२

२. व्याप्त्याद्यनिर्देशान्नानुमानसङ्करः।—वही, पृ० ६७८

३. अत्र (काव्यलिङ्गे) कारकहेतोरुक्तिः अनुमानालङ्कारे तु ज्ञापकहेतोरुक्तिरिति भेद इति कमलाकरभट्टाः।—काव्यप्रकाश, झलकीकरकृत टीका, पृ० ६७८

४. द्रष्टव्य—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ७४२-४३

बनता है, यह दोनो का पारस्परिक भेद है। परिकर मे पदार्थ या वाक्यार्थ से प्रतीत होने वाला अर्थ वाच्य का उपकारक होता है, पर काव्यलिङ्ग मे पदार्थ या वाक्यार्थ ही हेतु बन जाते है।[१] कुवलयानन्दकार ने इसी आधार पर दोनो का भेद-निरूपण किया है।[२] पण्डितराज जगन्नाथ ने भी परिकर और काव्यहेतु का भेद दिखाते हुए कहा है कि परिकर मे प्रकृत अर्थ का उपपादक व्यङ्ग्य अर्थ होता है, पर हेतु मे व्यङ्ग्य अर्थ का रहना आवश्यक नही।[3]

उदात्त और अत्युक्ति

उदात्त मे समृद्धिशाली वस्तु का वर्णन होता है तथा रसादि का अङ्गभाव कल्पित होता है और अत्युक्ति मे अद्भुत तथा अतथ्य शौर्य, औदार्य आदि का वर्णन होता है। अत्युक्ति परवर्ती काल के आचार्यों की कल्पना है। उदात्त तथा अत्युक्ति; सब के मूल मे अतिशय की धारणा निहित है। यो तो दोनो का सम्बन्ध वर्ण्य विषय से है, अतः दोनो का अलङ्कारत्व सन्दिग्ध है, पर यदि दोनों को अलङ्कार माना जाय तो दोनो का भेद यह माना जायगा कि उदात्त का सम्बन्ध वस्तु की समृद्धि से है और अत्युक्ति का शूरता, उदारता आदि गुण से। मम्मट के कुछ टीकाकारो ने वस्तु-समृद्धि का अर्थ धन तथा शौर्य आदि की समृद्धि मान कर उदात्त मे ही अत्युक्ति का अन्तर्भाव माना है;[४] पर अप्पय्य आदि की इस मान्यता को कि 'सम्पत्ति की अति-उक्ति उदात्त का तथा शौर्य की अति-उक्ति अत्युक्ति का व्यावर्तक है';[५] अस्वीकार करने में

---

१. ननु साभिप्रायपदार्थविन्यसनरूपात्परिकरात्काव्यलिङ्गस्य किं भेदकमिति चेत् उच्यते। परिकरे पदार्थवाक्यार्थबलात् प्रतीयमानोऽर्थो वाच्योपकारकता भजते काव्यलिङ्गे तु पदार्थवाक्यार्थविव हेतुभाव भजत इतीति सुधासागरे स्पष्टम्।—काव्यप्रकाश, झलकीकरकृत टीका पृ० ६७८

२. द्रष्टव्य—अप्पय्य दीक्षित, कुवलयानन्द, पृष्ठ १३६

३. विशेषणाना साभिप्रायत्व परिकरः। तच्च प्रकृतार्थोपपादकचमत्कारिव्यङ्ग्यकत्वम्। अत एवास्य हेत्वलकाराद्वैलक्षण्यम्। तत्र व्यङ्ग्यस्यानावश्यकत्वात्।—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर पृ० ६११

४ वस्तुनः धनशौर्यादि। एतेन शौर्यादिस्तदुक्तौ अत्युक्तिनामा पृथगलङ्कार इत्यपास्तम्।—काव्यप्र०, झलकीकरकृत टीका, पृ० ६८४

५. सपदत्युक्तावुदात्तालङ्कारः। शौर्यात्युक्तावत्युक्ति अलङ्कार इति भेदमाहुः।—अप्पय्य दीक्षित, कुवलयानन्द, पृ० १७८

विशेष औचित्य नही जान पडता। अतथ्य-वर्णन को भी अत्युक्ति का एक व्यवच्छेदक धर्म माना जा सकता है।

समुच्चय और समाधि

रुय्यक, मम्मट आदि आचार्यों ने गुण-क्रिया की युगपत् स्थिति के वर्णन के अतिरिक्त समुच्चय का एक और स्वरूप स्वीकार किया है, जिसमे प्रस्तुत कार्य के एक साधक के रहते उसके अन्य साधक का भी अस्तित्व वर्णित होता है। समाधि में किसी कार्य के एक कारण के साथ कारणान्तर का योग हो जाने से कार्य की सुकरता का वर्णन होता है। दोनो अलङ्कारो का पारस्परिक भेद बताते हुए उद्योतकार ने कहा है कि समाधि मे एक कारण से कार्य के निष्पाद्यमान होने पर अकस्मात् उपस्थित अन्य कारण से कार्य की सुकरता विवक्षित होती है।[1] 'अलङ्कारसर्वस्व' मे समाधि मे अन्य साधक का काकतालीयन्याय से अकस्मात् योग तथा समुच्चय मे खलेकपोतन्याय से अनेक साधको का एकत्र अवतार अपेक्षित माना गया है।[2] कार्य-सौकर्य-वर्णन मे ही समाधि का अलङ्कारत्व है; पर समुच्चय का अलङ्कारत्व एक कार्य के सम्पादन मे अनेक कारणो के खलेक-पोतन्याय से उपस्थित होने मे है। जगन्नाथ की भी यही मान्यता है।[3] तात्पर्य यह कि एक हेतु से निष्पाद्यमान कार्य के, कारणान्तर के योग से सौकर्य की विवक्षा समाधि का तथा कार्य सम्पादन मे समर्थ अनेक कारणो का सहभाव समुच्चय का विशेषाधायक धर्म है। दूसरी बात यह कि समाधि में एक हेतु प्रधान और अन्य सहकारी-मात्र होते है; पर समुच्चय में सभी कारण प्रधान ही होते हैं।

---

१. समाधौ हि एकेन कार्ये निष्पाद्यमानेऽन्येनाकस्मादापतता सौकर्यादिरूपातिशयसम्पादनम्। (अत्रतु) एककार्यसमाप्तौ सर्वेषा खलेकपोतन्यायेन पात कार्यस्य च न कोऽप्यतिशय।—काव्यप्रकाश, उद्योत उद्धृत, बालबोधिनी, पृ० ६८६

२. यत्र ह्येकस्य कार्यं प्रति पूर्ण साधकत्वम्, अन्यस्तु सौकर्याय काकतालायन्यायेनापतति, तत्र समाधिवक्ष्यते। यत्रतु खलेकपोतिकया बहूनामवतारस्तत्र समुच्चय। अतश्चानयो सुमहान् भेद।

—रुय्यक, अलङ्कारसर्वस्व, पृ० २०१

३. द्रष्टव्य—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ७७७

समुच्चय और काव्यलिङ्ग

समुच्चय में (कारण समुच्चय मे) कार्य-विशेष के साधक अनेक कारणो का सह-भाव विवक्षित होता है; पर काव्यलिङ्ग मे हेतु-मात्र का कथन अपेक्षित होता है। हेतु का वाक्यार्थ या पदार्थ के रूप में जहाँ उपन्यास होता है, वहाँ काव्यलिङ्ग का स्वरूप सम्पन्न हो जाता है। उसमे हेतु के एक या अनेक होने का विचार नही किया जाता; पर समुच्चय मे कारण की अनेकता आवश्यक है।[१] अनेक कारणो का एकत्र सद्भाव होने पर ही समुच्चय का रूप-विधान सम्भव है।

समुच्चय और दीपक

क्रिया के समुच्चय और क्रिया-दीपक मे मुख्य भेद यह है कि समुच्चय में अनेक क्रियाओ की युगपत् स्थिति विवक्षित होती है, जबकि क्रिया-दीपक मे अनेक क्रियाएँ युगपत् नही, क्रम से अर्थात् कालभेद से विवक्षित रहती हैं।[२]

समुच्चय और पर्याय

'अलङ्कारसर्वस्व' में प्रस्तुत अलङ्कारो के भेदक तत्त्व के विषय मे कहा गया है कि समुच्चय मे गुण, क्रिया आदि अनेक पदार्थों की युगपत् स्थिति का वर्णन होता है; पर पर्याय मे क्रमेण अनेक के एकत्र सद्भाव का वर्णन होता है।[3] पदार्थों का यौगपद्य समुच्चय का तथा अयौगपद्य अर्थात् क्रमिक सद्भाव पर्याय का

---

१. काव्यलिङ्गे हेतुत्वमात्रं विवक्षितम् न तु हेतूना गुणप्रधानभावस्यैकत्वानेकत्वस्य वा चिन्ता। अत्र (समुच्चये) तु एकस्यैव तत्कार्यकारित्वेऽन्येषा साहाय्यमात्रमिति ततो विशेषः।
—काव्यप्रकाश उद्योत से बालबोधिनी मे उद्धृत पृ० ६८६

२. स त्वन्यो (समुच्चयः) युगपद् या गुणक्रियाः।—मम्मट, काव्यप्र०,: १०,११६ तथा—युगपदिति क्रमव्यावृत्त्यर्थम् तेन दीपके नातिव्याप्तिः दीपके सतीष्वपि बह्वीषु क्रियासु यौगपद्य न विवक्षित किं तु क्रम कालभेद एवेति बोध्यम्। —वही, झलकीकरकृत टीका, पृ० ६८९

३. तथा एकस्मिन्नाधारेऽनेकमाधेय यत् तिष्ठति, स द्वितीयः पर्याय.। नन्वत्र समुच्चयालङ्कारो वक्ष्यत इत्येतदर्थमपि क्रमेणेति योज्यम्। अत एव 'गुणक्रियायौगपद्य समुच्चय' इति समुच्चयलक्षणे यौगपद्यग्रहणम्। अत एव क्रमाश्रयणात् पर्याय इत्यन्वर्थमभिधानम्।
—रुय्यक, अलङ्कारसर्वस्व, पृ० १८५-८६

पारस्परिक भेदक है। जगन्नाथ ने अपने पर्याय अलङ्कार के द्वितीय लक्षण मे—एकत्र क्रम से अनेक वस्तुओ के वर्णन मे—क्रम के उल्लेख का उद्देश्य समुच्चय से उसके भेद का स्पष्टीकरण ही माना है।[१]

पर्याय तथा विशेष

रुय्यक के अनुसार पर्याय मे क्रम से एक वस्तु की अनेकत्र या अनेक वस्तु की एकत्र स्थिति दिखायी जाती है; पर विशेष के द्वितीय भेद में एक वस्तु की युगपत् अनेकत्र स्थिति का वर्णन होता है। अतः, वस्तु की स्थिति का क्रम पर्याय का और यौगपद्य विशेष का विशेषाधायक है।[२] पण्डितराज ने भी पर्याय-परिभाषा मे 'क्रम' शब्द के उल्लेख की सार्थकता विशेष से उसके विशेषाधान मे ही मानी है।[3]

पर्याय और परिवृत्ति

पर्याय के एक भेद मे एक आधार में अनेक वस्तुओ के होने अथवा रखने का वर्णन होता है; पर परिवृत्ति में किसी वस्तु का त्याग कर उसके बदले अन्य वस्तु के ग्रहण का वर्णन होता है। अत., दोनो मे स्वरूप का स्पष्ट भेद है। 'अलङ्कारसर्वस्व' मे विनिमय को परिवृत्ति का व्यावर्तक माना गया है।[४]

व्याजोक्ति और अपह्नुति

व्याजोक्ति मे किसी प्रकार प्रकट हो गये वस्तु-रूप को किसी बहाने छिपाने का वर्णन होता है। अपह्नुति मे प्रकृत वस्तु का अपह्नव कर उसकी जगह अन्य (अप्रकृत) की स्थापना की जाती है। इस प्रकार दोनों मे ही एक का निषेध कर अन्य वस्तु की स्थापना का प्रयास होता है। व्याजोक्ति मे

---

१. (पर्यायस्य) द्वितीयलक्षणे वक्ष्यमाणसमुच्चयालङ्कारातिव्याप्तिवारणाय तदिति (क्रमेणेति) विवेकः। —जगन्नाथ, रसगङ्गाधर पृ० ७५९

२. इह (पर्याये) च क्रमप्रतिपादनाद् अर्थात् तत्र (विशेषालङ्कारे) यौगपद्य-प्रतीतिः। —रुय्यक, अलङ्कारसर्वस्व, पृ० १८५

३. अत्राद्यलक्षणे प्रागुक्तविशेषालङ्कारद्वितीयभेदेऽतिप्रसङ्गवारणाय क्रमेणेति। —जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ७५६

४. विनिमयाभावात् (पर्यायस्य) परिवृत्तिवैलक्षण्यम्। —रुय्यक, अलङ्कारसर्वस्व, पृ० १८६

वस्तु के प्रकट रूप को छिपाकर बहाने से उसकी जगह वस्तु के किसी अयथार्थ रूप का कथन कर दिया जाता है और अपह्नुति मे प्रकृत का निषेध कर उसकी जगह अप्रकृत की स्थापना की जाती है। आचार्य मम्मट ने व्याजोक्ति की अपह्नुति से स्वतन्त्र सत्ता प्रमाणित करने के लिए यह युक्ति दी है कि अपह्नुति मे प्रकृत और अप्रकृत के बीच साम्य विवक्षित रहता है। दोनो की साम्य-विवक्षा से ही प्रकृत का निषेध और अप्रकृत का स्थापन किया जाता है, पर व्याजोक्ति मे साम्य की विवक्षा नही रहती। किसी बहाने प्रकट वस्तु-रूप को छिपा लेने मे ही व्याजोक्ति का अलङ्कारत्व है।[१] वस्तुतः अपह्नुति मे जिस प्रकार उपमेय का निषेध और उपमान का स्थापन होता है, उस प्रकार व्याजोक्ति मे किसी वस्तु का निषेध नही किया जाता। उसमे विना वस्तु-रूप का निषेध किये ही प्रकट वस्तु के यथार्थ हेतु से भिन्न हेतु का निर्देश कर वास्तविक स्थिति को छिपाया जाता है। अतः, दोनो का पारस्परिक भेद स्पष्ट है। 'अलङ्कारसर्वस्व' मे इसी तथ्य को इस रूप मे प्रतिपादित किया गया है कि अपह्नुति में सादृश्य-प्रतिपादन के उद्देश्य से अपह्नव (प्रकृत का निषेध) होता है, पर व्याजोक्ति मे अपह्नव के उद्देश्य से—वस्तुस्थिति को छिपाने के उद्देश्य से—सादृश्य-निरूपण होता है। निष्कर्षतः, दोनों अलङ्कारो मे वक्ता का उद्देश्य भिन्न-भिन्न रहता है। अपह्नुति मे निषेधपूर्वक सादृश्य-प्रतिपादन उसका उद्देश्य रहता है तो व्याजोक्ति मे वस्तुस्थिति का निषेध ही उसका उद्देश्य रहता है। उद्भट ने सादृश्य के लिए अपह्नव तथा अपह्नव के लिए सादृश्य, दोनो को अपह्नुति ही माना था। अत: उन्होने व्याजोक्ति नामक स्वतन्त्र अलङ्कार की कल्पना नही की थी।[२]

---

१ निगूढमपि वस्तुनो रूप कथमपि प्रभिन्न केनापि व्यपदेशेन यदपह्नूयते सा व्याजोक्ति। न चैषापह्नुति· प्रकृताप्रकृतोभयनिष्ठस्य साम्यस्येहासम्भवात् ॱ ॱ।
—मम्मट, काव्यप्रकाश, १०, ११८ की वृत्ति पृ० २७६-७७

२ नन्वपह्नुतिग्रन्थे सादृश्याय योऽपह्नव, सापह्नुतिः। तथा अपह्नवाय यत् सादृश्य साप्यपह्नुतिरिति स्थापितम्। व्याजोक्तौ चोत्तरः प्रकारो (अपह्नवाय सादृश्य) विद्यते। तत्कथमियमलङ्कारान्तरत्वेन कथ्यते। सत्यम्। उद्भटसिद्धान्ताश्रयणेन तत्रोक्तम्। नहि तन्मते व्याजोक्त्याख्यमलङ्करणमस्ति। इह तु तस्य सद्भावाद् व्यतिरिक्तापह्नुतिरिति पृथगयमलकारो निर्दिष्टः।—रुय्यक, अलं० सर्वस्व, पृ० २१७

उत्तर और काव्यलिङ्ग

मम्मट ने उत्तर और काव्यलिङ्ग का भेद स्पष्ट करते हुए कहा है कि यह शङ्का नहीं होनी चाहिए कि किसी उत्तर को सुन कर उसके पीछे निहित प्रश्न का जो बोध होता है उसमे उत्तर प्रश्न का हेतु होता है और इस प्रकार हेतु-रूप मे उत्तर वाक्य के उपन्यास के कारण उत्तर काव्यलिङ्ग से अभिन्न है। उत्तर अलङ्कार मे विशेष उत्तर प्रश्न-विशेष का ज्ञापक हेतु-मात्र होता है। उत्तर प्रश्न का कारक हेतु नही माना जा सकता। काव्यलिङ्ग मे कारक (जनक) हेतु का उपस्थापन होने से प्रश्न का ज्ञापन-मात्र करने वाले उत्तर पर आद्धृत उत्तर अलङ्कार का उससे स्वतन्त्र अस्तित्व है।[१]

उत्तर और अनुमान

उत्तर मे प्रश्न साध्य और उत्तर उसका साधन है। यह शङ्का की जा सकती है कि उत्तर अलङ्कार मे उत्तर सुनकर प्रश्न का अनुमान होता है, फिर उसे अनुमान मे ही अन्तर्भुक्त क्यो न मान लिया जाय? रुय्यक तथा मम्मट ने इस सम्भावित शङ्का का समाधान करते हुए कहा है कि अनुमान मे एक-धर्मीगत (पक्षनिष्ठ) साध्य और साधन का निर्देश अपेक्षित है; पर उत्तर मे साध्य प्रश्न का निर्देश नही होता है, केवल साधन उत्तर का ही निर्देश होता है। अत, उत्तर का स्वरूप अनुमान से स्वतन्त्र है। प्रश्नपूर्वक उत्तर मे भी असकृत् असम्भाव्य उत्तर होने से वह उत्तर अनुमान से स्वतन्त्र है।[२]

---

१. न चैतत् (उत्तरम्) काव्यलिङ्गम् उत्तरस्य तादूप्यानुपपत्ते:। नहि प्रश्नस्य प्रतिवचन जनको हेतु।

—मम्मट, काव्यप्रकाश, १०, १२१ की वृत्ति पृ० २८१

२. नापीदमनुमानम् एकधर्मिनिष्ठतया साध्यसाधनयोरनिर्देशादित्य-लङ्कारान्तरमेवोत्तर साधीयः।—वही, पृ० २८१ तथा—
न चेदमनुमान, पक्षधर्मत्वादेरनिर्देशात्। यत्र च प्रश्नपूर्वकम-सम्भावनीयमुत्तरं तच्च न सकृत्, तावन्मात्रेण चारुत्वाप्रतीतेः। अतश्चासकृदुपनिबन्धे द्वितीयमुत्तरम्।

—रुय्यक, अलङ्कारसर्वस्व, पृ० २१३-१४

उत्तर और परिसंख्या

प्रश्नपूर्वक उत्तर मे पहले प्रश्न का उपन्यास कर उसके लोकोत्तर चमत्कारशाली उत्तर का उल्लेख किया जाता है। प्रश्नपूर्विका परिसख्या मे प्रश्न किये जाने पर उसके उत्तर मे किसी वस्तु का निषेध और किसी की स्थापना की जाती है। मम्मट ने प्रश्नोत्तर और प्रश्न-परिसंख्या का भेद बताते हुए कहा है कि प्रश्नपूर्वक उत्तर की 'विश्रान्ति वाच्यार्थ मे ही होती है; पर प्रश्नपूर्विका परिसख्या मे अन्य वस्तु के निषेध (एक की स्थापना) का तात्पर्य रहा करता है।[1] प्रश्न के उत्तर में किसी वस्तु की वर्जना परिसंख्या का रूप-विधान करती है। उत्तर मे वाच्य का ही अतिशय-प्रतिपादन कवि का उद्देश्य होता है। रुय्यक के मतानुसार भी अन्य वस्तु की वर्जना का तात्पर्य परिसख्या का तथा वाच्यमात्र का उत्कर्ष-साधन उत्तर का विशेषाधायक धर्म है[2]

सूक्ष्म और अनुमान

सूक्ष्म मे भी इङ्गित आदि से आशय का बोध होता है और अनुमान में भी लिङ्ग से साध्य का अनुमान होता है। यह शङ्का की जा सकती है कि इङ्गित आदि (लिङ्ग) भाव के अनुमापक होते है; अत सूक्ष्म को भी अनुमान का ही अङ्ग क्यो न मान लिया जाय ? विद्या चक्रवर्ती तथा उद्योतकार आदि ने इसका समाधान इस युक्ति से किया है कि सूक्ष्म मे कविनिबद्ध पात्र अपनी विदग्धता मे अपना आशय इङ्गित आदि से सूचित करता है। इसका चमत्कार अर्थ को लक्षित करने की विदग्धता में है। अत, यह अनुमान से स्वतन्त्र सौन्दर्य रखता है।[3]

---

१ प्रश्नपरिसख्यायामन्यव्यपोहे एव तात्पर्यम्। इह तु (उत्तरालङ्कारे तु) वाच्ये एव विश्रान्तिरित्यनयोर्विवेक.।—मम्मट, काव्यप्र०, १०,१२१ की वृत्ति पृ० २८१

२ न चेद (उत्तर) परिसख्या, व्यवच्छेद्यव्यवच्छेदकपरत्वाभावात्।
—रुय्यक, अलङ्कारसर्वस्व, पृ० २१४

३ अत्र (सूक्ष्मोदाहरणे) विद्यमानमप्यनुमान सूक्ष्माङ्गम् स्ववैदग्ध्यप्रकाशन-द्वारा सूक्ष्मस्यैव चमत्कारित्वात्।—काव्यप्रकाश, उद्योत-उद्धृत, बालबोधिनी पृ० ७१२ और—तथाचाहुश्चक्रवर्तिभट्टाचार्या अपि यद्यप्यत्र स्वेदविशेषपुरुषायतयो. साध्यसाधनयोरेकधर्मिगतत्वेनो-पादानादनुमानमेवालङ्कारो भवितुर्महति तथापि स्ववैदग्ध्यप्रतिपिपाद-यिषयान्यस्मै सूक्ष्मार्थप्रकाशनमुखेनैव चमत्कार इति स एवालङ्कारः अनुमान तु तदनुग्राहकमित्यन्यदेतत्।—वही पृ० ७१२

अतद्गुण और विशेषोक्ति

अतद्गुण में गुण-ग्रहण का हेतु रहने पर भी वस्तु के अन्य का गुण-ग्रहण न करना विवक्षित रहता है। प्रश्न किया जा सकता है कि हेतु के रहने पर भी फलाभाव-वर्णन-रूप विशेषोक्ति से अतद्गुण का क्या भेद है? उत्तर स्पष्ट है—अतद्गुण का चमत्कार गुण के अग्रहण के वर्णन मे है। विशेषोक्ति में कारण के रहते कार्याभाव-वर्णन का चमत्कार प्रधान रहता है। अतः, दोनों का अपना-अपना विशिष्ट सौन्दर्य है।[१]

यमक और अनुप्रास

यमक और अनुप्रास को कई आचार्यों ने एक ही अलङ्कार के अलग-अलग रूप स्वीकार कर दोनो का एक साथ निरूपण किया है। फलतः, किसी आचार्य ने केवल यमक की सत्ता स्वीकार की तो दूसरे ने केवल अनुप्रास की। इस प्रकार एक अलङ्कार के भेद-निरूपण के क्रम मे उन्होने वर्ण, पद आदि की आवृत्ति के स्वरूप पर विचार किया। पीछे चलकर दोनो अलङ्कारो की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार कर ली गयी। भामह ने यमक और अनुप्रास; दोनो को पृथक्-पृथक् परिभाषित किया था और दोनो की परिभाषाओ मे दोनो के भेदक तत्त्व का भी निर्देश किया था। उनके अनुसार अर्थ-भेद से श्रुति-सम वर्ण-सङ्घ की आवृत्ति यमक है और समान रूप वाले वर्णों का विन्यास अनुप्रास।[२] इस प्रकार यमक के रूप-विधान के लिए दो बाते अपेक्षित मानी गयी—(क) समान श्रुति वाले स्वर-व्यञ्जन समुदाय की आवृत्ति तथा (ख) आवृत्ति होने पर दोनो के वाच्यार्थ का अलग-अलग होना। अनुप्रास मे समान रूप वाले वर्णों का विन्यास-मात्र अपेक्षित माना गया है। इस प्रकार र, ल, ड आदि वर्णो के विन्यास मे भी अनुप्रास का सद्भाव माना जा सकता है।

---

१. अतद्गुण इति। तस्याधिकगुणस्यास्मिन् गुणा न सन्तीत्यद्गुण इत्यर्थ। नन्वस्य विशेषोक्तावन्तर्भावः योग्यतारूपकारणसत्त्वेऽपि गुणग्रहणरूप-कार्याभावादिति चेन्न। गुणाग्रहणरूपविच्छित्तिविशेषाश्रयणादिति बोध्यम्॥
—काव्यप्रकाश, झलकीकरकृत टीका, पृ० ७४७

२. सरूपवर्णविन्यासमनुप्रास प्रचक्षते। तुलनीय—
तुल्यश्रुतीना भिन्नानामभिधेयैः परस्परम्।
वर्णानां यः पुनर्वादो यमक तन्निगद्यते।
—भामह, काव्याल०, २,५, १७

दण्डी ने अलङ्कार-निरूपण के सन्दर्भ मे केवल यमक का तथा उद्भट ने केवल अनुप्रास का निरूपण कर वर्णावृत्ति तथा पदावृत्ति को एक ही अलङ्कार का पृथक्-पृथक् रूप माना।

वामन ने यमक और अनुप्रास को दो स्वतन्त्र अलङ्कार मानकर दोनो को अलग-अलग परिभाषित किया। उनके अनुसार वर्ण-समुदाय की आवृत्ति यमक है। यदि वर्ण-समुदाय सार्थक पद हो तो उसकी आवृत्ति होने पर दोनो का अर्थ-भेद आवश्यक है। यमक मे आवृत्त वर्ण-सङ्घ का स्थान भी नियत होता है। अनुप्रास का उससे भेद यह है कि अनुप्रास मे एकार्थक तथा अनेकार्थक पदों की आवृत्ति हो सकती है और उसमे पदो का स्थान भी अनियत रहता है। इस भेद को स्पष्ट करते हुए वामन ने वृत्ति मे यह मन्तव्य व्यक्त किया है कि यमक मे स्वर-व्यञ्जन-सङ्घात की अर्थ-भेद से आवृत्ति होती है, पर अनुप्रास मे स्वरो की भिन्नता के साथ भी समान रूप वाले व्यञ्जनों के समुदाय की आवृत्ति हो सकती है।[1] रुय्यक, मम्मट, विश्वनाथ आदि को अनुप्रास और यमक के भेद के सम्बन्ध मे यही मत मान्य है।

लाटानुप्रास मे यमक की तरह ही स्वर-व्यञ्जन-समुदाय की आवृत्ति होती है। पर, दोनो का भेद यह है कि सार्थक पदो की आवृत्ति यमक में वाच्यार्थ के भेद के साथ ही होती है, पर लाट अनुप्रास मे आवृत्त सार्थक पदों मे तात्पर्यार्थ-मात्र का भेद अपेक्षित रहता है।[2] निष्कर्षत., यमक अनुप्रास का भेद निम्नलिखित है—

(क) यमक मे स्वर और व्यञ्जन-समुदाय की उसी रूप मे आवृत्ति होती है; पर अनुप्रास मे स्वर-भेद से भी केवल व्यञ्जन की आवृत्ति हो सकती है।

(ख) यमक में यदि सार्थक पद की आवृत्ति हो तो दोनो मे अर्थ का भेद होना आवश्यक है, पर अनुप्रास मे एकार्थ पदों की भी आवृत्ति हो सकती है और अनेकार्थ पदों की भी। लाटानुप्रास मे आवृत्त पदो में केवल तात्पर्यार्थ का भेद अपेक्षित होता है।

---

१. पदमनेकार्थमक्षर वाऽऽवृत्त स्थाननियमे यमकम्। वामन, काव्याल० सू० ४,१,१ तुलनीय –शेषः सरूपोऽनुप्रास ४,१,८ तथा उसकी वृत्ति पृ० १७७

२. शाब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रतः। तुलनाय—
अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुन. श्रुतिः।
यमकम्....।   —मम्मट, काव्यप्रकाश, ९,८१ तथा ९,८३

(ग) यमक मे वर्ण-सङ्घ की आवृत्ति का स्थान नियत रहता है, अनुप्रास में अनियत ।

(घ) यमक में स्वर तथा व्यञ्जन की उसी रूप मे आवृत्ति होती है; पर अनुप्रास मे किसी व्यञ्जन के समान श्रुति वाले अन्य व्यञ्जन का भी विन्यास हो सकता है ।

यमक एवं पुनरुक्तवदाभास

यमक में समान शब्द की आवृत्ति होती है, पर आवृत्त शब्दो में अर्थ-भेद आवश्यक माना जाता है। पुनरुक्तवदाभास मे आपातत समानार्थक जान पडने वाले शब्दो में तत्त्वतः अर्थभेद रहा करता है। दोनो में मुख्य भेद यह है कि यमक में समान शब्द एकाधिक बार आता है जब कि पुनरुक्तवदाभास में भिन्न आकार वाले शब्द—जो पर्यायवाची-से लगते हैं; पर वस्तुतः उनके अर्थ भिन्न होते हैं—प्रयुक्त होते ।

अर्थान्तरन्यास और उदाहरण

पण्डितराज जगन्नाथ ने विशेष से सामान्य के समर्थन-रूप अर्थान्तरन्यास से उदाहरण का भेद बताते हुए कहा है कि उदाहरण में अवयवावयवी सम्बन्ध का बोध कराने वाले 'इव' आदि पदों का प्रयोग होता है, अर्थान्तरन्यास में ऐसा प्रयोग नही होता । दूसरी बात यह कि उदाहरण में सामान्य और विशेष का एक रूप विधेय से अन्वय होता है,जो अर्थान्तरन्यास में नही होता ।[1] सामान्य अर्थ का समर्थक विशेष दो प्रकार का हो सकता है, एक वह जिसका केवल उद्देश्य अश विशेष हो और विधेयाश सामान्यगत हो । ऐसा ही विशेष उदाहरण का रूप-विधान करता है । इसीलिए उदाहरण में सामान्य और विशेष का एक रूप विधेयान्वय अपेक्षित माना गया है। सामान्य के समर्थक विशेष का दूसरा प्रकार वह हो सकता है, जिसमें उद्देश्य और विधेय; दोनो विशेष हों। ऐसा ही विशेष अर्थान्तरन्यास में अपेक्षित होता है।[2] इस प्रकार उदाहरण और अर्थान्तरन्यास के दो भेद स्पष्ट है—

---

१. अस्मिश्चालङ्कारे (उदाहरणालङ्कारे) अवयवावयविभावबोधकस्येव-शब्दादे प्रयोग सामान्यविशेषयोरेकरूप विधेयान्वयश्चार्थान्तरन्यास भेदाद्वैलक्षण्याधायक.. ।—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ३४०

२. सामान्यार्थसमर्थकस्य विशेषवाक्यार्थस्य द्वयी गति. । अनुवाद्याशमात्रे विशेषत्व विधेयाशस्तु सामान्यगत एवेत्येका । अनुवाद्यविधेयोभयांशेऽपि विशेषत्वमित्यपरा । तत्राद्या उदाहरणालङ्कारस्य विषयः; द्वितीयात्वर्थान्तरन्यासभेदस्य ।—वही, पृ० ७४१

(१) उदाहरण मे सामान्य का समर्थन ऐसे विशेष से होता है, जिसका उद्देश्य अश तो विशष होता है; पर विधेयाश समान्यगत होता है; किन्तु अर्थान्तरन्यास मे सामान्य के समर्थक विशेष के उद्देश्य अश तथा विधेय अश दोनो विशेष होते हैं। दूसरे शब्दो मे उदाहरण मे सामान्य और विशेष का एक रूप विधेयान्वय होता है, पर अर्थान्तरन्यास में, ऐसा नही होता।

(२) उदाहरण मे अवयवावयवी भाव के बोधक 'इव' आदि का उल्लेख होता है, अर्थान्तरन्यास मे इवादि का उल्लेख नही होता।

विमर्शिनीकार ने दोनो का भेद निरूपित करते हुए कहा था कि अर्थान्तरन्यास मे विशेष से सामान्य का समर्थन इस उद्देश्य से किया जाता है कि उससे सामान्य वाक्यार्थ उपपन्न हो सके, पर उदाहरण मे स्वत. उपपन्न सामान्य अर्थ का समर्थन उसकी प्रतीति के विशदीकरण के लिए किया जाता है। पण्डितराज जगन्नाथ ने उदाहरण के एक स्वीकृत उदाहरण मे यह दिखाया है कि वहाँ सामान्य का समर्थन उस अर्थ के उपपादन के लिए ही किया गया है। अत, सामान्य अर्थ का उपपादन अर्थान्तरन्यास का व्यवच्छेदक नहीं माना जा सकता। दोनो अलङ्कारो मे भेद-निरूपण पूर्वोक्त दो आधारो पर ही होना चाहिए।[१] पण्डितराज की मान्यता उचित ही जान पड़ती है।

रूपक और निदर्शना

पण्डितराज जगन्नाथ ने रूपक और निदर्शना का भेद निरूपित करते हुए यह मन्तव्य प्रकट किया है कि रूपक मे उपमेय तथा उपमान, दोनो का उपादान होता है; पर निदर्शना में उपमेय का उपादान नहीं होता। निदर्शना साध्यवसाना लक्षणा पर आश्रित अलङ्कार है। रूपक मे प्रकृत पर अप्रकृत का आरोप होता है पर निदर्शना मे दोनो के बीच आर्थ अभेद रहता है जो आरोप और अध्यवसान से भी भिन्न होता है।[२] शोभाकर ने यह शङ्का उठायी है कि यदि प्रकृत वाक्यार्थ पर अन्य वाक्यार्थ का समानाधिकरण से निर्देश निदर्शना है तो वाक्यार्थ रूपक से उसका क्या भेद होगा ?[३] इसका समाधान यह है कि रूपक मे सादृश्यमूला

---

१. द्रष्टव्य—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ७५२

२. (रूपकलक्षणे) उपमेयतावच्छेदकपुरस्कारेणेति विशेषणादपह्नुति ···· निदर्शनाना निरास: । ·· 'अतिशयोक्तिनिदर्शनयोश्च साध्यवसानलक्षणामूलकत्वादुपमेयतावच्छेदकस्य नास्ति पुरस्कार' ।
—वही, पृ० ३५४-५५

३. द्रष्टव्य—शोभाकर, अलङ्काररत्नाकर, पृ० २१

क्षणा अभेद-प्रतीति का आधार होती है; पर निदर्शना में अभेद की अनुपपत्ति ो प्रतीति से ही अभेद का प्रत्यायन होता है। अनुपपत्तिजन्य अभेद-प्रतीति ो निदर्शना का तथा लक्षणामूलक अभेद को रूपक का व्यवच्छेदक मानकर द्योतकार ने दोनो का भेद-निरूपण किया है।[1]

रूपक और सन्देह

पण्डितराज ने रूपक-लक्षण मे उपमेय और उपमान मे आहार्य ताद्रूप्य के निश्चय की चर्चा कर सन्देह से उसका भेद स्पष्ट कर दिया है।[2] सन्देह में अनिश्चयात्मक ज्ञान रहता है, पर रूपक मे आहार्य ताद्रूप्य का निश्चयात्मक ज्ञान।

भ्रान्तिमान् और उल्लेख

भ्रान्तिमान् में किसी वस्तु को देख कर प्रमाता को उस वस्तु के समान अन्य वस्तु का निश्चयात्मक ज्ञान हो जाता है। उल्लेख का इस भ्रान्तिमान् से मुख्य भेद यह है कि उल्लेख में निमित्त-भेद से अनेक प्रमाता को एक ही वस्तु अनेक रूप में गृहीत होती है। प्रमाता की अनेकता तथा वस्तु के अनेकधा ग्रहण में निमित्त-भेद उल्लेख का व्यावर्तक है। पण्डितराज ने इसी आधार पर भ्रान्तिमान् से उल्लेख का व्यावर्तन किया है।[3] 'अलङ्कारसर्वस्व' में भी अनेकधा ग्रहण के चमत्कार को उल्लेख का व्यवच्छेदक माना गया है।[4]

---

१. ''अतिशयोक्ते साध्यवसानलक्षणामूलकत्वात्तस्य (उपमेयस्य) पुरस्काराभावात्। अतिशयोक्तिवत् निदर्शनायामपि नातिव्याप्तिः। शब्दादिति विशेषणात् ''।—काव्यप्र० उद्योत, उद्धृत, बालबोधिनी, पृ० ५९३

२. उपरञ्जकतामहार्यताद्रूप्यनिश्चयगोचरतामित्यनेन सन्देहोत्प्रेक्षा'' भ्रान्तिमत्स्वतिव्याप्तिनिरासः। सन्देहोत्प्रेक्षयोर्निश्चयस्यैवाभावात्''
—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ३५७-५८

३ लक्षणे, (भ्रान्तिमान्लक्षणे) चात्रैकत्व विवक्षितमन्यथा वक्ष्यमाणानेकग्रहीतृकानेकप्रकारकैकविशेष्यकभ्रान्तिसमुदायात्मन्युल्लेखेऽतिप्रसङ्गापत्तेः। अत एवैकवचनमपि सार्थकम्।—वही, पृ० ४२२

४. एव तर्हि तत्र विषये भ्रान्तिमदलङ्कारोऽस्तु। अतद्रूपस्य तद्रूपताप्रतीतिनिबन्धनत्वात्। नतत्। अनेकधाग्रहणाख्यस्यातिशयस्यापूर्वस्य भावात्। तद्धेतुकत्वाच्चास्यालङ्कारस्य।
—रुय्यक, अलङ्कारसर्वस्व पृ० ४६

उत्प्रेक्षा और सम्भावना

पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार अन्य वस्तु मे अन्य की सम्भावना ही उत्प्रेक्षा है। वस्तु में यदि उससे भिन्न वस्तु की सम्भावना न हो तो वह शुद्ध सम्भावना होगी; उत्प्रेक्षा नही। उत्प्रेक्षा मे सम्भावना आहार्य होती है, अनाहार्य सम्भावना शुद्ध सम्भावना मात्र है।[१] सम्भावना को कुछ आचार्यो ने स्वतन्त्र अलङ्कार माना है। वह उत्प्रेक्षा से भिन्न है। अप्पय्य दीक्षित ने सम्भावना अलङ्कार का जो लक्षण दिया है वह मम्मट आदि के यद्यर्थोक्ति-कल्पन-रूप अतिशयोक्ति से अभिन्न है।[२] अतः, उस सम्भावना की उत्प्रेक्षा से समता की किञ्चित् भी सम्भावना नही।

दीपक और मालादीपक

पण्डितराज जगन्नाथ की मान्यता है कि मालादीपक को दीपक का भेद मानने की भ्रान्ति नही होनी चाहिए। मालादीपक स्वरूप की दृष्टि से दीपक की अपेक्षा एकावली के अधिक निकट है। उत्तर-उत्तर के प्रति पूर्व-पूर्व का उपकारक होना मालादीपक का लक्षण माना गया है, जो दीपक से मालादीपक का व्यावर्तन करता है। प्राचीन परम्परा के अनुरोध से ही जगन्नाथ ने दीपक के सन्दर्भ में मालादीपक का स्वरूप दिखाया है।[३] अप्पय्य दीक्षित के अनुसार दीपक और एकावली के स्वरूप का मिश्रण मालादीपक है।[४]

व्यतिरेक और प्रतीप

व्यतिरेक में उपमान और उपमेय के गुण का वैशिष्ट्य दिखाकर उससे उपमेय का उत्कर्ष प्रतिपादित किया जाता है। इस प्रकार उसमे उपमेय

---

१. '''सम्भावनायामतिप्रसङ्गवारणाय तद्भिन्नत्वेन प्रमितस्येति। सम्भावनायामाहार्यता गमयति।—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ४५१

२ सम्भावना यदीत्थं स्यादित्यूहोऽन्यस्य सिद्धये।—अप्पय्य, कुवलयानन्द १२६। तथा—'यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम्' अतिशयोक्तिभेद इति (१०-१००) काव्यप्रकाशकार.।—वही, वृत्ति पृ० १४६

३ एतच्च (मालादीपकम्) प्राचामनुरोधादस्माभिरिहोदाहृतम्। वस्तुतस्त्वेतद्दीपकमेव न शक्य वक्तुम्। सादृश्यसम्पर्काभावात् किंत्वेकावलीप्रभेद इति वक्ष्यते।—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ५१८

४ दीपकैकावलीयोगान्मालादीपकमिष्यते।—अप्पय्य दीक्षित, कुवलयानन्द, १०७

और उपमान के गुण का वैधर्म्य ही उपमान की अपेक्षा उपमेय के उत्कर्ष का साधक होता है। प्रतीप मे उपमान की उपमेय के रूप में तथा उपमेय की उपमान के रूप में कल्पना कर उपमेय का उत्कर्ष-प्रतिपादन होता है, क्योकि उपमान मे अधिकगुणत्व की धारणा स्वीकृत है, और उपमेय को उपमान बना देने से उसका उत्कर्ष-साधन हो जाता है। इस प्रकार प्रतीप मे साधर्म्य की ही प्रतीति रहती है। अत, व्यतिरेक का वैधर्म्य और प्रतीप का साधर्म्य दोनों का प्रधान व्यावर्तक धर्म है। प्रतीप से भेद-प्रतिपादन के लिए ही पण्डितराज जगन्नाथ ने व्यतिरेक की परिभाषा मे 'उपमान से उपमेय के गुणविशेषवत्त्वेन' उत्कर्ष प्रतिपादन का उल्लेख किया है।[१]

व्यतिरेक और असम

व्यतिरेक और असम का भेद यह है कि व्यतिरेक मे गुणवैशिष्ट्य से उपमेय का उपमान की अपेक्षा उत्कर्ष दिखाया जाता है, पर असम मे उपमेय के समान किसी भी अन्य वस्तु का न होना दिखाया जाता है। इस प्रकार औपम्य के अभाव-मात्र का प्रतिपादन असम का तथा उपमान से उपमेय का उत्कर्ष-निरूपण व्यतिरेक का स्वरूप-विधान करता है।

अप्रस्तुतप्रशंसा और प्रस्तुताङ्कुर

समासोक्ति से प्रस्तुताङ्कुर के भेद-निरूपण-क्रम मे हमने देखा है कि समासोक्ति में प्रस्तुत अर्थ के वर्णन से अप्रस्तुत अर्थ की व्यञ्जना होती है; पर प्रस्तुताङ्कुर मे प्रस्तुत अर्थ के वर्णन से अन्य प्रस्तुत अर्थ की ही व्यञ्जना होती है। अप्रस्तुतप्रशसा से प्रस्तुताङ्कुर का मुख्य भेद यह है कि अप्रस्तुतप्रशसा मे अप्रस्तुत अर्थ के वर्णन से प्रस्तुत अर्थ की व्यञ्जना होती है, जबकि प्रस्तुताङ्कुर मे प्रस्तुत अर्थ के वर्णन से प्रस्तुत अर्थ ही व्यञ्जित होता है। अप्रस्तुतप्रशंसा में अप्रस्तुत वाच्य और प्रस्तुत व्यङ्ग्य होता है, पर प्रस्तुताङ्कुर मे दोनो अर्थ प्रस्तुत होते है जिनमे से एक वाच्य और दूसरा व्यङ्ग्य होता है। पण्डितराज जगन्नाथ ने अप्रस्तुतप्रशसा तथा प्रस्तुताङ्कुर को अलग-अलग अलङ्कार

---

१. उपमानादुपमेयस्य गुणविशेषवत्त्वेनोत्कर्षो व्यतिरेक। प्रतीपादिवारणाय तृतीयान्त वैधर्म्यपरम्। तत्र चोपमानतामात्रकृत एवोत्कार्षो न वैधर्म्यकृतः। साधार्म्यस्यैव प्रत्ययात्।

—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ५४७

मानने वाले मत का खण्डन किया है। उनकी युक्ति है कि एक अर्थ के वर्णन से अन्य की व्यञ्जना ही अप्रस्तुतप्रशसा तथा प्रस्तुताङ्कुर—दोनों का सौन्दर्य है। अत., एक अर्थ के अप्रस्तुत तथा अन्य के प्रस्तुत होने और दोनो के प्रस्तुत होने के आधार पर दो स्वतन्त्र अलङ्कारो की कल्पना आवश्यक नही।[१] हम यह देख चुके है कि बहुत सूक्ष्म भेद के आधार पर अलग-अलग अलङ्कारो की कल्पना की प्रवृत्ति परवर्ती आचार्यो मे रही है। यदि सूक्ष्म भेद से स्वतन्त्र अलङ्कारो की कल्पना स्वीकार्य हो तो प्रस्तुताङ्कुर की स्वतन्त्र सत्ता के निषेध का कोई कारण नही। समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशसा और प्रस्तुताङ्कुर मे समान रूप से एक अर्थ के वर्णन से अन्यार्थ की व्यञ्जना का चमत्कार रहने पर भी भेद यह है कि समासोक्ति मे वाच्य अर्थ प्रस्तुत और व्यङ्ग्य अर्थ अप्रस्तुत होता है, इसके विपरीत अप्रस्तुतप्रशसा में वाच्य अप्रस्तुत और व्यङ्ग्य प्रस्तुत होता है, पर प्रस्तुताङ्कुर मे वाच्य और व्यङ्ग्य, दोनों ही अर्थ प्रस्तुत होते हैं।

रूपक और विरोधाभास

पण्डितराज जगन्नाथ ने यह शङ्का उठायी है कि रूपक मे प्रस्तुत पर अप्रस्तुत का आरोप किया जाता है। विचार करने से ऐसा लगता है कि किसी वस्तु पर अन्य का आरोप करना विरोध ही होगा। 'मुख-चन्द्र' कथन मुख और चन्द्र के विरोध का बोधक तो होगा ही। अतः, रूपक को विरोध का ही अङ्ग क्यो न माना जाय? इस शङ्का का समाधान पण्डितराज ने यह कहकर किया है कि उक्ति का चमत्कार-विशेष ही अलङ्कार-विशेष का अलङ्कारत्व होता है—यह सर्वमान्य सिद्धान्त है। किसी उक्ति मे सहृदय के हृदय को आह्लादित करने वाले चमत्कार के आधार पर ही अलङ्कारत्व का निर्णय होता है। रूपक की उक्तियो में मुख्य चमत्कार उपमेय तथा उपमान के विरोध मे नही रहता, वह रहता है उपमेय मे उपमान के सभी धर्मो की प्रतिपत्ति मे। रूपक की योजना मे कवि इस उद्देश्य से प्रस्तुत पर अप्रस्तुत का आरोप करता है कि दोनो के अभेद-प्रतिपादन से उपमान-निष्ठ धर्म की प्रतिपत्ति उपमेय मे भी हो जाय। प्रातिभासिक विरोधमात्र

---

१. एतेन द्वयोः प्रस्तुतत्वे प्रस्तुताङ्कुरनामाऽन्योलङ्कार इति कुवलयानन्दाद्युक्तमुपेक्षणीयम्। किंचिद्वैलक्षण्यमात्रेणैवालङ्कारान्तरताकल्पने वाग्भङ्गीनामानन्त्यादलङ्कारानन्त्यप्रसङ्ग इत्यसकृदावेदितत्वात्।
—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ६४५-४६

दिखाने मे जो चमत्कार रहता है, उससे प्रस्तुत पर अप्रस्तुत का आरोप कर प्रस्तुत में अप्रस्तुतनिष्ठ धर्म की प्रतिपत्ति का चमत्कार भिन्न होता है। अतः, विरोध से रूपक भिन्न अलङ्कार है।[1] पण्डितराज की यह युक्ति उचित ही है।

विचित्र और विषम

विचित्र मे अभीष्ट अर्थ की सिद्धि के लिए इष्ट-विपरीत आचरण का वर्णन होता है। 'उन्नति पाने के लिए किसी के आगे झुकने' आदि का वर्णन इष्ट-सिद्ध्यर्थ इष्ट-विपरीत आचरण का उदाहरण है। जगन्नाथ ने एक शङ्का की सम्भावना कर उसका समाधान किया है। यह शङ्का की जा सकती है कि 'अननुरूप का सङ्घटन' विषम कहलाता है। विचित्र मे भी कारण के अननुरूप कार्य का वर्णन होता है, फिर विचित्र को विषम का ही अङ्ग क्यो न मान लिया जाय? इस शङ्का का समाधान कठिन नही। विचित्र का सौन्दर्य इष्ट-विपरीत कार्य मे व्यक्ति के प्रवृत्त होने मे है, जबकि विषम मे अननुरूप कार्य-कारण आदि की घटना मे चमत्कार रहता है। व्यक्ति के आचारण से सापेक्ष और निरपेक्ष होने के आधार पर विचित्र और विषम का भेद स्पष्ट है।[2]

विशेष और प्रहर्षण

विशेष के तीन रूप स्वीकृत हैं—(१) प्रसिद्ध आधार के अभाव मे भी आधेय की स्थिति का वर्णन, (२) एक आधार मे रहने वाले एक आधेय की एक ही समय अनेक आधारो मे स्थिति का वर्णन तथा (३) किसी कार्य को करते हुए अन्य असम्भावित एव अशक्य कार्य का सम्पादन कर देने का वर्णन।

विशेष के तृतीय भेद से प्रहर्षण का भेद यह है कि प्रहर्षण के एक भेद मे वाञ्छित से अधिक अर्थ की प्राप्ति का वर्णन होता है; पर विशेष के तीसरे भेद में अशक्य कार्य के अनायास सम्पन्न कर लेने का वर्णन होता है। जगन्नाथ की मान्यता है कि विशेष में अशक्य कार्य का सम्पादन आरब्ध कार्य के साथ अभेदाध्यवसान के रूप मे दिखाया जाता है, पर प्रहर्षण मे वाञ्छित फल के

---

१. द्रष्टव्य—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ६८२

२. न च कारणाननुरूप कार्यमिति विषमभेदोऽय (विचित्रम्) वाच्य', विषमे पुरुषकृतेरपेक्षणात्। कार्यकारणगुणवैलक्षण्येनैव तद्भेदनिरूपणाच्च। —जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ७१९

अतिरिक्त फल की भी अवान्तर सिद्धि का वर्णन होता है। इस प्रकार अशक्य कार्य का साधन विशेष का व्यावर्तक है।[१]

विशेष और विषम

इष्ट साधन करते हुए अनायास अनिष्ट की सिद्धि विषम का एक रूप ह। किसी कार्य को करते हुए अन्य अशक्य कार्य को सिद्ध कर देना विशेष का लक्षण है। उक्त विषम-प्रकार से विशेष के इस प्रकार का प्रधान व्यावर्तक अशक्य कार्य-साधन ही है। इसी आधार पर पण्डितराज जगन्नाथ ने दोनों का भेद-निरूपण किया है।[२]

विशेष और अतिशयोक्ति

अतिशयोक्ति मे विषय का विषयी से निगरण होता है; पर विशेष मे विषय का निगरण नह ं होता।[3] अशक्य कार्य-सम्पादन विशेष के तृतीय भेद का व्यवन्छेदक है।

विशेष और रूपक

प्राचीन आचार्यो ने रूपक से विशेष का भेद इस आधार पर किया है कि विशेष मे रूपक की तरह विषय और विषयी का सामानाधिकरण्य-रहित आरोप नही होता। विशेष का अशक्य कार्य-साधन भी व्यवच्छेदक है।[४]

विशेष और स्मरण

विशेष मे एक कार्य को करते हुए किसी अशक्य कार्य के सम्पादन का वर्णन होता है; पर स्मृति मे एक वस्तु के ज्ञान से अन्य की स्मृति हो आने का वर्णन होता है। अतः, विशेष का तृतीय भेद स्मरण से स्वतन्त्र है।[५]

---

१. अत्र (विशेषालङ्कारे) चाशक्यवस्त्वन्तरनिवर्तने तदभेदाध्यवसाननिबन्धनत्व विशेषणम्। —जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ७२५,

२. द्रष्टव्य—वही, पृ० ७२५

३ वही, पृ० ७२६

४ नापि रूपकेण (विशेषस्य गतार्थत्वम्) विषयविषयिणो· सामानाधिकरण्यविरहेणारोपासिद्धे·।' "तस्मादशक्यवस्त्वन्तरकरण विशेषालङ्कारस्यैव प्रभेद इति प्राचामाशय.। —वही, पृ० ७२६

५ न च स्मृत्या (विशेषभेदस्य गतार्थत्वम्)। कालानलस्य वीक्षणकर्मत्वश्रवणेन स्मृतित्वासिद्धे। तस्मादशक्यवस्त्वन्तरकरणं विशेषालङ्कारस्यैव प्रभेद इति प्राचामाशयः।—वही, पृ० ७२६

सार और वर्धमानक

शोभाकर ने सार से वर्धमानक की स्वतन्त्र सत्ता मानी है। रूप और धर्म से एक की अपेक्षा दूसरे का आधिक्य दिखाना वर्धमानक का लक्षण माना गया है। इस प्रकार शोभाकर के अनुसार दोनो मे थोडा-सा भेद यह होगा कि सार मे जहाँ उत्तर-उत्तर का परावधि उत्कर्ष दिखाने से उत्कर्ष की एक शृङ्खला-सी बन जाती है, वहाँ वर्धमानक में उत्तरवर्ती का उत्कर्ष-मात्र दिखाना पर्याप्त माना जाता है, उसकी शृङ्खला आवश्यक नही। पण्डितराज जगन्नाथ की मान्यता है कि सार का भी सौन्दर्य उत्तरोत्तर उत्कर्ष-वर्णन मे ही है, केवल शृङ्खला मे नही। केवल शृङ्खला का सौन्दर्य, कारणमाला आदि का विषय है। अत', उनकी दृष्टि में दोनो अलङ्कारों का सौन्दर्य अभिन्न है।[1] उद्योत-कार ने वर्धमानक की स्वतन्त्र सत्ता की कल्पना अनावश्यक मानी है। उनकी युक्ति है कि उत्कर्ष की अन्तिम सीमा तक उत्तरोत्तर का उत्कर्ष-वर्णन और रूप-गुण से पूर्ववर्ती की अपेक्षा परवर्ती का आधिक्य-वर्णन तत्त्वत भिन्न नही हैं। अतः, वर्धमानक भी सार मे ही अन्तर्भूत माना जाना चाहिए।[2] वस्तुतः, दोनों का भेद नगण्य है। इतने थोडे भेद के आधार पर नवीन अलङ्कार की कल्पना के पीछे आचार्य शोभाकर का मौलिकता-प्रदर्शन का मोह ही है। ऐसे मोह के लिए केवल शोभाकर ही दोषी नही, परवर्ती काल के अनेक आचार्यों में ऐसा कल्पना-विलास देखा जा सकता है।

सार और पर्याय

पर्याय मे एक आधार मे क्रम से अनेक वस्तुओ की स्थिति का वर्णन होता है, पर सार मे अनेक वस्तुओ में क्रमिक उत्कर्ष—पूर्व-पूर्व से उत्तर-उत्तर के उत्कर्ष—का वर्णन होता है। अतः दोनो का स्वरूप परस्पर भिन्न है।[3]

---

१. द्रष्टव्य—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ७३८

२. एतेनेदृशे विषये वर्धमानालङ्कारोऽतिरिक्तः इति (रत्नाकराद्युक्तम्) अपास्तम्।—काव्यप्रकाश, उद्योत, उद्धृत बालबोधिनी, पृ० ७१३

३. यदि च वक्ष्यमाण एकाश्रये क्रमेणानेकाधेयस्थितिरूपः पर्यायोऽत्र प्रतीयते तदा सोऽप्यस्तु तर्हि तेन पूर्वपूर्वापेक्षयोत्तरोत्कर्षरूपः सारोऽन्यथासिद्धः शक्यः कर्तुम्।—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर पृ० ७३७-८

विकल्प और समुच्चय

दो वस्तुओ मे विकल्प-दशा होने पर उनमें औपम्य की कल्पना विकल्प अलङ्कार है। विकल्प मे तुल्यबल से परस्पर विरुद्ध वस्तुओ की उपस्थिति होती है। विरुद्ध वस्तुओ की युगपत् (एक ही समय) प्राप्ति असम्भव होने से एक का चुनाव करना पडता है। समुच्चय विकल्प का विपरीतधर्मा अलङ्कार है। समुच्चय मे युगपत् पदार्थों का अन्वय होता है। विकल्प में युगपत् पदार्थो की स्थिति असम्भव होने तथा समुच्चय में युगपत् पदार्थों का अन्वय होने के कारण अलङ्कार सर्वस्वकार तथा पण्डितराज जगन्नाथ ने विकल्प को समुच्चय का प्रतिपक्षी कहा है।[१]

ललित और निदर्शना

ललित मे प्रकृत व्यवहार का उल्लेख न कर उसके प्रतिबिम्बभूत किसी अप्रकृत वृत्तान्त का वर्णन किया जाता है। दण्डी, मम्मट आदि इसे आर्थी निदर्शना से अभिन्न मानते थे।[२] अप्पय्य दीक्षित ने ललित को स्वतन्त्र अलङ्कार मानकर निदर्शना से उसका यह भेद माना है कि निदर्शना मे प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत वृत्तान्तो का शब्दत. उपादान कर दोनो मे ऐक्य का आरोप होता है; पर ललित में प्रकृत वृत्तान्त का शब्दतः उपादान नही होता।[३] पण्डितराज जगन्नाथ ने भी इसी आधार पर निदर्शना से ललित का भेद करने के लिए ललित के लक्षण मे 'प्रकृतव्यवहारानुल्लेखेन' पद का उल्लेख किया है। निदर्शना मे प्रकृत तथा अप्रकृत वृत्तान्तो का उल्लेख तथा ललित मे केवल अप्रकृत वृत्तान्त का उल्लेख दोनो का विशेषाधायक है।[४]

---

१. तस्मात् समुच्चयप्रतिपक्षभूतो विकल्पाख्योऽलङ्कारः।
—रुय्यक, अलङ्कारसर्वस्व, पृ० १९८ तथा
अय (विकल्प) च समुच्चयस्य प्रतिपक्षभूतो व्यतिरेक इवोपमायाः।
—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ७७३

२. नेद (ललितम्) पृथगलङ्कारान्तरम्, किं तु आर्थी निदर्शनेति दण्डी-मम्मटादय ।—कुवलयानन्द अलङ्कारचन्द्रिका, टीका पृ०१४७

३. नापि (ललितम्) निदर्शना, प्रस्तुताप्रस्तुतवृत्तान्तयो शब्दोपात्तयो-रैक्यसमारोप एव तस्या. समुन्मेषात्।
—अप्पय्य दीक्षित, कुवलयानन्द वृत्ति, पृ० १४७

४. निदर्शनावारणाय तृतीयान्तम्। अत्र प्रकृते धर्मिणि' 'विषयमनुक्त्वैव''''
अप्रकृत व्यवहारो विषय्युपात्त'। विषयोपादाने तु निदर्शनैव।
—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ७९२

ललित और अप्रस्तुतप्रशंसा

ललित में प्रस्तुत धर्मी के वृत्तान्त का साक्षात् वर्णन कर उसके प्रतिबिम्ब रूप में किसी अप्रस्तुत वृत्तान्त का वर्णन किया जाता है। अत., ललित मे धर्मी प्रस्तुत ही रहता है। यही उसका अप्रस्तुतप्रशसा से व्यावर्तक है। अप्रस्तुतप्रशंसा मे अप्रस्तुत धर्मी का वर्णन किया जाता है और उससे प्रस्तुत की व्यञ्जना होती है। अप्पय्य दीक्षित तथा जगन्नाथ ने प्रस्तुत धर्मी का होना ही ललित का व्यवच्छेदक माना है।[१]

ललित और समासोक्ति

अप्पय्य दीक्षित ने ललित और समासोक्ति का भेद बताते हुए कहा है कि समासोक्ति मे प्रस्तुत वृत्तान्त का वर्णन होता है और उससे अप्रस्तुत वृत्तान्त की स्फूर्ति होती है, पर ललित मे प्रस्तुत वृत्तान्त का वर्णन नहीं किया जाता। इसमे अप्रस्तुत वृत्तान्त से ही प्रस्तुत वृत्तान्त गम्य होता है।[२]

ललित और अतिशयोक्ति

ललित मे प्रस्तुत वृत्तान्त का उल्लेख न कर केवल अप्रस्तुत वृत्तान्त का उल्लेख किया जाता है। यह प्रश्न हो सकता है कि विषय का उपादान न कर केवल विषयी के उपादान से अभेदाध्यवसान-रूप अतिशयोक्ति से ललित को अभिन्न क्यो न माना जाय ? अप्पय्य दीक्षित तथा पण्डितराज जगन्नाथ ऐसे प्रश्न की सम्भावना से अवगत थे। अत, उन्होंने भेद मे अभेद-रूप अतिशयोक्ति से ललित का भेद-निरूपण किया है। जगन्नाथ की यह तर्कपुष्ट मान्यता है कि अतिशयोक्ति मे किसी विशेष अन्य पदार्थ का ही अन्य पदार्थ से अभेदाध्यवसान होता है, पर ललित का वैशिष्ट्य यह है कि उसमे एक धर्मी के व्यवहार से अन्य के व्यवहार का अभेदाध्यवसान होता है। इस प्रकार पदार्थ का

---

१. नेयमप्रस्तुप्रशसा, प्रस्तुतधर्मिकत्वात्।
—अप्पय्य दीक्षित, कुवलयानन्द, पृ० १४७ तथा
अप्रस्तुतप्रशसावारणाय प्रकृतधर्मिणीति।
—जगन्नाथ, रसगङ्गा० पृ० ७६२

२. नापि (ललितम्) समासोक्ति., प्रस्तुतवृत्तान्ते वर्ण्यमाने विशेषणासाधारण्येन सारूप्येण वाऽप्रस्तुतवृत्तान्तस्फूर्त्यभावात्।
—अप्पय्य दीक्षित, कुवलयानन्द वृत्ति, पृ० १४७

अभेदाध्यवसान अतिशयोक्ति का और व्यवहार का अभेदाध्यवसान ललित का विशिष्ट लक्षण है।[1]

प्रत्यनीक और हेतूत्प्रेक्षा

प्रत्यनीक मे प्रतिपक्षी के सम्बन्धी का तिरस्कार होता है। हेतूत्प्रेक्षा की तरह प्रत्यनीक मे भी हेतु का अश सम्भावित होता है, पर हेतूत्प्रेक्षा से प्रत्यनीक का वैशिष्ट्य इस बात मे है कि उसमें प्रतिपक्षी का साक्षात् बाधन न दिखाकर 'तत्सम्बन्धिबाधन' दिखाया जाता है और इस प्रकार प्रतिपक्षी के सम्बन्धी के बाधन से प्रतिपक्षी का बाधान भी सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार हेतूत्प्रेक्षा से प्रत्यनीक को स्वतन्त्र अलङ्कार प्रमाणित किया गया है।[2]

अवज्ञा और अतद्गुण

अवज्ञा उल्लास का प्रतिपक्षी है और अतद्गुण तद्गुण का तार्किक पद्धति पर जगन्नाथ का कहना है कि प्रतियोगी के भेद से इन दोनो अलङ्कारो का पारस्परिक भेद सिद्ध ही है।[3] दोनो की प्रकृति की तुलना से दोनो का पृथक्-पृथक् सौन्दर्य स्पष्ट हो जाता है कि अतद्गुण मे वस्तुविशेष का अपने गुण का त्याग तथा अन्य के गुण का ग्रहण न करना वर्णित होता है, पर अवज्ञा मे अन्य के गुण-दोष से अन्य मे गुण-दोष का आधान न होने का वर्णन होता है। दूसरे शब्दो में, अतद्गुण मे दूसरे के गुण-दोष का अग्रहण दिखाया जाता है तो अवज्ञा में दूसरे के गुण-दोष से भी दूसरे व्यक्ति मे गुण-दोष का अनाविष्कृत होना वर्णित होता है। एक में अन्य के गुण के ग्रहण का अभाव है तो दूसरे में अन्य के गुण से अप्रभावित रहने के कारण वैसे ही आत्म-गुण के आविष्कार का अभाव।

अवज्ञा और विशेषोक्ति

अवज्ञा और विशेषोक्ति को कुछ आचार्यों ने अभिन्न मान लिया है, कारण यह है कि विशेषोक्ति की तरह अवज्ञा में भी (एक के गुण-दोष से दूसरे में गुण-

---

१. न चात्र (ललिते) भेदेऽप्यभेद इत्यतिशयोक्त्या गतार्थतेति वाच्यम्। तत्र हि पदार्थेन पदार्थस्यैवाभेदाध्यवसान '' न तु व्यवहारेण व्यवहार-स्येत्यविषय एवायमतिशयोक्ते।—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ७९३ इस सन्दर्भ मे कुवलयानन्द, पृ० १४७-४९ भी द्रष्टव्य।

२. द्रष्टव्य,—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ७८३-८४

३ न चाय (अतद्गुण) अवज्ञाया नातिरिच्यते। उल्लासविपर्ययोह्यवज्ञा तद्गुणविपर्ययश्चातद्गुण इति प्रतियोगिभेदादेव भेदस्य सिद्धेः।
—वही, पृ० ८१३

दोष के आविष्कार का) हेतु रहने पर फलाभाव दिखाया जाता है।[१] यह मान्यता उचित नही। अतद्गुण और विशेषोक्ति मे भी ऐसी समता के रहते हुए दोनो के विशिष्ट चमत्कार के आधार पर दोनो की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की गयी है। अवज्ञा का विशिष्ट चमत्कार एक के गुण-दोष मे अन्य मे गुण-दोष के अविष्कार का अभाव दिखाने मे है और विशेषोक्ति का कारण के रहते कार्योत्पत्ति का अभाव दिखाने मे। अत, दोनो मे एक दूसरे से स्वतन्त्र सौन्दर्य है।

उल्लास और तद्गुण

उल्लास और तद्गुण के प्रतियोगी अवज्ञा और अतद्गुण के भेद पर विचार किया जा चुका है। उल्लास मे भी अन्य के गुण से अन्य मे गुणाधान होता है और तद्गुण मे भी अन्य के गुण का अन्य के द्वारा ग्रहण होता है, पर दोनो की प्रक्रिया अलग-अलग है। उल्लास में अन्य के गुण से वस्तुविशेष के अपने ही गुण का आविष्कार होता है; पर तद्गुण मे विशेष वस्तु अपने गुण का त्याग कर अन्य वस्तु के उत्कृष्ट गुण को ग्रहण करती है। पण्डितराज जगन्नाथ ने एक उदाहरण से दोनो का भेद स्पष्ट किया है। जैसे हल्दी का अपना रग ही लाल चूर्ण आदि के रग के सम्पर्क से लाली ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार उल्लास मे किसी वस्तु का अपना ही गुण अन्य वस्तु के गुण के सम्पर्क से विशेष रूप मे आविष्कृत हो जाता है। तद्गुण में गुण-ग्रहण की प्रक्रिया इससे भिन्न होती है। जैसे जपा के लाल फूल की लाली से उज्ज्वल स्फटिक लाल हो जाता है वैसे ही किसी वस्तु का अपने गुण को त्याग कर अन्य के गुण को ग्रहण कर लेना तद्गुण है।[२] अन्य के गुण के अन्य में आधान की प्रक्रिया के उक्त भेद के आधार पर उल्लास और तद्गुण का भेद स्पष्ट है।

लेश और व्याजस्तुति

लेश मे गुण का दोष के रूप मे तथा दोष का गुण के रूप में वर्णन किया जाता है। व्याजस्तुति का लेश से मुख्य भेद यह है कि व्याजस्तुति में निन्दा

---

१. विशेषोक्त्यैवगतार्थत्वादवज्ञानालङ्कारान्तरमित्यपि वदन्ति।
—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ८०७

२. यद्यप्युल्लासेऽप्यन्यदीयगुणेनान्यस्य गुणाधानमस्ति तथापि तत्रान्यदीय-गुणप्रयुक्त गुणान्तर चूर्णादिक्षारताप्रयुक्त हरिद्रादेः शोणत्वमिवाधीयते प्रकृते (तद्गुणे) तु जपाकुसुमलौहित्यं स्फटिक इवान्यदीयगुणएवान्यत्रे ति ततोऽस्य भेद.।—वही, पृ० ८१२-१३

का कथन स्तुतिमुखेन और स्तुति का कथन निन्दामुखेन होता है। लेश में स्तुतिमुखेन या निन्दामुखेन निन्दा-स्तुति का कथन नही होता, उसमे केवल गुण को अनिष्टसाधन बताकर दोष के रूप मे और इसके विपरीत दोष को इष्ट-साधन बताकर गुण के रूप मे ग्रहण किया जाता है। पण्डितराज जगन्नाथ ने निन्दास्तुतिमुखेन विपरीतार्थ-प्रतिपादन को व्याजस्तुति का व्यवच्छेदक माना है।[१]

दीपक और सहोक्ति

दीपक में भी अनेक पदार्थों का एक क्रिया से सम्बन्ध दिखाया जाता हैं और सहोक्ति मे भी दो पदार्थों की क्रियाओ का समान पद से उल्लेख किया जाता है, पर दोनो मे भेद यह है कि दीपक मे क्रिया एक पद के साथ अन्वित होकर जब विश्रान्त हो लेती है तब दूसरे पद के साथ अन्वित होती है, जबकि सहोक्ति मे दो वस्तुओ से सम्बद्ध क्रिया एक ही समय दोनों पदार्थो से अन्वित होकर दोनो का अर्थ-बोध कराती है। उद्भट ने इसीलिए सहोक्ति की परिभाषा में इस तथ्य पर बल दिया है कि उसमे एक ही साथ वस्तुद्वयसमाश्रित क्रियाएँ एक ही पद से कथित होती है। विवृतिकार तिलक ने युगपत् या तुल्यकाल शब्द के उल्लेख की सार्थकता दीपक से सहोक्ति के विषय-विभाग में ही मानी है।[२] तात्पर्य यह कि दीपक मे अनेक वस्तुओ की एक ही क्रिया का प्रयोग होता है; पर उसमें अर्थ-बोध की प्रक्रिया यह होती है कि पाठक एक-एक पद से उस क्रिया का अन्वय कर क्रम से प्रत्येक पद का अर्थ समझता है। पर, सहोक्ति मे सहार्थ-वाचक पद से एक वस्तु को गौण और दूसरी वस्तु को प्रधान बनाकर एक ही समय समान क्रिया से दोनो का अन्वय होता है।

निदर्शना और अतिशयोक्ति

'काव्यालङ्कारसारसङ्ग्रह' मे निदर्शना के एक उदाहरण को दृष्टि मे रख कर यह प्रश्न उठाया गया है कि निदर्शना मे भी दो वाक्यार्थो का पर्यवसान अभेद मे होता है; अर्थात् जब दो वाक्यार्थो के सम्भव या असम्भव सम्बन्ध में परस्पर उपमानोपमेय-भाव की कल्पना कर ली जाती है तब वास्तविक भेद मे भी अभेद स्वीकार किया जाता है, फिर ऐसी निदर्शना को भेद मे अभेद प्रकल्पन-

---

१. द्रष्टव्य—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ८१०-११

२. न चात्र दीपकतेत्याह तुल्येति। तत्र हि एकविश्रान्तक्रियानुषङ्गेणोपकारकसम्बन्धमेति। इह (सहोक्त्यलङ्कारे) तु युगपदुभयगतत्वेन प्रतिपाद्यते।—उद्भट, काव्यालङ्कारसारसं० विवृति, पृ० ४७-४८

रूप अतिशयोक्ति से स्वतन्त्र मानने मे क्या युक्ति है ? विवृतिकार का समाधान यह है कि निदर्शना मे दो वाक्यार्थो मे एक ही गुण रहता है। अतः, उसमे एक ही गुण के अभेद की कल्पना की जाती है, जबकि भेद मे अभेद-रूप अतिशयोक्ति मे स्वरूपतः भिन्न वस्तुओ का अभेदाध्यवसान होता है। निदर्शना मे दो वाक्यार्थो का गुण, जिसका अभेदाध्यवसान होता है, वस्तुतः अभिन्न ही रहता है; केवल अपने सम्बन्धी दो वाक्यार्थों के भेद से ही वह भिन्न जान पडता है। इस प्रकार निदर्शना मे गुण का अभेदाध्यवसान अतिशयोक्ति के अभेदाध्यवसान से—स्वरूपत. भिन्न पदार्थो के अभेदाध्यवसान से—भिन्न प्रकृति का है। अतः, दोनो अलङ्कारों की सत्ता परस्पर स्वतन्त्र है।[१] पण्डितराज जगन्नाथ ने अतिशयोक्ति से निदर्शना का भेद स्पष्ट करने के लिए निदर्शना के लक्षण मे इस तथ्य पर बल दिया है कि निदर्शना मे जिन दो अर्थों मे औपम्यपर्यवसायी आर्थ अभेद दिखाया जाता है, उन दोनो का उपादान होता है। इस प्रकार अतिशयोक्ति से—जिसमे विषय का निगरणपूर्वक अध्यवसान दिखाया जाता है—निदर्शना का भेद स्पष्ट हो जाता है।[२]

प्रतिवस्तूपमा और तुल्ययोगिता

आचार्य रुय्यक के अनुसार इन दो अलङ्कारो में मुख्य भेद यह है कि प्रतिवस्तूपमा मे साधारण धर्म का वस्तुप्रतिवस्तुभाव से असकृत् (अनेक बार) उल्लेख होता है; पर तुल्ययोगिता मे सकृत् निर्देश।[३]

---

१. ननु भिन्नयोर्विशोभतयोरैक्यमध्यवसितमिति भेदे अभेद इत्येवमात्मिके-यमतिशयोक्ति। विशोभिताख्यो गुण एक। न तु स्वरूपभिन्नः। सम्बन्धिभेदात्तु भिद्यते। स्वरूपभिन्नयोरैक्येऽतिशयोक्ति।
—उद्भट काव्यालङ्कार सारसङ्ग्रह, विवृति, पृ० ४५

२. उपात्तयोरार्थाभेद औपम्यपर्यवसायी निदर्शना।
अतिशयोक्त्यादीना वारणायोपात्तयोरिति।
—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ५३६,

३. वाक्यार्थगतत्वेन सामान्यस्यवाक्यद्वये पृथड् निर्देशे प्रतिवस्तूपमा।
... इवाद्यनुपादाने सकृन्निर्देशे दीपकतुल्ययोगिते।
—रुय्यक, अलङ्कारसू०, २५ तथा अलङ्कारसर्वस्व, पृ० ७७

उपमा और दीपक

'अलङ्कारसर्वस्व' मे उपमा और दीपक के भेदक तत्त्व का निर्देश किया गया है। उपमा मे 'इव' आदि सादृश्य वाचक पद का उपादान होता है; पर दीपक मे 'इव' आदि वाचक पद का उपादान नही होता।[१]

उपमा और तुल्ययोगिता

अलङ्कारसर्वस्वकार ने जिस आधार पर उपमा और दीपक का भेद-निरूपण किया है, उसी आधार पर उपमा और तुल्ययोगिता का भी भेद दिखाया है। उपमा मे इवादि का उपादान होता है, पर तुल्ययोगिता मे इवादि का उपादान नही होता।[२]

अप्रस्तुतप्रशंसा और दृष्टान्त

अप्रस्तुतप्रशसा मे अप्रस्तुत वाच्य और प्रस्तुत गम्य होता है; पर दृष्टान्त में समान धर्म वाली दो वस्तुएँ बिम्बप्रतिबिम्ब-भाव से प्रस्तुत की जाती हैं, इसलिए दोनो ही वाच्य रहती है। एक अर्थ का—अप्रस्तुत अर्थ का—वाच्य तथा एक अर्थ का—प्रस्तुत अर्थ का गम्य होना अप्रस्तुतप्रशसा को दृष्टान्त से—जिसमे दोनो अर्थ वाच्य रहते है—अलग करता है। इसी आधार पर 'अलङ्कारसर्वस्व' मे दोनो का भेद किया गया है।[3]

विरोधाभास और विशेषोक्ति

विभावना की तरह विशेषोक्ति मे भी कारण और कार्य मे अन्योन्य-बाधकता नही रहती, जो विरोधाभास से उसका वैशिष्ट्य प्रतिपादित करती है। विशेषोक्ति मे कारण तथा कार्य की परस्पर बाधकता के अभाव का तात्पर्य यह है कि उसमे फलोत्पत्ति का अभाव परिमाणतः कारण की सत्ता की बाधा ही प्रमाणित करती है। यद्यपि विशेषोक्ति में समग्र कारण के रहने पर भी

---

१. तत्र सामान्यधर्मस्येवाद्युपादाने सकृन्निर्देशे उपमा।········इवाद्यनुपादाने सकृन्निर्देशे दीपकतुल्ययोगिते।

—रुय्यक, अलङ्कारसर्वस्व, पृ० ७७

२. उपरिवत्।

३. सरूपयोस्तु वाच्यत्वे दृष्टान्तः। अप्रस्तुतस्य वाच्यत्वे प्रस्तुतस्य गम्यत्वे सर्वत्राप्रस्तुतप्रशसेति निर्णय।—वही पृ० १३०

कार्याभाव का वर्णन होता है, पर विचार करने पर वस्तुत. कार्याभाव से कारण की समग्रता ही बाधित होती है। प्रत्यक्षतः समग्र कारण की सत्ता का कथन होने पर भी कार्योत्पत्ति का अभाव प्रकारान्तर से कारण की बाधा प्रतीत कराता है। अत, विशेषोक्ति मे तत्त्वत कारण-मात्र की सत्ता की बाधा रहती है, जबकि विरोधाभास मे दो वस्तुओ मे प्रातिभासिक विरोध दिखाये जाने से दोनो पदार्थों में अन्योन्यबाधकता रहती है। निष्कर्षतः, विरोधाभास में दो वस्तुओं में प्रातिभासिक विरोध तथा तात्त्विक अविरोध रहता है। उसमे अन्योन्यबाधकता अनुप्राणक रहती है, जबकि विशेषोक्ति में एक ही अर्थ की बाधा रहती है, अन्योन्यबाधकता नही।[1] यही दोनो का मुख्य भेद है।

अपह्नुति और सामान्य

अपह्नुति में एक वस्तु का निषेध तथा दूसरी वस्तु का स्थापन होता है; पर सामान्य मे दो वस्तुओ के विशेष का बोध न होने मे सामान्य की प्रतीति होती है। अलङ्कारसर्वस्वकार ने एक के निषेध तथा दूसरे की स्थापना को अपह्नुति का व्यावर्तक माना है और इसी आधार पर सामान्य तथा अपह्नुति का भेद-निरूपण किया है।[2]

भाविक और भ्रान्तिमान्

भाविक मे भूत और भावी अर्थ का प्रत्यक्ष रूप में वर्णन होता है। अलङ्कारसर्वस्वकार ने कहा है कि इसे भ्रान्तिमान् से अभिन्न समझने की भ्रान्ति नही होनी चाहिए; क्योकि भाविक में भूत और भावी अर्थ का भूत और भावी अर्थ के रूप में ही—उसके यथार्थ रूप में ही—ज्ञान होता है, जबकि भ्रान्तिमान् में किसी वस्तु का उससे भिन्न वस्तु के रूप में—अयथार्थ रूप मे—ज्ञान होता है।[3]

---

१. अन्योन्यन्यबाधकत्वानुप्राणिताद् विरोधालङ्काराद्भेदः। · ·विशेषोक्तौ कार्याभावेन कारणसत्ताया एव बाध्यमानत्वमुन्नेयम्।
—रुय्यक, अलङ्कारसर्वस्व, पृ० १५२

२ न चेदम् (सामान्यम्) अपह्नुतिः। किञ्चिन्निषिध्य कस्यचिद्प्रतिष्ठापनात्।—वही, पृ० २१०

३. न चेद (भाविक) भ्रान्तिमान्। भूतभाविनो भूतभावितयैव प्रकाशनात्।—वही, पृ० २१०

भाविक और अतिशयोक्ति

'अलङ्कारसर्वस्व' मे यह तथ्य स्पष्ट किया गया है कि भाविक को अतिशयोक्ति मे अन्तर्भुक्त नही माना जा सकता। अतिशयोक्ति मे अन्य अर्थ का अन्य रूप मे अध्यवसान—विषय का निगरण कर विषयी के साथ अभेद-प्रतीति—होता है; पर भाविक मे भूत, आदि अर्थ का अभूत आदि अर्थ के रूप मे अध्यवसान नही होता। उसमे भूत आदि अर्थ का उसी रूप मे प्रत्यक्षायमाणत्व अपेक्षित रहता है।[१]

भाविक और उत्प्रेक्षा

भाविक मे भूत और भावी अर्थ का प्रत्यक्ष रूप मे वर्णन होता है। यह प्रश्न किया जा सकता है कि भूत और भावी अर्थों का, जो वस्तुत अप्रत्यक्ष अर्थ है, जहाँ प्रत्यक्ष रूप मे वर्णन होगा, वहाँ अप्रत्यक्ष की प्रत्यक्ष रूप मे सम्भावना प्रतीत होगी। इवादि के प्रयोग के अभाव मे इवार्थ—सम्भावना—की प्रतीति होने से भाविक गम्या उत्प्रेक्षा का ही एक रूप माना जा सकता है, फिर भाविक की स्वतन्त्र सत्ता की कल्पना का क्या आधार होगा? अलङ्कारसर्वस्वकार ने भाविक तथा गम्या उत्प्रेक्षा का भेद स्पष्ट करते हुए इस शङ्का का युक्तिपूर्ण समाधान प्रस्तुत किया है। उत्प्रेक्षा का विधायक साध्य अध्यवसान—अन्य वस्तु मे अन्य के अभेद की सम्भावना—होता है। भाविक मे साध्य अध्यवसान नही रहता। उसमे अप्रत्यक्ष का प्रत्यक्ष के रूप मे अध्यवसान नही होता, वरन् सहृदय पाठक कल्पना-दृष्टि से अप्रत्यक्ष अर्थ को प्रत्यक्ष देख पाते हैं। यह अप्रत्यक्ष अर्थ का साक्षात् बिम्बग्रहण भाविक का स्वरूप है, जो उत्प्रेक्षा से स्वतन्त्र है।[२]

भाविक और काव्यलिङ्ग

भाविक का काव्यलिङ्ग से केवल इस आधार पर भेद नही किया जा सकता कि काव्यलिङ्ग मे लिङ्ग से लिङ्गी का बोध होता है; पर भाविक मे

---

१. नापीदम् (भाविकम्) अतिशयोक्ति अन्यस्यान्यतयाध्यवसायाभावात्।
—रुय्यक, अलङ्कारसर्वस्व, पृ० २२२

२. नापि भूतभाविनामप्रत्यक्षाणा प्रत्यक्षतयैव प्रतीतेरिवार्थगर्भीकारेणेय प्रतीयमानोत्प्रेक्षा, तस्या अभिमानरूपाध्यवसायस्वभावत्वात्। नहि अप्रत्यक्ष प्रत्यक्षत्वेनाध्यवसीयते, कि तर्हि, काव्यार्थविद्भि. प्रत्यक्ष दृश्यत इति।
—वही, पृ० २२३

अद्भुत पदार्थ के—लिङ्ग के—दर्शन से भूत और भावी अर्थ का—लिङ्गी का—साक्षात्कार होता है। भाविक मे भूत और भावी अर्थ का प्रत्यक्षायमाणत्व योगलक्षण-सन्निकर्ष के समान होता है। जैसे योगी देश-काल की सीमा को पार कर परोक्ष वस्तु का साक्षात्कार कर लेते है, वैसे ही काव्य मे सहृदय पाठक भूत और भावी अर्थों को प्रत्यक्ष देख लेते है। यही भाविक का स्वरूप है, जो काव्यलिङ्ग के स्वरूप से सर्वथा भिन्न है।[1]

भाविक और रसवत्

भाविक और रसवत्—दोनो मे अर्थ का प्रत्यक्ष बिम्बग्रहण अपेक्षित होता है; पर दोनो का भेद यह है कि रसवत् अलङ्कार मे जहाँ अर्थ के साथ भावक के हृदय का सम्वाद तथा साधारणीकरण की प्रक्रिया से अद्वैत ज्ञान-दशा मे रति आदि चित्तवृत्ति का आस्वादन अपेक्षित होता है, वहाँ भाविक मे भावक तटस्थ भाव से अर्थ का—अप्रत्यक्ष अर्थ का—प्रत्यक्ष दर्शन-मात्र करता है। अर्थ के साथ सहृदय के हृदय का सम्वाद रसवत् का तथा तटस्थ भाव से भूत-भावी अर्थ का साक्षात्कार भाविक का व्यवच्छेदक धर्म है।[2]

भाविक और स्वभावोक्ति

भाविक मे लोकोत्तर वस्तु का—भूत-भावी वस्तु का—स्फुट वर्णन होता है, जबकि स्वभावोक्ति मे लौकिक वस्तु का स्फुट वर्णन होता है। दोनो मे दूसरा भेद यह है कि भाविक मे अर्थ का तटस्थ भाव से साक्षात्कार किया जाता है, जबकि स्वभावोक्ति मे लौकिक वस्तु के स्वभाव-वर्णन से उस वस्तु के साथ सहृदय के हृदय का सम्वाद सम्भव होता है।[3]

---

१. नाप्यत्यद्भुतपदार्थदर्शनादतीतानागतयो प्रत्यक्षत्वप्रतीते· काव्यलिङ्ग-मिदम् (भाविकम्)। लिङ्गलिङ्गिभावेन प्रतीत्यभावात्। योगिवत् प्रत्यक्षतया प्रतीतेः। —रुय्यक, अलङ्कारसर्वस्व, पृ० २२३

२ नाप्यय (भविकालङ्कार) परिस्फुरद्रूपतया सचमत्कारप्रतिपत्ते रसवद-लङ्कार। रत्यादिचित्तवृत्तीना तदनुषक्ततया विभावादीनामपि साधारण्येन हृदयसम्वादितया परमाद्वैतज्ञानिवत् प्रतीतौ तस्य भावात्। इह (भाविके) तु ताटस्थ्येन भूतभाविना स्फुटतया भिन्नस-र्वज्ञवत् प्रतीते·। —वही, पृ० २२४

३. नापीय सूक्ष्मवस्तुस्वभाववर्णनात् स्वभावोक्ति। तस्या (स्वभावोक्तौ) लौकिकवस्तुगतसूक्ष्मधर्मवर्णने साधारण्येन हृदयसम्वादसम्भवात्। इह (भाविके) लोकोत्तराणा वस्तूना स्फुटतया ताटस्थ्येन च प्रतीतेः। —वही, पृ० २२४

भाविक और उदात्त

भाविक मे भूत और भावी अर्थ का यथारूप वर्णन होता है। प्रत्यक्ष रूप मे वर्णन किये जाने पर भी भूत-भावी अर्थ की स्थिति पर कुछ आरोप नही किया जाता है, पर उदात्त मे वस्तु पर समृद्ध वस्तु का वर्णन किया जाता है। इस प्रकार अनारोपित वस्तु-वर्णन भाविक का तथा आरोपित वस्तु-वर्णन उदात्त का व्यवच्छेदक है।[1]

स्वभावोक्ति और रसवत्

स्वभावोक्ति और रसवत्—दोनों मे वर्ण्य वस्तु के साथ भावक का हृदय-सम्वाद सम्भव होता है, पर दोनों का भेद यह है कि स्वभावोक्ति मे केवल वस्तु-स्वभाव के साथ पाठक के हृदय का सम्वाद होता है, जबकि रसवत् मे वर्णित विभावादि वस्तु की चित्तवृत्ति के साथ भावक का हृदय-सम्वाद होता है, जिससे रसानुभूति सम्भव होती है।[2]

स्वभावोक्ति और उदात्त

स्वभावोक्ति मे वस्तु-स्वभाव का यथारूप वर्णन होता है। उसमे कवि वस्तु के स्वभाव पर कुछ आरोप नही करता, पर उदात्त मे वर्ण्य वस्तु पर कवि समृद्धि का आरोप कर उसका वर्णन करता है। इस प्रकार अनारोपित वस्तु स्वभाव का वर्णन स्वभावोक्ति का तथा आरोपित वस्तुवर्णन उदात्त का व्यवच्छेदक लक्षण है।[3]

सम और विषम

सम और विषम एक दूसरे का विपरीतधर्मा है। सम मे योग्य वस्तु के साथ उसके योग्य वस्तु का योग होता है; पर विषम में इसके विपरीत किसी

---

१. ...भाविके यथास्थितवस्तुवर्णनम्। तद्विपक्षत्वेनारोपितवस्तु-वर्णनात्मन उदात्तस्यावसरः।—रुय्यक, अलङ्कारसर्वस्व, पृ० २२८

२. न च हृदयसम्वादमात्रेण स्वभावोक्तिरसवदलङ्कारयोरभेदः। वस्तु-स्वभावसम्वादरूपत्वात् स्वभावोक्तेः चित्तवृत्तिसम्वादरूपत्वाच्च रसवदलङ्कारस्य, उभयसम्वादसम्भवे तु समावेशोऽपि घटते।

—वही, पृ० २२५

३. स्वभावोक्तौ भाविके च यथास्थितवस्तुवर्णनम्। तद्विपक्षत्वेनारोपित-वस्तुवर्णनात्मन उदात्तस्यावसरः। —वही, पृ० २२८

वस्तु की उसके अयोग्य वस्तु के साथ घटना होती है। मम्मट ने वृत्ति में विषम को सम का विपर्यय रूप कहा है।[1] सम और विषम को विपरीत स्वभाव का मानने मे सभी आचार्य एकमत है।

अप्रस्तुतप्रशंसा और प्रतिवस्तूपमा

आचार्य वामन ने अप्रस्तुत के कथन से प्रस्तुतार्थ के बोध को समासोक्ति कहा था और उससे प्रतिवस्तूपमा का भेद-निरूपण इस आधार पर किया था कि समासोक्ति मे केवल अप्रस्तुत का न्यास होता है, प्रस्तुत का नही; पर प्रतिवस्तूपमा मे उपमेय के कथन के साथ समानवस्तु का न्यास होता है। इस प्रकार उपमेय का कथन न कर समान वस्तु का न्यास उनके अनुसार समासोक्ति का तथा उपमेय के कथन के साथ समान वस्तु का न्यास प्रतिवस्तूपमा का व्यवच्छेदक धर्म है।[2] वामन की यह समासोक्ति पीछे चलकर अप्रस्तुतप्रशसा के रूप मे स्वीकृत हुई। पण्डितराज जगन्नाथ ने दोनो अलङ्कारो के इस भेदक तत्त्व का सङ्केत दिया है कि प्रतिवस्तूपमा मे एक ही धर्म का शब्दभेद से—वस्तुप्रतिवस्तुभाव से—असकृत् निर्देश होता है; पर अप्रस्तुतप्रशसा मे ऐसा नही होता।[3] अत., अप्रस्तुतप्रशसा (वामन की समासोक्ति तथा परवर्ती आचार्यों की अप्रस्तुतप्रशसा) तथा प्रतिवस्तूपमा के निम्नलिखित भेदक तत्त्व हैं—

(क) अप्रस्तुतप्रशसा में केवल उपमान वाक्य ही उक्त होता है और उससे उपमेय वाक्य गम्य होता है, जबकि प्रतिवस्तूपमा मे दो परस्पर निरपेक्ष वाक्य—एक उपमानस्थानीय तथा दूसरा उपमेयस्थानीय—उक्त होते हैं।

(ख) प्रतिवस्तूपमा मे वस्तु-प्रतिवस्तुभाव से दो बार साधारण धर्म का उल्लेख होता है पर अप्रस्तुतप्रशसा में एक ही वाक्य के उक्त होने से साधारण धर्म का असकृत् निर्देश नही होता।

निश्चय और सन्देह

अपह्नुति के विपरीत अप्रकृत का निषेध कर प्रकृत की स्थापना मे विश्वनाथ ने निश्चय नामक स्वतन्त्र अलङ्कार माना है। निषेध प्राप्त का ही

---

१. '' स समविपर्ययात्मा चतूरूपो विषम'।—मम्मट,काव्यप्र० १०पृ० २८५

२. उपमेय उक्तौ समानवस्तुन्यासः प्रतिवस्तु।—वामन, काव्यालङ्कार सू०, ४,३,२ तथा—अनुक्तौ समासोक्तिः। उपमेयस्यानुक्तौ सामान-वस्तुन्यास समासोक्ति.।—वही, सूत्र ४,३,३ तथा उसकी वृत्ति।

३. अप्रस्तुतप्रशसाया वस्तुप्रतिवस्तुभावस्य भिन्नशब्दोपात्तैकप्रतिपाद्य-रूपस्यासम्भवात्।—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर पृ० ५२१

किया जाता है। अतः, जहाँ प्रकृत वस्तु मे अप्रकृत के ज्ञान की प्राप्ति सम्भावित हो, वहाँ अप्रकृत का निषेध और प्रकृत की स्थापना मे विश्वनाथ के अनुसार, निश्चय अलङ्कार होगा। दण्डी ने ऐसे स्थल मे तत्त्वाख्यानोपमा अलङ्कार माना था। अब प्रश्न है कि इसे निश्चयान्त सन्देह से अभिन्न क्यों न माना जाय, जिसमे सन्देह-स्थल में अन्तत निश्चयात्मक ज्ञान हो जाता है? विश्वनाथ का उत्तर है कि सन्देह में प्रमाता को द्वैकोटिक ज्ञान रहता है; पर निश्चय मे प्रमाता को एक कोटिक तत्त्व का ही ज्ञान रहता है और वह अन्य के अन्यथा ज्ञान की सम्भावना कर प्रकृत वस्तु की स्थापना करता है।[१] उदाहरणार्थ, भौरा नायिका के मुख को कमल न समझ ले, इसलिए प्रमाता कमल का निषेध कर प्रकृत मुख की स्थापना करता है। यह निश्चय, निश्चय ही सन्देह से भिन्न है। इसमे प्रमाता को तो एककोटिक ज्ञान रहता ही है, अन्य को भी एककोटिक ज्ञान ही होता है, जिसके निषेध की आवश्यकता प्रमाता को जान पडती है।

निश्चय और भ्रान्तिमान्

निश्चय में प्रमाता अन्य के प्रकृत वस्तु मे अप्रकृत के ज्ञान का (भ्रमात्मक ज्ञान का) निवारण करने के लिए अप्रकृत का निषेध और प्रकृत की स्थापना करता है, फिर भी निश्चय को भ्रान्तिमान् से अभिन्न मानने की भ्रान्ति नही होनी चाहिए, क्योकि निश्चय का सौन्दर्य केवल भ्रमात्मक ज्ञान दिखाने में नही; अपितु अप्रकृत का निषेध कर प्रकृत की स्थापना करने मे है।[२]

निश्चय और अपह्नुति

निश्चय में अप्रकृत का निषेध तथा प्रकृत की स्थापना होती है, जबकि अपह्नुति में प्रकृत का निषेध तथा अप्रकृत का स्थापन होता है। स्पष्टतः, निश्चय अपह्नुति से विपरीत स्वभाव का अलङ्कार है।[3]

---

१ न ह्ययं निश्चयान्तसन्देह., तत्र सशयनिश्चयोरेकाश्रयत्वेनावस्थानात् अत्र तु भ्रमरादेः संशयो नायकादेर्निश्चय. किञ्च, न भ्रमरादेरपि सशयः, एककोट्यधिके ज्ञाने तथा समीपागमनासम्भवात्।
—विश्वनाथ, साहित्यदर्पण पृ० ६४९

२. अस्तु नाम भ्रमरादेर्भ्रान्तिः, न चेह तस्याश्चमत्कारविधायित्वम्, अपितु तथाविधनायकाद्युक्तेरेवेति सहृदयसवेद्यम्।—वही, पृ० ६४९

३ न चापह्नुतिः, प्रस्तुतस्यानिषेधादिति····।—वही पृ० ६५०

सप्तम अध्याय

अलङ्कार और भाषा

अलङ्कारशास्त्र का भाषाशास्त्र से घनिष्ठ सम्बन्ध है। भाषाशास्त्र में भाषा की मूल प्रकृति का—शब्द-अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध का तथा शब्द, वाक्य आदि के स्वरूप का—अध्ययन किया जाता है तो अलङ्कारशास्त्र मे शब्द-अर्थ के सुरुचि-पूर्ण विन्यास की विशेष भङ्गियो का अध्ययन किया जाता है। अलङ्कार, गुण, रीति, वृत्ति; शब्दशक्ति आदि का भाषाशास्त्रीय दृष्टि से अध्ययन एक स्वतन्त्र शोधप्रबन्ध का विषय हो सकता है। प्रस्तुत सन्दर्भ मे हम प्रसङ्गानुरोध से केवल अलङ्कारो का भाषाशास्त्रीय दृष्टि से अध्ययन करगे।

उक्ति-भङ्गी के विभिन्न प्रकार अलङ्कार कहलाते है।[१] एक प्रकार की उक्तिभङ्गी से व्यक्त अर्थ अन्य उक्तिभङ्गी से व्यक्त अर्थ से कुछ वैलक्षण्य लिये रहता है। 'नेत्र कमल के समान सुन्दर है' इस उपमा में तथा 'नेत्र-कमल' इस रूपक मे नेत्र और कमल का सादृश्य बताना कवि का उद्देश्य होता है, फिर भी दोनो उक्तियो का अर्थ अभिन्न नही माना जा सकता। प्रथम उक्ति मे नेत्र और कमल का भेद तथा सादृश्य की दृष्टि से दोनों का अभेद अभीष्ट है। दो वस्तुओ मे सादृश्य बताने के लिए दोनों के बीच कुछ सामान्य और कुछ विशेष की कल्पना आवश्यक होती है।[२] यदि दो वस्तुओ मे किसी सामान्य की कल्पना न की जाय तो दोनो के सादृश्य की कल्पना ही सम्भव न हो और यदि दो वस्तुओं मे केवल सामान्य ही कलिपत हो, किसी विशेष की

१. अनन्ता हि वाग्विकल्पास्तत्प्रकारा एव चालङ्काराः।
—आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक, ३, ९३ की वृत्ति पृ० ५११

२. यत्र किञ्चित् सामान्य कश्चिच्च विशेष. स विषयः सदृशतायाः।
—रुय्यक के काव्यालङ्कार सूत्र सख्या ११ की वृत्ति मे उद्धृत, पृ० २४

कल्पना न हो तो दो वस्तुएँ परस्पर भिन्न मानी ही न जा सकें। ऐसी स्थिति मे—अभिन्न वस्तु में—सादृश्य की कल्पना का कोई अर्थ ही नहीं होगा और न ऐसी कल्पना सम्भव होगी। अत:, सादृश्य के मूल मे कुछ सामान्य और कुछ विशेष की कल्पना अनिवार्यतः रहती ही है। उपमा, रूपक आदि अलङ्कार सादृश्यमूलक है। उपमा तथा रूपक के उक्त दो उदाहरणो मे नेत्र को कमल के सामान सुन्दर बताना वक्ता को इष्ट है। पर, उपमा के उदाहरण मे जहाँ नेत्र और कमल दोनो का भेद तथा अभेद समान रूप से व्यक्त है, वहाँ रूपक के उदाहरण मे दो वस्तुओ के बीच अभेद की प्रधानता हो गयी है। इस प्रकार एक में भेदाभेद की तुल्य प्रधानता तथा दूसरे मे अभेद की प्रधानता दोनों उक्तियों की अर्थगत विलक्षणता है। इसी प्रकार सादृश्य, विरोध, अतिशय आदि तत्वो पर आधृत अनेक अलङ्कारो में एक मूल तत्त्व के होने पर भी उक्ति के वैलक्षण्य के आधार पर उनके पृथक्-पृथक् अस्तित्व की कल्पना की गयी है।

विभिन्न अलङ्कारो मे वर्ण, पद, वाक्य आदि की योजना का वैलक्षण्य भी भाषा की दृष्टि से अध्ययन का रोचक विषय है। अनुप्रास, यमक आदि अलङ्कारो में वर्ण, पद आदि के विन्यास, उनके यथास्थान प्रयोग आदि का सूक्ष्म विचार किया जाता रहा है। अर्थालङ्कारो मे भी पद, वाक्य आदि के विन्यास का वैलक्षण्य उपेक्षणीय नही। उपमा अलङ्कार के ही अनेक भेदो मे पद, वाक्य आदि की योजना अलग-अलग रूपो मे की जाती है। सस्कृत मे इव, यथा आदि उपमा के वाचक पद माने गये है। 'इव' वाचक का प्रयोग बहुधा पद के साथ किया जाता है तो 'यथा' वाचक का प्रयोग प्राय: सम्पूर्ण उपमान वाक्य की अपेक्षा रखता है। विश्वनाथ ने वाचक पदो का पद तथा वाक्य-विन्यास की दृष्टि से विस्तृत विवेचन किया है।[१] समासोक्ति आदि अलङ्कारो मे उपमेय के साथ ऐसे विशेषण पद का प्रयोग वाञ्छनीय माना गया है, जो उपमान की व्यञ्जना मे सहायक हों। परिकर तथा परिकराङ्कुर का स्वरूप ही साभिप्राय विशेषण तथा साभिप्राय विशेष्य के प्रयोग पर आधृत है। विरोधाभास मे विरोधी अर्थ का आभास देने वाले पद-प्रयोग का कम महत्त्व नहीं। श्लेष मे अनेकार्थवाची पद-प्रयोग का ही चमत्कार रहता है। श्लेष के स्वरूप-विवेचन के क्रम में भारतीय अलङ्कारशास्त्र के आचार्यो ने इस तथ्य

१. द्रष्टव्य—विश्वनाथ, साहित्यदर्पण १०-१९ की वृत्ति

पर बड़ी सूक्ष्मता से विचार किया है कि किस प्रकार एक शब्द में एकाधिक अर्थ श्लिष्ट रह सकते है। यह भाषा का मान्य सिद्धान्त है कि एक शब्द एक समय एक ही अर्थ का बोध कराता है।[1] अब प्रश्न है कि श्लेष मे एक शब्द अभङ्ग या सभङ्ग रूप मे अनेकार्थ का वाचक कैसे बन जाता है? इस प्रश्न के उत्तर मे अभङ्ग पदश्लेष में 'जतुकाष्ठ न्याय' (काठ मे ससक्त लाह का न्याय) तथा सभङ्ग पद श्लेष मे 'एक वृन्तगत फलद्वय न्याय' (एक डाल पर लगे दो फल का न्याय) से अनेक अर्थों के ससक्त रहने की कल्पना की गयी है; जिसका हमने अपरत्र स्पष्टीकरण किया है। भाषा में शब्द के अर्थ-बोध कराने की शक्ति की दृष्टि से यह विचार उपयोगी है।

भारतीय अलङ्कारशास्त्र के आचार्यों ने अलङ्कार के शब्दगत, अर्थगत तथा शब्दार्थोभयगत भेद स्वीकार किये है। अनुप्रास, यमक आदि शब्द के अलङ्कार माने गये है तो उपमा, रूपक आदि अर्थ के। श्लेष शब्दगत अलङ्कार भी है और अर्थगत भी। इस प्रकार श्लेष के दो अलग-अलग स्वरूप ही मान लिये गये है। कुछ अलङ्कार एक ही साथ शब्द और अर्थ—दोनो के अलङ्कार माने गये है। हम यह देख चुके है कि काव्य के स्वीकृत अलङ्कारो को शब्दगत, अर्थगत आदि वर्गो में विभाजित करने के प्रश्न पर आचार्यों मे मतभेद रहा है; पर अधिकांश आचार्यों ने अलङ्कार का शब्द-अर्थ के आधार पर विभाजन करने का सिद्धान्त एक मत से स्वीकार किया है। भाषाशास्त्रीय दृष्टि से अलङ्कार के शब्दार्थगत भेद का औचित्य विचारणीय है। भाषा मे शब्द और अर्थ का अविभाज्य सम्बन्ध माना जाता है। अर्थहीन शब्द का भाषा में कोई महत्त्व नही और शब्द के बिना अर्थ का व्यवहार सम्भव नही। भारतीय विचारको ने वाणी और अर्थ को शिव और शक्ति की तरह परस्पर सम्पृक्त माना है।[2] अब प्रश्न है कि शब्दार्थ के परस्पर सम्पृक्त होने का सिद्धान्त मान लेने पर शब्द और अर्थ के अलग अलग अलङ्कारो की कल्पना

---

१. (क) एकः शब्दः सकृदेकमेवार्थं गमयते।—परिभाषेन्दुशेखर,
(ख) शब्दोविवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि।
—कुन्तक, वक्रोक्तिजी० १-९

२. वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥ कालिदास, रघुवंश १,१
अर्थः शम्भुः शिवा वाणी।—लिङ्गपुराण। तथा—
शब्दजातमशेषं तु धत्ते शर्वस्य वल्लभा।
अर्थरूपं यदखिलं धत्ते मुग्धेन्दुशेखरः॥—वायुपुराण

में क्या औचित्य होगा ? शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार की प्रकृति की परीक्षा करने से भी यह बात स्पष्ट हो जाती है कि न तो शब्दालङ्कार ही सर्वथा अर्थनिरपेक्ष होते हैं और न अर्थालङ्कार ही सर्वथा शब्दनिरपेक्ष। यमक में सार्थक पद की आवृत्ति होने पर आवृत्त पद मे अर्थ-भेद आवश्यक माना जाता है। लाटानुप्रास मे शब्द और अर्थ की तात्पर्य-भेद से आवृत्ति आवश्यक मानी जाती है। अर्थालङ्कारो में भी समासोक्ति में अन्यार्थ-व्यञ्जक समान विशेषण पद के प्रयोग का विचार, परिकर मे साभिप्राय विशेषण के प्रयोग का विचार, प्रश्नोत्तर में समान वाक्य से प्रश्न एवं उत्तर के बोध का विचार तथा दीपक मे स्थान-नियम से उभयार्थ द्योतक पद के प्रयोग का विचार इस बात के प्रमाण है कि अर्थालङ्कार शब्द-निरपेक्ष अर्थमात्र के ही अलङ्कार नही है; उनकी प्रकृति शब्द-सापेक्ष भी है। उपमा के एक भेद समानोपमा की प्रकृति तो अर्थ की अपेक्षा शब्द पर ही अधिक निर्भर है। 'सकलकल पुरं चन्द्र इव' मे केवल समान विशेषण के आधार पर चन्द्रमा और नगर मे उपमानोपमेय भाव की कल्पना के मूल में शब्दमात्र का चमत्कार है। अन्यथा नगर और चन्द्रमा मे क्या साम्य ? न रूप का, न प्रभाव का। दोनो में साम्य केवल इतना है कि दोनो का विशेषण समान है—दोनो सकलकल है, भले ही दोनो के पक्ष मे 'सकलकल' विशेषण का अर्थ अलग-अलग हो। नगर 'सकलकल' है इसलिए कि वह कलकल अर्थात् कोलाहल से युक्त है और चन्द्रमा 'सकलकल' है इस लिए कि वह अपनी सकल कलाओ से युक्त है। स्पष्टतः 'सकलकल' विशेषण की समता के आधार पर नगर की चन्द्रमा के साथ उपमा में उस विशेषण की अर्थगत समता का विचार नहीं किया गया है, केवल शब्दगत समता के ही आधार पर उपमानोपमेय भाव की कल्पना की गयी है। स्पष्ट है कि अलङ्कारो का शब्दार्थ विभाग तात्त्विक नही, व्यावहारिक मात्र है। अतः, अलङ्कारो के शब्दगत तथा अर्थगत विभाजन को देखकर यह मान लेने की भ्रान्ति नही होनी चाहिए कि यह विभाजन शब्द और अर्थ के पार्थक्य की धारणा पर आधृत है। मम्मट ने इस प्रकार के विभाजन का मूल सिद्धान्त स्पष्ट करते हुए यह मान्यता व्यक्त की है कि अलङ्कार में शब्द और अर्थ; दोनो का विचार रहने पर भी अन्वय और व्यतिरेक के सिद्धान्त के आधार पर शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार का निर्धारण किया जाता है। जहाँ अलङ्कार-विशेष के अस्तित्व के लिए शब्द-विशेष का प्रयोग आवश्यक हो और उस शब्द के स्थान पर उसका पर्यायवाची शब्द रखने पर अलङ्कार का

अस्तित्व मिट जाता हो, वहाँ अलङ्कार शब्दगत माना जायगा। कारण यह है कि ऐसी स्थिति मे वह अलङ्कार मुख्यतः शब्द-सापेक्ष माना जायगा। पर्यायवाची शब्द का प्रयोग तो मूल शब्द का अर्थबोध करा ही देता है, फिर भी अलङ्कार की सत्ता के लुप्त हो जाने का तात्पर्य यह होता है कि उस अलङ्कार का अस्तित्व शब्द-विशेष पर अवलम्बित है, उसके अर्थ पर नही। जहाँ शब्द-विशेष का उसके पर्यायवाची शब्द से परिवर्तन होने पर भी अलङ्कार की सत्ता अक्षुण्ण रहे, वहाँ अलङ्कार को मुख्यतः अर्थ-सापेक्ष मानकर अर्थालङ्कार के रूप मे स्वीकार किया जाता है।[१] निष्कर्ष यह कि शब्द तथा अर्थ के चमत्कार की प्रधानता के आधार पर ही शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार वर्ग की कल्पना की गयी है। यह कल्पना शब्द और अर्थ को परस्पर सम्पृक्त मानने वाले सिद्धान्त को खण्डित नही करती।

अलङ्कार शब्द और अर्थ के उपस्कारक माने जाते है। अनुप्रास, यमक आदि में समान वर्ण, पद आदि की आवृत्ति होने से विशेष प्रकार का ध्वनि-प्रभाव उत्पन्न होता है, तो उपमा आदि अलङ्कारों मे वर्ण्य अर्थ के रूप, गुण, प्रभाव आदि का उत्कर्ष-साधन होता है। सादृश्य मूलक उपमा, रूपक आदि में जब प्रस्तुत अर्थ के मेल मे कोई अप्रस्तुत अर्थ रखा जाता है तब उस अप्रस्तुत का मन मे जगने वाला प्रभाव प्रस्तुत के प्रभाव को उपस्कृत कर देता है। विरोधमूलक अलङ्कारो मे भी विरोधमुखेन उपस्थापित अर्थ वर्ण्य वस्तु मे विशेष चमत्कार ला देता है। अतिशयमूलक आदि अलङ्कारों का भी उद्देश्य वर्ण्य पदार्थ का उत्कर्ष ही होता है। जो अलङ्कार वर्ण्य वस्तु में उत्कर्ष न ला सके, उनकी काव्य मे कोई उपयोगिता नही। कोई उक्ति अपने-आप मे अलङ्कार नही। उसके अलङ्कारत्व का निर्णय काव्य मे अर्थ के उपस्कार की दृष्टि से ही होना चाहिए। मम्मट आदि आचार्यो ने यह स्पष्ट कर दिया है कि अलङ्कार प्रस्तुत भाव-बोध मे उत्कर्ष ला सकते है; पर कही-कही वे भाव-बोध मे बाधक भी हो जाते है और कही-कही तटस्थ रह जाते है; अर्थात् न तो भाव-बोध मे उत्कर्ष ही लाते है न अपकर्ष ही।[२] यह तो हुआ काव्य में अर्थबोध के उत्कर्ष-साधन की दृष्टि से अलङ्कारो की प्रकृति पर विचार। भाषा की दृष्टि से

१. इह दोषगुणालङ्काराणा शब्दार्थगतत्वेन यो विभागः स अन्वय-व्यतिरेकाभ्यामेव व्यवतिष्ठते।—मम्मट, काव्यप्रकाश ९ पृ० २११-१२

२. उपकुर्वन्ति तं सन्त येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः॥—वही, ८, ६७

शब्दार्थ बोध मे अलङ्कार की उपयोगिता पर विचार कर लेना वाञ्छनीय होगा। इस सन्दर्भ मे यह निर्देश कर देना आवश्यक है कि जहाँ एक ओर भारतीय-अलङ्कार-शास्त्र मे शब्दार्थ के उपस्कार की दृष्टि से अनेक अलङ्कारो की प्रकृति पर विचार किया जा रहा था, वहाँ दूसरी ओर दर्शन और व्याकरण मे केवल शब्दार्थ बोध की दृष्टि से भी अलङ्कार के मूलभूत तत्त्व पर विचार किया जा रहा था। उपमा, महत्त्व की दृष्टि से, अलङ्कारो मे प्रथम है। अनेक आचार्यो ने—जिनमे वामन, अभिनव, अप्पय्य दीक्षित जैसे समर्थ आचार्य भी सम्मिलित हैं—समग्र अलङ्कार-प्रपञ्च को उपमा नटी का ही विलास मान लिया है।[1] शृङ्खला आदि पर आधृत अलङ्कारो की सत्ता स्वीकृत हो जाने पर भी उपमा की प्रधानता सर्वमान्य है। दर्शन मे उपमान को प्रमा का—तत्त्वज्ञान का—साधन मानकर उसके स्वरूप का विवेचन किया गया है। व्याकरण मे भी ज्ञान के साधन के रूप मे ही उपमान का निरूपण किया गया है। उपमान ज्ञात वस्तु से सादृश्य के आधार पर अज्ञात को जानने मे सहायक होता है। गवय (नील गाय) गाय जैसी होती है, यह कहने से गाय से परिचित व्यक्ति उसके सदृश गवय का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। ऐसी स्थिति में जब वह पहली बार गवय को देखता है तो गाय से सादृश्य के कारण बिना बताये भी वह गवय को पहचान लेता है।

अर्थ-बोध में उपमान बहुत सहायक हुआ करता है। कभी-कभी तो उपमान अर्थ-बोध का अनिवार्य आधार भी बन जाता है—विशेषत: तब, जब ज्ञेय वस्तु अमूर्त होती है। मनुष्य की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह किसी अपरिचित नवीन वस्तु को अपनी परिचित वस्तु के सन्दर्भ मे ही जानने का प्रयास करता है। जब किसी को कोई व्यक्ति किसी नवीन वस्तु के विषय मे बताना चाहता है तो वह यह प्रयास करता है कि वह वस्तु को इस प्रकार उपस्थित करे कि वह उस व्यक्ति की किसी ज्ञात वस्तु के मेल मे हो और इस प्रकार उसे ज्ञात वस्तु से सादृश्य आदि के आधार पर नवीन वस्तु को समझने

---

१. (क) प्रतिवस्तुप्रभृतिरुपमाप्रपञ्च.—वामन, काव्याल० सूत्र ४, ३, १

(ख) उपमाप्रपञ्चश्च सर्वोऽलङ्कार इति विद्वद्भि: प्रतिपन्नमेव।
—ना० शा० अ० भा० पृ० ३२१

(ग) उपमैका शैलूषी सम्प्राप्ता चित्रभूमिकाभेदान्।
रञ्जयति काव्यरङ्गे नृत्यन्ती तद्विदां चेत:॥
—अप्पय्य दीक्षित, चित्रमीमासा पृ० ६

मे सुविधा हो। स्थान, काल आदि की दीर्घता को नापने के लिए बहुधा परिचित वस्तुओं का सहारा लिया जाता है—उँगली, हाथ, डग आदि से स्थान की दूरी नापने की प्रवृत्ति इस बात का प्रमाण है। कोस (संस्कृत-क्रोश, जो नाप की एक इकाई है) को भी कुछ भाषाविदो ने इसी प्रवृत्ति से आविर्भूत माना है। सम्भव है कि क्रोश (चिल्लाहट) के फैलने की दूरी की धारणा धीरे-धीरे स्थान की नाप की एक निश्चित इकाई की धारणा मे बदल गयी हो। लम्बाई के लिए ताल, शृङ्ग आदि का प्रयोग बहुलता से हुआ करता है। ताल-सा लम्बा-जैसे पदों का प्रयोग लोक-व्यवहार में सदा हुआ करता है। काल की दीर्घता को नापने के लिए पल, निमेष आदि पदो का प्रयोग, परिचित वस्तु से अपरिचित या अमूर्त वस्तु को निश्चयात्मक रूप से समझने की प्रवृत्ति का प्रमाण है। काल की दीर्घता को मूर्त रूप देने के लिए कई लौकिक वस्तुओ का सहारा लोक तथा काव्य मे लिया जाता है। 'जाने के समय प्रिय जो वृक्ष लगा गया था, वह फूलने-फलने लगा, पर अभी तक वह लौट कर नही आया' इस प्रकार की उक्ति मे वृक्ष का बढ़ना, फूलना-फलना; इस परिचित वस्तु से प्रवास-काल की दीर्घता को निश्चयात्मक रूप प्रदान किया जाता है। कभी-कभी तो काल से स्थान की दीर्घता तथा स्थान से काल की दीर्घता को भी समझने-समझाने का प्रयास किया जाता है। 'दो मिनट का रास्ता', 'गाडी से पाँच मिनट की दूरी' आदि कहने से स्थान की दूरी का निश्चित बोध हो सकता है। इसी प्रकार 'यहाँ से अमुक स्थान पहुँचने मे जितना समय लगता है उतना समय' ऐसे कथन मे स्थान से काल की दीर्घता को नापने का प्रयास किया जाता है। आदिम युग में काल, स्थान आदि की दीर्घता को नापने के लिए ये ही साधन थे। आज अनेक वैज्ञानिक साधनो का आविष्कार हो जाने पर भी व्यवहार में ऐसी उक्तियों का सहारा लिया जाता है और काव्य में भी ऐसी उक्तियों का चमत्कार-पूर्ण प्रयोग हुआ करता है।

अमूर्त भाव, स्वाद, वर्ण आदि के स्वरूप को ठीक-ठीक समझने के लिए परिचित उपमान सहायक ही नही, अनिवार्य भी हो जाते हैं। अमूर्त भावो को इन्द्रिय-ग्राह्य बनाने के लिए उनके विभिन्न वर्णों की कल्पना कर ली गयी है। रति के लाल वर्ण, हास के शुभ्र वर्ण आदि की कल्पना परिचित वर्ण से उनके निश्चित स्वरूप को समझने के प्रयास का परिणाम है। खट्टा, मीठा आदि स्वाद का सामान्य अर्थ-बोध कराने वाले शब्द है। ऐसे स्वाद

को विशिष्ट रूप देने के लिए परिचित वस्तुओ का सहारा लेना अनिवार्य हो जाता है। खट्टी नारङ्गी की खटाई का बोध कराने के लिए 'नीबू-सा खट्टा' का प्रयोग किया जाता है। किसी मीठी वस्तु को मिसरी या गुड के समान मीठी कहने मे उसकी मिठास को परिचित वस्तु की मिठास से तुलना कर विशिष्ट रूप देने का प्रयास रहा करता है। बोलियो मे 'खट्टा चुक्क' अर्थात् नीबू के रस से बने चूक के समान बहुत खट्टा आदि का प्रयोग ऐसा ही प्रयास है। किसी परिचित वस्तु के स्वाद से तुलना किये बिना खट्टा, मीठा आदि कहने का कोई निश्चित अर्थ-ग्रहण नही किया जा सकता। वर्णो के लाल, पीला, नीला, हरा, काला, उजला आदि जो नाम है, वे तत्तत् वर्णो का केवल सामान्य रूप ही बताते है। किसी एक वर्ण के अनेक स्वरूपो को निश्चित रूप में निर्दिष्ट करने के लिए किसी परिचित वस्तु के वर्ण को उपमान के रूप मे लाना आवश्यक होता है। इसी क्रम मे लाल-टेसू, लाल-बिम्ब, लाल-मजीठ आदि का प्रयोग किया जाता है। टेसू, बिम्ब आदि उपमान ही लाल के विशिष्ट रूप का बोध कराते है। अनेक वर्णो के तो नाम भी उसके समान परिचित वस्तु के आधार पर ही रखे गये है। नारङ्गी के वर्ण के समान वर्ण को नारङ्गी रङ्ग, बैंगन के समान रङ्ग को बैंगनी रङ्ग आदि कहा जाने लगा है। मोर वर्ण, मटमैला रङ्ग, धानी रङ्ग, आसमानी रङ्ग, गुलाबी रङ्ग, सिन्दूरी रङ्ग, टमाटर रङ्ग आदि विभिन्न रङ्ग है, जिनका नामकरण परिचित वस्तु के रङ्ग के सादृश्य के आधार पर हुआ है। अगरेजी मे Snow white Bottle green, feather brown, orange, cream, आदि वर्ण भी तत्तत् परिचित वस्तुओं के रङ्ग के आधार पर ही व्यवहृत हुए हैं। इन प्रयोगो पर विचार करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मूलतः ऐसे पद अलङ्कार के रूप मे प्रयुक्त हुए होगे। (इस बात से कोई अन्तर नही पडता कि इन अलङ्कारो का प्रयोग लोक-मुख मे हुआ या काव्य मे।) लाल टेसू मे टेसू उपमान है और उस पद का अर्थ है पलास के फूल के समान लाल। ऐसे प्रयोग इतनी अधिक मात्रा में होने लगे कि अब इस बात पर लोगो का ध्यान भी नही जाता कि लाल-टेसू, लाल-बिम्ब जैसे प्रयोग अलङ्कृत प्रयोग है और उपमानोपमेय भाव पर आधृत है।

बहुत-से अलङ्कृत प्रयोग व्यवहार मे घिसते-घिसते सामान्य उक्तिमात्र बनकर व्यवहृत होने लगते है। उनके मूल मे निहित अलङ्कार पर किसी का ध्यान भी नही जाता। नर-केशरी, नर-पिशाच, कुलाङ्गार, कुलभूषण, कुल-कलङ्क आदि असंख्य प्रयोग बोल-चाल में प्रयुक्त होते है। वक्ता ऐसे

पदो का प्रयोग करने के समय इस बात पर ध्यान नही देता कि वह अलङ्कार का प्रयोग कर रहा है। उक्त वाक्यो मे केशरी, पिशाच, अङ्गार, भूषण, कलङ्क आदि उपमान है, जो नर, कुल आदि वर्ण्य वस्तुओ के साथ प्रयुक्त है। ऐसे प्रयोग लोक-व्यवहार तथा काव्योक्तियो में समान रूप से पाये जाते है। अब यह निर्णय कौन कर सकेगा कि ऐसे प्रयोग लोक-व्यवहार से काव्य की उक्ति मे आये या पहले कवि-कल्पना से उद्भूत होकर लोक-मुख मे व्यवहृत होने लगे? इतना निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि भाषा में—चाहे वह लोक-भाषा हो या काव्य की भाषा—अलङ्कार का प्रयोग जाने-अनजाने होता ही रहा है। कही प्रतिपाद्य अर्थ को अधिक प्रभावपूर्ण और रमणीय बनाने के लिए सायास अलङ्कार की योजना की जाती है, कही अर्थ के स्पष्टीकरण के क्रम मे अलङ्कार के विना अर्थ का ठीक-ठीक ग्रहण सम्भव नही होने पर अलङ्कार का विधान किया जाता है तो कही-कही प्रस्तुत वस्तु के वर्णन के क्रम मे उसके साथ अतिशय सादृश्य आदि के कारण अनायास ही कोई अप्रस्तुत वस्तु वर्णन करने वाले के सामने आ जाती है और वह प्रस्तुत से मिलकर अलङ्कार का विधान कर देती है।

लोक-भाषा और काव्य-भाषा की उक्तियो के बीच कोई स्थिर विभाजक रेखा नही खीची जा सकती। लोकोक्तियो के साथ भा मानव-हृदय का रागात्मक सम्बन्ध रहता है। अत., ऐसी उक्तियो में भी रसात्मकता आ जाती है और वे उक्तियाँ काव्योक्तियों की तरह सुन्दर बन जाया करती है। कवि लोकोक्तियो को काव्य मे ग्रहण करते है। अलङ्कार के कुछ आचार्यो ने लोकोक्ति को काव्य का एक अलङ्कार भी माना है।[१] लोकोक्ति को अलङ्कार मानने मे दो मत हो सकते है, पर इस तथ्य मे मतभेद का अवकाश नही कि असख्य उक्तियाँ लोक-व्यवहार से काव्य मे ली जाती है। काव्य की उक्तियाँ भी जब बहुत प्रसिद्ध हो जाती है तब लोक-मुख मे उनका निर्बाध व्यवहार होने लगता है। इस प्रकार काव्योक्ति और लोकोक्ति मे पारस्परिक आदान-प्रदान चलता रहता है। लोक-विश्वास तथा लोक की उक्तियो के आधार पर कितने ही महान् कवियो ने अनेक सुन्दर कल्पनाएँ की है। मेघ के गर्जन से छत्रक का आविर्भाव होता है और उसके आविर्भाव से धरती उर्वरा होती है,

---

१. जयदेव, अप्पय्य दीक्षित आदि आचार्यो ने लोकोक्ति को अलङ्कार माना है। उन्होने छेकोक्ति का भी आधार लोकोक्ति को ही माना है।

—द्रष्टव्य, कुवलयानन्द, ९०-९१

इस लोक-विश्वास के आधार पर कालिदास ने मेघदूत मे एक सुन्दर कल्पना की है।[1] तात्पर्य यह कि न तो काव्योक्ति और लोकोक्ति का स्पष्ट भेद सम्भव है और न यह निर्णय सम्भव है कि काव्य और लोक मे समान रूप से प्रयुक्त अलङ्कार पहले काव्य मे कल्पित हुए या लोक-व्यवहार मे। स्त्रियों के पदाघात से अशोक का पुष्पित होना, हंस का नीर-क्षीर-विवेकी होना आदि कविप्रसिद्धियाँ तथा उन पर आधृत अनेक अलङ्कार कवि-कल्पना से प्रसूत होकर लोक मे प्रसिद्ध हुए या लोक-व्यवहार मे उत्पन्न होकर काव्य मे गृहीत हुए, इस बात का निर्णय कठिन ही नही, असम्भव है।

भाषा मे लाघव के लिए भी अलङ्कार का प्रयोग किया जाता है। किसी परिचित वस्तु के साथ वर्ण्य वस्तु की तुलना कर देने से उस परिचित वस्तु के प्राय· सभी विशिष्ट गुणो की कल्पना प्रमाता वर्ण्य वस्तु मे कर लेता है। इस प्रकार वर्ण्य वस्तु के अनेक गुणो के अलग-अलग वर्णन की आवश्यकता नही रह जाती। किसी के व्यक्तित्व का वर्णन करने के क्रम में यदि उसे 'ऋषि तुल्य' कह दिया जाता है तो ऋषि के धीर, प्रशान्त, निस्पृह, करुणामय व्यक्तित्व का प्रभाव जगकर उस वर्ण्य व्यक्ति के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में वैसी ही धारणा जगा देता है। व्यक्ति के बहुत विस्तृत वर्णन से उसके व्यक्तित्व के सम्बन्ध मे जो धारणा बन पाती, वह धारणा एक उपमान सक्षेप में ही उत्पन्न कर देता है। किसी को बालक-सा या विक्षिप्त-सा आचरण करने वाला कह देने मात्र से बालक या विक्षिप्त के अनेक आचरणों का आरोप श्रोता उसपर कर लेते है। पौराणिक या ऐतिहासिक उपमान संक्षेप में अर्थ की अभिव्यक्ति की दृष्टि से बहुत उपादेय सिद्ध होते है। पुराण, इतिहास के तत्तत् पात्रों के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में लोगों के मन मे एक निश्चित धारणा रहा करती है, जिसका आधार उन पात्रो का सम्पूर्ण जीवन-वृत्त हुआ करता हैं। अत., जब किसी व्यक्ति के लिए इतिहास-पुराण के किसी पात्र को उपमान बनाया जाता है तो उस पात्र के सम्बन्ध में लोगो की सम्पूर्ण धारणा वर्ण्य व्यक्ति के साथ भी सम्बद्ध हो जाती है। 'यह दूसरा युधिष्ठर है' इस

---

१. कर्त्तुं यच्च प्रभवति महीमुच्छिलीन्ध्रामवन्ध्या
तच्छ्रुत्वा ते श्रवणसुभग गर्जित मानसोत्काः।
आकैलासाद्विसकिसलयच्छेदपाथेयवन्तः
सम्पत्स्यन्ते नभसि भवतो राजहंसाः सहायाः॥
—कालिदास, मेघदूत, पूर्व, ११

प्रकार के कथन से युधिष्ठिर की सत्यवादिता, सहिष्णुता आदि की जो धारणा जन-साधारण के मन मे पहले से रहती है, वह जाग्रत हो जाती है और वर्ण्य व्यक्ति के सम्बन्ध मे भी वैसी ही धारणा उत्पन्न हो जाती है। दधीचि, शिवि, कर्ण आदि का उपमान उनकी अमित दानशीलता का बोध उत्पन्न कर वर्ण्य व्यक्ति मे भी दानशीलता के असाधारण गुण का बोध कराता है। कस, रावण आदि के साथ क्रूरता, अनाचार आदि का भाव प्रधानतः सम्बद्ध है। अतः, ऐसे उपमान सक्षेपत. वर्ण्य व्यक्ति के क्रूर, अनाचारी रूप को श्रोता की कल्पना-दृष्टि के सामने मूर्त कर देते है। यह ध्यातव्य है कि इतिहास-पुराण के पात्रो के अनेक गुणो मे से प्रधानता के आधार पर जो मुख्य धारणा जन-सामान्य की रहती है, उसी धारणा को वे उपमान जगा पाते है। रावण तेजस्वी, ज्ञानी और ईश-भक्त भी था; पर भारतीय पाठको के मन मे उसके अनाचार की ही धारणा मुख्य है। अत., 'यह रावण जैसा है' यह कहने से रावण के समान दुराचारी का ही बोध लोगो को होता है। बालक, विक्षिप्त आदि उपमान भी उनके प्रधान आचार का ही बोध कराते हैं, व्यवहारगत विविधता का नही। अतः, बालक निष्कपट, अबोध व्यवहार का बोधक बन जाता है तो विक्षिप्त सामान्य रूप से विवेकहीन, असङ्गत व्यवहार का। इतिहास-पुराण के पात्र, घटना आदि का जहाँ उपमान के रूप मे प्रयोग किया जाता है, उसके अर्थ को ठीक-ठीक समझने के लिए यह आवश्यक है कि पाठक को उपमानभूत पात्र, घटना आदि का सम्यक् ज्ञान रहे। अन्यथा उपमान के सम्बन्ध में ही वह कोई निश्चित धारणा नही बना सकेगा, उसके आधार पर उपमेय के सम्बन्ध मे धारणा बनाने की तो बात ही दूर रहे।

लोक और काव्य मे प्रयुक्त अलङ्कार युगविशेष की सास्कृतिक एव नैतिक दशा तथा लोक-विश्वास आदि के अध्ययन मे भी सहायक हो सकते है। भाषा के आधार पर किसी जाति की लुप्त सस्कृति-सभ्यता का इतिहास-निर्माण भाषा शास्त्र का एक अङ्ग है, जो अधिक विकसित नही हो पाया है। भाषा मे प्रयुक्त अलङ्कार युगविशेष मे वस्तुविशेष के प्रति लोगों की सामान्य धारणा तथा अन्य युग मे उस वस्तु के प्रति बदलते हुए दृष्टि-कोण का भी सङ्केत देते है। उदाहरणार्थ; तुलसी दास ने भरत की ग्लानि का वर्णन करते हुए उनसे कहलाया है—

जेहि परिहरि हरि हर चरण, भर्जाहि भूतगन घोर ।
तेहि कइ गति मोहि देउ बिधि, जौं जननी मत मोर ।।[१]

यहाँ भूत आदि की साधना करने वाले औघट साधुओ के प्रति कवि का घृणा-भाव स्पष्ट है। यह तुलसी के समय औघटो के प्रति जन-सामान्य की अश्रद्धा का भी सङ्केत देता है; क्योकि यदि सामान्य पाठक में औघटों के प्रति घृणा-भाव न होता तो उक्त कथन का अलङ्कार अपेक्षित प्रभाव ही उत्पन्न नही कर पाता। जिन वामाचारी साधको के प्रति कभी (दसवी-ग्यारहवी शताब्दी मे) भारतीय समाज मे आदर का भाव रहा था, उनके प्रति धीरे-धीरे घृणा का भाव बढता गया। इस परिवर्तित दृष्टिकोण का स्पष्ट सङ्केत उक्त उदाहरण मे मिलता है। प्राचीन वाङ्मय मे प्रयुक्त अलङ्कारो के आधार पर ऐतिहासिक तथ्यो का निर्धारण तथा प्राचीन-नवीन साहित्य के समन्वित अध्ययन से उनमे प्रयुक्त अलङ्कारो के आधार पर सास्कृतिक विकास का अध्ययन एक स्वतन्त्र शोध का विषय हो सकता है।

कभी-कभी किसी जाति या वर्ग के सम्बन्ध मे लोगो की कोई धारणा बन जाया करती है। यह आवश्यक नही कि उस वर्ग या जाति के सभी व्यक्तियो मे समान गुण पाये ही जायँ, फिर भी लोगो के मन में उस वर्ग के लिए कुछ विशेष धारणा बन जाती है। उस धारणा के आधार पर भी अलङ्कार की योजना हो सकती है। लोक-व्यवहार मे सुन्दर और सुकुमार बालक-बालिका को राजकुमार-राजकुमारी के समान कहा जाता है। सभी राजकुमार सुन्दर और सुकुमार हो, यह आवश्यक नही; पर सामान्य रूप से राजकुमारो के सुन्दर एवं सुकुमार होने की धारणा लोगो ने बना ली है। इसी प्रकार शब्दशास्त्र, दर्शनशास्त्र तथा वेद आदि का अध्ययन करने वालो के सम्बन्ध मे लोगो की यह धारणा बन गयी है कि वे नीरस होते है। साहित्य के पाठको के सरस होने की धारणा लोगों के मन में रहती है। ऐसी धारणाओ के आधार पर काव्य मे भी शाब्दिक, तार्किक और वेदपाठी को नीरस व्यक्ति का उपमान बनाया जाता है।

अनेक अलङ्कारो का जन्म मनुष्य की इस स्वाभाविक प्रवृत्ति से होता है कि वह बात को सीधे न कहकर प्रकारान्तर से कहना चाहता है। कभी-कभी प्रकारान्तर से कही हुई बात मे सीधी बात की अपेक्षा अधिक तीव्रता आ जाती है। व्यङ्ग्य-वाण हृदय मे जितना चुभता है, उसकी तुलना में सीधे

---

१. द्रष्टव्य—रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड।

हुई बात का प्रभाव निश्चित रूप से कम होता है। प्रकारान्तर से कही बात से व्यञ्जित अर्थ का अपना सौन्दर्य होता है। मानस में तुलसी के ट ने राम से अटपटी वाणी में पाँव धोने की जो अनुमति माँगी, उसका दर्य पाँव धोने के प्रत्यक्ष अनुरोध मे आ ही नही पाता। विधिमुख से निषेध तथा निषेधमुख से विधि की प्रवृत्ति के बहुल उदाहरण लोक-भाषा मे भी पाये जाते है। काव्य मे आक्षेप आदि अलङ्कारो की योजना के मूल मे यही प्रवृत्ति है। अन्योक्ति या अप्रस्तुतप्रशसा आदि मे भी प्रकारान्तर से कथन की प्रवृत्ति ही अभिव्यक्त होती है।

भाषा मे प्रयुक्त वाक्यो के अर्थ का युक्तिसङ्गत होना आवश्यक माना जाता है। इस दृष्टि से व्याकरण मे वाक्य-योजना मे योग्यता, आकांक्षा तथा आसक्ति का विचार अपेक्षित माना गया है;[1] पर अलङ्कार मे कही-कही वाक्यार्थ की असङ्गति सायास दिखायी जाती है। आपातत दीखने वाली असङ्गति पर तो अनेक अलङ्कारो की कल्पना की ही गयी है, यौक्तिक सङ्गति के तात्त्विक अभाव मे भी पात्रौचित्य आदि के कारण अलङ्कारत्व की योजना की जा सकती है। प्रस्तुत के लिए असङ्गत अप्रस्तुत की योजना कर कवि किसी पात्र की प्रकृति को स्पष्ट रूप मे प्रस्तुत कर देता है। अलङ्कार में सदोष उपमान का प्रयोग हास की सृष्टि का भी अपेक्षित प्रभाव उत्पन्न करता है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है; 'मृच्छकटिक' का एक पात्र सस्थानक नायिका का जो उपमान देता है, वह सर्वथा असङ्गत है, फिर भी पात्रोचित होने के कारण उसे अलङ्कार माना जाता है। वह कहता है—तुम राम से भीत द्रौपदी की तरह क्यो भागी जा रही हो? जैसे हनुमान ने विश्वावसु की बहन सुभद्रा को पकडा, उसी तरह मै तुम्हे पकडता हूँ।[2] पात्रौचित्य के कारण काव्य की उक्तियाँ प्रभावोत्पादक हो जाती हैं। अतः, उचित सन्दर्भ मे पात्र की विशेष दशा की सूचना के लिए उस पात्र की भाषा में कवि सदोष उपमान की योजना करता है। इस कथन में कि 'जिस प्रकार महाभारत युद्ध में चाणक्य ने सीता को मारा, जटायु ने द्रौपदी को मारा, उसी प्रकार मैं तुम्हे मार

---

१. आसत्तिर्योग्यताकाक्षातात्पयज्ञानमिष्यते।—न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, शब्दखण्ड, कारिका ८२

२. शूद्रक, मृच्छकटिक, १, २५

प्रजा शब्द का विशेष प्रयोग राज्यवासी लोग के अर्थ मे ही होता है। सन्तान अर्थ मे उसका प्रयोग इतना कम हो गया है कि उस शब्द मे अर्थादेश की स्थिति स्पष्ट हो गयी है। सन्नद्ध, कुशल, प्रणाली आदि शब्दो के अर्थ-परिवर्तन का कारण भी अलङ्कार-प्रयोग ही जान पडता है। किसी कार्य के लिए प्रस्तुत होने वाले को आरम्भ मे अलङ्कृत रूप मे ही सन्नद्ध-सा (सन्नाह पहन कर युद्ध मे जाने के लिए प्रस्तुत-सा) कहा जाने लगा होगा। किसी की कार्य-विशेष मे पटुता देखकर उस पर कुश ले आने की पटुता रखने वाले (कुशल) का आरोप हुआ होगा। प्रणाली के मूल अर्थ नाला के सादृश्य के आधार पर रीति या ढग को आलङ्कारिक रूप मे प्रणाली कहा जाने लगा होगा। इस प्रकार उक्त शब्द आज सामान्य रूप से प्रस्तुत, पटु, रीति आदि के वाचक बन गये हैं। अलङ्कार-प्रयोग के कारण होने वाले अर्थ-परिवर्तन के असख्य उदाहरण पाये जा सकते है।

भाषा और अलङ्कार के सम्बन्ध पर इस दृष्टि से भी विचार कर लेना वाञ्छनीय होगा कि शब्दार्थ के परिवर्तन का अलङ्कार पर क्या प्रभाव पडता है। भाषा मे निरन्तर विकास होता रहता है। कितने ही प्राचीन शब्द लुप्त होते हैं, नवीन शब्द आविर्भूत होते हैं। किसी प्राचीन शब्द का मूल अर्थ छूट जाता है और नवीन अर्थ उसमें जुड जाता है। अर्थ और ध्वनि मे विकास की सतत प्रक्रिया भाषा मे चलती रहती है। भाषाशास्त्र के आचार्यो ने अर्थविकास की तीन प्रक्रियाओ—अर्थसङ्कोच, अर्थविस्तार तथा अर्थादेश—का निर्देश कर उस परिवर्तन के अनेक कारणो का उल्लेख किया है। ध्वनि-परिवर्त्तन के भी अनेक कारण निर्दिष्ट है। यहाँ उनका निर्देश अप्रासङ्गिक होगा। इतना सङ्केत ही यहाँ पर्याप्त होगा कि अर्थ-परिवर्तन के कारणों का प्रधान आधार मनोवैज्ञानिक है। शब्दविशेष के साथ मन मे अर्थविशेष का सम्बन्ध बना रहता है। कुछ कारणो से उस अर्थ के साथ अन्य अर्थ आ मिलते है, कुछ अर्थ छूट जाते है और अर्थ में परिवर्तन हो जाता है। असुर शब्द के साथ वैदिक युग मे करुणामय, तेजस्वी तथा उदात्त व्यक्तित्व का अर्थ लोगो के मन मे रहा होगा। तभी तो विष्णु की स्तुति मे ऋषियों ने 'असुर. पिता न' कहा था। असुर शब्द के अर्थ-परिवर्तन में—देवतावाची शब्द के राक्षसवाची शब्द बन जाने मे—मनोवैज्ञानिक कारण स्पष्ट है। अपने शत्रुओ के असुर (देवता) को शत्रु का सहायक समझ कर आर्यो के मन में शत्रु-पक्ष के असुर (शत्रुओ के देवता) के साथ क्षोभ, घृणा आदि का भाव अनजाने

आ मिला होगा। धीरे-धीरे वह गौण अर्थ बढता गया होगा और यह धारणा बन गयी होगी कि असुर शत्रु के उपास्य और सहायक हैं। वे आर्यों के प्रति क्रूर व्यवहार करते है। जब शत्रु के उपास्य असुर कहलाते हैं, जो आर्यों के लिए दुष्ट और क्रूर हैं तो आर्य अपने उपास्य को असुर कैसे कह सकते है? इस मनोवैज्ञानिक कारण से अनेक शब्दों मे अर्थ-परिवर्तन होता रहता है। किसी जाति के अनेक भेदों का सामान्य रूप से बोध कराने वाले शब्द प्राधान्य के आधार पर एक ही भेद के बोधक बन जाते है। उसके अर्थ का सङ्कोच हो जाता है और अन्य अर्थ छूट जाते है। अस्तु, प्रस्तुत सन्दर्भ मे हमारा विवेच्य यह है कि शब्द और अर्थ अलङ्कार के आधार है। अत, जब किसी कारण से शब्द-अर्थ में परिवर्तन हो जाता है तब उसपर आधृत अलङ्कार की स्थिति में परिवर्तन भी स्वाभाविक है। वैदिक भाषा में मृग शब्द पशु-मात्र का वाचक था। उससे वृषभ आदि वीर्यवान् पशु का भी बोध होता था। मृग शब्द के साथ भीषणता का गौण अर्थ भी तत्कालीन लोगो के मन मे रहा होगा। इसलिए 'मृगो नु भीमः' (पशु के समान भीषण) वैदिक काल की उपमा का एक उदाहरण है। आज जब मृग शब्द के अर्थ का सङ्कोच हो गया है और वह पशु की एक विशेष जाति के अर्थ का वाचक है तब 'मृगो नु भीमः' कथन मे कोई अलङ्कार नही रह गया है। आज लोगों के मन मे मृग (हरिण) के साथ कोमलता का बोध ससक्त है। अतः, मृग-सा भीषण कहने में न केवल अलङ्कार का अभाव माना जायगा वरन् इस प्रकार का कथन ही असङ्गत माना जायगा। वेद में 'पर्वतान् प्रकुपितान् स्थिरी चकार' इस कथन में कोई अलङ्कार नही था, क्योकि प्रकुपित का अर्थ अस्थिर होने से उक्त कथन का सरल तात्पर्य था 'चञ्चल पर्वत को स्थिर कर दिया।' आज प्रकुपित शब्द क्रुद्ध अर्थ में प्रयुक्त है। पर्वत के लिए प्रकुपित लाक्षणिक प्रयोग है। अतः, आज उक्त कथन, जिसका अर्थ होगा 'क्रुद्ध पर्वत को स्थिर या शान्त कर दिया' अलङ्कृत प्रयोग माना जायगा। इस प्रकार शब्द के अर्थ-परिवर्तन से उसके अलङ्कार लुप्त भी हो जाते हैं और कभी-कभी अनायास कोई अलङ्कार आ भी जाता है। भाषा की यह प्रकृति भी मम्मट आदि आचार्यों की इस धारणा का ही पोषण करती है कि अलङ्कार शब्दार्थ के अनित्य धर्म हैं। अर्थविशेष के सम्बन्ध मे लोगो की धारणा को वातावरण भी प्रभावित किया करता है। एक देश के वातावरण के अनुसार जिस वस्तु के सम्बन्ध में सुन्दर या असुन्दर होने की धारणा निहित रहती है,

उसी वस्तु के सम्बन्ध मे दूसरे देश के भिन्न वातावरण के अनुसार उससे भिन्न धारणा निहित रहा करती है। शीतल जलवायु वाले प्रदेश में सूर्य का प्रकाश सुखद होता है। अतः, उसमें जो सौन्दर्य-भावना निहित रहती है, उसको लेकर सूर्य के प्रकाश को प्रिया के सुखद स्पर्श या मनोरम हास का उपमान कल्पित किया जा सकता है, पर गर्म देश मे सूर्य के प्रखर ताप के सम्बन्ध मे भिन्न धारणा रहती है। अतः, वहाँ उसमें कोमल या सुखद वस्तु का उपमानत्व नही माना जा सकता। गोण्डा ने उपमानविशेष की धारणा मे देशगत भेद का निर्देश करते हुए, कहा है कि भारत में पूर्णचन्द्र को नारी के मुख का उपमान माना जाता है; पर योरोप मे आधुनिक काल मे नारी के मुख को चन्द्रमा-सा कहना हास्यास्पद हो जाता है।[1]

शब्दार्थ-धारणा ने अनेक काव्यालङ्कारो की प्रकृति को भी प्रभावित किया है। अलङ्कारो की सज्ञा को कुछ आचार्यों ने अन्वर्था सज्ञा माना है। अधिकाश अलङ्कारो के सम्बन्ध मे यह मान्यता उचित ही है। अलङ्कार-विशेष की सज्ञा के जहाँ एक से अधिक अर्थ उपलब्ध थे, वहाँ उनके आधार पर अलङ्कार की अलग-अलग प्रकृति की कल्पना स्वाभाविक ही थी। अप्रस्तुत-प्रशसा मे प्रशसा का अर्थ वर्णन मानकर 'अप्रस्तुत का वर्णन और उससे प्रस्तुतार्थ का भी बोध' उसका लक्षण माना गया है, लेकिन कुछ आचार्यों ने प्रशसा का अर्थ स्तुति स्वीकार किया और उन्होंने उसका लक्षण यह कर दिया कि अप्रस्तुत की प्रशसा, जिससे प्रस्तुत की निन्दा गम्य हो अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है।[2] व्याजस्तुति मे स्तुति के अर्थ के आधार पर निन्दा के व्याज से स्तुति तथा स्तुति के व्याज से निन्दा को उसका लक्षण माना गया था। कुछ आचार्यों को लगा कि उक्त दोनो रूपों का अर्थबोध कराने की क्षमता व्याजस्तुति शब्द में नही है; क्योंकि इस नाम से व्याज से (निन्दा के व्याज से) की जाने वाली

---

१. द्रष्टव्य—J. Gonda, Remarks on Similes In Sanskrit Literature.—पृ० ११९

२. अप्रस्तुतप्रशसा की दण्डी, भोज आदि के द्वारा प्रदत्त परिभाषा तथा जयदेव, अप्पय्य दीक्षित आदि के द्वारा प्रदत्त परिभाषा तुलनीय। दण्डी अप्रस्तुत की स्तुति तथा उससे प्रस्तुत की गम्य निन्दा को अप्रस्तुतप्रशसा मानते थे, पर अप्पय्य दीक्षित आदि अप्रस्तुत के वर्णन से प्रस्तुत के गम्य होने में अप्रस्तुतप्रशसा मानते है।—द्रष्टव्य, दण्डी, काव्यादर्श, २, ३४०-४२ तथा—
अप्पय्य दीक्षित, कुवलयानन्द, ६६

स्तुति मात्र का ही बोध हो सकता है। अत, यह दोनो रूपो तक व्याप्त हो सकने योग्य नाम व्याज उक्ति दूलह, रघुनाथ आदि आचार्यो ने सुझाया; पर यह मान्य नही हुआ। कुछ अलङ्कारो का नामकरण सादृश्य के आधार पर भी किया गया है। भाषा में स दृश्य अनेक शब्दो के स्वरूप को प्रभावित करता है। द्वादश के सादृश्य के आधार पर एकादश के स्वरूप का निर्माण इसका एक प्रमाण है। एक और दश के योग से एकादश की व्युत्पत्ति सामान्य दशा मे व्याकरण-सम्मत नही होती। एकादश मे 'आ' ध्वनि द्वादश के 'आ' के सादृश्य से आ गयी है। द्वादश मे द्वा (संस्कृत द्वि के लिए वेद का द्वा शब्द) और दश का योग होने पर 'आ' स्वभावतः रहता है। इसी आधार पर एक+दश एकादश बन गया होगा। भाषा में सादृश्य के अनेक उदाहरण पाये जाते है। अलङ्कार के क्षेत्र में भी सादृश्य का प्रभाव यत्र-तत्र स्पष्ट है। सस्कृत के आलङ्कारिकों ने भ्रान्तिमान् अलङ्कार के नाम में भ्रान्ति के मतुप् प्रत्ययान्त रूप का प्रयोग किया था। स्मृति, सन्देह आदि का मतुप्, वतुप प्रत्ययान्त प्रयोग आवश्यक नही माना गया था। हिन्दी-रीतिशास्त्र के दूलह आदि आचार्यों ने भ्रान्तिमान् के सादृश्य के आधार पर सन्देह के स्थान पर सन्देहवान् तथा स्मृति की जगह स्मृतिमान् सज्ञा का उल्लेख किया है। स्पष्ट है कि लोक-भाषा की तरह अलङ्कार भी सादृश्य आदि से प्रभावित होता रहा है।

अलङ्कार-सामान्य और भाषा के इस सम्बन्ध-निरूपण के उपरान्त अलङ्कार के विशिष्ट भेदो का शब्दार्थगत वैलक्षण्य की दृष्टि से अध्ययन अपेक्षित होगा। औपम्यगर्भ सभी अलङ्कारो मे उपमानोपमेय-भाव समान रूप से रहा करता है; पर सभी उक्ति-भङ्गियो का अपना-अपना वैशिष्ट्य होता है। अतिशयमूलक, विरोधमूलक, शृङ्खलामूलक आदि अलङ्कारो के सम्बन्ध में भी यही सत्य है। उनमे अतिशय, विरोध, शृङ्खला आदि का समान तत्त्व रहने पर भी अपना-अपना वैलक्षण्य रहता है और यह उक्तिगत विलक्षणता अनिवार्यतः शब्दार्थगत वैलक्षण्य का बोध कराती है। हम समान तत्त्व पर आधृत तथा आपातत. समान जान पड़ने वाले अलङ्कारो के पारस्परिक भेद पर एक स्वतन्त्र अध्याय मे विचार कर चुके है। यहाँ इस कथन के प्रमाण मे कुछ उदाहरणो का निर्देश ही पर्याप्त होगा। मुख और कमल के सौन्दर्य का साम्य अनेक प्रकार की उक्तियो से दिखाया जा सकता है—उसका मुख कमल के समान सुन्दर है (उपमा), उसका मुख कमल के समान सुन्दर है और कमल

उसके मुख के समान सुन्दर है (उपमेयोपमा), उसका मुख कमल से भी अधिक सुन्दर है (व्यतिरेक), कमल उसके मुख-सा सुन्दर है (प्रतीप), यह मुख नही, कमल है (अपह्नुति), उसका मुख-रूपी कमल देखो (रूपक), उसके मुख को कमल समझ कर उसके पास भौरे मँडरा रहे है (भ्रम), यह मुख है कि कमल (सन्देह) आदि। इन सभी उक्तियो मे कमल और मुख का सादृश्य विवक्षित है, पर अर्थ की दृष्टि से विचार करने पर एक उक्ति का अर्थ दूसरी उक्ति से कुछ विशिष्ट अवश्य है। उदाहरणार्थ, उपमा के उदाहरण मे मुख और कमल का सादृश्य-मात्र विवक्षित है; पर उपमेयोपमा के उदाहरण में दोनो के पारस्परिक सादृश्य की विवक्षा के साथ ही तृतीय वस्तु के सादृश्य-निषेध की भी विवक्षा है। मुख कमल के समान सुन्दर है—यह कथन मुख के अन्य उपमान का निषेध नही करता; पर मुख कमल के समान है और कमल उस मुख के समान, इस कथन का तात्पर्य यह होता है कि इन दोनो वस्तुओ के अतिरिक्त कोई अन्य वस्तु मुख के समान नही है। व्यतिरेक के उदाहरण मे सौन्दर्य के प्रतिमान से भी वर्ण्य मुख के सौन्दर्याधिक्य की विवक्षा है। अतः, उपमा से वह इस दृष्टि से भिन्न है कि जहाँ उपमा मे वर्ण्य का उपमान से सादृश्य-मात्र विवक्षित रहता है, वहाँ व्यतिरेक मे उसका आधिक्य उक्त रहता है। प्रतीप मे उलटकर प्रस्तुत वस्तु को ही उपमान और अप्रस्तुत को उपमेय बना दिया जाता है। इसमे भी वर्ण्य का गुणाधिक्य प्रतीत होता है, क्योकि उपमान मे गुणाधिक्य की धारणा निहित रहती है। व्यतिरेक की तरह प्रतीप मे वर्ण्य के गुणाधिक्य का प्रत्यक्ष निर्देश नही होता, फिर भी गुणाधिक्य की प्रतीति हो जाती है। उपमा और रूपक के उक्त उदाहरणो पर विचार करने से दोनों का यह भेद स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ उपमा मे मुख और कमल का भेद तथा सौन्दर्य की दृष्टि से अभेद; दोनो की तुल्य प्रधानता है, वहाँ रूपक के उदाहरण मे मुख और कमल मे भेद होने पर भी मुख पर कमल का आरोप हो जाने से अभेद की प्रधानता हो गयी है। सन्देह के उदाहरण मे दो वस्तुओ का सादृश्य अनिश्चयात्मक द्वैकोटिक ज्ञान के रूप मे दिखाया गया है तो भ्रान्तिमान् के उदाहरण मे सादृश्यातिशय का बोध मुख में तद्भिन्न वस्तु (कमल) के एककोटिक निश्चयात्मक ज्ञान के रूप में दिखाया गया है। सभी उक्तिभङ्गियों का पारस्परिक अर्थ-भेद भाषाशास्त्रीय अध्ययन की रोचक सामग्री है। हमने विभिन्न आलङ्कारिक उक्तिभङ्गियो की पारस्परिक सूक्ष्म भिन्नता पर स्वतन्त्र अध्याय मे विचार किया है।

यह भाषावैज्ञानिक तथ्य है कि एक कथ्य की अनेक अभिव्यक्तियाँ होती है तथा इसके विपरीत अनेक कथ्यो की एक अभिव्यक्ति भी होती है। भाषा की ये दोनो प्रकार की विशेषताएँ बहुधा आलङ्कारिक प्रयोग पर निर्भर रहती है। अत., अलङ्कारो के स्वरूप-निरूपण मे उक्ति तथा अर्थ के ऐसे अनेक विलक्षण सम्बन्धो का विचार किया जाता रहा है। श्लेष, समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशसा, अन्योक्ति, गूढोक्ति, गूढोत्तर आदि मे एक अभिव्यक्ति में अनेक कथ्यो के तथ्य पर विचार हुआ है, तो पर्यायोक्त आदि मे एक ही कथ्य की विलक्षण उक्तिभङ्गी पर विचार किया गया है। उसमें अभिधेय अर्थ को अभिधा से न कहकर व्यञ्जना-वृत्ति से कहा जाता है या व्यङ्ग्य अर्थ का अभिधा से कथन होता है। उसमे वाच्य तथा व्यङ्ग्य अर्थ मूलतः एक ही होता है, पर उसके कथन के प्रकार में भेद होता है।

निष्कर्षत., अलङ्कारो के स्वरूप मे भाषा की असख्य भङ्गिमाओं का अध्ययन होता रहा है। अतः, भाषा-विशेष की प्रकृति को परखने में उसके आलङ्कारिक प्रयोगो का अध्ययन सहायक होता है।

अलङ्कार और मनोभाव

भारतीय काव्यशास्त्र के आचार्यों ने अलङ्कार को मनोभाव के साथ प्रत्यक्षत सम्बद्ध न मानकर भावोत्कर्ष मे प्रकारान्तर से सहायक माना है। अलङ्कार काव्य के शरीरभूत शब्द-अर्थ के सौन्दर्य का उत्कर्ष कर परम्परया काव्यात्मभूत रस-भावादि का भी उपकार करते है। निश्चय ही रसाक्षिप्त या अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य अलङ्कार काव्य के बहिरङ्ग धर्म नही होते; वे काव्योक्ति मे अन्तरङ्ग भाव से मिले रहते है, पर इस तथ्य को भी अस्वीकार नही किया जा सकता कि कही-कही अलङ्कार भाव के बाधक भी बन जाते है। कठोर वर्णो का अनुप्रास अपने आप मे तो अलङ्कार है; पर रति के कोमल मनोभाव का उससे पोषण नही हो सकता। इसी दृष्टि से आचार्यों ने अलङ्कार को काव्य-सौन्दर्य का—भावोत्कर्ष का—अनित्य साधक माना है। प्रस्तुत अध्याय मे हम मनोभाव की दृष्टि से काव्यालङ्कार के स्वरूप पर विचार करेगे।

प्राचीन आलङ्कारिको ने अलङ्कार-विशेष का मनोभाव-विशेष के साथ नित्य सम्बन्ध नही माना था। जिन आचार्यों ने अलङ्कार को काव्य-सौन्दर्य का पर्याय मानकर रस-भाव आदि को भी अलङ्कार-विशेष के रूप मे निरूपित किया था उन्होने भी मनोभाव की दृष्टि से अलङ्कार का विषय-विभाग नही किया था। रसपेशल को रसवत् अलङ्कार मानने वाले दण्डी आदि आचार्यों ने एक ही अलङ्कार मे सभी रसो का—सभी मनोभावो का—समावेश मान लिया था। परवर्ती आचार्यो ने भी गुणीभूत रस-भाव आदि को सामान्य रूप से रसवत्, प्रेय आदि अलङ्कार कहा। उन आचार्यों ने चित्त की तीन वृत्तियाँ—द्रुति, दीप्ति और विकास—स्वीकार कर माधुर्य, ओज और प्रसाद

गुणो के साथ उनका क्रमिक सम्बन्ध माना और सभी रसो का इस दृष्टि से विषय विभाजन किया, पर चित्त की किसी विशेष वृत्ति के साथ किसी विशेष अलङ्कार का नित्य सम्बन्ध उन्होंने नही माना। हिन्दी-रीति-साहित्य के आचार्य राय शिवप्रसाद ने 'रसभूषण' मे विभिन्न अलङ्कारो का तत्तत् रसो के साथ सम्बन्ध जोडने का प्रयास किया था, पर वह सिद्धान्त मान्य नही हो पाया। प्रहर्षण, विषादन आदि अलङ्कारो का सम्बन्ध उल्लास, विषाद आदि के मनोभाव से अवश्य है, पर इस आधार पर विभिन्न अलङ्कारो का विभिन्न मनोभावो से नित्य सम्बन्ध नही जोडा जा सकता। आधुनिक मनोविज्ञान के सिद्धान्तो के प्रकाश मे कुछ समीक्षको ने विभिन्न अलङ्कारो के अर्थबोध मे मानसिक अवस्था-विशेष के निर्धारण का प्रयास किया है।

डॉ० नगेन्द्र ने अलङ्कारो के मनोवैज्ञानिक आधार का अन्वेषण करते हुए आचार्य भामह तथा दण्डी आदि की इस मान्यता का समर्थन किया है कि सभी अलङ्कारो का मूलाधार अतिशय का तत्त्व है। काव्योक्ति लोक-व्यवहार की उक्ति से—वार्त्ता से—भिन्न होनी ही चाहिए। अत, लोकातिशयत्व को भामह, दण्डी आदि आचार्यो ने काव्यालङ्कार का आधारभूत तत्त्व माना था। डॉ० नगेन्द्र की मान्यता है कि अलङ्कार-मात्र का आधारभूत तत्त्व अतिशय—भाव का अतिशय—है जिसके मूल मे मन का ओज रहा करता है।[1] इस प्रकार अलङ्कार-सामान्य का सम्बन्ध डॉ० नगेन्द्र ने मन के ओज से माना है। इस एक आधार से—जो शास्त्र-सम्मत है—आगे बढकर डॉ० नगेन्द्र ने फिर तीन आधारो की कल्पना समस्त अलङ्कारो के मूल मे की है। वे है—अतिशय, वक्रता और चमत्कार। भारतीय अलङ्कारशास्त्र मे अतिशय और वक्रता का प्रयोग पर्याय के रूप मे हुआ है। भामह ने अतिशयोक्ति के लिए ही वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग कर कहा था कि यह वक्रोक्ति (अतिशयोक्ति) सभी काव्योक्तियो का प्राणभूत तत्त्व है।[2] चमत्कार भी वक्रता या अतिशय से तत्त्वत. भिन्न नही। काव्यशास्त्र मे चमत्कार का प्रयोग लोकोत्तर आनन्द के अर्थ मे हुआ है। भट्ट नारायण ने इसी अर्थ मे चमत्कार को रस का सार कहा था। आनन्दवर्धन, अभिनव

१. डॉ० नगेन्द्र, रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० ८६

२. सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्या कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना॥
—भामह, काव्यालङ्कार, २, ८५

गुप्त, क्षेमेन्द्र, विश्वेश्वर आदि आचार्यों ने इसी अर्थ मे चमत्कार शब्द का प्रयोग किया है। विश्वेश्वर ने चमत्कार को आनन्द का पर्याय मान कर गुण, रीति, रस, अलङ्कार आदि को उसका हेतु माना है।[१] पण्डितराज जगन्नाथ ने 'रमणीय' शब्द के अर्थ का स्पष्टीकरण करते हुए उसे लोकोत्तर आह्लाद या चमत्कार से अभिन्न बताया है।[२] निष्कर्ष यह कि लोकोत्तरता या अतिशय, वक्रता एव चमत्कार मूलत अभिन्न माने गये है। पीछे चलकर सङ्कुचित अर्थ मे चमत्कार का प्रयोग सुखद विस्मय के अर्थ मे होने लगा है। डॉ० नगेन्द्र ने उक्त तीनो शब्दों के अर्थ के सम्बन्ध मे परम्परागत मान्यता की उपेक्षा कर किञ्चित् अर्थभेद के साथ उन शब्दों का प्रयोग किया है। वे बढा-चढा कर वर्णन को अतिशय, सीधे न कहकर घुमा-फिरा कर कहने को वक्रता और श्रोता को चमत्कृत अर्थात् विस्मय-विमुग्ध कर देने वाले बुद्धि-कौतुक को चमत्कार मानते है। यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि अतिशय सभी अलङ्कारों का मूलाधार मान लिया गया तो तीन आधारो की कल्पना करते हुए वक्रता, चमत्कार तथा अतिशय को अलग-अलग मूलाधार मानने मे क्या युक्ति होगी ? यदि तीनो को अलग-अलग मूलाधार मानकर समस्त अलङ्कारो को तीन वर्गो मे विभाजित किया जाय, तो अतिशयमूलक अलङ्कार-वर्ग में आने वाले कुछ अलङ्कारो का ही मूलाधार अतिशय को मानना पडेगा। ऐसी स्थिति मे अतिशय का विषय सीमित हो जायगा और यह मान्यता स्वतः खण्डित हो जायगी कि अनिशय सभी अलङ्कारो का मूलाधार है। इस प्रश्न का समाधान इस प्रकार सम्भव है कि अतिशय को सामान्य रूप से सभी अलङ्कारो का आधार तत्त्व मान लेने पर अनिशय, वक्रता और चमत्कार, इन तत्त्वो के आधार पर अलङ्कारो के वर्गीकरण मे उन तत्त्वो मे सामान्य-विशेष का सम्बन्ध माना गया है। अतिशय सामान्य रूप से सभी

---

१ चमत्कारस्तु विदुषामानन्दपरिवाहकृत्।
गुण रीति रस वृत्ति पाक शय्यामलङ्कृतिम्।
सप्तैतानि चमत्कारकारण ब्रुवते बुधा ॥—विश्वेश्वर, चमत्कार चद्रिका उद्धृत, राघवन, Some concepts of Alankarasastra पृ० २००

२ रमणीयार्थप्रतिपादक शब्द काव्यम्। रमणीयता च लोकोत्तराह्लाद-जनकज्ञानगोचरता। लोकोत्तरत्वं चाह्लादगत. चमत्कारापरपर्याय: अनुभवसाक्षिको जातिविशेष।—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ६

अलङ्कारो मे रहता है, पर उसके साथ कुछ अलङ्कारो मे चमत्कार रहता है और कुछ मे वक्रता तथा कुछ मे अतिशय-कथन। सामान्य रूप से सभी अलङ्कारो मे रहने वाले अतिशय का अर्थ है—लोकव्यवहार की उक्ति से काव्योक्ति को अलग करने वाली रमणीयता। अतिशय वर्ग के अलङ्कारो का मूल-तत्त्व बढा-चढाकर कथन है। पर इस युक्ति से भी सभी समस्याओ का समाधान नही हो पाता। अतिशय, वक्रता तथा उससे उत्पन्न चमत्कार को परम्परा से तत्त्वतः अभिन्न माना जाता रहा है। इन्हे अलग-अलग मानने मे पाठक का सस्कार बाधक हो सकता है।

और अधिक विस्तृत आधार का अन्वेषण करते हुए डॉ० नगेन्द्र ने अलङ्कारो के छह आधार स्वीकार किये है और उनका सम्बन्ध चित्त की छह अवस्थाओ से माना है। वे आधार है—साधर्म्य, अतिशय, वैषम्य, औचित्य, वक्रता और चमत्कार। इनका सम्बन्ध स्पष्टता, विस्तार, आश्चर्य, अन्विति, जिज्ञासा और कौतूहल की मनोदशा से माना गया है। इन छह आधारो मे से अतिशय, वक्रता और चमत्कार को मूलाधार मानने के औचित्य पर हम विचार कर चुके हैं। तीन नवीन आधार है—साधर्म्य, वैषम्य और औचित्य। साधर्म्य-मूलक अलङ्कारो का एक वर्ग भारतीय अलङ्कारशास्त्र मे प्राचीन काल से ही मान्य रहा है। वैषम्य, सम्भवतः, विरोध के स्थान पर नवीन शब्द का प्रयोग है। विरोध को भी अनेक अलङ्कारो का समान आधार आलङ्कारिको ने माना है। औचित्य को कुछ अलङ्कारो का मूलाधार मानने मे औचित्य शब्द का प्रयोग कुछ विशिष्ट एव सङ्कुचित अर्थ मे किया गया है। औचित्य के सम्बन्ध मे भारतीय अलङ्कारशास्त्र के पाठको की बडी व्यापक धारणा रही है। औचित्य काव्य के सभी तत्त्वो का प्राणभूत तत्त्व माना गया है। अनौचित्य काव्य के अनेक दोषो को जन्म देता है। औचित्य के अभाव मे गुण, अलङ्कार आदि के अस्तित्व की कल्पना भी नही की जा सकती। औचित्य को मूलाधार मानने में सम्भवतः डॉ० नगेन्द्र की दृष्टि में वे अलङ्कार थे, जो अनुरूप घटना तथा अनुक्रम आदि पर आधृत होते है। अनुक्रम या अनुरूपता आदि के लिए औचित्य-जैसे शब्द का, जिसे काव्यशास्त्र मे विशेष सङ्केत प्राप्त है, प्रयोग उचित नही जान पड़ता! उक्त छह आधारो पर वर्गीकृत अलङ्कारों का पूर्वोक्त छह मनोभावो से सम्बन्ध दिखाते हुए कहा गया है कि ऐसा करने के लिए (उक्ति को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए) हम सदृश लोकमान्य वस्तुओ से तुलना के द्वारा अपने कथन को स्पष्ट बना कर उसे

श्रोता के मन मे अच्छी तरह, बिठाते है, बात को बढ़ा-चढ़ाकर उसके मन का विस्तार करते है, बाह्य वैषम्य आदि का नियोजन करके उसमें आश्चर्य की उद्भावना करते है, अनुक्रम या औचित्य की प्रतिष्ठा करके उसकी वृत्तियो को अन्वित करते है, बात को घुमा-फिराकर वक्रता के साथ कहकर उसकी जिज्ञासा का उद्दीपन करते है अथवा बुद्धि की करामात दिखाकर उसके मन में कौतूहल उत्पन्न करते है।'[१]

इसमे सन्देह नही कि सादृश्यमूलक अलङ्कार स्पष्टतया अर्थबोध में सहायक ही नही, कही-कही उसके लिए अनिवार्य भी हो जाते हैं। हमने अलङ्कारो के भाषाशास्त्रीय अध्ययन मे इस तथ्य पर विचार किया है कि अमूर्त भाव, विचार आदि को मूर्त रूप मे प्रस्तुत करने में उपमान का सहारा आवश्यक होता है।[२] पर स्पष्टता तक ही सादृश्यमूलक अलङ्कारो का क्षेत्र सीमित नही। रूपकातिशयोक्ति भी सादृश्य पर आधृत अलङ्कार है, जिसमें उपमान का कथन सादृश्य के कारण उपमेय का भी बोध करा देता है, फिर भी उसमें चित्त-विस्तार का गुण पाया जा सकता है। निदर्शना मे वस्तु-सम्बन्ध का अभाव रहने पर उनमे उपमानोपमेय-भाव की परिकल्पना से अन्विति का तत्त्व पाया जा सकता है। अपह्नुति मे यथार्थ प्रकृत का निषेध और अयथार्थ अप्रकृत की स्थापना मे जिज्ञासा का तत्त्व रहता है। प्रकृत वस्तु का निषेध अनिवार्यत जिज्ञासा उत्पन्न करता है। अनेक उपमान आश्चर्य के मनोभाव को भी जाग्रत करने मे सहायक होते है। वेग के लिए विद्युत् का उपमान आश्चर्य उत्पन्न कर सकता है। 'कन्दुक इव ब्राह्माण्ड उठाऊँ' इस कथन मे ब्रह्माण्ड के लिए कन्दुक उपमान निश्चय ही आश्चर्य की सृष्टि करता है, क्योंकि वह उपमान लक्ष्मण की असीम शक्ति की व्यञ्जना मे सहायक है। पात्रौचित्य के कारण असङ्गत उपमान की योजना से भी चमत्कार की सृष्टि की जाती है। 'मृच्छकटिक' मे इसके अनेक उदाहरण मिलते है।[3] अलङ्कारशास्त्र के आचार्यों ने कहा था कि जहाँ रसभाव आदि का अभाव हो, वहाँ कोई भी अलङ्कार उक्तिवैचित्र्य-मात्र मे पर्यवसित होता है। ऐसी स्थिति मे वह चमत्कार उत्पन्न किया करता है। अभिप्राय यह कि जहाँ कवि

१. डॉ० नगेन्द्र, रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० ८६-८७

२. प्रस्तुत ग्रन्थ, अध्याय ७

३. द्रष्टव्य—शूद्रक, मृच्छकटिक १

का उद्देश्य केवल अलङ्कार-योजना का चमत्कार प्रदर्शित करना हो, वहाँ उपमा आदि सादृश्यमूलक अलङ्कार भी उक्तिवैचित्र्य मात्र की सृष्टि करते हुए पाठक के मन मे कौतूहल ही जाग्रत करेगे। सादृश्यमूलक अलङ्कार स्पष्टता, विस्तार, आश्चर्य, अन्विति, जिज्ञासा और कौतूहल, इन सभी मनोभावो की सृष्टि कर सकते है। यदि काव्य मे रस रहे तो एक ही अलङ्कार विभिन्न रसो में सहायक बनकर तत्तत् मनोभावों को तीव्र करने मे सहायक होता है। परस्पर विरोधी मनोभावों का उत्कर्ष भी एक ही अलङ्कार कर सकता है। इस दृष्टि से एक उत्प्रेक्षा के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है—प्रसाद ने श्रद्धा के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए यह कल्पना की है—

नील परिधान बीच सुकुमार
खुला था मृदुल अधखुला अंग।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ वन बीच गुलाबी रग ॥[1]

इसमे कल्पित उपमान सौन्दर्य-बोध को तीव्र बनाकर शृङ्गार की भावना को पुष्ट करता है। मनोभाव की कोमलता की—काव्यशास्त्र मे प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द कहे तो चित्त की द्रुति की—सृष्टि मे उक्त उपमान-योजना सहायक है।

लता भवन ते प्रगट भे तेहि अवसर दोउ भाइ।
निकसे जनु जुग बिमल बिधु जलद पटल बिलगाइ ॥[2]

यह उत्प्रेक्षा भी सौन्दर्य-बोध को तीव्र करने में सहायक है और मन की कोमल अनुभूति को तीव्र करने मे सहायक है। पर;

जानहु अगिनि के उठइ पहाड़ा....।[3]

इस उत्प्रेक्षा में अग्निपर्वत की कल्पना मन को विस्मित करती है, उसे दीप्त करती है।

मानहु सरोष भुअंग भामिनि विषम भाँति निहारई।[4]

---

१. जयशङ्कर प्रसाद, कामायनी
२. तुलसी, रामचरितमानस, बालकाण्ड
३. जायसी, पद्मावत
४. तुलसी, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड

इस कल्पना मे उपमान कैकेयी के स्वरूप की भीषणता के बोध को तीव्र कर मन को दीप्त करने मे सहायक होता है। स्पष्ट है कि उत्प्रेक्षा या किसी भी अन्य सादृश्य, या विरोध आदि मूलक अलङ्कार को किसी विशेष मनोदशा के साथ नियत रूप से सम्बद्ध करना युक्तिसङ्गत नही। एक ही उपमान परस्पर विरोधी प्रभाव की वृद्धि भी कर सकता है। रमणी की काली लट के लिए नागिन उपमान उसके सौन्दर्य-बोध को तीव्र करता है, पर रमणी को नागिन के समान कहा जाय तो वही उपमान भीषणता का प्रभाव बढाता है। एक ही अलङ्कार भाव-विशेष के साथ रहकर उसकी तीव्रता मे सहायक हो सकता है और वही उस भाव के विरोधी भावो के साथ रह कर उनका भी पोषण कर सकता है। हाँ, भाव-हीन काव्य मे भी अलङ्कार उक्ति-भङ्गी की विलक्षणता से अर्थ-ग्रहण की विभिन्न मानसिक दशाओ की सृष्टि करते हैं। अलङ्कार-सामान्य को दृष्टि मे रखते हुए यह कथन ठीक है कि अलङ्कार स्पष्टता, विस्तार, आश्चर्य, अन्विति, जिज्ञासा तथा कौतूहल के मनोभाव को जगाने मे सहायक होते है, पर इनमे से किसी विशिष्ट मनोभाव के साथ विशिष्ट अलङ्कारो का नित्य सम्बन्ध नही जोडा जा सकता—इन मनोभावो के आधार पर अलङ्कारो का वर्गीकरण नही किया जा सकता। साहित्यशास्त्र मे अलङ्कार मनोभाव से परम्परया ही सम्बद्ध माने गये है। रस-भाव-पूर्ण काव्य मे कोई भी एक अलङ्कार विभिन्न मनोभावो का पोषण करता हुआ देखा जा सकता है। रसहीन काव्य में भी स्पष्टता, चमत्कार आदि उत्पन्न करना अलङ्कार का लक्ष्य होता है।

अलङ्कार के स्वरूप-निरूपण-क्रम मे आचार्यो ने जिस मानसिक प्रक्रिया पर ध्यान रखा है, उसका आधुनिक मनोविज्ञान के सिद्धान्त के प्रकाश मे अध्ययन रोचक विषय होगा। अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य अलङ्कार काव्योक्ति के अन्तरङ्ग तत्त्व होते है। वे भाव के सहजात होते है। उन अलङ्कारो से युक्त उक्ति-विशेष मनोभाव-विशेष को उत्पन्न करते हैं। अत, विशेष सन्दर्भ मे अलङ्कार-विशेष का मनोभाव-विशेष के साथ सम्बन्ध-निरूपण किया जा सकता है। सादृश्य, विरोध, अतिशय आदि के आधार पर अलङ्कारो के स्वरूप का निरूपण मनोवैज्ञानिक धारणा पर आधृत है। मनोविज्ञान मे साहचर्य को एक वस्तु के ज्ञान से अन्य वस्तु के ज्ञान में सहायक माना जाता है। सादृश्य और विरोध साहचर्य के ही दो भेद है। एक वस्तु का ज्ञान उसके सदृश अन्य वस्तु का ज्ञान कराने मे सहायक होता है। इसीलिए मीमासा दर्शन के ज्ञान-

विवेचन में उपमान को ज्ञान का एक प्रमाण माना गया है। नीलगाय गाय के समान होती है, इस कथन से गाय का ज्ञान सादृश्य के आधार पर नील गाय के ज्ञान मे सहायक होता है। पूर्वानुभूत दो सदृश वस्तुओ में से एक का ज्ञान दूसरे की स्मृति जगा देता है। काव्य मे प्रस्तुत वस्तु के लिए जो अप्रस्तुत की योजना की जाती है, उसकी प्रक्रिया पर इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को दृष्टि मे रखकर विचार किया जा सकता है। सामान्यतः यह माना जाता है कि प्रस्तुत वस्तु के रूप-गुण आदि को और अधिक उत्कर्ष प्रदान करने के लिए अधिक गुणवान् उपमान की योजना की जाती है। कवि वर्ण्य वस्तु के सम्बन्ध मे पाठक की निश्चित धारणा जगाने के लिए उसके मन मे किसी ऐसी वस्तु की धारणा जगा देता है, जिसके रूप-गुण के विशिष्ट प्रभाव से पाठक का मन पहले से परिचित रहता है। यह विशिष्ट प्रभाव जगकर प्रस्तुत का भी वैसा ही प्रभावपूर्ण चित्र बना देता है। अप्रस्तुत के रूप-गुण की-सी ही अनुभूति प्रस्तुत के रूप-गुण की भी हो जाती है। काव्य के भावन की प्रक्रिया की दृष्टि से निश्चय ही उक्त रूप मे अप्रस्तुत प्रस्तुत के उत्कर्ष मे सहायक होता है, पर काव्य की सृजन-प्रक्रिया की दृष्टि से भी सादृश्यमूलक अलङ्कार में उपमान-योजना के मनोवैज्ञानिक महत्त्व पर विचार किया जाना चाहिए। इस तथ्य को अस्वीकार नही किया जा सकता कि कवि के मन मे उपमेय का सौन्दर्य-बोध सादृश्य के कारण अनेक अप्रस्तुतो की स्मृति अनायास ही जगा देता है। ऐसी स्थिति मे प्रस्तुत के सौन्दर्य-बोध की अभिव्यक्ति के क्रम मे अनेक अप्रस्तुत स्वत आ मिलते है। रससिद्ध कवि की भावाभिव्यक्ति की इसी सहज प्रक्रिया को दृष्टि मे रखकर आनन्दवर्धन ने कहा होगा कि उनके काव्य में आगे आकर अभिव्यक्ति पाने के लिए उपमानो मे होड़ लग जाती है। इस तरह कही-कही प्रस्तुत के उत्कर्ष साधन मे उपमान सहायक बनाकर लाये जाते है तो कही-कही वे अनायास ही कवि की अनुभूति के अङ्ग बनकर आ जाते है।

साधर्म्य के साथ वैधर्म्य के आधार पर भी अनेक अलङ्कारो के स्वरूप का निरूपण किया गया है। एक ही अलङ्कार का स्वरूप-विधान साधर्म्य से भी होता है और वैधर्म्य से भी। अत. साधर्म्य तथा वैधर्म्य के आधार पर अलङ्कारो को अलग-अलग वर्गों मे विभाजित करना कठिन है।

विरोधमूलक, अतिशयमूलक आदि अलङ्कारो के स्वरूप-निरूपण मे भी आचार्यों की दृष्टि किसी-न-किसी मनोवैज्ञानिक तथ्य पर रही थी। विरोध,

विषम आदि में विरूप वस्तुओ की घटना वाञ्छनीय मानी गयी है। मनोवैज्ञानिक तथ्य यह है कि किसी मनोभाव को उसका विरोधी मनोभाव और भी तीव्र करने में सहायक होता है। विरोधी रङ्ग के पट पर रेखा का रङ्ग अधिक उभरता है। चित्र-फलक जितना उज्ज्वल होता है काली रेखा उतनी ही अधिक निखरती है। मनोभाव की भी यही स्थिति होती है। किसी वस्तु की कोमलता की अनुभूति तब और अधिक तीव्र हो जाती है जब मन मे उसके साथ ही किसी वस्तु की कठोरता की अनुभूति भी जगा दी जाती है। विचित्र आदि अलङ्कार मे भी जहाँ इच्छित फल के प्रतिकूल कार्य का वर्णन—जैसे उन्नति पाने के लिए किसी के आगे झुकने आदि का वर्णन—होता है, वहाँ कर्त्ता के आचरण की विचित्रता का बोध, उसकी इच्छा और क्रिया के विरोध से, पाठक के मन मे तीव्रता के साथ उभर आता है। अतिशयमूलक अलङ्कार में तो कवि का स्पष्ट उद्देश्य ही यही रहता है कि वह वस्तु का सातिशय वर्णन कर उसके प्रति पाठक के मन मे तीव्र भाव जगावे। स्मृति, भ्रान्ति, सन्देह आदि अलङ्कारो का सीधा सम्बन्ध तत्तत् मनोदशाओ से माना गया है। स्मृति आदि की मनोदशा का जो स्वरूप अलङ्कारशास्त्र के आचार्यो ने प्रतिपादित किया था वह आधुनिक मनोविज्ञान के विद्वानो को भी मान्य है। निष्कर्ष यह कि समग्रत. अलङ्कारो के स्वरूप मे तत्तत् मनोभावों को तीव्र करने की धारणा आचार्यों के मन मे अवश्य थी; पर अलङ्कार-विशेष को उन्होने मनोभाव-विशेष के साथ सयुक्त नही किया था। मनोभाव-विशेष के साथ अलङ्कार-विशेष को जोडने का कोई भी प्रयास दोष-मुक्त नही होगा; साथ ही वह भारतीय अलङ्कारशास्त्र के मान्य मनीषियो के चिन्तन का विरोधी भी होगा।

विभिन्न अलङ्कारों मे अर्थबोध की तत्तत् मानसिक प्रक्रिया पर विचार किया जा सकता है। अलङ्कार उक्ति के विभिन्न प्रकार ही है। प्रत्येक उक्ति-भङ्गी की अर्थग्रहण-प्रक्रिया कुछ विशिष्ट होती ही है। अत., एक मूल तत्त्व पर आधृत अलङ्कारो के स्वरूप मे भी पर्याप्त पारस्परिक भेद रहता है। इसपर हमने स्वतन्त्र अध्याय मे विचार किया है। अलङ्कारो के विभिन्न वर्गो की कल्पना के लिए जो मूल तत्त्व आचार्यों ने स्वीकार किये है, उनमे अर्थबोध की विशिष्ट प्रक्रिया पर ध्यान रखा गया है। भामह, कुन्तक आदि ने वक्रोक्ति या अतिशयोक्ति को सभी अलङ्कारो का मूल तत्त्व माना था। कुन्तक ने तो इसी आधार पर स्वभावोक्ति आदि को अलङ्कार-क्षेत्र से बहिष्कृत करने का भी प्रयास किया था। निश्चय ही काव्य की उक्तियाँ लोक की उक्तियो

से अपेक्षाकृत अधिक रमणीय या चमत्कारपूर्ण होती है, किन्तु लोक की उक्तियो को काव्य के लिए सर्वथा अनुपयुक्त नही माना जा सकता। काव्य की उक्तियो की रमणीयता को भी लोकोत्तर कहने का तात्पर्य उसे लोक-जीवन से सर्वथा विच्छिन्न मानने का नही है। काव्य मे लोक-जीवन का भी चित्रण होता है, उसकी पुनःसृष्टि होती है। काव्य कवि की मानस-सृष्टि है। अत उसमे चित्रित लोक-जीवन भी नया रूप धारण कर—लोकोत्तर बनकर—हमारे सामने आता है। तथ्य यह है कि कवि की मानस-सृष्टि लोक-जीवन के सत्य के जितना निकट पहुँच पाती है, उतना ही अधिक उसका मूल्य होता है। कितनी ही लोकोक्तियाँ, लोक-प्रचलित कहावत और मुहावरे सरस कवि के काव्य मे प्रयुक्त हुए है। अत, चमत्कारवादी आचार्यो की यह धारणा—कि काव्य की सभी उक्तिभङ्गियो के मूल मे अतिशय का तत्त्व रहना ही चाहिए, मान्य नही हुई। एक ओर जहाँ अलङ्कार आदि के अभाव मे भी रससिद्ध कवि की सहज रसमय वाणी को काव्य माना गया, वहाँ दूसरी ओर काव्यालङ्कार के क्षेत्र मे भी लोकोक्ति, स्वभावोक्ति आदि अलङ्कारो का अस्तित्व स्वीकृत हुआ। कवि के हृदय का भावोद्वेग सदा अतिशय के तत्त्व का सहारा लेकर ही व्यक्त हो, यह आवश्यक नही। उसके भाव को सही-सही व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त अलङ्कारो में सदा लोकोत्तर चमत्कार या अतिशय का तत्त्व रहे, यह भी आवश्यक नहीं। इसीलिए अधिकांश आचार्यों ने अतिशय को कुछ ही अलङ्कारो का मूल तत्त्व स्वीकार किया, सभी अलङ्कारो का नही। स्पष्ट है कि सभी अलङ्कारो के मूल मे अतिशय का तत्त्व मानकर उसके आधार पर अलङ्कारमात्र को मन के विस्तार की प्रक्रिया से सम्बद्ध मानने मे दो मत हो सकते है। यदि अतिशयोक्ति या वक्रोक्ति का सामान्य अर्थ—वार्त्ता या कुशल-समाचार आदि की उक्ति से विलक्षण काव्यात्मक उक्ति अर्थ—माना जाय तब तो भामह आदि की इस मान्यता का औचित्य असन्दिग्ध है कि वक्रोक्ति सभी अलङ्कारो का प्राण है; पर विशिष्ट अर्थ में अतिशयोक्ति—बढा-चढा कर उक्ति—कुछ अलङ्कारो का ही मूल तत्त्व मानी जा सकती है। प्रस्तुत सन्दर्भ में अलङ्कार विशेष के स्वरूप को दृष्टि में रखकर उनके अर्थबोध की मानसिक प्रक्रिया पर विचार कर लेना वाञ्छनीय होगा।

उपमा—ऐतिहासिक दृष्टि से उपमा प्रथम अलङ्कार है, जिसने सादृश्य-मूलक अनेक अलङ्कारो को जन्म दिया है। कुछ आचार्यों ने तो केवल

औपम्यगर्भ अलङ्कारो को ही काव्य के अलङ्कार के रूप मे स्वीकार किया है। इस मान्यता मे कुछ दुराग्रह हो सकता है, पर इसमें सन्देह नही कि अधिकाश महत्त्वपूर्ण अलङ्कार औपम्यगर्भ अलङ्कार-वर्ग मे ही आते है। उपमा मे दो वस्तुओ—प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत—मे सादृश्य के आधार पर वर्ण्य वस्तु की अवर्ण्य के साथ तुलना की जाती है। सादृश्य में दो वस्तुओ मे कुछ सामान्य तथा कुछ विशेष की धारणा रहती है। दोनो मे कुछ समान धर्म न हो तो दोनो की तुलना का कोई आधार ही नही होगा और यदि दोनो मे अपने-अपने विशेष धर्म न रहे तो, दोनो मे कुछ भेद ही नही रह जायगा। उपमा आदि मे भेद तथा अभेद दोनो समान रूप से प्रधान रहते है, अतः उन्हे भेदाभेदतुल्य-प्रधान अलङ्कार माना गया है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उपमा अलङ्कार पर विचार करने से कई तथ्य सामने आते है। प्रस्तुत के समकक्ष जो अप्रस्तुत रखा जाता है उससे प्रमाता का मन अलग-अलग दो बिम्ब ग्रहण करता है। एक साथ मन एक से अधिक अर्थ ग्रहण नही करता। अनेक अर्थों के बोध मे एक सूक्ष्म क्रम अवश्य रहा करता है। उपमा मे पहले उपमान भी रखा जा सकता है और उपमेय भी। इस प्रकार मन एक का बिम्ब-ग्रहण कर अव्यवहित रूप से अन्य का भी बिम्ब ग्रहण करता है। मन मे उभरने वाला एक बिम्ब अपने समीपस्थ दूसरे बिम्ब को प्रभावित कर देता है। उपमान के गुणोत्कर्ष की जो धारणा प्रमाता मे पहले रहती है, उस गुणोत्कर्ष की धारणा के साथ मन मे उभरने वाला अप्रस्तुत का बिम्ब प्रस्तुत के गुणोत्कर्ष की धारणा को जगाने में भी सहायक होता है। इस प्रकार वर्णनीय विषय के साथ अन्य वस्तु के बोध कराने की प्रक्रिया से उपमा मनोभाव का विस्तार करती है। कही-कही अर्थ की स्पष्टता मे भी उपमा सहायक होती है। ऐसी स्थिति मे स्पष्टता में सहायक होकर उपमा मन के विकास का भी हेतु बनती है; पर स्पष्टता उपमा का सार्वत्रिक धर्म नही है। शास्त्रीय उपमान की कल्पना सभी पाठको के मन मे अर्थबोध स्पष्ट करने मे सहायक नही भी हो सकती। जहाँ प्रस्तुत के रूप, गुण, क्रिया आदि के उत्कर्ष के उद्देश्य से ही अत्यन्त उत्कृष्ट गुण आदि वाले उपमान की योजना की जाती है, वहाँ पाठक का मन चमत्कृत भी हो उठता है। शत्रु पर आक्रमण के वेग का बोध कराने के लिए यदि यह कहा जाय कि 'विद्युत् के वेग से वह शत्रु पर टूट पडा' तो विद्युत्-वेग का बोध पाठक के मन को चमत्कृत ही करेगा। स्पष्टतः उपमा को किसी एक मनोदशा से सम्बद्ध नही किया जा सकता। वह मन के

विस्तार, विकास, चमत्कार आदि विभिन्न वृत्तियों, मे सहायक हो सकती है। उपमा के विभिन्न वाचक शब्दो 'इव', 'यथा', 'सदृश', 'तुल्य' 'वत्' आदि के आधार पर न केवल वाक्य-योजना मे भेद हुआ करता है, वरन् उनके अर्थबोध मे भी सूक्ष्म भेद रहा करता है। मानसिक वृत्तियों के अध्ययन मे उपमा के वाचक-भेद पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए। मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि आचार्यो ने उपमा के विभिन्न भेदो पर इस दृष्टि से व्यापक विचार किया है। उन्होने उपमा के तत्त् भेदो के अर्थबोध की परस्पर विलक्षणता का सङ्केत दिया है। डॉ० गोंडा ने वाचक शब्दों के आधार पर उपमा के विभिन्न भेदो के अर्थबोध मे होने वाले अन्तर का उल्लेख किया है। इस एक अलङ्कार के अनेक भेदों पर विचार किये बिना समग्र रूप से उपमा को मन की एक वृत्ति से जोड देना युक्तिसङ्गत नही।

अनन्वय :—अनन्वय मे वर्ण्य वस्तु की उसी के साथ तुलना की जाती है। इस प्रक्रिया मे पाठक को वर्ण्य वस्तु की अनन्यसाधारणता का बोध होता है। ऐसा जान पडता है कि कवि का मन वर्ण्य वस्तु के लिए अन्य उपमान ढूँढ कर थक गया हो और उस वर्ण्य के समान अन्य वस्तु न पाकर उसने उपमेय को ही उसका उपमान भी बना दिया हो। इस प्रकार अनन्वय में वर्ण्य की असाधारणता के बोध से पाठक का मन चमत्कृत होता है। इस असाधारणता के बोध के क्रम मे पाठक का मन वर्ण्य के सम्भावित उपमानो की वर्ण्य की तुलना मे हीनता का भी बोध ग्रहण करता है।

उपमेयोपमा :—वर्ण्य तथा अवर्ण्य की परस्पर उपमा में दो ही वस्तुओं का पारस्परिक सादृश्य नियन्त्रित हो जाता है। इससे पाठक का मन किसी भी तीसरी वस्तु के साथ वर्ण्य के सादृश्य की सम्भावना का निषेध करता हुआ दो वस्तुओ के सादृश्य का बोध ग्रहण करता है। अन्य-सादृश्य-व्यवच्छेद की इस प्रक्रिया मे भी पाठक का मन एक उपमान को छोड वर्ण्य के अन्य सम्भावित उपमानो के साथ वर्ण्य के सादृश्य का निषेध करता हुआ दो वस्तुओ के सादृश्य का बोध करता है।

रूपक :—उपमेय पर उपमान का आरोप होने पर पाठक का मन प्रधानतः दोनो के अभेद का बोध करता है। यद्यपि रूपक मे भी उपमेय और उपमान में कुछ भेद और कुछ अभेद अवश्य रहता है; पर प्रधानता अभेद की हो जाती है। इस अलङ्कार में दो वस्तुओं के गुणो का अभेद-बोध होता है।

प्रतीप—उपमा की प्रक्रिया के विपरीत उपमान को उपमेय तथा उपमेय को उसका (सामान्यतः स्वीकृत उपमान का) उपमान बनाये जाने पर पाठक का मन उपमेय के गुणोत्कर्ष का बोध करता है। उपमान में गुण की उत्कृष्टता पूर्व-स्वीकृत रहती है। उसे उपमेय बनाकर जब वर्ण्य विषय को ही उसका उपमान बनाया जाता है तो पाठक का मन उपमान की अपेक्षा भी उपमेय में गुणाधिक्य का अनुभव करता है। प्रत्यक्षतः दो वस्तुओ मे किसी के गुणोत्कर्ष का कथन न होने पर भी उपमेय के गुणोत्कर्ष का बोध कर पाठक का मन चमत्कृत हो उठता है।

व्यतिरेक—उपमान की अपेक्षा उपमेय का आधिक्य-कथन (कुछ आचार्यों के मतानुसार उपमेय की अपेक्षा उपमान का आधिक्य-कथन भी) होने पर व्यतिरेक मे पाठक का मन वस्तु के गुणोत्कर्ष की धारणा से चमत्कृत हो उठता है। व्यतिरेक मे वस्तु का अन्य की अपेक्षा गुणाधिक्य शब्दतः कथित होता है, प्रतीप की प्रक्रिया के समान व्यञ्जित नही। उपमेय के सामने उपमान की व्यर्थता, एक की अपेक्षा दूसरे के उत्कर्ष या अपकर्ष का कथन या केवल किसी का उत्कर्ष अथवा अपकर्ष-कथन—सभी प्रक्रियाएँ वस्तु के गुणाधिक्य का ही बोध कराती है।

अपह्नुति—प्रकृत वस्तु का निषेध कर अप्रकृत की स्थापना में—निषेध-पूर्वक आरोप मे—पाठक का मन प्रकृत तथा अप्रकृत के बीच अभेद की प्रधानता का अनुभव करता है; पर इस अलङ्कार का प्रधान वैशिष्ट्य निषेध की प्रक्रिया मे है। प्रकृत का निषेध पाठक के मन में एक प्रकार का कौतूहल उत्पन्न करता है और अन्य का आरोप होने पर दो वस्तुओ के अभेद-प्रधान सादृश्य के अनुभव से पाठक का मन विकसित हो उठता है।

परिणाम—परिणाम को व्यवहारान्त आरोप कहा गया है। इसमे आरोपित उपमान उपमेय के रूप मे परिणत होकर क्रिया की अन्विति प्राप्त करता है। उपमान की क्रिया के साथ अनन्विति का बोध होने पर उपमेयात्मना परिणत होकर उपमान का क्रिया के साथ अन्वित होने का बोध पाठक के मन को अन्वित करता है।

उत्प्रेक्षा—उपमेय में उपमान की सम्भावना—असिद्ध अध्यवसाय—उत्प्रेक्षा का स्वरूप है। इस सम्भावना मे सशयात्मक ज्ञान होने पर भी उपमान का ज्ञान उत्कृष्ट कोटि का रहता है। उपमेय और उपमान के अभेद की प्रधानता रहती है और उपमेय की अपेक्षा उपमान के ग्रहण मे मन का झुकाव

अधिक रहता है। इस प्रकार दो वस्तुओ का ज्ञान रहने पर भी उपमेय को उपमान के रूप मे ही ग्रहण करने की वृत्ति अधिक प्रबल रहती है। अन्य को (वस्तु, हेतु तथा फल को) अन्य (वस्तु, हेतु तथा फल) के रूप मे सम्भावित करने मे प्रमाता का उत्कृष्ट ैककोटिक सशयात्मक ज्ञान चमत्कार का हेतु होता है।

सन्देह, भ्रान्ति, स्मृति—कवि-निबद्ध पात्र का उपमेय तथा उपमान मे सादृश्यातिशय के कारण उत्पन्न सशय, भ्रम एव स्मरण पाठक के मन को चमत्कृत कर देता है। स्मृति, भ्रान्ति एव सन्देह, ज्ञान की विभिन्न दशाएँ है। ध्यातव्य है कि कवि तथा पाठक को सशयात्मक या भ्रमात्मक ज्ञान नहीं होता है। कवि की प्रतिभा काव्य मे निबद्ध पात्र की तत्तत् मानसिक दशाओ का वर्णन कर उपमेय और उपमान के अतिशय सादृश्य की व्यञ्जना कराती है, जिससे पाठक के मन मे चमत्कार उत्पन्न होता है।

दीपक, तुल्ययोगिता—अनेक पदार्थो का एक धर्म से सम्बन्ध—दीपक मे प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत का एक धर्माभिसम्बन्ध एव तुल्ययोगिता मे अनेक प्रस्तुतो अथवा अनेक अप्रस्तुतो का एक धर्माभिसम्बन्ध—पाठक के मन का विस्तार करता है। एक धर्म से सम्बद्ध अनेक पदार्थों का ग्रहण चित्तविस्तार का द्योतक है।

समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशसा—समासोक्ति में प्रस्तुत के कथन से अप्रस्तुत की व्यञ्जना होने पर तथा इसके विपरीत अप्रस्तुतप्रशसा में अप्रस्तुत के वर्णन से प्रस्तुत की व्यञ्जना होने पर पाठक का चित्त एक अर्थ का बोध कर अन्य के ग्रहण के लिए विस्तृत हो जाता है।

उल्लेख—एक वस्तु का प्रमाता-भेद से अथवा हेतु-भेद से अनेकधा उल्लेख पाठक के मन को चमत्कार से भर देता है।

अतिशयोक्ति—विषय का निगरणपूर्वक सिद्ध अध्यवसान अतिशयोक्ति का स्वरूप है। केवल अप्रस्तुत का कथन होने पर जहाँ सादृश्य के कारण प्रस्तुत का बोध होता है, वहाँ मन अप्रस्तुत का बोध करते ही प्रस्तुत के ग्रहण के लिए विस्तार पा लेता है।

प्रतिवस्तूपमा—प्रतिवस्तूपमा में वस्तुप्रतिवस्तु-सम्बन्ध से स्थित दो वस्तुओ—प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत—का बोध होने से मन में विस्तार की दशा रहती है।

दृष्टान्त—दृष्टान्त मे भी बिम्बप्रतिबिम्ब-भाव से रहने वाले दो पदार्थों का बोध करने में मन विस्तार प्राप्त करता है।

निदर्शना—प्रस्तुत अलङ्कार मे वस्तु-सम्बन्ध के सम्भव या असम्भव होने पर उन वस्तुओ मे उपमानोपमेय-भाव की कल्पना की जाती है। उपमानोपमेय-भाव से वस्तुओ की सङ्गति बैठ जाने पर पाठक का मन अन्वित हो जाता है।

. सहोक्ति, विनोक्ति—एक वस्तु के साथ (सहोक्ति मे) तथा एक के अभाव में (विनोक्ति मे) दूसरी वस्तु की विशेष स्थिति का बोध क्रमश· इन अलङ्कारों का लक्षण है। इन मे दो वस्तुओ की स्थिति का बोध करने के लिए मन विस्तृत होता है।

श्लेष—श्लेष मे अभङ्ग या सभङ्ग पद से अनेक अर्थ का ग्रहण कर पाठक का मन चमत्कृत होता है।

स्वभावोक्ति—वस्तु-स्वभाव का यथार्थ वर्णन चित्त के विकास का हेतु होता है।

भाविक—भूत-भावी अर्थ का प्रत्यक्षायमाणत्व पाठक के चित्त को विकसित करता है।

उदात्त—वस्तु की समृद्धि अथवा व्यक्ति के आशय की उदात्तता का वर्णन चित्त का विस्तार करता है।

आक्षेप—आक्षेप मे वक्ता के स्वय कथित अर्थ का पुन. निषेध देख कर पाठक जो तात्पर्यार्थ ग्रहण करता है वह उसके मन को चमत्कृत कर देता है। प्रत्यक्ष कथन की अपेक्षा विधिमुखेन निषेध की व्यञ्जना अथवा निषेधमुखेन विधि की व्यञ्जना अधिक चमत्कारकारी होती है। यही आक्षेप के स्वरूप का चमत्कार है।

व्याजस्तुति—निन्दामुखेन स्तुति या स्तुतिमुखेन निन्दा की उक्तिभङ्गी पाठक के मन को चमत्कृत ही करती है।

व्याजोक्ति—प्रकट हो गये तथ्य को किसी बहाने छिपाने की चेष्टा भी पाठक के मन मे चमत्कार उत्पन्न करती है।

अत्युक्ति—अद्भुत तथा अतथ्य का वर्णन पाठक के मन मे विस्मय उत्पन्न कर देता है।

विभावना और विशेषोक्ति—कारण के अभाव में कार्योत्पत्ति अथवा इसके विपरीत समग्र कारण के रहने पर भी कार्य की अनुत्पत्ति का वर्णन विस्मयमिश्रित आनन्द उत्पन्न करता है।

विचित्र—इच्छित फल के विपरीत चेष्टा का वर्णन भी पाठक के मन में विस्मय उत्पन्न करता है।

प्रहर्षण एवं विषादन—इन अलङ्कारो का प्रत्यक्ष सम्बन्ध कविनिबद्ध पात्र के क्रमश. हर्ष एव विषाद की मनोदशा से है। पाठक उन पात्रों के प्रयत्न में आकस्मिक साहाय्य या बाधा से विस्मित ही होता है।

अधिक तथा अल्प—दीर्घ आधार की अपेक्षा भी आधेय की अधिकता का वर्णन तथा सूक्ष्म आधार से भी आधेय की अल्पता का वर्णन पाठक को विस्मित कर देता है।

तद्गुण—एक वस्तु का अपने गुण को छोड कर अन्य वस्तु के गुण का ग्रहण पाठक के विस्मय का हेतु बन सकता है।

मीलित—दो वस्तुओ के मिलकर एकाकार हो जाने का वर्णन पाठक के मन को विस्मित करता है।

सामान्य—दो वस्तुओ के विशिष्ट धर्म के लक्षित न होने का वर्णन भी विस्मयकारी होता है।

अतद्गुण, उन्मीलित, विशेष—स्व-गुण का त्याग कर अन्य के गुणग्रहण का हेतु रहने पर वैसा न होने का वर्णन, एकाकार हो गयी वस्तुओं का परिस्थिति-विशेष मे अलग-अलग व्यक्त हो जाने का वर्णन तथा वस्तुओं के विशिष्ट धर्म के लुप्त हो जाने के उपरान्त पुनः लक्षित हो जाने का वर्णन भी विस्मयजनक होता है।

विषम, विरोध—विरूप वस्तुओं का एकत्र घटन या विरुद्ध पदार्थों की एकत्र योजना भी पाठक को विस्मित करती है।

सम—अनुरूप वस्तुओ का घटन पाठक की वृत्ति को अन्वित करता है।

विरोधाभास—आपाततः विरोध से पाठक के मन में कौतूहल जगता है; फिर विरोध का परिहार हो जाने पर पाठक की वृत्ति अन्वित हो जाती है।

असङ्गति—असङ्गति में भी कार्य-कारण की भिन्नदेशता कौतूहल जगाती है, पर तात्त्विक अविरोध के बोध से मन अन्वित हो जाता है।

कारणमाला—कारणो की शृङ्खला चित्तवृत्ति को अन्वित करती चलती है।

यथासंख्य—क्रम से कही हुई वस्तुओ का उसी क्रम से अन्वय मन को अन्वित करता है।

एकावली—एकावली में भी क्रम का सौन्दर्य मन को अन्वित करता हुआ चमत्कार उत्पन्न करता है।

सार—सार में एक की अपेक्षा दूसरे के उत्कर्ष-प्रदर्शन का क्रम जहाँ मन

को अन्वित करता है वहाँ एक वस्तु की सर्वातिशयता का निर्णय मन का विस्तार भी करता है।

रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वी, आदि—रसवदादि अलङ्कारों में रस भाव का गौण पड जाना और उक्ति-चमत्कार का प्राधान्य होना मन में चमत्कार उत्पन्न करता है।

अनुप्रास, यमक—ध्वनि-साम्य पर आधृत इन अलङ्कारों की ध्वनिगत सङ्गति मन को अन्विति प्रदान करती है।

चित्र, प्रहेलिका—वर्ण, शब्द आदि का चातुर्यपूर्ण प्रयोग मन मे चमत्कार की सृष्टि करता है।

तत्तदलङ्कारो की उक्तिभङ्गी से होने वाले अर्थबोध की इस प्रक्रिया पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि अलङ्कार कही अर्थबोध में स्पष्टता लाकर मन को विकसित करते है, कही अलङ्कारों के अर्थग्रहण की प्रक्रिया मे पाठक का मन एक अर्थ के साथ अन्य अर्थ के ग्रहण के लिए विस्तृत हो जाता है, कुछ अलङ्कार अपने अन्तर्विरोध अथवा असाधारणता के तत्त्व से पाठक को विस्मित कर देते हैं, कही अलङ्कार कौतूहल या जिज्ञासा जगा कर उसे शमित करते है, तो कही उक्तिभङ्गी में सङ्गति से पाठक के मन को अन्वित करते हैं। कुछ अलङ्कार जिज्ञासा या कौतूहल के साथ ही अन्विति भी प्रदान करते है। कुछ विस्मय उत्पन्न कर अन्वित करते हैं। अतः, एक अलङ्कार का एक ही भाव के साथ सम्बन्ध जोडना कठिन है। इस विवेचन के उपरान्त इस परम्परागत धारणा का मूल्याङ्कन किया जा सकता है कि रस, भाव आदि से निरपेक्ष अलङ्कार उक्तिवैचित्र्य के रूप में मन में चमत्कार की सृष्टि करते है। उक्ति की विलक्षण भङ्गी अलङ्कार का प्राण है। यह भङ्गी मन में विशेष प्रकार का चमत्कार उत्पन्न किया करती है। इसी में अलङ्कार की सार्थकना है। अलग-अलग उक्तिभङ्गियाँ जहाँ विस्मय, कौतूहल, अन्विति विस्तार, स्पष्टता आदि उत्पन्न करती है; वहाँ सब के मूल में विभिन्न रूपों में मन को चमत्कृत करना ही उद्देश्य रहता है। निष्कर्ष यह कि रस के साथ रहने पर अलङ्कार उनके उत्कर्ष में सहायक होते है; पर जहाँ रस न हो वहाँ भी अलङ्कार की विभिन्न उक्तिभङ्गियाँ पाठक के मन मे विस्तार, विकास, अन्विति, कौतूहल, विस्मय आदि का चमत्कार उत्पन्न कर अपनी सार्थकता प्रमाणित करती हैं।

उपसंहार

* भारतीय साहित्यशास्त्र मे अलङ्कार-विषयक चिन्तन की सुदीर्घ परम्परा रही है।

अलङ्कार को व्यापक अर्थ में कुछ आचार्यो ने काव्य-सौन्दर्य का पर्याय माना और रस, गुण आदि सभी काव्य-तत्त्वो को उसमें समाविष्ट कर दिया; किन्तु विशिष्ट अर्थ में अलङ्कार को शब्द और अर्थ की सौन्दर्य-वृद्धि करने वाला तत्त्व माना गया। आधुनिक काल मे अलङ्कार शब्द का व्यवहार शब्दार्थ को अलङ्कृत करने वाले तत्त्व के अर्थ मे ही होता है।

* अलङ्कार को अनेक प्रकार से परिभाषित करने का प्रयास किया गया है। समग्र काव्यालङ्कारो के स्वरूप को दृष्टि में रखते हुए कहा जा सकता है कि—

अलङ्कार शब्द और अर्थ का वह धर्म है, जो उन्हें लोक-व्यवहार के साधारण प्रयोग से अधिक सुन्दर बनाता है; वर्ण्य वस्तु के रूप, गुण, क्रिया की प्रभाव-वृद्धि करता है; उसे स्पष्टता एवं लाघव के साथ व्यक्त करने में सहायक होता है; सरस काव्य में उचित योजना होने पर रस की व्यञ्जना में सहायक होता है और रस-हीन काव्य में उक्ति में वैचित्र्य का आधान कर श्रोता के मन मे विस्मय मिश्रित प्रसन्नता उत्पन्न करता है।

अनुप्रास, यमक आदि मे स्वर-व्यञ्जन की विशिष्ट प्रकार की आवृत्ति से शब्द का सौन्दर्य बढता है। श्लेष, वक्रोक्ति आदि मे शब्द की अनेकार्थ-बोध की क्षमता तथा उसका उपयोग कर वक्ता के अन्यार्थक वाक्य में अन्य अर्थ की योजना का कौशल, चित्र, प्रहेलिका आदि मे वर्ण-कौतुक पाठक के मन को चमत्कृत करता है। सादृश्यमूलक अलङ्कारों में अप्रस्तुत-योजना से कही प्रस्तुत के रूप, गुण, क्रिया के प्रभाव की वृद्धि होती है, कही उसका स्वरूप स्पष्ट होता

है तो कही उसके वर्णन मे लाघव होता है। समासोक्ति, सहोक्ति आदि में सक्षेप मे अर्थ का वर्णन किया जाता है। विरोधमूलक अलङ्कारो मे आपाततः दीख पड़ने वाले विरोध का परिहार हो जाने पर तात्त्विक अविरोध देखकर भावक का मन चमत्कृत होता है। विरोध वस्तु के प्रभाव को बढ़ाने मे भी सहायक होता है। विलक्षण उक्ति-भङ्गियो पर आधृत उक्तिमूलक अलङ्कारो में उक्ति का वैचित्र्य चमत्कार उत्पन्न करता है। प्रेय, भाविक, उदात्त आदि में वस्तु-वर्णन के विशिष्ट प्रकार से प्रभावोत्पादकता आती है। स्वभावोक्ति में वस्तु-स्वभाव के वर्णन का जो अनूठा ढग रहता है वह वस्तु के स्वभाव को अधिक सुन्दर बनाकर प्रस्तुत करता है। इसीलिए स्वभावोक्ति को भी अलङ्कार माना जाता है।

* काव्य मे अलङ्कार के स्थान के सम्बन्ध मे दो प्रकार की मान्यताएँ रही है। कुछ आचार्यो ने अलङ्कार-हीन काव्य की कल्पना को उष्णता रहित अग्नि की कल्पना की तरह निराधार माना तो दूसरे आचार्यो ने अलङ्कार को काव्योक्ति का ऐसा अनित्य और बाह्य धर्म माना, जो कही-कही तो काव्य की आत्मा का उपकार करता है; पर कही-कही या तो तटस्थ रहता है या भावबोध मे बाधक ही हो जाता है। अलङ्कार को यदि व्यापक अर्थ मे काव्य-सौन्दर्य का पर्याय माना जाय, तब तो उसे अग्नि की उष्णता की तरह काव्य का नित्य धर्म मानना ही होगा; पर विशिष्ट अर्थ मे यमक आदि शब्दालङ्कार तथा उपमा आदि अर्थालङ्कार को दृष्टि में रखते हुए पहली मान्यता दुराग्रहपूर्ण ही लगती है। अलङ्कार शब्द यमक, उपमा आदि के विशिष्ट अर्थ में ही रूढ है। इस अर्थ में भी अलङ्कारों को काव्य का बाह्य आभूषण मानना उसके महत्त्व का अवमूल्यन करना होगा। वस्तुतः रस-सिद्ध कवि की उक्तियों में अलङ्कार सहजात होते है, ऊपर से लादे हुए नही। भाव की अभिव्यक्ति में सहज भाव से आये हुए अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य अलङ्कार काव्य के अन्तरङ्ग धर्म होते है। जहाँ कवि केवल अलङ्कार-प्रयोग का कौशल प्रदर्शित करने के लिए अलङ्कार-योजना में अतिरिक्त श्रम करते है, वहाँ अलङ्कार उक्ति पर बाहर से लादे हुए आभूषण की तरह होते है।

* इस प्रश्न को लेकर बहुत ऊहापोह हुआ है कि यदि यमक, उपमा आदि अलङ्कार हैं तो अलङ्कार्य क्या है, जिसे ये अलङ्कृत करते हैं? इसका सर्वसम्मत उत्तर है कि काव्य के शब्द और अर्थ अलङ्कार्य है। यमक, अनुप्रास आदि शब्द को अलङ्कृत करते हैं और उपमा, रूपक आदि अर्थ को। किन्तु,

यही समस्या का समाधान नही हो जाता। प्रश्न यह है कि यदि अर्थ को अलङ्कार्य माने तो वस्तु-स्वभाव-वर्णन-परक स्वभावोक्ति आदि को अलङ्कार मानने मे क्या औचित्य होगा ? वक्रोक्तिवादी कुन्तक ने, इसीलिए स्वभावोक्ति के अलङ्कारत्व को अस्वीकार कर उसे अलङ्कार्य की कोटि में रखना उचित समझा, फिर भी अलङ्कारशास्त्र मे स्वभावोक्ति को अलङ्कार के रूप मे ही परिगणित किया जाता रहा है। इसका कारण यह है कि उसमे वस्तु-स्वभाव-वर्णन मे लोकोत्तर रमणीयता रहती है और उस रमणीयता के कारण ही उसे अलङ्कार माना जाता है। प्रेय, उदात्त, भाविक आदि वस्तु-वर्णन-परक अलङ्कारो के सम्बन्ध मे भी अलङ्कार-अलङ्कार्य का प्रश्न उठाया जा सकता है। इन अलङ्कारो के सन्दर्भ मे भी स्वभावोक्ति की तरह ही यह युक्ति दी जा सकती है कि वर्णन की लोकोत्तर सुन्दरता के कारण इन्हे अलङ्कार माना जाता है; पर प्रश्न यह होगा कि काव्य की समग्र उक्तियो मे लोकोत्तर रमणीयता अनिवार्यत रहा करती है, तभी तो लोक-व्यवहार की उक्ति से काव्य की उक्ति का भेद होता है। लोकोक्ति भी काव्योक्ति बनती है; पर उस स्थिति मे उसमे लोकोत्तर रमणीयता आ जाती है। इस लोक की वस्तु काव्य-लोक मे लोकोत्तर रमणीय बन कर ही अवतरित होती है। इसीलिए काव्य को ब्रह्मा की सृष्टि से विलक्षण सृष्टि माना गया है। काव्य मे वस्तु का जो वर्णन होता है वह लोक-सिद्ध वस्तु का केवल प्रतिबिम्बन नही, पुन.सृजन होता है। ऐसी स्थिति मे लोकोत्तर रमणीयता के आधार पर यदि स्वभावोक्ति आदि को अलङ्कार माना जाता है तो सम्पूर्ण काव्योक्तियो को अलङ्कार ही मानना पडेगा, फिर अलङ्कार्य क्या बच रहेगा, जिसे अलङ्कृत करने में अलङ्कार की सार्थकता होगी ?

अलङ्कार और अलङ्कार्य का भेद तात्त्विक नही, व्यावहारिक है। कोई भी उक्ति अपने-आप में पूर्ण अभिव्यक्ति होती है। उसे अलङ्कार, अलङ्कार्य आदि खण्डो मे केवल वैज्ञानिक विश्लेषण के लिए विभाजित किया जाता है। तात्त्विक अभेद मे भेद की कल्पना किये बिना—अखण्ड को खण्डित किये बिना—वस्तु के स्वरूप का अध्ययन-विवेचन सम्भव नही। अतः, काव्योक्ति को तत्त्वतः अखण्ड अभिव्यञ्जना मानने पर भी भारतीय मनीषियो ने व्यावहारिक दृष्टि से उसके अङ्गो का विभाजन किया है। अलङ्कार और अलङ्कार्य का भेद भी व्यावहारिक ही है। अतः, दोनो के बीच कोई स्थिर विभाजक रेखा नही खीची जा सकी।

* सामान्यत· अलङ्कार का अध्ययन काव्य के सौन्दर्य के सन्दर्भ में ही हुआ है। उसे कभी काव्य-सौन्दर्य का पर्याय माना गया, कभी काव्य मे सौन्दर्य का आधान करने वाला धर्म कहा गया तो कभी काव्य के सहज सौन्दर्य की वृद्धि में सहायक माना गया। कभी उसे काव्य का अनित्य धर्म मान कर काव्य के शरीर के माध्यम से उसकी आत्मा 'रस' का यदा-कदा उपकार करने वाला तत्त्व कहा गया। किन्तु, अलङ्कार का क्षेत्र काव्योक्ति तक ही सीमित नही। काव्य-भाषा की तरह लोक-भाषा में भी अलङ्कारों का बहुधा प्रयोग हुआ करता है। कही-कही तो कथन के प्रभाव की वृद्धि के लिए अलङ्कारों का प्रयोग किया जाता है; पर कही-कही अलङ्कार अर्थ-बोध के अनिवार्य साधन बन कर आते है। एक ही वर्ण के जो आश्रय-भेद से अनेक रूप होते है उन्हें लौकिक उपमान का सहारा लिये बिना शब्दो से बोधगम्य नही बनाया जा सकता। ज्ञात के सहारे अज्ञात को जानने में अलङ्कार सहायक होते है। उपमान को ज्ञान का एक साधन माना गया है। लोक-व्यवहार का ज्ञान हो, शब्दार्थ का ज्ञान हो या तत्त्व-ज्ञान हो—सबमे उपमान सहायक होता है। दर्शन में तत्त्व-ज्ञान के साधन के रूप में उपमान के स्वरूप का विशद विवेचन हुआ है। वही उपमान-धारणा काव्यालङ्कार के क्षेत्र मे आयी और उपमा आदि औपम्यगर्भ अलङ्कारो के स्वरूप कल्पित हुए। तात्पर्य यह कि सामान्य रूप से भाषा में अर्थ-बोध के अनिवार्य साधन के रूप में तथा अर्थ की प्रभाव-वृद्धि के साधन के रूप मे भी अलङ्कारो के स्वरूप पर विचार किया जाना चाहिए।

* भारतीय अलङ्कारशास्त्र में अलङ्कारों की सख्या चार से बढ़कर शताधिक हो गयी। आचार्य भरत ने उपमा, रूपक, दीपक तथा यमक; इन चार अलङ्कारों के स्वरूप का तथा उनके कुछ भेदो का विवेचन किया था। भरत के पूर्व वैदिक साहित्य मे अनेक अलङ्कारों का सुन्दर प्रयोग हो चुका था। निश्चय ही भरत उन प्रयोगों से परिचित रहे होगे, पर उन्होने उनके स्वरूप का निरूपण नही किया। भरत की अलङ्कार-मीमासा के सम्बन्ध में विद्वानो की अलग-अलग धारणाएँ रही हैं। कुछ विद्वानो ने भरत के समय अलङ्कार-धारणा को अविकसित मानकर सन्तोष कर लिया है तो कुछ विद्वानों ने भरत की सीमा का औचित्य इस युक्ति से प्रमाणित करना चाहा है कि भरत ने केवल नाटकों मे प्रयुक्त होने वाले अलङ्कारों को दृष्टि में रखकर उनका विवेचन किया था; अतः अलङ्कारो की सीमित सख्या उन्होने स्वीकार की।

इन मान्यताओ के विपरीत आचार्य अभिनव गुप्त के गुरु भट्ट तौत की मान्यता थी कि अलङ्कारो के नये-नये नाम-रूप की कल्पना भरत आदि के द्वारा विवेचित लक्षणो के योग से की गयी है। आचार्य अभिनव ने अपने गुरु की इस मान्यता का समर्थन किया है। उनकी मान्यता का सार यह होगा कि आचार्य भरत काव्य में प्रयुक्त होने वाली सभी उक्तिभङ्गियो के स्वरूप से परिचित थे और उन्होने उनमे से कुछ का स्वरूप-निरूपण अलङ्कार के रूप मे किया तथा कुछ का लक्षण के रूप मे।

इन सभी मान्यताओं को दृष्टि मे रखकर अलङ्कार-धारणा के विकास-क्रम का अध्ययन करने से हमे निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त हुए है :—

भरत के समय अलङ्कार-धारणा को अविकसित कहकर टाल देना तत्त्व-चिन्तन के दायित्व से पलायन की प्रवृत्ति का सूचक है। जब इस बात का प्रमाण है कि भरत से हजारो वर्ष पूर्व कवि अलङ्कार-प्रयोग की असंख्य सुन्दर भङ्गिमाओ से परिचित थे, तब भरत के काल मे अलङ्कार-धारणा को अविकसित मानने में कोई सबल युक्ति नही।

नाटच-प्रयोग की दृष्टि से भी चार अलङ्कारों की स्वीकृति का औचित्य प्रमाणित नही होता, जब तक कि भरत के लक्षणो के स्वरूप पर भी विचार नही किया जाय। भरत के समय का नाटच-साहित्य उपलब्ध नही, पर यह अनुमान करने का आधार स्वयं भरत का नाटच-शास्त्र है कि उनके समय तक विपुल नाटच-साहित्य की रचना हो चुकी थी। उनमें प्रयुक्त उक्ति-भङ्गियो को भरत ने केवल चार शब्दार्थालङ्कारो मे ही सीमित नही कर अनेक लक्षणो मे भी उनपर विचार किया था। धीरे-धीरे लक्षण-धारणा लुप्त होती गयी और उसके तत्त्व से अनेक नये-नये अलङ्कारो की धारणा विकसित होती गयी।

अनेक अलङ्कारो की रूप-रचना मे लक्षण और अलङ्कार के तत्त्वो का योग पाया जाता है। अप्रस्तुतप्रशसा, अपह्नुति आदि इसके उदाहरण हैं। अनेक लक्षणो के योग से भी कुछ नये अलङ्कार आविर्भूत हुए है। आक्षेप आदि का स्वरूप लक्षणो के योग से निर्मित है। कुछ लक्षण के नाम-रूप भी कुछ परिवर्त्तन के साथ अलङ्कार के रूप मे स्वीकार कर लिये गये है। प्रियवचन तथा दृष्टान्त लक्षण क्रमशः प्रेय तथा दृष्टान्त अलङ्कार के रूप मे स्वीकृत हुए है। इतना होने पर भी अलङ्कारशास्त्र में विवेचित सभी अलङ्कारो को चार मूल अलङ्कार तथा छत्तीस लक्षणो से आविर्भूत मानना कठिन है। रस-भाव आदि की धारणा के आधार पर रसवदादि अलङ्कार कल्पित हुए है। कुछ

अलङ्कारो का मूल भरत आदि की गुण-धारणा मे पाया जा सकता है। अर्थ-व्यक्ति गुण के आधार पर स्वभावोक्ति आदि अलङ्कार की कल्पना इसका प्रमाण है। स्मृति, वितर्क, परिसख्या आदि की धारणा के आधार पर तत्तदलङ्कारो की कल्पना की गयी है। इनका विवेचन दर्शन में हो रहा था। प्रमाणालङ्कारो की धारणा का उत्स भी दार्शनिक चिन्तन ही है। एक अलङ्कार के सादृश्य के आधार पर दूसरे अलङ्कार की कल्पना की गयी। एक के वैपरीत्य के आधार पर भी दूसरे अलङ्कार का स्वरूप कल्पित हुआ। अधिक के वैपरीत्य के आधार पर अल्प के स्वरूप की कल्पना इसका एक उदाहरण है। अलङ्कार के प्रति बदलते हुए दृष्टिकोण के फलस्वरूप भी अनेक नवीन अलङ्कारो की उद्भावना हुई। जब वस्तु, भाव आदि के वर्णन को भी अलङ्कार का क्षेत्र मान लिया गया तब वस्तु-भाव-वर्णन-परक अनेक अलङ्कारो की कल्पना की गई। भाविक, उदात्त आदि अलङ्कारो की कल्पना इसीका फल है। अनेक आचार्यों ने समय-समय पर जो अलङ्कार-विषयक नूतन उद्भावनाएँ की हैं, उनके महत्त्व की उपेक्षा नही की जा सकती। अतः, भट्ट तौत तथा अभिनव गुप्त की यह मान्यता कुछ परिष्कार के साथ ही स्वीकार की जा सकती है कि लक्षण के योग से ही अलङ्कारो मे विविधता आती है। सम्भव है कि केवल औपम्यगर्भ अलङ्कार को लक्ष्य कर उन्होने यह मान्यता व्यक्त की हो। अभिनव गुप्त अलङ्कारो को उपमा-प्रपञ्च मानते भी है। औपम्यगर्भ अलङ्कारो के सम्बन्ध मे यह मान्यता ठीक है; किन्तु समग्र अलङ्कार-प्रपञ्च को देखते हुए इस मान्यता की सीमा स्पष्ट है। हाँ, अभिनव की इस व्याख्या से इतना अवश्य प्रमाणित होता है कि भरत की अलङ्कार-धारणा उतनी अविकसित नही थी, जितनी वह सख्या-परिमिति के कारण आपाततः जान पडती है।

* अलङ्कार-धारणा के विकास-क्रम मे नवीन-नवीन अलङ्कारो की उद्भावना का ही प्रयास नहीं हुआ; समय-समय पर वैज्ञानिक पद्धति पर अलङ्कारों की सख्या को सीमित करने का भी प्रयास हुआ है। अनन्त वाग्विकल्प के प्रकार को अनन्त अलङ्कार के रूप मे स्वीकार कर लेने पर उनके स्वरूप का अध्ययन कठिन हो जाता। अतः, वैज्ञानिक रीति से अलङ्कारो के स्वरूप-निर्धारण की आवश्यकता समय-समय पर जान पड़ी। अलङ्कार के प्रति विशिष्ट दृष्टिकोण भी इसका दूसरा कारण हुआ। वामन आदि को केवल उपमा-मूलक अलङ्कारो का अलङ्कारत्व ही मान्य था। इसलिए अलङ्कारों की संख्या को उन्होने सीमित किया। कुन्तक वस्तु-वर्णन को अलङ्कार्य

मानकर अलङ्कार की उससे भिन्न सत्ता सिद्ध कराना चाहते थे। फलतः उन्होने स्वभावोक्ति आदि को अलङ्कार-क्षेत्र से अलग कर अलङ्कार की सख्या को सीमित करने का आयास किया, फिर भी अलङ्कारशास्त्र मे वास्तव, औपम्य, अतिशय, शृङ्खला आदि मूल तत्त्वो पर आधृत सभी अलङ्कार स्वीकृति पाते रहे है।

* हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यो ने अधिकतर सस्कृत के आचार्यो की अलङ्कार-विषयक मान्यता को ही स्वीकार किया है। अधिकाश आचार्यों के अलङ्कार-निरूपण का उपजीव्य जयदेव का 'चन्द्रालोक' तथा अप्पय्य दीक्षित का 'कुवलयानन्द' रहा है। कुछ आचार्यो ने मम्मट, रुय्यक तथा विश्वनाथ की पद्धति का भी अनुसरण किया है।

* हिन्दी-रीति-साहित्य मे दशाधिक नवीन अलङ्कारो की भी कल्पना की गयी है। उन अलङ्कारो मे से कुछ तो केवल नाम्ना नवीन है। उनके स्वरूप सस्कृत आचार्यो के अन्य नामधेय अलङ्कारो से अभिन्न है। ऐसे अलङ्कारो को स्वतन्त्र अलङ्कार नही मानकर तत्तत् प्राचीन अलङ्कारो में अन्तर्भुक्त माना जा सकता है। कुछ अलङ्कार-परिभाषाओ का असफल अनुकरण होने से भी हिन्दी मे उनके स्वरूप कुछ नवीन हो गये है। चिन्तन का अभाव होने के कारण ऐसे अलङ्कारो की कल्पना का श्रेय हिन्दी-आचार्यों को नही दिया जा सकता। कुछ नवीन अलङ्कारो के स्वरूप की उद्भावना हिन्दी के आलङ्कारिको ने अवश्य की है। अमित आदि के स्वरूप की कल्पना स्वतन्त्र चिन्तन की प्रवृत्ति का परिचायक है। हिन्दी की तुकान्त कविता की प्रवृत्ति को दृष्टि मे रखकर अन्त्यानुप्रास का विशद विवेचन किया गया है। हिन्दी के विपुल अलङ्कार-साहित्य को देखते हुए ऐसी उद्भावनाएँ नगण्य ही जान पडती है। इसका मुख्य कारण यह है कि सस्कृत-अलङ्कार-शास्त्र मे अलङ्कार-विषयक इतने ऊहापोह हो चुके थे कि उस क्षेत्र मे नवीन उद्भावना का बहुत कम अवकाश था। हिन्दी-आलङ्कारिको की मौलिकता मुख्यतः स्वरचित पदो का उदाहरण देने मे ही है।

* कुछ समीक्षको ने भाविकच्छवि तथा सग्रामोद्दामहुँकरा को हिन्दी आलङ्कारिको की उद्भावना मान लिया है; किन्तु तथ्य यह है कि ये दोनों अलङ्कार जयदेव के 'चन्द्रालोक' से लिये गये है। जयदेव ने भाविकच्छवि अलङ्कार को जिस रूप में परिभाषित किया था उसी रूप मे भूषण आदि ने भी उसे परिभाषित किया है। सङ्ग्रामोद्दामहुङ्कृति को जयदेव ने स्वतन्त्र अलङ्कार माना था या दृष्टान्त के ही स्वरूप के स्पष्टीकरण के लिए उसका

उल्लेख किया था, यह विवादास्पद है, पर इतना स्पष्ट है कि जिस मल्ल-प्रतिमल्ल-भाव मे उन्होने सङ्ग्रामोद्दामहुङ्कृति की कल्पना की थी उसी को जगत सिह ने सग्रामोद्दामहु कृति अलङ्कार कहा है।

* हिन्दी के रीति-काल मे चित्र अलङ्कार का बड़ा व्यापक विवेचन हुआ है। अनेक नवीन बन्धो की कल्पना की गयी है। घड़ी-बन्ध तक की कल्पना कर ली गयी है। अनेक अलङ्कार-ग्रन्थ केवल चित्र अलङ्कार पर लिखे गये है। इसका कारण यह है कि रीति-काल मुख्यतः कृत्रिमता का काल था। चमत्कार-प्रदर्शन की प्रवृत्ति कवियो मे अधिक थी। अतः, आचार्य भी बुद्धि-विलास से नवीन-नवीन चित्रो की कल्पना कर रहे थे। संस्कृत के अलङ्कृत काल में भी 'विदग्धमुखमण्डन' जैसे ग्रन्थ में चित्रालङ्कार का विस्तृत विवेचन किया गया था।

* अलङ्कारो के स्वरूप-विकास के साथ उनके वर्गीकरण की आवश्यकता हुई। आरम्भ मे शब्द और अर्थ के आधार पर अलङ्कारों के दो वर्ग माने गये। ध्यातव्य है कि प्रत्येक अलङ्कार शब्द और अर्थ; दोनो की अपेक्षा रखता है। यमक मे भी सार्थक शब्द की अर्थ-भेद से आवृत्ति अपेक्षित मानी गयी है, अत. यह शब्दालङ्कार सर्वथा अर्थ-निरपेक्ष नही। समासोक्ति, परिकर, परिकराङ्कुर आदि अर्थालङ्कार भी विशेष प्रकार के पद के प्रयोग की अपेक्षा रखते है। ऐसी स्थिति में शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार के निर्धारण के लिए यह मानदण्ड स्थापित किया गया कि यदि किसी उक्ति में से किसी शब्द को हटाकर उसका पर्यायवाची दूसरा शब्द रख देने पर अलङ्कारत्व नष्ट हो जाय तो उस अलङ्कार का मुख्य आधार शब्द को माना जाता है और उसे शब्दालङ्कार कहा जाता है। इसके विपरीत यदि शब्द-विशेष के स्थान पर उसका पर्यायवाची शब्द रखने पर भी अलङ्कारत्व की हानि नही हो तो उसे अर्थालङ्कार माना जाता है। इस प्रकार पर्याय-परिवर्तन को सहन न करने वाला शब्दालङ्कार तथा पर्याय-परिवर्तन को सहन करने वाला अर्थालङ्कार माना जाता है। यह वर्गीकरण अलङ्कार के आश्रय के आधार पर किया गया है। दोनों के बीच एक उभयालङ्कार-वर्ग भी कल्पित हुआ है।

अलङ्कारों के मूल तत्त्व के आधार पर भी उनका वर्गीकरण किया गया है। सादृश्य, विरोध, अतिशय, शृङ्खला, न्याय आदि का तत्त्व समान रूप से

अनेक अलङ्कारों के मूल में रहा करता है। उन तत्त्वो के आधार पर तत्तत् वर्गो मे अलङ्कार का विभाजन किया गया है। एक वर्ग के अलङ्कारो को पुनः कुछ उपवर्गो मे भी बाँटा जा सकता है। उपमा, रूपक, व्यतिरेक आदि ~~सम्बन्ध~~मूलक वर्ग के अलङ्कार है, पर उपमा मे भेद और अभेद की तुल्य-प्रधानता, रूपक मे अभेद की प्रधानता तथा व्यतिरेक मे भेद की प्रधानता रहती है। इस प्रकार सादृश्यमूलक अलङ्कार-वर्ग के तीन उपवर्ग बन जाते हैं।

अलङ्कारो के वर्गीकरण की कठिनाई यह है कि एक वर्ग के अनेक अलङ्कारो मे दूसरे वर्ग के अलङ्कारो के तत्त्व भी पाये जा सकते है। इसलिए एक अलङ्कार को दो या अधिक वर्गों में भी रखा जा सकता है। वर्गीकरण केवल अध्ययन की व्यावहारिक सुविधा के लिए उपयोगी है।

* विशिष्ट अलङ्कार के स्वरूप-विकास का अध्ययन इस दृष्टि से रोचक विषय है कि एक ही अलङ्कार के सम्बन्ध मे अनेक आचार्यो ने अनेक प्रकार की मान्यताएँ व्यक्त की है। कुछ आचार्यो ने पूर्ववर्ती आचार्यो के किसी अलङ्कार का स्वरूप सीमित कर उसके अवशिष्ट स्वरूप के आधार पर दूसरे नवीन अलङ्कार की कल्पना कर ली है। कुछ अलङ्कारो की संज्ञा को अन्वर्था प्रमाणित करने के लिए भी अलङ्कार के स्वरूप में परिवर्तन किया गया है तथा कही-कही अलङ्कार-विशेष की सज्ञा के रूप मे प्रयुक्त पद के अर्थ के सम्बन्ध में अलग-अलग मान्यता के आधार पर भी अलङ्कार के स्वरूप में परिवर्तन किया गया है। अप्रस्तुतप्रशंसा में प्रशसा का अर्थ वर्णन है; पर कुछ आचार्यो ने उसका अर्थ स्तुति मानकर उसके स्वरूप का निरूपण किया है। इसके लिए अप्रस्तुतस्तुति नाम का भी प्रयोग कुछ आचार्यों ने किया है। समासोक्ति आदि के सम्बन्ध में तो आचार्यों ने परस्पर विपरीत धारणा भी व्यक्त की है। रुद्रट आदि ने उपमान वाक्य से उपमेय वाक्य के गम्य होने मे समासोक्ति अलङ्कार माना था पर पीछे चलकर इसके ठीक विपरीत प्रस्तुत के वर्णन से अप्रस्तुत की व्यञ्जना में समासोक्ति का सद्भाव माना गया है। रुद्रट की समासोक्ति-धारणा तथा परवर्ती आचार्यो की अप्रस्तुतप्रशसा-धारणा परस्पर अभिन्न हो गयी है। अलङ्कारो के स्वरूप-विकास का एक बड़ा कारण अलङ्कार-सामान्य के प्रति आचार्यों का दृष्टि-भेद रहा है। कुछ आचार्यो का आग्रह यह रहा है कि सभी अलङ्कारो मे उपमानोपमेय की धारणा रहनी ही चाहिए। अतः, उन्होने अलङ्कार-विशेष की धारणा में वस्तुओ के बीच उपमानोपमेय-सम्बन्ध की धारणा भी मिला दी।

* बहुत-से अलङ्कारो के स्वरूप ऊपर से परस्पर अभिन्न जान पडते हैं; पर उनके स्वरूप का सूक्ष्म निरीक्षण करने से उनका पारस्परिक भेद स्पष्ट हो जाता है। आचार्यो ने अलङ्कार-विशेष की परिभाषा में ही उससे मिलते-जुलते स्वरूप वाले अलङ्कार से उसके व्यावर्तक धर्म का उल्लेख कर दिया है। अलङ्कारो के पारस्परिक भेद के सम्बन्ध मे किसी आचार्य की मान्यता का परीक्षण करने के समय यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि उस आचार्य के द्वारा स्वीकृत अलङ्कारो के स्वरूप में ही पारस्परिक भेद का विचार किया जाना चाहिए। मम्मट, या रुय्यक-सम्मत समासोक्ति और अप्रस्तुतप्रशसा की तुलना करने पर तो दोनों का भेद स्पष्ट हो जायगा; पर उनकी अप्रस्तुतप्रशसा से रुद्रट की समासोक्ति के भेद-निरूपण का आयास व्यर्थ होगा। एक अलङ्कार से बहुत सूक्ष्म भेद के आधार पर दूसरे स्वतन्त्र अलङ्कार की कल्पना आचार्यो ने कर ली है। अतः, उनके स्वरूप को ठीक-ठीक समझने के लिए उनके पारस्परिक भेद का अध्ययन आवश्यक है।

* मनोभाव के साथ अलङ्कार का सीधा सम्बन्ध नही। वे परम्परया भाव से सम्बद्ध है। उनका सीधा सम्बन्ध शब्द और अर्थ से है। वे शब्द और अर्थ को अलङ्कृत कर भाव के पोषण मे भी सहायक हो सकते है। कभी-कभी तो वे इसके विपरीत भाव के बाधक भी बन जाते है।

कुछ ऐसे भी अलङ्कार स्वीकृत हुए हैं, जिनका मनोभाव से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। विषादन, प्रहर्षण आदि तत्तद् मनोभावो से सम्बद्ध है, पर उनका अलङ्कारत्व इन मनोभावो को जगाने वाली विशेष स्थिति के वर्णन के ढंग में है।

कुछ आचार्यो ने भाव-विशेष के साथ अलङ्कार-विशेष का नियत सम्बन्ध जोडने का भी प्रयास किया है; पर ऐसा प्रयास सर्वथा दुराग्रहपूर्ण ही सिद्ध हुआ है। प्रहर्षण, विषादन आदि को छोड प्रत्येक अलङ्कार की योजना सभी भावो के सन्दर्भ में की जाती रही है। एक ही अलङ्कार परस्पर विरोधी भावो का भी पोषण करता है। उपमा शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक बीभत्स, अद्भुत आदि सभी रसों का उपकार कर सकती है, फिर उसे किस रस या मनोभाव के साथ सम्बद्ध किया जायगा? एक ही उपमान अलग-अलग सन्दर्भ में दो विरोधी भावों का प्रभाव जगा सकता है। किसी स्त्री की काली लट को नागिन के समान कहने से उसके सौन्दर्य का प्रभाव बढता है; पर स्त्री को नागिन के समान कहने पर उसकी भीषणता का प्रभाव बढता है। स्पष्ट

है कि किसी अलङ्कार का किसी भाव से नियत सम्बन्ध नही। किसी भी भाव के साथ किसी भी अलङ्कार की अनुरूप योजना होने पर उस भाव का सौन्दर्य बढता है। नीरस काव्य मे अलङ्कार की योजना से शब्द और अर्थ मे वैचित्र्य की सृष्टि होती है।

कथन के प्रभाव को बढाने में ही अलङ्कार की सार्थकता है। कवि के वाञ्छित अर्थ को अधिकाधिक प्रभावोत्पादक बनाकर अभिव्यक्त करने में काव्यालङ्कार सहायक होते हैं—

विनोत्कर्षापकर्षाभ्यां स्वदन्तेऽर्था न जातुचित्।
तदर्थमेव कवयोऽलङ्कारान्पर्युपासते ॥

—महिम भट्ट

परिशिष्ट १

पारिभाषिक शब्दावली

हिन्दी-अँगरेजी

अतद्गुण—The Non-Borrower
अतिशयोक्ति—Hyperbole
अधिक—The Exceeding
अनन्वय—Self Comparision
अनुप्रास—Alliteration
अनुमान—Inference
अन्योन्य—The Reciprocal
अपह्नुति—Concealment
अप्रस्तुतप्रशंसा—Indirect Description
अर्थान्तरन्यास—Corroboration
अलङ्कार—Figure of Speech
अलङ्कार्य—Thing to be adorned
असङ्गति—Disconnection
आक्षेप—Paralepsis
उत्तर—The Reply
उत्प्रेक्षा—Poetical Probability
उदात्त—The Exalted
उपमा—Simile, Comparision
उपमेयोपमा—Reciprocal Comparision

परिशिष्ट ३

अलङ्कार-दोष

शब्द तथा अर्थ के अलङ्कारों की योजना मे असङ्गति से अलङ्कार-दोष उत्पन्न होते है। अनुप्रास शब्दालङ्कार में वर्ण-योजना की असङ्गति के आधार पर तीन दोषो की कल्पना की गयी है—प्रसिद्धि का अभाव, वैफल्य तथा वृत्ति-विरोध। अनुप्रास-योजना के अनुरोध से अप्रसिद्ध पदों की योजना करने से प्रसिद्ध्यभाव दोष; चमत्कार की सृष्टि में असमर्थ वर्णों की योजना से वैफल्य तथा उपनागरिका आदि वृत्तियों के प्रतिकूल वर्ण-योजना से वृत्ति-विरोध दोष होता है। मम्मट ने इन तीन अनुप्रास-दोषों को पद आदि के दोषो मे ही अन्तर्भूत माना है। उनके अनुसार प्रसिद्ध्यभाव प्रसिद्धि-विरुद्ध से; वैफल्य अपुष्टार्थत्व से तथा वृत्ति-विरोध प्रतिकूलवर्णत्व से पृथक् नही।

यमक का त्रिपाद-निबन्धन दोष माना जाता है। मम्मट इसे अप्रयुक्तत्व दोष में अन्तर्भूत मानते है।

अर्थालङ्कारों में उपमा के दोषों का विस्तृत विवेचन हुआ है। उपमेय के लिए जिस उपमान की योजना की जाती है उसका धर्म उपमेय के धर्म के समान होना चाहिए। जहाॅ उसमें उपमेय से जातिगत या प्रमाणगत न्यूनता रहती है, वहाॅ हीनोपम तथा जहाँ आधिक्य रहता है वहाँ अधिकोपम दोष माना जाता है। मम्मट ने इनका क्रमश हीनपदत्व तथा अधिकपदत्व में अन्तर्भाव माना है। उपमेय और उपमान के बीच भिन्न लिङ्ग और भिन्न वचन का प्रयोग उपमा के दोष के रूप में स्वीकृत है। मम्मट इन्हें भग्नप्रक्रम दोष में अन्तर्भूत मानते हैं। उन्होने उपमा में काल, पुरुष, विधि आदि के दोष का भी भग्नप्रक्रम में ही अन्तर्भाव माना है। असादृश्य तथा असम्भव

उपमादोषो को मम्मट अनुचितार्थत्व दोष मे अन्तर्भुक्त मानते है। उपमाविरुद्धत्व भी उपमा का दोष माना गया है। मम्मट इसे अनुचितार्थत्व दोष के अन्तर्गत मानते है।

उत्प्रेक्षा मे असमर्थ वाचक शब्द के प्रयोग से दोष आता है। मन्ये, शङ्के, ध्रुव, प्राय, नूनम्, अवैमि आदि उत्प्रेक्षा के वाचक है। 'यथा' आदि सादृश्य-वाचक पद का उत्प्रेक्षा में प्रयोग दोष है, क्योकि यथा आदि सम्भावना के बोध में असमर्थ हैं। मम्मट ऐसे स्थल मे अवाचकत्व दोष मानते है।

समासोक्ति मे उपमान का उपादान होने पर अनुपादेयत्व दोष होता है। उपमेय के कथन से ही उपमान की प्रतीति समासोक्ति मे होनी चाहिए। उपमान का पुनः उल्लेख दोष माना जाता है। इसे मम्मट अपुष्टार्थत्व या पुनरुक्त मे अन्तर्भुक्त मानते है। नपुंसक मे नायक आदि के व्यवहार का आरोप समासोक्ति का दोष होगा, जिसे मम्मट अनुचितार्थत्व दोष मानेगे। इसी प्रकार अप्रस्तुतप्रशसा में उपमान से उपमेय गम्य होना चाहिए। उपमेय का उपादान दोष है।

भिन्न आधार मे विरोध का वर्णन विरोधालङ्कार का दोष है। एक आधार में ही विरोध के निरूपण मे चमत्कार होने से अलङ्कार का सौन्दर्य रहता है। विरोध का भिन्नाश्रयत्व मम्मट के अनुसार अनुचितार्थत्व दोष है।

इसी प्रकार अलङ्कारो के अन्य सम्भावित दोषो को पद, पदार्थ आदि के दोषों मे अन्तर्भूत मान कर मम्मट ने उनका स्वतन्त्र विवेचन आवश्यक नहीं माना है।

ग्रन्थ-सूची

संस्कृत-ग्रन्थ

अभिनव भारती—अभिनव गुप्त, (नाट्यशास्त्र की टीका) गायकावाड ओरिएण्टल इन्स्टीच्यूट बरोदा-१९३४ ई०

अलङ्कार कौस्तुभ—कर्णपूर गोस्वामी, वारेन्द्र रिसर्च सोसाइटी, राजशाही-१९२६ ई०

अलङ्कार प्रदीप—विश्वेश्वर, चौखम्बा सस्कृत सीरिज, बनारस-१९२३ ई०

अलङ्कार महोदधि—नरेन्द्रप्रभ सूरि, गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज १८४२ ई०

अलङ्कार रत्नाकर—शोभाकर मित्र, ओरिएण्टल बुक एजेन्सी, पूना-१९४२ ई०

अलङ्कार शेखर—केशव मिश्र, निर्णयसागर, बम्बई-१८९५

अलङ्कारसूत्र—रुय्यक (अलङ्कारसर्वस्व तथा सञ्जीवनी), मेहरचन्द्र लक्ष्मण दास, दिल्ली-१९६५

अलङ्कारसूत्र—रुय्यक (समुद्रबन्धकृत व्याख्या सहित), अनन्तशयन सस्कृत ग्रन्थमाला, त्रिवेन्द्रम्

अष्टाध्यायी—पाणिनि

ऋग्वेदसंहिता।

ऋग्वेदभाष्य भूमिका—सायण, चौखम्बा सस्कृत सीरिज, बनारस

एकावली—विद्याधर, तरलाटीका, गवर्नमेन्ट सेन्ट्रल बुक डिपो-बम्बई १९०३ ई०

औचित्य विचार चर्चा—क्षेमेन्द्र, पूना ओरिएण्टल सीरीज-१९५४

कविकण्ठाभरण—क्षेमेन्द्र, काव्यमाला, निर्णयसागर, बम्बई-१९२९

काव्यादर्श—दण्डी, कुसुमप्रतिमा टीका, मेहरचन्द लक्ष्मण दास, सैदमिट्ठा बाजार लाहौर-१९९० वि०

काव्यादर्श—दण्डी, वी० रामस्वामी, २९९ इस्प्लेनेड, मद्रास-१९३०
काव्यादर्श—दण्डी, हृदयङ्गमा टीका, प्रो० रङ्गाचार्य मद्रास ।
काव्यानुशासन—हेमचन्द्र, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई-१९३४
काव्यप्रकाश—मम्मट, नागेश्वरी टीका, चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय, बनारस -१९५१
काव्यप्रकाश—मम्मट, झलकीकरकृत बालबोधिनी टीका, भण्डारकर ओरिएण्टल इन्स्टीच्यूट, पूना-१९५०
काव्यप्रकाश—मम्मट, भीमसेन दीक्षित, सुधासागर टीका, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, बनारस-१९२४
काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर (काव्यप्रकाश की टीका), निर्णय सागर, बम्बई-१९३३
काव्यमीमांसा—राजशेखर, जयकृष्ण दास हरिदास गुप्त, बनारस-१९३१
काव्यालङ्कार—भामह, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस-१९८५
काव्यालङ्कार—रुद्रट, नमिसाधु की टीका, निर्णय सागर, बम्बई-१९२८
काव्यालङ्कारसारसङ्ग्रह—उद्भट, तिलककृत विवृति, ओरिएण्टल इन्स्टीच्यूट वरोदा-१९३१
काव्यालङ्कारसारसङ्ग्रह—उद्भट, इन्दुराज की लघुवृत्तिटीका, भण्डारकर इन्स्टीच्यूट, पूना-१९२५
काव्यालङ्कारसारसङ्ग्रह—उद्भट, बनहट्टी की अँगरेजी व्याख्या, प्राच्य-विद्या शोध मन्दिर पूना, १९२५
काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति—वामन, कामधेनु टीका, बनारस संस्कृत सीरीज -१९०७
कुवलयानन्द—अप्पय्य दीक्षित, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई-१९४७
चन्द्रालोक—जयदेव, रमा व्याख्या, सर्किल फोर्ट बम्बई १९३३
चन्द्रालोक—जयदेव, गुजराती प्रिन्टिग प्रेस, बम्बई १९७९ वि०
चित्रमीमांसा—अप्पय्य दीक्षित, वाणी विहार वाराणसी-१, १९६५
चित्रमीमांसा—अप्पय्य दीक्षित (जगन्नाथकृत खण्डन), काव्यमाला सीरीज, निर्णयसागर-१९२६
ध्वन्यालोक—आनन्दवर्धन, निर्णय सागर प्रेस बम्बई-१९११
ध्वन्यालोक—आनन्दवर्धन (दीधिति टीका), चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस-१९५३

नञ्जराजयशोभूषण—नृसिंह कवि, ओरिएण्टल इन्स्टीच्यूट, वरादा
नाट्यशास्त्र—भरत (अभिनव भारती टीका), ओरिएण्टल इन्स्टीच्यूट, वरोदा-१९३४
निरुक्त—यास्क, हरियाणा शेखावाटी आश्रम, भिवानी-१८८३
न्यायसिद्धान्त मुक्तावली—विश्वनाथ न्यायपञ्चानन, नागेश्वर पाठशाला, बनारस-१९४०
प्रतापरुद्रयशोभूषण—विद्यानाथ, (रत्नापण टीका) राजकीय ग्रन्थमाला, बम्बई, १९०९
भट्टिकाव्य—वत्सभट्टि (जयमङ्गला टीका) निर्णयसागर, बम्बई-१९०६
महाभाष्य—पतञ्जलि (प्रदीप तथा उद्योत टीका) निर्णयसागर, बम्बई -१९१२
मृच्छकटिक—शूद्रक
मेघदूत—कालिदास
रघुवंश—कालिदास
रसगङ्गाधर—जगन्नाथ (नागेशभट्टकृत टीका) बनारस, संस्कृत सीरीज -१९०३
लिङ्गपुराण
लोचन—अभिनव गुप्त (ध्वन्यालोक पर टीका), निर्णय सागर, बम्बई-१९११
वक्रोक्तिजीवित—कुन्तक, आत्माराम एण्ड सन्स दिल्ली-६
वाग्भटालङ्कार—वाग्भट, मेहरचन्द लक्ष्मण दास, सैदमिट्ठा बाजार, लाहौर -१९८९ वि०
वायुपुराण
सरस्वतीकण्ठाभरण—भोज, जीवानन्द विद्यासागर, रमानाथ स्ट्रीट, कलकत्ता -१८९४
सरस्वतीकण्ठाभरण—भोज, काव्यमाला सीरीज, निर्णयसागर बम्बई-१९३४
साहित्यदर्पण—विश्वनाथ, कुसुमप्रतिमा टीका, हेमचन्द्र भट्टाचार्य, ४१ देवलेन कलकत्ता-१८६७
साहित्यसार—अच्युतराय, निर्णयसागर, बम्बई-१९०६
साहित्यसार—सर्वेश्वर कवि, वेंकटेश्वर प्राच्य ग्रन्थमाला-१९५२

हिन्दी ग्रन्थ

अलङ्कारपीयूष—रामशङ्कर शुक्ल 'रसाल', रामनारायण लाल, इलाहाबाद १९५४
अलङ्कारभ्रमभंजन—ग्वाल, ब्रजभारती, मथुरा १९९८ वि०
अलङ्कारमञ्जरी—कन्हैयालाल पोद्दार, जगन्नाथ शर्मा, मथुरा २००२ वि०
अलङ्कारमणिमञ्जरी—ऋषिनाथ, आर्य यन्त्रालय, वाराणसी १९२९ वि०
अलङ्कारमञ्जूषा—भगवान दीन, रामनारायण लाल, इलाहाबाद २००८ वि०
अलङ्कार मीमांसा—रामचन्द्र द्विवेदी, मोतीलाल बनारसीदास-१९६५
कवि प्रिया—केशवदास, कल्याणदास एण्ड ब्रदर्स, वाराणसी-२०१४ वि०
कर्णाभरण—गोविन्द कवि, भारत जीवन प्रेस, बनारस-१८९४ वि०
कविकुलकण्ठाभरण—दूलह, देवकविसुधा, लखनऊ-१९९२ वि०
काव्यनिर्णय—भिखारीदास, कल्याणदास एण्ड ब्रदर्स, वाराणसी-१९५६
काव्य प्रभाकर—जगन्नाथ प्रसाद भानु, लक्ष्मी वेंकटेश्वर छापाखाना, कल्याण
काव्यदर्पण—रामदहिन मिश्र, ग्रन्थमाला कार्यालय, पटना-१९४७
काव्य में अभिव्यञ्जनावाद—लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु', युगान्तर साहित्य मन्दिर, भागलपुर-२००० वि०
केशवग्रन्थावली—सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद-१८५५ ई०
चित्रचन्द्रिका—बलवान सिंह, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ-१८५७
चेतचन्द्रिका—गोकुल, भारतजीवन प्रेस बनारस-१८९४ ई०
जसवंतजसोभूषण—मुरारिदान, मारवाड स्टेट प्रस, जोधपुर-१९५४ वि०
दीपप्रकाश—ब्रह्मदत्त, भारतजीवन प्रेस, बनारस-१९४६ वि०
देवग्रन्थावली—काशी नागरी प्रचारिणी सभा-१९१२
देव और उनकी कविता—नगेन्द्र, गौतम बुकडिपो, दिल्ली-१९४९
पद्माभरण—पद्माकर, सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, वाणीवितान, वाराणसी २०१५ वि०
प्रियाप्रकाश—भगवान दीन, कल्याणदास एण्ड सन्स-वाराणसी २०१४
फतेप्रकाश—रत्नेश, भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ-१९६१
बनिताभूषण—गुलाब सिंह, जगतप्रकाशन, फतेहगढ

भारती भूषण—गिरिधरदास, चौखम्बा पुस्तकालय, बनारस

भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका—नगेन्द्र, ओरिएण्टल बुक डिपो, दिल्ली २०१२ वि०

भाषाभूषण—जसवन्त सिंह, हिन्दी साहित्य कुटीर-२००६ वि०

मतिरामग्रन्थावली—गंगापुस्तकालय, लखनऊ-१९८३ वि०

महेश्वर भूषण—महेश्वर, भारतजीवन प्रेस, बनारस-१९५४ वि०

रस रहस्य—कुलपति मिश्र, इण्डियन प्रेस लि० प्रयाग-१९५४ ई०

रसिक रसाल—कुमारमणि शास्त्री, श्रीविद्याविभाग काकरोली-१९५४ वि०

रामचन्द्र भूषण—लच्छिराम, खेमराज श्री कृष्णदास, बम्बई-१९६० वि०

रीतिकाव्य की भूमिका—नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली, चतुर्थ स० १९६१

रीतिकालीन अलङ्कार साहित्य का शास्त्रीय विवेचन—ओम् प्रकाश शर्मा, हिन्दी साहित्य संसार दिल्ली ७-१९६५

रुद्रटप्रणीत काव्यालङ्कार—हिन्दी रूपान्तरकार सत्यदेव चौधरी, वासुदेव प्रकाशन, दिल्ली-१९६५

शब्द रसायन—देव, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग-२००४ वि०

साहित्य सागर—बिहारीलाल भट्ट, गंगा ग्रन्थागार लखनऊ-१९९४ वि०

(हिन्दी) भामहविरचित काव्यालङ्कार—भाष्यकार, देवेन्द्रनाथ शर्मा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद पटना

हिन्दी काव्यालङ्कार—व्याख्याता, विश्वेश्वर, आत्माराम एण्ड सन्स दिल्ली-६-१९५४ ई०

हिन्दी वक्रोक्तिजीवित—व्याख्याता, विश्वेश्वर, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली-१९५५ ई०

हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी २००९ वि०

हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास—भगीरथ मिश्र, लखनऊ विश्वविद्यालय, २००५ वि०

बंगला-ग्रंथ

अग्निपुराण—सम्पादक, पञ्चानन तर्करत्न, वगवासी प्रेस, कलकत्ता, शकाब्द १३१४

अँगरेजी ग्रन्थ

Aesthetics—Croce

Aristotle's Poetics—T. A. Moxon, J. M. Dent & sons ltd. London.

Bhoja's sringara Prakash—V. Raghavan, Punarvasu Madras

History of Sanskrit Poetics—S. K. DE, Firma K.L. Mukhopadhyaya. cal. 1960

History of Sanskrit poetics—P.V. kane. Girgaon. Bombay 1951

Remarks on Simile In Sanskrit Literature—J. Gonda. Leiden (Holland) E. J. Brill, 1949

Some concepts of Alamkara shastra—V. Raghavan, Adyar Library. Adyar, 1942

